आशुकविश्रीनित्यानन्दशास्त्रिविरचितं

श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्

(महाचित्रकाव्यम्)

श्रीभगवतीलालशर्मकृतया 'शाणा'ख्यया संस्कृतव्याख्यया, शाणोत्तेजनाख्यया टिप्पण्या, श्रीमोहनलालशर्मपाण्डेयकृतया 'रत्नप्रभा'ख्यया हिन्दीव्याख्यया च सहितम्

सम्पादकः - देवर्षिकलानाथशास्त्री

प्रबन्धसम्पादकः - श्री ओम्प्रकाश आचार्यः

सहसम्पादकः - श्री अमरदत्तव्यासः (दाधीचः)

प्रकाशकः

आचार्य-नित्यानन्द-स्मृति-संस्कृत-

शिक्षा एवं शोध-संस्थानम्,

गिरिजा-निकेतनम्, ए.- १३६, लेक गार्डन्स, कोलकाता (बंगाल) पिन: ७०००४५

पं. नित्यानन्दशास्त्रिविरचितं

श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्

महाचित्रकाव्यम्

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्यासहितम्

(संस्कृतव्याख्याकारः टिप्पणीकारश्च पं. भगवतीलालशर्मा)

हिन्दी-व्याख्याकारः - पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेयः'

सम्पादकः देवर्षिकलानाथ शास्त्री

प्रबन्ध सम्पादकः -श्रीओमप्रकाश आचार्यः

सहसम्पादकः - श्रीअमरदत्तव्यासः (दाधीचः)

द्वितीयसंस्करणम्

२००२ ई०

मूल्यम् - ४५०/- रू०

प्रकाशकः

आचार्य-नित्यानन्द-स्मृति-संस्कृते-

शिक्षा एवं शोध-संस्थानम्,

गिरिजा-निकेतनम्, ए.- १३६, लेक गार्डन्स-

कोलकाता (बंगाल) पिनः ७०००४५

टाईप सैटिंग

श्री फोटोस्टेट, जयपुर

फोन नं. ३१२६४५

मुद्रक

नीतू प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जयपुर

फोन नं. ३१६६३२

प्रबन्धसम्पादकीय

ओमप्रकाश आचार्य

प्रबन्ध सम्पादक

मेरे जीवन के प्रेरणा-स्रोत श्रद्धास्पद मातामह आचार्यप्रवर पं.श्री नित्यानन्द शास्त्री जी की अमर कृति रामचरिताब्धिरत्नम् विस्तृत संस्कृत व्याख्या और हिन्दी अनुवाद, समीक्षात्मक भूमिका और लेखक परिचय आदि के साथ प्रकाशित हो रहा है यह मेरे हृदय के लिए चरम आनन्द का क्षण है। इसे मैं अपने जीवन की एक विशिष्ट उपलब्धि मान रहा हूँ। कविचूडामणि पं. नित्यानन्द शास्त्री जी के कृतित्व और संस्कृत को उनकी देन के बारे में मेरा कुछ भी निवेदन इसलिए आवश्यक नहीं है कि आप इस ग्रन्थ में विद्वानों द्वारा लिखित उनका जीवनवृत्त पढेंगे ही। इस महाकाव्य की विशिष्टताओं के बारे में भी मुझे कुछ नहीं कहना क्योंकि इस संबंध में देश के सुविख्यात संस्कृत विद्वान् राष्ट्रपति-सम्मानित मनीषी देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने जो इसके संपादक हैं बहुत विस्तार और तुलनात्मक समग्र विवरण के साथ अपनी समीक्षात्मक संपादकीय भूमिका में सब कुछ लिख दिया है। जैसा उन्होंने लिखा है यह ग्रन्थ चित्रकाव्य भी है, महाकाव्य भी, रामकाव्य भी। चित्रकाव्य होने के कारण यह केवल परिनिष्ठित विद्वानों द्वारा ही बोध्य है। तभी तो इस काव्य की सर्जना के बाद से ही इसकी व्याख्या, टीका आदि लिखने के प्रयास आरंभ हो गए थे। पं. भगवती लाल शर्मा जी की संस्कृत व्याख्या तो इसके साथ १९३३ में भी छपी थी। किन्तु स्वयं महाकवि के जीवनकाल में इसकी हिन्दी व्याख्या या हिन्दी अनुवाद तैयार हो जाए, इसके प्रयास विगत आधी सदी से भी अधिक समय से चल रहे थे जो मूर्त रूप नहीं ले पाये थे। आज उनकी सफल परिणति सामने है अतः यह मेरे लिए परम हर्ष का विषय है। संस्कृत के मूल ग्रन्थ की रचना की समाप्ति के साथ ही महाकवि की पुत्री श्रीमती गिरिजा देवी एवम् पं. भगवतीलाल जी शर्मा के सुपुत्र श्री राममनोहर शर्मा ने इस संस्कृत महाकाव्य की हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी काव्यान्तर का काम संयुक्त रूप से पं. नित्यानन्द जी की देख-रेख में ही शुरु किया था। दुर्भाग्य से श्रीमती गिरिजा देवी सन् १९४० में चल बसी। श्री राममनोहर जी भी दिवंगत हो गए। हिन्दी अनुवाद का कार्य बहुत कम ही हो पाया था अतः पं. नित्यानन्द जी के निर्देशानुसार जयपुर के राजगुरु कथाभट्ट श्री जगदीश चन्द्र जी एवं जोधपुर के वैद्य पण्डित बुद्धिप्रकाश जी (श्रीमती गिरिजा देवी के पति) ने १९५८ से फिर इस विषय पर कार्य प्रारंभ किया। श्री श्याम मनोहर जी शर्मा (पं.नित्यानन्द जी के ज्येष्ठ पुत्र) तथा श्री बालकृष्ण जी शर्मा (पं. नित्यानन्द जी के कनिष्ठ पुत्र) ने इस कार्य में सहायता की। सन् १९६१ में पं. नित्यानन्द जी का देवलोक हो गया। अतः यह कार्य जो उनकी देखरेख में चल रहा था, शिथिल हो गया।

पं. बुद्धिप्रकाश जी ने फिर यह कार्य १९७० में पं.इन्द्रराज जी आचार्य (संस्कृत पाठशाला निरीक्षक) के सहयोग से प्रारम्भ किया। श्री इन्द्रराज जी तो दिवंगत हो गए और पं. बुद्धिप्रकाश जी की रुचि आयुर्वेद और संगीत में अधिक रही अतः वे इस दौरान आयुर्वेद एवं संगीत के ग्रन्थ निर्माण में लग गये, अतः ग्रन्थ का अनुवाद पूरा नहीं हो पाया क्योंकि यह कार्य जटिल, समयसाध्य और सुदीर्घ था। मेरे अनुरोध पर कोलकाता के पं. श्री अक्षय चन्द्र जी शर्मा (भारतीय संस्कृति संसद्) ने यह कार्य अपने हाथ में १९८० में लिया, सौभाग्य से उन्हें श्री मानवेन्दु बैनर्जी (एशियाटिक सोसाइटी), विद्वद्वर डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय (अध्यक्ष-भारतीय भाषा परिषद्), प्रसिद्ध लेखक डॉ. वासुदेव पोद्दार आदि विद्वानों की भरपूर सहायता भी प्राप्त हुई। श्रीमती गिरिजा देवी, श्री राममनोहर जी, श्री बुद्धिप्रकाशजी एवं कथाभट्ट श्री जगदीश चन्द्र जी द्वारा किए अनुवाद की सामग्री श्री अक्षयचन्द्र जी को दे दी गई थी। यह उल्लेखनीय है कि दिल्ली के विद्वान् पं. मनमोहन कौशल (प्रोफेसर-दिल्ली विश्वविद्यालय) ने भी समय-समय पर विभिन्न सर्गों पर कार्य किया था। वह भी पं. अक्षयचन्द्र जी को सौंप दिया गया। श्री अक्षय चन्द्र जी को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के ख्यातनामा विद्वान् प्रोफेसर श्री भोला शंकर व्यास का भी समय-समय पर सहयोग मिलता रहा।

पं. श्री नित्यानन्द जी की अमर कृतियों के इस संपादन अनुवाद आदि के कार्य में तथा उनके हिन्दी काव्य ग्रन्थ रामकथा-कल्पलता के प्रस्तुतीकरण में जोधपुर के डॉ.वेंकट शर्मा का अपूर्व योगदान रहा।

जयपुर के डॉ. ताराप्रकाश जी जोशी, आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त), जोधपुर के महाराज प्रेमसिंह जी (विख्यात पोलो खिलाड़ी) तथा ठाकुर ओंकार सिंह जी, आई.ए.एस.(सेवानिवृत्त) जिन्हें काव्य से तथा पं. नित्यानन्द जी से विशेष लगाव था, इस कार्य को सदा प्रेरणा एवं संरक्षण देते रहे हैं। काँची कामकोटि पीठ के पूज्य शंकराचार्य परमाचार्य श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती जी महाराज का आशीर्वाद भी इस कार्य के लिए उपलब्ध हुआ। इन प्रयासों के द्वारा ग्रन्थ का कुछ अनुवाद तैयार भी हुआ किन्तु पं. अक्षयचन्द्र जी का स्वास्थ्य १९९७ से खराब रहने लगा, अतः कार्य में गति नहीं आ पाई। तभी मुझे यह प्रेरणा हुई कि जयपुर के, जो दूसरी काशी के रूप में विख्यात है, विद्वानों का सहयोग और आशीर्वाद यदि इस कार्य को प्राप्त हो जाए तो इसे पूर्णता मिल सकेगी। इसके फलस्वरूप मैंने जयपुर पहुँच कर वहाँ के मूर्धन्य विद्वान् राष्ट्रपति सम्मानित पं.श्री कलानाथ जी शास्त्री से अनुरोध किया कि वे इस कार्य को पूर्णता तक पहुँचाएं। उन्होंने उचित शोध संपादन आदि की स्वीकृति दी और हिन्दी अनुवाद पूरा करने हेतु राष्ट्रपति सम्मानित पं. मोहनलाल पाण्डेय को आग्रह किया। पाण्डेय जी ने यह कार्य पूर्ण किया। मुद्रण हेतु हमें राजस्थान संस्कृत अकादमी के सुयोग्य सचिव श्री राजेन्द्र जी तिवाडी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। प्रूफ शोधन विद्वद्वर पाण्डेय जी ने किया।

पं. मोहनलाल जी पाण्डेय को श्री प्यारेमोहन जी तथा वैद्य श्री मोहनलाल जी गोठेचा जी का समय-समय पर सहयोग मिला। इस प्रकार सन् २००१ में जाकर मोहनलाल जी पाण्डेय , श्री कलानाथ जी शास्त्री आदि के आशीर्वाद और सक्रिय सहयोग से यह हिन्दी व्याख्या इस रूप में अवतीर्ण हुई। मुझे यह लिखते हुए परम हर्ष है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझे जयपुर में श्री अमरदत्त जी दाधीच का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। पटना एवं कोलकाता के निवासी विद्वान् श्री डी.एन. तिवारी ने भी इस संस्कृत काव्य को बहुत सराहा। इस कार्य में स्व. श्री राममनोहर जी की दौहित्री डॉ. अंजनी आसोपा, संस्कृत शिक्षिका (जोधपुर) एवं स्व. श्री श्याममनोहर जी की पुत्री श्रीमती कमला जोशी (संस्कृत शिक्षिका), एवं पं. नित्यानन्द जी के पौत्र श्री धरणीधर शर्मा ने समय-समय पर प्रबन्ध संपादन में सहयोग दिया। इस कार्य को सुसम्पन्न करके पितृ-ऋण से मुक्त होने के अपने कर्त्तव्यपालन में आर्थिक भार की चिन्ता न करते हुए मेरी धर्मपत्नी विमला, पुत्र राजीव, पुत्रियाँ शैलजा एवं शालिनी द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन सराहनीय रहा। श्री गोपालदत्त चार्टर्ड अकाउन्टैन्ट का इस ग्रन्थ के प्रकाशन से सम्बन्धित विद्वानों, शुभचिन्तकों के सम्पर्क में रहकर मेरे साथ समन्वय के कार्य में प्रशंसनीय योगदान रहा। इन सभी का सस्नेह धन्यवाद करते हुए मुझे परम हर्ष है। शान्तीबाई की यह हार्दिक इच्छा थी कि उनके पिता श्री राममनोहरजी एवं पितामह पं. भगवतीलाल जी एवं पं. नित्यानन्दजी के साहित्य का पुनः प्रकाशन हो। मेरी मातामही फतहकँवर बाई (निधन सन्-१९५८) जो पंडित जी का बहुत सम्मान करती थी, यदि आज जीवित होती तो यह देखकर अत्यधिक प्रसन्न होती कि अपनी पुत्रवधू गिरिजा देवी (निधन सन् १९४०) द्वारा हिन्दी व्याख्या के अधूरे छोडे गये कार्य को अपने पौत्र ओमप्रकाश आचार्य तथा दौहित्र अमरदत्त दाधीच (व्यास) के सम्मिलित प्रयास द्वारा पूर्ण कर लिया गया है। यह उल्लेख करना भी मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि जोधपुर के महाराजा श्री गजसिंह जी ने जोधपुर के राजमहलों के पोथीखाने (पुस्तक-प्रकाश) में उपलब्ध पं. नित्यानन्द जी से संबंधित समस्त सामग्री कृपापूर्वक मुझे उपलब्ध करवायी। इसमें डॉ. नगेन्द्र सिंह नागर (पुस्तक प्रकाशन के व्यवस्थापक) का भी पूर्ण सहयोग रहा। इन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

इस प्रकार आधी सदी से भी अधिक समय की विभिन्न विद्वानों की साधना के प्रतिफल के रूप में यह महाकाव्य इस सुसंपादित रूप में परिवर्तित, परिवर्धित और सानुवाद संस्करण में पुनः प्रकाशित हुआ है। इस कार्य के लिए इसके संपादक देवर्षि कलानाथ जी शास्त्री तथा हिन्दी अनुवादक पं.श्री मोहनलाल जी पाण्डेय का मैं सप्रणाम, सविनय आभार व्यक्त करता हूँ। इस संस्करण का श्रेय उन्हें ही जाता है। इसकी व्यवस्था, सहयोग आदि में श्री अमरदत्त दाधीच ने जो परिश्रम किया उसके लिए सविनय सस्नेह कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस काव्य का भारत के विख्यात मनीषियों ने गहन अध्ययन कर अपनी जो अमूल्य संमतियाँ, समीक्षात्मक टिप्पणी और आशीर्वाद भेजे हैं उनके लिए उन सबके चरणों में प्रणाम करते हुए शतशः आभार समर्पित करता हूँ।

रामनवमी २०५९
२१ अप्रेल २००२ ई.

न्यासी सचिव
आचार्य नित्यानन्द स्मृति संस्कृत शिक्षा एवं शोध संस्थान, गिरिजा निकेतन, ए./१३६ लेक गार्डन्स, कोलकाता- ७०००४५

पुरोवाक्

राष्ट्रपति सम्मानित-
देवर्षि कलानाथ शास्त्री

राजस्थान धरा जिस प्रकार अपने शूरवीरों के कारण प्रसिद्ध है उसी प्रकार यहाँ सदियों से चल रही अनवरत संस्कृत साधना के कारण भी यह संस्कृत साहित्य के इतिहास में गौरव से स्मरण की जाती रही है। यहाँ की राजधानी जयपुर को अपरा काशी, हाडौती क्षेत्र की बूँदी नगरी को छोटी काशी और बाँसवाडा जैसे कुछ नगरों को काशीसदृश विद्वत्परम्परा के धनी माना जाता रहा है ।

ग्रन्थ के प्रणेता :-

इस राजस्थान भूमि के अग्रणी संस्कृत मनीषियों और कवियों में स्वर्णाक्षरो में उल्लिखित जोधपुर-क्षेत्र के गौरव पुरुष आशुकवि पं. नित्यानन्द शास्त्री(१८८९-१९६१ ई.) का संस्कृत-काव्य-कृतित्व सारे भारत में सुविदित है। उनका लिखा महाकाव्य श्रीरामचरिताब्धिरत्नम् जो लगभग सत्तर वर्ष पूर्व वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ था, लगभग आधी शती तक विद्वज्जगत् में चर्चित रहा था। पं. नित्यानन्द जी न केवल राजस्थान में अपने वैदुष्य और काव्यकौशल के लिए प्रसिद्ध रहे अपितु इनके वैदुष्य के सौरभ से आकृष्ट होकर मुंबई, भावनगर आदि नगरों के वरिष्ठ जननेताओं, मुद्रणालयाध्यक्षों, धर्माधिकारियों आदि ने इन्हें ससंमान अपने ग्रन्थों के संपादन, संशोधन आदि कार्यों के लिए बुलाया। इसके फलस्वरूप इन्होंने मुंवई के वेंकटेश्वर प्रेस में ग्रन्थों का संपादन किया, भावनगर में जैन प्रकाशन संस्थानों के ग्रन्थों के (जैसे जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला) संपादन, संशोधन, अध्यापन आदि का कार्य किया।

जोधपुर के प्रसिद्ध चौपासनी नोबल स्कूल में पं. नित्यानन्द शास्त्री संस्कृत और संस्कृति के अध्यापक रहे। इन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों, काव्यों आदि का संपादन जोधपुर में किया जिनमें ऐतिहासिक महाकाव्य 'अजितोदयम्' प्रसिद्ध है। इन्हें जो प्रौढ कवित्व शक्ति, संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार, चित्रकाव्य आदि लिखने का कौशल तथा छन्दः शास्त्र का व्यापक ज्ञान प्राप्त था उसके कारण ये कविसमाज में प्रतिष्ठित हो गए थे।

श्रीरामचरिताब्धिरत्नम् जिस प्रकार अपनी प्रौढि, चमत्कार, चित्रकाव्य भंगिमा आदि के कारण सुप्रथित हुआ उसी प्रकार इनके अन्य काव्य भी विशिष्ट समादर के पात्र रहे जिनमें हनुमद्दूतम्, आर्यामुक्तावली, कृष्णाष्टप्रास, आर्यानक्षत्रमाला, पुष्पचरितम्, विविधदेवस्तवसंग्रह आदि उल्लिखित किये जा सकते हैं। इनकी हिन्दी काव्य रचना ने भी विशिष्ट आदर प्राप्त किया। राजस्थान संस्कृत अकादमी के पूर्व निदेशक पं. प्यारे मोहन शर्मा द्वारा लिखित इनका विस्तृत परिचय पृथक् प्रकाशित हो रहा है अतः उस पर विस्तार की आवश्यकता नहीं। वैसे भी पं. नित्यानन्द शास्त्री और उनके रामचरिताब्धिरत्नम् का उल्लेख उन सभी ग्रन्थों में आदर के साथ किया गया है जो आधुनिक काव्य राजस्थान की संस्कृत मनीषा के आकलनार्थ लिखे गये हैं। मैंने राजस्थान के ग्यारह मूर्धन्य संस्कृत विद्वानों के जीवनवृत्त संस्कृत में संक्षेपतः निबद्ध कर जो ग्रन्थ विद्वज्जनचरितामृतम् नाम से लिखा था (दिल्ली से प्रकाशित) तथा यहाँ के तेरह मूर्धन्य संस्कृत मनीषियों के संक्षिप्त जीवन चरित सुधीजनवृत्तम् नामक ग्रन्थ में निबद्ध किये थे (जयपुर से प्रकाशित), उन दोनों में पं. नित्यानन्द शास्त्री के कृतित्व का विवरण है। इन विद्वानों के इन जीवन चरित्रों को अपनी पाठ्यचर्याओं में भी राजस्थान के संस्कृत छात्र पढते रहे हैं और इनसे प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। सच है, पं. नित्यानन्द जी के उल्लेख के बिना बीसवीं सदी के संस्कृत साहित्य का विशेषकर राजस्थान में लिखित संस्कृत वाङ्मय का कोई भी इतिहास पूरा नहीं कहा जा सकता।

यह महाचित्रकाव्य :-

पं. नित्यानन्द जी की कालजयिनी कृति रामचरिताब्धिरत्नम् केवल रामकथा पर लिखा महाकाव्य ही नहीं है - अनेक शब्दचमत्कारों और चित्रकाव्यकौशलों के कारण इसकी एक अलग पहचान भी है। इसकी विशेषता यह है कि चौदह सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य के प्रत्येक पद्य के प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर को लेते जाएँ तो उनसे मूलरामायण बन जाएगी जिसमें समस्त रामकथा संक्षेप में समाहित है। यही है आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण के प्रथम काण्ड का प्रथम अध्याय जिसे मूलरामायण नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है। यही नहीं इस महाकाव्य के मंगलाचरण के पद्यों की प्रत्येक पंक्ति के आदिम अक्षरों से वाल्मीकि के मुख से निकला लोककाव्य के प्रथम छन्द (अनुष्टुप्) का वह अमर पद्य बन जाता है जो संस्कृत की अभिजात कविता का प्रथम अवतरण है और जिसे कालिदास ने श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः द्वारा संकेतित किया है। मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् आदि। चौदह सर्गों के पद्यों के प्रत्येक चरणों के आद्याक्षरों से रामायण का प्रथम सर्ग (मूल रामायण) तो बनता ही है, इसके परिशिष्टांश में दिये गये पंडित जी के लिखे अन्य स्तोत्रकाव्यों के पद्य भी अपने चरणों के आद्याक्षरों में विभिन्न मंत्र, ऋचाएँ या स्तवपद्य समाहित किये हुए हैं। जैसे ब्रह्मरामस्तव के आद्याक्षरों से गायत्री मंत्र निकल आता है, शिवकृतरामस्तुति से रामरक्षास्तोत्र का आपदामपहर्तारम् वाला स्तवमंत्र निकल आता है, हनुमत्कृतरामस्तव से 'रामाय रामभद्राय' पद्य निकल आता है, लक्ष्मी (सीता) स्तव से श्रीसूक्त का मंत्र 'तां म आवह जातवेदो' निकल आता है, रामकृतशिवस्तुति से 'त्र्यम्बकं यजामहे' मंत्र निकल आता है। गणपति स्तव से 'गणानां त्वा गणपतिं' मंत्र निकल आता है। जिस देवता की स्तुति है उस देवता का मंत्र पद्यों के प्रत्येक चरणों के आद्याक्षरों में समाहित है, स्तोत्रपद्यों में उसी की महिमा वर्णित है, काव्य में छन्द का चमत्कार भी है, अलंकारों का चमत्कार भी, यह विशेषता क्या चमत्कारजनक नहीं ?

इस प्रकार विलक्षण चित्रकाव्यचमत्कारों से परिपूर्ण इस काव्य में चमत्कारों का चाकचक्य चौंकाने वाला भी है, चतुरस्र चातुर्य का प्रमापक भी । तभी कवि ने इसे 'महाचित्रकाव्य' का अभिधान दिया था। यहाँ हमें यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि काव्यशास्त्रियों ने चूंकि उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेदों में काव्यों का वर्गीकरण करते हुए ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम तथा चित्रकाव्य को अधम माना है अतः चित्रकाव्य तो अधमकाव्य होता है। किन्तु काव्यविमर्शकों ने स्वयं स्पष्ट किया है कि जिन काव्यों में केवल शब्दचमत्कार के लिए हठादाकृष्ट पदों से चित्रत्व उद्भावित किया जाता है, अन्य कोई काव्यगुण नहीं होता वे ही अधमकाव्य होते हैं क्योंकि उनमें दुर्बोधता, अप्रयुक्तत्व दोष, श्रुतिकटुत्व आदि आ जाते हैं किन्तु जिनमें अन्य गुण होते हैं वे अधमकाव्य नहीं कहलाने चाहिए। तभी तो अनेक वरेण्य कवियों ने ऐसे चित्रकाव्य लिखें हैं जिनमें व्यंग्य का चमत्कार भी होता है, लालित्य भी, आकर्षकत्व भी किन्तु दुर्बोधता नहीं होती। पं. नित्यानन्द जी अपने पद्यों में विभिन्न पद्यविशेषों को या प्राचीन कालजयी काव्यों के अक्षरविशेषों को अपने में समाहित करने वाले काव्य लिखने के चमत्कारजनक तकनीक के विशेषज्ञ हो गए थे ऐसा प्रतीत होता है जिस बात का प्रमाण यह महाचित्रकाव्य तो है ही, साथ ही उनका एक अन्य काव्य हनुमद्दूतम् भी है जिसमें रामकथाप्रसंग तो है ही जिसके प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में कालिदास के मेघदूत के पद्यों का चतुर्थ चरण आ जाता है और समस्यापूर्ति जैसे चमत्कार को धारण किये यह दूतकाव्य खण्डकाव्य भी बन जाता है और चित्रकाव्य भी। इस प्रकार भाषा पर असाधारण अधिकार रखने वाले शब्दों और अक्षरों के जादूगर के रूप में पं. नित्यानन्द शास्त्री ने संस्कृत जगत् में अपनी विशिष्ट पहचान कायम रखी है।

जैसा पहले कहा जा चुका है उनके काव्य केवल चित्रकाव्य नहीं हैं, इनमें रस, अलंकार, व्याकरण की कोई गुत्थी, नवशब्दगुंफन की कोई छटा भी प्रत्येक पद्य में समाहित है। साथ ही इतने अधिक छन्दों का गुंफन कर कवि ने अपने काव्यों में विशेषकर रामचरिताब्धिरत्नम् में नये-नये, जाने अनजाने छन्दों के इतने नये नये प्रयोग किये हैं कि छन्दः शास्त्र में नामित शायद ही कोई छन्द इनके काव्य में प्रयुक्त होने से बचा हो।

महाकाव्यत्व-

रामचरिताब्धिरत्नम् के कवि ने इसे महाकाव्य के समस्त काव्यशास्त्रीय लक्षणों से समन्वित किया है, यह इसके अनुशीलन से स्पष्ट हो जाएगा। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' आदि से प्रारंभ होकर महाकाव्य के जितने भी लक्षण विहित हैं, वे इसमें आपको मिल जाएँगे। चतुर्दश सर्गों में विभक्त इस महाकाव्य में ऐतिहासिक पुरावृत्त निबद्ध हैं, राम सामान्यतः धीरोदात्त नायक हैं किन्तु सीता के साथ रहःकेलि और एकान्तविहार का वर्णन कर कवि ने उनका धीरललित रूप अधिक उभारा है। ऋतुवर्णन, प्रकृतिवर्णन आदि स्थान-स्थान पर निबद्ध हैं जो शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से भरपूर विभूषित हैं। सर्गों में अलग-अलग छन्दों का प्रयोग, सर्गान्त में छन्द का बदलना आदि जो जो महाकाव्य लेखन की परिपाटी है, उसका लेखक ने अवधान पूर्वक अनुसरण किया है, यह किसी भी विमर्शक को इसका अवलोकन करते समय स्पष्ट हो जाएगा। वीर और शृंगार रसों का क्रमशः अंगीरस और प्रमुख अंग रस के रूप में कवि ने निबन्धन किया है, जबकि कथा प्रसंगों में रौद्र, भयानक, हास्य, अद्भुत आदि प्रायः सभी रस अंगभूत होकर काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं, इसी प्रकार अन्य सभी प्रमुख लक्षण जो महाकाव्यों में देखे जाते हैं यहाँ भी कवि सरम्भगोचर हुए हैं। छन्दों और अलङ्कारों का कवि ने किस प्रकार प्रचुरता से गुम्फन किया है, यह हम आगे संक्षिप्त विवरण के रूप में उल्लिखित कर रहे हैं।

कवि का कथन है कि राम चरित्र एक महासमुद्र है। उसका अवगाहन कर कवि ने प्रतिभा के प्रयोग से जो मन्थन किया है, उसकी परिणति ही यह महाकाव्य है। जिस प्रकार समुद्रमन्थन से चौदह रत्न निकले थे, उसी प्रकार रामचरित रूपी अब्धि के मन्थन से यह चौदह सर्गों वाला महाकाव्य निकला है। यह रूपक कवि के मानस में प्रारंभ से रहा है। तभी तो कवि ने प्रत्येक सर्ग को एक रत्न के रूप में अवधारित किया है अन्तिम सर्ग में अमृत की प्राप्ति होती है, जबकि शेष सभी सर्गों में क्रमशः कल्पतरु, कामधेनु आदि समुद्रोत्थ रत्नों द्वारा नामकरण करके कवि ने 'अब्धि' और 'रत्न' का रूपक सांगोपांग निभाया है। इसका विस्तृत विवरण पृथक् लेख में प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्यों का पुनः प्रकाशन -

रामचरिताब्धिरत्नम् की शाण नामक व्याख्या पं. नित्यानन्द जी के अग्रज पं. भगवतीलाल शर्मा विद्याभूषण ने सं. १९९० में (सन् १९३३) लिखी थी, व्याकरण आदि की गुत्थियां सुलझाने वाली शाणोत्तेजिनी टिप्पणी भी उन्होंने लिखी थी, उन्ही के संपादन में यह काव्य वेंकटेश्वर प्रेस मुंबई से आज से ६८ वर्ष पूर्व छपा था, अतः इन सात दशकों में इसका दुर्लभ हो जाना स्वाभाविक था। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि अपने पूज्य नानाजी की यशोरक्षा हेतु संकल्पबद्ध इनके सुयोग्य दौहित्र समाजभूषण श्री ओम् प्रकाश आचार्य ने, जो अपनी कर्मठता योग्यता और कुशलता के कारण कोलकाता के प्रबुद्ध समाज में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं, पण्डित जी की स्मृति में आचार्य नित्यानन्द स्मृति संस्कृतशिक्षा और शोधसंस्थान स्थापित किया है जिसके प्रयत्नों से पंडित जी के सभी काव्य सुसंपादित होकर पुनः प्रकाशित हो रहे हैं और उसी क्रम में यह काव्य भी नई सजधज के साथ निकल रहा है।

संस्कृत टीका :-

यह तो निर्विवाद ही है कि इस प्रकार के चित्रकाव्यों में जिनके प्रत्येक पद्य के प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर को किसी लक्ष्य विशेष के अनुरूप होना हो या जिसमें पदविन्यास या अक्षरविन्यास किसी विशिष्ट योजना या चित्रबन्ध में समाविष्ट होने के लिए करना पड़ता है, कुछ काठिन्य और दुरूहता होगी ही। फिर यदि कवि व्याकरण, छन्द या अलंकार की छटा दिखलाने का लक्ष्य लेकर भी चला हो तो दुर्बोधता आना स्वाभाविक है। इसे चाहे हम दूसरे शब्दों में प्रौढ़ि, परिनिष्ठितता आदि कह दें, कटु आलोचना करने वाले इसे जटिलता, दुरूहता आदि शब्द दे दें, ऐसे काव्यों में अपरिचित और नये पद प्रयोग अपरिहार्य हो जाते हैं। ऐसे काव्यों के जिन पद्यो में गूढ अर्थ, अलंकार अथवा व्याकरणप्रक्रियागत

विशिष्ट रूप निहित हों उनको समझानें के लिए टीका या टिप्पणी आवश्यक हो जाती है। इसीलिए पं. भगवतीलाल जी ने संस्कृत व्याख्या लिखकर उसमें ऐसी गुत्थियों को खोला है, काव्यार्थ और अलंकारशास्त्रीय विशेषताएँ स्पष्ट की हैं, कोष उद्धृत किये हैं और व्याकरण से पदविशेषों की निष्पत्ति समझाई है। यह व्याख्या साथ ही में मुद्रित की जा रही है। पादटिप्पणी के रूप में व्याकरण कोषादि का संदर्भ देने वाली टिप्पणी भी ज्यों की त्यों मुद्रित है। इनकी उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है। ये प्रथमतः निकले संस्करण में भी थी और उसे सुग्राह्य बनाती थीं, यह कहने की आवयकता नहीं।

हिन्दी व्याख्या :-

संस्कृत टीका के होते हुए भी ऐसे प्रौढशैलीगुम्फित महाकाव्य का आशय, विशिष्टताओं तथा गूढार्थों को समझने के लिए हिन्दी टीका अनुवाद अथवा व्याख्या की वांछनीयता बनी रहती है यह आजकल के पाठक भलीभांति जानते हैं। इसके बिना आज उत्तरभारत में किसी भी प्रकार के संस्कृतकाव्य अथवा ग्रन्थ सुग्राह्य नहीं होते यह कौन नहीं जानता? यह उल्लेखनीय है कि कवि के जीवनकाल में ही उनकी पुत्री गिरिजा देवी ने कवि के अग्रज पं. भगवतीलाल के पुत्र पं. राममनोहर के सहकार में इस काव्य का हिन्दी काव्य रूपान्तर करना प्रारंभ किया था, किन्तु दुर्दैव से गिरिजा देवी का असमय में ही (१९४०में) निधन हो जाने के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ पाया। उस समय बालक ओमप्रकाश आचार्य की आयु केवल २ वर्ष की थी। दुर्योग से राममनोहर का भी निधन १९४२ में हो गया। तब से इसकी हिन्दी व्याख्या अथवा हिन्दी काव्य रूपान्तर लिखने की योजना बिना क्रियान्वयन के सुयोग्य योजक और सुयोग्य अनुवादक की प्रतीक्षा में रही। कवि के दौहित्र (गिरिजा देवी आचार्य के सुपुत्र) श्री ओमप्रकाश आचार्य का यह सुचिन्तित प्रयास चलता रहा कि इसकी हिन्दी व्याख्या किसी सुयोग्य विद्वान् से कराई जाए। उन्होंने अनेक विद्वानों से सम्पर्क और अनुरोध किया। कुछ ने यह कार्य प्रारम्भ भी किया किन्तु कठिन पाया। श्री अक्षयचन्द्र शर्मा ने हिन्दी अनुवाद प्रारंभ भी कर दिया था। उनके अस्वास्थ्य के कारण अनुवाद कार्य अधिक गति नहीं पकड पाया। १९८० में उनका भी देवलोक हो गया। सौभाग्य से जयपुर के सुप्रसिद्ध कवि, राष्ट्रपतिसम्मानित विद्वान् पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय ने यह कार्य करना सहर्ष स्वीकार किया। उन्होंने काव्य का अध्ययन कर अभिमत व्यक्त किया था कि ऐसे प्रौढ काव्य का अनुवाद एक चुनौती है और उसे स्वीकार करके यह कार्य करना मेरे लिये अब कसौटी बन गया है। हर्ष की बात है कि विद्वद्वर पण्डित जी ने इस काव्य का, परिशिष्ट स्तोत्रों आदि का न केवल अनुवाद और व्याख्या हिन्दी में की है अपितु श्लोकों के कथ्य की और शिल्प की विशेषताओं का विवेचन भी श्लोक की व्याख्या के बाद 'विशेष' शीर्षक से किया है। इस प्रकार 'अर्थ' शीर्षक से पद्य की व्याख्या और जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ, 'विशेष' शीर्षक से उस पद्य की काव्यगत विशेषताओं, व्याकरण की गुत्थियों, अलंकारों, छन्दों की नूतनता आदि का विवरण हिन्दी व्याख्या में दिया गया है।

आद्याक्षरयोजना -

किसी भी कथासूत्र और आशय विशेष को वहन करने वाले काव्य के प्रत्येक पद्य के प्रत्येक चरण के आद्याक्षरों में किसी अन्य पाठ के प्रत्येक अक्षर को समाविष्ट करने का कठिन लक्ष्य लेकर चलने वाले कवि के सामने कितनी कठिनाई पग पग पर आती होगी इसका अनुमान आप सहज ही लगा सकते हैं। पहली कठिनाई तो होगी संयुक्ताक्षरों को आद्याक्षर बनानें में - 'वत्स' निवर्तयामास' 'इन्द्र' आदि में पदादि में 'त्स' र्त' न्द्र' जैसे अक्षर कैसे आएँगे? इसका समाधान कवि ने यह निकाला है कि केवल एक अक्षर को ही पदादि न मानकर स्वर के पूर्व के और बाद के वर्णों को शामिल करते हुए उच्चारणीय एक इकाई को पदादि माना जाए। ऐसी इकाई को अंग्रजी में सिलेबल (Syllable) कहते हैं - जैसे वत्स में वत्+स, 'वर्त' में वर्+त या इन्द्र में इन्+द्र। 'धत्ते' में धत्+ते इस प्रकार अक्षर विभाजन करके ही तो इन दोनों को पदादि में रखकर काव्य रचना की जा सकती है 'त्ते' यां 'न्द्र' से श्लोक कैसे शुरू होगा? कवि ने यही प्रणाली आद्याक्षर योजना में अपनाई है। इसके आधार पर पाठक प्रथमाक्षर संकलन द्वारा लक्ष्य काव्य विशेष की अनुगमना कर

सकेंगे (जैसे सर्ग ६ के पद्य ५ में निवर्तयामास को नि+वर्+त+या पदाद्यक्षरों से, सर्ग ७ के पद्य ५-६-७ में 'खड्गं' को खड्+गं, 'परमप्रीतस्तूणी' को 'प्री+तस्+तू' इस प्रकार रखकर काव्यरचना करनी पडी है) 'लवणार्णवम् में 'ल+व+णार्+ण+वम्' द्वारा आद्याक्षरयोजना है। (सर्ग ११ पद्य ८)

शाण व्याख्या में व्याख्याकार का क्या कृतित्व है इस पर हम विशेष विस्तार इसलिए नहीं करना चाहेंगे कि स्वयम् उन्होंने अपनी संस्कृत भूमिका में इस विषय पर जो अन्यत्र अनुल्लिखित हैं और जिनके अवगमन से पाठक को मूलकाव्य के अनुशीलन में सहायता मिलती हो। वैसे हिन्दी व्याख्याकार पं. मोहन लाल शर्मा पाण्डेय ने अनेक काव्यगुणों या विशेषताओं को प्रतिपद्य टिप्पणी में स्पष्ट भी किया है। उससे भी अध्येताओं को पर्याप्त प्रकाश मिलेगा।

छन्दोवैविध्य :-

चित्रकाव्य की संश्लिष्ट शिल्परचना के अतिरिक्त इस काव्य की यह भी विशेषता है कि इसमें छन्दोवैविध्य इतना है जैसा अन्य काव्यों में नहीं पाया जाता यह हम पहले कह ही चुके हैं। कवि ने वे अनेक छन्द तो प्रयुक्त किये ही हैं जिन्हें सामान्यतः हम लोग छन्दः शास्त्र के ग्रन्थों में लक्षण देखकर पढते हैं और परिनिष्ठित कवियों के काव्यों में निबद्ध पाते हैं जैसे उपजाति, वसन्ततिलका, शालिनी, पुष्पिताग्रा, रथोद्धता, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, प्रमिताक्षरा, भुजङ्गप्रयात, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, स्वागता, पृथ्वी, हरिगीतिका, स्रग्विणी, हरिणी, वियोगिनी, मन्दाक्रान्ता, मंजुभाषिणी, प्रहर्षिणी, वैतालीय, आदि किन्तु अपेक्षाकृत अल्पप्रयुक्त और अप्रयुक्त छन्द भी कवि ने विभिन्न सर्गों में विशेषकर अष्टम से लेकर चतुर्दश सर्ग तक प्रयुक्त किये हैं जैसे पंचम सर्ग में प्रभावती छन्द का प्रयोग है। तेरह वर्णों का यह वृत्त अल्पप्रयुक्त रहा है। इसका लक्षण है 'वेदग्रहैस्तभसजगाः प्रभावती। पंचम सर्ग के ५६ पद्य इसी वृत्त में निबद्ध हैं। ५७ से वसन्ततिलका, ६१ व ६२ में रथोद्धता, पुनः वसन्ततिलका से सर्ग समाप्ति है। सप्तम सर्ग में जहाँ वनवास का वर्णन है वानवासिका नामक छन्द प्रयुक्त है। यह मात्राओं पर आधारित छन्द है और पादाकुलक का ही एक प्रकार है जो चौपाई की प्रजाति का है। लगता है इसके अभिधान 'वानवासिका' को अपने वर्ण्य विषय को प्रतीक रूप में सूचित करने वाला मानने के कारण इस सर्ग के अनुरूप पाते हुए कवि ने इसे इस सर्ग के लिए चुना । ८ वें सर्ग में मत्तमयूर छन्द भी है, चित्रा छन्द भी। मत्तमयूर अल्प प्रचलित छन्द है यद्यपि काव्यों में इसका प्रयोग सुविदित है, चित्रा अप्रचलित है। (इस का लक्षणादि आठवें सर्ग के ५६ वें अर्थात् अन्तिम पद्य की व्याख्या में देखा जा सकता है। नवें सर्ग में वर्षावर्णन के प्रसंग में जलधरमाला नामक छन्द का प्रयोग किया गया है। (४० से ४३ पद्य)

दसवें सर्ग का प्रारंभ वैश्वदेवी छन्द से किया गया है जो अप्रचलित है। इसी सर्ग में ४१ वाँ पद्य हरनर्तन छन्द में है। वह भी अप्रचलित मात्रिक छन्द है। यद्यपि इसकी लय हरिगीतिका छन्द के समान है और अठारह वर्णों का यह वृत्त छन्दोग्रन्थकारों में सुविदित है जिसे चंचरी, चर्चरी, विबुधप्रिया आदि नामों से भी पुकारा गया है। इसी सर्ग में ६३ वाँ पद्य कुसुमितलतावेल्लिता छन्द में है - यह भी अष्टादशाक्षरा वृत्ति का अप्रचलित छन्द है। इनके लक्षण व्याख्या में देखे जा सकते हैं, यहाँ विवरण देना व्यर्थ विस्तार का कारण बनेगा। तेरहवें सर्ग का ३३ वाँ पद्य रुचिरा नामक अप्रचलित छन्द में निबद्ध है। यद्यपि छन्दः शास्त्रियों में रुचिरा नाम से अनेक मात्रिक या वार्णिक छन्द सुविदित है - जैसे मात्रिक छन्द रुचिरा 'तीस मात्रा का' लोकभाषाओं में गेय पदों की रचना में बहुत प्रयुक्त किया गया है पर वह यह नहीं है जो यहाँ प्रयुक्त है। इसी प्रकार १६ व १४ मात्रा के चरणों वाला रुचिरा छन्द भी अपभ्रंश भाषाओं में सुविदित है, किन्तु वार्णिक छन्द रुचिरा कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं किया गया था। चौदहवें सर्ग में इक्कीसवां पद्य वैतालीय छन्द में है जो अल्पप्रयुक्त ही है। इसी प्रकार २२ वाँ पद्य अपरवक्त्र छन्द में है। यह भी अल्पप्रयुक्त है। वैतालीय छन्द का प्रयोग कवि ने वैतालिक की उक्ति के लिए प्रतीकात्मक रूप से उपयुक्त मानकर किया प्रतीत होता है।

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि काव्य में छन्दों की कितनी बडो संख्या में विविधता दृष्टिगोचर होती है। यह कवि की छन्दःशास्त्र कुशलता का तो प्रमाण है ही, छन्दोगुम्फनसामर्थ्य का भी प्रमाण देता है। कवि ने वार्णिक, सम, विषम और मात्रिक - सभी तरह के छन्दों का प्रयोग किया है। कुछ मात्रिक छन्दों का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। प्रसिद्ध मात्रिक छन्दों में हरिगीतिका भी कवि ने निबद्ध की है (१४/५२) जिसमें वर्णन के प्रसंग में 'हरिगीतिका' छन्द का नाम भी आ जाता है -

फलिताऽधुना तव कामवल्ली नाथ पविता मां कदा ?

ललिताऽऽकलितहरिगीतिकाऽयोध्या तृपेदहमपि यदा। (१४/५२)

छन्दों के नाम को मुद्रा अलंकार की शैली में अन्य कथ्य में समाविष्ट करके गूँथनें की कवि की छटा बहुधा देखने को मिलती है। आठवें सर्ग के ३६ में छन्द में मत्तमयूर नामक वृत्त है। इसका संकेत कवि ने इस प्रकार किया है-

चक्षुर्मार्यै लक्ष्मणकानीतजलेन मैथिल्याख्यां संस्मर सीते भव धीरा।

थिरृथिरृनादाङ्कैः स्वगरुद्भिः स्थिरतां वालीं पश्य त्वं निर्दिशतीं मत्तमयूरीम्। (८/३६)

यहाँ आनन्दमग्न मयूरी का उल्लेख है और उसमें छन्द का नाम मत्तमयूर भी छिपा है। इसी को मुद्रालंकार कहते हैं।

कोष-संदर्भः -

इन छन्दों का नामोल्लेख और लक्षणोल्लेख संस्कृत टीका में आपको यथास्थान मिल जाएगा। साथ ही जहाँ जहाँ कोई पद कठिन लगा वहाँ संस्कृत टीकाकार ने विभिन्न शब्दकोषों के उद्धरणों से उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। अमरकोष, मेदिनीकोष, मंखकोष आदि अनेक कोषों के प्रमाण इसमें आपको मिलेंगे। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के अग्रज, उत्कृष्ट शोध विद्वान् और विमर्शक पं. भगवतीलाल जी का अध्ययन कितना व्यापक था, उन्होंने इस काव्य की व्याख्या में कितना श्रम किया था और कितने शब्दकोषों का मन्थन किया था।

कथावस्तु और उसके स्त्रोत -

जैसा हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है, इस काव्य को स्वयं कवि ने 'महाचित्रकाव्य' का अभिधान देकर यह संकेत अवश्य किया है कि कवि का प्रधान लक्ष्य वाल्मीकि के आदिकाव्य के प्रथम सर्ग के प्रत्येक पद्य के प्रत्येक अक्षर को लेकर पूरा काव्य लिख जाने का रहा अतः 'शब्दचित्र' के गुण इसमें प्रधानतः मिलने चाहिए। दूसरे शब्दों में 'कविसंरंभगोचरता' चित्रकाव्य के गुणों की ही है, और चित्रकाव्यत्व शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दोनों दृष्टियों से इसमें अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है जिसका परिचय भी हमने विभिन्न मापदंडों के विवरण सहित दिया है - तथापि कथासूत्र के गुंफन में एवं हिन्दी में जिस पक्ष को आजकल 'कथ्य' नाम से अभिहित किया जाता है उस संप्रेषणीय वस्तु को सँजोने में भी कवि का जो अभिप्राय अथवा दृष्टिकोण तथा अवदान रहा है वह उल्लेखनीय है।

यह तो स्पष्ट ही है कि जो कवि वाल्मीकीय रामायण के आद्य सर्ग की अक्षर योजना को ही आधार मानकर काव्य रच रहा है वह कथासूत्र तो उसी रामायण से लेगा अतः कवि का प्रमुख रामकथास्रोत तो वाल्मीकीय रामायण ही रहा है किन्तु रामकथा प्रसंगों में अनेक ऐसी घटनाएँ और कथासूत्र हैं जो कवि ने अन्य रामकथास्रोतों से विशेषकर रामचरितमानस से लेकर अपने काव्य में जोडे हैं जो वाल्मीकि की रामायण में नहीं है। यह सुविदित है कि गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानस में प्रमुख आधार वाल्मीकि की कथा को मानते हुए भी अनेक प्रसंग अपनी ओर से या अन्य सूत्रों (कालिदास आदि) से लेकर जोडे थे जैसे पुष्पवाटिका में राम और सीता का परस्पर दर्शन, केवट का प्रसंग, धनुर्भंग के बाद परशुराम का आना, क्रोध और विवाद

करना, लक्ष्मणपरशुरामसंवाद आदि तथा कुछ कथासूत्र छोड दिये थे जैसे सीतानिर्वासन, लवकुश का जन्म, रामाश्वमेध के बाद उनका मिलन और सीता का भूमि प्रवेश आदि। लगता है मानस की कथा के उत्तर भारत में व्यापक प्रसार के फलस्वरूप कवि के मानस में रामकथा की जो छवि और जो क्रम था उसी के अनुरूप उन्होंने इस महाकाव्य में रामकथा लिखी है, वाल्मीकि का ही अनुसरण किया हो सो नहीं है। कालिदास ने रघुवंश में जो रामकथा निवद्ध की है उसका प्रभाव तो कवि पर पडना ही था जैसे अन्य अधिकांश संस्कृत कवियों पर पडा है।

यही कारण है कि कवि ने वाल्मीकि द्वारा अस्पृष्ट प्रसंग इस काव्य में वडे चाव से निवद्ध किये हैं जैसे गौरीपूजन के लिए सीता का जाना, पुष्पवाटिका में राम और सीता का मिलन और वहाँ से ही पूर्वराग का उदय। कहते हैं तुलसीदास ने यह प्रसंग तमिल की कम्बनूकृत रामायण (कम्बरामायण) से लिया था। राम वनवास का वरदान माँगने हेतु कैकेयी को भडकाने के लिए सरस्वती ने मन्थरा को प्रेरित किया था और इन्द्रादि देवों की प्रार्थना पर सरस्वती ने ऐसा किया यह वाल्मीकीय रामायण में नहीं है किन्तु पं. नित्यानन्द जी ने तुलसीदास की मानसकथा के आधार पर यह प्रसंग जोडा है। इन प्रसंगों की योजना इस बात को प्रमाणित करती है कि कवि का मानस तुलसी के रामचरितमानस से वहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किये हुए है। राम के द्वारा धनुषभंग और सीतारामविवाह के बाद परशुराम का आगमन वाल्मीकि की कथा में नहीं पाया जाता है किन्तु पं. नित्यानन्द जी ने यह प्रसंग लिया है। इससे लगता है कि यह प्रसंग कवि ने कालिदास के रघुवंश और तुलसीदास के मानस के प्रभाव से निबद्ध किया है। वैसे अनेक अन्य संस्कृतकाव्यों और नाटकों में भी यह प्रसंग कवियों और नाटककारों ने वडे चाव से निवद्ध किया है। रामकथा पर आधारित भास, मुरारि, जयदेव आदि के प्रतिमा नाटक, अनर्घराघव, प्रसन्नराघव आदि नाटकों में विविध नूतन प्रसंग वडी कुशलता के साथ जोडे गये हैं, अनेक काव्यों और चम्पूकाव्यों (जैसे भोजराजकृत रामायणचम्पू) में भी नूतन प्रसंगों की अनेक मौलिक उद्भावनाएँ पाई जाती हैं। तुलसीदास ने इन सबका अनुशीलन किया था और प्रायः सभी के प्रभाव उनके मानस में पाए जाते हैं। हमने इसी विषय पर एक शोधलेख लिखा था जो हमारे ग्रन्थ 'संस्कृत के गौरवशिखर' में प्रकाशित भी है। (२९ तुलसी के मानस पर संस्कृत का प्रभाव) । अस्तु।

पं. नित्यानन्द जी ने जो प्रसंग लिये हैं उनपर तुलसीदास का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। रामचरिताब्धिरत्नम् में कवि ने रामजन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा निबद्ध की है। सीतानिर्वासन और लवकुशजन्म आदि की कथा जो वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा (जिस पर भवभूति का उत्तररामचरित आधारित है) कवि ने नहीं ली है। ठीक यही सरणि तुलसीदास ने अपनाई थी। लोकापवाद से सीता का परित्याग, वाल्मीकि के यहाँ कुश लव का जन्म, अश्वमेधीय घोडे के लिए राम की सेना से लवकुश का युद्ध आदि उन्हें नहीं भाए। अनेक विद्वानों का तो यह मत भी है कि ये प्रसंग स्वयं वाल्मीकीय रामायण में बाद में जोडे गए हैं। मूलकथा तो युद्धकाण्ड की फलश्रुति पर ही समाप्त हो गई थी। इस पर भी हमारा एक शोध लेख द्रष्टव्य है। इस विषय पर विस्तार यहाँ अप्रासंगिक होगा। हमारा आशय यही है कि काव्य में कवि ने कथा का फलक वही रखा है जो रामचरितमानस का है । उत्तररामकथा इसमें निवद्ध नहीं है।

कवि ने अपनी ओर से कथावस्तु में जो नई योजनाएँ की हैं वे हैं नवम सर्ग में चित्रकूटनिवास के दौरान राम का वनविहार अर्थात् रामसीता का नदी तट पर, शैलों की उपत्याकाओं में, उद्यानों में, निर्झरों में विहार। इस कथायोजना के कारण कवि को महाकाव्योचित ऋतुवर्णन की अलंकृत योजना करने का अवसर और औचित्य भी मिल गया है। कवि ने यह नूतन उद्भावना की है कि राम के अलौकिक प्रभाव से छहों ऋतुएँ चित्रकूट में एक साथ अपना प्रभाव दिखलाने लगीं। भक्ति आन्दोलन की काव्यरचनाओं में यह योजना पाई जाती है कि भगवान् की सेवा के लिए सभी ऋतुओं के अनुकूल गुण एक साथ उपस्थित हो जायें। विज्ञजन जानते ही हैं कि श्रीमद्भागवत (दशमस्कन्ध) के कृष्णजन्मप्रसंग में 'अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः' आदि के द्वारा श्रीकृष्ण के जन्म के समय विभिन्न ऋतुओं के परस्पर विरुद्ध गुणों का भी एक साथ संयुक्त होने का वर्णन किया गया है। बादल भी घिरे हैं, चन्द्रमा भी चमक रहा है, वर्षा ऋतु है पर 'नद्यः प्रसन्नसलिलाः' हैं, कमल खिले हैं (जो शरद् का गुण है) आदि। इसी परंपरा को आगे बढाते हुए कवि ने इस काव्य में राम और सीता की

रहःकेलि और एकान्तविहार का वर्णन भी निबद्ध किया है। यह तथ्य विद्वज्जनों को विदित ही होगा कि रामानन्दसम्प्रदाय की युगल सरकार की उपासना के विकास की यह परिणति भी हुई थी कि अग्रदास जी आदि सन्तों ने राम को मधुर भक्ति का नायक बनाकर राम और सीता का निकुंज-विहार कृष्ण की मधुर भक्ति की तरह वर्णित किया। राम-सीता की रासलीला का वर्णन भी किया जाने लगा था। स्वयं मेरे पूर्वज श्रीकृष्णभट्ट कविकलानिधि ने सवाई जयसिंह के समय में रामसीता और सखियों के रास का वर्णन किया जो 'राघवगीतम्' में जयदेव के गीतगोविन्द की शैली में निबद्ध है और प्रकाशित भी है। इस प्रकार राम की माधुर्यपरक उपासना के अध्येताओं के लिए काव्य के ये स्थल विशेष उल्लेखनीय बन पडे हैं (सर्ग ९ पद्य ३१-५६)।

काव्य की कथावस्तु चतुर्दश सर्ग में राम के राज्याभिषेक के साथ तथा राम द्वारा भरत को युवराज बनाने, तदनन्तर युद्ध के साथी वानरादि की बिदाई के साथ संपूर्णता को प्राप्त होती है। इसके बाद की कथा का निबंधन न कर कवि हनुमान् सुग्रीव आदि के संलाप में भक्ति का निर्देश करता हुआ काव्य की समाप्ति कर देता है जिससे यह आभास भी होता है कि रामभक्ति शाखा की भावनाओं को कवि ने अपना प्रमुख आधार बनाया है और सिंहासन पर बैठे सीताराम (जो रामभक्तिसम्प्रदाय में भी युगलसरकार के रूप में उपस्थित है) कवि के वर्ण्य और नायक हैं।

अलंकार योजना -

पंडित नित्यानन्द जी के प्राचीन परिपाटी के प्रौढ कवि होने के कारण इस काव्य में शब्द और अर्थ के अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। टीकाकार ने प्रत्येक श्लोक की व्याख्या करते समय उसमें निहित अलंकार का उल्लेख किया है अतः पाठकों को टीका के अवलोकन से ज्ञात हो जाएगा कि कितनी बडी संख्या में अलंकार इस काव्य में पाये जा सकते हैं। अनेक पद्यों में एक से अधिक अलंकारों की संसृष्टि भी मिलेगी। मङ्गलाचरण के प्रथम पद्य से ही 'इव' शब्द के प्रयोग से उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकार प्रारंभ हो जाते हैं। द्वितीय पद्य में उपमा और रूपक, तृतीय में गम्योत्प्रेक्षा और उपमा, चतुर्थ में असमस्त रूपक, पंचम में कारकदीपक और विशेषोक्ति, छठे में विरोधाभास, सातवें में उपमा, पर्यायोक्त और छेकानुप्रास तथा आठवें में रूपक द्रष्टव्य है।

प्रथमसर्ग के प्रथम तीन पद्यों में उपमा, चौथे में उदात्तालंकार, पाँचवें में कादम्बरी की शैली में परिसंख्या, दसवें में एकावली, बारहवें में विरोधाभास, चौदहवें में यथासंख्य, सत्रहवें में समासोक्ति, तेईसवें में परिवृत्ति, पच्चीसवें में अर्थान्तरन्यास, बयालीसवें में अनुमानालंकार और अडतालीसवें में यमक देखने लायक है। दूसरे सर्ग में ३१ वें पद्य में यमक, ३७ वें में सहोक्ति, ३८ वें में हेतु, ४१ वें में काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास आदि, तृतीय सर्ग में भी अपह्नुति, मालोपमा, सार, विषम आदि, चतुर्थ में उल्लेख, समासोक्ति, व्यतिरेक, तद्गुण, स्मरण, फलोत्प्रेक्षा, दीपक, अधिक, रूपक, विकल्प, मुद्रा, सहोक्ति आदि, तथा पंचम में उपमा, अर्थान्तरन्यास, स्मरण, चित्र, क्रियोत्प्रेक्षा, संदेह, स्वभावोक्ति, यमक, व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा आदि अनेक अलंकार समाविष्ट हैं। छठें सर्ग में चौथे व उन्नीसवें पंद्य में यमक, पाँचवें, आठवें दसवें और इकतीसवें में अर्थान्तरन्यास, २६ वें में उत्प्रेक्षा, २९ वें में व्यतिरेक, ३२ वें में उपमा, ३५ वें में श्लेष, ३९ वें मे अर्थान्तरन्यास, ४१ वें में उपमा, ४२ वें में विरोधाभास, ४३ वें में उपमा और ४९ वें में मुद्रा अलंकार देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार अष्टम सर्ग में मुद्रा, विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, प्रश्नोत्तर, परिकर, परिकरांकुर, तुल्ययोगिता, यमक आदि अलंकार हैं।

नवम सर्ग महाकाव्योचित अलंकृत ऋतुवर्णनों, विविधरसों की भावभूमि में निबद्ध काव्यमुद्राओं तथा शैलीगत चमत्कारों से भरा पडा है। इसमें कथावस्तु तो नहीं के बराबर है, किन्तु चित्रकूट निवास के समय राम का ऋतुविहार, वनविहार, प्रकृतिसौन्दर्य, पर्यवेक्षण आदि काव्योचित वर्णन ५०-६० श्लोकों में निबद्ध हैं। स्वाभाविक है कि इसमें अलंकारों के माध्यम से कवि ने ऐसे वर्णन किये हैं। तभी इसमें पर्यायोक्त, प्रत्यनीक, यमक, प्रतीप, अपह्नुति, परिसंख्या, संदेह, मुद्रा, अन्योक्ति; एकावली आदि अलंकार देखे जा सकते हैं। ऋतुवर्णन और प्रकृतिवर्णन इस सर्ग की विशेषता है।

दशम सर्ग में भी मुद्रा, व्यतिरेक, श्लेषोत्थापित उपमा, यथासंख्य, रूपक, प्रतीप आदि अलंकार हैं। एकादश सर्ग में अर्थान्तरन्यास, संदेह, सहोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, उपमा, विरोधाभास आदि तथा द्वादश में उत्प्रेक्षा, एकावली, पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, मुद्रा, श्लेष आदि द्रष्टव्य हैं। त्रयोदश और चतुदर्श सर्गों में भी उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, श्लिष्टोपमा, यमक आदि अलंकारों का चमत्कार उसी प्रकार विद्यमान है।

जो महाकाव्य चित्रकाव्य की श्रेणी में बैठने के लक्ष्य से ही निर्मित हो उसमें अलंकारों और रसों की योजना की कमी हो भी कैसे सकती है? इस दृष्टि से पं. नित्यानन्द जी ने इस काव्य में अपनी काव्यशास्त्रनिष्णातता का पर्याप्त प्रमाण तो दिया ही है, समूचे काव्य में व्याकरणशास्त्रज्ञता भी दृष्टिगोचर करा दी है जिसमें विभिन्न धातुओं के विभिन्न लकारों में प्रयोग, सुबन्त, कृदन्त आदि के अप्रचलित और अल्प-प्रचलित ही नहीं, अकल्पनीयप्रयोग भी सम्मिलित हैं। इसमें सामान्य पाठक को थोडी असुविधा काव्य के पूरे अर्थ को समग्रतः और सहजता से हृदयंगम करने में अवश्य हो सकती है किन्तु वह चित्रकाव्य के प्रसंग में अपरिहार्य है यह कौन नहीं जानता?

नूतन शब्द प्रयोग :-

चित्रकाव्यकार को विभिन्न अक्षरों का समावेश करने के लिए कभी-कभी अप्रयुक्त शब्द भी गुंम्फित करने होते हैं, कभी ण या ढ जैसे वर्णों को समाविष्ट करने के लिए अपनी कल्पना से शब्दों की खींचतान भी करनी होती है। तथापि कवि ने अत्यन्त संतुलित रहते हुए ऐसे स्थलों पर भी बडे कौशल से अक्षरयोजना करते हुए क्लिष्टता से वचने का प्रयास किया है। जो अप्रचलित शब्द प्रयुक्त हैं वे भी कोषों में अभिहित अवश्य हैं, प्रयोग में चाहे न आए हों। उदाहरणार्थ सर्ग ३ के २१ वे पद्य में 'च' का समावेश करने हेतु उन्हें लिखना पडा 'चञ्चत्वरविचुम्बिकुंडलः'। यहाँ चञ्च शब्द सुन्दर के अर्थ में प्रयुक्त है। यह सामान्यतः संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होता किन्तु कोषों में मिलता है। टीकाकार ने मेदिनीकोष उद्धृत किया है 'चञ्चस्तु शोभने दक्षे'। शायद पंजाबी का 'चंगा हाल है जी' वाला चंगा शब्द इसी प्रकार बना हो। यह चंग शब्द कवि को प्रिय भी है, स्थान-स्थान पर इसका प्रयोग है (जैसे सर्ग १२ पद्य ६०)

काव्य-सौष्ठव –

यह सव होते हुए भी कवि ने यह ध्यान रखा है कि काव्य का जो प्रमुख गुण है रमणीयता, उसमें क्षति न हो। तभी तो कवि की शब्दालंकारयोजना से कहीं कहीं काव्य की छटा अत्यन्त हृदयावर्जक और श्रुतिमधुर बन पडी है। पंचवटीवर्णन का यह पद्य देखें -

प्रेक्ष्या पंचवटी सुखामृतघटी गोदावरीया तटी
यत्रोल्लासपटीयसी छविनटी खेलेद् यथा मर्कटी
चारुः केकिझटी-पिकालि-निकटीकृद् यास्ति नाट्योद्घटी
स्थित्यै तत्र जटीयसीमनि कुटीमाधेहि यत् त्वं जटी। (१०/१५)

अगस्त्य कहते हैं कि यह पंचवटी अत्यन्त रमणीय है। यहीं कुटी बना लो। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द में अनुप्रास की छटा क्या बरबस हृदय को नहीं खींच लेती? इसी प्रकार पंपासरोवर के प्रसंग में भी शबरी के स्वर्गमन का वृत्त शार्दूलविक्रीडित में ही ऐसी ही अनुप्रासछटा में गुंफित है -

पंपापुष्करिणी तटस्थहरिणीयूथैर्मनोहारिणी
या स्वर्निर्झरणीव तापजरिणी संमोदसंचारिणी।
मातुः संस्मरिणी पयःप्रसरिणी पद्मातिनिर्हारिणी
संप्रेक्ष्येति कणीकृतोक्तिरभणीद् द्यां चाप भिल्लीमणी। (१०/६६)

यहाँ 'च आप' जैसे पदों के कठिन प्रयोग के उपरान्त भी छन्द और अनुप्रास की हृदयावर्जकता स्पष्ट है। ये काव्यगुण इसमें चित्रकाव्य होने के बावजूद पाये जा रहे हैं इस दृष्टि से इन्हें उल्लेखयोग्य मानकर केवल निदर्शन के रूप में

हमने उद्धृत किया है। ऐसे अनेक काव्यगुण, अलंकार, नूतनशब्दप्रयोग और व्याकरण के नियमों से निष्पादित विविध अभिनव सुबन्त, तिङन्त और समस्त (समासघटित) रूप इसमें पग-पग पर देखे जा सकते हैं ।

इस प्रकार की विशेषताओं का विवरण संस्कृतव्याख्याकार द्वारा अपनी टीका में तथा हिन्दी व्याख्याकार द्वारा 'विशेष' शीर्षकान्तर्गत अपनी टिप्पणियों में दिया जा चुका है इसलिए दिग्दर्शनमात्र की दृष्टि से यहाँ यह संकेत कर तथा स्थालीपुलाकन्यायेन इन एक - दो उदाहरणों को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त मानते हुए हम यह प्रकरण उपसंहृत करते हैं।

यह संस्करण-

सत्तर वर्ष बाद इस काव्य का पुनः प्रकाशन और वह भी हिन्दी अनुवाद, भूमिका आदि सहित, संस्कृतजगत् के लिए हर्षप्रद और स्वागतार्ह है। यह महाकाव्य संस्कृत की रामकाव्यपरंपरा की एक महत्त्वपूर्ण कडी तो है ही, चित्रकाव्यपरंपरा का भी बहुमूल्य निदर्शन है, महाकाव्यपरंपरा का भी एक अच्छा उदाहरण है, जो अपने रचयिता की अद्भुत काव्यप्रतिभा, अप्रतिम-अक्षरयोजन कौशल और संस्कृतभाषा तथा व्याकरण पर असाधारण अधिकार का प्रमाण देता है। इसकी पुनरवतारणा के लिए इसके प्रणेता पं. नित्यानन्द शास्त्री के आस्थावान् और सुयोग्य दौहित्र श्री ओंप्रकाश आचार्य तो भरपूर बधाई, साधुवाद और अभिनन्दन के पात्र हैं ही जिन्होंने आचार्य नित्यानन्दशास्त्री जी की स्मृति में संस्थान स्थापित कर उनकी कृतियों का पुनः प्रकाशन भी आरंभ किया है और उन पर विमर्श और अनुसंधान का सूत्रपात भी करवाया है। ईश्वर कृपा से उन्हें सुयोग्य विद्वानों का समर्थन, सहायता और सहकार भी भरपूर मिला है। कोलकाता निवासी विद्वान् (एशियाटिक सोसायटी के जनरल सेक्रेटरी) की मानवेन्दु बनर्जी की प्रेरणा और सहयोग इन्हें और इस संस्थान को प्राप्त हुआ, जिसके कारण प्रकाशन कार्य में बहुत प्रगति हुई। पंडितजी के दूतकाव्य हनुमद्दूतम् का प्रकाशन जिस प्रकार हाल ही में हुआ है, उसी प्रकार रामचरिताब्धिरत्नम् का यह संपादित प्रकाशन भी इस संस्थान का एक हर्षप्रद पदन्यास है। इनके अनुरोध से मैंने इस काव्य के इस संस्करण का संपादकत्व स्वीकार किया तथा पं.अमरदत्त व्यास (जयपुर) ने सह संपादक की भूमिका का निर्वाह सोत्साह किया। इस काव्य के व्याख्या कार्य को जिस श्रम, लगन और वैदुष्य के साथ जयपुर के जाने माने कवि, विद्वान्, राष्ट्रपतिसंमान प्राप्त पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय ने किया है और जिस सावधानता के साथ उन्होंने प्रूफ़शोधन किया है, जिस स्पष्टता और विशदता के साथ हिन्दी व्याख्या कर उन्होंने इसे संस्कृतज्ञेतर पाठकों के लिए भी सुग्राह्य बनाया है, साथ ही उसकी विशेषताओं का विवरण भी दिया है उसके लिए वे संस्कृतजगत् की श्लाघा और कृतज्ञता के सर्वात्मना पात्र बन गये हैं। मैं उन्हें सहर्ष वधाई देता हूँ। संस्कृत और हिन्दी पाठों को लगन के साथ शुद्ध रूप में कंप्यूटर द्वारा अंकित करके श्री राजेन्द्र तिवारी ने इसे रुचिर रूप प्रदान किया है, जिसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

मुझे आशा है कि इस प्रकाशन के फलस्वरूप इस काव्यकृति के नये सिरे से अध्ययन की ओर शोधार्थियों की भी दृष्टि जाएगी और विमर्शकों की भी। इससे पं. नित्यानन्द शास्त्री के व्यक्तित्व और कृतित्व के आकलन का नया दौर भी प्रारंभ होगा जो राजस्थान की संस्कृत मनीषा के लिए भी गौरव की बात होगी और आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों के लिए भी। इन्हीं शुभाकांक्षाओं के साथ हम सब इस काव्यरत्न की रश्मियों के पुनः प्रसार का स्वागत करतें हैं।

भूतपूर्व अध्यक्ष- राजस्थान संस्कृत अकादमी तथा
निदेशक संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग राजस्थान सरकार

संप्रति - प्रधान संपादक 'भारती' संस्कृत मासिक पत्रिका
तथा अध्यक्ष मंजुनाथ स्मृति संस्थान, जयपुर।

सी-८, पृथ्वीराज रोड,
जयपुर।
रामनवमी, २०५९
२१ अप्रेल, २००२ ई.

❄❄❄❄

शब्दशिल्पी आशुकवि नित्यानन्दशास्त्री (जीवनपरिचय)

प्यारेमोहन शर्मा
पूर्व निदेशक – राजस्थान-संस्कृत-अकादमी, जयपुर
सम्पादक – भारती-पत्रिका

जोधपुर के दाधीच ब्राह्मणकुल में समुत्पन्न शब्दशास्त्र के अद्भुत शिल्पी **पं. नित्यानन्द शास्त्री** के नाम से सम्पूर्ण संस्कृत जगत् सुपरिचित है। आपका व्याकरणशास्त्र पर असाधारण अधिकार था। यदि कहा जाय कि आप पाणिनि के ही साक्षात् अवतार थे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। शब्दशास्त्र के साथ-साथ आप में साहित्य सर्जन की अद्भुत क्षमता थी। आपकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही लाहौर के विद्वानों ने आपको आशुकवि की उपाधि से अलंकृत किया था। आपके पूर्वज जोधपुर मण्डलान्तर्गत जैतारण (मारवाड़) के निवासी थे, उनमें से कुछ खानदेश (महाराष्ट्र) में व कुछ अन्यत्र जा बसे। इनमें अपने गुणों व वैदुष्य के कारण नत्थू जी ने वंश का गौरव बढाया, नत्थूजी के दामोदर नामक पुत्र हुआ। इसी वंश परम्परा में पं. श्री अमरचन्द्र जी के पुत्र रामबक्ष जी के पाँच पुत्र हुये, उनमें सबसे बड़े **माधव कवीन्द्र** थे, माधवकवीन्द्र ने मानस लहरी की भांति मुक्ति लहरी की रचना की। माधव जी विद्याध्ययन के लिये जयपुर आ गये थे अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा व गुरुजनों के आशीर्वाद से आप एक उच्चकोटि के विद्वान् बन गये। जयपुर के राजकुल में व विद्वानों में आपने पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की परन्तु किन्ही विशेष कारणों से आपको जोधपुर लौटना पड़ा।

आशुकवि **पंडित नित्यानन्द शास्त्री** का जन्म सन् १८८९ में दाधीचकुलावतंस कासल्या-अवटंकी माधवकवीन्द्र के घर हुआ। आपके पिताश्री संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। विशिष्टशास्त्रज्ञ होने के साथ ही वे श्रेष्ठ कवि भी थे। अतएव उन्हें माधव कवीन्द्र नाम से जाना जाता था। श्री माधव कवीन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भगवतीलाल था। चूँकि पिता स्वयं श्रेष्ठ कवि एवं विभिन्नशास्त्रों के प्रौढ विद्वान् थे अतः अपने पुत्र को भी संस्कृत के शास्त्रों का सरहस्य अध्यापन कराया। कनिष्ठ पुत्र नित्यानन्द ने भी बाल्यकाल में घर पर पिताश्री से ही विद्याध्ययन किया। छोटे पुत्र पर पिता-माता का अधिक स्नेह होता है अतः सात वर्ष की आयु तक आपका अध्ययन पिताश्री के सान्निध्य में घर पर ही सम्पन्न हुआ। दैवदुर्विपाक से असमय में ही माधव कवीन्द्र सुधर्मा को अलङ्कृत करने हेतु देवलोक को प्रस्थान कर गये। परन्तु इनके अग्रज श्री भगवतीलाल जी (जो कि उच्चशिक्षाध्ययन में रत थे।) श्री नित्यानन्द को पिता की भांति ही स्वयं पढ़ाने लगे। कुछ समय पश्चात् आपको जोधपुर में अवस्थित **'वैदिक पाठशाला'** में अध्ययन हेतु प्रवेश दिलाया गया। सात वर्षीय बालक नित्यानन्द पितृवियोग के इस वज्राघात को यथाकथमपि सहन कर सका, परन्तु अत्यन्त स्नेहपूर्वक पिता द्वारा कराये जा रहे विद्याभ्यास में अवरोध आ जाने से बहुत उदास रहने लगा। अग्रज भगवतीलाल ने बालक के मनोभावों को समझते हुये न केवल उनके शिक्षाक्रम को यथावत् जारी रखा अपितु पिता का पूर्ण स्नेह भी अनुज को प्रदान किया। भगवतीलाल स्वयं अच्छे विद्वान् थे, विद्या के महत्त्व से

भलीभांति परिचित थे। अतः आवश्यक प्रारंभिक शिक्षा घर में पूर्ण कराकर अपने अनुज नित्यानन्द को जोधपुर की वैदिक पाठशाला में प्रवेश दिलाया। इस पाठशाला में श्री भगवतीलाल स्वयं प्रथमाध्यापक थे। इस पाठशाला से आपने पंजाब विश्वविद्यालय की विशारद परीक्षा सर्वोच्च अङ्कों से उत्तीर्ण की। यहाँ वेद, व्याकरण, साहित्य आदि सभी विषयों के अध्यापन की श्रेष्ठ व्यवस्था थी। प्रखरमति नित्यानन्द ने अपनी कुशाग्रबुद्धि से शीघ्र ही वैदिक पाठशाला के अध्ययन को पूर्ण कर गुरुजनों से उच्चाध्ययन का आशीर्वाद प्राप्त किया। उन दिनों में लाहौर में संस्कृत के उच्चाध्ययन की श्रेष्ठ व्यवस्था थी। शब्दशास्त्र के अद्वितीय मनीषी **महामहोपाध्याय पं. शिवदत्त शर्मा दाधिमथ** लाहौर के ओरियण्टल महाविद्यालय में अध्यापन कराते थे। जैसाकि सुविदित है **पं. शिवदत्त दाधिमथ** के अद्भुत वैदुष्य से प्रभावित होकर कोई जर्मन विद्वान् केवल पंडित महोदय से साक्षात्कार करने हेतु लाहौर आया था तथा श्री दाधिमथ महोदय से संभाषण कर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। अतः श्री नित्यानन्द को उन्हीं के सान्निध्य में उच्चाध्ययन के लिये पं. भगवती लाल ने लाहौर के ओरियण्टल कॉलेज में प्रविष्ट कराया, यहाँ से आपने श्रेष्ठ श्रेणी में दो वर्ष में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्ययन काल में आपकी विलक्षण प्रतिभा से कालेज का अंग्रेज प्राचार्य.(जो कि स्वयं संस्कृत का असाधारण विद्वान् था एवं जिसने अश्वघोष विरचित बुद्धचरित व सौन्दरानन्द जैसे श्रेष्ठ महाकाव्यों का सम्पादन किया था) अत्यन्त प्रभावित हुआ। महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त दाधिमथ ने अपने शिष्य नित्यानन्द को न केवल व्याकरणशास्त्र का सरहस्य अध्यापन कराया अपितु बालक की सहज प्रतिभा को पहिचान कर साहित्य सर्जन के लिये भी निरन्तर प्रेरणा प्रदान की। ओरियण्टल कालेज की पत्रिका में छात्र नित्यानन्द की संस्कृत कवितायें प्रकाशित की गईं। इन कविताओं ने सहृदयपाठकों को अत्यन्त प्रभावित किया। म.म. पं. दाधिमथ ने अपने शिष्य नित्यानन्द शास्त्री को भी सम्पादन कला से भली भांति परिचित कराया। अध्ययनकाल में ही छात्र नित्यानन्द **काव्यमाला** के सम्पादन में गुरुजी का पूर्ण सहयोग करने लगा।

लोकोक्ति प्रसिद्ध है **'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'** अतः भावी जीवन में महाकाव्यों के रचयिता बालक नित्यानन्द का छात्रावस्था में स्वरचित काव्यपाठों से नितरां सन्तुष्ट हुई विद्वत् परिषद ने आपको आशुकवि की उपाधि प्रदान की। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं.हीरानन्द शास्त्री एम.ए. (जो कि उस समय वहाँ रिसर्च स्कॉलर थे) ने छात्र नित्यानन्द को 'अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्' इस समस्या की पूर्ति करने को कहा। छात्र ने उनकी वेशभूषा पर दृष्टि डालते हुये रचना की - 'नवीनैर्बाहुकोटे यद् धार्यते बटनद्वयम, अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्' साथ ही हिन्दी अनुवाद भी 'युवक कोट की बाँह में बटन युगल है व्यर्थ, ज्यों बकरी के कण्ठ में हैं थन युगल निरर्थ॥ एक बार कालेज के प्रोफसरों ने केवल अष्टाध्यायीसूत्रात्मक श्लोक रचने को आपसे कहा। आपने तत्काल श्लोक रचना कर दिखाई -

इतो मनुष्यजातेः, न परे नः, प्रत्ययोऽधिकम्।
अत आदेः, तत्र साधुः धर्मं चरति रक्षति ॥

हिन्दी अनुवाद -

न अन्यत्र नर जाति से, अधिक प्राप्त हो ज्ञान।
अतः सुजन उसमें रखे धर्म क्रिया में ध्यान॥

माधुरी और सरस्वती पत्रिकाओं में आपके इस प्रकार के मनोरञ्जक श्लोक प्रकाशित हुये हैं।

ओरियण्टल कॉलेज में अंग्रेजी शिक्षण अनिवार्य था। आपने अत्यन्त रुचि के साथ अंग्रेजी का अध्ययन किया। फलतः आपको अंग्रेजी में भी अच्छी योग्यता प्राप्त थी।

लाहौर में अध्ययन समाप्ति के पश्चात् पं. नित्यानन्द शास्त्री लौट आये। यथा समय अग्रज भवगती लाल ने दाधीच ब्राह्मणकुल की सुयोग्यकन्या से आपका विवाह सम्पन्न कराया। गृहस्थ जीवन में प्रवेश के साथ ही जीविकोपार्जन की ओर श्री शास्त्री का ध्यान जाना आवश्यक था। यद्यपि अग्रज का असीम स्नेह एवं संरक्षण प्राप्त था परन्तु पुनरपि उपार्जन को आवश्यक समझते हुये गुरुवर म.म. पं. शिवदत्तदाधिमथ महोदय की प्रेरणा से आप वेंकटेश्वर मुद्रणालय से प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों का सम्पादन करने के लिये बम्बई प्रस्थान कर गये। वेंकेटेश्वर मुद्रणालय के स्वामी आपके वैदुष्य के विषय में म.म. पं. से पूर्ण जानकारी प्राप्त कर चुके थे। अतः आप जैसे श्रेष्ठ महावैयाकरण साहित्यस्रष्टा एवं सम्पादन कला प्रवीण विद्वान् को प्राप्त कर अपने आपको कृतकृत्य समझा। बम्बई में आप के आवास आदि की सुव्यवस्था के साथ पूर्ण सम्मान व पारिश्रमिक प्रदान किया। पं. नित्यानन्द शास्त्री ने वहाँ रहते हुये अनेक प्रकाशनाधीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया। आपके प्रौढपाण्डित्य को सुनकर बम्बई के महावीर कॉलेज के संचालकों ने कॉलेज में अध्यापन कार्य हेतु आपसे निवेदन किया। विद्याव्यसनी पंडित जी ने अध्ययनाध्यापन के विषय में शास्त्र निर्दिष्ट वचनों को ध्यान में रखते हुये प्राध्यापक के रूप में बम्बई के महावीर कॉलेज में अध्यापन कार्य भी किया। कुछ समय पश्चात् अस्वस्थ हो जाने के कारण डाक्टरों/वैद्यों के परामर्श के अनुसार आपको बम्बई छोडना पडा।

'गुणैः सर्वत्र पदं निधीयते' इस उक्ति के अनुसार जैसे जैसे पंडित जी के पाण्डित्य, सम्पादनकला एवं साहित्यसर्जन की ख्याति फैलने लगी वैसे वैसे विभिन्न संस्थायें आपको अपने यहाँ आमन्त्रित करने लगीं। इसी चिन्तन के अनुरूप आपकी श्रेष्ठ सम्पादन कला को जानकर गुजरात प्रान्त के भावनगर में अवस्थित एक जैन प्रकाशन संस्थान ने आपको अपने यहाँ आमन्त्रित किया। भावनगर से निमन्त्रण प्राप्त होने पर स्वास्थ्य की अनुकूलता एवं धनोपार्जन को भी जीवनयात्रा के लिये आवश्यक समझते हुये जैन धर्मग्रन्थों के अवलोकन का सुयोग प्राप्त कर श्री नित्यानन्द शास्त्री भावनगर के लिये प्रस्थान कर गये। भावनगर में आपने 'जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला' के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया। सम्पादन कार्य के साथ-साथ अनेक जैनमुनियों को आपने संस्कृताध्यापन कराया। इस प्रकार अध्ययन समाप्ति के पश्चात् पंडित जी जब सुदूरस्थ नगरों में अपने विद्यावैभव का प्रसार कर रहे थे, उस समय जोधपुर के शासकों ने जब सुना कि जोधपुर नगर का एक अद्भुत विद्वान् बम्बई एवं भावनगर आदि स्थानों में गुणीजनों द्वारा अत्यन्त आदर पूर्वक विभिन्न संस्थानों, महाविद्यालयों, मुद्रणालयों में आमन्त्रित किया जाता है तो उनके अलौकिक यश व विद्वत्ता से प्रभावित जोधपुर के रीजेन्ट महाराजा सर प्रतापसिंह ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक आपको जोधपुर आमन्त्रित किया। उनके आग्रह को स्वीकार कर आप जोधपुर लौट आये। यहाँ आने पर उक्त महाराजा ने अत्यन्त सम्मान के साथ 1912 ई. में **'नोबल्स स्कूल'** में अध्यापन हेतु प्रार्थना की, जिस प्रकार अजमेर के मेयो कॉलेज में केवल राजाओं या सामन्तों के पुत्र ही अध्ययन हेतु प्रवेश प्राप्त करते थे उसी प्रकार 'नोबल स्कूल' में भी केवल सामन्तों अथवा भूपतियों के ही बालक अध्ययन करते थे।

इस विद्यालय के शिक्षकों का मानदेय व सम्मान भी समाज में सर्वाधिक था। महाराजा सर प्रतापसिंह जी के आग्रह को स्वीकार कर नित्यानन्द शास्त्री ने यहाँ अध्यापन कार्य प्रारंभ किया। यह विद्यालय नगर से बाहर रमणीय स्थान पर अवस्थित था। आगे चलकर जो जोधपुर की राजगद्दी पर आसीन हुये, उन महाराजा उम्मेदसिंह ने भी इसी विद्यालय में अध्ययन किया था। शास्त्री जी स्वभाव से अत्यन्त सरल सदाचारी एव सादगी प्रिय थे। विविध शास्त्रों के आप मर्मज्ञ विद्वान् थे, साथ ही अध्यापन कला में अति कुशल थे। जिस प्रकार विष्णुगुप्त ब्राह्मण ने पञ्चतन्त्र, हितोपदेश के माध्यम से सहजरूप में ही राजपुत्रों को सर्वविध शिक्षा प्रदान की थी उसी प्रकार पं. नित्यानन्द शास्त्री ने अपने अध्यापन कौशल से नोबल्स स्कूल के उच्चकुलीन शिक्षार्थियों को धर्मनीति न्याय से संस्कृति आदि की श्रेष्ठ शिक्षा सहज रूप में प्रदान की। आपके वैदुष्य, आचरण व शिक्षा से सभी राजपुत्र आप में अगाध श्रद्धा रखते थे। आपकी शिक्षा का ही फल था कि इन युवक राजपुत्रों में भारतीय संस्कृति एवं वैदिक धर्म के प्रति दृढ़ आस्था यावज्जीवन समाहित रही। सन् 1938 में तत्कालीन जोधपुर नरेश ने (पूर्व में कार्यरत आपके ज्येष्ठ भ्राता भगवतीलाल के स्वर्गवास हो जाने से रिक्त) पुस्तक प्रकाश नामक राजकीय हस्तलिखित पुस्तकालय के अध्यक्ष पद पर कार्य करने हेतु अपने गुरु श्री नित्यानन्द जी को निवेदन किया, जिसे श्रीशास्त्री ने स्वीकार किया तथा मृत्युपर्यन्त उक्त पद पर रहते हुये अनेक ग्रन्थों का सम्पादन एवं नवसाहित्य सर्जन किया। सेवानिवृत्ति एवं राज्य सत्ता परिवर्तन के पश्चात् भी स्व.महाराजा श्री हनुमन्तसिंह जी ने इन्हें पेंशन का अधिकारी घोषित कर अपने उसी पुस्तकालय का कार्य पूर्ववत् सौंप रखा था और वर्तमान महाराजा श्री गजसिंह जी ने भी पूर्ववत् यावज्जीवन इन्हें वहीं का अध्यक्ष रखते हुए अपना रखा था।

कृतित्व –

शब्दशास्त्र के अद्भुत शिल्पी आशुकवि पं. नित्यानन्द शास्त्री ने अनेक काव्यों की रचना की है। जैसा कि हम पूर्व में निवेदन कर चुके हैं कि शास्त्री जी अध्ययन काल से ही काव्यरचना करने लगे थे। आपकी काव्यप्रतिभा आपको जन्म के साथ ही प्राप्त थी। पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा को ही काव्य का प्रमुख कारण मानते हैं और वह प्रतिभा प्राक्तनजन्म के संस्कारों, दैवीकृपा व काव्यशास्त्रों के अभ्यास से प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाल्यकाल में ही जिसके शिर से पिता का संरक्षण दूर हो गया हो और नौ वर्ष की आयु में ही जिसे मातृवियोग सहना पडे इस प्रकार के बालक नित्यानन्द को कविप्रतिभा प्राक्तनजन्मार्जित संस्कारों से स्वतः प्राप्त थी। एवं छात्रावस्था में ही विद्वत्परिषद द्वारा सम्मान प्रदान कर आपको अलंकृत किया गया था।

श्रीशास्त्री जी भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। अतएव रामभक्त हनुमान् की स्तुति में आपने **'मारुतिस्तवः'** स्तोत्र की रचना की और इसी क्रम में कालिदास के मेघदूत की परिकल्पना से प्रेरित होकर **'हनुमद्दूतम्'** नामक काव्य की रचना की। इस काव्य में लङ्कायात्रा का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में मेघदूत के पद्यों का चतुर्थ चरण प्रयुक्त है। यह इस काव्य की अपनी विशेषता है। श्री शास्त्री जी द्वारा विरचित रामकथा पर आधारित **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। पं. नित्यानन्द शास्त्री शब्द शास्त्र के असाधारण विद्वान् थे। व्याकरणशास्त्र आपको करतलामलकवत् प्रत्यक्ष उपस्थित था। अतएव **'रामचरिताब्धि-**

रत्नम्' काव्य में जो शब्दशिल्प देखने को मिलता है उस प्रकार का शब्दशिल्प संभवतः अन्य किसी काव्य में देखने को नहीं मिलता। चौदह सर्गों में विरचित इस महाकाव्य के प्रत्येक पद्य का प्रत्येक चरण का प्रथम अक्षर 'मूलरामायण' के अनुष्टप् छन्दों से क्रमशः लिया गया है। यदि प्रत्येक चरण के प्रथमाक्षरों का योजन कर दिया जावे तो पूर्ण मूल रामायण मूल रूप में उपलब्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसी काव्यके परिशिष्ट में श्लोकों से व अन्य स्तोत्रकाव्यों के आद्याक्षरों से विभिन्न देवताओं की स्तुतिपरक वैदिक ऋचायें सामने आती हैं।

यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि संस्कृत साहित्य शास्त्र केआचार्यो ने लक्षण ग्रन्थों में चित्रकाव्य को अधमकाव्य की कोटि में गिनाया है। परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि यह सब कुछ जानते हुये भी आशुकवि नित्यानन्द शास्त्री ने इस विधा में काव्य प्रणयन क्यों किया? यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है क्रि जिस समय में संस्कृत भाषा में महाकाव्य लिखे जा रहे थे और जिन लक्ष्य ग्रन्थों को आधार बनाकर लक्षणग्रन्थों का निर्माण किया गया उस समय संस्कृत भाषा के पढने-पढाने वालों की संख्या अधिक रही होगी फलतः प्रवाहपूर्ण प्राञ्जल भाषा में विरचित काव्य ही अधिक संख्या में संस्कृतज्ञों द्वारा पढे व समझे जाने लगे। अतः उनका ही विशेष आदर हुआ। यद्यपि गद्यकाव्यों के प्रणेताओं में बाणभट्ट की कादम्बरी शब्दचित्रों के स्पर्श से शून्य नहीं है, दीर्घ समास व अनुप्रासों से परिपूर्ण कादम्बरी की भाषा किसी भी प्रकार शब्दशिल्प के सौष्ठव से दूर नहीं रखी जा सकती, इस सबके उपरान्त भी तत्कालीन विशिष्ट विद्वानों ने **'कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते'** कहकर कादम्बरी की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार **माघ** को शब्दशिल्प के अनुपम प्रदर्शन के साथ ही **बृहत्त्रयी** में स्थान दिया गया है। अतः कहा जा सकता है कि पं. नित्यानन्द शास्त्री का शब्दशास्त्र पर असाधारण अधिकार था और इसीलिये **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** महाकाव्य में उन्होंने शब्द शिल्प का अपूर्व प्रदर्शन किया, परन्तु इससे उनके इस काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, या गुणों का अभाव नहीं हुआ है। जहाँ कलापक्ष अपनी चरमसीमा पर है वहीं भावपक्ष भी सर्वोत्कृष्ट रूप में अवस्थित है। जिसका संस्कृत भाषा पर श्रेष्ठ अधिकार है उसे इस काव्य के अध्ययन में भी उतनी रसानुभूति होती है जितनी अन्य रसभावपरिपूर्ण महाकाव्यों के अध्ययन से। इसके हिन्दीटीकाकार **राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय** इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मैंने अनेक बार व्याख्या लिखते समय उनके मुख से आनन्दानुभूति के भावभरे उद्‌गार श्रवण किये हैं। इस काव्य की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा **राष्ट्रपतिसम्मानित देवर्षि कलानाथ शास्त्री** ने अपने 'पुरोवाक्' में भलीभाँति प्रदर्शित की है। 'पुरोवाक्' में श्री शास्त्री ने काव्य में वर्णित रस, गुण, अलंकार, छन्दोवैविध्य, कोष, व्याकरण एवं कथावस्तु आदि का सोदाहरण एवं सारगर्भित विवेचन किया है, इसके अध्ययन से सम्पूर्णकाव्य का स्वल्पावधि में सहृदयपाठकों को परिचय उपलब्ध हो जाता है।

पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय ने हिन्दी टीका करने का जो प्रयास किया है वह सर्वात्मना स्तुत्य है। जहाँ तक मैं जानता हूँ वर्तमान में **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** की सम्यक्तया हिन्दी टीका करने में **श्री पाण्डेय** के अतिरिक्त अन्य कोई विद्वान् सक्षम उपलब्ध नहीं है। हिन्दी टीका के माध्यम से पद्यों के सरलार्थ एवं भावार्थो का परिज्ञान तो होता ही है साथ ही पद्यगत विशेषताओं को जानने के पश्चात् ही काव्यगत चमत्कार की अनुभूति होती है।

इस प्रसङ्ग में काव्यलेखक के अग्रज पं. भगवतीलाल जी का उल्लेख भी किया जाना उचित होगा। यदि श्री भगवतीलाल जी ने **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** की संस्कृत शाण नामक व्याख्या नहीं की होती तो संभवतः ह्रासोन्मुख संस्कृत भाषा के इस युग में ढूढने पर भी काव्य के मर्मज्ञ उपलब्ध नहीं हो पाते। **शाण व्याख्या** की रचना पंडित जी के जीवनकाल में ही हो जाने से कविहृदय को टीकाकार भलीभांति खोल सका है। शब्द शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न उपमायें शाण के अभाव में शब्दों के भीतर ही छुपी रहतीं। जिस प्रकार ध्वनिकाव्यों में यदि पाठक कवि के अभिप्रेतार्थ तक नहीं पहुँचता है तो उसे उस काव्य के अध्ययन का आनन्द उपलब्ध नहीं होता उसी प्रकार शब्दों के प्रकृति प्रत्ययादि के माध्यम से वर्णित विभिन्न अर्थालङ्कारों की सही जानकारी इस काव्य की संस्कृत टीका **शाण** द्वारा ही प्राप्त होती है। जैसा कि आप जानते हैं रत्नों की परीक्षा **'शाण'** द्वारा ही होती है उसी प्रकार पं. भगवतीलाल ने **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** के चतुर्दशसर्गान्तर्गत चौदहरत्नों को **'शाण'** नामक संस्कृत व्याख्या से विभूषित किया है। उन शाणोल्लीढ चतुर्दशरत्नों की कान्ति को सर्वत्र प्रसारित करने हेतु हिन्दी व्याख्याकार **श्री पाण्डेय** ने अपनी हिन्दी टीका का नाम **'रत्नप्रभा'** रखा है जो कि सार्थक है।

नित्यानन्द शास्त्री द्वारा विरचित अन्य काव्यों में **आर्यामुक्तावलि, आत्मारामपञ्चरङ्ग, विविधदेवस्तव-संग्रहः**, आदि समुल्लेखनीय है। जोधपुर के सुप्रसिद्ध विद्वान् विश्वेश्वरनाथ रेऊ द्वारा विरचित **विश्वेश्वरस्मृति** के दूसरा भाग **'हिन्दू लॉ'** का आपने संस्कृत में अनुवाद किया है।

प्रायः संस्कृत पण्डित हिन्दी भाषा में रचना नहीं करते हैं। **तुलसीदास** ने भाषा में रामचरितमानस की रचना की, परन्तु उस समय का पण्डितसमाज संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाकवियों को समादृत नहीं करता था अत एव तुलसीदास को लिखना पड़ा 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' परन्तु शब्दशिल्पी आशुकवि नित्यानन्द शास्त्री ने हिन्दी भाषा में भी काव्यरचना कर विद्वत् समुदाय के समक्ष लोकहिताय भाषा रचना की उपादेयता प्रतिपादित की।इनकी हिन्दी भाषा की रचनाओं में प्रमुख हैं- **ऋतुविलास, द्विजदशादर्पण, आदिशक्तिवैभव, कुरीति बत्तीसी, उन्नतिदिग्दर्शन** आदि । ये सभी गद्यकाव्य हैं। **हनुमद्दूत, मुक्तक कविताकलाप, श्रीरामकथाकल्पलता** आदि इनके द्वारा प्रणीत **हिन्दी काव्य** हैं। श्रीरामकथाकल्पलता हिन्दी भाषा में प्रणीत महाकाव्य है। कवि के जीवन का सात्त्विक भाव इसमें भलीभांति परिलक्षित होता है। महाकाव्य के सिद्धान्तों पर यह खरा उतरता है। इसका पारायण रामचरितमानस के समान ही आनन्द देने वाला है। **दधिमथी एवं सनातन** पत्रिकाओं का भी आपने सम्पादन किया है। दधिमथी पत्रिका में आप प्रतिमास दाधीच ब्राह्मण समाज को संघटित एवं कुरीतियों को परित्याग करने की प्रेरणा देने वाले लेख लिखते रहे। दधिमथी माता के उद्भव एवं उनके दिव्यचरित्रों का वर्णन भी आपने इस पत्रिका में किया है।

आपको अनेक संस्थाओं ने अनेक सम्मानास्पद उपाधियों से विभूषित किया। जैसा कि पूर्व में लिख चुके हैं लाहौर की विद्वत् परिषद ने **'आशुकविः'** तथा बम्बई, भावनगर, जोधपुर की विभिन्न संस्थाओं ने **'कविभूषण' 'कविरत्न' 'विद्यावाचस्पति'** आदि उपाधियाँ प्रदान की। आपको संस्कृत में **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** महाकाव्य के

प्रणयन पर बम्बई की विद्वत्परिषद ने **'महाकवि विद्यावाचस्पति'** उपाधि प्रदान की। अंग्रेज विद्वान् ए.सी. बुलनर, जर्मनी की बोन युनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ. हर्मन जे. काबी आदि ने आपके श्रेष्ठ कवित्व पर आपको प्रमाणपत्रों से सम्मानित किया है। आपको जर्मन देश के 'बोन' विश्वविद्यालय में संस्कृतप्राध्यापक के पद पर कार्य करने हेतु सादर आमन्त्रित किया गया, परन्तु **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** सिद्धान्त के उपासक श्री शास्त्री जी ने स्वदेश परित्याग स्वीकार नहीं किया। १९६१ ईस्वी में ७२ वर्ष की आयु में आप देवलोक को प्रस्थान कर गये।

श्रीशास्त्री जी के जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत सामग्री का उपलब्ध होना अत्यन्त कठिन कार्य है। यहाँ जो कुछ भी जीवन परिचय लिखा गया है उसका अधिकांश भाग रामचरिताब्धिरत्न के प्रधान सम्पादक, राष्ट्रपति सम्मानित, अनेक भाषाओं के श्रेष्ठज्ञाता, विभिन्न संस्थाओं से सम्मानित, कविशिरोमणि भट्ट श्री मथुरानाथशास्त्री के सुपुत्र देवर्षि कलानाथ शास्त्री द्वारा विरचित 'सुधीजनवृत्तम्' से प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक में श्रीकलानाथ शास्त्री ने राजस्थान के ख्याति प्राप्त स्वनामधन्य तेरह विद्वानों का संस्कृत भाषा में सारगर्भित संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रकाशित किया है।

गीता में भगवान् के वचन 'सुखदुःखे समे कृत्वा' और 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' पंडितजी के जीवन में आत्मसात् हो चुके थे। इनकी सरलता, सहजता, समता आदि सद्गुण सराहनीय थे। एक बार खानदेश में उनके घर पर डकैती की घटना हो गई। डकैत घर की सारी सम्पत्ति लूट ले गये, परन्तु पंडितजी के मन की शान्ति विचलित नहीं हुई और न ही हृदय व्याकुल हुआ। वे दैवी सम्पदा के धनी थे।

वस्तुतः **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** को नई साजसज्जा हिन्दी टीका, पुरोवाक्, विद्वानों की सम्मतियाँ आदि के साथ नवीन संस्करण के रूप में नवजीवन प्रदान करके भारत के सभी विद्याव्यसनियों को राजस्थान के इस विलक्षण शब्दशिल्पी से परिचित कराने का श्रेय कोलकाता निवासी, श्री नित्यानन्दनशास्त्री के दौहित्र, श्री ओमप्रकाश जी आचार्य चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट को है। जो मुख्यतः मैनेजमेन्ट कंसल्टैंसी की सेवाएँ कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली, मुम्बई, हैदराबाद आदि स्थानों से देते हैं। यद्यपि इन्होंने पूर्व में लेखा व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त की फिर भी पारिवारिक परम्पराओं और संस्कृत-प्रेम से जुड़े रहे। ये जिज्ञासु प्रकृति के हैं और अपने आध्यात्मिक गुरु कांची के शंकराचार्य जी से अत्यधिक प्रभावित हैं और उनसे सतत् संपर्क में रहते हैं। साथ ही जोशीमठ के शंकराचार्य जी, प्रेमापांडुरंगराव, क्षेत्रोपासना ट्रस्ट कांचीपुरम् आदि आचार्यों एवं न्यासों से भी आपका सम्पर्क बना रहता हैं श्री आचार्य के परिवार में उनकी धर्मपत्नी (विमला) एक पुत्र (राजीव) पुत्रवधू (नीना) पौत्र (यश) एवं दो पुत्रियाँ (शैलजा तथा शालिनी) हैं, जो सदैव उनके प्रत्येक कार्य में सहयोगी रहते हैं। जैसा कि वंशवृक्ष के अवलोकन से ज्ञान होता है माधवकवीन्द्र के कनिष्ठ पुत्र आशुकवि पं. नित्यानन्दशास्त्री के दो पुत्र श्री श्याम मनोहर व श्री बालकृष्ण एवम् गिरिजा नामक एक पुत्री, सन्तानें थीं। पंडित जी की पुत्री गिरिजा अपने पिता की ही भांति अत्यन्त विदुषी एवं कवयित्री थी। गिरिजा का विवाह वैद्य पं. बुद्धिप्रकाश जी आचार्य, निवासी जोधपुर से सम्पन्न हुआ। पं.बुद्धिप्रकाश जी अच्छे वैद्य एवं संगीतज्ञ थे संगीत शास्त्र पर इन्होंने एक ग्रन्थ का प्रणयन किया। ज्येष्ठ पुत्र श्री श्याममनोहर की वंश परंपरा आगे नहीं बढ पाई,

जबकि कनिष्ठ पुत्र श्री बालकृष्ण जी के एक पुत्र श्री धरणीधर शर्मा है जो कि जोधपुर में उत्तर रेलवे में कार्यरत है। श्री धरणीधर शर्मा का पुत्र श्री रघुनाथ वर्तमान में अध्ययनरत है।

श्रीमती गिरिजा के सुपुत्र श्री ओमप्रकाश आचार्य जो कि इस महाकाव्य के प्रबन्ध सम्पादक हैं कोलकाता महानगर में आयव्यय लेखों के माने हुये परीक्षणकर्ता हैं। आप पर श्री एवं सरस्वती की समान रूप से कृपा है। नाना श्री नित्यानन्द जी ने श्री ओमप्रकाश आचार्य को इस पुनीत कार्य को सम्पन्न कराने हेतु स्वयं-प्रेरणा प्रदान की, ऐसी मेरी मान्यता है। अन्यथा सत्तर वर्ष पश्चात् संस्कृत क्षेत्र से दूर आङ्गलभाषोपजीवी दौहित्र ओमप्रकाश आचार्य का **'रामचरिताब्धिरत्नम्'** का नवीन संस्करण हिन्दी टीका सहित प्रकाशित कराने को उत्साहित होना खपुष्पायित ही था।

यह भी एक दैवसंयोग ही था कि श्री ओमप्रकाश जी आचार्य जब इस कार्य के लिये जयपुर आये तो जोधपुर निवासी श्री अमरदत्त जी दाधीच ने वैद्यराज श्री मोहनलाल जी गोठेचा से आपकी भेंट कराई। श्री मोहन लाल जी गोठेचा आयुर्वेद के साथ-साथ संस्कृत के भी सभी विद्वानों से सुपरिचित हैं। जब श्री ओमप्रकाश आचार्य व अमरदत्त जी ने उक्त ग्रन्थ के सम्पादन व प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री गोठेचा से परामर्श किया तो वे उन्हें मेरे कार्यालय (उन दिनों में मैं राजस्थान संस्कृत अकादमी का निदेशक था) में लेकर आये व विचार-विमर्श के पश्चात् पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय को उक्त कार्य सम्पन्न करने हेतु निवेदन करने का निर्णय किया गया। तदनुसार हम सब श्रीपाण्डेय के घर पहुँचे और उनसे निवेदन किया, श्री पाण्डेय ने हमारे निवेदन को सहर्ष स्वीकार कर हमारा गौरव बढाया। इसके पश्चात् श्री ओमप्रकाश आचार्य ने जयपुर की अनेक यात्रायें इस कार्य के लिये की। जयपुर के सुविख्यात मनीषी राष्ट्रपति संमानित देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी से भी इसके संपादन, विस्तृत भूमिका लेखन आदि का उन्होंने अनुरोध किया। सौभाग्य से उन्होंने यह अनुरोध स्वीकार कर ग्रन्थ की सर्वांगीण भूमिका लिखी तथा इस पर भारत विश्रुत विद्वानों के अभिमत प्राप्त करने की व्यवस्था की। तत्कालीन व्यवस्थाओं हेतु श्री अमरदत्त जी को कार्यभार प्रदान कर वे कोलकाता चले गये। श्री अमरदत्त दाधीच ने अपना स्वयं का ही कार्य इसे समझा तथा जयपुर में रहते हुये अनेक बार मुझ से देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी से, श्री पाण्डेय जी से व मुद्रणकार्य के प्राधिकारी संस्कृत अकादमी के सचिव श्री राजेन्द्र तिवाड़ी से प्रत्यक्ष उपस्थित होकर सम्पर्क किया। न केवल सम्पर्क अपितु कार्य की प्रगति का निरन्तर अवलोकन किया। प्रगति से श्री ओमप्रकाश आचार्य को पत्र द्वारा निरन्तर सूचित करते रहे ताकि श्री आचार्य निराश न हों। यद्यपि श्री ओमप्रकाश आचार्य मुझे भी निरन्तर पत्र लिखते थे परन्तु प्रमादवश व व्यस्ततावश मैं समय पर प्रत्युत्तर नहीं दे पाता था। फिर भी ग्रन्थ के **सह सम्पादक श्री अमरदत्त जी** के सतत सम्पर्क ने श्री ओमप्रकाश आचार्य को प्रारब्ध कार्य की पूर्णता के लिये प्रोत्साहित किया और ईश्वर की असीम अनुकम्पा से श्री आचार्य के प्रयासों से श्री नित्यानन्द शास्त्री का यह काव्य सहृदय पाठकों को नित्यानन्द प्रदान करने हेतु आज आपके सम्मुख उपस्थित है।

'व्यास भवन'
दीनानाथ जी गली,
चाँदपोल बाजार, जयपुर
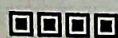
काव्य के चतुर्दश सर्गों के चौदह रत्न

प्रो. तारा शंकर शर्मा 'पाण्डेय'
प्राचार्य – राजकीय महाराणा आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त परम ब्रह्म ही अपने निर्गुण स्वरूप को तिरोहित कर सगुण अथवा साकार रूप में प्रकट होकर भक्तहित चिन्तन करते हुए आवश्यकतानुसार समय-समय पर लीला कर पुनः अव्यक्त हो जाता है। परम ब्रह्म का प्रकट होना ही अवतारवाद की श्रेणी में परिगणित है। यद्यपि चौबीस अवतार माने जाते हैं। परमपि मत्स्य, कूर्म आदि दशावतारों में प्रमुख त्रेतायुग में श्रीरामावतार तथा द्वापर युग में कृष्णावतार हुए हैं, ये दोनों ही भगवान् के साक्षात् अवतार हैं। निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप का नामकरण उसके वैशिष्ट्य के आधार पर ही निर्धारित होता है- श्रीराम के नामकरण में भी हेतु अन्तर्निहित है- *'नित्यानन्दलक्षणेऽस्मिन् योगिनो रमन्त इति रामः।'*

राम जब सगुण ब्रह्मरूप हैं तो उनका चरित स्वयमेव अद्भुत है। अत एव महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है *'रामचरित स्वयं महाकाव्य है कोई कवि बन जाये सहज सम्भाव्य है।'* यही कारण है कि रामचरिताधारित 'रामायण' के रचयिता वाल्मीकि आदि कवि बन गये। रामचरित के अद्भुतत्व के कारण राम के चरित्र पर आधारित वाल्मीकीय रामायण और रामचरितमानस की रचना तो हुई ही परन्तु संसार की विभिन्न भाषाओं में भी अनेक रचनाएँ हुई। इस प्रसंग में संस्कृत महाकाव्यों की श्रेणी में जोधपुर दरबार के आश्रय में रहे कविराज आशुकवि पं.श्री नित्यानन्द शास्त्री द्वारा विरचित *'श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्'* महाकाव्य का उल्लेख यदि न हो तो राजस्थानीय संस्कृत साहित्य के इतिहास में न्यूनता ही रहेगी। इसमें मूलरामायण के प्रत्येक अक्षर को श्लोक के चरणारम्भ के रूप में स्वीकार किया है।

राम के साक्षात् अवतार के कारण उनके चरित को अब्धि के रूप में परिकल्पित करना अतिशयोक्ति नहीं होगी। पं.श्री नित्यानन्द शास्त्री ने रामचरित को अब्धिरूप में चित्रित ही नहीं किया अपितु उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं का समुद्र से उत्पन्न चतुर्दश रत्नों के साथ सामञ्जस्य बैठाते हुए स्वविरचित श्रीरामचरिताब्धिरत्नम् महाकाव्य को भी चतुर्दश सर्गों में ही विभक्त कर तदनुसार नामकरण किया है। इससे उनके चारित्र्य का चतुर्दश भुवन व्यापी होने का भी संकेत मिलता है। मंगलाष्टक में चतुर्दश रत्नों का विवरण अधोलिखित रूप में मिलता है :-

लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा, गावः कामदुघाः सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः।
अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शंखोऽमृतं चाम्बुधेः, रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मंगलम्॥

महाकवि नित्यानन्द जी शास्त्री ने इन रत्नों को अपने महाकाव्य में रामचरित के साथ इस तरह संजोया है कि चरिताब्धि अंगी के साथ अंगरूप में उनका अपना पृथक् अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। कवि ने प्रत्येक सर्ग के किसी न किसी श्लोक में एक रत्न को घटनानुरूप उपवर्णित करते हुए सर्ग का नाम तदनुसार ही निर्धारित किया है।

कल्पवृक्षनामा प्रथम सर्ग के इक्कीसवें श्लोक में *'स्वस्तरुं'* शब्द से राम जन्म-रूप फल को कल्पवृक्ष के फल के रूप में इंगित किया है। कामधेनुनामा द्वितीय सर्ग के तेरहवें श्लोक में गाधिपुत्र विश्वामित्र को याचकों के लिए कामधेनु के रूप में वर्णित किया है, परन्तु इसकी सार्थकता सत्ताईसवें श्लोक में राक्षसों के उपद्रवों की शान्ति हेतु विद्यादान के प्रसंग में स्पष्ट होती है। वहाँ राम एवं लक्ष्मण को क्षुधा एवं पिपासा शान्त करने वाली अपूर्व बला और अतिबला विद्या देने से गुरु विश्वामित्र का कामधेनुत्व प्रतिपादित किया गया है। धन्वन्तरिनामा तृतीय सर्ग के ग्यारहवें श्लोक में मिथिला प्रस्थान के समय गंगा वर्णन प्रसंग में राम के रूप को गंगाजलवत् दर्शाते हुए रत्नवैद्य अर्थात् श्रेष्ठ वैद्य धन्वन्तरि के समान बताया है, जिसकी पुष्टि स्पर्शमात्र से अहिल्या के उद्धार से होती है।

धनुर्नामा चतुर्थ सर्ग के छत्तीसवें श्लोक में सीता स्वयंवर के निमित्त तोड़े जाने वाले शिव धनुष का वर्णन महाराज जनक के द्वारा किया गया है। श्रीनामा पंचम सर्ग के बीसवें पद्य में *'यः श्रीयुतोऽस्त्यखिलकृतप्रदक्षिणः'* देवों द्वारा परिक्रमित श्रीयुत राम ने अग्नि की प्रदक्षिणा की। यहाँ सीता को श्रीरूप वर्णित किया है, जिसकी पुष्टि पूर्ववर्तिचतुर्थ सर्ग के चौबीसवें श्लोक से होती है, जहाँ सीता स्वयं को लक्ष्मी तथा राम को श्रीवर के रूप में प्रख्यापित करती है तथा वहीं इकतीसवें पद्य में राम के लिए लक्ष्मीधर शब्द का प्रयोग हुआ है। रम्भानामा षष्ठ सर्ग के तेरहवें श्लोक में भगवान् राम के सीतामिलन प्रसंग में *'भेति साऽऽह धवमाश्विव रम्भा'* भगवती सीता को ही स्त्रीरत्नरूप रम्भा के रूप में वर्णित किया है यद्यपि जगज्जननी सीता माता को रम्भा के रूप में वर्णन करना चिन्त्य है परमपि *'रतौ रम्भा'* की मान्यतानुसार जगज्जननी सीता का सौन्दर्यातिशय वर्णन करना ही कवि को अभिप्रेत है।

विषनामा सप्तम सर्ग के अठारहवें पद्य में श्रीराम के वन गमन को 'तिग्मं विषमिव वनगमवृत्तम्' तीव्रतर जहर के रूप में वर्णन करना सार्थक है क्योंकि इसी वनगमन रूप जहर के कारण दशरथ तो प्राण त्याग करते ही हैं साथ में प्रत्येक घर शोक व्याप्त हो जाता है। चन्द्रनामा अष्टम सर्ग के तरेपनवें पद्य में जब भरत श्रीराम से वनवास से वापस लौटने का आग्रह करते हैं तो प्रत्युत्तर में लक्ष्मण राम के वाक्य की अनुपुष्टि करते हुए कहते हैं कि चौदह रात्रि के समान चौदह वर्षों के वनवास उपरान्त आप सब पूर्ण चन्द्र देखेंगे। *'पूर्णं विधुं द्रक्ष्यथ'* के माध्यम से भगवान् राम को पूर्ण चन्द्र के रूप में प्रख्यापित किया गया है।

मदिरानामा नवम सर्ग के चित्रकूट विहार प्रसंगान्तर्गत विभिन्न दार्शनिक विवेचनों के पश्चात् ऋतु वर्णन के क्रम में सीता भावी वियोग की आशंका से प्रेमभावपूर्णा हो जाती है। *'तत्साहचर्योन्मदाऽवादीत्'* अन्तिम पद्य के इस वाक्य में उन्मदा शब्द से मदिरा अभीष्ट है। यद्यपि संस्कृत व्याख्याकार महाकवि के भ्राता पं.भगवतीलाल शास्त्री इस सर्ग में तालाब वर्णन के प्रसंग में बाईसवें पद्य के *'चैत्यायितेऽत्र मधुपा मधुपानलुब्धा'* वाक्य से *'अत्र मधु (मदिरा) पदं सर्गनामोपलक्षणम्'* स्वीकार करते हैं। जबकि पूर्वोक्त अन्तिम पद्य में मद शब्द से सीता की प्रेम भावपूर्णता स्पष्ट परिलक्षित होती है। ऐरावतनामा दशम सर्ग के चौसठवें पद्य में भगवान् श्रीराम को ही ऐरावत हाथी के रूप में वर्णित किया गया है। जैसे प्यासा ऐरावत देवों की पूजा के निमित्त तट पर स्थित कन्दमूल फल आदि से सुशोभित मन्दाकिनी को देखता है वैसे ही भगवान् श्रीराम पूजा के निमित्त कन्दमूल फल युक्त शबरी को देखते हैं।

बालिवधो नामा (उच्चैःश्रवा) ग्यारहवें सर्ग के तैंयालीसवें पद्य में सुग्रीव और बाली युद्ध के सन्दर्भ में *'तेनायुद्धाश्व इव मघवाश्वेन तत्त्वं ह्यपश्यन्'* वाक्य से सुग्रीव को मघवाश्वेन पद द्वारा उच्चैः श्रवा के रूप में इंगित किया है। जैसे सामान्य घोड़ा उच्चैःश्रवा से युद्ध में हारता है वैसे ही सामान्य बाली राम के साहचार्य्य से (उच्चैः श्रवा) वैशिष्ट्य प्राप्त सुग्रीव से हारता है।

सीतोपलब्धिर्नाम (कौस्तुभमणिः) द्वादश सर्ग में हनुमान् द्वारा लंका में सीता को देख लेने पर जो विचार किया गया वहाँ अठाइसवें पद्य में *'सत्याकृता मणिरेककरग्रहार्हा'* से सीता को मणि अर्थात् कौस्तुभमणि के रूप में चित्रित किया है। यहाँ सीता द्वारा अपनी पहचान के रूप में दी जाने वाली चूडामणि को कौस्तुभ मणि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, राम के चरित में चूडामणि का महत्त्व सीता के साहचर्य्य से ही है। शंखनामा त्रयोदश सर्ग के चतुर्थ पद्य में लंका प्रयाण के समय समुद्र का वर्णन करते हुए कवि ने शंखों से परिपूर्ण तटवेला को शरीरी समुद्र द्वारा धारण की गई श्वेतमाला के रूप में चित्रित किया है। यही शंखध्वनि श्रीराम की भावी विजयश्री की सूचना देती है।

सुधानामा चतुर्दश सर्ग में अयोध्या लौटेने पर राज्याभिषेक पश्चात् श्रीराम भरत को युवराज घोषित करते हैं उसी समय श्रीराम के लिए मंगलकामना की जाती हैं। यहाँ इकतीसवें पद्य में पुण्य रूपी औषधियों को बढ़ाने वाला भगवान् का दर्शन ही अमृत बताया गया है। इसी अमृत तत्त्व को धारण करने वाले भगवान् राम चन्द्र के समान समस्त सांसारिक शोक रूपी अंधकार का नाश करने वाले के रूप में वर्णित हैं। इस सन्दर्भ में तुलसीदास जी कहते हैं- *धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।*

इस तरह भगवान् श्रीराम के चरित रूप सागर में विभिन्न घटनाओं को रत्न रूप में वर्णित कर पं.श्री नित्यानन्द शास्त्री ने इस महाकाव्य को अपूर्वता प्रदान की है। इसकी एक झलक मुखपृष्ठ के चित्र में भी देखने को मिलती है।

□□□□

॥ श्रीरामः ॥

भारतीय-विद्वत्परिषदा स्वीकृतम्।

श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्

(महाचित्रकाव्यम्)

योधपुरमहाराजाश्रितेन दाधीच-(दाधिमथ) कासल्योपाख्येन ,
श्रीमाधवकवीन्द्रतनूजेन व्यासश्रीवैद्यनाथनन्दनेन
कविराजाशुकविप्रभृतिविरुद-विभूषितेन

श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा

विरचितम् ।

योधपुर-राजकीय-पुस्तकप्रकाशाख्य-संस्कृतपुस्तकालयाध्यक्षेण
ग्रन्थकार-ज्येष्ठसहोदरेण विद्याभूषण-पदभूषितेन

पं. श्रीभगवतीलालशर्मणा

रचितया शाणाख्यया व्याख्यया शाणोत्तेजिन्या टिप्पण्या च संवलितम् ।

रत्नप्रभा - हिन्दीव्याख्याकारः
म.म. राष्ट्रपतिसम्मानितः

पं. मोहनलालशर्मा पाण्डेयः

जयपुरम् (राजस्थानम्)

॥ श्रीरामः सर्वमङ्गलम् ॥

मूलकारस्य प्रस्तावना

श्रीराघवो मारुतिवन्दिताङ्घ्रिः
स्मितामृतस्यन्दिमुखेन्दुरव्यात्।
तरीमिवालम्ब्य कृपां यदीयां
तरन्ति सन्तो विषमार्थसिन्धुम् ॥१॥

शिक्षा-जीवनलतयोर्वप्तारं पोषकं च फलकं च।
श्रीमाधवं भगवतीलालं शिवदत्तमपि[1] भजे क्रमशः ॥२॥

विदितं विदुषामिति यदरचयद् रामायणं स आदिकविः।
एकैककगायत्रीवर्णारम्भितसहस्रकश्लोकम् ॥३॥

इति तेन मूलरामायणाभिधस्याद्यसर्गस्य।
प्राक् चान्ते गायत्री-प्रथमान्तिमवर्णयोजनात् स्फुटितम् ॥४॥

चित्रात्मतां तदिति चित्रविचेष्टितस्य
रामस्य तत्प्रकटितां चरितस्य बुद्ध्वा।
संप्रेरितः स्वहृदये हृदयेश्वरेण
तेनैव चित्रमयमारचयामि काव्यम् ॥५॥

नैतत् सकृत्पठनगम्यमथाऽपदोष-
मित्याकलय्य मम काव्यमिदं न गर्ह्यम्।
तादृंशि तानि कति यद्, यदि सन्ति, सन्तु
द्वित्राणि, किं पुनरिदं मम चित्रकाव्यम् ॥ ६ ॥

काव्यं मदीयमिदमात्तमदा विलोक्य
केचिद् विचारविकला हसितार एव।
अन्ये तु तत्त्वपरिशीलनशाणपट्ट-
संशुद्धबुद्धिमणयः परिमोदितारः ॥७॥

सन्ति सन्तो हि सन्तश्चेत् तर्हि तत्प्रार्थनेन किम्?
सन्त्यसन्तो ह्यसन्तश्चेत् तर्हि तत्प्रार्थनेन किम्? ॥८॥

वाल्मीकि-रामचरिताम्बुधितो मयेदं
निष्काशितं किल चतुर्दशसर्गरत्नम्[2]।
अर्हन्ति नो अविबुधा,[3] विबुधास्तु विष्णो-
र्लीलाप्रसाद इति सादरमाददीरन् ॥९॥

---

१ अयं महाभागो महामहोपाध्यायः शिवदत्तशर्मा दाधिमथो नानाविधग्रन्थपरिष्कर्ता महावैयाकरणो मूलकारस्य पितृ-सतीर्थ्यो व्याकरणमहाभाष्यादीनामध्यापकश्च।

२ कल्पद्रुम-कामदुघा-धन्वन्तरि-धन्व-हरिवधू-रम्भाः। विष-शशि-मदिरा-हय-गज-मणि-शङ्ख-सुधाश्च सर्गरत्नानि।

३ अविबुधा मूढा असुराश्च।

चारु चतुर्दशसर्गाद्भुतभुवनं सुस्तवावरणम्।
ब्रह्माण्डमिव समाप्यैतत्काव्यं सज्जनोऽश्नुते श्रेयः ॥१०॥

एषा मत्कृति-मेलरेलशकटी[1] श्रीमूलरामायण-
लोहाऽध्वाश्रयतो[2] निर[3]ञ्जनबलाऽप्युद्भक्तिविद्युद्बलात्[4]।
यान्ती विश्रमधाम्नि[5] सर्गभुवनेऽप्याप्ता विरामं मना-
गन्ते गन्तृ[6]-जनाञ्जवेन नयति ब्रह्मास्पदं शाश्वतम्॥ ११॥

स्यात् पर्वपर्वविषये[7] विषमं नु बीजै-[8]
मूलानुसारि सरलं मधुरं तथापि।
इक्षूपमानमुचितं रचितं मयेद-
मिक्ष्वाकुरत्नचरितं सुहितत्वहेतुः[9] ॥१२॥

सौभाग्यमेव निजमेतदतीव मन्ये
यत् संस्कृतोक्ति- रसिका अधुना न भूपाः।
नो चेद्, विनश्वरविभूतिविशेषलुब्ध-
स्त्रैलोक्यनाथचरितं रचयेय वा नो? ॥१३॥

किञ्च—

न व्याकरणे पटिमा नव्या करणे न धीश्च तर्कस्य।
नालंकृतिगुणदाक्ष्यं नाऽलं कृति-गुणनिका च मे स्फुरति ॥१४॥
रसमयता वाचि न पुनरसमयता कुत्रचिच्च दृश्येत।
चरितमदो रामस्याचरितमदोषं ततो मया सर्वम्॥१५॥ (युग्मम्)

अपि च—

य इह शतशश्छात्रान् कृत्वा सुशास्त्रसुशिक्षितान्,
पुनरवसरे तेषां कुर्वन् नियुक्तिसहायताम्॥
चरति सुतपः सद्गायत्रीपुरश्चरणादिकं,
बुधभगवतीलालं व्याख्याकृतं तमहं स्तुवे ॥१६॥

योधपुरम्,
श्रीरामनवमी,
वि.सं.१९८९ — नित्यानन्दशर्मा

---

१ मेलयति सम्वन्धयतीति मेला। मेला चासौ रेलशकटी सा (Mail train)।
२ मूलरामायणमेव लोहाध्वा लोहसरणिः (Railway line) तस्याश्रयतः।
३ परब्रह्म-वला। अञ्जयति गमयति शकटीभारमिति अञ्जनः (Engine) तस्य बलान्निर्गता इत्यपि च।
४ उत्कृष्टा या भक्तिः सैव विद्युत् (Electriccoty) तद्बलात्।
५ विश्रमधाम (Station)
६ गन्तारो ज्ञातारो यात्रिण (Passengers) श्च।
७ पर्वपर्वविषये प्रस्तावे प्रस्तावे इक्षोः ग्रन्थौ ग्रन्थौ च।
८ बीजैः दुर्घटवर्णसंघटनादिकारणैः अंकुरकारणभूतैः (बीजै) श्च।
९ सम्यक्प्रकारकस्य हितत्वस्य हितत्वायः तथा सहितत्वस्य कृतेः हेतुः।

॥श्रीरामः॥

व्याख्याकारस्य प्रस्तावना

कवीन्द्रं माधवं तातं वन्दे शास्त्राब्धि-नाविकम्।
प्राप्तो यच्छिक्षणाशीर्भ्यामानतोऽप्यहमुन्नतिम्॥

विदितमेवेदं श्रुतपारदृश्वनां तत्रभवतां विदुषां, यदुत काव्यं नाम चतुर्वर्गफलप्राप्तिसाधनम्। किं पुनर्वेदवेद्यस्य भगवतस्त्रिभुवनाधिपतेः श्रीरघुपतेः पवित्रचरित्रकीर्तनस्वरूपं तदिति नात्र संशयावसरः। ननु सत्स्वपि प्राचीनेषु, किं नाम नवीनतया प्रदर्शितकविंमन्यतादुश्चेष्टितस्यास्य महाकाव्यस्य प्रतिपदवैषम्यपात्रेण वृथाविशदिताडम्बरमात्रेण क्वचिदनधिगततथाविधविचित्रचित्रचमत्कृतिप्रमाणेन निर्माणेन ?

अत्र ब्रूमः- सदाचरितस्य सत्पथस्य सद्भिरनुस्रियमाणत्वेन को नाम भगवत्कृपालब्धकाव्यकौशलः स्वकीयं काव्यकौशलं न दर्शयेत्? को नाम पुनर्भगवद्गुणानुवादेन स्वकीयां वाचं न पुनीयात्? विचित्रचित्ररचनाविषयेऽपि श्रूयतां नाम। विचित्रचेष्टितस्य हि जगत्त्रयाधारस्य जगन्नाटकसूत्रधारस्य संसारसारस्य परमेश्वरस्य विचित्रसृष्टिमयेऽत्र संसारे भिन्ना भिन्ना दृश्यन्ते स्फुरितमनीषालोकानां लोकानां रुचयः। नवीनताकुतूहलि च प्रकृत्या हृदयं सहृदयहृदयानाम्। विचित्रलीला-विहारिणश्च हरेर्विचित्रलीलाभिलाषुकं मनो भक्तमनस्विनामिति स्थानेऽस्य कवेर्वाग्विलासप्रयासः। अनेन हि भगवद्भक्तिभृत-भव्यान्तरात्मना कविना महाकाव्यलक्षणमनुसरता-ऽल्पविस्तरेऽस्मिन् महाकाव्ये तथाऽविच्छिन्नतया वर्णिता रामकथा यथा भक्तिव्याकरणच्छन्दः- काव्यकौशलादिशिक्षा-पुरस्सरं सुतरां ज्ञायेत रसभरितं राघवचरितम्। तथाहि-

भक्तिः—

पूर्वं तावद् मुख्यो भक्तिविषयः। अत्र हि विश्वामित्र-दशरथ-संवादे, अहल्योद्धारे, लक्ष्मणकृतरामसेवाविषये हनूमदादिभगवद्भक्त- सम्मेलने अन्यत्राऽपि च यत्र तत्र स्थलेषु तथा प्रदर्शितो भक्तिविषयः कविना यथाऽचिरायैव भवेद् भावुकानां सहृदयानां हृदयं भक्तिरसाप्लुतमत्र न कोऽपि संदेहावसरः।

व्याकरणम् —

इतः परं व्याकरण-विषयः। आमूलचूलं काव्येऽत्र तथा कविनैष विषय उदाहृतः, येन श्रीरामचन्द्रे स्मर्यमाणेऽपि समुपस्थिता स्यात् कौमुदी। किं बहुना,-केषुचित्तु स्थलेषु वैकल्पिका विधयोऽपि निरूपिताः। क्वचित् क्वचित्तु उपमा अपि व्याकरणसंबन्धिन्यो दर्शिताः।

छन्दः—

नानाविधानि च्छन्दांसि सन्दर्भेऽस्मिन् सन्दर्शितानि कविना क्वचित्तत्तन्नामनिर्देशोऽपि सूचितः। क्वापि अल्पाल्पभेदानां छन्दसां विनिवेश आनन्तर्येण तथा कविना विहितो यथा तदीयो भेदोऽनायासेनैव हृदयपथमारोहेत्। यथा हेमन्तवर्णने वंशस्थेन्द्रवंशयोः शिशिरवर्णने च उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोः। तच्च च्छन्दःसन्दर्शनं प्रायो विषयानुरूपं प्रकटितम्।

अलङ्कारादि —

प्रायोऽस्मिन् महाकाव्ये सर्वेषामलंकाराणामुदाहरणानि निरूपयितुं प्रयतते स्म कविः। अन्योऽपि रसध्वन्यादिविषयस्तत्र तत्र सुनिरूपितस्तेन।

कोशः —

नानाविधनवीनशब्दप्रयोगेण कोशविषयोऽपि तथा निवेशितो येन पाठकानां हृदये नानानानार्थ-नवीनशब्दोपस्थितिर्भवेत्।

एतावद्विषयसंग्रहमुपन्यस्यताऽपि तथाऽवहितं कविना यथा अन्यमहाकाव्यापेक्षया दुर्गमतरता कथमपि नापतेदिति। न च तादृशं संदर्भं दर्शयितुं जनानां मनोविरक्तिः स्यादिति तेन मध्ये मध्ये कामपि नवीनतां दर्शयितुं प्रायत्यत। प्रमाणं त्वत्र यच्चरमे सर्गे प्रहासविषयो विशेषेण तथा निरूपितो येनान्ते मनोरञ्जनं स्यादेव। पद्यानामादिमाक्षरैर्यद् मूल-रामायणादिकं निष्काशितं तत्तु प्राधान्येनोद्देश्यमेवास्य कवेः। तेन, काव्यरचनायामुपस्थितं वैषम्यं कथं समीक्रियेत, इत्येषा शिक्षा सुतरां प्राप्तुं शक्यते व्युत्पत्तिविशेषमिच्छुभिरधीतप्रावेशिक-तत्तद्विषयग्रन्थैश्छात्रैरतो वयं ब्रूमहे निष्कर्षवचनम्-

भक्ति-व्याकरणच्छन्दःकाव्यकोशादिकौशलम्।
इच्छुभी रामचरित-रत्नं हृद्वेम्नि योज्यताम्॥

एतदेवोपरिनिर्दिष्टं कथनं समर्थयितुं दिग्दर्शनस्वरूपं मृगवेशमारीचवधवर्णनात्मकं पद्यद्वयमत्रोदाह्रियते-

चक्षुःशरं च रघुराड् दधदेकतानं
तत्तत्-स्थलीमनुसरंस्तदटाट्यमानाम्।
त्रैयक्षमूर्जितमिहान्वकरोत् कुरङ्गं
नंनम्यमानमपि चोन्नतमाजिघांसुः॥
शस्त्राहतोऽथ स तु 'लक्ष्मण पाहि सीते
रेणौ लुठन्त' मिति कैतवतोऽपि जल्पन्।
णैकाक्षरोज्झित उपैद् हरिणो हरित्वं
केशिक्षिता विमलितान्त्यदशास्तरन्ति॥ सर्ग १० श्लो. ५०/५१

अत्र द्वितीयस्य पद्यस्यान्तिमे पादे -के अशिक्षिताः विमलितान्त्यदशाः तरन्ति? इति प्रश्ने, केशिक्षिता केशिध्वंसिना विष्णुना विमलितान्त्यदशाः तरन्तीत्युत्तरम्। अन्यत्तु विदुषां कृते स्पष्टम्। छात्रैस्तु व्याख्या द्रष्टव्या।

किञ्च क्वचित् क्वचित् स्थलेषु तु निष्पक्षपातमालोचयतो विद्वज्जनस्य इत्येषा मतिस्फूर्तिर्भवितुमर्हति, यत् सत्यमेव भगवच्चरितमारचयताऽनेन कविना दिष्ट्या दैवी सफलतैव नाम लब्धा। दिङ्मात्रं यथा-

रामस्त्वेकोऽस्य त्रिलोकीरथस्याऽमोघं चक्रं धारणाय प्रसिद्धम्।
नाव्यं संसाराम्बुधिं यत् सुतार्य मर्त्यं प्राप्तं प्रापयत्यात्मलोकम्॥ सर्ग २-३

इति विश्वामित्रप्रकटितं श्रीरामस्य विशेषपरिचयप्रदानं -रामो नाम' इत्येते समुचिता मौलिकवर्णा एव तत्समुचितं विषयं प्रकटयन्ति। अपि च-

नव्या व्याघ्रा गोः स्तनकान् व्यत्यपिबन्त,
विष्वग् धेनुर्द्वीपिशिशुं स्म व्यतिलीढे।
रोहित्यः पद्भ्यां व्यतिजघ्नुश्च तरक्षून्
धोरण्यश्च व्यत्यगमन् कोकमजानाम्॥ सर्ग७-१३,

इति भरद्वाजाश्रमवर्णनगतः शाश्वतिकविरोधानां पशूनां विरोधाभावो 'न विरोधो' इत्येतैः समुचितैर्मौलिकवर्णैः स्थाने प्रकटीक्रियते।

एतेन वैषम्यसमीकरणपुरःसरो भक्तिव्याकरणादिविषयः स्थालीपुलाकन्यायेन परीक्षणीयः।

किं बहुना-
अपि दुर्घटस्य यत्रानुस्वारविसर्गपरसवर्णविधेः।
निर्वाहोऽस्ति यथावद्, नित्यकवेर्जयति चित्ररचनाऽसौ॥

व्याख्याया आवश्यकता

अथ प्रस्तावप्राप्तं व्याख्याविषये किञ्चिन्निवेद्य उपसंहरामः स्वकीयं वाग्-जालम्। एतादृशस्य व्याकरणसाहित्यादिविषयबहुलस्य महाकाव्यस्य व्याख्यामन्तरा प्रचारो दुःशक इत्याकलय्य तत्तद्विषयविवेचनपुरःसरं व्याख्यातमेतत्सपरिशिष्टं महाकाव्यम्। व्याख्या पुनः प्रायेण मल्लिनाथनिर्दिष्टयैव दिशा निर्मिताऽस्माभिः। व्याख्यायां च सकृदुक्तं पुनर्नोक्तम्। क्वचित्क्वचित्सत्यामावश्यकतायां प्राक् प्रोक्तमपि पुनरनुस्मारितम्। किं बहुना, यावच्छक्यं तथा व्याख्यातं मया यथा अल्पबोधा अपि सुतरां बुध्येरन् कविगतं हृदयम्। ज्यौतिषायुर्वेद-रतिरहस्यादिप्रमाणं तु विस्तरभयान्नोपन्यस्तं प्रायेण। व्याख्यानगतं वैषम्यं निराकर्तुं च क्वापि विषयविशदीकरणाय टिप्पनमपि विन्यस्तम्।

इति व्याख्यानसम्पादनायां तत्र तत्र अवधानविशेषे सुरक्ष्यमाणेऽपि मानवधर्मसुलभा याः काश्चन आवश्यकविषयविवेचनविस्मृतिजन्या अन्या वा त्रुटयो जाता भवेयुस्ताः संशोधनीयाः क्षमाधनैर्धीधनैरिति शम्। इति निवेदयति-

योधपुरम्,
नृसिंहजयन्ती,
वि.सं. १९९०,

विद्वज्जनकृपावशंवदो-
भगवतीलालशर्मा
योधपुरराजकीय-पुस्तक-प्रकाशाख्य —
पुस्तकालयाध्यक्षः।

॥ श्रीरामः सर्वमङ्गलम् ॥

एतन्महाकाव्य-पद्यादिमाक्षरैः सूच्यमानो मूलपाठः

मंगलम्— मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमश्शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥१॥

१. मः सर्गः—

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम् ॥१॥

को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥२॥

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः ॥३॥

आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥४॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतुहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥५॥

श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥६॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥७॥

२. यः सर्गः—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥८॥

बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्ग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥९॥

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥१०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥११॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥१२॥

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।

३. यः सर्गः—

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥१४॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञस्स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥१५॥

सर्वदाभिगतः सद्भिस्समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥१७॥

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥१८॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥१९॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम्।
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥२०॥

यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः।

४. र्थः सर्गः—

तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी ॥२१॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥२२॥

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥२३॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥२४॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।
स्नेहाद्विनयसंपन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥२५॥
भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन्।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६॥
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥२७॥
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा।
पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ॥ २८॥
शृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत्।

५. मः सर्गः —

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ॥२९॥
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया।
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ॥३०॥
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात्।
रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ॥३१॥
देवगन्धर्व-संकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम्।
चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ॥३२॥
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम्।
गते तु तस्मिन्भरतो वशिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ॥३३॥
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः।
स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥३४॥
गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अयाचद्भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥३५॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत्।
रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ॥३६॥
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महाबलः।

६. ष्ठः सर्गः—

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ॥३७॥
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः।
स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ॥३८॥

नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया।
गते तु भरते श्रीमान् सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥३९॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च।
तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान्प्रविवेश ह ॥४०॥
प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥४१॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा।

७. मः सर्गः—

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ॥४२॥
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षय्यसायकौ।
वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैस्सह ॥४३॥
ऋषयोऽभ्यागमन्सर्वे वधायासुररक्षसाम्।
स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तदा वने ॥४४॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम्।
ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥४५॥
तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥४६॥
ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान्सर्वराक्षसान्।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥४७॥
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्।
वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥४८॥
रक्षसां निहतान्यासन्सहस्राणि चतुर्दश।

८. मःसर्गः—

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥४९॥
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम्।
वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥५०॥
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥५१॥
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा।
तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥५२॥

जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम्।

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥५३॥

राघवश्शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः।

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥५४॥

मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह।

कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥५५॥

तं निहत्य मदाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः।

९. मः सर्गः—

ततोऽस्य कथयामास शवरीं धर्मचारिणीम् ॥५६॥

श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव।

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शवरीं शत्रुसूदनः ॥५७॥

शवर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह ॥५८॥

हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः।

सुग्रीवाय च तत् सर्वं शंसद्रामो महाबलः ॥५९॥

आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः।

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥६०॥

चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम्।

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ॥६१॥

रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद्दुःखितेन च।

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ॥६२॥

वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः।

१०. मः सर्गः—

सुग्रीवशशङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥६३॥

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम्।

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ॥६४॥

उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः।

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप संपूर्णं दशयोजनम् ॥६५॥

बिभेद च पुनस्तालान्सप्तैकेन महेषुणा।

गिरिं रसातलं चैव जनयन्प्रत्ययं तदा ॥६६॥

ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तस्स महाकपिः ।
किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ॥६७॥

ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ।
तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ॥६८॥

अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ।
निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः ॥६९॥

ततः सुग्रीववचनाद् हत्वा वालिनमाहवे ।
सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥७०॥

स च सर्वान्समानीय वानरान्वानरर्षभः ।
दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥७१॥

११. शः सर्गः—

ततो गृध्रस्य वचनात्संपातेर्हनुमान्बली ।
शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम् ॥७२॥

तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् ।
ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकागताम् ॥७३॥

निवेदयित्वाऽभिज्ञानं प्रवृत्तिं विनिवेद्य च ।
समाश्वास्य च वैदेहीम्मर्दयामास तोरणम् ॥७४॥

पञ्च सेनाग्रगान् हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि ।
शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ॥७५॥

अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद्वरात् ।
मर्षयन्राक्षसान्वीरो यन्त्रिणस्तान्यदृच्छया ॥७६॥

ततो दग्ध्वा पुरीं लंकामृते सीतां च मैथिलीम् ।
रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ॥७७॥

सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ।
न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा सीतेति तत्त्वतः ॥७८॥

१२. शः सर्गः—

ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ।
समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ॥७९॥

दर्शयामास चात्मानं समुद्रस्सरितां पतिः ।

समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ॥८०॥

तेन गत्वा पुरीं लंकां हत्वा रावणमाहवे।
रामस्सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ॥८१॥
तामुवाच ततो रामः परुषञ्जनसंसदि।
अमृष्माणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ॥८२॥
ततोऽग्निवचनात्सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम्।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥८३॥
सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।
बभौ रामस्संप्रहृष्टः पूजितस्सर्वदैवतैः ॥७४॥
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥८५॥
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान्।
अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ॥८६॥

१३. शः सर्गः—

भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामस्सत्यपराक्रमः।
भरतस्यान्तिके रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥८७॥
पुनराख्यायिकां जल्पन्सुग्रीवसहितस्तदा।
पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥८८॥
नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिस्सहितोऽनघः।
रामस्सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥८९॥
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥९०॥
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥९१॥
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजम्भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥९२॥
न चापि क्षुद्भयन्तत्र न तस्करभयन्तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥९३॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा।

१४. शः सर्गः—

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥९४॥
गवाङ्कोट्ययुतं धनं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥९५॥

राजवंशाञ्शतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥९६॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥९७॥

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च संमितम्।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९८॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन्रामायणन्नरः।
सपुत्रपौत्रस्सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥९९॥

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।

वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥१००॥

परिशिष्टांश

स्तवरत्नसप्तकम्

१. तत् सवितुर्वरेणियं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

२. आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

३. रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे। रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः॥

४. तामावह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्, यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥

५. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

६. ओं आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ओं॥

७. गणानान्त्वां गणपतिं हवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनान्त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्॥

॥ श्रीरामः॥

श्रीरामचरिताब्धिरत्नस्य विषय-सूची ।

तृतीयः सर्गः

परिशिष्टांशः

इति श्रीरामचरिताब्धिरत्नस्य विषय-सूची

। श्री रामः ॥

इहार्थान्तरत्वेन न्यस्तानां सूक्तानां संग्रहः

सूक्तानि	पृष्ठाङ्काः	सर्गः श्लो०
छत्रीभूते त्रिभुवनपतौ नाम लोकत्रयस्य	२५६	११-४०
यायात् क्वात्महुतिमशरणः किं पुनर्वारतर्की।		
कामान्धाः स्त्रीं सुरतसमये ह्याद्रियन्तेऽन्यदा नो	२५७	११-४२
दैवी गतिर्जित्वरी	२६०	११-४६
सर्वं भविष्यति शुभं रघुराट्प्रभावात्?	२८२	१२-४७
के कुर्वन्त्यकृतं कृतं कृतधियो, यत् स्यात् कृतं तत्कृतम्।	२६४	१३-६
यत् प्रत्यर्थिचिराश्रितः स सहसा विश्वासमर्हेत् कथम्?	२६५	१३-८
तृड्-दाहे सति सत्किला-मृतमपि प्राप्तं न चेत् तद् वृथा	३०१	१३-१९
भिस्साभूम्नि[1] भृतेऽपि तेन यदि नो क्षीणा क्षुधा तन्मुधा।		
कस्तावत् प्रभुमाश्रितः स्वमनसा मुच्येत नो बन्धनात्	३०५	१३-२६
कः प्रत्येतु न धर्म एव विजयश्चाधर्म एवाऽजयः	३०६	१३-२८
दैवी विचित्रा गतिः	३११	१३-३८
मज्जेद् दुर्गतिवारि मज्जितजनो दुष्कर्णधारो यथा	३१३	१३-४३
जन्माऽपार्थकतां दधत् परतरुण्यासक्त इन्द्रोऽपि सन्		

१. अन्नबाहुल्ये।

सूक्तानि	पृष्ठाङ्काः	सर्गः श्लो०
कोट्यामप्यतिरुचिदीपिनां मणीनां यः स्यात् तत्स्थितिसुघटो गवेष्यते सः	३२४	१४-५
कं प्रीणात्यभिमतवृत्तसूचना नो?	३२५	१४-८
यो यस्मै यतत इयात् स तत् स्खलन् वा।	३२७	१४-११
तिर्यङ्ङपि प्राक्स्खलितोऽवधत्ते।	३३१	१४-२०
ख्यातं वृथानुकरणं ह्युपहासबीजम्।	३४०	१४-३७
परिशिष्टांशे-		स्तुतिः पद्यानि
रामप्रशासक इतीह भवान् हि भाति	३५८	२ - ५
याः सुस्त्रियो जगति ता दधतेऽत एव	३६२	३ - ७
पथ्यः पतिश्च किल सत्य इति प्रसिद्धम्।		

इति अर्थान्तरत्वेन न्यस्तानां सूक्तानां सङ्ग्रहः समाप्तः।

॥श्रीरामः सर्वमङ्गलम्॥

श्री रामचरिताब्धिरत्नम्

शाणाख्यया व्याख्यया समेतम्।

मङ्गलम्

श्रीशं तमाश्रये यः सरस्वतीप्रस्तुतव्याख्यम्।

अकृत चतुर्दशभुवनाद्भुतसर्गमयं महाकाव्यम्॥

प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामः कविः पूर्वं मङ्गलमाचरति। तत्र पञ्चदेवाभिमुखीकरणे प्रस्तूयमाने प्राग् गणेशं स्तौति-

माङ्गल्यधाम द्विरदाननं तं

नित्यं नुमो विघ्नविनाशहेतुम्।

षाण्मातुरं बन्धुमिवानुकर्तुं

दधाति शक्तिं रिपुशातनीं यः॥१॥

'वयम्' इति कर्तृपदम् अध्याहार्यम्। माङ्गल्यस्य कल्याणस्य धाम गृहं 'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः।' इति मेदिनी। तत्। मङ्गलशब्दात् 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे' इति स्वार्थे ष्यञ्। आदितः माङ्गल्यशब्दप्रयोगाद् वर्णगणादिशुद्धिर्नात्र अतीवोपयुज्यते। तदुक्तम्- 'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः। ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा।' इति। विघ्नानां विनाशस्य हेतुः कारणं तम्। तं द्विरदाननं गणेशं नित्यं निरन्तरम्। नित्यशब्दप्रयोगेण कविना प्रारम्भे स्वकीयं नामापि द्योतितम्। नुमः स्तुमः। यः (द्विरदाननः) बन्धुं भ्रातरं षाण्मातुरं षण्णां मातॄणामपत्यं कार्तिकेयम् 'मातुरुत्संख्यासंभद्र-पूर्वायाः' इत्यण् उदादेशश्च। अनुकर्तुमिव अन्वाचरितुमिव। रिपूणां शत्रूणां शातनीं विनाशिकां 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युडन्तात् शदेः करणे ल्युट्। 'शदेरगतौ तः' इति दस्य तकारः। शक्तिम् अस्त्रविशेषं गणेशपक्षे तु पराक्रमं दधाति धारयति। भ्रातुरनुकरणं स्वाभाविकम्। विघ्नरिपूणां शातनाय शक्तिधारणमावश्यकम् इत्यत इत्थं वर्णितम्। अत्र स्वाभाविकस्य शक्तिधारणस्य भ्रात्रनुकरणरूप-फलप्रदर्शनेन संभावनात् फलोत्प्रेक्षालंकारः। स च शक्तिशब्दस्य द्व्यर्थतया श्लेषोज्जीवितः। तल्लक्षणं तु- 'संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना' इति। श्रुत्यनुप्रासवृत्त्यनुप्रासौ च। वृत्तं तु आद्ये पादत्रये इन्द्रवज्रयाश्चतुर्थे पादे च उपेन्द्रवज्रायाः संमेलनेन उपजातिः। तल्लक्षणं- 'स्यादिन्द्रवज्रा ततजास्ततो गौ, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।' काव्यस्योपजननकार्याय श्रीरामोपजननसूचनाय च प्रारम्भे उपजातिवृत्तस्यैव उपयोगित्वं दर्शितम्॥१॥

मंगलम्—ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये श्री गणेशजी की वन्दना-मंगल के धाम, गजमुख श्री गणेश को मैं विघ्नों के विनाश के लिये नित्य प्रणाम करता हूँ। गणेश अपने बड़े भाई छः माताओं वाले कार्तिकेय के अनुकरण के रूप में शत्रुओं का नाश करने वाली शक्ति को धारण करते हैं॥१॥

विशेष—इस पद्य में फलोत्प्रेक्षा अलंकार है और वह श्लेष से अनुप्राणित है। "शक्ति" शब्द के सामर्थ्य और कार्तिकेय दो अर्थ हैं। उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है—"संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना।" श्रुत्यनुप्रास एवं वृत्यनुप्रास की छटा भी यहाँ दर्शनीय है। उपजाति छन्द का प्रयोग काव्य के उपजनन एवं श्री राम के उपजनन को भी द्योतित करता है॥१॥

अथ विद्याधिष्ठात्रीं सरस्वतीं प्रार्थयते-

प्रभेव सूर्यस्य तमो हरन्ती

तिष्ठन्त्यथाऽन्तःकमलेऽलिनीव।

ष्ठां स्थामिव व्याकरणव्यवस्था

त्वमम्ब वाग् मां कुरु विज्ञमज्ञम्॥२॥

हे अम्ब मातः वाक् सरस्वति ! सूर्यस्य प्रभा दीप्तिरिव तमः शोकम् अज्ञानजन्यमित्यर्थः। 'तमो ध्वान्ते गुणे शोके क्लीबे वा ना विधुन्तुदे'' इति मेदिनी। अन्यत्र अन्धकारं हरन्ती नाशयन्ती अथ तथा 'अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले। विकल्पानन्तर-प्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये' इति मेदिनी। अन्तः मनः एव कमलं तत्र अलिनीव भ्रमरीव तिष्ठन्ती वसन्ती त्वं व्याकरणव्यवस्था व्याकरणशास्त्रमर्यादा ष्ठां स्थाधातोः आद्योच्चारितं ष्ठारूपं स्थां स्थारूपमिव अज्ञं मूढं मां विज्ञं विशेषज्ञानशालिनं कुरु। 'व्यवस्था' शब्द एव ष्ठारूपस्य स्थारूपमुदाहृतम्। अत्र सरस्वतीरूपस्य उपमेयस्य सूर्यभारूपस्योपमानस्य च तमोहरणप्रकारेण सादृश्यात् उपमालङ्कारः। तल्लक्षणम् 'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः॥' इति एवं द्वितीयतृतीय-पादयोरपि। अपि च विषयस्य अन्तःकरणस्य विषयिणः कमलस्य च अभेदताद्रूप्यप्रकारेण रञ्जनाद् रूपकम् 'विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्। रूपकं तत्' इति लक्षणात्॥२॥

विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी की वन्दना—हे अम्ब ! सरस्वति ! जिस प्रकार सूर्य की दीप्ति अन्धकार को नाश करती है, उसी प्रकार मेरे शोक (अज्ञानजन्य) को हरण करती हुई, तथा जिस प्रकार भ्रमरी कमल में निवास करती है उसी प्रकार मेरे मन रूपी कमल में निवास करती हुई आप जिस प्रकार व्याकरण की मर्यादा ष्ठा को स्थारूप प्रदान करती हैं उसी प्रकार आप मुझ मूर्ख को विवेकशाली बनावें॥२॥

विशेष—पद्य में वर्णित ''व्यवस्था'' शब्द ही 'ष्ठा' के स्थान पर 'स्था' के रूप को अभिव्यक्त करता है। यहाँ पर सरस्वती रूप उपमेय का और सूर्यप्रभारूप उपमान का तमोहरण प्रकार से सादृश्य होने के कारण उपमा अलङ्कार है। इसी प्रकार अन्तःकरणरूप विषय 'उपमेय' का और कमलरूप विषयी 'उपमान' का अभेद ताद्रूप्य प्रकार से रञ्जन करने के कारण रूपक अलङ्कार की शोभा दर्शनीय है॥२॥

अधुना सूर्यं याचते-

मत्वा य एकादशतां शिवस्य

गदच्छिदे द्वादशतां दधाति

मश्या इवान्धस्य हरन् स दुःखं

शारीरिकीं हन्तु रुजं रविर्नः॥३॥

यः शिवस्य रुद्रस्य एकादशताम् एकादशरूपतां मत्वा ज्ञात्वा, अत्र उत्प्रेक्षावाची प्रतीयमान इवशब्द उन्नेयः। गदानां रोगाणां 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। छिदे नाशाय। भावे क्विप्। द्वादशतां द्वादशरूपतां दधाति बिभर्ति। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' इति वचनाद् रवेः शिवस्य च मृत्युञ्जयत्वेन आरोग्यप्रदत्वं स्फुटमेव। रोगहरणे शिवस्यैकादशरूपाणाम् अपर्याप्ततां मन्यमानो रविः स्वस्य द्वादशरूपतां धरतीति तात्पर्यम्। मश्याः लेखनसाधनीभूतस्य कज्जलस्येव। मशीशब्दस्ता-लव्योपधोऽपि। अन्धस्य तिमिरस्य। चक्षुर्हीनस्य चेति रोगहरणाय ध्वन्यते। 'अन्धं तमस्यपि' इत्यमरः। दुःखं पीडां हरन् स रविः सूर्यः नः अस्माकं शारीरिकीं शरीरसंबन्धिनीं रुजं रोगं हन्तु हरतु॥ अत्र पूर्वार्धे इवादिशब्दानुपादानेन प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। उत्तरार्धे अन्धकारस्य मश्या सह सादृश्येन उपमा॥३॥

सूर्य-वन्दना—भगवान् सूर्य हमारी शारीरिक बिमारियों को दूर करें–जो रुद्र एकादश रूप हैं, वे मृत्युंजय रूप में बिमारियों को दूर करने वाले हैं–पर, वे सब बिमारियों को दूर नहीं कर पा रहे हैं–इसी कारण मानों सूर्य द्वादश बने हैं। जिस प्रकार मशी (काजल) अन्धे के नेत्रों की पीडा दूर करती है, उसी प्रकार सूर्य हमारे शारीरिक रोग को हरण करें॥३॥

विशेष—आरोग्यं भास्करादिच्छेत्। सूर्य से आरोग्य की कामना करें। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में इवादि शब्द के अनुपादान से प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। तथा उत्तरार्द्ध में अन्धकार के मशी (स्याही) के साथ सादृश्य होने के कारण उपमा अलङ्कार है॥३॥

इदानीं विष्णुमनुकूलयति-

श्वसंस्त्रयीं योऽस्फुटयद् भवाब्धि-

तीःसज्जनानां तरणिं त्रिभूमाम्।

स पातु भूनीरखवायुतेजो-

माःसंवदादेर्जनको रमेशः॥४॥

यः श्वसन् निःश्वसन् सन्। भवः संसार एव अब्धिः समुद्रः तं तरन्ति इति कर्तरि क्विप्। तथाभूता ये सज्जनाः साधवः तेषाम्। तिस्रो भूमयः खण्डा यस्याः सा तथोक्ता तां 'कृष्णोदक्-पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते' इति समासान्तोऽच्। तरणिं नावं त्रयीं वेदत्रयीं 'स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी॥' इत्यमरः। अस्फुटयत् प्रकटीचकार। 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' इति वचनात् भूः पृथ्वी, नीरं जलम्, खम् आकाशं, वायुः पवनः, तेजः सूर्यादिः तथा माः मासः 'माश्चन्द्रमासयोः पुमान्' इति मेदिनी। संवद् वत्सरश्चादिर्यस्य, तथाभूतस्य तस्य (द्रव्यजातस्येति बोध्यम्) आदिशब्देन दिग्जीवात्ममनसां ग्रहणम्। निमित्तोपादानस्वरूपेण जनयतीति जनकः उत्पादकः। 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति षष्ठीसमासाभावः। सः रमायाः प्रकृतिस्वरूपाया महालक्ष्म्याः ईशः पतिः विष्णुरित्यर्थः पातु रक्षतु। त्रय्यां तरणेरारोपाद् रूपकम्। तच्चात्र असमस्तम्॥४॥

विष्णु-वन्दना—संसार सागर को पार करने के लिये जिन्होंने (आपने) स्वास रूप से प्रकट वेदत्रयी रूप नौका को सज्जनों की रक्षा के लिये बनाई है। जो भूमि, जल, आकाश, वायु, प्रकाश, मास, संवत्सर आदि को करने वाले हैं जो लक्ष्मीपति हैं, वे विष्णु हमारी रक्षा करें॥४॥

विशेष—यस्य निःश्वसितं वेदाः। वेद जिस भगवान् के निःश्वास रूप हैं। इस पद्य में वेदत्रयी पर नौका के आरोप करने से असमस्तरूपक अलङ्कार है॥४॥

सम्प्रति शिवमभिमुखीकरोति-

यत्-तेजसा खेलति मूर्ध्नि सर्पः

क्रौंचारिकेकीन्द्रभयादभीरुः।

चण्डीहरेश्चन्द्रशशोऽप्यभीतोऽ-

मितां मुदं याति, स वः शिवोऽव्यात्॥५॥

यस्य तेजः प्रभावः तेन 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः॥' इति मेदिनी। सर्पः भुजङ्गः क्रौंचारेः क्रौञ्चशत्रोः कार्त्तिकेयस्येति यावत्। यः केकीन्द्रः मयूरवरः तस्माद् यद् भयं तस्मात् अभीरुः अत्रस्तः (सन्) मूर्ध्नि मस्तके खेलति क्रीडति। अपि तथा 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इत्यादि मेदिनी। चन्द्रस्य मूर्धस्थितस्य चन्द्रमसः शशः मृग-विशेषः चण्डीहरेः गौरीवाहनसिंहात् अभीतः (सन्) अमिताम् अपरिमितां मुदं प्रीतिं याति प्राप्नोति। स शिवः वः युष्मान् अव्यात् पायात्। शिवाश्रितो भक्तो विद्यमानेऽपि शत्रौ निर्भीको मोदत इति ध्वनितम्। अत्र मूर्ध्नि इत्यधिकरणम् उत्तरत्रापि आकृष्यते। तेन कारकदीपकम्। अपि चात्र विद्यमानेऽपि केकीन्द्रादौ भयहेतौ कार्यस्य भयस्याभावाद् विशेषोक्तिः 'कार्याऽजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे' इति तल्लक्षणात्॥५॥

शिव-स्तुति—जिनके मस्तक पर साँप निर्भय होकर क्रीड़ा करते हैं। भगवान् शिव के पुत्र कार्तिकेय, जो मयूर पर सवारी करते हैं, उस मयूर को देखकर भी साँप डरते नहीं हैं, क्योंकि भगवान् शिव के प्रताप के बल से वह निर्भयता प्राप्त है। शिवजी के मस्तक पर चन्द्र है, उसमें रहने वाला मृग भी भगवती

गौरी के वाहन सिंह से नहीं डरता है—ऐसी निर्भयता जिनकी कृपा से प्राप्त होती है, वे शिव हमारी रक्षा करें॥५॥

विशेष—साधारणतः सर्प मयूर से तथा हरिण सिंह से डरता है, परन्तु शिव के प्रभाव से यहाँ भय का निषेध है। अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है। तथा "मूर्ध्नि" यह अधिकरण उत्तरार्द्ध में भी आकृष्ट किया जाता है अतः कारक दीपक अलङ्कार है॥५॥

इतः परं कुलदेवतां दधिमथीं (तीं) संमुखयति-

थुडन्त्यशर्माणि नुता दधीचा

नारायणी ब्राह्म्यपि शाम्भवी च।

देवी त्रिरूपा दधिमथ्यथैका

कष्टानि नष्टानि करोतु सा नः॥६॥

'दधिमथी (ती)' शब्दः थोपधः तोपधश्च तं च थोपधम् इत्थं निरुक्तवन्तो महामहोपाध्याय-दाधिमथ-कुद्दालोपनामकाः अस्मत्पितृपादानां सतीर्थ्याः पंडितवरश्रीशिवदत्तशास्त्रिणः-'दधिभक्तजनान् धात्री मथी तदरिमाथिनी। देवी दधिमथी नाम धन्वदेशे विराजते' इति। प्रस्तुतकाव्यस्य कर्ता कविस्तु एनमेव शब्दं द्विरूपतया निरुक्तवान् स्वनिर्मितायामा-र्यामुक्तावल्याम्। तथाहि- 'स्तुत्वाऽमरैः सविनयैस्तनयै रिवोच्चै-र्या प्रार्थितोदधिपयोदधिमन्थकृत्यम्। कृत्वा ददेऽमृतमयं नवनीतमेभ्यः साऽम्बाऽवताद् दधिमथी (ती) ति मतेशशक्तिः॥' या आदिशक्तिः समुद्रजलरूपं दधि मथित्वा अमृतरूपं नवनीतं देवरूपेभ्यः पुत्रेभ्यो दत्तवती" सा माता आदिशक्तिः (त्रिगुणात्मिका) दधिमथी (ती) अवतात् इति तात्पर्यम्। अथ प्रकृतमनुसरामः दधीचा आथर्वणेन दधीचिना दध्यङ्ङाथर्वणः'इत्यादि श्रुतेः 'दध्यञ्च्' शब्दस्य निरुक्तिस्तु- दधिः दधिमथी (ती) 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः' इति वार्त्तिकेन नामैकदेशेनाऽपि नामग्रहणं सिध्यति। तां दधिमथीं (तीम्) अञ्चति पूजयतीति दध्यङ् अनेन तत्पित्राऽथर्वणाऽपि अस्या आदिशक्तेः आराधितपूर्वत्वं सिद्धम्, लोके हि पिता स्वाराधितदेवनामांकितं पुत्रनाम करोति। यथा आराधितहरः पिता स्वपुत्रनाम 'हरसेवक' इति कुरुते। इत्थमेव हरिदत्त-रामप्रसादादिना-मान्युपलभ्यन्ते। अत एव ये दाधिमथास्ते दाधीचाः, ये दाधीचास्ते दाधिमथाः इति दधीचिवंशजानां दधिमथ्युपासनं सहचरितमित्यपि सिद्धम्। तथाभूतेन दधीचा दधीचिना नुता स्तुता सती अशर्माणि अरिष्टानि थुडन्ती संवृण्वती हरन्तीत्यर्थः। तौदादिकस्य 'थुड संवरणे' इति धातो शतरि रूपम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति वा नुम्। यद्यपि शतृप्रत्ययो वर्तमाने भवति तथापि 'धातुसंबन्धे प्रत्ययाः' इति वचनात् अत्र अशर्मनिवारणस्य दधीचिकालिकत्वं सिद्धम्। नारायणस्य इयं नारायणी 'तस्येदम्' इत्यण्। इत्यनेन सात्त्विकी शक्तिरुपलक्ष्यते। अपितथा ब्राह्मी ब्रह्मण इयं राजसी शक्तिः। 'ब्राह्मोऽजातौ' इति टिलोपः। शम्भोरियं शाम्भवी तामसी शक्तिः। इति त्रिरूपा। अथ पुनः एका त्रिगुणात्मिका एकरूपा। इत्यनेन आदिशक्तित्वं सिद्धम्। सा प्रसिद्धा दधिमथी (ती) नः अस्माकं कष्टानि दुःखानि नष्टानि करोतु। अत्र त्रिरूपाऽपि एका इति विरोधस्य आभासनात् विरोधाभासोऽलङ्कारः। 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते॥' इति तल्लक्षणात्॥६॥

कुलदेवी दधिमती की वन्दना—जो दधिमथी देवी दाधीचों के सारे कष्टों को हरण करने वाली है; जो नारायणी, ब्रह्माणी और रुद्राणी रूप से त्रि-रूपा है—वे हमारे कष्टों को दूर करे॥६॥

विशेष—यहाँ महाकवि ने महर्षि दधीचि के वंशधर दाधीचों की कुलदेवी दधिमती (थी) की वन्दना की है। इसी देवी ने दधिरूप समुद्र को मथकर नवनीतरूप से प्राप्त अमृत को अपने पुत्र देवताओं को दिया था, इसी कारण इसका नाम दधिमथी है। पद्य में

त्रिरूपा भी दधिमथी एक रूपा है। इससे इनका आदिशक्ति रूप सिद्ध होता है। त्रिरूपा भी एक रूपा है इस विरोध के आभास से विरोधाभास अलङ्कार है ॥६॥

अथ श्रीरामस्य परमभक्तं हनुमन्तं प्रणमति-

मरुत्सुतं रामपदारविन्द-

वन्दारुवृन्दारकमाशु वन्दे ।

धीः शक्तिभक्तिद्युतिसिद्धयो यं

कान्तं स्वकान्ता इव कामयन्ते ॥७॥

अहं रामस्य ये पदारविन्दे चरणकमले तयोः ये वन्दारवः अभिवादकाः 'शृवन्द्योरारुः' इति आरुः। 'वन्दारुरभिवादके' इत्यमरः। तेषां वृन्दारकं मुख्यं 'वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ' इत्यमरः श्रीरामभक्तशिरोमणि-मित्यर्थः। मरुतः पवनस्य सुतं पुत्रं हनुमन्तमित्यर्थः। आशु शीघ्रम्। इत्यनेन भक्तिवशात्प्रणमने औत्सुक्यातिशयो दर्शितः। वन्दे प्रणमामि। यं (मरुत्सुतं) धीः बुद्धिः तथा शक्तिः पराक्रमः, भक्तिः भगवत्प्रेम, द्युतिः कान्तिः। इत्यनेन तेज उपलक्ष्यते। सिद्धिः साफल्यं च कान्तं प्रियं स्वकान्ताः स्वकीयाः प्रिया इव कामयन्ते इच्छन्ति। अनेन मरुत्सुतस्य प्रभावप्रकर्षः प्रदर्शितः। उपमालङ्कारः। अपि च धीमत्त्वशक्तिमत्त्वादिकं गम्यं तत्तत्कामनास्वरूपेण भङ्ग्यन्तरेणाऽत्र उक्तम् अतोऽत्र पर्यायोक्तम्। तल्लक्षणं तु 'पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्॥' छेकानुप्रासश्च ॥७॥

राम के परम भक्त हनुमान् की वन्दना— राम के चरण कमलों में जो अभिवादक शिरोमणि हैं, जो पवनपुत्र हैं, उन हनुमान् के चरणों में मैं शीघ्र ही प्रणाम करता हूँ। बुद्धि, शक्ति, भक्ति, द्युति और सिद्धि ये सभी हनुमान्‌जी को ऐसे चाहती हैं जैसे कोई कामिनी अपने प्रिय कान्त को चाहती है। यानी हनुमान् बुद्धि, शक्ति, भक्ति, द्युति एवं सिद्धि से युक्त हैं ॥७॥

विशेष—'आशु वन्दे' इसके द्वारा कवि ने भक्तिवश अपने औत्सुक्य की व्यंजना की है। बुद्धि आदि के द्वारा हनुमान का प्रभाव-प्रकर्ष प्रदर्शित किया गया है ॥७॥

अन्ते प्रस्तुतकाव्यारम्भे आवश्यकत्वेन आदि कविं वाल्मीकिं स्तौति-

महाप्रकर्षेण सुरर्षिणोप्तं

मोघेतरं रामचरित्रबीजम्।

हितेऽफलद् यस्य हि चित्तवप्रे

तं नौमि वाल्मीकिमुनिं कवीन्द्रम् ॥८॥

हि यतः कारणात् यस्य हिते पथ्ये बीजफलनोपयुक्ते इत्यर्थः। चित्तवप्रे मनोरूपक्षेत्रे 'वप्रस्ताते पुमानस्त्री रेणौ क्षेत्रे चये तटे' इति मेदिनी। महाप्रकर्षेण महामहिम्ना महान् प्रकृष्टः कर्षः क्षेत्रकर्षणं यस्येति चार्थेन सुरर्षेः कृषिकत्वारोपणं ध्वनितम्। सुरर्षिणा नारदेन उप्तं रोपितं मोघेतरम् अमोघं रामचरित्रं रामायणमेव बीजम् अफलत् फलितम्, तं कवीन्द्रं कवीश्वरं वाल्मीकिमुनिम् आदिकविं नौमि स्तौमि। इत्यनेन नारदमुखेन वाल्मीकिं प्रति मूलरामायणस्य कथनं, तदाधारेण वाल्मीकिना रामायणमहत्तमकाव्यस्य साफल्याद् विरचनं व्यक्तम्। रूपकमलङ्कारः ॥८॥

महर्षि वाल्मीकि के चरणों में प्रणति— देवर्षि नारद ने जिन के हृदय-रूपी क्षेत्र में रामचरित-रूपी बीज बोया और सफलीभूत हुआ—उन कवीन्द्र वाल्मीकि को मैं प्रणाम करता हूँ ॥८॥

विशेष—नारद जी ने ही प्रथम-प्रथम महर्षि वाल्मीकि को मूल रामायण सुनाई थी—जिसका पल्लवन क्रौंच मिथुन के प्रसंग से व ब्रह्माजी की प्रेरणा से हुआ। पद्य में रूपक अलङ्कार है। उपर्युक्त आठ मंगल श्लोकों में आदि कवि वाल्मीकि के 'मानिषाद०' इत्यादि श्लोक के प्रत्येक अक्षर से प्रत्येक चरण को प्रारंभ किया है ॥८॥

इति मङ्गलम्।

अथ प्रथमः सर्गः

द्वाभ्यां कोशलदेशं निरूपयति-

तनूयुजां चित्तहृतः सदैवाऽऽ-
पः सुप्रसन्नाः सरयूस्रवन्त्याः।
स्वाद्याः सुधा द्यामिव यं पवन्तेऽ-
ध्यास्ते धरां कोशल एष देशः ॥१॥

तनूयुजां शरीरिणां चित्तहृतः मनोहारिण्यः सुप्रसन्नाः सुप्रशस्ता निर्मलाः सरयूस्रवन्त्याः सरयूनद्याः आपः जलानि, स्वाद्याः स्वादनार्हाः सुधा अमृतानि द्यां स्वर्गम् इव 'द्यौस्तु स्वर्गे विहायसि' इति हैमः, यं (कोशलं) सदा सर्वदा एव। प्रकृतदार्ढ्यार्थं, एवप्रयोगः। पवन्ते पवित्रीकुर्वन्ति। भौवादिकस्य पूङो रूपमदिम्। एषः अयं कोशलः कोशलनामा देशः जनपदः धरां भूमिं भारतीयामित्यर्थः। अध्यास्ते अधितिष्ठति। इह भुवि कोशलो देशोऽस्तीति भावः। 'यम्' अत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्याधारस्य कर्मत्वम् उपमालङ्कारः ॥१॥

दो श्लोकों में कोशल देश का वर्णन :—

अर्थ—भारत में स्थित एक कोशल देश है, जिसके पास सारे प्राणियों के हृदय को मुग्ध करने वाली, स्वच्छजल वाली सरयू नदी बहती है, जिसका जल स्वर्गिक सुधा सा मधुर है। ऐसी नदी से वह प्रदेश पवित्र होता रहता है॥१॥

यच्छन्त्यभीष्टं शुभदर्शनेन
निवेशयन्ती सुकृतेषु चेतः।
रतेशमङ्कोल्लसिता सतीव
तं सेवते मुक्तिनगर्ययोध्या ॥२॥

शुभेन कल्याणकारिणा दर्शनेन आलोकनमात्रेण अभीष्टं वाञ्छितं यच्छन्ती ददती, सुकृतेषु पुण्येषु चेतः चित्तं निवेशयन्ती योजयन्ती, अङ्के उत्सङ्गे उल्लसिता अधिष्ठिता सती पतिव्रता रतेशं वल्लभमिव, 'भर्ता भरुर्नर्मकीलो हृदयेशो रतेश्वरः' इति मङ्खः। मुक्तिनगरी मुक्तिदायिनी नगरी मुक्तिनगरी शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपी समासः। तं कोशलं सेवते भजति। तत्र कोशले अयोध्या नगरी अस्तीति भावः। पतिव्रताऽपि शुभेन दर्शनेन इष्टं साधयति पुण्येषु च योजयत्येवेति स्फुटम्। उपमा ॥२॥

अर्थ—कोशल देश में अध्योध्या नगरी स्थित है। यह नगरी अपने शुभ दर्शन मात्र से मनोवांछित फल देने वाली है, सभी पुण्यआत्माओं के हृदय में बसी हुई है। यह नगरी नगरी मात्र नहीं है, यह भक्ति प्रदान करने वाली कोशल देश की गोद में ऐसे विराजती है, जैसे कोई सती साध्वी नारी उल्लसित होकर अपने प्रियतम की गोद में बैठती है॥२॥

विशेषः—महाकवि ने यह दिखाया है कि जिस प्रकार सती साध्वी नारी के दर्शन मात्र से अभीष्ट सिद्धि होती है, वह मुक्ति तक प्रदान करती है—उसी प्रकार अयोध्या भी भक्ति-मुक्ति प्रदान करने वाली है॥२॥

अधुना अष्टभिः पद्यैरयोध्यां वर्णयति-

तरीमिवाध्युष्य सकर्णधार-
पतिं भवाब्धिं तितरीषवो याम्।
स्वीकृत्य तत्रैव च दिव्यभव्यं
वाग्वर्णनातीतसुखं लभन्ते ॥३॥

भवाब्धिं संसारसागरं तितरीषवः तरीतुमिच्छवः तरतेः सनि 'इट् सनि वा' इति वेट्त्वात् पक्षे 'वृतो वा' इति ईडागमः। 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उः प्रत्ययः। तरीम् इव नावमिव सकर्णधारपतिं कर्णे धारयतीति कर्णधारः प्रजादुःखश्रवणपर इत्यर्थः पतिः स्वामी तेन सह विद्यमानाम् इत्यनेन अयोध्यायाः शासकानां रघुवंश्यानां प्रजावात्सल्यं दर्शितम्। तरीपक्षे तु कर्णधारपतिना नाविकनायकेन सह विद्यमानां याम् अयोध्याम् अध्युष्य अधिष्ठाय 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्यनेन कर्मत्वम्। च पुनः तत्र अयोध्यायामेव दिव्यं स्वर्गीयं भव्यं कल्याणं स्वीकृत्य भुक्त्वा अधिवासेनेत्यर्थः। वाचां वाणीनां वर्णना संकीर्तना ताम् अतीतम् अतिक्रान्तं यत् सुखं मोक्षसुखमित्यर्थः। लभन्ते

प्राप्नुवन्ति। अयोध्यैव निवासमात्रेण संसारादुद्धृत्य मुक्तिसुखं प्रापयतीति तस्या मुक्तिदत्वं दर्शितम्। श्लिष्टोपमा॥३॥

निम्न आठ श्लोकों में अयोध्या नगरी का वर्णन है :—

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र को पार करने वाला नौका और कर्णधार की इच्छा करता है, उसी प्रकार यह नगरी नौका है और यहाँ के रघुवंशी शासक कर्णधार हैं और सारे अयोध्या निवासी नौकारूढ़ यात्री है। ऐसी नाव विघ्नरूप संसार समुद्र के पार पहुँचाती है, अयोध्या निवासी भी यहाँ ऐसा सुख पाते हैं, जो वर्णन का विषय नहीं है, जो सुख भव्य और दिव्य है यानी परमानन्द मुक्ति है॥३॥

विशेषः—महाकवि ने रघुवंशी नृपतियों को कर्णधार से उपमित किया है, इससे प्रजावात्सल्य ध्वनित है। सुख वाणी से परे है, वह दिव्य और भव्य है–इससे मुक्ति की व्यंजना है॥३॥

विमानगानामपि दम्पतीनां

दांपत्यहार्दाद् हृदयं हरन्तः।

वसंति सज्जम्पतयः स्म यस्यां

रंरम्यमाणा मणिहर्म्यपृष्ठे॥४॥

यस्याम् अयोध्यायां मणिजटितानि यानि हर्म्याणि धनिभवनानि शाकपार्थिवादित्वात् समासः। तेषां पृष्ठे उपरिभागे रंरम्यमाणाः पुनः पुनरतिशयेन वा विहरन्तः रमेर्यङन्तात् शानच्। 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' इति नुक्। सज्जंपतयः सन्तः सज्जना ये जम्पतयः दंपतयः ते, जाया च पतिश्चेति विग्रहे राजदन्तादिगणे जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च निपात्यते। अत एव कविना अस्य शब्दस्य द्वैरूप्यं मूले दर्शितम्। वा-पदान्तत्वं च दर्शितम्। बहुत्वविवक्षायां सज्जंपतयः दांपत्यहार्दाद् दंपतित्वप्रेम्णा 'प्रेभा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। हेतौ पञ्चमी। विमानैः गच्छन्ति ते विमानगाः वैमानिकदेवताः। गमेर्डः। तेषामपि। अपिशब्देन अन्येषां तु का कथेति व्यज्यते। दंपतीनां हृदयं मनः हरन्त आकर्षन्तः सन्तः वसन्ति स्म न्यवसन्। 'लट् स्मे' इति स्मयोगे भूतार्थे लट्। अत्र लोकातिशयसंपत्तिवर्णनेन उदात्तालंकारः 'लोकातिशय-संपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते' इति तल्लक्षणात्॥४॥

अर्थ—इस अयोध्या नगरी में मणियों से जड़ी हुई आकाश को छूनेवाली अट्टालिकाएँ हैं, जिनकी छतों पर प्रेमी युगल रमण करते हैं, इनके सुख वैभव विलास को देखकर विमानों में बैठकर जाने वाले देव दम्पतियों के हृदय आकर्षित हो जाते हैं॥४॥

विशेषः—दम्पतियों के लिये सज्जन का विशेषण देकर उनकी सच्चरित्रता दिखाई है। साथ ही वैभव प्रभूत मात्रा में है–अतः देवदम्पती भी ठिठक कर रह जाते हैं। स्वर्ग से भी बढ़कर यहाँ वैभव है। यहाँ उदात्तालंकार है॥४॥

नागः परच्छिद्रगवेषदक्षो

रथः सदैवाऽरिसमाश्रितात्मा।

दंदह्यमानः किल यत्र धूपः

पतंश्च पक्षी, न निवासिलोकः॥५॥

किलेति प्रसिद्धवार्तायाम्। 'किल संभाव्यवार्तयोः। हेत्वरुच्योरलीके च' इति हैमः। यत्र अयोध्यायां परस्य अन्यस्य मूषकादेः यच्छिद्रं रन्ध्रं तस्य गवेषः अन्वेषणं तत्र दक्षः चतुरः नागः सर्पः, निवासिलोकः पौरजनः परस्य यच्छिद्रं दूषणं 'छिद्रं दूषणरन्ध्रयोः' इति मेदिनी। तस्य गवेषणे दक्षः न। सदा एव अरिणि चक्रे समाश्रितः आलम्बित आत्मा यत्नो यस्य सः तथाभूतः। 'रथांगं रथपादोऽरि चक्रम्' इति 'आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे। परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः॥ स्वभावे' इति चोभयत्र हैमः। ईदृशः रथः स्यन्दनः। निवासिलोकस्तु अरिं शत्रुं समाश्रितः आत्मा यस्य स एतादृशो न। दंदह्यमानः गर्हितं दह्यते इति दहेर्यङन्तात् कर्मणि शानच्। 'लुपसदचरजपजभदंहदशगृभ्यो भावगर्हायाम्' इति यङि कृते 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' इति नुगागमः स च पदान्तवद् वा। धूपः अगुर्वादिधूपः। निवासिलोकस्तु दंदह्यमानः दुःखानुभवेन दह्यमानहृदयो न। पतन् पतनगतिशीलः पक्षी निवासिलोकस्तु कुकर्मयोगेन पतन्

न। अस्तीति शेषः। अत्र निवासिलोके तस्य तस्य निषेधदर्शनेन अन्यत्र च नागादिषु नियन्त्रणेन परिसंख्यालङ्कारः। 'परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्' इति लक्षणात्॥ ५॥

अर्थ—यहाँ एक भी नागरिक ऐसा नहीं है, जो दूसरे के छिद्र या दोष देखने वाला है; हाँ, छिद्र की तलाश करने वाला एक नाग बचा है, क्योंकि वही चूहों के बिलों को देखता है और अपना निवास बनाता है। यहाँ के निवासी स्वतन्त्र एवं निर्भय है, एक भी अरि के आश्रित नहीं है; हाँ केवल अरि यानि आराओं के आश्रित रथ अवश्य है। कोई भी अरि समाश्रित नहीं—केवल रथ को छोड़कर। (अरि यहाँ श्लिष्ट है) कोई भी दुःख पीड़ा से जलता हुआ नहीं है, हाँ, जब धूप जलाई जाती है—(सुगन्ध के लिये) तो वही केवल 'दंदह्यमान' है। यहाँ का एक भी निवासी पतन की ओर नहीं जाता है, यहाँ कोई गिरा हुआ नहीं है, हाँ, 'पतन' शब्द केवल पक्षियों तक सीमित है, क्योंकि वे ही आकाश में ऊँचे उड़ते हैं और फिर नीचे उतरते हैं॥५॥

विशेषः—कवि ने 'परिसंख्या' अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया है—जिसमें किसी चीज का सब जगह से निषेध करके उसे केवल एक जगह दिखाया जाता है॥५॥

रिरंसते यत्र गृहे गृहे श्रीः
पश्यन्त्यवश्यं पुरुषोत्तमान् किम्?।
प्रथा पृथक्त्वस्य परैत्विनीव
च्छन्दात् सहानन्दति शारदाऽपि॥ ६॥

यत्र अयोध्यायां गृहे गृहे पुरुषोत्तमान् नरश्रेष्ठान् नारायणांश्च अवश्यं नित्यम् 'अवश्यं नित्यप्रयत्नयोः' इति मेदिनी। पश्यन्ती विलोकयन्ती श्रीःलक्ष्मीः रिरंसते रन्तुमिच्छति 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम्। किमिति उत्प्रेक्षासूचकमत्र ज्ञेयम्। पृथक्त्वस्य यत्र श्रीर्वसति तत्र शारदा नेति असहवासस्येत्यर्थः प्रथा प्रसिद्धिः परैतु नश्यतु इति च्छन्दात् आशयादिव शारदा सरस्वत्यपि सह श्रिया सार्धमेवेत्यर्थः आनन्दति प्रसीदति। अयोध्यागृहेषु श्रीसरस्वत्योः सहवास इति तात्पर्यम्॥६॥

अर्थ—अयोध्या के घर-घर में पुरुषोत्तमों का—(श्रेष्ठ पुरुषों का) निवास है, इसीलिये लक्ष्मी का घर-घर में निवास है। लक्ष्मी एवं सरस्वती का विरोध प्रसिद्ध है—पर, सरस्वती इस कथन को झूंठ साबित करने के लिये अपनी इच्छा से यहाँ लक्ष्मी के साथ निवास करती हुई आनन्दित हो रही है॥६॥

विशेषः—सरस्वती एवं लक्ष्मी की एकत्र स्थिति नागरिकों के वैभव एवं वैदुष्य की युगपत् सूचना है॥६॥

वाल्कैश्च कौशेयकराङ्कवैश्चाऽ-
मीभिश्च वस्त्रैर्मणिभूषणैश्च।
किर्मीरिता यत्र हि पण्यवीथ्योऽ-
मुष्णन्नपुष्णन्नथ लोचनानि॥७॥

यत्र यस्यां हि वल्कस्य विकाराः वाल्कानि तैः क्षौमैः। कौशेयानि कृमिकोशजानि पीताम्बरादीनि। 'कोशाड्ढञ्' ततः स्वार्थे कः। च राङ्कवाणि मृगरोमजानि[1] तैः 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च' इत्यण्। वस्त्रैः च पुनः अमीभिः एतैः व्यवहारबाहुल्येन ज्ञातैः कार्पासैर्वस्त्रैरित्यर्थः। इत्यनेन 'त्वक्फलकृमिरोमाणि वस्त्रयोनिः' इत्यमरोक्तसर्वविधवस्त्रयोनेर्निदर्शनम्। च पुनः मणिभूषणैः मणयश्च भूषणानि च तैः विचित्ररत्नाभरणैरित्यर्थः। किर्मीरिताः चित्रिताः 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः। किर्मीरशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिजन्तात् क्तः। पण्यवीथ्यः विपणयः। लोचनानि नेत्राणि दर्शकानामिति भावः। अमुष्णन् अहरन् शोभावैचित्र्येणेत्यर्थः। अथ च अपुष्णन् अपोषयन् चक्षुष्यवर्णदर्शनेनेत्यर्थः। हरितादयो वर्णाः नेत्रहिता इति वैज्ञानिकतत्त्वमत्रानुसंधेयम्। यो मुष्णाति स कथं पुष्णीयादिति चित्र- (विस्मय) प्रकटनात् चित्रालङ्कारः 'पद्माद्याकारहेतुत्वे चित्रं,- यच्चित्रकृच्च तत्' इति वाग्भटोक्तलक्षणात्॥७॥

अर्थ—यहाँ के बाजार तरह-तरह के ऊनी, रेशमी, सूती और तरह-तरह के मृगरोमों से बने हुए रंग-

---

1. मृगशब्देन पशुमात्रोपलक्षणम्।

बिरंगे वस्त्रों से भरे हुए हैं, रत्नों (मणियों) से जगमगाते हैं। देखने वालों की आँखों को अपनी ओर खींचते हैं, (चुराते हैं) तथा उनको प्रसन्नता से पुष्ट भी करते हैं ॥७॥

विशेषः—महाकवि ने आँखों के चुराने का वर्णन कर बाजार के वैभव को दिखाया है। साधारण चुराने वाला चुराता है, पोषण नहीं करता पर दर्शकों की आँखें वहाँ के सौन्दर्य से मुग्ध (मोहित) होती हैं तथा सुन्दर दृश्य से आनन्दित होती हैं। हरित रंग आँखों को तृप्ति प्रदान करता है-यह अनुभव का विषय और वैज्ञानिक सत्य है। इसमें विरोधाभास का चमत्कार है- जो 'मुष्णाति' (चुराता है) वह कैसे 'पुष्णाति' पोषण करता है- यही विस्मय है। यह चित्रालंकार है ॥७॥

निलीय देवैर्निशि पीयमानं
पुंगीयमानं सुयशो यदीयम्।
गतप्रतिश्रुद्भिरगारकेतु-
वंशैर्द्युनाथश्रुतिमाप्यतेव ॥८॥

देवैः निशि रात्रौ निलीय आत्मानं गोपयित्वा, लज्जयेति भावः। पीयमानं माधुर्येण कर्णेन्द्रियद्वारा आस्वाद्यमानं पुम्भिः पुरुषैः गीयमानं गानगोचरीक्रियमाणं यदीयं यस्याः अयोध्याया इदमित्यत्र 'त्यदादीनि च' इति यच्छब्दस्य वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इति छः, तस्य 'आयनेयी'-इत्यादिना ईयः। सुष्ठु शोभनं यशः (प्रधानकर्म)। गता अन्तः प्राप्ता प्रतिश्रुत् प्रतिध्वनिः येषु तथोक्ताः तैः प्रतिध्वनिमद्भिरित्यर्थः। 'स्त्री प्रतिश्रुत् प्रतिध्वाने' इत्यमरः। अगाराणां भवनानां ये केतवः पताकाः 'केतुर्द्युतिपताकयोः। ग्रहोत्पातादिचिह्नेषु' इति हैमः। तेषां वंशाः वेणवः तैः (कर्तृभिः) दिवः स्वर्गस्य यो नाथः स्वामी इन्द्र इत्यर्थः 'दिव उत्' इति दिवो वस्य उत्। तस्य श्रुतिं कर्णं (गौणकर्म) जात्या एकवचनम्। आप्यत अनीयत इव। ण्यन्तात् आप्नोतेः कर्मणि लङ्। पताकावंशा अयोध्यायशः इन्द्रकर्णे प्रापयन्ति स्मेति भावः। सुरेशादिशब्दप्रयोगेणैव सिद्धे द्युनाथशब्दप्रयोगः साकूतः। पीयमानगीयमानयोः 'घुमास्थागापा' इत्यादिना ईत्वम्। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥८॥

अर्थ—जिस अयोध्या के यश को वहाँ के रहने वाले गाते हैं और देवता रात के समय छिपकर उसे सुनने आते हैं। उस यश की प्रतिध्वनि बांस पर लहराती ऊँची पताकाओं के द्वारा स्वर्ग के अधिपति इन्द्र सुनते हैं ॥८॥

विशेषः—महाकवि ने 'वंश' शब्द को बांस और बाँसुरी के रूप में गृहीत किया है-जैसे छिद्रमय बाँस हवा से प्रतिध्वनित होते हैं-वैसे ही ये उच्च पताकाएँ स्वर्ग तक अयोध्या के यश को प्रतिध्वनित करती हैं। देवता भी रात के समय छिपकर लज्जा के कारण उसका यश सुनने धरती पर आ जाते हैं। अयोध्या स्वर्ग से बढ़कर है ॥८॥

कोदण्डविद्याकुशलैर्ग्रहेशाऽ-
न्वयानुगैः सद्रविणैर्नृपालैः।
स्मितेक्षणं या भवसागरेऽस्मि-
न्सांयात्रिकैर्नौरिव संररक्षे ॥९॥

या अयोध्या (कर्म) अस्मिन् भवसागरे संसारसमुद्रे । अयोध्यायाः संसाराब्धितरित्वं दर्शयितुमिति आह। कोदण्डविद्या धनुर्विद्या तत्र कुशलैः निपुणैः इति नृपालसांयात्रिकपक्षयोः समानम्। सांयात्रिका अपि तिमिङ्गलादिविघ्नविध्वंसाय धनुर्विद्याकुशला भवन्ति। ग्रहेशः सूर्यः तस्य योऽन्वयः वंशः तम् अनुगच्छन्ति तैः सूर्यकुलपरम्परा-नुयातैरित्यर्थः। अन्यत्र ग्रहा नक्षत्राणि 'नक्षत्रं तारका तारा ज्योतिषी भमुडुग्रहाः ॥' इत्यादि हैमः। तेषाम् ईशा नायकाः मुख्या इत्यर्थः। गुरुशुक्रादयः तेषां यः अन्वयः अनुगतिः ताम् अनुगच्छन्ति तैः। दिग्निश्चयार्थं नक्षत्रादिदर्शनानुसारगामिभिरिति भावः। सद्रविणैः पराक्रमिभिः अन्यत्र काञ्चनादिधनवद्भिः 'द्रविणं न द्वयोर्वित्ते काञ्चने च पराक्रमे' इत्युभयत्र मेदिनी। नृपालैः राजभिः (कर्तृभिः) सांयात्रिकैः पोतवणिग्भिः 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः। समुदितानां गमनं द्वीपान्तरगमनं[1] वा संयात्रा सा प्रयोजनमेषां ते

---

१. 'संपूर्वस्य यातेर्द्वीपान्तरगमने वृत्तिः' इति चाणक्यटीकेति कलिङ्गः।

सांयात्रिकाः 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठञ्। तस्य 'ठस्येकः' इति इकः। नौः तरणीव। स्मितं विकसितम् ईक्षणम् अवेक्षणं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा सावधानमित्यर्थः। संररक्षे सम्यक् अरक्ष्यत। उपमालङ्कारः ॥९॥

अर्थ—जिस प्रकार द्वीपान्तर तक यात्रा करने वाले पोत वणिक् धनुर्धारी होते हैं, तिमिङ्गलादिविघ्नों से अपनी रक्षा करते हैं–अपने द्रव्यों को बचाते हैं–उसी प्रकार सूर्यवंशी राजा भी धनुर्धारी होकर अपने पराक्रम से अयोध्या निवासियों की सावधानी से रक्षा करते हैं॥९॥

विशेष:—महाकवि ने पोतवणिक् और सूर्यवंशियों का सुन्दर ढ़ंग से सादृश्य दिखाया है॥९॥

प्रतोल्युपेतं विपणी-वितानं
तंतन्यमानोच्चगृहाः प्रतोल्यः।
लोकोपशोभीनि गृहाणि यस्यां
केलीकलासु प्रथिताश्च लोकाः ॥१०॥

यस्माम् अयोध्यायां विपणीनां पण्यवीथीनां वितानं विस्तारः 'वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पुंनपुंसकम्' इत्यादि मेदिनी। प्रतोलीभिः रथ्याभिः उपेतं युक्तं 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः। अस्तीति शेषः। प्रतोल्यः रथ्याः तंतन्यमानानि अतिशयेन पुनः पुनर्वा विस्तार्यमाणानि उच्चानि उत्तुङ्गानि गृहाणि भवनानि यासु तथाभूताः सन्तीति शेषः। गृहाणि लोकैः जनैः उपशोभन्ते तथाभूतानि, कर्तरि णिनिः। च पुनः लोकाः जनाः। केल्यः क्रीडाः च कलाः चतुष्षष्टिप्रकाराः संगीतादयः तासु प्रथिताः प्रसिद्धाः सन्तीति शेषः। अत्र एकावलिरलङ्कारः। 'गृहीतमुक्त-रीत्याऽर्थश्रेणिरेकावलिर्मता॥' इति लक्षणात्॥१०॥

अर्थ—इस अयोध्या के बाजार चारों ओर गलियों से युक्त हैं। ये गलियाँ ऊँची-ऊँची हवेलियों वाली हैं। इन सुशोभित हवेलियों में ६४ कला निधान नागरिक रहते हैं, और वे नागरिक अपनी केलिकला के लिये संसार में प्रख्यात हैं॥१०॥

विशेष:—यहाँ 'एकावली' अलंकार है, जिसमें कर्त्ता एक अर्थ को ग्रहण कर क्रम से छोड़ता जाता है॥१०॥

अथ तत्र राजा दशरथ आसीदित्याह -

गुणीन्द्रमित्रं किल तत्र पूर्णै-
णलक्ष्मलक्ष्मीशुचिकीर्तिमूर्त्या।
वान् मातरिश्वेव जगच्चरिष्णुः।
कश्चिद् नृपः पङ्क्तिरथाभिधोऽभूत्॥११॥

किल तत्र तस्याम् अयोध्यायां गुणी दयादाक्षिण्यादिगुणवान् इन्द्रस्य मित्रं सुहृद् इत्यनेन बहुमानातिशयो दर्शितः। पूर्णः परिपूर्णः यः एणलक्ष्मा मृगाङ्कः तस्य या लक्ष्मीः शोभा 'लक्ष्मीः संपत्तिशोभयोः' इत्यादि मेदिनी। तद्वत् शुचिः श्वेता या कीर्तिः यशः सैव मूर्तिः शरीरं तया (करणेन) वातीति वान् चलन् मातरिश्वा पवन इव जगत् भुवनं चरिष्णुः व्यापकः 'अलंकृञ्निराकृञ्' इत्यादिना इष्णुच्। 'न लोका०' इत्यादिना 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि प्राप्तायाः षष्ठ्या निषेधः। वायुरिव यशःशरीरेण जगद्व्यापीत्यर्थः। इत्यनेन तस्य त्रैलोक्यविदितमहिमत्वं प्रकटितम्। कश्चित् कोऽपि पंक्तिरथः दशरथः इति अभिधा नाम यस्य स तथोक्तः। पंक्तिशब्दोऽत्र दशपर्यायः 'पंक्तिविंशतित्रिंशत्' इत्यादिसूत्रनिर्देशात्। पंक्तिर्दशाक्षरच्छन्दोदशसंख्यालिषु स्त्रियाम्' इति मेदिनीप्रमाणाच्च। नृपः राजा अभूत् बभूव। रूपकोपमालङ्कारौ॥११॥

अयोध्या के राजा दशरथ थे :—

अर्थ—उस अयोध्या में दशरथ राज्य करते थे, जो गुणवान थे, इन्द्र के मित्र थे, जिनकी पूनम के (पूर्णिमा) चन्द्रमा के समान उजली कीर्ति वायु की तरह सर्वत्र व्याप्त थी॥११॥

विशेष:—यहाँ महाकवि ने दशरथ का सीधा नाम न लेकर 'पंक्तिरथ' से व्यवहृत किया है, पंक्ति का एक अर्थ दश की संख्या भी है। वायु की तरह ये राजा यशःशरीर से सर्वत्र व्याप्त थे। इससे राजा दशरथ की त्रिलोकव्यापिनी कीर्ति उजागर हुई है॥११॥
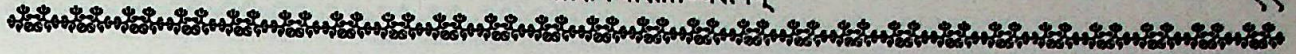
सप्तभी राजानं वर्णयन् पूर्वं तस्य वीर्यातिशयमाह -

चतुःसमुद्रैः परिमुद्रितां क्ष्मां

वीर्यस्य वीर्यातिशयेन शासत्।

य आशु वन्दीकृतितोऽपि मुक्त्वा

वान्दारवं कर्म ददे रिपुभ्यः ॥१२॥

यो दशरथः वीर्यस्य बलस्य वीर्यातिशयेन प्रभावोत्कर्षेण 'वीर्यं तेजःप्रभावयोः। शुक्रे शक्तौ च' इति हैमः। चतुः समुद्रैः सागरचतुष्टयेन परिमुद्रितां परिसीमितां क्ष्मां भूमिं शासत् शासनविषयीकुर्वन् सन् 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः। वन्दीकृतितः वन्दीकरणात् प्रग्रहबन्धनादिति भावः। आशु शीघ्रं मुक्त्वा उद्धृत्य अपि रिपुभ्यः शत्रुभ्यः वान्दारवं वन्दारोः इदं 'तस्येदम्' इत्यण्। कर्म कार्यम् अभिवादनस्तवनकार्यमित्यर्थः। ददे दत्तवान्। काराक्षिप्तान् शत्रूनचिरादेव मुक्त्वा तान् वन्दनकार्ये नियुक्तवानिति भावः। अत्र वन्दीकरणं स्तुतिपाठकीकरणम्, ततः मुक्त्वा वान्दारवकर्मणः वन्दित्वकार्यस्य पुनः प्रदानम् इति विरोधस्य आभासनाद् विरोधाभासोऽलङ्कारः। अत एव अपिरत्र विरोधद्योतकः प्रयुक्तः॥ १२॥

सात श्लोकों में राजा दशरथ के वीर्यातिशय का वर्णन है :—

अर्थ—राजा दशरथ ने अपनी वीरता के प्रभाव के उत्कर्ष से चारों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी का शासन किया। जिन शत्रुओं को इन्होंने बन्दीगृह में बन्द किया था, (बन्दी बनाया था) उन्हें शीघ्र ही कैदखाने से मुक्त करके उन्हें वंदी यानी चारण भाटों की तरह प्रशंसा करने का कर्म सौंप दिया॥१२॥

विशेषः—वंदीपना छोड़कर पुनः वन्दीपना दिया—इसमें विरोधाभास है॥१२॥

राज्ञो धार्मिकत्वप्रकर्षं प्रकटयति -

धर्मी य उत्पाद्य घनान् घनिष्ठै-

र्मखीयधूमध्वजधूपधूमैः।

र्ज्ञत्वेन काले प्रतिदर्श्य वृष्टी-

श्चमत्कृतं चारु चकार चेन्द्रम् ॥१३॥

यः धर्मी धार्मिकः दशरथः घनिष्ठैः सान्द्रतमैः 'अतिशायने तमविष्ठनौ' इति इष्ठन्। मखस्य यज्ञस्य अयं मखीयः 'गहादिभ्यश्च' इति छः। तथोक्तो यो धूमध्वजः अग्निः च धूपः पूजोपकरणधूपः च तथोक्तौ तयोः धूमाः तैः (करणैः) घनान् मेघान् 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे' इत्युभयत्रामरः। उत्पाद्य जनयित्वा, मेघसिद्धौ धूमस्योपादानप्राधान्यादिति भावः। ज्ञत्वेन तत्तद्विषयज्ञानशालित्वेन 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः' इत्येवमादिस्थितिपरिज्ञान-पारंगतत्वेनेति भावः। वृष्टीः वर्षणानि प्रतिदर्श्य प्रकटय्य च पुनः इन्द्रं मेघवर्षणाधिष्ठातृदेवं चमत्कृतम् आश्चर्यान्वितं चारु शोभनं यथा स्यात्तथा चकार कृतवान्॥१३॥

राजा का धर्म प्रेम :—

अर्थ—धार्मिक राजा दशरथ ने इतने अधिक यज्ञ किये कि उनके अग्नि धूम से ही बादलों की सृष्टि हो जाती तथा वर्षा हो जाती, इससे वर्षा के अधिष्ठाता इन्द्र को चमत्कृत कर उसे शोभनता प्रदान की॥१३॥

विशेषः—राजा को यह ज्ञान था कि यज्ञों से ही मेघ बनते हैं। ''यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'' ॥१३॥

तस्य कीर्तिप्रतापयोर्महिमानमाह -

कृपाणकीर्तिः समकीर्ति यस्य

तथा प्रतापः प्रथितः कवीन्द्रैः।

ज्ञमण्डली चाऽहितमण्डलीत-

श्चमच्चकारापिच चीच्चकार॥ १४॥

कवीन्द्रैः कविवरैः यस्य दशरथस्य कृपाणकीर्तिः खड्गप्रभवं यशः समकीर्ति सम्यक् कीर्तिता वर्णितेत्यर्थः। तथा पुनः प्रतापः कोशदण्डजं तेजः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्॥' इत्यमरः। प्रथितः प्रख्यातः। यद्वा बृहदर्थवाचकात् पृथुशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि तस्य च इष्ठवत्कार्यनिर्देशात् 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति

ऋकारस्य रत्वम्। विस्तारित इत्यर्थः। तेन किं सिद्धमित्यत आह इतः अस्मात् कारणात् ज्ञमण्डली पण्डितवर्गः चमच्चकार विस्मितवान्। राज्ञो राजत्वस्य कवीनां कवित्वस्य चातिशयेनेति भावः। च पुनः अहितमण्डली शत्रुवर्गः चीच्चकार चीत्कारं कृतवान्। कीर्तिप्रतापातिशयश्रवणजन्येन भयेनेति भावः। अत्र ज्ञमण्डल्याः चमत्कारेण अहितमण्डल्याः चीत्कारेण च समं क्रमप्रदर्शनेन यथासंख्यालङ्कारः 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः' इति लक्षणात्॥ १४॥

कीर्ति व प्रताप का वर्णन :—

अर्थ—बड़े-बड़े कवियों ने राजा की कृपाण कीर्ति का यानी तलवार से अर्जित की हुई कीर्ति का तथा साथ ही कोश एवं दण्ड के प्रताप का खूब वर्णन किया, जिसे सुनकर जो विद्वन्मण्डली थी वह तो चमत्कृत हुई; जो शत्रु थे वे भय के मारे चीत्कार करने लगे॥१४॥

विशेष:—यहाँ पर कवि ने 'यथासंख्य' अलंकार का प्रयोग किया है। ज्ञमण्डली एवं अहित मण्डली के लिये क्रमशः दो क्रियाएँ रखी हैं— चमच्चकार तथा चीच्चकार॥१४॥

तस्य विद्वत्तां श्रीमत्तां तत्फलं च वर्णयति -

सरस्वती श्रीरपि लोकनेते-

त्यवेत्य यं नात्यजतां कदापि।

वाक्-पेशलैश्चार्थिभिराश्रितोऽतो

यो बर्हिभिश्चातककैर्यथाऽब्दः॥१५॥

सरस्वती अपि च श्रीः लक्ष्मीः यं दशरथं लोकनेता जनेशः लोकेशश्च इति अवेत्य ज्ञात्वा कदापि कदाचिदपि न नहि अत्यजताम् अमुञ्चताम्। सरस्वती लोकनेता ब्रह्मा इति, लक्ष्मीश्च लोकनेता हरिरिति मत्वा नात्यजतामिति भावः। 'लोकेश्वरो जनपतौ विष्णौ च ब्रह्मणीश्वरे' इति संसारावर्तः। इवशब्दानुपादाने एषा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। तेन किं फलितमित्यत आह-अतः, अस्मात् कारणात् यः वाक्पेशलैः वाचोयुक्तिनिपुणैः च पुनः अर्थिभिः याचकैः आश्रितः आलम्बितः। सूक्तिविज्ञतया वाग्मिनः लक्ष्मीवत्तया च याचका यम् आश्रितवन्तः इति भावः। अत्रोपमिमीते - यथा यद्वत् बर्हिभिः मयूरैः चातककैः वप्पीहैः अब्दः मेघः आश्रीयत इति शेषः। 'अब्दो मेघे च वत्सरे' इति मङ्खः। प्रियकेकत्वेन मयूरा वाक्पेशलस्थानीयाः, चतन्ति याचन्ते जलबिन्दुम् इति चातकाश्च याचकस्थानीयाः। चातका एव चातकका इति स्वार्थे कन्॥ १५॥

अर्थ—सरस्वती एवं लक्ष्मी ने इनको लोकनेता (सरस्वती के लिए लोकनेता का अर्थ है ब्रह्मा तथा लक्ष्मी के लिये लोकनेता का अर्थ है विष्णु) मानकर कभी भी छोड़ा नहीं। इसका फल यह है कि मधुरवाणी वाले विद्वानों ने तथा याचना करने वालों ने इनका सहारा ग्रहण किया। राजा के पाण्डित्य के कारण विद्वान् और दानशील सम्पत्तिशाली होने से याचक एक साथ इनका सहारा लेते थे॥१५॥

विशेष:—प्रिय केका ध्वनि से मयूर वाक्पेशल स्थानीय हैं और 'चतन्ति याचन्ते जल विन्दुम् इति चातकाः' ये याचक स्थानीय हैं॥१५॥

अधुना राज्ञो जित्वरतातिशयं व्यनक्ति-

दृष्टं तदाऽहो रिपुहृद् विदीर्णं

ढक्का यदाऽताडि जयाय यस्य।

व्रजत्यथो यः स्म युधेऽतिदूरेऽ-

तः श्रान्तिमश्रान्तमरिस्त्रियोऽधुः॥१६॥

यस्य दशरथस्य यदा यस्मिन् काले जयाय शत्रुविजयाय ढक्का विजय-पटहः अताडि ताड्यते स्म। तदा तस्मिन् काले। अहो इत्याश्चर्ये। रिपूणां शत्रूणां हृद् हृदयं विदीर्णं भिन्नं 'भयहेतोरितिभावः' दृष्टं दृश्यते स्म। उपचारेण दृशेः प्रयोगः। ज्ञातमित्यर्थः। अथो इति समुच्चये। यः दशरथः युधे युद्धार्थं, तादर्थ्ये चतुर्थी अतिदूरे बहुदूरे व्रजति स्म गच्छति स्म, अतः अस्मात् कारणात् श्रान्तिं खेदम् अरिस्त्रियः शत्रुनार्यः अश्रान्तम् अनवरतम् अधुः धृतवत्यः। अत्र ताडनं तु ढक्कायाः विदीर्णता च हृदयस्य तथा अतिदूरगमनं राज्ञः श्रान्तिस्तु रिपुस्त्रीणामिति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्व-दर्शनात् असंगतिरलङ्कारः। तल्लक्षणं 'विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः॥' इति ॥१६॥

राजा की विजयशीलता का वर्णन :—

अर्थ—राजा दशरथ जब युद्ध प्रयाण के लिये नगारा बजवाते तो शत्रुओं के हृदय विदीर्ण हो जाते थे और ये जब युद्ध-यात्रा करते तो शत्रुओं की स्त्रियाँ थककर चूर हो जाती थी॥१६॥

विशेषः—इस श्लोक में असंगति अलंकार है। असंगति में कारण कहीं होता है तो कार्य कहीं। यहाँ पर चोट तो पड़ी नगारों पर और फटा शत्रुओं का हृदय। यात्रा तो की दशरथ ने और श्रान्ति (थकान) आई शत्रुनारियों को॥१६॥

विजयप्राप्तिसमकालिकीं यशःप्राप्तिं वर्णयति -

चारूपगूढाद् विजयश्रिया प्राग्

रिरंसमानाऽऽशु यतो यशःश्रीः।

वेपे मनाग् नैव पणाङ्गनेवै-

णलाञ्छनाद् रात्रिरिवोढतारात्॥ १७॥

आशु शीघ्रं रिरंसमाना विहर्तुमिच्छन्ती यशःश्रीः कीर्तिलक्ष्मीः विजयश्रिया जयलक्ष्म्या प्राक् पूर्वं चारु शोभनं यथा स्यात्तथा उपगूढात् आलिङ्गितात् यतः यस्माद् दशरथात् मनाक् ईषदपि नैव त्रेपे लज्जिता 'तॄफलभजत्रपश्च' इत्येत्त्वम् अभ्यासलोपश्च। 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति अपादाने पञ्चमी। यं वीक्ष्य मनागपि न त्रेपे, किन्तु रमणसाहसं कृतवतीति भावः। तत्र उपमिमीते-पणाङ्गना इव वेश्येव । साऽपि एकया समाश्लिष्टात् कामिनो न शङ्कते। पुनः पूर्णतया उपमिमीते-ऊढा गृहीता तारा उपचारतो रोहिणी येन तथाभूतात् एणलाञ्छनात् मृगाङ्कात् रात्रिः निशा इव। यथा आलिङ्गितरोहिणीकाच्चन्द्रात् उपागच्छन्ती रात्रिर्न त्रपते तथा साऽपि नैव त्रेपे इति भावः। अत्र विजयप्राप्तिसमकालयशःप्राप्तिरूपे प्रस्तुते वर्ण्यमाने विजयलक्ष्म्यालिङ्गनादिनायिकाव्यवहाररूपस्य अप्रस्तुतस्य परिस्फूर्तिर्दर्शिताऽतः समासोक्तिः। 'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्॥' इति लक्षणात् ॥१७॥

विजय प्राप्ति के साथ ही यशप्राप्ति :—

अर्थ—राजा दशरथ के विजयश्री प्राप्ति के पहले ही यशःश्री उनका आलिंगन करने में जरा भी लज्जित नहीं होती है। (यानी विजय प्राप्ति के पहले ही उनका यश फैल जाता था।) जैसे वेश्या आलिंगन में लज्जित नहीं होती है॥१७॥

विशेषः—जैसे चन्द्रमा के पास उसकी प्रिया रोहिणी होती है, पर रात्री रूप चन्द्रप्रिया तुरन्त आकर चाँद का आलिंगन कर लेती है, जरा भी लाज नहीं करती॥१७॥

अन्ते प्रजानुरागं प्रकटयति -

चकोरपाल्येव चकोरबन्धुः

कोकव्रजेनेव च कोकबन्धुः।

युक्तं प्रजौघेन प्रजाभृदित्यु-

क्तः सिष्णिहे यः सुखदः पितेव ॥१८॥

प्रजाभृत् जनपालक इति उक्तः यः दशरथः (कर्म) सुखदः पिता इव प्रजानां जनानाम् ओघः समूहः तेन (कर्त्री) सन्ततिसमुदायेनेति ध्वन्यते। 'प्रजा स्यात् संततौ जने' इत्यमरः। सिष्णिहे अस्निह्यत इति युक्तम् उचितम्। पाल्यपालकसम्बन्धादिति भावः। अत्रोपमाद्वयमाह - चकोराणां ज्योत्स्नाप्रियाणां 'ज्योत्स्नाप्रिये, चलचंचुचकोरविषसूचकाः' इति हैमः। पालिः पंक्तिः तया 'पालिः कर्णलताग्रेऽश्रौ पंक्तावङ्कप्रभेदयोः' इति मेदिनी। चकोरबन्धुः चन्द्र इव। च पुनः कोकानां चक्रवाकाणां व्रजेन समूहेन 'गोष्ठाऽध्वनिवहा व्रजाः' इत्यमरः। कोकबन्धुः सूर्य इव 'बन्धुः कोकाब्जयोः पूषेन्दुः कैरवचकोरयोः' इत्युभयत्र सौभरिः प्रमाणम्। 'प्रजौघेन' अत्र संयोगपरस्यापि नकारस्य 'प्रहे वा इति नियमात् लघुत्वमेव ज्ञेयम्॥१८॥

अर्थ—प्रजा के पालक राजा दशरथ सारी प्रजा के लिये सुख देने वाले पिता की तरह स्नेह करते थे। जैसे चन्द्रमा को चकोरों का समूह और सूर्य को चकवा-चकवी का समूह चाहता है—उसी प्रकार सारी प्रजा दशरथ को चाहती थी॥१८॥

अथ कथां प्रस्तौति-

स वार्द्धकेऽपुत्रतया धृताधि-

र्वशिष्ठमाहूय गुरुं कदाचित्।

भूत्वाऽतिनम्रोऽकथयत् स्वमाधिं

तेजस्विनां ह्याश्रयणं तपस्वी ॥१९॥

स दशरथः वार्धके वृद्धत्वे "द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" इति वुञ्। "वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि" इति विश्वः। अपुत्रतया पुत्ररहितत्वेन धृताधिः धारितमनोव्यथः कदाचित् गुरुं वशिष्ठम् आहूय आमन्त्र्य अतिनम्रः अतिविनीतः भूत्वा स्वम् आत्मीयम् आधिं मनोव्यथां "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमरः। अकथयत् प्रकटयांचकार। अत्र अर्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः तेजस्विनां महस्विनां तपस्वी तापसः आश्रयणम् अवलम्बनं भवतीति शेषः। उभयत्र "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति विनिः। अत्र विशेषस्य पादत्रयगतस्य सामान्येन चतुर्थपादगतेन अर्थेन समर्थनात् अर्थान्तरन्यासः। "उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः" इति लक्षणात् ॥१९॥

कथा प्रारम्भ :—

अर्थ—राजा दशरथ वृद्ध हो गये; पर उनको पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन इस मानसिक पीड़ा से व्याकुल होकर इन्होंने कुलगुरु वसिष्ठ को बुलाया और अत्यन्त विनम्रता से अपनी मनोव्यथा को प्रकट किया। यह उचित है-तेजस्वी लोग तपस्वी का ही आश्रय ग्रहण करते हैं॥१९॥

विशेषः—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' है। इसमें विशेष का सामान्य से समर्थन किया गया है॥१९॥

षुधातुवद् मे विविधार्थिनोऽपि

कोऽस्त्यन्तरायो नु सुतो न सिध्येत्।

हितानि साम्राज्यसुखानि यानी-

तः कारणात् सन्त्यहितानि तानि ॥२०॥

षुधातुवत् षुधातोरिव "तत्र तस्येव" इति वत्। विविधार्थिनः अनेकवस्तुमतः। धातुपक्षे नु स्नानस्नपनपीडनसुरासंधानाद्य[1]भिधेयवतः इति बोध्यम्। अपि मे मम। नु इति प्रश्ने। कः अन्तरायः विघ्नः, यदिति शेषः। सुतः पुत्रः न सिध्येत् जायेत। अनेकार्थवतः षुधातोस्तु 'सुतः' क्तप्रत्यये सिध्यति, परं मम न सिध्यति, अत्र को नाम विघ्न इति भावः। इतः कारणात् यानि हितानि अनुकूलानि साम्राज्यस्य सुखानि तानि अहितानि प्रतिकूलानि दुःखदत्वादिति भावः। सन्ति वर्तन्ते॥२०॥

अर्थ—जैसे 'षु' धातु के क्त प्रत्यय लगने से 'सुत' यह सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार विविधार्थों से सम्बन्ध रखने वाले मुझे सुत (पुत्र) नहीं प्राप्त हो रहा है। पता नहीं क्या बाधायें हैं ? इस कारण से साम्राज्य के सारे हितकारी सुख अहितकारी हो जाते हैं; यानी दुःखद हो रहे हैं॥२०॥

पुत्रलाभे पर्याप्तसाधनादन्तःपुरात् स्वकीयां विरक्तिमाह-

विद्वद्वरायाऽबुधलोकगोष्ठी-

वान्तःपुरश्रीर्नहि रोचते मे।

कः स्तौति गार्हं ह्यनवाप्य पुत्रं

कः स्वस्तरुं नौति फलं ह्यलब्ध्वा ॥२१॥

विद्वद्वराय पण्डितश्रेष्ठाय अबुधलोकानां मूढजनानां गोष्ठी वार्तालाप इव मे महाम् अन्तःपुरश्रीः अन्तःपुरसंपत्तिः "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः। नहि नो रोचते प्रतिभाति। "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति 'मे' इत्यत्र संप्रदानम्। अत्र अर्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः कः (जनः) पुत्रम् अनवाप्य अलब्ध्वा गार्हं गृहस्थतां स्तौति प्रशंसति। एतदेव प्रकारान्तरेण दृष्टान्तयति-हि यतः कः (जनः) फलम् अलब्ध्वा अप्राप्य स्वस्तरुं कल्प[2] वृक्षं नौति प्रशंसति॥२१॥

अर्थ—जैसे विद्वान् को मूर्ख मण्डली नहीं

---

१. आदिशब्दात् "षु प्रसवैश्वर्ययोः" इत्यत्र कथितयोः प्रसवैश्वर्ययोर्ग्रहणम्, तस्यापि 'षु' रूपत्वात्। आद्यो-च्चारितस्य 'षु' रूपस्य हि मूले निर्देशः।

२. कल्पवृक्षपदम् एतत्सर्गनामोपलक्षणम्।

सुहाती, इसी प्रकार पुत्र के अभाव में रनिवास की सारी श्री मुझे अच्छी नहीं लगती है। गृहस्थ जीवन की भी पुत्र के अभाव में कौन प्रशंसा करेगा ? चाहे कल्पतरु भी क्यों न हो, यदि उससे फल प्राप्ति न हो तो कौन उसकी तारीफ के पुल बाँधेगा॥२१॥

सपुत्र एव मनुष्यो धन्य इत्याह—

स एव मान्योऽस्ति स एव धन्यो

मर्त्यः सुतो यस्य सुतोषहेतुः।

थकारलिप्यामिव यस्य लिव्या-

श्चञ्चत्सुताङ्केऽधिकताऽसुताङ्कात्॥२२॥

स एव मर्त्यः मनुष्यः मान्यः सम्मांनार्हः अस्तीति शेषः। स एव च धन्यः धन्यवादार्हः। यस्य सुतोषः आनन्दः तस्य हेतुः कारणं सुतः पुत्रः अस्तीति शेषः। यस्य यकारस्य लिव्याः लिप्याः अपेक्षाकृताधिक्ययोगे पञ्चमी "लिपिर्लिविरुभे स्त्रियौ" इत्यमरः। यकारलिपेरपेक्षयेत्यर्थः। थकारस्य थवर्णस्य लिप्याम् अक्षरविन्यासे इव अविद्यमानः सुतः पुत्रः अङ्के उत्सङ्गे यस्य तथोक्तः तस्मात् तदपेक्षयेत्यर्थः। चञ्चन् चञ्चलीभवन् सुतः पुत्रः अङ्के उत्सङ्गे यस्य स तथोक्तः तस्मिन् अधिकता विशेषताऽस्तीति शेषः। यथा यकारापेक्षया थकारे अर्धकङ्कणाकारचिह्नस्य आधिक्येन विन्यासो भवति तथा पुत्रशून्याङ्कस्य मनुष्यस्य अपेक्षया सपुत्राङ्कमनुष्ये पुत्रस्याधिक्येन अधिकतैवेति तात्पर्यम्॥२२॥

सपुत्र मनुष्य ही धन्य है :—

अर्थ—जिस मनुष्य के पुत्र है, वही मान्य है, वही धन्य है। वही उसके सन्तोष का हेतु है। जिस प्रकार लिपि में 'य' कार की अपेक्षा 'थकार' विशेष गौरवमय है। 'य' और 'थ' में अन्तर है–य के ऊपर जब अर्द्धकंकणाकार चिह्न लग जाता है तो 'थ' बनता है– इसी प्रकार अपुत्र मनुष्य से वह मनुष्य गौरवमय है– जिसके गोद में पुत्र आकर शोभा बढ़ाता है। एक गोद खाली है, एक भरी है–अतः भरी गोद का ही गौरव है॥२२॥

कर्णे गृहीत्वैव तथोक्तमन्त-

श्चैत्येऽस्य शान्तोऽर्पयति स्म शान्तिम्।

कः प्राणभूतः श्रवणेन हृत्वा

प्रियाधिभारं न लघूकरोति॥२३॥

तथा तेन प्रकारेण उक्तं कथितम् एतत्पूर्वोक्तमिति भावः। कर्णे श्रवणे गृहीत्वा आदाय एव श्रवणसमकालमेवेत्यर्थः। शान्तः मुनिः वसिष्ठ इति यावत्। अस्य दशरथस्य अन्तश्चैत्ये चेतोमंदिरे शांतिं व्याकुलतोपशमम् अर्पयति स्म ददाति स्म। मुनेराधिश्रवणेनैव राज्ञश्चित्ते शान्तिर्जातेति तात्पर्यम्। एतदेव अर्थान्तरेण द्रढयति कः प्राणभूतः प्राणोपमः (जनः) "भूतं सत्योपमानयोः' इत्यादि हैमः। श्रवंणेन श्रुतिद्वारा प्रियस्य स्ववल्लभस्य आधिभाग[illegible]। मनोव्यथाभारं हृत्वा आकृष्य न नहि ल[illegible]करोति लघयति। प्रियस्य श्रवणमात्रेण मानसिकचिन्ताभारो लघुर्भवतीति भावः। च्विप्रत्ययान्तस्य लघुशब्दस्य "च्वौ च" इति दीर्घः। अधिभारम् अधिकभरं लघूकरोतीति ध्वन्यते। अत्र वचनग्रहणेन शान्तिप्रदानम् इति विनिमयदर्शनात् परिवृत्तिरलङ्कारः। "परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः" इति लक्षणात्॥२३॥

अर्थ—राजा दशरथ की इन बातों को शान्त मुनि ने सुनकर ही राजा के हृदयमन्दिर में शान्ति प्रदान कर दी। कौन ऐसा प्राणप्यारा है, जो अपने प्रिय की बात को सुनकर उसके व्यथित मन को हल्का नहीं करता, और कोई भी व्यक्ति जब अपनी व्यथा को अपने प्रिय को सुनता है और प्रिय सुन लेता है तो सुनने मात्र से व्यथित मन हल्का हो जाता है॥२३॥

विशेषः—इसमें परिवृत्ति अलंकार है–जहाँ न्यून और अधिक में विनिमय होता है॥२३॥

अथ मुनेर्वचनमाह—

यमी प्रकुर्वन्निव भूपचित्ताऽऽ-

दर्शं प्रसन्नं रदकान्तिभूत्या।

शनैरवादीदिति पूर्वजन्मै-

नःकोप इन्दोरिव लक्ष्म ते स्यात्॥२४॥

यमः नित्यकर्मः 'नित्यं यत्कर्म तद् यमः' इत्यमरः। सोऽस्यास्तीति यमी मुनिर्वशिष्ठः रदानां दन्तानां या कान्तिः द्युतिः सैव भूतिः भस्म तया 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। भूपस्य राज्ञो यच्चित्तं मनः तदेव आदर्शः दर्पणः तं प्रसन्नं स्वच्छं मुदितं च प्रकुर्वन् संपादयन् इव शनैः मन्दं प्राकृता न शृण्वन्त्वित्याशयेनेति भावः। इति इत्थम् अवादीत् अकथयत्। "वदव्रजहलन्तस्याचः" इति नित्यं वृद्धिः। इन्दोः चन्द्रस्य लक्ष्म कलङ्क इव ते तव पूर्वजन्मनः प्राग्भवोपार्जित इत्यर्थः। एनःकोपः पापप्रकोपः स्याद् भवेत्। संभावनायां लिङ्। अत्रोपमारूपकोत्प्रेक्षाणां संमेलात् संकरः ॥२४॥

अर्थ—संयमी मुनि ने अपने उजले दाँतों की कान्ति से राजा के मनरूपी दर्पण को निर्मल बनाकर प्रसन्न करते हुए कहना शुरु किया 'हे राजन् ! कहीं आपके पूर्व जन्म के किसी पाप का प्रकोप है। जैसे चन्द्रमा में काला धब्बा है। यहाँ सम्भावना प्रकट की है॥२४॥

पापनिराकरणोपायमाचष्टे—

आत्मार्थसिद्ध्यायिति यायजूक

मखं कुरुष्वाघमपाकुरुष्व।

वान् किं परागं न मरुत् परास्येत् ?

कोऽर्थः सतामुद्यमिनां न साध्यः? ॥२५॥

इति अतः कारणात् 'इति हेतौ प्रकाशने' इत्यादि मेदिनी। हे यायजूक ! पुनः पुनरतिशयेन वा यजते इति विग्रहे 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि कृते 'यजजपदशां यङः' इत्यूकः। भो यजनशील ! 'इज्याशीलो यायजूकः' इत्यमरः। आत्मनः स्वस्य योऽर्थः प्रयोजनं तस्य सिद्ध्यै साफल्याय मखं यज्ञं कुरुष्व विधेहि, अघं पापम् अपाकुरुष्व दूरीकुरु। अत्र दृष्टान्तयति वान् वहन् मरुत् पवनः किं परागं पुष्परेणुं न नहि परास्येत दूरीकुर्यात्? अपितु अवश्यमेव। अत्रार्थान्तरेण पूर्वोक्तं समर्थयते-उद्यमिनाम् उद्योगवतां सतां सज्जनानां कः अर्थः प्रयोजनं न साध्यः साधयितुं शक्यः। अपितु सर्वोऽपीति भावः। 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति 'सताम्' इत्यत्र षष्ठी॥२५॥

अर्थ—पाप निवारण का उपाय। हे यजनशील नृपते ! अपने कार्य की सिद्धि के लिये यज्ञ करो और पाप हटाओ। क्या बहती हुई हवा फूलों के पराग को दूर नहीं करती ? उद्यमशील महापुरुषों की कौन सी अभिलाषा सिद्ध नहीं होती ?॥२६॥

जिष्णुस्तदाकर्ण्य तदा बभूव

तनूभवद्-भूरि-तनूभवाऽऽधिः।

क्रोधी यथा बोधगिरं निशम्याऽ-

धोभूतसंभूतप्रभूतकोपः ॥२६॥

जिष्णुः जयनशीलः स राजा तदा तस्मिन् काले तद् आकर्ण्य श्रुत्वा तनूभवन् कृशीभवन् भूरिः बहुः तनूभवस्य पुत्रस्य आधिः मनोव्यथा यस्येति तथोक्तः बभूव अभूत्। तस्य आधिः लघूभवितुं प्रारभते स्मेति भावः। अत्रोपमिमीते-यथा क्रोधी कोपवान् बोधगिरं शिक्षावाणीं निशम्य अधोभूतः लघूभूतः संभूतः पूर्वजातः प्रभूतः बहुलः कोपः यस्य स तथोक्तः भवतीति शेषः ॥२६॥

अर्थ—विजयशील राजा ने जब यह सुना तो उसकी पुत्र के न होने से बढ़ी हुई मानसिक पीड़ा कम होने लगी, जैसे किसी भयंकर क्रोधी का क्रोध उपदेशवाणी को सुनकर हल्का होने लग गया हो॥२६॥

राज्ञ ऋष्यशृङ्गानयनमाह—

द्युत्वा सुमन्त्रार्यगिरा क्रियाऽनु-

तिष्ठासयाऽऽनीय च ऋष्यशृङ्गम्।

मान्द्यं त्यजन् प्रास्तुत राट् स यष्टुं

को वा विलम्बेत शुभं विधातुम् ॥२७॥

स राट् राजा दशरथः सुमन्त्रः तन्नामा परम्परागतो मन्त्री च आर्या वशिष्ठादयः तेषां गिरा वचनेन, अनेन सुमन्त्रप्रोक्तायाः सनत्कुमारतः श्रुतायाः कथायाः निर्देशः। द्युत्वा, संमुखं गत्वा रोमपादर-क्षितमङ्गदेशमिति भावः "द्यु अभिगमने' इत्यस्य रूपम्। च पुनः क्रियाणां यज्ञकर्मणाम् अनुतिष्ठासया

अनुष्ठातुमिच्छया ऋष्यशृङ्गं तदाख्यं शान्तापतिं मुनिम् आनीय सह आगमय्य। "च ऋष्यशृङ्गम्" अत्र "ऋत्यकः" इति पाक्षिकः संध्यभावः। मान्द्यं मन्दतां कार्यसंपादने आलस्यमित्यर्थः। त्यजन् मुञ्चन् यष्टुं यज्ञं कर्तुं प्रास्तुत प्रारभत। "शकधृषज्ञाग्ला" इत्यादिना तुमुन्। अत्र अर्थान्तरं न्यस्यति-को वा जनः शुभं श्रेयः कार्यं विधातुं कर्तुं विलम्बेत चिरयेत् ? न कोऽपीति भावः। अत्र ऋष्यशृङ्गानयने सुमन्त्रोक्ता पुरातनी कथा रामायणतोऽनुसंधेया॥२७॥

अर्थ—मन्त्री सुमन्त्र और वसिष्ठादि की श्रेष्ठवाणी के अनुसार राजा दशरथ रोमपाद शासित अङ्ग देश में जाकर शान्ता के पति ऋष्यशृंग को यज्ञार्थ बुला लाया और यज्ञ के कार्य में शिथिलता को दूर कर पुत्रेष्टि यज्ञ को प्रारम्भ किया। कौन ऐसा होगा जो शुभ कार्य के सम्पादन में विलम्ब करेगा ?॥२७॥

विशेष—यह कथा वाल्मीकीयरामायण में विस्तार से वर्णित है, उसका यह तथ्यपरक कथन है॥२७॥

नम्रैस्तदानीं दिवि रावणार्त्तैः

सूपासितो देवगणै रमेशः।

यत्तं क्षितौ हन्तुमवातितीर्षत्

कः प्राकृतस्तत् क्षमते स्म बोद्धुम्॥२८॥

तदानीं यजनसमये दिवि स्वर्गे रावणेन दशमुखेन आर्त्तैः पीडितैः नम्रैः विनीतैः देवगणैः सूपासितः सुतराम् आराधितः रमेशः लक्ष्मीपतिः यत् तं रावणं हन्तुं मारयितुं क्षितौ भुवि अवातितीर्षत् अवतरितुमैच्छत्। तत् बोद्धुं ज्ञातुं कः प्राकृतः पृथग्जनः क्षमते स्म शक्नोति स्म। न कोऽपीत्यर्थः। स व्यतिकरः प्राकृतजनानामगम्य एवासीदिति भावः॥२८॥

अर्थ—उसी समय दशमुख रावण के अत्याचारों से व्याकुल देवताओं ने जब स्वर्ग में हाहाकार किया और उनसे सुष्ठु प्रकार से आराधित विष्णु ने उसे मारने के लिये पृथ्वी पर अवतार लेने की इच्छा प्रकट की, साधारण प्राकृत जन इसको कैसे जान सकता है ?॥२८॥

द्वाभ्यां दिव्यस्य नरस्य प्रकटनं, राजानं प्रति कथनं चाह—

कश्चिन्नरोऽग्नेर्निरितो मखान्ते

स्यन्नोजसा धूमजमन्धकारम्।

बिभ्रद् भृतं पायसमेकपात्रेऽ-

भ्यधत्त चित्रं च समं व्यधत्त॥२९॥

मखस्य यज्ञस्य अन्ते समाप्ति-समये ओजसा तेजसा धूमजं धूमजन्यम् अन्धकारं तिमिरं स्यन् नाशयन् एकपात्रे एकस्मिन् भाजने भृतं पूर्णं पायसं परमान्नं बिभ्रत् धारयन् अग्नेः यज्ञपावकात् निरितः निर्गतः कश्चित् नरः प्राजापत्यः पुरुषः अभ्यधत्त अकथयत्। च पुनः समं सहैव चित्रम् आश्चर्यं दर्शकानामिति भावः। व्यधत्त अजनयत्॥२९॥

अर्थ—यज्ञ की समाप्ति पर कोई दिव्य पुरुष अपने ओज से यज्ञाग्नि के धूमजनित अन्धकार को चीरता हुआ, भुजाओं में पायसपूर्ण पात्र लेकर प्रकट हुआ और कहने लगा। दर्शकों को उसने आश्चर्य में डाल दिया॥२९॥

तिसृभ्य एतद् नृपते ! प्रियाभ्यो

देहि श्रुतिश्राव्यपदाभिधाभ्यः।

वारीव गाङ्गं भुव आप्य यत् ता-

श्चतुष्फलानीव धरन्तु गर्भान्॥३०॥

भो नृपते राजन् ! श्रुतिभ्यां कर्णाभ्यां श्राव्याणि श्रवणार्हाणि पदानि शब्दाः यासां तास्तथोक्ताः। "पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदेशयोः। पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः। श्लोकपादेऽपि च क्लीवं पुंल्लिङ्गः किरणे पुनः॥" इति मेदिनी। ईदृश्यः अभिधा नामानि यासां तास्तथोक्ताः ताभ्यः। कर्णप्रियनामभ्य इत्यर्थः। ध्वन्यर्थस्तु-श्रुतिसंख्यया वेदसंख्यया श्राव्याणि इति शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपिनि कर्मधारये कृते पश्चात्पूर्वोक्तः समासविधिः। चतुष्परिमितपदनामभ्य इति भावः। "कौशल्या" इत्येकपदं "कैकेयी" इत्यपि एकपदं "सु-मित्रा" इत्येतत्तु द्विपदम् एवं चतुष्परिमितपदनामवतीभ्य इति तात्पर्यम्। इत्यनेन

पदद्वयाङ्कितनाम्ने सु-मित्रायै वारद्वयेन भागद्वयं दातव्यमित्याशयः। तिसृभ्यः त्रिसंख्याकाभ्यः प्रियाभ्यः वल्लभाभ्यः 'प्रिया' शब्दस्य साकूतत्वेन विद्यमानास्वपि अन्यासु बहुषु पत्नीषु याः स्वप्रियाः तिस्रः कौशल्यासुमित्राकैकेय्यः ताभ्य एवेत्याशयः। एतत् संमुखस्थं पायसं देहि प्रयच्छ। भुवः स्वर्मर्त्य पातालभुवः तिस्रो जगत्यः। गाङ्गं गङ्गाया इदं वारि जलम् इव, ताः त्वत्प्रियाः यत् (पायसं कर्म) आप्य लब्ध्वा चतुष्फलानि धर्मार्थकाममोक्षानिव गर्भान् भ्रूणान् धरन्तु धारयन्तु। यथा जगत्यो गङ्गाजलं प्राप्य चतुष्फलानि सुवते, तथा ता अपि एतत्पायसं प्राप्य (पीत्वा) पुत्रचतुष्टयं सुवतामिति भावः। उपमालंकारः ॥३०॥

अर्थ—हे राजन्! तुम अपनी तीन प्रियाओं को जो वेदत्रयी की तरह तीन हैं और जो चार पदवाली हैं, उन्हें यह खीर दे देना। जैसे तीन लोकों में स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल में वहने वाली त्रिपथगा गंगा–चारों फल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करती है उसी प्रकार तुम्हारी तीन रानियाँ गर्भ को धारण करेगी। जिनसे चार पुत्रों का प्रसव होगा ॥३०॥

विशेष—श्रुति–वेदत्रयी है-इसी प्रकार रानियाँ भी तीन है। 'कौशल्या' एक पद, 'कैकेयी' एक पद, पर 'सुमित्रा' दो पद से युक्त है इसी अनुपात से पायस का विभाजन हो ॥३०॥

दिव्यस्य नरस्यान्तर्धानमाह—

जाज्वल्यमानाज्ज्वलनाज्ज्वलन् स
तथाऽभिधायाशु तिरोबभूव।
रोचिर्निधे रोचिरिवोज्जजृम्भे
षट्कर्मतेजस्तु तपःप्रभावात् ॥३१॥

ज्वलन् दीप्यमानः स प्राजापत्यनरः तथा तेन प्रकारेण अभिधाय कथयित्वा जाज्वल्यमानाद् देदीप्यमानात् ज्वलनात् पावकात् अपादाने पञ्चमी, आशु शीघ्रं तिरोबभूव अन्तर्दधौ। अत्र प्रसंगे ब्राह्मणानां तेजोऽतिशयमाह–षट्कर्मणां ब्राह्मणानां तेजस्तु तपःप्रभावात् स्वकीयतपस्याप्रभावेण रोचिर्निधेः सूर्यस्य रोचिर्दीप्तिरिव उज्जजृम्भे ववृधे। प्राजापत्यस्य नरस्य अग्नेः सकाशात्तिरोधानं पुत्रकामेष्टिपराणां ब्राह्मणानां तेजसश्च सूर्यतेजस इव वर्धनं तादृशचिह्नदर्शनादिति तपस्तेजोऽतिशयः सूचितः ॥३१॥

अर्थ—दिव्यपुरुष का अन्तर्ध्यान होना : वह दिव्य पुरुष यह कहकर तेजस्वी अग्नि से अन्तर्ध्यान हो गया। यज्ञ कर्म करने वाले ब्राह्मणों का तेज भी इस घटना से सूर्य की तरह वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥३१॥

विशेष—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान लेना व देना ये षट् कर्म ब्राह्मण के हैं ॥३१॥

यज्ञान्ते सत्कृतानां मुनीनां स्वस्तिवादमाह—

स्यन्नं मुखेन्दोर्वचनामृतं द्राक्-
संमानितानाममनाग् मुनीनाम्।
युक्तं सुताः सन्त्विति तत्तदेव
गेयं यथाऽऽवर्ति मुहुः सदस्यैः ॥३२॥

अमनाक् अनीषद् बहुलत्वेन इत्यर्थः। संमानितानां गोभूहिरण्यप्रदानेन सत्कृतानां मुनीनाम् ऋषीणां मुखेन्दोः वदनचन्द्रमसः 'युक्तम् एतद्दिव्यपुरुषोक्तमुचितमित्यर्थः। सुताः पुत्राः सन्तु' इति वचनामृतं स्वस्तिवादपीयूषं द्राक् सपदि स्यन्नं स्रुतम्। सदस्यैः सभ्यैः तत् तत् यद् यद् मुनिप्रोक्तमेव मुहुः पुनः पुनः आवर्ति आवृत्तिगोचरीक्रियते स्म। अत्रोपमिमीते यथा गेयं गानार्हपदम्। यथा गेयम् आवर्त्यते तथा तैस्तत् वारंवारमुच्चारितमिति भावः ॥३२॥

अर्थ—यज्ञान्त में सत्कृत मुनियों द्वारा स्वस्ति वाचन–यज्ञान्त में मुनियों का गो-भूमि-स्वर्ण आदि से बहुत सम्मान किया गया। उनके मुखारविन्द से स्वस्ति वाचन का अमृत झरने लगा। इस दिव्य पुरुष की वाणी उचित है आपके पुत्र हो, बार-बार ये ही स्वर गूँजने लगे जैसे गीत में एक ही पद की बार-बार आवृत्ति होती है, वैसे टेक रूप में यही मुहुः-मुहुः उच्चारित हुआ 'सुताः सन्तु' ॥३२॥

दशरथद्वारा पायसस्य विभजनमाह—

एकं तदर्धं नृप आर्प्य देव्यै

तदर्धकार्धं खलु मध्यमायै।

दिष्ट्वा परस्यै च धृतार्धमन्य-

च्छाम्यन् पुनः संमुखितात्मनेऽदात्॥३३॥

नृपः राजा एकं तस्य पायसस्य अर्धं समानाधंभागम् ''अर्धं नपुंसकम्'' इति क्लीवत्वम्। देव्यै कृताभिषेकायै महिष्यै कौशल्यायै इत्यर्थः। आर्प्य अर्पयित्वा च पुनः तदर्धकार्धं तस्य अवशिष्टस्य अर्धस्य अर्धं पूर्णस्य चतुर्थभागमिति यावत्। मध्यमायै तासां मध्यमतया वर्तमानायै सुमित्रायै इति भावः। अत्र 'खलु' इति वाक्यालंकारे ''खलु स्याद् वाक्यभूषायाम्'' इत्यादि मेदिनी। आर्प्येति चादनुकृष्यते। च पुनः परस्यै पूर्वोक्ताभ्याम् अन्यस्यै कैकेय्यै इति भावः। धृतस्य स्थापितस्य चतुर्थभागस्य अर्धं दिष्ट्वा दत्त्वा शाम्यन् शान्तिं गच्छन् विरमन्निति यावत्। संमुखितः अभिमुखीकृत आत्मा यया सा तथोक्ता तस्यै मध्यमायै सुमित्रायै इत्यर्थः। इत्यनेन कौशल्याकैकेय्योरपि सा सुमित्रा सम्मुखितात्मा अनुकूलितात्मा आसीदित्यत इत्यपि व्यज्यते। राजा च तासांम् अनुज्येष्ठं स्थितानां सम्मुखे मध्यभागमधिष्ठित आसीदित्यपि व्यज्यते। अन्यत् अवशिष्टं चतुर्था-र्धभागमित्यर्थः। पुनः अदात् दत्तवान्। सुमित्रायाः स्वस्य संमुखत्वात् तयोरपि च संमुख-(अनुकूल) त्वात् सैव अवशिष्टं चतुर्थार्धभागमर्हति स्मेति भावः। अनेन कौशल्या अष्टांशभागिनी, सुमित्रा वारद्वयेन षडंश-भागिनी, कैकेयी च द्व्यंशभागिनीति फलितम्॥३३॥

अर्थ—दशरथ द्वारा पायस का विभाजन–राजा दशरथ ने उस पायस का अर्धभाग कौशल्या के लिये, फिर अर्धभाग का अर्धभाग सुमित्रा के लिये, फिर चतुर्थभाग का अर्धभाग कैकेयी के लिये, फिर चतुर्थभाग का अर्धभाग सुमित्रा के लिये अर्पण किया॥३३॥

विशेष—पायस का अष्टांशभाग कौशल्या को षडंशभाग सुमित्रा को और द्व्यंश भाग कैकेयी को प्राप्त हुआ॥३३॥

अथ तासां गर्भावस्थां वर्णयति—

यथायथं गर्भभृतस्ततस्ता

हंसप्रयाताः प्रथमात् प्रकृत्या।

श्रोणीभरेणोन्नमता क्रमेणै-

तुं वासभूमिष्वपि नैव शेकुः॥३४॥

ततः तदनन्तरं यथायथं यथात्मीयं ''यथास्वे यथायथम्'' इति द्विरुक्तिः। गर्भभृतः ''धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'' इति वचनात् भूतार्थोऽत्र उन्नेयः। धारितगर्भा इत्यर्थः। प्रथमात् प्रथमतः प्रकृत्या स्वभावेन हंसप्रयाताः हंसगामिन्यः ताः कौशल्यादयो राजपत्न्यः क्रमेण अनुक्रमेण उन्नमता आरोहता श्रोणीभरेण कटिभारेण वासभूमिषु निवासस्थानेष्वपि ''भूमिर्वसुन्धरायां स्यात् स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम्'' इति मेदिनी एतुं गन्तुं नैव शेकुः अशक्नुवन्॥३४॥

अर्थ—गर्भावस्था का वर्णन : वे रानियाँ गर्भ के भार से धीरे-धीरे प्रभावित होती गई। कौसल्यादि जो हंसगति वाली थी-अब नितम्ब आदि के भार से उनका अपने स्थान से चलना फिरना भी बन्द हो गया॥३४॥

विशेष—कौशल्यादि रानियाँ उन्नत कटिभार से अपने-अपने निवास स्थानों पर भी चलने में समर्थ नहीं हुई॥३४॥

कौसल्यायाः पुत्रजननमाह—

पर्यागते स्वह्नि परात्मना स्वै-

रंशैरशेषैर्धृतमेकरूपम्।

कौशल्यया सूनुरसावि वह्नि-

तूल्येव वह्निस्तमसां विनाशः॥ ३५॥

सु शोभनम् अहः दिनं तस्मिन्, ''राजाहः सखिभ्यष्टच्'' इति प्राप्तस्य टचः ''न पूजनात्'' इत्यनेन निषेधः। पर्यागते समायाते कौशल्यया परात्मना परमेश्वरेण स्वैः आत्मीयैः अशेषैः अखण्डैः अंशैः कलाभिः धृतं धारितम् एकं रूपं सूनुः पुत्रः असावि उत्पादितः। अत्रोपमिमीते वह्निजननी तूली वह्नितूली तया। शाकपार्थिवादित्वात् समासः। दीपशलाकये-

त्यर्थः। तमसाम् अन्धकाराणां विनाशयतीति पचाद्यचि विनाशः नाशकः दीपकरूपेणेति भावः। वह्निः अग्निरिव। सूनुपक्षे तमसां शोकानां नाशक इत्यर्थो ज्ञेयः। अग्निरपि परात्मन एव रूपमिति संगच्छते औपम्यम्॥३५॥

अर्थ—कौसल्या के पुत्र जन्म : शुभ मांगलिक मुहूर्त के आने पर भगवान् अपनी षोडश कलाओं के साथ पुत्र रूप से कौसल्या से प्रकट हुए। जैसे वह्नि-तूली से (दियासलाई से) वह्नि प्रकट होती है-उसी प्रकार यहाँ कौसल्या को वह्नि-तूली बताया है और पुत्र को वह्निरूप से उपमित किया है। भौतिक अग्नि अन्धकार का विनाश करती है तो पुत्ररूप से भगवान् दुःखों का नाश करने के लिये प्रकट हुए हैं॥३५॥

विशेष—अग्नि ब्रह्म का ही रूप है॥३५॥

कैकेय्याः सुमित्रायाश्च पुत्रजन्माह—

हर्षेण कैकय्यथ सूर्यवंशा-

लंकारभूतं सुषुवे कुमारम्।

हितौ सुमित्राऽजनयत् सुतौ द्वौ

मेघर्तुशोभेव नभोनभस्यौ॥३६॥

अथेत्यनन्तरं कैकेयी हर्षेण प्रमोदेन सूर्यवंशस्य रविकुलस्य अलंकारभूतं भूषणोपमं कुमारं पुत्रं सुषुवे सूते स्म। सुमित्रा हितौ सर्वेषां सुखावहौ इत्यर्थः। द्वौ सुतौ पुत्रौ अजनयत् उदपादयत्। अत्रोपमामाह-मेघर्तुशोभा प्रावृड्लक्ष्मीः नभोनभस्यौ श्रावणभाद्रपदौ इव॥३६॥

अर्थ—कैकेयी एवं सुमित्रा द्वारा पुत्र जन्म : कैकेयी ने सूर्यवंश के अलंकार स्वरूप कुमार को जन्म दिया। सुमित्रा ने दो हितकारी कुमारों को जन्म दिया। जैसे वर्षाऋतु की शोभा सावन भादों इन दो महिनों से होती है॥३६॥

वशिष्ठकृतमभिनन्दनमाह—

मत्वेति तत् स्माह नृपं वशिष्ठो,

हर्षोऽद्य, वर्णेषु सुतिष्वमीषु।

षे वा त्वयि ह्येव शिरःस्थताऽस्ति,

त्वं वर्धसे पुत्रभवेन दिष्ट्या॥३७॥

इति इत्थं तत् रामजन्मादि मत्वा ज्ञात्वा वशिष्ठः नृपम् आह स्म उवाच। अद्य अस्मिन् दिने हर्षः प्रमोदावसर इत्यर्थः। अस्तीति शेषः। तत्कारणमाह-हि यतः सुतिषु पुंत्रवत्सु अमीषु एतेषु वर्णेषु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टये त्वयि एव केवलं त्वद्विषये शिरःस्थता मूर्धन्यता श्रेष्ठेति यावत्। अस्ति। कस्मिन् इव त्वयि मूर्धन्यता इत्यत आह-षे वा षकारे इव। यथा 'सु, ति, षु' अमीषु इत्येतेषु वर्णेषु अक्षरेषु केवलं षे षकारे एव शिरःस्थता मूर्धन्यताऽस्ति तथा सुतिषु पुत्रवत्सु अमीषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु त्वयि एव मूर्धन्यता (श्रेष्ठता) अस्ति। ईदृशानामलौकिकानां पुत्राणां जन्मनेति भावः। "वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाऽक्षरे" इत्यमरः। त्वं पुत्रभवेन सुतजन्मना "भवः क्षेमेशसंसारे सत्तायां प्राप्तिजन्मनोः" इति मेदिनी। दिष्ट्या इति हर्ष-मङ्गलसूचकमव्ययम्। "दिष्ट्या हर्षे मङ्गले च" इति मेदिनी। वर्धसे वृद्धिं गच्छसीति अभिनन्दकस्य अभिनन्दनवाग्धारा। श्लिष्टोपमा॥३७॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् रामादि का जन्म जानकर महर्षि वसिष्ठ कहने लगे-'अत्यन्त हर्ष का अवसर है, हे राजन्! तुम 'सुतिषु' पुत्रों वालों में इन वर्णों के ऊपर मूर्धन्य स्थान पर हो। 'सुतिषु' इन वर्णों में 'षु' मूर्धन्य है, जिसका उच्चारण स्थान मूर्धा है, उसी प्रकार चारों वर्णों में तुम श्रेष्ठता को प्राप्त हो। अहा! तुम पुत्र जन्म से वृद्धि को प्राप्त होवोगे॥३७॥

विशेष—दिष्ट्या शब्द हर्ष व मंगल का वाचक है। 'दिष्ट्या हर्षे मंगले च' इति मेदिनी॥३७॥

तस्य धन्यतां निर्दिशति—

स पुत्रसिद्ध्या उपजातितस्त्वं

मर्त्येषु मर्त्याधिप धन्यमान्यः।

थो वा यकारादिव निःसुताङ्कात्

सिद्धः सपुंत्राङ्कतयाऽधिकोऽद्य॥३८॥

भो मर्त्याधिप मनुष्येश्वर स त्वं पुत्रसिद्ध्याः

पुत्रप्राप्तिसफलतायाः उपजातितः उपजननात् उत्पत्तेरिति भावः। मर्त्येषु मनुष्येषु धन्यः सुकृती मान्यः संमाननीयः इति कर्मधारयः। अथोत्तरार्धेन राज्ञा प्रोक्तस्य द्वाविंशपद्योत्तरार्धवचनस्योत्तरमाह-अद्य यकारात् यवर्णात् इव निःसुताङ्कात् निष्पुत्रोत्सङ्गात् जनात् सपुत्राङ्कतया पुत्रसहितोत्सङ्गतया थः वा थकार इव अधिकः विशिष्टः सिद्धः निष्पन्नः। यकारादिव निष्पुत्राङ्कात् थकार इव सपुत्राङ्कः अधिकः त्वं सिद्धः इति भावः। अत्र थकारयकारोपमाविवेचनं प्रागुक्तम्। इवेनौपम्ये सिद्धे वाशब्दोऽत्र पादपूरणार्थो वा ज्ञेयः। अत्र 'उपजाति' पदेन उपजातिवृत्तस्य सूचनात् मुद्रालंकारः। "सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः॥" इति लक्षणात्॥३८॥

अर्थ—'हे मनुष्येश्वर! तुम पुत्र प्राप्ति रूप सफलता से मनुष्यों में धन्य और मान्य हो गये हो। तुम पुत्र के अभाव में 'यकार' रूप थे, पर अब पुत्र प्राप्ति से 'थकार' रूप हो गये-तुम्हारा गौरव बढ़ गया है॥३८॥

विशेष—'यकार' व 'थकार' के लिये इसी सर्ग का २२वां श्लोक द्रष्टव्य॥३८॥

तत्र राज्ञा दर्शितं विनयमाह—

ज्ञात्वेति वाग्मर्म स मर्मवित् तं

तुष्टः समाचष्ट समानताङ्घ्रिः।

मेधाविनां स्वस्तिगिरा गुरूणां

वंशाभिवृद्धिर्भवतीति सत्यम्॥३९॥

स मर्मवित् मर्मज्ञः राजा इति इत्थं वाचो वचनस्य मर्म हृदयं ज्ञात्वा विदित्वा प्रागुक्तस्य स्वस्य वचनस्योत्तरत्वेन वर्णितत्वादिति भावः। तुष्टः मुदितः समानतौ सम्यग् वन्दितौ अङ्घ्री पादौ येन स तथोक्तः सन् तं वशिष्ठं समाचष्ट अकथयत्। मेधाविनां मेधा धारणवती बुद्धिः तद्वतां गुरूणां स्वस्तिगिरा आशीर्वादेन "स्वस्त्याशीःक्षेमपुण्यादौ" इति हैमः। वंशस्य कुलस्य अभिवृद्धिः अभ्युदयः पुत्रजन्मद्वारेति भावः। भवति इति सत्यं तथ्यमस्तीति शेषः॥३९॥

अर्थ—मर्मज्ञराजा ने वाणी के मर्म को समझकर सन्तुष्ट होकर गुरु के दोनों चरणों की वन्दना की और 'मेधावी गुरुओं की स्वस्ति गिरा वंश की वृद्धि करनेवाली है-यह सत्य है'॥३९॥

राज्ञो धनदानेन दारिद्यापगममाह—

वित्तार्चिरुत्सृज्य नृपः शिखीवै-

धं निर्धनत्वं निधनं निनाय।

नरायणं मार्गितुमागतेव

रंरम्यमाणैक्षि गृहे गृहे श्रीः॥४०॥

शिखी अग्निः "शिखिनौ केकिपावकौ" इति विश्वः। एधं काष्ठमिव नृपः राजा वित्तं धनम् एव अर्चिः ज्वालां "ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्चिः" इत्यमरः। उत्सृज्य दत्त्वा "त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने" इत्याद्यमरः। निर्धनत्वं दरिद्रतां निधनं नाशं "निधनं कुलनाशयोः" इत्यमरः। निनाय प्रापितवान्। तेन किं जातमित्यत आह-नरायणं नारायणं विष्णुमित्यर्थः। "अथ नारायणो विष्णुरूर्ध्वकर्मा नारायणः।" इति शब्दार्णवः। "वासुर्नरायण-पुनर्वसु-विश्वरूपाः॥" इति त्रिकाण्डशेषश्च। मार्गितुम् अन्वेषयितुम् "आधृषाद्वा" इति नियमादत्र णिजभावः। इव आगता आयाता श्रीः लक्ष्मीः। गृहे गृहे रंरम्यमाणा पुनः पुनरतिशयेन वा क्रीडन्ती। ऐक्षि दृश्यते स्म। दारिद्र्यनाशेन सर्वत्र लक्ष्मीर्दृश्यते स्मेति भावः। उपमा-रूपक-फलोत्प्रेक्षा अलङ्काराः॥४०॥

अर्थ—राजा ने धन दान से दारिद्र्य का नाश कर दिया : राजा दशरथ अग्निरूप है, धन ही अग्नि की लपट है, जिसमें निर्धनों की निर्धनता रूप ईंधन जलकर भस्म हो गया। यानि राजा ने इतना दिया कि दरिद्रता कहीं नहीं दिखाई देती है। फलस्वरूप मानों विष्णु को खोजने के लिये आई हुई-लक्ष्मी गृह-गृह में रमण करती दिखाई देने लगी॥४०॥

प्रजाभिर्दर्शितमानन्दोत्कर्षं प्रकटयति—

श्रुत्वाऽथ तज्जन्म जना जनेशं

त्वादृक् परो नेति समभ्यनन्दन्।

चैलानि रत्नानि च भूषणानि

तत् तत् कराप्तं च ददुर्द्विजेभ्यः ॥४१॥

अथेत्यनन्तरं तेषां जन्म श्रुत्वा जनाः प्रजाः "त्वादृक् त्वादृशः "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इति क्विन्। परः अन्यः न" अस्तीति शेषः। ईदृक्पुत्रप्राप्तेरिति भावः। इति इत्थं समभ्यनन्दन् अवर्धयन्। चैलानि वस्त्राणि रत्नानि मणीः च पुनः भूषणानि आभरणानि च पुनः कराप्तं हस्तप्राप्तं तत् तत् वस्तुजातमिति भावः। द्विजेभ्यः ब्राह्मणेभ्यः ददुः दत्तवन्तः ॥४१॥

अर्थ—प्रजा ने आनन्द प्रकट किया : पुत्र जन्म के सुसंवाद को सुनकर प्रजा ने राजा के समान ही आनन्द का अनुभव किया। जिस-जिस के हाथ में जो-जो वस्त्र, गहने, रत्न आदि आये मुक्त हाथ से ब्राह्मणों को लुटाया॥४१॥

इन्द्रस्यागमनमाह—

त्रिलोकपं लोकयितुं नृलोकं

लोकादुपैत् स्वात् सुरलोकनाथः।

कस्तन्न जज्ञेऽम्बरपुष्पवृष्ट्या ?

ज्ञोपज्ञमर्थं फलतो यथाऽज्ञः ॥४२॥

सुरलोकनाथ इन्द्रः त्रिलोकपं त्रिभुवनाधीशं श्रीरामं लोकयितुं द्रष्टुं स्वात् आत्मीयात् लोकात् स्वर्गादित्यर्थः। नृलोकं मर्त्यलोकम् उपैत् आगच्छत्। कः तत् इन्द्रागमनम् अम्बरपुष्पवृष्ट्या आकाशतः पतितेन पुष्पवर्षणेन न जज्ञे ज्ञातवान्। अपितु सर्वोऽपि जनः ज्ञातवानिति भावः। "अनुपसर्गाज्ज्ञः" इत्यात्मनेपदम्। अत्रोपमामाह-यथा अज्ञः मूढः ज्ञोपज्ञं ज्ञस्य विदुष उपज्ञा आद्यज्ञानं तत् "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्॥" इति तत्पुरुषान्तस्य उपज्ञाशब्दस्य क्लीबत्वम्। "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" इत्यमरः। अर्थं विषयं प्रयोजनं वा फलतः तत्परिणामेन जानीते। अत्र पुष्पवृष्ट्या साधनेन साध्यस्य इन्द्रागमनस्य ज्ञानात् अनुमानम्॥४२॥

अर्थ—स्वर्गलोग का स्वामी इन्द्र तीनों लोकों के स्वामी का दर्शन करने के लिये अपने स्वर्गधाम से चलकर नरलोक में आया। स्वर्ग से होने वाली पुष्प-वृष्टि से इन्द्र के आगमन को किसने नहीं जाना-यानी सभी को विदित हो गया। जैसे अज्ञजन भी विज्ञों के उपक्रम को उनके फल के द्वारा जान लेता है। इसी प्रकार पृष्पवृष्टिरूप साधन से सभी ने इन्द्र के आगमन का अनुमान लगा लिया॥४२॥

उभयलोकोत्सवं सूचयति—

वाल्लभ्यतः श्रीशजनेर्जनाना-

मीशो जनाश्चोत्सवमाधुरुर्व्याम्।

केलीकलां चाकलयांबभूवु-

र्नाकेश्वरो नाकसदश्च नाके ॥४३॥

श्रीशस्य लक्ष्मीपतेः या जनिः जन्म तस्या वाल्लभ्यतः वल्लभत्वात् जनानां नराणामीशः पतिः दशरथ इत्यर्थः। च पुनः जनाः लोकाः उर्व्यां भूम्याम् उत्सवं उद्धर्षम् आधुः अकुर्वन्। "कृतौ करोत्यावहति विदधात्यादधाति च।" इति क्रियाकोशः च पुनः नाके स्वर्गे नाकेश्वर इन्द्रः नाकसदः देवाश्च केलीकलां क्रीडाकौशलम् आकलयांबभूवुः। रावणवधस्य द्वारमुद्घटितमित्याशयेनेति भावः ॥४३॥

अर्थ—लक्ष्मीपति भगवान् ने जन्म लिया है, इसलिये नरपति राजा दशरथ और प्रजा ने धरती पर उत्सव मनाया स्वर्ग में इन्द्र ने और देवताओं ने केलिकला के द्वारा अपने आनन्द को प्रकट किया॥४३॥

विशेष—अब रावणवध होगा और स्वर्ग निरापद होगा-यही स्वर्ग के आनन्द का कारण था॥४३॥

दशदिनोत्तरं वशिष्ठवचनेन नामकरणस्य त्वरामाह—

रम्येषु शीघ्रं दशसूत्सवश्री-

दोहिष्वितेषु क्षणवद् दिनेषु।

वशिष्ठ ऊचेऽद्य विलम्बितुं मो-

चः पुत्रनाम्नां करणाय राजन्! ॥४४॥

उत्सवस्य श्रियं शोभां दुहन्ति पूरयन्ति तथोक्तानि तेषु अत एव रम्येषु रमणीयेषु दशसु पुत्रजन्मतो दशसंख्याकेषु दिनेषु दिवसेषु क्षणवत् क्षणेषु इव शीघ्रं द्रुतम् इतेषु गतेषु वशिष्ठ ऊचे-राजन्! अद्य एकादशे दिने इत्यर्थः। पुत्रनाम्नां सुतनामधेयानां करणाय नामकरणसंस्कारार्थमितिभावः विलम्बितुं चिरयितुं मा उचः न युज्यसे। "एकादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्" इति महाभाष्यप्रमाणात्। "मा उचः" इति रूपम् 'उच समवाये' इति धातोः 'माङि लुङि' पुषादित्वादङि च सिद्धम्। "न माङ्योगे" इत्यडभावः ॥४४॥

अर्थ—उत्सव की शोभा दस दिनों तक होती रही, ये दिन ऐसे बीत गये जैसे एक क्षण हो-इस समय गुरु वसिष्ठजी ने कहा 'पुत्रों का नामकरणसंस्कार होना चाहिये' अब देर करना उचित नहीं ॥४४॥

विशेष—'एकादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्।' महाभाष्य ॥४४॥

राजा तत्कार्याय तमेव समर्थयते—

श्रूयेत सर्वैरशनैरितीव

यमीशमीशः स नृणां बभाषे।

तात त्वयि ह्याप्ततमे स्थितेऽह-

मिदं प्रकुर्वन्न लभेय शोभाम् ॥४५॥

सः नृणां नराणाम् ईशः पतिः राजेत्यर्थः। यमिनां संयमिनाम् ईशं वशिष्ठं, सर्वैः जनैः श्रूयेत आकर्ण्येत इदं वक्ष्यमाणं वचनमिति शेषः। श्रोतारो लोका अपि ईदृशे विनयं शिक्षेरन्नित्याशयेनेति भावः। "प्रजास्तमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।" इति वचनात्। इति हेतोरिव अशनैः तारस्वरेण वभाषे उवाच। तात्कालिकहर्षोत्साहेनोपचितः स्वाभाविकस्तारस्वर एवं रूपेणोत्प्रेक्षितः। हे तात पितः! पितृतुल्यतादर्शनार्थमेतदामन्त्रणम्। त्वयि भवति हि आप्ततमे श्रद्धेयतमे स्थिते विद्यमाने अहम् इदं नामकरणं प्रकुर्वन् कुर्वाणः शोभां गौरवमित्यर्थः। न लभेय नाप्नुयाम् ॥४५॥

अर्थ—मनुष्यों के स्वामी राजा ने संयमियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ को उच्च स्वर में कहा-जिसे दूसरे भी सुनकर शिक्षा ग्रहण कर सके। 'हे तात! आपके रहते मैं नामकरण करूँ, यह क्या शोभाजनक होगा ?' ॥४५॥

वशिष्ठस्य पितृत्वं समर्थयन्नाह—

तिरस्कृताधिर्हितकृत् कुलस्या-

चार्यश्च शिक्षाकृदथोपनेता।

मन्त्रोपदेष्टेति पिता मम त्वं

त्र्यक्षो गणेशस्य यथा महर्षे! ॥४६॥

भो महर्षे! वशिष्ठ! तिरस्कृतः अपनीतः आधिः मनोव्यथा येन स तथोक्तः अत एव हितकृत् शुभावहः कुलस्य वंशस्य आचार्यः गुरुः शिक्षाकृत् शिक्षकः उपनेता उपनयनप्रदः अथ च मन्त्रस्य गायत्र्यादेः उपदेष्टा उपदेशकः। अत्र शेषषष्ठ्याः समासः। इति हेतोः मम मे त्वं भवान् पिता असीति शेषः। अत्रोपमामाह यथा गणेशस्य गणपतेः त्र्यक्षः त्रीणि अक्षीणि यस्य स तथोक्तः शिव इति यावत्। "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो स्वाङ्गात् षच्।" इति षच् ॥४६॥

अर्थ—हे महर्षे! आपने मेरी मनोव्यथा को दूर किया है। आप कुल के आचार्य हैं। शिक्षक हैं। उपनयन करने वाले हैं। गायत्र्यादि मन्त्रों के उपदेष्टा हैं। आप ही पिता हैं। जैसे गणेश के त्रिनेत्रवाले भगवान् शिव। अतः नामकरण आपके द्वारा हो, यही विधि है ॥४६॥

समुचितनामकरणार्हप्रतिभासंपन्नोऽप्यहं नेति प्रकटयति—

प्रज्ञ स्फुटं वच्मि, न तत् प्रकुर्यां,

हृष्टो यथा त्वं प्रतिभा-प्रकर्षात्।

टो वा वदन् ग्रन्थ्ययुतोऽवरुद्ध-

वाक् तूपमां ग्रन्थियुगेति ढस्य ॥४७॥

प्रज्ञ! प्रकृष्टज्ञानशालिन्! साकूतमिदमामन्त्रणम्। अहं स्फुटं स्पष्टं वच्मि कथयामि। यदुत अहं तत् नामकरणं न प्रकुर्यां कर्तुं शक्नोमि "शकि लिङ्

च'' इति लिङ्। यथा त्वं भवान् हृष्टः पुत्रजन्मना मुदितः सम् प्रतिभाया नवनवोन्मेषिण्या बुद्धेः प्रकर्षः अतिशयः तस्मात् कर्तुं शक्नोषीति शेषः। वशिष्ठस्य हृष्टत्वं प्रतिभाप्रकर्षश्चेति हेतुद्वयं नवीननामकरणसामर्थ्ये दर्शितं स्वस्य च हृष्टत्वे सत्यपि तादृशप्रतिभा-प्रकर्षाभावादसामर्थ्यम्। स्पष्टकथनेऽकौटिल्यं मौनित्वे च कौटिल्यं प्रकटयन्नाह-वदन् कथयन् स्पष्टवक्तेत्यर्थः। टः टकारः वा इव ग्रन्थिना कौटिल्येन बन्धेन च (गाँठ इति प्रसिद्धेन) अयुतः अयुक्तः शून्य इत्यर्थः। ''ग्रन्थिर्वस्त्रादिबन्धे रुग्-भेदे कौटिल्यपर्वणोः।'' इत्यादि हैमः। भवतीति शेषः। तु पुनः अवरुद्धा अप्रकटिता वाक् वाणी येन सः तथोक्तः जनः ग्रन्थियुक् कौटिल्ययुक्तः बन्धसहितश्च ढस्य ढकारस्य उपमां सादृश्यम् एति प्राप्नोति। स्पष्टवादी ग्रन्थिशून्यः टकारः इव, रुद्धवचनः (अस्पष्टवक्ता) तु ग्रन्थियुक्तो ढकार इव भवतीति तात्पर्यम्॥४७॥

अर्थ—हे प्रज्ञ ! में स्पष्ट खरी बात कहना चाहता हूँ। आप हर्षित भी हैं और आप में प्रतिभा का प्रकर्ष भी है-आपके समान नामकरण में मैं सक्षम नहीं हूँ। मन में गांठ या छल न रखकर 'टकार' की तरह स्पष्ट कहना ही ठीक है, 'ढकार' की तरह गाँठ रखकर छल करने वाली वाणी उचित नहीं॥४७॥

विशेष—ट और ढ में ट का आकार सीधा है और ढ के लेखन में गाँठ है-इसी वर्णाकार से कवि ने विदग्धता प्रकट की है॥४७॥

अत्र वशिष्ठवचनमाह—

यथोचितं भूपवचो निशम्य
महर्षिरूचेऽसमहर्षिचेताः।
ब्रवीमि संज्ञा लघु सुक्षणोऽयं
वीत्वा सुकालो हि भवत्यलभ्यः॥४८॥

यथोचितं यथायुक्तं भूपवचः राजवचनं निशम्य श्रुत्वा असमम् असदृशं हृष्यति तुष्यति तथोक्तं चेतः चित्तं यस्य स तथाभूतः महर्षिः वशिष्ठः ऊचे उक्तवान्। अहं संज्ञाः नामानि लघु शीघ्रं ''लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्'' इत्यमरः। ब्रवीमि वदामि। अयम् एषः सुक्षणः शोभनः क्षणः अस्तीति शेषः। हि यतः सुकालः शोभनः समयः वीत्वा व्यतीत्य। वेतेः क्त्विरूपम्। अलभ्यः न लब्धुं शक्यः भवति अत्र द्वितीयपादे 'महर्षि' इति समुदायस्य द्विरावृत्या यमकम्। ''सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जन-संहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।'' इति लक्षणात्॥४८॥

अर्थ—वसिष्ठ का कथन : राजा के उपयुक्त कथन को सुनकर महर्षि ने सानन्द कहा 'मैं शीघ्र ही नाम बताऊँगा। यह सुन्दर क्षण है, अतः शोभन समय है। यह अगर बीत जाता है तो फिर ऐसा समय अलभ्य है'॥४८॥

नामकरणस्य त्रिपुरुषानूकत्वप्रमाणे सत्यपि नवीनतायां हेतुमाह—

बहूचितं त्रिष्वपि पूर्वजेषु
हर्षप्रदं नाम न लभ्यते तत्।
वोचं स्म माऽहं तदिति प्रचिन्त्य
दुर्वारतर्कोऽभिनवं स ऊचे॥४९॥

त्रिषु अपि पूर्वजेषु पुरुषेषु दशरथाऽजरघुनामसु इत्यर्थः। बहु बहुलम् उचितं योग्यं हर्षप्रदं प्रमोदावहं नाम नामधेयं न लभ्यते प्राप्यते। तत् तस्मात् कारणात् अहं तत् त्रिपुरुषानूकं नाम मा स्म वोचं न ब्रवाणि वचेर्मास्मयोगे लुङि ''अस्यतिवक्ति'' इत्यङ्। 'वच उम्' इत्युम्। इति एवं प्रचिन्त्य विचार्य दुर्वारः दुर्बाधः तर्कः ऊहः यस्य स तथोक्तः स वसिष्ठःअभिनवं नवीनं (नाम) ऊचे उक्तवान्॥४९॥

अर्थ—तीन पूर्वज राजाओं के नाम-दशरथ, अज, रघु नाम यद्यपि उचित है, पर ऐसे हर्षप्रद नहीं हैं। इसलिये गुरु वसिष्ठ ने खूब सोच-विचार कर, दुर्वार तर्कशील वशिष्ठ ने ये नवीन नाम बतलाये॥४९॥

ज्येष्ठस्य नामाह—

लक्ष्मीः सरस्वत्यपि ऋद्धिसिद्धी
भाश्चैकताना अथ योगिराजाः।
चैत्यायिते यत्र सदा रमन्ते
वरः स पुत्रोऽभिधयाऽस्तु रामः॥५०॥

लक्ष्मीः श्रीः अपि च सरस्वती शारदा ऋद्धिश्च सिद्धिश्च ते च भाः दीप्तिः अथ च एकताना अनन्यवृत्तयः "एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्रैकायनावपि" इत्यमरः। योगिराजाः योगीश्वराः चैत्यायिते चैत्यम् आयतनं तद्वत् आचरतीति कर्तुः क्यङि ततः क्तः। तस्मिन् मन्दिरसदृशे इत्यर्थः। यत्र यस्मिन् सदा सर्वदा रमन्ते क्रीडन्ति, वरः अभिरामः इत्यनेन रामशब्दस्य मनोहरार्थवाचित्वमपि दर्शितम् "राघवे वरुणे रामो रैणुकेये हलायुधे। हये च पशुभेदे च त्रिषु चारौ सितेऽसिते।" इति मेदिनी। स पुत्रःनन्दनः अभिधया नाम्ना "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया। रामः अस्तु भवतु।" अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् इति रमेर्घञि रामशब्दस्य सिद्धिः ॥५०॥

अर्थ—ज्येष्ठ का नामकरण : जो अभिराम है, जिसमें लक्ष्मी, सरस्वती, ऋद्धि, सिद्धि और दीप्ति का अनन्यवृत्ति से निवास है, जिसको मन्दिर बनाकर बड़े-बड़े योगीश्वरों का मन रमण करता है-उस पुत्र का नाम राम हो ॥५०॥

कनीयसां नामान्याह—

येनाग्रभूभक्तिभृता भ्रियेत

त्वयेव भूमी, भरतः स भूयात्।

यातोऽस्ति लक्ष्मीमिति लक्ष्मणोऽन्यः

कीर्त्येत शत्रुघ्न इहाऽरिहाऽन्त्यः ॥५१॥

अग्रभूः ज्येष्ठः तस्य भक्तिं बिभर्ति तथाभूतेन ब्राह्मणभक्तिमता च येन त्वया भवता इव इति दशरथमुद्दिश्योक्तिः। भूमी पृथ्वी भ्रियेत पोष्येत स भरतः भरतनामा भूयात् भवतु। आशीर्विवक्षायाम् आशीर्लिङ्। भृञ औणादिकोऽतच् प्रत्ययः। अन्यः अपरः तदनुज इति भावः लक्ष्मीं श्रियं यातः प्राप्तः अस्तीति लक्ष्मणः। 'लक्ष्म्या अच्च' इति मत्वर्थीये ने ईकारस्य अत्त्वम्। इह जगति अन्त्यः अन्तिमः चतुर्थ इति भावः। अरिहा अरीन् शत्रून् हन्तीति अरिहा वर्तमाने क्विप्। ननु "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इत्यत्र ब्रह्मादिष्वेव हन्तेरेव भूते एव क्विबेव इति नियमचतुष्टयस्य काशिकायां निर्दिष्टत्वात् असाधुरयं प्रयोग इति चेन्न, ब्रह्मादिष्वेव क्विबेवेति नियमद्वयस्यैव महाभाष्ये निर्दिष्टत्वात् वर्तमाने क्विपि अस्य रूपस्य सर्वसंमतत्वम्। अतएव "हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः" इत्यादयो महाकविप्रयोगा दृश्यन्ते। शत्रुघ्नः शत्रुघ्ननामा। शत्रुघ्नशब्दस्तु "मूलविभुजादिभ्यः कः" इति कप्रत्यये साधुरेव। कीर्त्येत वर्ण्येत ॥५१॥

अर्थ—छोटे भाइयों के नाम : जो अग्रभू-बड़े भाई में भक्ति रखने वाला या तुम्हारी तरह जो अग्रजन्मा ब्राह्मणों में भक्तिभाव रखने वाला होगा तथा जो सारी पृथ्वी का भरण-पोषण करेगा उसका नाम भरत हो। उससे छोटा भाई, जिसको लक्ष्मी (श्री) प्राप्त है, उसका नाम लक्ष्मण तथा जो सबसे छोटा है, जो शत्रुओं का नाश करने वाला है, वह शत्रुघ्न नाम से वर्णित हो ॥५१॥

तदेवोपसंहरन् बालक्रीडामाह—

तिर्यग्गणोऽपीत्यभिधाविधानं

तादृक् तदीयं विनिशम्य हृष्टः।

गुप्ताः श्रिताः क्रीडनकेष्वितीवै-

णाः केकिकीराश्च परे शिशूंस्तान् ॥५२॥

इति इत्थं तादृक् तादृशं तदीयं वशिष्ठकृतमित्यर्थः। यद्वा तेषामिदं तदीयं रामादीनामित्यर्थः। अभिधाविधानं नामकरणं विनिशम्य श्रुत्वा तिर्यग्गणः तिरश्चां पशुपक्षिणां गणः समूहः अपि हृष्टः मुदितः एतेन मनुष्यादीनां हर्षणं त्वर्थापत्त्या सिद्धम्। अतः उत्प्रेक्षते- इति हर्षकारणादिव क्रीडनकेषु बालखेलनक (खिलौना) वस्तुषु गुप्ताः गुप्तीभूताः एणाः मृगाः, केकिनो मयूराश्च कीराः शुकाश्च ते, च पुनः परे अन्येऽपि सिंहगजाश्वादयः तिर्यञ्चः तान् शिशून् रामादिबालान् श्रिताः असेवन्त। कर्तरि क्तः। नामश्रवणमात्रेण प्रहृष्टाः पशुपक्षिणः रत्नादिरचित-क्रीडनकेषु गुप्तीभूताः सन्तः तान् बालकान् असेवन्तेति उत्प्रेक्षा ॥५२॥

अर्थ—वशिष्ठ के द्वारा इस प्रकार नामकरण करने से, मनुष्य मात्र की कौन कहे, तिर्यक् योनि पशु-पक्षी भी बहुत प्रसन्न हुए। मानों अब वे इनकी बालक्रीडा के समय खिलौने में हरिण, मोर, तोता या

सिंह, घोड़ा के रूप में छिपे रहकर इनकी सेवा करेंगे ॥५२॥

विशेष—उत्प्रेक्षा अत्यन्त मनोहर है ॥५२॥

उपनयनं विद्याद्युपार्जनं चाह—

मुनेरगृह्णन् प्रथमोपनीता

नेदिष्ठमध्युष्य कलाश्च विद्याः।

वक्ष्यामहे राज्यधुरामितीवाऽऽ-

याम्यंशकं नो समयस्य निन्युः ॥५३॥

प्रथमं पूर्वम् उपनीताः उपनयनसंस्कारं प्रापितास्ते रामादय इत्यर्थः। नेदिष्ठम् अन्तिकतमम् अन्तिकशब्दात् इष्ठनि "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" इति नेदादेशः। अध्युष्य निवासं कृत्वा, इत्यनेन गुरुकुलवासः सूचितः। मुनेः प्रकृताद् वशिष्ठादित्यर्थः। "आख्यातोपयोगे" इति पञ्चमी। कलाः चतुष्षष्टिप्रकाराः च पुनः विद्याः चतुर्दशप्रकाराः अगृह्णन् अशिक्षन्त। वयं राज्यस्य धूः भारः तां "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे।" इत्यः प्रत्ययः। वक्ष्यामहे धरिष्यामः इति कारणादिव, राज्यभारवहनेन वृद्धं पितरं विश्रमयिष्याम इत्याशयादिवेति भावः। समयस्य कालस्य आयामिनं दीर्घम् अंशकं भागं नो नहि निन्युः गमयांचक्रुः। अचिरेणैव कला विद्याश्चार्जिता इति तात्पर्यम् ॥५३॥

अर्थ—मुनि ने इनका उपनयन संस्कार किया, अपने पास रखकर गुरुकुल शिक्षा समाप्त कराई। ६४ कलाओं और १४ विद्याओं में उनको धुरन्धर बनाया। बूढ़े पिता को विश्राम देकर, राज्य का भार उठाना है-इसलिए समय की दीर्घता के स्थान पर सारे कार्य शीघ्र से सम्पन्न किये ॥५३॥

द्वाभ्यां द्वयोर्द्वयोः सहवासक्रीडामाह—

यद्यप्यधुः प्रेम समे तथाप्यलि-

हंसाविवाऽब्जेऽक्षिण सतामुभावुभौ।

बुद्ध्वेव शोभां सितकृष्णयोर्मिथो

ध्वान्तागमद्वेषकरौ चिखेलतुः ॥५४॥

यद्यपि यदपि समे सर्वे प्रेम स्नेहम् अधुः अधरन् अन्योन्यमिति शेषः। तथापि मिथः परस्परं सितकृष्णयोः गौरश्यामयोर्वर्णयोः शोभां रम्यतामिति भावः। बुद्ध्वा ज्ञात्वैव इत्युत्प्रेक्षितम्। सतां सज्जनानाम् अक्षिण दृष्टौ दृष्टिगोचरे इति भावः। ध्वान्तस्य अज्ञानरूपान्धकारस्य य आगम आगमनं तस्य द्वेषं विरोधं ताच्छील्येन कुरुतः तौ "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु।" इति टः। अज्ञानान्धकारविमुखावित्यर्थः। यद्वा-अध्वान्तागमद्वेषकरौ अध्वनो मार्गस्य योऽन्तः तत्र यः आगमः गमनाभावः तेन सह द्वेषकरौ। एतेन सुदूराध्वगमनाऽभीरुत्वं दर्शितम्। उभौ उभौ द्वौ द्वौ रामलक्ष्मणौ भरतशत्रुघ्नौ चेत्येवं रूपेण चिखेलतुः चिक्रीडतुः। सतां दृष्टौ उभौ उभौ किंवत् चिखेलतुः इत्यपेक्षायां तत्रोपमामाह-अब्जे कमले अलिहंसौ भ्रमरमरालाविव। तावपि कृष्णसितौ ध्वान्तागमेन निशान्धकारोद्गमेन सह च द्वेषकरौ। उपमोत्प्रेक्षे। इन्द्रवंशावृत्तम्। "स्यादिन्द्रवंशा ततजै रसंयुतैः।" इति लक्षणात् ॥५४॥

अर्थ—यद्यपि सभी भाई आपस में प्रेम रखते थे, तो भी गौर और श्याम वर्ण की शोभा को जानकर ही मानों सज्जनों कीं दृष्टि में अज्ञानान्धकार का विरोध करते हुये कमल में भ्रमर और हंस की तरह वे दो-दो (रामलक्ष्मण) और (भरत-शत्रुघ्न) खेलने लगे ॥५४॥

तैस्तैर्गुणैः परिचिताः सममास्यमाधु-

र्युक्तं प्रयत्नमथ ते न परं सवर्णाः।

तः संमिलन् हि सह देन च थश्च धेन

श्रूयेत यद्वदुभयं सहगास्तथाऽऽभुः ॥५५॥

तैः तैः प्रसिद्धैः दयादाक्षिण्यादिभिः गुणैः परिचिता विदिताः ते रामादयः समं समानम् अनुहारीत्यर्थः। आस्यं मुखम् अथ च प्रयत्नं कार्योद्यमं युक्तम् औचित्येन आधुः धृतवन्तः, परं किन्तु ते सवर्णाः समानवर्णाः न आसन्निति शेषः। येषाम् आस्यं ताल्वादिस्थानम् आभ्यन्तरप्रयत्नश्चेति द्वयं तुल्यं ते सवर्णा भवन्ति "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।" इति पाणिनिवचनात्, परं ते सवर्णा नासन्निति चित्रम्। "आस्यं मुखे च तन्मध्ये तद्भवे च स्त्रियां स्थितौ।" इति मेदिनी। तर्हि कथं संमिलिता इत्युत्तरार्धेनाह-यद्वत् यथा-

हि तः तकारः तवर्गस्य प्रथमो वर्णः देन तवर्गस्य तृतीयेन वर्णेन अल्पप्राणत्वादिति भावः, च पुनः थः तवर्गस्य द्वितीयो वर्णः धेन तवर्गस्य चतुर्थेन वर्णेन सह समं महाप्राणत्वादिति भावः। संमिलन् सदृशतमीभवन् श्रूयेत आकर्ण्येत तथा तेऽपि सहगाः सहचारिणः उभयं क्रियाविशेषणमिदम्। उभौ उभौ इत्यर्थः। आभुः शोभन्ते स्म। प्रथमो रामस्तृतीयेन लक्ष्मणेन सह, तथा द्वितीयो भरतश्चतुर्थेन शत्रुघ्नेन सहेत्येवम् उभावुभौ संमिलन्तौ शुशुभाते इति तात्पर्यम्। वसन्ततिलकं वृत्तम्। "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।" इति लक्षणात्॥५५॥

अर्थ—वे चारों भाई दया-दक्षिणादि गुणों में समानरूप से परिचित थे। फिर भी वागिन्द्रिय के आभ्यन्तर प्रयत्न से उच्चरित समान स्थान वाले सवर्ण नहीं थे-यानी चारों में अन्तर था। त, थ, द, ध, चारों सवर्ण हैं; पर यहाँ त का द से यानी अल्पप्राण का अल्पप्राण से, तथा थ का ध से यानी महाप्राण का मिलन ही शोभित था यानी प्रथम राम तृतीय लक्ष्मण से, द्वितीय भरत चतुर्थ शत्रुघ्न से मिलकर जोड़ी बनाकर शोभित थे॥५५॥

विशेष—महाकवि ने व्याकरण ज्ञान से नयी कल्पना की है॥५५॥

राज्ञो वात्सल्यदर्शनेन सर्वमुपसंहरति—

यत्नप्रसाधितगुणां नयनाभिरामां

तां भूरिभासुरविभाभृतमुक्तिकान्ताम्।

नक्तंदिवं किल चतुस्तनयीं सुचारू-

रःसूत्रिकामिव दधे हृदये नरेन्द्रः॥५६॥

इति कविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये कल्पतरुनामा प्रथमः सर्गः समाप्तः॥१॥

किलेति ऐतिह्ये नरेन्द्रः राजा दशरथ इत्यर्थः। यत्नेन प्रयत्नेन प्रसाधिता उपार्जिता गुणा दाक्षिण्यादयः यया सा तथोक्ता ताम्, अन्यत्र यत्नेन प्रसाधितः अलंकृतः "प्रसाधितोऽलंकृतश्च भूषितश्च परिष्कृतः।" इत्यमरः। गुणः तन्तुः यस्याः सा तथोक्ता ताम्, "गुणो ज्यासूदतन्तुषु। रज्जौ सत्त्वादौ सन्ध्यादौ शौर्यादौ भीम इन्द्रिये। रूपादावप्रधाने च दोषान्यस्मिन् विशेषणे।" इति हैमः। नयनयोः नेत्रयोः अभिरामां प्रियाम् इत्युभयत्र। भूरिभासुरा बहुभास्वती "भञ्जभासमिदो घुरच्।" इति घुरच्। या विभा कान्तिः तां बिभर्तीति क्विप्। ताम् उक्तिकान्ताम् उक्त्या वाण्या कान्ता मनोहरा तां मञ्जुभाषिणीमित्यर्थः। अन्यत्र भूरिभासुरा या विभा तया भृताः मुक्तिकानां मुक्ताफलानाम् अन्ताः प्रान्तभागाः यस्याः सा तथोक्ता तामित्येकमेव पदम्। उरःसूत्रिकां मौक्तिकमालामिव तां चतुस्तनयीं चतुर्णां तनयानां समाहारः चतुस्तनयी, ताम्। "अकारान्तोत्तर-पदो द्विगुः स्त्रियाम्" इति स्त्रीत्वे द्विगुरेकवचनम्" इत्येकत्वम्। नक्तंदिवम् अहर्निशं हृदये मनसि वक्षःस्थले च "हृदयं वक्षसि स्वान्ते" इति हैमः। सुचारु सुशोभनं यथा स्यात् तथा दधे धृतवान्। श्लिष्टोपमा। वृत्तं तदेव॥५६॥

इति श्रीपण्डितवरविद्याभूषणश्रीभगवतीलालशर्म-निर्मितायां रामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्यव्याख्यायां शाणाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः॥१॥

अर्थ—राजा दशरथ इन चारों को, जिनमें दया दाक्षिण्यादि गुण हैं, जो देखने में सुन्दर हैं, जो कान्तिमान् एवं वाणी में मधुर हैं, अपने हृदय में रात दिन बसाये रखते थे-जैसे ये चार पुत्र मोतियों की चौलड़ी माला है, जिसमें सुन्दर धागा है, जो नयनाभिराम है, जिसके मोतियों में आब है-ऐसी माला को अपने वक्षःस्थल पर धारण किये हो॥५६॥

जयपुरवास्तव्य राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दीव्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का 'कल्पतरु' नामक प्रथम सर्ग समाप्त।

अथ द्वितीयः सर्गः

विश्वामित्रस्यागमनं तत्कृतं राजाभि-नन्दनं चाह—

इत्थंकारं ज्ञातवांस्तं कदापी-

क्ष्वाकुश्रेष्ठं कौशिकर्षिः समेत्य।

कुर्वन्नाशीर्वादमूचे सुताप्ति-

वंशद्धर्या त्वं वर्धसे भूप ! दिष्ट्या ॥१॥

इत्थंकारम् एवं श्रीरामजन्मादिकमित्यर्थः। "अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्" इति णमुल्। ज्ञातवान् बुद्धवान् कौशिकर्षिः विश्वामित्रमुनिः कदापि कदाचित् तम् इक्ष्वाकूणाम् इक्ष्वाकुवंशजानां श्रेष्ठम् उत्तमं दशरथं "जन पदशब्दात्क्षत्रियादञ्" इत्यञि कृते "ते तद्राजाः" इति तद्राजसंज्ञायां "तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" इति बहुत्वे अञो लुक्। समेत्य आगम्य आशीर्वादं स्वस्तिवादं कुर्वन् प्रयुञ्जानः ऊचे उक्तवान्। भूप ! त्वं सुतस्य पुत्रस्याप्तिः। लाभ एव वंशर्द्धिः कुलवृद्धिः तया दिष्ट्या वर्धसे। अस्मिन् सर्गे शालिनीवृत्तम्। "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः।" इति लक्षणात्॥१॥

अर्थ—विश्वामित्र का आगमन और राजा को आशीर्वाद देना : भगवान् राम के जन्म को जानकर ज्ञानी महर्षि विश्वामित्र ने आकर राजा दशरथ को आशीर्वाद दिया और कहा—'हे राजन् तुम्हारे लिये पुत्रप्राप्ति लाभकारी, वंशवर्धक और गौरव बढ़ाने वाली हो'॥१॥

"इक्ष्वाकुष्वस्ति सरयू" रित्यादिपुराणवचन-दर्शनाज्जनपदवाचकोऽपीक्ष्वाकुशब्दः॥

शश्वत्-प्रोद्यन्नाभिनेमिश्रियोऽद्य

प्रत्यक्षं सद्-वृत्ततां दर्शयन्तः।

भव्यं सारा बिभ्रते चक्रसाम्यं

वोढुं राज्यस्यन्दनं नन्दनास्ते ॥२॥

शश्वत् मुहुः प्रोद्यती उदयमाना नाभिनेम्योः तदाख्ययो राजविशेषयोः श्रीरिव श्रीः संपत्तिः शोभा वा येषां ते तथोक्ताः, चक्र-पक्षे प्रोद्यती नाभेः चक्रमध्यस्य नेमेः चक्रान्तस्य च श्रीः शोभा येषां ते तथोक्ताः, "नाभिः क्षत्रप्रधानयोः। चक्रमध्ये मृगमदे प्राण्यंगे मुख्यराजि च।" इति तथा "नेमिः कूपत्रिका प्रधिः। तिनिशोऽरिष्टनेमिश्च" इति उभयत्र हैमः। सद्वृत्ततां सच्चरित्रतां सुवर्तुलतां च प्रत्यक्षं साक्षात् दर्शयन्तः प्रकटयन्तः साराः श्रेष्ठाः "सारो मज्जा स्थिरांशयोः। बले श्रेष्ठे च" इति हैमः। चक्रपक्षे अरैः चक्रांगविशेषैः सह वर्तमानाः। ते तव नन्दनाः पुत्राः। राज्यमेव स्यन्दनः रथः तं वोढुं धर्तुं राज्यभारमाक्रष्टुमिति भावः। भव्यं शोभनं चक्रसाम्यं चक्रसादृश्यं बिभ्रते धारयन्ति। एतेन वक्ष्यमाणकार्यसाधनाय अभिनंन्दनद्वारा तेषां सामर्थ्यं प्रकटितम्। श्लिष्टोपमा॥२॥

अर्थ—हे राजन् ! तुम्हारे ये पुत्र राज्यरूपी रथ के भार को चलाने वाले हैं। रथ के जैसे नाभि एवं नेमि (चक्र के चारों ओर का घेरा) होते हैं, इसी प्रकार नाभिनेमि नामक यशस्वी राजाओं की श्री बढ़ाने वाले हैं। रथ का पहिया जैसे गोल होता है, इसी तरह इनका वृत्तचित्त भी सुन्दर है; जैसे रथ में अराएँ होती हैं, उसी प्रकार इनमें सारा यानि शक्तिसामर्थ्य है॥२॥

विशेष—विश्वामित्र इस वर्णन द्वारा अपने आने के प्रयोजन को भी ध्वनित करते हैं॥२॥

तत्र द्वाभ्यां रामस्य विशिष्टतामाह—

रामस्त्वेकोऽस्य त्रिलोकीरथस्याऽ-

मोघं चक्रं धारणाय प्रसिद्धम्।

नाव्यं संसाराम्बुधिं यत् सुतार्य

मर्त्यं प्राप्तं प्रापयत्यात्मलोकम्॥३॥

एकः केवलः रामः तन्नामा ज्येष्ठपुत्रस्तु अस्य एतस्य त्रिलोकी जगत्त्रयम् एव रथः तस्य धारणाय आलम्बनाय संचालनाय वा प्रसिद्धं ख्यातम् अमोघम् अस्खलितं चक्रं रथांगम् अस्तीति शेषः। यत्। (रामरूपं चक्रं कर्तृ) प्राप्तम् आपन्नं मर्त्यं मनुष्यं नावयितुं मायामोहितेन संसारिणा स्तावयितुं शक्यं संसाराम्बुधिं

१. "इक्ष्वाकुष्वस्ति सरयू" रित्यादि पुराणवचनदर्शनाज्जनपदवाचकोऽपीक्ष्वाकुशब्दः।

भवसागरं सुतार्यं पारयित्वा। नावा तार्यं नाव्यम्। ''नौवयोधर्म'' इत्यादिना यत्। इति तु संसारस्याऽम्बुधित्वारोपाद् गम्यते। तेन नाव्यस्य तारणे चक्रस्य वैचित्र्यं ध्वन्यते। आत्मनो लोकं परमपदमिति भावः। प्रापयति नयति॥३॥

अर्थ—'तुम्हारे इस एक पुत्र राम का तो कहना ही क्या, यह अकेला ही एक ऐसा अमोघ चक्र है, जो त्रिलोकरथ को धारण करने में समर्थ है। यह चक्र होकर भी माया सागर (संसार सागर) से मनुष्यों को पार कराने के लिये नौका रूप ही है। चक्र का यह वैचित्र्य है कि यह नाव की तरह तारक भी है। और साथ ही यह मर्त्यों को अपने परम पद को देने वाला भी है॥३॥

तस्यावतारकारणमाह—

जय्यान् कर्तुं राक्षसान् रावणादीन्

नैःक्षत्र्यं च क्ष्मातलस्यापनेतुम्।

श्रुत्वा भक्तत्रासमत्रोदपादी-

तः सामान्यो नैष मान्योऽस्ति मान्यः॥४॥

एष रामः भक्तानां त्रासं भयं श्रुत्वा आकर्ण्य रावणादीन् दशमुखप्रभृतीन् राक्षसान् निशाचरान् जय्यान् जेतुं शक्यान् ''क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे'' इति निपातनात्सिद्धिः। कर्तुं विधातुम्। च पुनः। क्ष्मातलस्य भूतलस्य नैःक्षत्र्यं परशुरामकृतं निःक्षत्रियत्वम् अपनेतुं दूरीकर्तुम्। अत्र इह मर्त्यलोके उदपादि उत्पन्नः। उदः पदेर्लुङि ''चिण् ते पदः'' इति च्लेश्चिण् ''चिणो लुक्'' इति तशब्दस्य लुक्। इतः कारणात् एष सामान्यः साधारणो जनः। सामान्यमस्यातीति सामान्यः अर्श आद्यचि साधुः। न मान्यः नो मन्तव्यः। किन्तु इति शेषः। मान्यः पूज्यः अस्ति। अत्र प्रथमस्य मान्यशब्दस्य मनेः ऋहलोर्ण्यति, द्वितीयस्य तु मानेः अचो यति सिद्धिर्ज्ञेया॥४॥

अर्थ—राम के अवतार का कारण : भक्तजन के भय को सुनकर, रावणादिराक्षसों को जीतने तथा पृथ्वी से क्षत्रियहीनता को दूर करने के लिये इसने अवतार लिया है। अतः इसको कोई सामान्य (साधारण) जन नहीं मानना चाहिये बल्कि यह तो सब के लिये मान्य (पूजनीय) है॥४॥

तेन राज्ञो धन्यतामाह—

निश्चिन्तोऽद्य त्वं च धन्यः प्रजेश !

यज्ञात्मानं प्राप्य रामं कुमारम्।

तातस्तातः पुत्रमाप्यैव येनाऽऽ-

त्मा वै पुत्रोऽस्तीति वेदाः प्रमाणम्॥५॥

हे प्रजेश जनेश्वर ! अद्य त्वं यज्ञात्मानं यज्ञपुरुषं रामं कुमारं पुत्रं प्राप्य लब्ध्वा निश्चिन्तः चिन्ताहीनः च पुनः धन्यः पुण्यवानसीति शेषः। येन कारणेन पुत्रं सुतम् आप्य लब्ध्वा एव तातः पिता तातः पिता भवतीति भावः। राज्ञः प्रजासु वर्तमानास्वपि पितृत्वं तु पुत्रप्राप्त्यैव सिध्यतीति तात्पर्यम्। निष्पुत्रत्वदशायां मरणे आत्मापहारदोषः स्यात् तन्निरासं प्रकटयन्नाह-वै निश्चयेन पुत्रः आत्मा पुरुषस्येति शेषः। अस्ति 'आत्मा वै पुत्रनामासि'' इति वचनात्। इति वेदाः श्रुतयः प्रमाणं साक्षिण इत्यर्थः। इत्यनेन नायमात्माऽपहारित इति सिद्धं, परलोकवासे सत्यपि आत्मनः पुत्ररूपेण विद्यमानत्वात्प्रजानाथस्य पितृत्वं न कदापि क्षीयत इति तात्पर्यम्॥५॥

अर्थ—'हे राजन् ! यज्ञरूप राम को पुत्ररूप में प्राप्त कर तुम चिन्ताहीन और धन्य हो। पिता पुत्र को पाकर ही पिता शब्द को सार्थक करता है पुत्र अपना ही रूप है। यह वेद वाक्य है- 'आत्मा वै पुत्रनामासि' ॥५॥

विशेष—परलोकवास होने पर भी राजा पुत्ररूप से रहकर प्रजा का पिता बना रहता है; उसका पितृत्वक्षीण नहीं होता॥५॥

राज्ञो विनयमाह—

मर्त्येशस्तूत्थाय प्रागेव नम्रो

हारि श्रुत्वा तद्वचोऽवन्दताङ्घ्री।

वीर्योत्कर्षं वर्णयंस्तस्य चोचे

योगीन्द्राणां वः कृपायाः फलं तत्॥६॥

मर्त्येशः राजा तु प्रागेव पूर्वमेव तद्दर्शनसमकालमेवेति भावः। उत्थाय अभ्युत्थाय नम्रः विनीतः

सन् हारि मनोहरं तस्य विश्वामित्रस्य वचः वचनं श्रुत्वा आकर्ण्य अङ्घ्री पादौ अवन्दत प्राणमत्। एतच्चरण-कृपयैव सिद्धिरिति दर्शयितुमिति भावः। तस्य विश्वा-मित्रस्य च वीर्योत्कर्षं प्रभावातिशयं वर्णयन् ऊचे उक्तवान्। वः युष्माकं योगीन्द्राणां योगीश्वराणां योगीन्द्र-शब्दप्रयोगेण तस्य रामसाक्षात्कारित्वं विवक्षितम्। कृपायाः अनुग्रहस्य तत् प्रागुक्तं रामसदृशपुत्रप्राप्तिरूपं फलं परिणामः अस्तीति शेषः ॥६॥

अर्थ—राजा की विनम्रता : राजा ने तो विश्वामित्र के दर्शन के साथ विनम्रता से उठकर और उनकी मनोहारिणी वाणी को सुनकर-ऋषि के दोनों चरणों में प्रणाम किया और उनके प्रभावातिशय का वर्णन करते हुए कहा–'हे मुने ! आप जैसे योगीन्द्रों की कृपा का फल है–राम जैसे पुत्र की प्राप्ति' ॥६॥

राजकृतं तत्सत्कारं पुत्राह्वानं चाह—

द्युस्वामीव स्वर्गुरुं तं प्रपूज्याऽऽ-
तिथ्यं प्रादाद् भक्तिमानातिथेयः।
मान्ये सौख्यादासने चोपविष्टेऽ-
धृष्यानाहूयात्मजानित्यवादीत् ॥७॥

भक्तिमान् भक्तियुक्तः अतिथौ साधुः आतिथेयः "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इति ढञ्। दशरथः द्युस्वामी स्वर्गपतिः स्वर्गुरुं बृहस्पतिम् इव तं प्रपूज्य पूजयित्वा अर्घ्यपाद्याभ्यामिति भावः। आति-थ्यम् अतिथये इदं मधुपर्कादिकमिति भावः। "अति-थेर्ञ्यः" इति ञ्यः। प्रादात् दत्तवान्। "क्रमादाति-थ्यातिथेये अतिथ्यर्थेऽत्र साधुनि" इत्यमरः। च पुनः। मन्ये माननीये विश्वामित्रे इत्यर्थः। सौख्यात् सुखेन आसने उपविष्टे स्थिते सति अधृष्यान् अदम्यान् आत्मजान् पुत्रान् आहूय आकार्य इति वक्ष्यमाणम् अवादीत् उक्तवान्। "वदव्रजहलन्तस्याचः" इति नित्यं वृद्धिः। उपमा ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार स्वर्गस्वामी इन्द्र गुरु बृहस्पति की अर्घ्यपाद्य आदि से पूजा करता है, उसी प्रकार भक्तिमान् आतिथेय राजा दशरथ ने विश्वामित्र की पूजा की। पूजनीय ऋषि के आसन पर विराजमान होने पर राजा ने अपने अदम्य पुत्रों को बुलाया और कहा ॥७॥

अथ षड्भिः पद्यैर्विश्वामित्रस्य महिमानमाह—

तिष्ठत्यग्रे यो मनस्वी तपस्वी
मान्धातेवाऽभूद् विराट् पूर्वकाले।
वर्चोराशिः स त्विदानीं द्विजेन्द्रः
शीतांशुर्वा भाति न क्षत्रनाथः ॥८॥

यो मनस्वी सचेताः तपस्वी तपोधनः अग्रे संमुखे तिष्ठति विराजते स पूर्वकाले पुरा मान्धाता राजविशेष इव वर्चोराशिः तेजोनिधिः विराट् क्षत्रियः "बाहुजः क्षत्रियो विराट्" इत्यमरः। अभूत् आसीत्। मां दशरथं धाता (सूर्यपक्षे) रघुवंशप्रसूतित्वेन (मुनि-पक्षे तु) पूज्यत्वेन पोष्टा इव। विशेषेण राजते शोभते इति विराट् वर्चोराशिः सूर्यः इत्यर्थोऽपि ध्वन्यते। स तु स एव इदानीम् अधुना शीतांशुः चन्द्रः वा इव द्विजेन्द्रः ब्राह्मणश्रेष्ठः अस्ति इति शेषः। तदेव पुनः स्पष्टयति-क्षत्रनाथः क्षत्रियश्रेष्ठः न भाति शोभते। शीतांशुरपि द्विजेन्द्रः द्विजराजः नक्षत्राणां नाथश्च भात्येव। राजसत्वेन राजावस्थायां सूर्यौपम्यं, ब्राह्मणावस्थायां तु सात्विकत्वेन चन्द्रौपम्यमुचितम्। पूर्वमयं क्षत्रिय आसीत् इदानीं ब्राह्मण इति तात्पर्यम् ॥८॥

अर्थ—छः श्लोकों में विश्वामित्र का वर्णन : ये मनस्वी एवं तपोधन जो सामने विराज रहे हैं, ये पहले मान्धाता की तरह क्षत्रिय थे जो सूर्य की तरह तेजस्वी थे-जो मेरे लिये पूजनीय थे। इस समय महर्षि हैं, श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं अतः ये चन्द्र की तरह हैं। यानी इनमें ब्राह्मणोचित सात्विकता है। अर्थात् ये पहले राजर्षि थे और अब महर्षि ॥८॥

विशेष—राजा होने के कारण सूर्य की उपमा दी गई है-तेजस्विता के लिये द्विजेन्द्र में श्लेष है-श्रेष्ठ ब्राह्मण और नक्षत्रों का राजा चन्द्रमा। अतः इस समय इनमें शीतलता या सात्विकता है ॥८॥

बुद्ध्वा क्षात्रं तद्बलं ब्राह्मवीर्या-
द्धिक्कारार्हं यः साधिकारमोज्झत्।

मान्यं चान्यत् स्वीचकार प्रयत्ना-

न्नीतिज्ञानां जित्वरेणैव मैत्री ॥९॥

प्रागुक्तमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति-बुद्ध्वेति। यः (विश्वामित्रः) ब्राह्मवीर्यात् ब्राह्मणबलात् धिक्कारं तिरस्कारम् आप्तं प्राप्तं क्षात्रं क्षत्रियसंबन्धि तत् प्रसिद्धं बलं बुद्ध्वा ज्ञात्वा। "धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्" इति कथनपूर्वकेण वशिष्ठस्याचरणेनेति भावः। सधिक्कारं सापमानम् औज्झत् अत्यजत्। तत् क्षात्रं बलमित्यनुकृष्यते। च पुनः। मान्यं संमाननार्हम् अन्यत् एतदितरं ब्राह्मवीर्यमिति भावः। प्रयत्नात् तीव्रतपश्चरणरूपात् यत्नात् स्वीचकार अङ्गीचकार। अत्र पूर्वोक्तम् अर्थान्तरेण द्रढयति-नीतिज्ञानां नीतिविदां जित्वरेण जयशीलेन एव "इण्नश्जिसर्तिभ्यः क्वरप्" इति क्वरप्। अत्र विनापि सह योगं तृतीया वृद्धो यूनेति ज्ञापकात्। मैत्री मित्रता भवतीति तात्पर्यम्॥९॥

अर्थ—इन्होंने क्षत्रिय बल को जब ब्रह्मबल के सामने हारा हुआ माना तो 'क्षत्रिय बल को धिक्कार' यह कहकर क्षत्रियत्व को छोड़ दिया और महान् तपश्चर्या के बल पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। नीतिज्ञों की जीतने वालों के साथ मैत्री होती है, यह सिद्धान्त है॥९॥

विशेष—'धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्'॥९॥

तिग्मज्योतिर्ज्योतिरभ्याश्नुतेवाऽ-

मान् यद्देहे ब्रह्मतेजःसमूहः।

वाग्ग्मित्वं चेज्जीववक्त्रेऽमितं स्याद्

मीमांसाङ्कं शारदास्यं हि यायात्॥१०॥

यस्य (विश्वामित्रस्य) यो देहः शरीरं तस्मिन् अमान् आधिक्येन स्थातुमशक्नुवन् ब्रह्मतेजसां ब्राह्मणमहसां समूहः राशिः तिग्मज्योतिषः सूर्यस्य ज्योतिः तेजः (कर्म) अभ्याश्नुत. व्याप्नोदिवेति क्रियोत्प्रेक्षा। अत्र दृष्टान्तयति हि यतः चेत् यदि वाग्गिमत्वं वाचोयुक्तिपटुत्वं "वाचो ग्मिनिः" इति ग्मिनिः। जीवस्य बृहस्पतेः यद् वक्त्रं मुखं तत्र। "जीवः प्राणिनि वृत्तौ च वृक्षभेदे बृहस्पतौ।" इति मेदिनी। अमितं स्थातुमशक्तं "द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति" इत्याकारस्येत्त्वम्। स्याद् भवेत् तर्हीति शेषः। मीमांसा समीक्षा, मानेर्जिज्ञासायां सन्नन्तात् "मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य" इति अभ्यासेकारदीर्घत्वम्। ततः "अ प्रत्ययात्" इत्यः प्रत्ययः। सैव अङ्कः चिह्नं यस्य तत् तथोक्तं तत्। मनःकृतमीमांसाव्याख्यान-चिह्नितमिति भावः। शारदायाः सरस्वत्याः आस्यं मुखं यायात् गच्छेत्॥१०॥

अर्थ—इनके शरीर में असीम ब्रह्मज्योति सूर्य की तरह है, जो भीतर न समाकर बाहर फूट रही है। जैसे बृहस्पति के मुख से वाग्मिता पूरी प्रकट न होने के कारण ज्ञान भी मीमांसा चिह्न वाले सरस्वती के मुख में निवास करता है॥१०॥

श्रीकान्तेनोत्तर्क्यमाणां, हरेण

माञ्जिष्ठ्येव प्रेक्षितां क्रोधदृष्ट्या।

शङ्कातङ्कैः शङ्क्यमानां विधात्राऽ-

त्रुट्यत्तारां यो नवां द्यां ससर्ज॥११॥

यः (विश्वामित्रः) श्रीकान्तेन लक्ष्मीपतिना उद् उत्कृष्टतया तर्क्यमाणां तर्कविषयीक्रियमाणां, हरेण रुद्रेण मञ्जिष्ठया रक्तया इव माञ्जिष्ठ्या क्रोधवशा-दारक्तयेति भावः। "तेन रक्तं रागात्" इत्यण्। क्रोध-दृष्ट्या कोपदृशा प्रेक्षितां दृष्टां, विधात्रा ब्रह्मणा शङ्काश्च आतङ्काश्च तैः मानसिकशङ्कातापैरित्यर्थः। "रुक्तापश-ङ्कास्वातङ्कः" इत्यमरः। शङ्क्यमानाम् आशङ्क्यमानां, न त्रुट्यन्त्यः परस्पराकर्षणेन अविचलन्त्यः ताराः तारकाः यत्र तथोक्तां तां नवाम् अभिनवां द्यां दिवं ससर्ज अकरोत्॥११॥

अर्थ—इन्होंने नये स्वर्ग का निर्माण किया था-जो विष्णु की शक्ति से बढ़कर था, शिवजी उसकी ओर भयंकर क्रोध दृष्टि से देखते रहे, ब्रह्मा, शङ्का और आतंक से भरे गये। स्वर्ग भी ऐसा-जिसके तारे कभी टूटते नहीं॥११॥

विशेष—विश्वामित्र की शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, और महेश से भी बढ़कर है॥११॥

निर्भीशंकोऽभूत् त्रिशंकुः श्रितो यं

बर्हिर्ज्वालाजाज्वलद्ब्रह्मदेहम्।

हर्षोत्कर्षाधायिपूर्णांशु बालै-

णः संप्राप्तः सन् यथा चन्द्रबिम्बम्॥१२॥

बर्हिषः अग्नेः ''बर्हिः पुंसि हुताशने। नः स्त्री कुशे'' इति शब्दार्णवः। या ज्वाला तद्वत् जाज्वलत् देदीप्यमानः ब्रह्मदेहः ब्राह्मणशरीरं यस्य स तथोक्तः तं यं (विश्वामित्रं) श्रितः आश्रितः त्रिशंकुः राजविशेषः निर्भीशङ्को निर्भयाशङ्कः वशिष्ठादित इति भावः। अभूत् अभवत्। अत्रोपमिमीते-यथा हर्षोत्कर्षस्य प्रमोदातिशयस्य आधायिनः कारकाः पूर्णाः अखण्डिताः अंशवः किरणाः यस्य तत् तथोक्तं तत् चन्द्रबिम्बं चन्द्रमोमण्डलं संप्राप्तः आश्रितः सन् बालैणः हरिणशिशुः (निर्भीशंकः सिंहादितः भवति)। अत्र पौराणिकी त्रिशङ्कुयजनकथोन्नेया॥१२॥

अर्थ—इनके शरीर से अग्नि की तरह ब्रह्मतेज प्रकट है, जिसके प्रताप से त्रिशंकु निःशंक होकर इनके बनाये स्वर्गलोक में निवास करता है। जैसे चन्द्रबिम्ब में रहने वाला मृगशिशु सिंहादि से भयभीत न होकर सानन्द रहता है॥१२॥

विश्वामित्रः संज्ञया विश्वमित्रं

पुत्रो गाधेर्याचिनां कामधेनुः।

लां धातुं यो व्यस्मरत् त्यक्तदानः

सोऽयं वत्सा ! वन्द्यतां वन्दनीयः॥१३॥

वत्साः सौम्याः ! यः त्यक्तदानः परित्यक्तप्रतिग्रहः लां धातुं 'ला आदने' इति आदानार्थकं धातुं व्यस्मरत् विस्मृतिपथम् अनयत्। इति गम्योत्प्रेक्षा। सः अयं संमुखे दृश्यमानः वन्दनीयः प्रणमनीयः गाधेः तन्नाम्नो राजर्षेः पुत्रः आत्मजः। याचिनां याचकानां काम[1]धेनुः कामदुघारूपः। विश्वस्य जगतः मित्रं सुहृद्। संज्ञया नाम्ना विश्वामित्रः ''मित्रे चर्षौ'' इति विश्वस्य दीर्घः। विश्वस्य अमित्रः शत्रुः इति शंका मा भूदत उक्तं 'संज्ञया' इति पुनश्च स्पष्टीकृतं 'विश्वमित्रम्' इति। वन्द्यतां प्रणम्यताम्॥१३॥

अर्थ—इनका नाम विश्वामित्र है, इन्हें विश्व का अमित्र न समझना, ये विश्वमित्र हैं। इनके पिता गाधि हैं। ये याचकों के लिये सभी अभिलाषापूर्ण करने वाली कामधेनु सदृश हैं। इन्होंने दान लेना छोड़ दिया है। 'ला आदाने' ला धातु जिसका अर्थ लेना-इसको भुला दिया है। हे बच्चों ! ये ही वे वन्दनीय ऋषि हैं, इनकी वन्दना करो॥१३॥

राजकुमाराणां तदभिवादनमाह—

मत्वा विज्ञा राज्ञ आज्ञामितीमां

हार्दिक्या ते पूर्णभक्त्या विनम्राः।

ब्राहुग्रीवानाममानेमुरस्याऽऽ-

हुः स्वं स्वं च स्माभिधानं च गोत्रम्॥१४॥

ते विज्ञाः विशेषज्ञानशालिनः राजकुमाराः इति इत्थम् इमाम् एतां राज्ञो नृपस्य आज्ञाम् आदेशं मत्वा ज्ञात्वा हार्दिक्या मानसिक्या पूर्णभक्त्या विनम्राः नम्रीभावं गताः सन्तः। अस्य विश्वामित्रस्य ''कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव'' इति वचनात्कर्मणि षष्ठी। इमं विश्वामित्रमित्यर्थः। बाहू भुजौ च ग्रीवा च कन्धरा चेत्यनयोः आनामः अवनमनं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा आनेमुः अवन्दन्त। च पुनः। स्वं स्वं निजं निजम् अभिधानं नाम च पुनः गोत्रम् ऋषिशब्दवाच्यम् अन्वयम् आहुः स्म वदन्ति स्म॥१४॥

अर्थ—राजकुमारों द्वारा अभिवादन :-उन समझदार राजकुमारों ने पिता की आज्ञा को जानकर हृदय से भक्तिभाव पूर्वक अपना-अपना गोत्र सहित नाम ले-ले कर विनम्र होकर भुजा-ग्रीवा-कन्धा आदि झुकाकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया॥१४॥

तस्य स्वस्तिवादमाह—

कम्बुश्वेतैर्दन्तरोचिर्भिरास्य-

बुद्धाम्भोजस्रस्तनालोपमानैः।

ग्रीवास्वेषां हारमारोपयन् सोऽ-

वोचत् स्वस्त्याशीर्वचांसि प्रकामम्॥१५॥

१. कामधेनुपदं सर्गनामोपलक्षणम्।

कम्बुश्वेतैः शङ्खधवलैः। आस्यं मुखमेव बुद्धं विकसितं "बुद्धो जिने च विदुषि ज्ञाते फुल्लेऽभिधेयवत्" इति शब्दार्णवः। अम्भोजं कमलं तस्य स्रस्तं पतितं यन्नालं मृणालं[1] तदेव उपमानं येषां तानि तथोक्तानि तैः मुखकमलस्य मृणालसदृशैरित्यर्थः। दन्तरोचिर्भिः दशनकान्तिभिः एषां राजकुमाराणां ग्रीवासु हारं मुक्तावलिम् आरोपयन् परिधापयन् इवेति गम्यते तेन गम्योत्प्रेक्षा। सः विश्वामित्रः स्वस्त्याशीर्वचांसि मङ्गलाशीर्वादान् प्रकामं पर्याप्तम् अवोचत् अवादीत्॥१५॥

अर्थ—विश्वामित्र का मुख जो शंख की तरह श्वेत था, जिस मुख कमल में दाँतों की उज्वल काँति कमलनाल के तन्तुओं की तरह थी उस मृणाल तन्तु को मानों राजकुमारों को मुक्ताहार पहनाते हुए जी भरकर खूब ही आशीर्वचन कहे॥१५॥

अथ विश्वामित्रः त्रिभिः पद्यैः राक्षसोपद्रवं निर्दिशन् तन्निरासाय राजकर्तव्यमाह—

मर्त्याधीशं प्रत्यवादीदथाऽसौ

हानिं नीताः स्मो वयं यातुधानैः।

हव्यं भव्यं नव्यनव्यं च कव्यं

नुः क्रव्यं वा ते बलाद् भक्षयन्ति॥१६॥

अथेत्यनन्तरम्। असौ विश्वामित्रः मर्त्याधीशं राजानं प्रति अवादीत् अकथयत्। यातुधानैः राक्षसैः वयं हानिं क्षतिं नीताः प्रापिताः स्मः। कथमिति तां (हानिं) प्रकटयति—ते यातुधानाः भव्यं शोभनं हव्यं दैवमन्नं च पुनः नव्यनव्यं नवनवं कव्यं पित्र्यमन्नं "हव्यकव्ये दैवपित्र्ये अन्ने" इत्यमरः। नुः मनुष्यस्य क्रव्यं मांसं वा इव बलात् बलात्कारेण भक्षयन्ति खादन्ति॥१६॥

अर्थ—तीन श्लोकों में राक्षसों के उपद्रवों का वर्णन और उनके निवारण के लिये राजकर्तव्य : विश्वामित्र ने राजा दशरथ से कहा कि ये राक्षस हमारी बहुत हानि करते हैं। देवताओं के लिये अर्पित किया जाने वाला हव्य, पितरों के लिये अर्पित किया जाने वाला नव-नव कव्य तथा मनुष्यों का मांस-ये राक्षस बलात् खा जाते हैं॥१६॥

मन्त्रस्पृष्टं भाजनं दूषयन्ति

होमद्रव्याण्याशु विद्रावयन्ति।

रस्यन्नं ते नीरसीकुर्वते च

को वा दुष्टैः शिष्टयत्नो न दूष्यः॥१७॥

ते यातुधानाः मन्त्रस्पृष्टम् ऋचा संस्कृतं भाजनं पात्रं दूषयन्ति विकारं नयन्ति, होमद्रव्याणि हवननिमित्तानि वस्तूनि आशु शीघ्रं विद्रावयन्ति अपनयन्ति, च पुनः रसि रसवत् अन्नं नीरसीकुर्वते रसरहितं कुर्वन्ति। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति वाऽथवा दुष्टैः दुर्जनैः कः शिष्टयत्नः सज्जनप्रयत्नः न नहि दूष्यः दूषयितुं शक्यः। दुषेर्णिचि "दोषो णौ" इत्यूत्वम्॥१७॥

अर्थ—ये राक्षस हमारे मन्त्रसंस्कृत पात्र दूषित कर देते हैं। होमसामग्री को छीन लेते हैं, सरस अन्न को नीरस कर देते हैं दुष्टों के द्वारा कौन से शिष्टयत्न दूषित नहीं होते हैं॥१७॥

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार॥१७॥

मन्त्रो नश्यत्याशु तन्नर्दनेन

हेष्यश्वानां ह्रेषयेवेष्टगीतम्।

वाक्ये श्रौते नश्यति ह्यर्थनाशः

सोऽयं विघ्नो वार्य उर्वीश्वरेण॥१८॥

तेषां दुष्टानां (यातुधानानां) यद् नर्दनम् उन्नादः तेन आशु शीघ्रं मन्त्रः उच्चार्यमाणा ऋक् नश्यति स्खलति। अत्रोपमिमीते-हेषन्ते इति हेषिणः 'हेषृ ह्रेषृ अव्यक्ते शब्दे' अस्मात् कर्तरि णिनिः। ते च ते अश्वाः घोटकाः तेषां ह्रेषया अश्वशब्देन "हेषा ह्रेषा च निःस्वनः" इत्यश्वप्रकरणेऽमरः। इष्टम् ईप्सितं गीतं गानमिव। यथा ह्रेषया उद्गीयमानं गानं नश्यति तथेत्यर्थः। हि यतः श्रौते श्रुतिसंबन्धिनि वैदिके इत्यर्थः। वाक्ये वचने नश्यति स्खलति सति अर्थनाशः प्रयोजनविनाशः भवतीति शेषः। सः अयम् एषः विघ्नः अन्तरायः उर्वीश्वरेण राज्ञा वार्यः निवारणीयः वर्णाश्रमरक्षणस्य राजकर्तव्यत्वादिति भावः। उरुः महान्

---

१. "नालं काण्डे मृणाले च" इति हैमः।

ईश्वरः परमेश्वरः रामः तेन वार्यः वारयितुं शक्यः इत्यर्थोऽप्यत्र ध्वन्यते। एष एव च विश्वामित्रस्य आन्तर आशयः॥१८॥

अर्थ—राक्षसों के हा-हुल्लड़ करने से हमारे मन्त्र (उच्चार्यमाण मन्त्र) गड़बड़ा जाते हैं। इतना ही नहीं जैसे घोड़ों की हिनहिनाहट से इष्टगीत नष्ट हो जाता है-उसी तरह हमारे इष्टार्थ में बाधा पड़ती है। श्रुत-सम्बन्धी हमारे वाक्यों में जो हमारा प्रयोजन है, वह भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् हमारे मन्त्र, हमारे गीत एवं प्रयोजन सब निष्फल हो जाते हैं। यह हमारा विघ्न आप जैसे पृथ्वीपति के द्वारा ही दूर करने योग्य है। या 'उरु ईश्वरेण' यानी महान् ईश्वर-परमेश्वर राम के द्वारा ही यह विघ्न हटाया जा सकता है॥१८॥

विशेष—यहाँ 'उर्वीश्वरेण' की दो प्रकार से सन्धियाँ अभीष्ट है उर्वी + ईश्वरेण तथा उरु + ईश्वरेण। पहले में दशरथ से अभिप्राय है; पर, दूसरे में विश्वामित्र का मर्मार्थ छिपा है। जो राम (महान् + ईश्वर) को प्रकट करता है॥१८॥

गूढोक्तिं तामग्रहीद् राजमेधा

ढक्का यद्वद् गाननृत्त्योर्लयाऽऽस्थाम्।

जय्याः किं तेऽवश्यजय्या धियेति

त्रुट्यद्धैर्यः प्राक् ततोऽधाद् धृतिं सः॥१९॥

राज्ञो दशरथस्य मेधा धारणावती बुद्धि तां विश्वामित्रोक्तां गूढां मार्मिकीम् उक्तिं वाणीम् अनन्तरपद्यप्रयुक्तेन उर्वीश्वरशब्देन ध्वनितामिति भावः। अग्रहीत् जग्राह। अत्रोपमानमाह-यद्वद् यथा ढक्का वाद्यविशेषः गाननृत्त्योः गीतनर्तनयोः लयस्य कालक्रियामानसाम्यस्य आस्थाम् अपेक्षां (गृह्णाति तथेति भावः)। "कालस्य क्रियया मानं तालः, साम्यं पुनर्लयः" इति। तथा "आस्था यत्नालम्बनयोरास्थानापेक्षयोरपि" इत्युभयत्र हैमः। यथा निपुणवादकेन वाद्यमाना ढक्का गायकस्य नर्तकस्य च लयं गृह्णाति तथा राज्ञो बुद्धिः तां गूढोक्तिं जग्राहेति तात्पर्यम्। किं ते (राक्षसाः) जय्याः जेतुं शक्याः रामेण (नरशरीरेण) इति धिया बुद्ध्या प्राक् पूर्वं त्रुट्यद् नश्यद् धैर्यं धृतिर्यस्य स तथोक्तः सः (राजा) ततः तदनन्तरं ते अवश्यजय्याः अवश्यं जेतुं शक्याः रामस्य ईश्वरत्वेन प्राग् वर्णितत्वादिति भावः। "लुम्पेदवश्यमः कृत्ये" इति वचनाद् मस्य लोपः। इति धिया इत्येतत्पदं देहलीदीपकन्यायेन उभयत्राकृष्यते। धृतिं धैर्यं "धृतिर्धारणधैर्ययोः" इत्यमरः। अधात् धृतवान्। "गातिस्थाघुपाभूभ्यः" इत्यादिना सिचो लोपः॥१९॥

अर्थ—राजा दशरथने अपनी मेधा से विश्वामित्र की मर्मवाणी में छिपे हुए अर्थ को ग्रहण कर लिया; जैसे निपुण वादक के द्वारा बजाया जाने वाला नगारा नर्तक के या गायक के लय को पकड़ कर चलता है, इस प्रकार जो बुद्धि निराश होकर अपने धैर्य को पहले खो चुकी थी, अब राम के ईश्वरत्व में विश्वामित्र के कारण पुनः धैर्यवाली हो गई॥१९॥

विशेष—विश्वामित्र के द्वारा राम के ईश्वरत्व की ओर इंगित किये जाने के कारण पिता दशरथ का शंकाशील हृदय धैर्य से बंध रहा था॥१९॥

राजा मनसि कर्तव्यं विचारयति—

रक्षा कार्या लोकनाथेन लोकेऽ-

रिन्दग्ध्वा प्राग् वह्निनेवैधराशिम्।

दस्युर्दस्युः पावकोऽथो ऋणांशोऽ-

मः स्युः शेषा इत्यमी नेत्यचिन्तत्॥२०॥

लोके जगति। लोकनाथेन जनेश्वरेण जगत्पतिनेति ध्वन्यते। अरिं शत्रुं प्राक् पूर्वं दग्ध्वा भस्मीकृत्य तेजसेति भावः। रक्षा पालना कार्या विधेया। अत्रोपमानमाह–वह्निना अग्निना एधराशिं काष्ठचयमिव। यथाऽग्निः काष्ठराशिं दग्ध्वा रक्षां भस्म करोति तथा राज्ञाऽपि शत्रुं दग्ध्वा रक्षा (पालना) कार्येति तात्पर्यम्। दस्युः शत्रुः, दस्युः चौरः, "दस्युश्चौरे रिपौ पुंसि" इत्यमरः। पावकः अग्निः, ऋणम् उद्धारितं धनं तस्य अंशः लेशः अथो पुनः अमः रोगः "रुगमाऽऽमामया रोगः" इत्यादि मङ्खः। इत्यमी इत्येते शेषाः अवशिष्टाः। सर्वेषां पुंस्त्वादन्तेऽपि पुंस्त्वेन निर्देशः सामान्ये नपुंसकस्याविवक्षितत्वात्। न नो स्युः भवेयुः। इत्यर्थान्तरेण समर्थनम्। इत्येवम् अचिन्तत् व्यचारयत्। स इति

कर्तृपदम्। अनन्तरपद्यादनुकृष्यते। चिंतेराधृषाद्वेति नियमात्पक्षे शप्॥२०॥

अर्थ—राजा मन में कर्तव्य का विचार करता है : जो लोकनाथ है, उसका कर्तव्य शत्रुओं को नष्ट करके प्रजा की रक्षा करना है; जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर राख करती है। चाहे चोर हो, शत्रु हो, कर्ज हो, रोग हो इनका निःशेष ही करना चाहिये। इसे राजा विचार करने लगा॥२०॥

विशेष—'रक्षाकार्या' के दो अर्थ है-रक्षा करना और राख करना॥२०॥

तदाज्ञां च रामं निर्दिशति—

आज्ञाभारं तं महर्षेरसह्यं

जानानोऽन्तः पार्थिवश्चेष्टयैव।

नुन्नो रामे प्राञ्जलि प्रह्वमौलि

बाधोपेक्षं तिष्ठति न्यास्थत द्राक्॥२१॥

महर्षेः विश्वामित्रस्य तम् आज्ञाभारम् असह्यं सोढुम् अशक्यम् अन्तः मनसि "हृन्मध्यस्वीकृतिष्वन्तः" इति शब्दार्णवः। जानानः विदन् पार्थिवः राजा चेष्टया रामचेष्टितेन एव नुन्नः प्रेरितः सन् "नुदविदोन्दत्रा" इत्यादिना तस्य नः प्राञ्जलि साञ्जलिबन्धं प्रह्वमौलि नतमस्तकं, बाधोपेक्षम् अशङ्कितबाधं च यथा स्यात्तथेति। क्रियाविशेषणत्रयम्। तिष्ठति अनुपविष्टां स्थितिं कुर्वतीत्यर्थः। रामे राघवे द्राक् शीघ्रं न्यास्थत न्यवेशयत्। तमाज्ञाभारमिति अनु-कृष्यते निपूर्वादस्यतेः "उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा" इत्या-त्मनेपदे "अस्यतिवक्ती" त्यङि "अस्यतेस्थुक्" इति थुक्। अत्र रामस्य साञ्जलिबन्धत्व-नतमस्तकत्व-बाधोपेक्षत्वस्थितेः आज्ञाभारारोपणकार्यस्य सौकर्य्येण दर्शितत्वात् समाधिरलंकारः। "समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः।" इति तल्लक्षणात्॥२१॥

अर्थ—महर्षि के उस आज्ञाभार को राजा असह्य समझ रहा था; पर, राम की चेष्टा से प्रेरित होकर राजा हाथ जोड़कर, माथा झुकाकर, बाधा में प्रवाह न करने की मुद्रा में, आज्ञार्थ सामने खड़े हो गये। यानि राजा को विश्वास हो गया-यह असत्य नहीं है॥२१॥

त्रिभिस्तदंतर्गतां शिक्षां निर्दिशति—

हुः-शब्दांस्तान् मङ्क्षु रक्षःशुनस्त्वं

सुज्ञोऽरण्याद् द्रावयेः केसरीव।

शिक्षाबोधोऽस्य त्वया नैव हार्यो

राः संगुप्तः किंपचेनेव वत्स!॥२२॥

भो वत्स ! सौम्य ! सुज्ञः अभिज्ञः सन् त्वं केसरी सिंह इव 'हुः' इति शब्दानुकरणं तदेव शब्दयंति उन्नदंति ते तथोक्ताः तान् रक्षांसि राक्षसा एव श्वानः कुक्कुराः तान् अरण्यात् वनात् मंक्षु शीघ्रं द्रावयेः अपगमयेः। त्वया भवता अस्य महर्षेः शिक्षाबोधः तत्तच्छिक्षणपरिज्ञानं नैव हार्यः अपगमयितव्यः। अत्रोपमानमाह-किंपचेन कृपणेन "कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचा-ऽनमितंपचाः।" इत्यमरः। संगुप्तः संरक्षितः राः। धनमिव। किम्पचशब्दस्य 'किंपचः किंपचानश्चे' ति द्वैरूप्यम्॥२२॥

अर्थ—राजा की राम को शिक्षाएँ : हे सौम्य! हे अभिज्ञ ! तुम सिंह जैसी हुंकार से राक्षसरूपी कुक्करों को तपोवन से भगा देना। महर्षि की शिक्षा को तुम भूलना मत। सदा ऐसे छिपा कर रखना, जैसे कंजूस धन को छिपा कर रखता है॥२२॥

तत्र लक्ष्मणेन सहवास उचित इत्याह—

सुख्येधि त्वं लक्ष्मणेनानुयातो

लक्ष्मीवान् यत् स्यात् सहायो जगत्याम्।

लाभो भूयान् साह्यतः सौम्य मा स्माऽ-

टः कान्तारे त्वं ततो निःसहायः॥२३॥

हे सौम्य ! त्वं लक्ष्मणेन सौमित्रिणा अनुयातः अनुगतः सन् सुखी सौख्यवान् एधि भव। "ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इत्येत्। यद् यतः जगत्यां लोके लक्ष्मीवान् श्रीमान् सहायः सहकारी स्यात् भवेत्। लक्ष्मणोऽपि लक्ष्मीवानेव "लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणः श्रीलः" इत्यमरवचनात्। साह्यतः साहाय्यात् भूयान् बहुतरः

बहोरीयसुनि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति भूरादेश ईकारलोपश्च। लाभः हान्यभावः अस्तीति शेषः। ततः तस्मात् कारणात् त्वं कान्तारे दुर्गममार्गे "कान्तारं वर्त्म दुर्गमम्" इत्यमरः। निःसहाय एकाकी मा स्म अटः मा भ्रम। अटेः स्मोत्तरे माङि लङ्। आडभावः॥२३॥

अर्थ—हे सौम्य ! लक्ष्मण तुम्हारे साथ रहेगा, इसके साथ से तुम सुख को प्राप्त करोगे। जैसे संसार में लक्ष्मीवान् के साथ से सुख मिलता है। इसके साथ तुम्हें लाभ ही लाभ है। निःसहाय होकर अकेले जंगल में न भटकना॥२३॥

महर्षिसंगत्या महत्त्वं रक्षोनाशश्चेत्याह—

सुज्ञेऽमुष्मिन् संगते वां महत्त्वं

विश्वस्य स्याद् दीर्घतर्षौ हि मित्रे।

क्रव्यादोघस्तद् युवाभ्यां विलाताऽऽ-

मः शारीरो दस्रकाभ्यामिवोग्रः॥२४॥

अमुष्मिन् एतस्मिन् सुज्ञे विज्ञे विश्वामित्रे इति यावत्। संगते संमिलिते सति वां युवयोः महत्त्वं गौरवम् अस्तीति शेषः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः ऋषौ मुनौ मित्रे सुहृदि सति विश्वस्य जगतः दीर्घता लाघवाभावः महत्त्वमित्यर्थः। स्याद् भवेत्। इत्यनेन "मित्रे चर्षौ" इति सूत्रमपि प्रस्तुतस्य विश्वामित्रस्य साधकं व्याख्यातम्। तथाहि-ऋषौ वाच्ये मित्र-शब्दे परे विश्वस्य दीर्घता स्यादिति। तत् तस्मात् तत्संगतिरूपात् कारणात् क्रव्यादां राक्षसानाम् ओघः समूहः "क्रव्ये च" इति विटि क्रव्याच्छब्दसिद्धिः। युवाभ्यां युष्मद्द्वयात् विलाता विलीनो भविता। "विभाषा लीयतेः" इत्यात्त्वम्। अत्रोपमानमाह-उग्रः भयंकरः शारीरः दैहिकः आमः रोगः दस्रकाभ्याम् अश्विनीकुमाराभ्यामिव। "नासत्यावश्विनौ दस्रौ" इत्याद्यमरः॥२४॥

अर्थ—ऐसे ज्ञानी विश्वामित्र की संगति से तुम्हें गौरव ही मिलेगा। जैसे ऋषिवाची शब्द के साथ मित्र के लग जाने से दीर्घता प्राप्त होती है (जैसे विश्व + मित्र = विश्वामित्र) अर्थात् ऋषि जब तुम्हारे हितैषी हैं तो तुम्हें दीर्घता-महत्ता अवश्य मिलेगी ही। तुम दोनों मांसाहारी राक्षसों के समूह को इस तरह मिटा दोगे, जैसे अश्विनीकुमार भयंकर दैहिक रोगों को दूर कर देते हैं॥२४॥

विशेष—'मित्रे चर्षौ' सूत्र का सुष्ठु प्रयोग॥२४॥

रामकृतां स्वीकृतिमाह—

स श्रुत्वैवं सुप्रयोगं विधायौ-

मः संव्याञ्जीत् स्वीकृतिं मंगलं च।

सत्यं सिद्धिं जल्पितार्थस्य हीष्टा-

मङ्गीकारः स्वस्तिवाक् च व्यनक्ति॥२५॥

सः रामः एवम् इत्थं श्रुत्वा निशम्य ओमः 'ओम्' शब्दस्य सुप्रयोगं सुशोभनं व्यवहारं विधाय कृत्वा मुखेनेति भावः। स्वीकृतिम् उक्तार्थस्य अङ्गीकारं च पुनः मङ्गलं मङ्गलाचरणं संव्याञ्जीत् प्रकटीकृतवान्। संविभ्यामञ्जेर्लुङि "अञ्जेः सिचि" इति इट्। ओम् इत्यव्ययं स्वीकारवाचकं प्रणववाचकत्वेन मङ्गलवाचकम् "ओमुपक्रमे। प्रणवे चाभ्यपगमे चापाकृतौ च मङ्गले।" इति मेदिनी। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति हि यतः अङ्गीकारः स्वीकारः च पुनः स्वस्तिवाक् मङ्गलवादः जल्पितार्थस्य प्रोक्तस्य कार्यस्य इष्टां वाञ्छितां सिद्धिं साफल्यं सत्यं सम्यग् व्यनक्ति प्रकटयति। रामकृतस्य एकस्यैव 'ओम्' शब्दस्य प्रयोगः स्वीकृतिं मंगलं चेति द्वयं प्रकटीचकारेति तात्पर्यम्॥२५॥

अर्थ—राम ने यह सुनकर 'ओ३म्' कहकर स्वीकृति दी और साथ ही मंगल भी प्रकट किया यह सत्य ही है जब 'ओ३म्' के रूपों में जब कोई 'स्वस्तिवाक्य' उच्चारण करता है तो यह स्वीकृति के साथ मंगलवाची साफल्य भाव भी प्रकट करता है॥२५॥

विशेष—'प्रणवे चाभ्युपगमे चापाकृतौ च मङ्गले।' इति मेदिनी॥२५॥

सरामलक्ष्मणस्य विश्वामित्रस्य प्रस्थानमाह—

विश्वामित्रोऽप्याप्तसुस्थित्युपायो

भक्तश्रीकौ स्वाशुगाद्योपकारैः।

तावाप्यैवं चैत्रराधाविवाप्ताऽ-

ङ्गः कामो द्राग् लोकनाथात् प्रतस्थे॥२६॥

विश्वामित्रोऽपि लोकानाथात् जनेश्वराद् दशरथादित्यर्थः। "लोकेश्वरो जनपतौ विष्णौ च ब्रह्मणीश्वरे" इति संसारावर्तः। स्वैः निजैः आशुगाद्यैः बाणादिभिः "आशुगौ वायुविशिखौ" इत्यमरः। उपकारैः उपकरणैः "उपकारस्तूपकृतौ विकीर्णकुसुमा[1]-दिषु" इति मेदिनी। भक्ता सेविता श्रीःशोभा याभ्यां तौ तथोक्तौ तौ "नद्यृतश्च" इति कप्। धनुर्बाणाद्युपकरणैः शोभावन्तौ इति भावः। तौ रामलक्ष्मणौ एवम् इत्थम् आप्य लब्ध्वा आप्तः प्राप्तः सुस्थितेः सुखावस्थानस्य उपायः येन तथोक्तः सन् "स्थितिः स्त्रियामवस्थाने मर्यादायां च सीमनि।" इति मेदिनी। द्राक् शीघ्रं प्रतस्थे प्रस्थितः। मा अयं वात्सल्येन रामलक्ष्मणौ पुनर्निवर्तयेदित्याशयेन प्रस्थाने शीघ्रता। अत्रोपमानवाक्यमाह-लोकनाथात् महेश्वरात् सुशोभनो य आशुगः पवनः दक्षिणपवनः स आद्यो[2] येषु तैः। उपकारैः उपकरणैः भक्तश्रीकौ शोभावन्तौ चैत्रराधौ चैत्रवैशाखौ वसन्तमासौ इत्यर्थः। आप्य आप्तांगः प्राप्तशरीरः कामः इव। यथा शिवात् प्राप्तशरीरः कामः। इव यथा शिवात् प्राप्तशरीरः कामः चैत्रवैशाखौ वसन्तोपलक्षणभूतौ प्राप्य शीघ्रं प्रस्थितः तथेति भावः॥२६॥

अर्थ—विश्वामित्र राजा दशरथ से दोनों राजकुमारों के साथ जो बाणादि से शोभा को प्राप्त हो रहे थे-शीघ्र ही रवाना हुए, जैसे भगवान् शिव से कामदेव पुनः शरीर को पाकर (अनंग से मनोज के रूप में सशरीरी होकर) चैत्रवैशाख (वसन्त-मित्र) के साथ प्रस्थान करता हो॥२६॥

---

१. यथा पूजायां विकीर्णकुसुमानि, शयने संस्तीर्णानि संस्तरादीनि तेषु उपकरणेषु इत्यर्थः।

२. आद्यशब्देन पुष्पादिसामग्रीह बोध्या।

विश्वामित्रस्य विद्यादानमाह—

स्निग्धस्ताभ्यां पथ्यदात् पथ्यविद्यां

धन्यो विद्यावान् बलां चातिपूर्वाम्।

वश्याऽवार्यक्षुत्तृषौ तेन नाऽन्नाऽ-

र्णःकाम्यन्तौ तावभूतां कदाचित्॥२७॥

पथि मार्गे स्निग्धः स्नेही धन्यः सुकृती विद्यावान् वेदादिज्ञानशाली विश्वामित्रः ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां बलां तन्नाम्नीं च पुनः अतिपूर्वाम् अतिबलां पथ्यां हितां विद्यां चमत्कारिणीं कलाम् अदात् दत्तवान्। तेन कारणेन वश्ये अधीने अवार्ये असह्ये क्षुत्तृषौ क्षुधापिपासे ययोस्तौ तथोक्तौ तौ रामलक्ष्मणौ कदाचित् कदापि, अन्नं च अर्णश्चेति अन्नार्णसी अन्नजले इत्यर्थः। आत्मनः अन्नार्णसी इच्छतः इति अन्नार्णः-काम्यन्तौ "काम्यच्च" इति काम्यचि। अन्नजलाभिलाषिणा-वित्यर्थः। न हि अभूताम् आस्ताम्॥२७॥

अर्थ—स्नेही, सुकृती एवं वेदादि विज्ञानशाली विश्वामित्र ने रास्ते में उन दोनों को बला तथा अतिबला जैसी हितकारिणी तथा चमत्कारिणी विद्यायें सिखाईं। जिससे उन दोनों के भूख-प्यास वश में हो गई। फिर वे भूख-प्यास की पीड़ा से कामनावाले नहीं हुये॥२७॥

द्वाभ्यां मार्गगमनातिशयमाह—

प्रज्ञायेव स्वान्ववायप्रसूतौ

तावाताप्सीच्चण्डरोचिर्न चण्डम्।

पस्पर्शेव स्वं चिकीर्षुः पवित्रं

वान् मन्दार्द्रं गन्धवान् गन्धवाहः॥२८॥

तौ रामलक्ष्मणौ स्वे निजे अन्ववाये कुले सूर्यकुले इत्यर्थः। प्रसूतौ जातौ प्रज्ञाय ज्ञात्वा इव चण्डरोचिः सूर्यः चण्डं तीक्ष्णं यथा स्यात्तथा न नहि आताप्सीत् अतपत्। स्वम् आत्मानं पवित्रं पूतं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरिव गन्धवान् सुगंधिः गन्धवाहः पवनः मन्दं च तत् आर्द्रं जलस्निग्धं यथा स्यात्तथा वान् वहन् सन् पस्पर्श स्पृष्टवान् ताविति शेषः। उत्प्रेक्षा॥२८॥

अर्थ—राम लक्ष्मण दोनों राजकुमार अपने को सूर्यवंशी जानते थे; फिर भी वे सूर्य की तरह तेज से तप नहीं रहे थे। जैसे हवा अपने को पवित्र व सुगन्धित बनाने के लिए धीमी चलती है, फूलों की सुगन्ध ग्रहण करती हुई गन्धवह बनती है और जलस्पर्श से शीतल बनती है उसी प्रकार दोनों राजकुमार चारों ओर से आनन्द लेते हुए शान्तभाव से चल रहे थे॥२८॥

पीयूषौघं कौशिकाऽऽस्येन्दुमुक्तं
नम्रौ पायं पायमालापरूपम्।
वर्त्मातीतं चक्रतुस्तौ सुखेन
क्षायत्येवाऽऽभाषणैर्मार्गखेदः॥२९॥

नम्रौ तौ रामलक्ष्मणौ। कौशिकस्य विश्वामित्रस्य यः आस्येन्दुः मुखचन्द्रः तेन मुक्तं वृष्टम् आलापरूपम् आभाषणरूपं पीयूषस्य अमृतस्य ओघं पूरं पायं पायं पीत्वा पीत्वा। आभीक्ष्ण्ये णमुल्। वर्त्म मार्गं सुखेन अनायासेन अतीतम् अतिगमितं चक्रतुः कृतवन्तौ। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति। आभाषणैः आलापैः मार्गस्य खेदः श्रमः क्षायति नश्यत्येव॥२९॥

अर्थ—विश्वामित्र के मुख-चन्द्र से आलापरूपी अमृतनिर्झर झर रहा था, उसका वे दोनों विनम्र राजकुमार पान करते रास्ते में चले जा रहे थे। इस तरह से उन्होंने मार्ग तय किया। सच है; रास्ते की थकान का बातों में रम जाने से भान नहीं होता है और सुखानुभव होता है॥२९॥

विश्वामित्रकारितं ताडकादर्शनमाह—

विश्वामित्रोऽदर्शयत्तावगस्त्य-
शापेनाप्तां राक्षसं वर्ष्म यक्षीम्।
लावण्योनां ताडकाख्यां चरित्रैः
क्षोदिष्ठामप्युग्रमूर्त्या स्थविष्ठाम्॥३०॥

विश्वामित्रः तौ रामलक्ष्मणौ "दृशेश्च" इति कर्मत्वम्। अगस्त्यस्य तदाख्यस्य मुनेः शापेन राक्षसं रक्षःसम्बंधि वर्ष्म शरीरम् आप्तां प्राप्ताम् अत एव लावण्यात् "मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥" इत्युक्त-लक्षणाद् देहसौन्दर्यविशेषाद् ऊना रहिता तां चरित्रैः वृत्तैः क्षोदिष्ठाम् अतिशयेन क्षुद्रामपि। अपिरत्र विरोधद्योतकः। उग्रया भीषणया मूर्त्या शरीरेण स्थविष्ठाम् अतिशयेन स्थूलाम् "स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणाम्" इत्यादिना क्षुद्रस्थूलशब्दयोरिष्ठनि यणादिपरस्य लोपः पूर्वस्य च गुणः। ताडकाख्यां ताडकानाम्नीं यक्षीं सुन्दाख्ययक्षपत्नीम् अदर्शयत् दर्शितावन्॥३०॥

अर्थ—विश्वामित्र ने रास्ते में दोनों राजकुमारों को ताडका को दिखाया, जो पहले यक्षिणी थी; पर अगस्त के शाप से राक्षसी के शरीर वाली हो गई थी। इससे ताडका का लावण्य भी फीका पड़ गया था। भयंकरता और मोटापन पाकर वह बेडौल हो गई थी॥३०॥

द्वाभ्यां तद्वधार्थमाह—

लक्ष्मीवन्तं चावदद् राममित्थ-
मीक्षस्वैनां पीनदन्तीं नदन्तीम्।
वाञ्छत्येषाऽत्तुं हि नोऽभिद्रवन्ती
शुष्मेव त्वं तच्छमीं संहरैनाम्॥३१॥

च तथा लक्ष्मीवन्तं श्रीमन्तं रामं राघवम् इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण अवदत् उक्तवान्। विश्वामित्र इति शेषः। नदन्तीं गर्जन्तीं पीनदन्तीं स्थूलरदनाम् एनां ताडकां त्वम् ईक्षस्व पश्य। हि यतः अभिद्रवन्ती संमुखमागच्छन्ती एषा ताडका नोऽस्मान् अत्तुं खादितुं वाञ्छति इच्छति तत् त्वं शुष्मा अग्निरिव एनां ताडकां शमीं वृक्षविशेषम् इत्यसमस्तरूपकम्। संहर समापय। 'पीनदन्तीं नदन्तीम्' इति यमकम्॥३१॥

अर्थ—कान्तिमान् रामचन्द्र से विश्वामित्र ने कहा—लो, यह सामने मोटे दाँतों वाली गर्जन करती हुई ताडका आ रही है, उसे देखो वह दौड़ती (झपटती) हुई हमें निगल जाना चाहती है, तुम इसको ऐसे जला डालो जैसे अग्नि खेजड़े को जला देता है॥३१॥

विशेष—'पीनदन्तीं नदन्तीम्' में यमक है॥३१॥

भङ्क्तुं विघ्नान् मादृशां भव्यधाम्नो

लक्ष्मीं पातुं त्वं दशस्यन्दनस्य।

क्षत्त्रीभूतो रक्षणायेति दुःखौ-

णः स्या ईदृक्-शत्रुनाशाज्जगत्याः॥३२॥

मादृशां मत्समानां मुनीनां भव्यस्य शुभस्य धाम्नः स्थानस्य आश्रमपदस्येति भावः। विघ्नान् राक्षसजातिकृतानिति भावः। भङ्क्तुं नाशयितुम्। दशस्यन्दनस्य दशरथस्य लक्ष्मीं शोभां कीर्तिरूपामित्यर्थः। पातुं रक्षितुम्। मुनिबाधाहरणस्य पितृकर्तव्यत्वे त्वया करिष्यमाणत्वादिति भावः। यद्वा भव्यधाम्न इति पदं पुनराकृष्य दशरथस्य भव्यधाम्नः शुभगृहस्य लक्ष्मीं राज्यश्रियं पातुमिति व्याख्येयम्। (जगत्याः) रक्षणाय त्वं क्षत्त्रीभूतः क्षतत्राणप्रयोजनः क्षत्रियीभूतः। इति अतः कारणात्। ईदृशां ताडकासदृशानां शत्रूणां नाशाद् विध्वंसनात्। जगत्या जगतः। दुःखम् ओणति अपनयतीति तथोक्तः। स्याभवेः। एवं शत्रुनाशारम्भप्रसङ्गे विश्वामित्रकृतं रामस्य तज्जन्मप्रयोजनसूचनपूर्वकं सावधानीकरणम्। अथच-क्षत्त्रशब्दाच्च्वौ अपि "रीङ्-ऋतुः" इति रीङि कृते क्षत्त्रीभूत इति सिध्यति। "क्षत्ता शूद्रात् क्षत्रियाजे प्रतीहारे च सारथौ। भुजिष्यातनये क्षत्ता नियुक्ते च प्रजासृजि" इति विश्वप्रमाणात्-त्वं मादृशां मुनीनामाश्रमपदस्य विघ्नशान्त्यर्थं द्वारपालीभूतः। दशरथस्य च रक्षोपलक्षणस्य भव्यधाम्नः सारथ्यधिष्ठानस्थानस्य लक्ष्मी-(शोभा) रक्षणाय क्षत्त्रीभूतः सारथीभूतः। जगत्या रक्षणाय च प्रजापतीभूतस्त्वमित्यर्थत्रयं ध्वन्यतेऽत्र॥३२॥

अर्थ—हम जैसे मुनियों के इन आश्रमस्थानों की रक्षा के लिये तुम दशरथपुत्र क्षत्रिय बनकर आये हो, इसीसे तुम्हें कीर्ति मिलेगी, दुःखों को दूर करना और शत्रु नाश करना इसीमें क्षात्रधर्म की सार्थकता है॥३२॥

स्त्रीवधे रामस्य पापशङ्कामाह—

धर्मज्ञस्येत्युक्तिमाकर्ण्य रामो

मत्वा नारीं पङ्कमङ्के शशङ्के।

ज्ञः पूज्येनादिश्यमानोऽपि बुद्ध्या

सत्यातङ्के तर्कयत्येव किंचित्॥३३॥

धर्मज्ञस्य धर्मविदो विश्वामित्रस्य इति इत्थम् उक्तिं वचनम् आकर्ण्य श्रुत्वा रामः नारीं स्त्रीं मत्वा ज्ञात्वा अङ्के अन्तिके समीपस्थमेवेत्यर्थः पङ्कं पापम्। "अंको रूपकभेदागश्चिह्नरेखाजिभूषणे। रूपकांशान्तिकोत्सङ्गे स्थाने" इति "पंकोऽस्त्री कर्दमे पापे" इति च मेदिनी। शशंके शङ्कितवान्। स्त्रीवधस्य महापापत्वात् समीपमेव फलमिति भावः। यदाह-"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते।" इति। अत्र अर्थान्तरं न्यस्यति-पूज्येन पूजार्हेण आदिश्यमान आज्ञाप्यमानोऽपि ज्ञः पण्डितः आतंके शंकाकारणे सति उपस्थिते यद्वा, सति सद्विषये आतंके शङ्कायां सतीति शेषः। सत्यस्य आतंके वा। बुद्ध्या मत्या, हेतौ तृतीया। किंचित् ईषत् तर्कयति तर्कं करोत्येव॥३३॥

अर्थ—स्त्रीवध में राम द्वारा पाप-शंका प्रकटः धर्मज्ञ मुनि का यह वचन सुनकर राम ताड़का को नारी मानकर उसके वध से तुरन्त ही मिलने वाले पाप की शंका से शंकित हो गये। पूज्य से आदेश पाकर भी बुद्धिमान् शंका का स्थान होने पर जरा तर्क करता ही है॥३३॥

शङ्कानिराकरणं ताडकावधं चाह—

त्यक्त्वा किन्तूदाहृतैरात्मशङ्कां

संधापन्नैः साधुदृष्टान्तमानैः।

धन्वन्याग्नेयाशुगं न्यस्य विज्ञ-

श्चक्री शुक्राम्बामिवाध्वंसयत्ताम्॥३४॥

किन्तु परन्तु उदाहृतैः उदाहरणेन दर्शितैः विश्वामित्रेणेति शेषः। संधां मर्यादां "संधा प्रतिज्ञा मर्यादा" इत्यमरः। आपन्नैः प्राप्तैः साधुभिः शोभनैः

दृष्टान्तमानैः दृष्टान्तप्रमाणैः आत्मशङ्कां स्वशंकां त्यक्त्वा दूरीकृत्य विज्ञः रामः धन्वनि धनुषि आग्नेयम् अग्निदेवताकम् "अग्नेर्ढक्" इति ढक्। यः आशुगः बाणः तं न्यस्य संधाय, चक्री विष्णुः शुक्राम्बां शुक्रमातरम् इव, तां ताडकाम् अध्वंसयद् मारितवान्। अग्निरेव पापरूपं मलं दूरीकरोतीति आग्नेयास्त्रप्रयोगेण रामस्य विज्ञत्वं व्यक्तम्॥३४॥

अर्थ—विश्वामित्र के द्वारा सुन्दर दृष्टान्तों को जानकर अपनी मर्यादा समझकर राम ने अपनी शंका हटा दी और धनुष पर अग्निबाण तानकर ताडका को मार डाला, जैसे विष्णु ने अपने चक्र से शुक्र की माता को मार डाला था॥३४॥

विशेष—आग्नेयास्त्र के प्रयोग से राम का विज्ञत्व सिद्ध होता है, क्योंकि अग्नि ही पापरूप मल को जलाता है (दूर करता है)॥३४॥

तस्या वैकुण्ठगमनमाह—

प्रक्षाल्यैवं राक्षसी शापपापं

जाग्रत्पुण्या प्राप वैकुण्ठलोकम्।

नांऽहस्तिष्ठेद् द्वेषिणोऽपीशयोगे

चर्यावृत्तेः किं पुनर्भक्तिभाजः॥३५॥

एवम् इत्थंरीत्या राक्षसी ताडका शापपापं शापकल्मषं प्रक्षाल्य धौत्वा जाग्रत्पुण्या उदयमानसुकृता सती वैकुण्ठलोकं विष्णुपदं प्राप अगच्छत्। अत्रार्थान्तरम्-ईशस्य ईश्वरस्य योगः सङ्गः तस्मिन् द्वेषिणः शत्रोरपि अंहः पापम् "अंहो दुरितदुष्कृतम्" इत्यमरः। न तिष्ठेत् नैव शिष्यते इत्यर्थः। चर्या नियमाऽपरित्यागो गुरूपदिष्टव्रताद्यनुष्ठानं वा सैव वृत्तिर्जीवनं यस्य स तथोक्तस्तस्य भक्तिभाजः भक्तिं भजतीति तस्य "भजो ण्विः" इति ण्विः। भक्तस्येत्यर्थः। किं पुनः, तस्य तु का कथेत्यर्थः। तस्य तु पापं नैव तिष्ठेदिति भावः॥३५॥

अर्थ—इस रीति से राक्षसी ताडका शाप पाप को धोकर जाग्रत्पुण्यस्वरूपा होकर वैकुण्ठलोक में चली गई। ईश्वर के संग से चाहे शत्रु भी हो, उसका भी पाप जब नहीं रहता है, फिर जो नियमपूर्वक रहता है, गुरु के द्वारा उपदिष्ट व्रतानुष्ठान करता है—ऐसे भक्त का तो पाप मिट ही जायगा इसमें सन्देह नहीं॥३५॥

तेन जनानां शान्तिं प्रकटयति—

हित्वा दुःखं तद्वनस्थायिनो ये

ते संतुष्टास्तुष्टुवू राममार्याः।

रम्यः शुद्धोऽभूदरण्यप्रदेशोऽ-

तः संचारो निर्भयोऽभूज्जनानाम्॥३६॥

ये तद्वनस्थायिनः तद्वननिवासिनः ते आर्याः सज्जनाः दुःखं हित्वा त्यक्त्वा संतुष्टाः मुदिताः सन्तः रामं तुष्टुवुः स्तुतवन्तः। अरण्यप्रदेशः वनोद्देशः रम्यः शुद्धश्च अभूत् अभवत्। अतः कारणात् जनानां लोकानां संचारः गमनं निर्भयः भीतिरहितोऽभूत्॥३६॥

अर्थ—वहाँ से आर्य वनवासियों का दुःख मिट गया। वे सन्तुष्ट हो गये उन्होंने राम की स्तुति की। वह अरण्यप्रदेश शुद्ध और रमणीय हो गया। वहाँ मनुष्यों का निर्भयभाव से आना जाना शुरु हो गया॥३६॥

पुनः प्रस्थानमाह—

यक्षीमित्थं लोकपीडां च साकं

शक्रो विध्वंस्येव वैरोचनीं ताम्।

स्वीकृत्याज्ञां राघवः कौशिकस्य

ज्ञानाम्भोधेराश्रमं प्रत्यचालीत्॥३७॥

इत्थम् एवं, शक्रः इन्द्रः वैरोचनीं विरोचनस्यापत्यं स्त्री ताम् "अत इञ्" इतीञि "इतो मनुष्यजातेः" इति ङीप्। मन्थरामिवेत्यर्थः। राघवः रामः तां यक्षीं च पुनः लोकपीडां जनदुःखं साकं सह विध्वंस्य नाशयित्वा ज्ञानाम्भोधेः ज्ञानसागरस्य कौशिकस्य आज्ञां स्वीकृत्य अंगीकृत्य आश्रमं तदीयं तपोवनं प्रति अचालीत् प्रस्थितः। "अतो ल्रान्तस्य" इति नित्यं वृद्धिः। अत्र ताडकाया लोकपीडायाः सह विध्वंसनदर्शनात् सहोक्तिरलंकारः। "सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः।" इति लक्षणात्॥३७॥

अर्थ—इन्द्र ने जैसे विरोचन की पुत्री मन्थरा को मार डाला था, उसी प्रकार राम ने ताडका के साथ लोकपीड़ा को भी विध्वंस कर दिया। ज्ञानसमुद्र कौशिकमुनि की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे उनके आश्रम की ओर चल पड़े॥३७॥

विशेष—ताड़का के साथ लोकपीड़ा का समाप्त होना—सहोक्ति अलङ्कार है॥३७॥

त्रिभिर्यात्राविनोदमाह—

नश्यद्वीजां दैवमातृक्यभाजं

संप्राप्तां च क्ष्मां नदीमातृकत्वम्।

पश्यन् पादाब्जार्पणेनेति सूताऽ-

न्नः सार्थक्यं प्राप यज्ञात्मतायाः॥३८॥

नश्यन्ति क्षीयमाणानि बीजानि यस्यां सा तथोक्ता ताम् ऊषरामिति भावः। क्ष्मां भूमिं पादाब्जयोः स्वकीयचरणकमलयोः अर्पणेन स्पर्शनेन दैवमातृक्यभाजं देवमातृकस्य भावः तं भजत्यसौ ताम्, देवमातृकत्ववतीमित्यर्थः। च पुनः, नदीमातृकत्वं संप्राप्तां प्राप्तवतीम् "देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसंपन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्॥" इत्यमरः। पश्यन् विलोकयन्, पादयोः विष्णुपदविष्णुपदीजनकत्वेन वृष्टेर्नदीनां चोत्पत्तिर्युक्तैव। इति इत्थंरूपेण सूतम् उत्पादितम् अन्नं येन स तथोक्तः सन् रामः यज्ञात्मतायाः यज्ञस्वरूपतायाः सार्थक्यं चरितार्थत्वं प्राप लेभे। अयं भावः—भगवतः पादस्पर्शनमात्रेणैव ऊषरा भूमी वृष्ट्यम्बुपालिता नद्यम्बुपालिता च दृक्पथम् आगता, अतोऽन्नमुत्पादितवतो भगवतो यज्ञात्मत्वं सिद्धम् "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः।" इति वचनात् हेतुरलंकारः "हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते" इति लक्षणात्॥३८॥

अर्थ—धरती जो ऊषर थी, देवामातृका थी—वर्षा पर निर्भर थी वह भगवान् राम के पदार्पण से नदीमातृका बन गई। राम ने इस प्रकार वहाँ अन्न उत्पन्न कर यज्ञस्वरूप को सार्थक किया॥३८॥

विशेष—इससे स्पष्ट है कि ये यज्ञपुरुष हैं—इसीसे धरती अन्न से भर गई। यहाँ "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः" इस वचन से 'हेतु' अलङ्कार है॥३८॥

शुष्काशुष्कप्रान्तकैः पालिलभ्य-

चिर्भट्योघैः क्वापि यव्यैश्च तिल्यैः।

वश्यस्वान्तोऽप्येष वप्रैरकर्षि

यः संसिद्धेः क्षेत्रमत्राद्भुतं किम्?॥३९॥

क्वापि कुत्रचित् शुष्का असिक्ताः अशुष्का जलसिक्ताश्च प्रान्तकाः प्रान्तभागा येषां तानि तथोक्तानि तैः पालिषु कोटिभागेषु लभ्याः प्राप्याः चिर्भटीनां कर्कटीविशेषाणाम् ओघाः समूहाः येषु तानि तथोक्तानि तैः यव्यैः यवानां भवनैः तिल्यैः तिलानां भवनैश्च "यवयवकषष्टिकाद्यत्" तथा "विभाषा तिलमाषोमाभंगाणुभ्यः" इत्युभयत्र क्रमेण यत्। वप्रैः क्षेत्रैः (कर्तृभिः) वश्यस्वान्तः स्वतन्त्रमना अपि। अपिरत्र विरोधमाभासयति। एष रामः अकर्षि आकृष्यते स्म। अत्रार्थान्तरमाह—यः (रामः) संसिद्धेः उत्पादनादिकारण-भूतायाः प्रकृतेः "संसिद्धिः प्रकृतिः समे" इत्यमरः। क्षेत्रं सिद्धस्थानं "क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः।" इति मेदिनी। अत्र एतस्मिन् किम् अद्भुतम् आश्चर्यम्। न किमपीत्यर्थः। क्षेत्रं हि क्षेत्रैः आकृष्यत एवेति तात्पर्यम्॥३९॥

अर्थ—कहीं जमीन सूखी पड़ी थी, कहीं जल से भरी थी। प्रान्त भाग में कहीं ककड़ियों के ढेर थे, कहीं तिल के तो कहीं जौ के ढेर थे। इस प्रकार चलते हुए ये सिद्ध क्षेत्र में पहुंचे॥३९॥

सक्रीडानां क्रौञ्चकापोतशौक-

मायूराणां कौतुकं प्रेक्षमाणाः।

धिष्ण्यं शान्तेर्द्रागयानाश्रमं ते

मान्द्यं नायान्त्यासचेतोविनोदाः॥४०॥

सक्रीडानां क्रीडया सह वर्तमानानां क्रौञ्चानां समूहः क्रौञ्चम्। एवमेव कपोतानां शुकानां मयूराणां च समूहः। पश्चाद् द्वन्द्वः। सर्वत्र "तस्य समूहः" इत्यण्।

तेषां कौतुकं कुतूहलं प्रेक्षमाणाः पश्यन्तः ते विश्वामित्ररामलक्ष्मणाः शान्तेः शमस्य धिष्ण्यं स्थानं, "धिष्ण्यं स्थानाग्निसद्मसु" इत्यादि मेदिनी। आश्रमं तापसनिवासं द्राक् शीघ्रम् अयान् प्रापुः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-आप्तः लब्धः चेतोविनोदः मनोविनोदः यैः ते मान्द्यं मन्दतां न आयान्ति प्राप्नुवन्ति। ते शीघ्रमेव प्राप्यं स्थानं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥४०॥

अर्थ—क्रौंच, कबूतर, तोता, मोर आदि के क्रीड़ाकौतुक को देखते हुए विश्वामित्र, राम एवं लक्ष्मण शान्त आश्रम स्थान पर शीघ्र ही पहुंच गये। जब मनोविनोद प्राप्त हो तो थकावट नहीं रहती है। वे शीघ्र ही प्राप्यस्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥४०॥

आश्रमप्राप्तानां पूजामाह—

प्रज्ञायैतानागतानाश्रमस्था

जातामोदाश्चक्रुरर्घ्यादिपूजाम्।

पश्यन्तोऽन्तर्ध्यातमिष्टं दृशाऽद्याऽ-

तिथ्यं निन्युस्तं विशेषेण रामम् ॥४१॥

आश्रमस्था आश्रमवासिनो मुनय इत्यर्थः। एतान् आगतान् प्रज्ञाय ज्ञात्वा जातामोदाः संजातहर्षाः सन्तः अर्घ्यादिपूजाम् अर्घ्यपाद्यादिपूजनं "पादार्घाभ्यां च" इति यत्। चक्रुः कृतवन्तः। अन्तः अन्तःकरणे ध्यातं ध्यानविषयीकृतम् इष्टं प्रियं तं रामम् अद्य दृशा चक्षुषा पश्यन्तः साक्षात्कुर्वन्तः सन्तः विशेषेण असाधारणत्वेन आतिथ्यम् अतिथिसत्कारं निन्युः प्रापितवन्तः। अत्रातिथ्यप्रदानस्य कार्यस्य समर्थनम् अन्तर्ध्यानादिकारणं दर्शितमतोऽत्र काव्यलिंगम्। अथ च 'एतान्' इत्यस्य 'आयातान्' इत्यर्थे क्रियमाणे पुनरुक्तवदाभासः। क्रमेण लक्षणं दर्पणोक्तम्— "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते।" तथा "आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥" ॥४१॥

अर्थ—आश्रमनिवासी मुनियों ने इन आये हुए अतिथियों को जानकर आनन्दमग्न हो अर्घ्यपाद्यादि से पूजा की। जिनका अपने हृदय में ध्यान धर रहे थे, उनको सामने देखकर ऋषियों ने राम का विशेषरूप से आतिथ्य किया ॥४१॥

रामकृतं वन्दनमाह—

स प्राग् नम्रीभूय भूयोऽक्षराणा-

मः स्थायीवोपक्रमे दैवतानाम्।

श्रीमान् रामोऽवन्दतैकैकशस्तान्

मान्या मानं मन्वते मान्यमानैः ॥४२॥

अक्षराणां वर्णानाम् अः अकार इव दैवतानां देवानाम् उपक्रमे प्रारम्भे प्रथमत्वेनेति भावः। स्थायी स श्रीमान् लक्ष्मीवान् रामः प्राक् पूर्वं भूयः अतिबहु यथा स्यात्तथा नम्रीभूय नम्रो भूत्वा तान् आश्रमस्थान् मुनीन् एकैकशः एकमेकमित्येकैकशः "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इति शस्। अवन्दत प्रणनाम। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति मान्याः संमानार्हाः मान्यानां मानैः संमानैः मानं संमानं स्वकीयमिति भावः। मन्वते मन्यन्ते ॥४२॥

अर्थ—अक्षरों में (वर्णमाला) में जैसे अकार प्रथम है, ऐसे ही जो देवों में प्रथम हैं, ऐसे भगवान् राम ने अत्यन्त विनम्र होकर एक-एक मुनि को प्रणाम किया। सम्मानयोग्य व्यक्ति मान्य व्यक्तियों के सम्मान से ही अपना सम्मान समझते हैं ॥४२॥

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥४२॥

यागारम्भाय रामस्य विज्ञप्तिमाह—

धाराधारीवाथ वागम्बुधारां

तापच्छित् सोऽमुक्त रामः प्रसङ्गे।

रिक्तीकर्तास्म्याश्रमं यातुधानैः

पुत्रो गाधेरध्वरं प्रस्तवीतु ॥४३॥

अथानन्तरं धाराधारी धाराधरः मेघ इत्यर्थः। इव, तापं दुःखं सूर्यकृतं तपनं च छिनत्तीति स तापापहारीत्यर्थः। रामः प्रसङ्गे प्रस्तावे वाग् वाणी एव अम्बुधारा जलधारा ताम् अमुक्त अवर्षत् । अवददिति भावः। अहम् आश्रमं यातुधानैः राक्षसैः रिक्तीकर्तास्मि शून्यं करिष्यामि। गाधेः पुत्रः विश्वामित्रः अध्वरं यागं "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः" इत्यमरः। प्रस्तवीतु प्रारभताम् "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके" इति वैकल्पिक ईट् ॥४३॥

अर्थ—धाराधर बादल जैसे जल बरसाकर सूर्य के कारण उत्पन्न हुई गर्मी को मिटा देता है, उसी प्रकार राम ने अपनी वाणी की जलधारा से कष्ट को मिटाते हुए कहा, 'मैं इस आश्रम को राक्षसों से शून्य कर दूंगा। हे गाधिपुत्र ! यज्ञ प्रारम्भ कीजिए' ॥४३॥

अथ चतुर्भी रामकृतं रक्षःसंहारमाह—

निश्शङ्केऽथो तत्र जुह्वत्यभीते-

षूच्चैर्मन्त्रान् मन्त्रवित्सूत्पठत्सु।

दर्पाद् रक्षांस्यागुरन्धानि यानी-

नः प्रागेवोद्यन्निवाऽहन् स तानि ॥४४॥

अथो एतद्वचनानन्तरं तत्र तस्मिन् निश्शङ्के शङ्काहीने विश्वामित्रे जुह्वति हवनं कुर्वति सति, अभीतेषु निर्भयेषु मन्त्रवित्सु ऋचाविज्ञेषु मन्त्रान् वेद-ऋचाः उच्चैः तारस्वरेण उत्पठत्सु उच्चारयत्सु सत्सु, उभयत्रैव "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सप्तमी। यानि दर्पाद् गर्वाद् अन्धानि अन्धीभूतानि तमांसीत्यपि ध्वन्यते। रक्षांसि राक्षसाः आगुः आगच्छन् "इणो गा लुङि" इति गादेशे "गातिस्था" इति सिचो लोपः। तानि प्राक् प्रभाते पूर्वं च एव "प्राक् पूर्वस्मिन्नवान्तरे। अग्रे प्रभातेऽतीते च देशे दिक्कालयोरपि।" इति मेदिनी। उद्यन् उदयमानः इनः सूर्य इव सः रामः तानि (रक्षांसि) अहन् अनाशयत् ॥४४॥

अर्थ—राम का यह कथन सुनकर शंकाहीन होकर विश्वामित्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया। मन्त्र जानने वाले ऋषियों ने ऋचाओं का उच्चस्वर से नाद किया। इसे सुनकर घमण्डी राक्षस अन्धे होकर वहाँ आ धमके। जैसे उदय होता हुआ सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, उसी प्रकार राम ने सब राक्षसों को मार डाला ॥४४॥

रक्षःसेनाः खेलता खे लता वा

क्षित्यास्तेन प्रेक्षिताः स्वामिना याः।

ता बाणौघैर्दावतुल्यैर्गृहीत्वा

जीवग्राहं पातयांचक्रिरेऽधः ॥४५॥

तेन खेलता क्रीडता स्वामिना प्रभुणा रामेणेत्यर्थः। क्षित्याः पृथ्वीतः खे आकाशे लता वा लताः इव याः रक्षःसेनाः राक्षससेनाः प्रेक्षिताः दृष्टाः, ताः दावतुल्यैः दवाग्निसदृशैः बाणौघैः शरसमूहैः जीवग्राहं गृहीत्वा जीवन्तीर्गृहीत्वेत्यर्थः। "समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः" इति णमुल्। अधः नीचैः पातयांचक्रिरे पातिताः। उपमा। 'खेलता खेलता' इति यमकं च ॥४५॥

अर्थ—प्रभु राम ने खेल ही खेल में राक्षसों की विशाल सेना जो धरती से आकाश में लता की तरह फैली हुई थी, उसे अपने बाणों की दवाग्नि से नीचे गिराकर भस्म कर डाला ॥४५॥

विशेष—"खेलता खेलता वा" यहाँ यमकालङ्कार है ॥४५॥

वक्रं तासां नायकं घोररूपं

लोकाऽस्तोकापत्तिदानैकदक्षम्।

कञ्चिद् मारीचाख्यमन्यं सुबाहुं

स्यन्नास्रास्यं राक्षसं प्रैक्षताऽसौ ॥४६॥

असौ रामः वक्रं कुटिलं घोररूपं भीषणाकारं लोकानां जनानां या अस्तोका अनल्पा आपत्तिः विपत्तिः तस्या दाने य एको मुख्यः दक्षः निपुणः तथोक्तः तं मारीचाख्यं मारीचनामानं कञ्चित् कमपि तासां रक्षःसेनानां नायकं नेतारं (तथा) अन्यम् अपरं स्यन्नास्रं स्रवद्रुधिरम् आस्यं मुखं यस्य स तथोक्तः तं सुबाहुं तन्नामानं राक्षसं प्रैक्षत अपश्यत् ॥४६॥

अर्थ—राम ने एक मारीच नाम के राक्षस को देखा, जो कुटिल भीषणाकार था, लोगों को बहुत दुःख देने में दक्ष था—वह राक्षसों का सेनापति था। दूसरा था सुबाहु जिसके मुख से रक्त स्रवित हो रहा था ॥४६॥

धर्मापेतं तत्र रामः सुबाहु-

मस्त्रेणाग्नेयेन पूर्वं निपात्य।

स्यन्नं वाऽभ्रं बाणवातेन सिन्धुं

पश्चान्निन्येऽन्यं शतं योजनानि ॥४७॥

रामः तत्र तयोर्मध्ये धर्माद् अपेतं धर्मापेतम् "अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः।" इति पञ्चम्य-न्तस्य समासः। अधर्मिणमिति भावः। सुबाहुम् आग्नेयेन

अग्निदेवताकेन अस्त्रेण पूर्वं प्राग् निपात्य विध्वंस्य पश्चात् अन्यं मारीचमित्यर्थः। स्यन्नं वर्षितवद् अभ्रं मेघं वा इव बाणवातेन शररूपेण वायुना शतं योजनानि योजन-शतमार्गान्तं सिन्धुं संमुद्रं निन्ये प्रापयांचकार। वर्षितवतो मेघस्य वायुद्वारा सिन्धुं प्रति प्रापणमुचितम्। इत्यतः तथा उपमितम् शतं योजनानीत्यत्र "कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे" इति द्वितीया॥४७॥

अर्थ—राम ने पापी सुबाहु को पहले अग्निबाण से जला दिया तथा बाणरूपी हवा से बरसते हुए मेघसदृश मारीच को सौ योजन दूर समुद्र के पास पटक दिया। जैसे हवा बादल को कहीं का कहीं उड़ा ले जाता है, उसी प्रकार राम के बाण ने मारीच को दूर गिरा दिया॥४७॥

तदुपसंहारमाह—

रिक्तं कृत्वा राक्षसै रक्षिणेत्थं
रम्यो देशोऽकारि सिद्धाश्रमस्य।
क्षित्वा क्षित्वा तेऽपि दुष्टा भवाब्धिं
तारं तारं तत्प्रसादेन मुक्ताः॥४८॥

इत्थमेवं रक्षिणा रक्षकेण रामेण राक्षसैः रिक्तं शून्यं कृत्वा सिद्धाश्रमस्य तस्य विश्वामित्रतपोवनस्य देशः प्रदेशः रम्यः रमणीयः अकारि कृतः। तेऽपि दुष्टाः दुर्जनाः राक्षसा इत्यर्थः। क्षित्वा क्षित्वा मृत्वा मृत्वा तस्य रामस्य यः प्रसादः अनुग्रहः, तेन भवाब्धिं संसारसागरं तारं तारं तीर्त्वा तीर्त्वा मुक्ता मुक्तिं गताः॥४८॥

अर्थ—इस प्रकार रक्षक राम ने सिद्धाश्रम को राक्षसों से खाली कर दिया और उस प्रदेश को रमणीय बना दिया। उन दुष्ट राक्षसों को मार-मार कर राम ने अपनी कृपा से संसार-सागर को तार-तार कर उन्हें मुक्ति प्रदान की॥४८॥

रक्षोयूथोन्माथरूपात् स नाथः
क्षित्या भारान्तात् क्षतात्त्राणतश्च।
तात्पर्येणाऽऽस्थाप्य धर्मं निनाय
स्वस्य क्षत्रीभूततां सार्थकत्वम्॥४९॥

स नाथः रामः रक्षसां राक्षसानां यद् यूथं कुलं तस्य य उन्माथः विनाशस्तद्रूपात् क्षित्याः पृथिव्याः भारान्तात् भारनाशात् च पुनः क्षतात् क्षतेः हानेरित्यर्थः। त्राणतः रक्षणात् तात्पर्येण तत्परतया धर्मम् आस्थाप्य संस्थाप्य यज्ञरक्षणरूपेणेत्यर्थः। स्वस्य आत्मनः क्षत्रीभूततां क्षत्रियीभावं सार्थकत्वं चरितार्थत्वं निनाय प्रापयत्। पृथ्वीभारनिवारणाय भगवतो जन्म "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" इति वचनात् सार्थकत्वं क्षतात्राणतश्च क्षत्रजन्मनश्चरितार्थत्वमित्युभयमपि दर्शितम्। क्षतात्त्रायते क्षत्रः इति पृषोदरादित्वात् साधुः। यद्वा 'क्षणु हिंसायाम्' भावे क्विपि क्षत्। ततस्त्रायते क्षत्रः॥४९॥

अर्थ—राम ने राक्षस समूह का विनाश कर पृथ्वी के भार को हल्का किया और उसे हानि से बचाया तथा यज्ञ रक्षणरूप धर्म को पुनः स्थापित किया। इस प्रकार अपने क्षत्रियत्व को, अपने अवतार लेने से सार्थक किया॥४९॥

विशेष—परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥४९॥

स्यन्नास्येन्दुस्तोत्रपीयूषवर्षा
धर्मात्मानस्तुष्टुवुस्तं प्रतुष्टाः।
मत्वाऽपीप्यत् स्वाऽम्बुजाऽलीन् स तांश्च
स्यन्दं स्यन्दं वाग्मरन्दं मुखाब्जात्॥५०॥

स्यन्नं स्रुतम् आस्येन्दोः मुखचन्द्रस्य स्तोत्रं स्तुतिरेव पीयूषवर्षम् अमृतवृष्टिर्येषां ते तथोक्ताः प्रतुष्टाः मुदिताः धर्मात्मानः धार्मिका मुनय इति भावः। तं रामं प्रतुष्टुवुः स्तुतवन्तः। च पुनः स रामः तान् धर्मात्मनः स्वाम्बुजाऽलीन् स्वः आत्मा एव अम्बुजं कमलं तस्य अलयः भ्रमराः तान् मत्वा ज्ञात्वा स्वनिरतान् विदित्वेति भावः। मुखाब्जात् मुखकमलाद् वागेव माधुर्येण मरन्दः मकरन्दः तं स्यन्दं स्यन्दं स्रावयित्वा स्रावयित्वा अपीप्यत् अपाययत्। पिबतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'शाच्छासाह्वा'

इत्यादिना युकि "लोक पिबतेरीच्चाभ्यासस्य" इति अभ्यासस्य ईत्वमुपधाया लोपश्च ॥५०॥

अर्थ—धार्मिक एवं प्रमुदित मुनियों के मुखचन्द्र से भगवान् राम की स्तुतिरूपी अमृत की वर्षा होने लगी। इधर राम ने भी यह जान लिया कि ये मुनि मेरे हृदयरूप कमल में भौरों की तरह निवास करने वाले हैं अतः रामने अपने मुखकमल से वाणी का माधुर्यरूपी मकरन्द बहा-बहा कर खूब पान कराया ॥५०॥

अथ द्वाभ्यां प्रकृतमुपसंहरति—

स्वमखमविकलं समाप्य शिष्य-
जनसहितोऽवभृथादिकं च कृत्वा।
नमति रघुवरे स तत्कनीय-
स्यपि मुमुचे शुभवाक्-स्रजं मुनीन्द्रः ॥५१॥

सः मुनीन्द्रः विश्वामित्रः स्वमखं निजयज्ञम् अविकलं यथा स्यात्तथा पूर्णतयेत्यर्थः। समाप्य समापय्य "विभाषाऽऽपः" इति वा णेरयादेशः। शिष्यजनेन सहितश्च अवभृथादिकं दीक्षान्तयज्ञस्नानादिकं "दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे" इत्यमरः। कृत्वा नमति प्रणमति रघुवरे रामे अपि च तत्कनीयसि तत्कनिष्ठे लक्ष्मणे "युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्" इति कनादेशः। शुभवाक् स्वस्तिवाद एव स्रग् माला तां मुमुचे त्यक्तवान्। आशीरूपां मालां परिधापयामासेति भावः। एतेन विघ्ननिवारणकर्मणः पुरस्कारः प्रकटितः। पुष्पिताग्रावृत्तम्। "अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।" इति तल्लक्षणात् मूलरामायणीयस्य वर्णचतुष्टयस्य लाघवासहत्वेन लघुपूर्वस्य एतादृशो वृत्तस्य गुम्फनं कवेर्निपुणताद्योतकम्। एवमग्रेऽपीदृशस्थलेषु ज्ञेयम् ॥५१॥

अर्थ—मुनीन्द्र विश्वामित्र ने यज्ञ की पूर्णरूपेण समाप्ति कर अपने शिष्यों के साथ यज्ञान्त-अवभृथ स्नान किया और प्रणाम करते हुए राम और उनके छोटे भाई लक्ष्मण को अपनी आशीर्वादरूपी माला पहना कर मानो पुरस्कृत किया ॥५१॥

चण्डांशुशीतकिरणाविव सोऽभिरामौ
रक्षोऽन्धकारपरिवारनिवारणेच्छू।
क्षित्यां समं समुदितौ मुदितौ निरीक्ष्य
तावन्तराश्रयत कौशिक आप्तकामः ॥५२॥

इति श्रीकविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा
विरचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये
कामधेनुनामा द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥२॥

स आप्तकामः प्राप्तमनोरथः कौशिकः विश्वामित्रः रक्षांसि राक्षसा एवान्धकाराणि तेषां यः परिवारः समूहः तस्य यन्निवारणं दूरीकरणं तदिच्छू "विन्दुरिच्छुः" इत्युप्रत्ययान्तो निपात्यते। क्षित्यां भूम्यां समं सह समुदितौ सम्यक् उदयितौ मुदितौ प्रीतौ अभिरामौ मनोहरौ चण्डांशुशीतकिरणौ सूर्याचन्द्रसमाविव तौ निरीक्ष्य दृष्ट्वा अन्तः अन्तःकरणेन आश्रयत आलम्बत। वसन्ततिलकं वृत्तम्। अत्र रामलक्ष्मणयोरुपमेययोः सूर्यचन्द्रोपमानापेक्षया सहोदितत्वमुदितत्वरूपविशेषतावर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः। "व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।" इति लक्षणात् ॥५२॥

इति श्रीपंडितविद्याभूषणभगवतीलालशर्मविरचितायां
शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्य-
व्याख्यायां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥२॥

अर्थ—पूर्णकाम विश्वामित्र ने राक्षसरूपी अन्धकार को मिटाने के लिये पृथ्वीपर एक साथ उदित हुए राम-लक्ष्मण रूपी सूर्य-चन्द्र को जानकर उन दोनों को अपने हृदय-स्थान में विराजमान कर लिया इन दोनों की मूर्ति उनके हृदय में बस गई ॥५२॥

जयपुरवास्तव्य राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का **'कामधेनु'** नामक द्वितीय सर्ग समाप्त।

अथ तृतीयः सर्गः

अथ तेषां मिथिलाप्रस्थानमाह—

वेदयित्व ऋषिराट् स मैथिल-

दत्तमाजगवयज्ञसूचनम्।

वेल्लितां जिगमिषां तयोः क्षणा-

दाङ्कयद् हृदि, ततः प्रयातवान् ॥१॥

स ऋषिराड् विश्वामित्रः मैथिलेन मिथिला-निवासेन जनकेनेत्यर्थः। ''सोऽस्य निवासः'' इत्यण्। दत्तं समर्पितम्। अजगवं पिनाकनाम शिवधनुः ''पिनाकोऽजगवं धनुः'' इत्यमरः। तस्याऽयम् आजगवो यो यज्ञः तस्य सूचनं तत्, जनकप्रेषितमामन्त्रणमित्यर्थः। वेदयित्वा ज्ञापयित्वा। ''ऋत्यकः'' इति ह्रस्वः। तयोः रामलक्ष्मणयोः हृदि मनसि वेल्लितां चलितां स्फुरितामित्यर्थः। ''वेल्लितप्रेङ्खिताधूतचलिताकम्पिता धुते'' इत्यमरः। इत्यनेन गन्तुमिच्छायाः प्राक्तनः स्थिरभावः सूचितः। जिगमिषां गन्तुमिच्छां क्षणात् क्षणमात्रत एव आङ्कयत् अङ्कितवान् उत्पादितवानित्यर्थः। ततः तदनन्तरं प्रयातवान् प्रतस्थे। अस्मिन्सर्गे रथोद्धतावृत्तम्, ''रान्नराविह रथोद्धता लगौ'' इति लक्षणात् ॥१॥

अर्थ—ऋषिराज विश्वामित्र को जनक के द्वारा पिनाकयज्ञ की सूचना प्राप्त हुई, इससे राम-लक्ष्मण के मन में वहाँ जाने की इच्छा प्रबल हो उठी। यह क्षण उनके हृदय में अंकित हो गया। वे तीनों चल पड़े ॥१॥

गत्वरोऽपि गमितो नु मन्थरं

तत्कुमार-सुकुमारताधिया।

त्वर्यमाण इव चोन्मनस्तया

ज्ञो व्यलम्बत पथेऽत्वरिष्ट च ॥२॥

गत्वरः गमनशीलोऽपि ''गत्वरश्च'' इति गमेः करप्प्रत्ययान्तो निपातः। ज्ञः विद्वान् विश्वामित्र इत्यर्थः। तयोः कुमारयोः या सुकुमारता कोमलता तस्या या धीः बुद्धिः तया (कर्त्रा) मन्थरं मन्दं यथा स्यात्तथा। ''मन्दगामी तु मन्थरः'' इत्यमरः। गमितः यापितः नु इति तर्के। च पुनः उन्मनस्तया उत्कण्ठि-ततया तयोरिति शेषः। त्वर्यमाणः शीघ्रतां कार्यमाण इव सन् (यथासङ्ख्यं) पथे मार्गे ''वाटः पथश्च मार्गश्च'' इति त्रिकाण्डशेषः। व्यलम्बत विलम्बि-तवान्। च पुनः अत्वरिष्ट शीघ्रतां कृतवान्। स्वाभाविकं मार्गीयं विलम्बनं त्वरणं च तथोत्प्रेक्षितम् ॥२॥

अर्थ—ऋषि गतिशील थे, ज्ञानी थे, उन दोनों राजकुमारों की कोमलता को ध्यान में रखकर तेजी से न चलकर धीमे चल रहे थे। फिर उन दोनों की उत्कण्ठा के कारण तेजी भी करते थे। इस तरह रुकते, धीमे चलते और तेजी से कदम बढ़ाते चल रहे थे ॥२॥

धन्वमार्गणनिषङ्गधारिणौ

नुर्विचेष्टितममू विबिभ्रतौ।

वेदिनं तमनुसस्रतुर्गुरुं

देवराजधनदात्मजाविव ॥३॥

धन्व धनुः मार्गणः शरः निषङ्गः तूणीरः ततो द्वन्द्वः। तान् धारयतः तौ। नुः मनुष्यस्य विचेष्टितं चेष्टां विबिभ्रतौ धरन्तौ अमू रामलक्ष्मणौ तं वेदिनं ज्ञातारं विश्वामित्रं देवराजधनदात्मजौ जयन्तनलकूबरौ गुरुं बृहस्पतिमिव अनुसस्रतुः अनुजग्मतुः ॥३॥

अर्थ—धनुषबाण एवं तरकश को धारण करने से शोभित राजकुमार ज्ञानी विश्वामित्र के पीछे-पीछे चल रहे थे–जैसे गुरु (बृहस्पति) के पीछे इन्द्रपुत्र एवं कुबेरपुत्र नल-कूवर चल रहे हों ॥३॥

चक्षुरप्यजनि चित्तमेव नो

निष्ठितं मुनिकथां निशाम्यतोः।

ठित्करोऽपि पथि काष्ठकुट्टकोऽ-

ना: श्रव: किमु तयोर्हृदं समाक्? ॥४॥

पथि मार्गे मुनिकथां विश्वामित्रकथितमुपाख्यानं निशाम्यतोः शृण्वतोः तयोः रामलक्ष्मणयोः चित्तं मन एव निष्ठितम् एकाग्रं नो अजनि अभूत्, किन्तु चक्षुः नेत्रमपि। नेत्रमपि तद्दर्शनैकाग्रमेवासीदिति भावः। अतः कारणात् ठित्करः ताच्छील्येन 'ठित्' इत्यनुकृत-शब्दकारी काष्ठकुट्टकः। दार्वाघाटः 'खातीचिड़ा' इति प्रसिद्धः पक्षिविशेषः किमु किं श्रवः श्रवणेन्द्रियं मनाक् किंचिद् हरेत् वशीकुर्यात् ? नैवेति भावः। मनस एकाग्रत्वे, श्रवणे चानावश्यके चक्षुषोऽपि एकाग्रत्वे सति परमावश्यकं श्रवणेन्द्रियस्यैकाग्रत्वं कथं व्यपगच्छेदिति तात्पर्यम्॥४॥

अर्थ—मुनि द्वारा कही हुई कथा को सुनते हुए उन दोनों की आँखें ही नहीं चित्त भी एकाग्र हो गया था। वे सुनने में इतने दत्तचित्त थे कि कान और आँख भी उसीमें तन्मय हो गये। रास्ते में कठफोड़ा जो 'ठक्-ठक्' की ध्वनि कर रहा था, उसे क्या ये जरा भी सुन रहे थे ? जब मन एकाग्र है तो आँख और कान तो बहिर्मुख होंगे ही कैसे ?॥४॥

सर्वपातकहरां स जाह्नवीं

वन्दनाऽऽप्लवनपानदर्शनैः।

शास्त्रवित् पथि विलोक्य संमुखेऽ-

स्त्रार्थवेदिनमुवाद राघवम्॥५॥

स शास्त्रविद् शास्त्रज्ञो मुनिः पथि मार्गे सम्मुखेऽग्रे, वन्दनं प्रणामः, आप्लवनं स्नानं, पानं जलपानं दर्शनम् आलोकनं, ततो द्वन्द्वः तैः सर्वाणि पातकानि पापानि हरति तथोक्ता ताम् ''हरतेरनुद्यमनेऽच्'' इत्यच्। जाह्नवीं जह्नुतनयां गङ्गां विलोक्य दृष्ट्वा अस्त्राणां योऽर्थो विषयस्तद्वेदिनं तज्ज्ञं राघवं रामम् उवाद उवाच। प्राधान्येन शास्त्रज्ञस्य अस्त्रज्ञं प्रति गङ्गाविषयकं वर्णनमुचितम्॥५॥

अर्थ—सामने रास्ते में बहती हुई गंगा को (जो वन्दन से, मज्जन से जलपानमात्र से पापों को हरण करने वाली है) देखकर शास्त्रज्ञमुनि से अस्त्रज्ञराम से गंगाविषयक कथन प्रारम्भ किया॥५॥

अथ सप्तभिर्गङ्गां वर्णयति—

थय्यथय्यिति मृदङ्गवादिनीं

तत्-तदारवमिषात्, सुरापगाम्।

त्वन्तरंगकर-नर्तिनीं कला-

ज्ञस्सुपश्य, शृणु मेऽथ गीतिकाम्॥६॥

भो रामेति अध्याहार्यम्। कलाज्ञः संगीत-कलाकुशल इत्यर्थः। त्वम्। तत्तदारवमिषात् स सः अर्थात् तत्तत्स्थलसंपर्कजन्यो य आरवो जलप्रवाहशब्दः तस्य मिषाद् व्याजात्। थय्यथय्यिति थय्यथय्यित्य[१]नु-कारिशब्देनेत्यर्थः। मृदङ्गवादिनीं मृदंगं वादयति सा ताम्। तथा तरंगैरेव करैर्हस्तैर्नृत्यति सा ताम्। सुरापगां गंगाम्। सुपश्य सुतरां पश्य। अथानन्तरम्। मे मम विश्वामित्रस्येत्यर्थः। गीतिकां गानम् शृणु। तद्दर्शितां नृत्यकलां वाद्यवादनकलां च मद्दर्शितां गुणगानरूपां गानकलां च त्वं कलाभिज्ञोऽनुभवेति भावः॥६॥

अर्थ—सात श्लोकों में गंगावर्णन : 'हे राम! तुम कलाविद् हो, देखो गंगा गाती, बजाती और नाचती हुई सामने है। यह देवनदी मृदंग बजाती हुई है, यह जहाँ जिस-जिस जगह टकराती है, वहीं ध्वनि के बहाने थै-थै कर रही है और तरंगरूपी हाथों को उठाकर भिन्न-भिन्न मुद्राओं में नाचती हुई दिखाई देती है। इसको ध्यान से देखो और इस की गीतिका को सुनो॥६॥

विशेष—यहाँ कवि ने गायन, वादन एवं नर्तन के द्वारा सम्पूर्ण संगीत की मधुर मनोहर अवतारणा की है॥६॥

स्मृत्युपागमनतो हिमाऽप्यसौ

तिग्मरुग्रुगिव जाड्यमन्तयेत्।

मान्द्यसंगतिकथा तु का, यतः

प्रज्ञ ! तावकपदादभूदियम्॥७॥

---

१. उन्नतानतपर्वतीयस्थलविशेषेषु नदीपूरस्य तादृशः शब्दः। तत्तत्कल्प-नावशाच्छब्दानुकृतिः।

स्मृतेः स्मरणस्य उपागमनतः आगमनात् स्मरणमात्रेणैवेति भावः। हिमा शीताऽपि असौ तिग्मरुचः सूर्यस्य रुक् कान्तिरिव जाड्यं मूढताम् अन्तयेत् नाशयेत्। हिमाऽपि जाड्यं (शीतग्रस्तताम्) अन्तयेदिति विरोधाभासः। "हिमग्रस्तमूकाऽज्ञेषु जड-स्त्रिषु" इति सौभरिः। सूर्यकान्तिपक्षे तु 'अहिमा (उष्णा)' इति च्छेदः। मान्द्यस्य अभाग्यस्य रोगस्य वा "मन्दोऽतीक्ष्णे च मूर्खे च स्वैरे चाभाग्यरोगिणोः" इति मेदिनी। संगतिकथा संबन्धवार्ता तु का ? न कदापी-त्यर्थः। यतः यस्मात् कारणात् प्रज्ञ ! प्रकृष्टज्ञानशालिन्! हे राम ! इयम् एषा गंगा तावकं यत् पदं चरणः तस्मात् "तवकममकावेकवचने" इति तवकादेशः। अभूत् अभवत्। अत एव जाड्यनाशकात्त्वच्चरणाज्जाताऽपि जाड्यं नाशयेदेवेति भावः। यद्वा "प्रज्ञतावकपदात्" प्रज्ञतायाः विद्वत्तायाः आवकं रक्षकं यत्पदं तस्मादित्यर्थः कर्तव्यः। अत एव तथाविधाज्जाताया जाड्यनाशनमुचितमेव। हेतुरप्यलंकारः। "हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।" इति लक्षणात्॥७॥

अर्थ—यह गंगा स्मरणमात्र से बर्फ की तरह शीतलहोते हुए भी तेज किरणों वाले सूर्य की तरह जड़ता को (मूर्खता) को दूर करती है। फिर जो गंगा का संग करते हैं–देखते हैं, स्नान करते हैं या पान करते हैं–उनकी मन्दता (मूर्खता, अभाग्य या रुग्णता) के टिकने का सवाल ही कहाँ ? हे प्रज्ञ यह तो तुम्हारे चरणों से आविर्भूत हुई है। फिर जाड्य नाशन उचित ही है॥७॥

विशेष—यह गङ्गा आपके पैरों से आविर्भूत हुई है, अतः जाड्य-नाशन में हेतु बताने से हेतु-अलङ्कार है॥७॥

तिग्मभानुकुलजो भगीरथो
भाग्यवानिह समानयद् ह्यमूम्।
नम्र राम रविवंशभूषण
वान्दनं प्रकटयस्व कर्म तत्॥८॥

हे नम्र रविवंशभूषण सूर्यकुलालंकार ! राम! हि यतः तिग्माः तीक्ष्णाः भानवः किरणा यस्य स तिग्मभानुः सूर्यः तत्कुलजः तद्वंशोद्भवः भाग्यवान् भाग्यशाली एतादृशसुकर्माचरणेनेति भावः। भगीरथः अमूम् एनां गङ्गाम् इह मर्त्यलोके समानयत् प्रचारयांचकारेति भावः। तत् तस्मात् कारणात् वान्दनं वन्दन-(प्रणाम) संबन्धि कर्म कार्यं प्रकटयस्व दर्शयेत्यर्थः। नम्र रविवंशभूषण, इति पदयोः साभिप्रायत्वेन परिकरालंकारः "अलंकारः परिकरः सभिप्राये विशेषणे" इति लक्षणात्॥८॥

अर्थ—हे विनम्र भानुकुल भूषण ! तेज किरणों वाले सूर्यवंश में उत्पन्न भाग्यवान् राजा भगीरथ ही इसे धरती पर लाये थे। इससे तुम गंगा के प्रति अपनी वन्दना के कर्म को प्रकट करो। इसे विनम्र हो प्रणाम करो॥८॥

विशेष—'नम्र भानुकुलभूषण' राम का यह विशेषण साभिप्राय है, अतः यहाँ परिकर-अलङ्कार है, "अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे"॥८॥

सर्ग एष जगतीसृजो विधे-
र्वर्णनातिशयसीमनिर्गतः।
लोकपातक-निपात-कर्मणे
कल्पते गतविकल्पकल्पनम्॥९॥

जगतीसृजः जगत्स्रष्टुः विधेः स्वयंभुवः वर्णनस्य योऽतिशयः तस्य या सीमा ततो निर्गतः, अवर्णनीय इति भावः। एष पुरोदृश्यमानः सर्गः सृष्टिः गंगात्मक इति भावः। लोकानां यानि पातकानि पापानि तेषां यत् निपातकर्म विध्वंसकार्यं तस्मै गतं क्षीणं विकल्पकल्पनं संदिग्धानुचिन्तनं यत्र कर्मणि तत्तथा कल्पते प्रभवति। "क्लृपि सम्पद्यमाने च" इति चतुर्थी। ब्रह्मणोऽवर्ण्या इयं सृष्टिः निश्चयेन पापानां नाशाय समर्थेति भावः॥९॥

अर्थ—संसार बनाने वाले ब्रह्मा की यह गंगा–एक ऐसी सृष्टि है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह गंगात्मकसृष्टि अवर्णनीया है। संसार के पापों को नष्ट करने में तो यहाँ पुरुषों के सन्देह भरे चिन्तन के लिये

स्थान ही कहाँ ? यह अवर्ण्या गंगा पापों का निश्चय ही नाश करने में समर्थ है ॥९॥

प्रियु् स्थलाम्बुजदृशो वनश्रियो

यः सदा घनरसं तनोति, सः ।

साधु पूर इह भाति, येन सा

धुक्षितात्मभवदावमस्यति ॥१०॥

इह यस्यां गङ्गायां सः पूरः जल-समूहः "पूरो जलसमूहे स्याद् व्रणसंशुद्धिखाद्ययोः।" इति मेदिनी। साधु शोभनं भाति शोभते। यः स्थलाम्बुजं स्थलकमलमेव दृगु् नेत्रं यस्याः सा तथोक्ता तस्याः वनश्रियः अरण्यलक्ष्म्याः प्रियु् प्रिय इवाचरतीति ततः क्विपि प्रियु् वल्लभ इवाचरन्नित्यर्थः। सदा सर्वदा घनरसं जलं तनोति प्रसारयति। कमलनेत्रायाः कामिन्याः प्रियश्च घनं पूर्णं रसं रतिरसं तनोत्येव। येन पूरेण घनरसेन वा सा वनश्रीः धुक्षितः प्रज्वलितः आत्मभवः स्वसंजातो यो दावः वनाग्निः तम् अस्यति दूरीकरोति शमयतीति भावः। कामिन्यपि प्रियेण घनरसेन वा (करणेन) धुक्षितः प्रज्वलितो य आत्मभवः कामः स एव दावः घनाग्निस्तं शमयत्येव। गङ्गापूरजलेनैव वनाग्निः शाम्यतीति सामान्यमर्थं कविरित्थं वर्णितवान् श्लिष्टोपमा ॥१०॥

अर्थ—गंगा का यह जलसमूह बहुत ही शोभन है। यहाँ स्थलकमल रूपी आँखों वाली वनलक्ष्मी चारों ओर घनरस को फैलाती है—जैसे कोई कमलनयना कामिनी अपने प्रिय के लिए घनरस–रतिरस का प्रसार करती है। यहाँ की रसपूर्ण वनश्री प्रज्वलितदावाग्नि को शान्त कर देती है, जैसे कामिनी प्रिय की प्रज्वलित कामाग्नि का शमन करती है ॥१०॥

विशेष—गंगा अपने पूर (जल) से वनाग्नि को बुझाती है, यही सामान्य अर्थ है ॥१०॥

रत्नवैद्यमिव शोषिताऽहितं

दीनसंश्रितजनार्तिनाशनम् ।

नाकिकाम्यमयि राम ! ते यथाऽऽ-

त्मान्तरं जलमिदं सुमन्महे ॥११॥

अयीति कोमलामन्त्रणम्। हे राम ! रत्नवैद्यं रत्नभूतं वैद्यमिव धन्वन्तरिमिव शोषितायाः शुष्कताया अहितं शत्रुभूतम्। सरसत्तापादकमित्यर्थः वैद्यपक्षे-शोषितायाः क्षयरोगितायाः शत्रुभूतम्। रामपक्षे-शोषिताः समापिता अहिताः शत्रवो येन तत्। दीना ये संश्रिता आश्रिता जनास्तेषाम् आर्तिनाशनं दुःखदारणम्। नन्द्यादेर्ल्युः। नाकिभिः देवैः कामयितुं वाञ्छितुं योग्यम्। पक्षान्तरेऽप्येवम्। इदं जलं गाङ्गमिति भावः। यथा ते तव आत्मान्तरं रूपान्तरं (तथा) सुमन्महे सुतरां मन्यामहे। वयमिति शेषः ॥११॥

अर्थ—हे राम ! यह गंगा शुष्कता की शत्रु है, सरसता पैदा करती है। जैसे धन्वन्तरी (समुद्र से रत्नरूप में उत्पन्न) वैद्य क्षयरोग को मिटाकर स्वास्थ्य प्रदान करता है। जैसे तुम दीन आश्रितजन के शत्रुओं का नाश करके उनके दुःखको मिटाते हो, वैसे ही यह गंगा दीनों (अनाश्रितों) के दुःखों को मिटाती है। जैसे तुमको देवता पूजते है—वैसे ही इस गंगाजल की देवता कामना करते हैं। हमारा यह मानना है कि यह गंगा तुम्हारा ही रूपान्तर है (गंगा के रूप में साक्षात् प्रभु का ही अवतरण हुआ है) ॥११॥

विशेष—इस पद्य में श्लिष्टोपमा-अलङ्कार राम और धन्वन्तरि-वैद्य की समान विशेषता प्रकट करता है।

विष्किरास्तटनगाश्रया अपि

चक्रवाकचटकाशुकादयः ।

क्षय्यदुष्कृतचयाः स्युरत्र, नै-

णः स एव तरतीति योऽम्बुपः ॥१२॥

अत्र अस्मिन् स्थाने स एव एणः मृगः तरति भवसागरादिति भावः। यः अम्बुपः अम्बु जलं पिबतीति सः। इति इत्थं न। किन्तु तटनगः गङ्गातीरद्रुमः आश्रयो

वासो येषां ते तथोक्ताः चक्रवाकाः चटकाः (स्त्रीत्वं विवक्षितम्) शुकाः एते पक्षिविशेषाः इत्यादयोऽपि विष्किराः पक्षिणः "विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा" इति सुड् निपात्यते। क्षय्यः क्षेतुं शक्यः दुष्कृतानां पापानां चयो राशिर्येषां ते तथोक्ताः स्युः भवेयुः। केवलं जलपायी हरिण एव न तरति किन्तु तटाश्रयाः पक्षिणो-ऽप्यत्र तरन्तीति भावः। तरणं संसारोन्मुक्तिरित्यौपचारिकोऽर्थः ॥१२॥

अर्थ—इस गंगा का जल पीने वाले हरिण ही पापों के नष्ट होने से मुक्ति को प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं, अपितु इसके किनारे उगे हुए वृक्षों पर वास करने वाले चकवा, चिड़िया, तोता आदि पक्षियों का भी पापसमूह क्षय (नष्ट) हो जाता है और वे मुक्त हो जाते हैं ॥१२॥

सर्वमेतदुदितं निशम्य स

वन्दनाद्यकृत कर्म राघवः।

दास्यमिच्छुरिव तत्पदोस्तदाऽ-

भिद्रुतौघमिषतः सुरापगा ॥१३॥

स राघवः सर्वम् एतद् उदितम् उक्तं विश्वामित्रेणेति भावः। निशम्य श्रुत्वा वन्दनादि प्रणामादिकं कर्म कार्यम् अकृत कृतवान्। तदा तस्मिन् काले तत्पदोः तस्य राघवस्य पदोश्चरणयोः "पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। दास्यं दासत्वम् इच्छुः इच्छन्तीव सुरापगा गङ्गा ओघस्य जलवेगस्य मिषतश्छलात्। "ओघो वृन्देऽम्भसां रये" इत्यमरः। अभिद्रुता सम्मुखं द्रुतवतीत्यपह्नुतिसमुज्जीविता उत्प्रेक्षा ॥१३॥

अर्थ—विश्वामित्र के द्वारा गंगाविषयक इस कथन को सुनकर रामने वन्दना आदि कर्म किये। इधर दासता की कामना से ही अपने उत्पत्तिस्थान प्रभुचरणों को स्पर्श करने के बहाने ही मानों देवनदी का जलसमूह वेग में बढ़ चला ॥१३॥

विशेष—यहाँ अपह्नुति अलङ्कार से समुज्जीवित उत्प्रेक्षालङ्कार है ॥१३॥

गङ्गयाऽभिरमते मनो ममाऽ-

तः क्षपेयमिह नीयतां गुरो।

सद्-गिरेति कथितो मुनिर्गतिं

भिस्सटामिव हिताशनोऽत्यजत् ॥१४॥

भो गुरो ! पूज्य ! मम मनः गङ्गया अभिरमते प्रसीदति। अतः इयं क्षपा रात्रिः इह अत्र स्थाने नीयतां समाप्यताम् इति सद्गिरा प्रशस्तवचनेन सत्यवचनेन वा "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः। रामेण कथितः उक्तः मुनिः गतिं गमनं मार्गं यात्रां वा अग्रत इति भावः। "यात्राध्वगमने गतिः" इति शंखः। अत्यजत्। अत्रोपमानमाह-हिताशनः पथ्यभोजी भिस्सटां दग्धान्नमिव "भिस्सटा दग्धिका" इत्यमरः ॥१४॥

अर्थ—'हे गुरो ! मेरा मन गंगा में रमण करता है, इसलिये आज की रात यहीं बिताई जाय। ऐसी प्रशस्त या सत्यवाणी श्रवण कर विश्वामित्र ने अपनी गति को ऐसे त्याग दिया, जैसे पथ्यभोजी जले हुए धान (दग्धान्न) का खाना छोड़ देता है ॥१४॥

सज्जनक्रमकरं विलोकयन्

मुद्रिताधिकरणाद्युपद्रवम्।

द्रव्यवत् सुजनचित्तवत् पय

इत्युवाच रघुराट् स लक्ष्मणम् ॥१५॥

रघुराड् रामः द्रव्यवत् धनमिव सुजनचित्तवत् सज्जनमन इव सज्जाः संलग्नाः नक्रा मकराश्च जलचर-विशेषा यत्र तत्तथोक्तं तदिति जलपक्षे। सज्जनम् उपरक्षणं त्रुटेः पूर्णता वा "सज्जनं तु भवेत् क्लीवमुपरक्षणघट्टयोः। वाच्यलिङ्गं कुलीने स्यात् कल्पनायां तु योषिति।" इति मेदिनी। तस्य यः क्रमः परिपाटी तं करोति तच्छीलं तदिति द्रव्यपक्षे। सज्ज-नानां सुजनानां क्रमं शक्तिं करोति उत्पादयतीति तच्छीलं तदिति सुजनचित्तपक्षे। "क्रमः कल्पांघ्रिशक्तिषु। परिपाट्याम्" इति हैमः। मुद्रितः प्रतिबद्धो दूरीकृत इत्यर्थः। आधेः मनोव्यथायाः करणं

विधानं तदादि उपद्रवः येन तत्तथोक्तं तदिति जलपक्षे। एतदेव द्रव्यपक्षे। सुजनचित्त-पक्षे तु मुद्रितः अधिकरणादीनां विशेष-युद्धादीनामुपद्रवो येन तत्तथाभूतं तत्। एतादृशं पयः जलं गंगाया इति भावः। विलोकयन् पश्यन् सन् लक्ष्मणम् इति पुरो वक्ष्यमाणमुवाच। श्लिष्टोपमा॥१५॥

अर्थ—रघुराज राम ने लक्ष्मण से कहा कि हे लक्ष्मण ! यह गङ्गा का जल-ग्राह मगरमच्छों से युक्त है, और मनोव्यथाओं के उपद्रव का प्रतिरोधक है, जैसे द्रव्य सज्जनों की रक्षा करता है और मनोव्यथाओं को दूर करता है, और जिस प्रकार सज्जनों का मन अच्छे मनुष्यों की शक्ति उत्पन्न करता है, और अधिक रण (युद्ध) आदि उपद्रवों को रोकता है। अतः यह गङ्गाजल द्रव्य की तरह और सज्जनों के मन की तरह शोभित है॥१५॥

विशेष—यहाँ श्लिष्टोपमा अलङ्कार है॥१५॥

द्वाभ्यां स्वमुखेन रामो गङ्गां वर्णयति—

वर्षिता इव परात्मना सुधाः

सिन्धुसक्ताविषदोषहा इमाः।

धुन्वतेऽत्र रुज आप एकदाऽऽ-

भिः श्रिताभिरमरो भवेद् भवी॥१६॥

अत्र लोके सिन्धौ समुद्रे सक्तो लग्नो यो विषदोषः गरलविकारः तं जहति मुञ्चन्ति हरन्तीत्यर्थः ''आतोऽनुपसर्गे कः'' इति कः। गङ्गायाः समुद्रसंगत्या एषा कल्पना युक्ता। ईदृश्यः परात्मना परमेश्वरेण वर्षिताः सुधाः अमृतानीव इमा आपः जलानि रुजः रोगान् धुन्वते दूरीकुर्वन्ति। एकदा एकवारं श्रिताभिः आश्रिताभिः आभिः अद्भिः भवी संसारी अमरः देवः भवेत् स्यात्। विषदोषनाशिनीभिः सुधाभिरिव अद्भिः अमरता (मरणराहित्यं) सिध्यत्येव॥१६॥

अर्थ—दो श्लोकों में राम द्वारा गंगावर्णन : गंगाजलरूप से परमात्मा ने अमृत बरसाया है, जिससे समुद्र में लग्न गरलविकार दूर होता है। जो जल बीमारियों को दूर करता है और जो भी संसारी इस जलका एक वार भी सहारा लेता है, वह देवत्व प्राप्त करता है॥१६॥

विशेष—विष दोष को दूर करने वाले जल की अमरता तो सिद्ध ही है॥१६॥

आर्यतां द्रुतमनार्य एत्यहो

यः स्वभावपतितः स पूयते।

सर्वदोषशमि गाङ्गमम्ब्विदं

वर्णिता पतितपाविनी ह्यसौ॥१७॥

अनार्यः म्लेच्छः आर्यताम् आर्यत्वं द्रुतं शीघ्रम् एति प्राप्नोति। अहो इत्याश्चर्ये। यः स्वभावेन पतितः च्युतः स पूयते शुध्यति। गांगेन अम्बुना इत्युभयत्र संवध्यते। इदं गाङ्गं गङ्गासम्वन्धि अम्बु जलं सर्वदोषशमि सर्वदूषणापहारि अस्तीति शेषः। अत्रार्थान्तरेण द्रढयति-हि यतः असौ गङ्गा पतितपाविनी पतितान् पुनातीत्यसौ वर्णिता कथिता॥१७॥

अर्थ—अहो ! गङ्गा जल से अनार्य आर्यत्व को प्राप्त करता है। जो स्वभाव से पतित है, वह शुद्ध हो जाता है। यह गंगा का जल सारे दोषों का नाश करने वाला है। यह पतित पाविनी है, ऐसा वर्णन है-इसका॥१७॥

स स्तुवन्निति सुरापगां पर-

मश्नुवान इव मोदमाप्लुतः।

चैलमम्बु च सुपीतमादधौ

वन्दनाद्यकृत कर्म चाखिलम्॥१८॥

इति एवं सुरापगां गङ्गां स्तुवन् स्तुतिविषयी-कुर्वन् परं परमं मोदम् आनन्दं ब्रह्मानन्दमित्यर्थः। अश्नुवानः प्राप्नुवन्निव आप्लुतः स्नातवान्। ''आप्लाव आप्लवः स्नानम्'' इत्यमरः। सुपीतं सुष्ठु पीतं हरिद्राभं चैलं वस्त्रम् आदधौ धृतवान्। च पुनः सुपीतं सुष्ठु पानविषयीकृतम् अम्बु जलम् आदधौ पीतवान्। पीतस्य जलस्य पुनः पाने आनन्दातिशयः कारणम्। अत्र 'सुपीत'

मित्येकमेव विशेषणम्, "आदधौ" इत्येकैव क्रिया च चैलाम्बुभ्याम् उभाभ्यां सहान्वीयत इति तुल्ययोगितादर्शी चमत्कारातिशयः। धारणार्थकस्य धाञः पानार्थकस्य धेटश्च "आदधौ" इति समानं रूपम्। अखिलं सर्वं च वन्दनादि प्रणामादि कर्म अकृत कृतवान्। प्राग्वर्णितं वन्दनादिकर्म प्रारम्भे साधारणतया एतत्तु रात्रिसमापनान्तं प्राभातिकं विशेषतया वर्णितम्॥१८॥

अर्थ—राम ने गंगा की स्तुति करते हुए परम-आनन्द की प्राप्ति का अनुभव किया। उसमें स्नान किया। सुन्दर पीताम्बर को धारण किया। पानी को पीकर पुनः पान किया (जल को पीकर पुनः पीना) आनन्दातिशय की व्यंजना है। प्रभात के वन्दना आदि समस्त कर्म इस प्रकार सम्पन्न किये॥१८॥

अथ चतुर्भिस्तत्रत्याश्रमादिदर्शनमाह—

सम्यगत्र जघनायितं स्पृशन्

दैवमोहि पुलिनं मृदूज्ज्वलम्।

वर्णिनां प्रददृशेऽमुनाऽऽश्रमः

प्रिय् सुपर्वसरितोऽनुकूलगः॥१९॥

अत्र इह स्थले अमुना रामेण दैवं देवानां समूहः तं मोहयतीति तत्। मृदु कोमलम् उज्ज्वलं विमलम्, अत एव जघनायितं जघनवदाचरितं गङ्गाया जघनायितं जघनवदाचरितं गङ्गाया जघनसदृशमिति भावः। पुलिनं तोयोत्थिततटप्रदेशं स्पृशन् सुपर्वसरितः देवनद्याः अनुकूलं कूलस्य तीरस्य योग्यम् अनुकूलं, तद् गच्छति तिष्ठतीति असौ अनुकूलगः। तीरस्य योग्यतानुसारं स्थित इति भावः। प्रियपक्षे अनुकूलम् अप्रतिकूलं यथा स्यात्तथा गच्छति आचरति तथोक्तः। अत एव प्रिय इवाचरतीति प्रिय् वर्णिनां ब्रह्मचारिणां "वर्णिनो ब्रह्मचारिणः" इत्यमरः। आश्रमः प्रददृशे दृष्टः॥१९॥

अर्थ—गंगा का यह तटप्रदेश कोमल और स्वच्छ है, यह गंगा का जघन प्रदेश सा है। यहाँ देवता भी मोहित हो जाते हैं। इस तट पर स्थित यह आश्रम ब्रह्मचारियों के लिये बहुत प्रिय है। यहाँ पर गंगा अनुकूल होकर प्रवाहित है॥१९॥

यज्वनां निगमपारदृश्वनां

दर्शनं व्यधित तत्र राघवः।

शर्म नित्यमिव तस्य ते तथै-

नःक्षपीक्षणमवाप्य नातृपन्॥२०॥

तत्राश्रमे राघवः निगमानां वेदानां पारं दृष्टवन्तस्ते तथोक्ताः तेषाम्। "दृशेः क्वनिप्। इति क्वनिप्। यज्वनां विधिना यज्ञं कृतवतां" यज्वा तु विधिनेष्टवान्" इत्यमरः। "सुयजोर्ङ्वनिप्" इति ङ्वनिप्। दर्शनं व्यधित कृतवान्। तथा पुनः ते (यज्वानः) नित्यम् अविनाशिं शर्म कल्याणम् इव एनः पापं क्षपयति नाशयतीति तथोक्तं तस्य ईक्षणं दर्शनम् "ईक्षणं दर्शने दृशि" इति मेदिनी। अवाप्य प्राप्य न अतृपन् न तृप्ताः। पुषादीत्यङ्॥२०॥

अर्थ—इस आश्रम में राम ने वेद के पारदर्शी एवं यज्ञ करने वाले ऋषियों के दर्शन किये और ऋषियों ने कल्याण करने वाले और पाप दूर करने वाले उस राम का दर्शन पाकर भी तृप्त न होकर अतृप्ति का अनुभव किया॥२०॥

स प्रभुस्त्रिपथगारजोऽञ्चित-

चङ्गचत्वरविचुम्बिकुण्डलः।

सर्वमात्मरति योगिमण्डलं

वन्दते स्म परिवन्दते स्म च॥२१॥

त्रिपथगा गङ्गा तस्या यद् रजो रेणुः तेन अञ्चितं पूजितं भूषितमिति यावत्। "नाञ्चेः पूजायाम्" इति नलोपाभावः। यच्चङ्गं मनोहरं "चङ्गस्तु शोभने दक्षे" इति मेदिनी। चत्वरम् अङ्गणं तद्विचुम्बि तत्स्पर्शि कुण्डलं कर्णवेष्टनं यस्य स तथोक्तः स प्रभू रामः आत्मनि परात्मस्वरूपे रतिः रागो यस्य तत् तथोक्तं तद् योगिनां मण्डलं समूहं वन्दते स्म अभिवादयते स्म च पुनः परिवन्दते स्म स्तौति स्म॥२१॥

अर्थ—प्रभु राम ने त्रिपथगा (गंगा) के रज से शोभित उस आश्रम के सुन्दर आंगन को प्रणाम करते हुए अपने कुण्डलों का स्पर्श किया और योगिमण्डल को बार-बार प्रणाम कर उसकी स्तुति की। वे योगी जो सदैव आत्मा में ही रमण करते हैं॥२१॥

गुप्तसन्निजधनैः स गान्धिकै-

णोपमैर्यतिभिराशिषाऽऽदृतः।

पेयमम्बु परिपीय तर्प्यपी-

तः प्रतस्थ ऋषिणाऽनुजेन च ॥२२॥

गुप्तं छन्नं सत् सदा विद्यमानं सत्स्वरूपं ब्रह्म एव निजम् आत्मीयं धनं येषां ते तथोक्ताः तैः, अन्यत्र गुप्तं सत् शोभनं निजं धनं (कस्तूरीरूपं) येषां ते तथोक्ताः तैः, अत एव गान्धिकैणाः कस्तूरीमृगाः तदुपमैः यतिभिः जितेन्द्रियैः योगिभिरित्यर्थः। आशिषा स्वस्तिवाचा आदृतः संमानितः सन् स रामः तर्पी तृप्तिमानपि पेयं पानार्हम् अम्बु जलं गाङ्गमिति भावः। परिपीय पीत्वा ''पीङ् पाने'' इत्यस्य रूपमिदं ''पा पाने'' इत्यस्य तु 'परिपाय' इत्येव स्यात्, ''न ल्यपि'' इति घुमास्थेती-त्वस्य निषेधात्। इतः अस्मात् स्थानात् ऋषिणा विश्वामित्रेण अनुजेन लक्ष्मणेन च (सह) प्रतस्थे प्रस्थितवान्॥२२॥

अर्थ—आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किये हुए मुनिवृन्द ने अपने रूप को गुप्त धन की तरह छिपा कर रखा है, जैसे कस्तूरीमृग अपने सुगन्ध को भीतर रखता है, ऐसे मुनियों के आशीर्वचनों से आदृत हुए राम ने तृप्ति का अनुभव किया, फिर भी पीने योग्य गंगा के जल को पीकर विश्वामित्र एवं छोटे भाई के साथ आश्रम से प्रस्थान किया॥२२॥

अनन्तरां यात्रामाह—

कौशलं प्रकटयन् गतेरिव

शल्कशल्कमनुयान् समाध्वनः।

याति गाधितनयः स्म, तौ गुरुं

नन्दनाविव तमन्वगच्छताम्॥२३॥

गतेः गमनस्य कौशलं निपुणतां प्रकटयन्निव समाध्वनः प्रशस्तमार्गस्य ''सर्वसाधुसमानेषु समम्'' इति मेदिनी। शल्कशल्कं खण्डखण्डं ''शल्कं तु शकले वल्के'' इति मेदिनी। अनुयान् अनुसरन्'' गाधितनयो विश्वामित्रः याति स्म गच्छति स्म। तौ नन्दनौ पुत्राविव तं गुरुं पूज्यं पितरं च अन्वगच्छताम् अनुयातवन्तौ॥२३॥

अर्थ—आगे यात्रा का वर्णन : अपने चलने के कौशल को प्रकट करते हुए प्रशस्तमार्ग से दोनों भाई गुरुदेव के कदम-कदम के पीछे ऐसे चले रहे थे, जैसे दो पुत्र पिता का पथानुसरण करते हुए पीछे-पीछे चलते जा रहे हों॥२३॥

विशालागमनमाह—

दर्शयन् पथि विशालिकां बुधोऽ-

वर्धयद् रसिकयोस्तयोर्मुदम्।

धन्यतां तदवनीश्वरेण चै-

नःक्षयाद् धृतवताऽर्चितो ययौ॥२४॥

पथि मार्गे बुधः विश्वामित्रः विशालिकां विशालानगरीं दर्शयन् रसिकयोः तद्दर्शनरसिकयोरिति भावः। तयो रामलक्ष्मणयोः मुदम् आनन्दम् अवर्धयत् वर्धितवान्। च पुनः एनःक्षयात् पापनाशाद् धन्यतां भाग्यवत्तां धृतवता धारितवता तदवनीश्वरेण विशाला-नृपतिना अर्चितः सत्कृतः सन् ययौ अगच्छत्॥२४॥

अर्थ—ज्ञानी विश्वामित्र रास्ते में दोनों रसिकराजपुत्रों को विशाला नगरी दिखाते हुए, उनको आनन्दित करते हुए विशाला नगरी के राजा का पाप क्षय कर उनके सौभाग्य की वृद्धि करते हुए और उनसे पूजित होते हुए आगे बढ़ते गये॥२४॥

अथाष्टादशभिः पद्यैः गौतमाश्रमं निर्दिशन्नह-ल्योद्धारं वर्णयति—

स प्रचण्डतरुषण्डमण्डितं

मुद्रितोत्कजनसंगमाश्रमम्।

द्रक्ष्यमाणमुपलक्ष्य लक्ष्मत

इत्युवाच रघुनन्दनं मुनिः ॥२५॥

स मुनिः प्रचण्डानाम् अतिमहतां तरूणां षण्डेन समूहेन मण्डितं भूषितं (किन्तु) मुद्रितः प्रतिरुद्धः उत्कजनानां रसिकजनानां सङ्गः सङ्गमो यत्र तथोक्तस्तं द्रक्ष्यमाणं प्रेक्षिष्यमाणम् आश्रमं तपोवनं लक्ष्मतः चिह्नैः उपलक्ष्य अभिज्ञाय रघुनन्दनं रामम् इत्युवाच ॥२५॥

अर्थ—निम्न १८ श्लोकों में गौतमाश्रम का वर्णन और अहल्या के उद्धार का वर्णन : रास्ते में बड़े-बड़े पेड़ों से भरा हुआ, जहाँ कोई भी रसिक समूह नहीं जाता था–ऐसे सूने पड़े हुये आश्रम को देखकर और ऐसे ही चिह्नों की पहचान कर ऋषि ने रघुनन्दन से कहा ॥२५॥

वत्स साध्विदमभूत्तपोवनं

गाम् प्रपन्नमिव नन्दनं पुरा।

भीर्नृणां समुपजायतेऽधुना

येऽपि दूरमवलोकयन्त्यदः ॥२६॥

हे वत्स, गां पृथ्वीं प्रपन्नं प्राप्तं नन्दनं स्वर्गीयं वनमिव पुरा पूर्वकाले इदं तपोवनं साधु मनोहरम् अभूत् आसीत्। अधुना इदानीं नृणां मनुष्याणां भीः भयं समुपजायते उत्पद्यते, ये अद एतत् (तपोवनं) दूरं दूरतोऽपि अवलोकयन्ति पश्यन्ति ॥२६॥

अर्थ—हे वत्स! इस धरती पर प्राप्त कभी यह आश्रम (तपोवन) नन्दनवन की तरह शोभित था, अब तो यह आदमियों के मन में भय पैदा करने वाला जंगल है, जिसे सब दूर से देखते हैं ॥२६॥

धैर्ययानमवलम्ब्य पूर्वतो

ये विशेयुरफला न ते, यतः।

णक्षधातुरिव नक्षतामिहाऽऽ-

हिष्ट गोतमपरिग्रहोऽश्मताम् ॥२७॥

ये पूर्वतः प्रथमतः धैर्यमेव यानं वाहनं तदवलम्ब्य आश्रित्य-विशेयुः प्रविशेयुः, इदं तपोवनमिति भावः। ते अफला निष्फला न भवेयुरिति शेषः। धीरा एवैतत्प्रवेष्टुं शक्नुवन्तीति भावः। उत्तरार्धेन अत्र कारणं दर्शयति-यतः कारणात् इह तपोवने गौतमस्य तदाख्यस्य महर्षेः परिग्रहः पत्नी "परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः।" इति मेदिनी। अश्मतां पाषाणताम् आंहिष्ट प्राप्तवती। "अहि" गतौ इत्यस्य लुङि रूपमिदम्। अत्रोपमानमाह-णक्षधातुः गत्यर्थः, नक्षतामिव। यथा णक्षः ('णो नः' सूत्रेण) नक्षः भवति तथा गोतमपरिग्रहो मनुष्योऽपि पाषाणोऽभूदिति भावः ॥२७॥

अर्थ—जो इस आश्रम में धैर्य के वाहन पर बैठकर प्रवेश करते हैं वे निष्फल नहीं होते। धैर्य वाले ही इस आश्रम में प्रवेश पा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इसमें गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या पाषाणता को प्राप्त है। शाप से यह शिला बन गई है। जिस प्रकार गत्यर्थ णक्ष धातु नक्षता को प्राप्त हो जाता है। णक्ष धातु यथा (णोनः सूत्र से) नक्ष हो जाता है, उसी प्रकार वह नारी से पाषाण बन गई है ॥२७॥

मर्त्यता द्विजनिता च विज्ञता

वाग्गिमता च मुनिता क्व चाश्मता ?।

नित्यमेव फलमर्जितांहसोऽ-

वश्यभोग्यमिह संसृतात्मनाम् ॥२८॥

(प्राग्) मर्त्यता मनुष्यता, (ततः) द्विजनिता ब्राह्मणता, (ततः) विज्ञता विद्वत्ता, (ततः) वाग्गिमता वाचोयुक्तिचातुरी, (तत्रापि) मुनिता ऋषित्वं क्वेति आकृष्यते क्व कुत्र च अश्मता पाषाणत्वम् अस्तीति शेषः। इति अतिविरूपयोः सङ्घटना जातेति भावः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-इह लोके अर्जितांहसः उपार्जितपापस्य नित्यम् अवश्यमेव फलं परिपाकः संसृतात्मनां संसारिणां

''कृत्यानां कर्तरि वा'' इति षष्ठी। अवश्य-भोग्यम् अवश्यं भोक्तुमर्हम्। 'भोज्यं भक्ष्ये' भोग्यमन्यत्। 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' च। अत्र विषमालङ्कारः ''विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।'' इति लक्षणात्। सच सारोज्जीवितः। सारस्तु-''उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।'' ॥२८॥

अर्थ—कहाँ मर्त्यता, द्विजता, विद्वत्ता, वाग्मिता एवं मुनिता और कहाँ पाषणता ! पाप का कुफल भोगना ही पड़ता है। सारे संसार को किये का फल अवश्य ही मिलता है ॥२८॥

विष्णुरर्थित इहामरैः परि-

णुत्य रामवपुषा यदा भवेत्।

नार्यसौ सुतरितेति नो मतं,

स त्वमद्य लघु तारयेरमूम् ॥२९॥

अमरैः देवैः परिणुत्य स्तुत्वा अर्थितः प्रार्थितः सन् विष्णुः यदा यस्मिन् काले अत्र मर्त्यलोके रामवपुषा रामशरीरेण भवेत् जायेत। तदेति शेषः। असौ इयं नारी सुतरिता उद्धारं प्राप्स्यति इति नः अस्माकं मतं ज्ञातम्। अस्माभिर्ज्ञायते इत्यर्थः। ''मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'' इति वर्तमाने क्तः। ''क्तस्य च वर्तमाने'' इति षष्ठी। स त्वं रामः अद्य अमूं शिलारूपां नारीं लघु शीघ्रं तारयेः उद्धरेः ॥२९॥

अर्थ—देवताओं के द्वारा बहुत प्रार्थना किये जाने पर जब विष्णु रामअवतार धारण करेंगे, उस समय इस नारी का उद्धार होगा—ऐसा हमें ज्ञात है। वही तुम हो, अतः अब इस शिलारूपा नारी का शीघ्र ही उद्धार करो ॥२९॥

दृश्यतामुचितमस्त्यसौ शिला

शोभते स्म शिलजीविका यतः।

वीर्यतो हि नियतेः सुशीलिका

येयमाः सुशिलिकाऽभवल्लघुः ॥३०॥

दृश्यताम् अवधीयताम्, असौ गोतमपत्नी शिला दृषद् उचितं योग्यम् अस्ति। यतः यस्मात् कारणात् शिलजीविका शिलं कणिशादीनामर्जनं ''कणिशाद्यर्जनं शिलम्'' इति यादवः। तदेव जीविका जीवनोपायो यस्याः सा तथोक्ता शोभते स्म अत एव शिलमस्या अस्तीति अर्शआदित्वादचि 'शिला' इति युक्तमेवेति भावः। एतदेव रूपान्तरेणालङ्करोति-नियतेः दैवस्य हि वीर्यतः प्रभावात् या इयं सुशीला सुरित्रा एव सुशीलिका आः इति दुःखसूचकम्। ''आः स्यात् कोपोपपीडयोः'' इति कोशः। लघुः एकमात्रालाघवेनेति भावः। सुशिलिका सुशिला अभवत्। पूर्वं सुशीला इति गुरुः चरित्रेण मात्रया चासीत् सैव सुशिला लघुः चरित्रेण मात्रया चास्तीति तात्पर्यम् ॥३०॥

अर्थ—सामने देखो, इसका शिला होना उचित है। पहले यह अपने महत् चरित्र के कारण 'सुशीलिका' या सुशीला थी; वही चरित्र की लघुता के कारण 'सुशिला' हो गई। (शीला या शिला में गुरु और लघु मात्रा का अन्तर है) ॥३०॥

शिलीभावस्यादिकारणमाह—

सोम ऐच्छदगणेयतारका-

मण्डितोऽपि गुरुदारतारिकाम्।

वत्स ! भूरिदयितो वृषा तथा

प्रिय् बभूव किल गोतमस्त्रियाः ॥३१॥

वत्स ! अत्रोत्तरार्धस्थोपमेयवाक्यगतस्य तथाशब्दस्य दृश्यमानत्वाद् 'यथा' इत्यध्याह्रियते। यथा अगणेयाभिः अगणनीयाभिः। ''गणनीये तु गणेयम्'' इत्यमरः। तारकाभिः ताराभिः ''तारका ज्योतिषि'' इति इत्वाभावः। मण्डितः भूषितोऽपि सोमः चन्द्र गुरोः बृहस्पतेः दाराः पत्नी या तारा एव तारिका ताम् ऐच्छत् अकामयत। अत्र क्रमेण तारकातारिकाशब्दयोर्ज्योतिर्भावोऽज्योतिर्भावश्च दर्शितः। तेन विद्यमानायामपि सजातीयायां प्रियायां तारकायां विजातीयायाः तारिकाया

कामनं चन्द्रस्य दूषणं ध्वन्यते। तथा किलेति प्रसिद्धौ भूरिदयितः बहुस्त्रीकः वृषा इन्द्रः "वासवो वृत्रहा वृषा" इत्यमरः। गौतमस्त्रियाः अहल्याया मानुषीत्वेन विजातीयाया इति भावः। प्रियू प्रिय इवाचरतीति सः उपपतिरिति भावः। बभूव अभूत्। शिलामयत्वशापे एतदेवादिकारणमित्याशयः॥३१॥

अर्थ—शिलीभाव का आदिकारण : चन्द्रमा अगणिततारकामंडित होते हुए भी उसने गुरु (बृहस्पति) की पत्नी तारिका (तारा) की इच्छा की, वह विजातीया थी अतः उसे कलंकित होना पड़ा। इन्द्र भी बहुस्त्रीक था, पर उसने गौतमऋषि की पत्नी की इच्छा की मानुषीरूपा विजातीया नारी का इन्द्र उपपति बना-यही अहल्या के शिला बनने का कारण है॥३१॥

सच्चरित्रस्य कुतो दुश्चरितेषु प्रवृत्तिरित्यत आह—

यद्वदापतति दैवतो गदो

दर्शितोचितविहारभोजनम्।

शस्तशीलमपि बाधते तथै-

नःकणः प्रतनकर्मणाऽर्जितः॥३२॥

यद्वद् यथा दर्शिते प्रकटीकृते उचिते युक्ते विहारभोजने आहारविहारौ येन स तथोक्तः तं युक्ताहार-विहारं जनमित्यर्थः। दैवतो भाग्याद् गदः रोगः आपतति आगच्छति। तथा शस्तशीलं प्रशस्तचरितं जनमपि प्रतनकर्मणा प्राचीनकर्मयोगेन। "पुराणे प्रतन-प्रत्नपुरा-तनचिरन्तनाः" इत्यमरः। अर्जितं उपार्जितः एनःकणः-पापलेशः वाधते पीडयति आक्रमयतीत्यर्थः॥३२॥

अर्थ—जैसे कोई व्यक्ति आहार-विहार में नियमों का पालन करता है, फिर भी दैवयोग से बीमारी का आक्रमण हो जाता है, वैसे ही प्रशस्तचरित वाले व्यक्ति के पहले के कर्म के फलस्वरूप पाप का कण भी बाधक बन जाता है॥३२॥

पञ्चभिस्तस्या उद्धरणं समर्थयते—

काल आकलयतेऽनुकूलतां

लाग्निकी च शुभता मुनिस्त्रियाः।

नित्य एष नियमो निरीक्ष्यते

सभ्य-संग उदयाय कल्पते॥३३॥

कालः समयः अनुकूलताम् आकलयते धारयति समयोऽनुकूल इत्यर्थः। मुनिस्त्रियाः अहल्यायाः लाग्निकी लग्नसम्बन्धिनी शुभता भव्यता अस्तीति शेषः। लग्नमपि शुभमिति भावः। नित्यः अनिवार्यः एषः वक्ष्यमाणः नियमः प्रकृतिनियम इत्यर्थः। निरीक्ष्यते दृश्यते-सभ्यसंगः सज्जनसंगमः उदयाय अभ्युदयाय कल्पते भवति॥३३॥

अर्थ—अब अहल्या के लिये समय अनुकूल मालूम पड़ता है। लग्न भी शुभ है। यह नियम नित्य ही देखा जाता है कि सत्पुरुषों का संग अभ्युदय के लिये होता है॥३३॥

दृश्यतेऽर्क इह पादपूरिताऽऽ-

शः स्तुतस्त्रिजगता, तथा भवान्।

क्रोशदुःस्थितिरियं प्रतीक्षते

धेनुकेव सदनेकपं त्वकाम्॥३४॥

इह लोके त्रिजगता त्रिभुवनेन पादैः किरणैः पूरिता भृता आशाः दिशः येन स तथोक्तः अर्कः सूर्यः स्तुतः स्तुतिं प्राप्तः सन् दृश्यते विलोक्यते। यथेति शेषः। तथा भवान् त्वमपि पादेन चरणेन पाद-स्पर्शेनेति भावः। "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः। पूरिता साधिता आशा मनोरथः अहल्याया इति भावः-येन स तथोक्तः त्रिजगता स्तुतः द्रक्ष्यते। इयं श्लिष्टोपमा। अस्या उद्धरणेन त्रिजगत् त्वां स्तोष्यतीति तात्पर्यम्। क्रोशेन-रोदनेन क्रोशो मार्गप्रमाणे स्यादाह्वाने रोदनेऽपि च।" इति मंखः। दुष्ठु स्थितिर्दशा यस्याः सा दुःस्थितिः। "दूरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधः।" इति षत्वाभावः। इयं शिलारूपिणी अहल्या त्वकां त्वाम्

''अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः'' इत्यकच्। प्रतीक्षते प्रतीक्षां करोति। अत्रोपमानमाह-धेनुका हस्तिनी ''धेनुका गौश्च हस्तिनी'' इति मंखः। सदनेकपं सन् शोभनः यः अनेकपः हस्ती तमिव। हस्तिनीपक्षे-क्रोशेन विच्छिन्नेन क्रोशपरिमाणेन दुःस्थितिः दुर्दशापन्ना। यद्वा-धेनुका गौः सदने गृहे अकपं अकाद् दुःखात् पाति रक्षति असौ तम् ''अकं दुःखाघयोः'' इति हैमः। तत्पक्षे तु क्रोशेन आह्वानेन दुःस्थितिः दुर्दशापन्नेत्यर्थो ज्ञेयः। 'सदनेकपम्' इति पदं 'त्वाम्' इत्यस्यापि विशेषणीभवत् 'सतः प्रशस्तान् अनेकान् पाति रक्षतीत्यसौ' इतीममपि अर्थमत्र ध्वनयति॥३४॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से सभी दिशाओं को भर देता है और तीनों लोकों में उसकी स्तुति होती है, उसी प्रकार तुम्हारे चरण से ही उस पापिनी नारी की सारी आशाएँ पूरी होगी यानी उसका उद्धार होगा। इसीसे तुम्हारा यश त्रिभुवन में फैल जायगा। दुःख से रोदन करती (जड़ बनी) हुई वह तुम्हारी ही राह देखती है, जैसे कोई हथिनी बिछड़े हुए हाथी का इन्तजार करती हो॥३४॥

क्षत्रसूनुरसि तत् क्षतेरव,

मर्त्यराडसि हि मर्त्यमुद्धर।

याचिसाधुरसि याचितं शृणु

पृष्ठदोऽसि न, न पृष्ठमर्पय॥३५॥

क्षत्रसूनुः क्षत्रियपुत्रोऽसि, तत् तस्मात् कारणात् क्षतेः क्षतात् शापरूपहानित इति भावः। अव रक्ष। हि यतः मर्त्यराट् नरेश्वरोऽसि, (तत्) मर्त्यं मनुष्यम् (अहल्यारूपम्) उद्धर तारय। नृपतीनां नृदुःखहारित्वादिति भावः। याचिषु याचकेषु साधुः हितकारी असि, (तत्) याचितं प्रार्थितं शृणु आकर्णय सफलये-त्यर्थः। पृष्ठदः पृष्ठदर्शकः प्रार्थितस्यास्वीकरणेनेति भावः। न असि, (तत्) पृष्ठं वैमुख्यं न अर्पय देहि। परिकरालंकारः॥३५॥

अर्थ—तुम क्षत्रियकुमार हो, इसलिए तुम शापरूपी क्षति से या हानि से उसकी रक्षा करो (जो क्षत से रक्षा करे, वही क्षत्रिय है।) तुम नरेश्वर हो, अतः मर्त्य का उद्धार करो। तुम याचकों के हितकारी हो, इसलिये याचक की ही बात को सुनो। प्रार्थित की प्रार्थना की ओर से पीठ मत दिखाना, अस्वीकार न करना उससे विमुख न होना॥३५॥

विशेष—पीठ दिखाना क्षत्रिय के लिये वर्ज्य है॥३५॥

थिर्थिरेति निनदो निशम्यते

वीतभीतिविपदः पतत्त्रिणः।

स स्थिरत्वमिव वक्ति नस्ततोऽ-

मः स शापमय ओष्य शोष्यताम्॥३६॥

वीता गता भीतिविपद् भयापत्तिर्यस्य स तथोक्तस्तस्य पतत्त्रिणः पक्षिणः 'थिर्थिर' इत्यनुकरणः निनदः शब्दः निशम्यते श्रूयते। उत्पद्यमानं भयं यदा नश्यति तदा पक्षिणां पक्षेषु थिर्थिरेति शब्दः स्वाभाविकः। स शब्दः नः अस्माकं स्थिरत्वम् अविचलत्वम् इव वक्ति कथयति सूचयतीत्यर्थः। ततः तस्मात् कारणात् ओष्य (आ+उष्य) आवासं कृत्वा स शापमयः शापः प्रकृतः उच्यते अस्मिन् असौ ''तत्प्रकृतवचने मयट्'' इति मयट्। शापरूप इत्यर्थः अमः रोगः शोष्यतां नाश्यताम्॥३६॥

अर्थ—इस समय पक्षी निर्भय दीखते हैं। उनके पंखों से 'थिर्थिर' की ध्वनि हो रही है। यह ध्वनि हमें स्थिरता (अविचलता) की सूंचना देती है। इस कारण तुम यहाँ निवास कर शापरूप इस बीमारी का शोषण करो यानी नाश करो॥३६॥

धर्मिहृद्भ्रमरनीरजन्मना

नम्रनाकिमुकुटांशुरागिणा।

देवसिन्धुजनिना त्रिविक्रम-

नर्तिना निजपदा शिलं स्पृश॥३७॥

त्वं धर्मिणां धार्निकाणां हृद् मन एव यो भ्रमरः तस्य नीरजन्म कमलं कमलरूपमिति भावः। तेन नम्राः प्रणमनशीला ये नाकिनो देवाः तेषां यानि मुकुटानि तेषां ये अंशवः किरणाः तेषां रञ्जनशीलः तेन। ''संपृचा-नुरुधा-''इत्यादिना घिनुण्। देव-सिन्धुं गङ्गां जनयति तथोक्तेन। त्रिविक्रमं त्रिविक्रमरूपं नर्तयति तथोक्तेन। यद्वा त्रिभिर्विक्रमैर्नृत्यतीत्यमुना। निजपदा स्वपादेन। शिलां शिलामयीमहल्यां स्पृश ॥३७॥

अर्थ—तुम्हारे ये चरण कमलरूप हैं, जिनमें धार्मिकों के मन मधुकर निवास करते हैं, जो विनम्र देवताओं के मुकुटों की मणिकिरणों से अनुरंजित रहते हैं, विराट्रूप धारण करते समय जिन चरणों से देवनदी नाचती हुई प्रवाहित हुई है–उन चरणों से इस शिला का स्पर्श करो ॥३७॥

शिलावन्दनमाह—

स स्मितोज्ज्वलमुखो रघूद्वहो

मस्तकेन मुनिशासनस्रजम् ।

त्याजितां सुविधिनौह्य गौतम-

गेहिनीं समनमच्छिलामयीम् ॥३८॥

स्मितेन मन्दहासेन उज्ज्वलं भासुरं मुखं यस्य स तथोक्तः स रघूणाम् उद्वहः पोषणादिभारवाही श्रीरामः। सुविधिना सद्भाग्येन। त्याजितां मोचितां मुनेः विश्वामित्रस्य यच्छासनम् आज्ञा तदेव स्रक् माला तां मस्तकेन शिरसा ओह्य (आ उह्य) धृत्वा शिलामयीं शिलारूपां गौतमगेहिनीं गौतमगृहिणीम् अहल्यां समनमत् प्रणतवान् ॥३८॥

अर्थ—शिला वन्दन : रघुवंश के पोषणरूप के भार को वहन करने वाले राम, जिनका मुख मन्दहास्य से चमक रहा है, उन्होंने अहल्या के सौभाग्य से मुनि की आज्ञारूपी पुष्पमाला को शिरोधार्य करके शिलामयी गौतम गेहिनी अहिल्या को प्रणाम किया ॥३८॥

द्वाभ्याम् अहल्यायाः सतीत्वधर्मत्यागमालोच-यन्नुद्धारमाह—

सत्यसौ स्वपतिसत्यसौहृदा

येयमृष्यनुकृदिन्द्रवञ्चिता ।

धर्ममत्यजदधर्ममर्दन-

मर्थतस्तु न, ततो हृदा शुचिः ॥३९॥

असौ इयं सती पतिव्रता स्वपतिना निजभर्त्रा (सह) सत्यं निश्छलं सौहृदं प्रेम यस्याः सा तथोक्ता अस्तीति शेषः। या इयं सती ऋषिं गौतमम् अनुकरोतीत्यसौ ऋष्यनुकृत् मुनिवेषधारीत्यर्थः। तथोक्तेन इन्द्रेण वञ्चिता प्रतारिता सती। अधर्मं मर्दयति हंरतीति तम् अधर्ममर्दनं धर्मं सतीत्वधर्मम् अत्यजत् अमुञ्चत्। अर्थतः वस्तुतस्तु न। ततः कारणात्। हृदा मनसा शुचिः शुद्धा। असौ अस्तीति शेषः ॥३९॥

अर्थ—यह सती साध्वी पतिव्रता अपने पति से निश्छल प्रेम करने वाली है। यह सती मुनि वेष को धारण करने वाले धोखेबाज इन्द्र से ठगी गई है। अधर्म का मर्दन करने वाली इसने सतीधर्म को अप्रत्यक्ष में छोड़ दिया, वस्तुतः नहीं छोड़ा। यह हृदय से शुद्ध है ॥३९॥

इत्यवेत्य हृदये निनिन्द स

वासवं कुमतिवासवञ्चितम् ।

पञ्चबाण इव शङ्कितः शिवो-

रःस्थलीं लघु शिलां पदाऽस्पृशत् ॥४०॥

सः रामः इति इत्थम् अवेत्य ज्ञात्वा हृदये कुमतिवासेन दुर्बुद्धिनिवासेन वञ्चितं प्रतारितं वासवम् इन्द्रं निनिन्द निन्दितवान्। शङ्कितः न जाने अयं किं करिष्यतीति शङ्कायुक्तः पञ्चबाणः कामः शिवस्य महादेवस्य उरःस्थलीं वक्षःस्थलम् इव सोऽपि शङ्कितः कथमहं मुनिपत्नीं पादेन स्पृशामीति शङ्कायुक्तः। पदा पादेन शिलां लघु मन्दं शीघ्रं वा अस्पृशत्। पञ्चबाणस्य हृदयनिवासस्य हृदयगमने पूर्वम् उरःस्थलस्पर्शनं संगच्छत एव ॥४०॥

अर्थ—यह जानकर राम ने कुमतिवाले (ठगने वाले) इन्द्र की निंदा की। जैसे पंचबाण (कामदेव) शिवजी के उर:स्थल पर बाणों के प्रहार करते हुए शंकित हुआ था, उसी तरह के संकोच के साथ राम ने उस शिला का हल्के से शीघ्र स्पर्श किया ॥४०॥

द्वाभ्यां शिलातो नारीरूपे परिणतिं वर्णयति—

तत्क्षणे समजनि प्रभाऽश्मतो
मेघतस्तडिदिव प्रसृत्वरी।
वंशतो मणिरिवोच्चकासती
गुप्तपावकशिखाऽरणेरिव ॥४१॥

तत्क्षणे तस्मिन् शिलास्पर्शनक्षणे एव अश्मतः शिलातः प्रभा दीप्तिः समजनि उत्पद्यते स्म। "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इत्यपादाने पञ्चमी। अत्र त्रीणि उपमानवाक्यानि आह-मेघतः मेघात् प्रसृत्वरी प्रसारिणी, "प्रसृत्वरः प्रसृमरः प्रसारी च विसारिणि।" इत्यमरः। तडिद् विद्युदिव। वंशतः वेणोः उच्चकासती उद्दीप्यमाना मणिः रत्नमिव। मणेर्जातित्वेन मुक्तोपलक्ष्यते, तदुत्पत्तिर्वंशतोऽपि प्रसिद्धा—"गजेन्द्रजीमूतवराहशंखमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि" इति प्रमाणात्। अरणेः मन्थनदारुतः गुप्तस्य पावकस्य अग्नेः शिखा ज्वालेव। मालोपमालंकारः। "मालोपमा यदेकस्यो-पमानं बहु दृश्यते।" ॥४१॥

अर्थ—दो श्लोकों में नारीरूप धारण का वर्णन : शिला स्पर्श के साथ ही उससे ऐसी ज्योति प्रकट हुई, जैसे मेघमाला से बिजली कौंधी हो, बांस से चमकती हुई मुक्तामणि प्रकट हुई हो या अरणिमन्थन के समय छिपी हुई अग्निशिखा ज्वलित हुई हो ॥४१॥

विशेष—बांस से मुक्तामणि के प्राकट्य की कविप्रसिद्धि—

"गजेन्द्रजीमूतवराहशंखमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथतानि लोके तेषां शुक्त्युद्भवमेव भूरि" ॥४१॥

ण स्थितो न इव धातुपूर्वकः
संस्कृतं पय इत्वोत्थितं दधि।
पश्यतः किल जनस्य बीजिताऽ-
न्नं प्ररोह इव नार्यभूच्छिला ॥४२॥

धातुपूर्वकः धात्वादिः स्थितः विद्यमानः णः न इव "णो नः" इति व्याकरणनियमात्। 'णः। स्थितः' इत्यत्र "खपरे शरि विसर्जयनीयस्य वा लोपः।" इति विसर्गलोपः। संस्कृतम् आमिक्षासंस्कारेण भावितं पयः दुग्धम् उत्थितम् उत्पन्नं दधीव। बीजितं बीजरूपेण उप्तम् अन्नं धान्यम् "अन्नं भक्ते च धान्येऽपि" इति शङ्खः। प्ररोहः अंकुर इव, पश्यतो विलोकयतः जनस्य लोकस्य "षष्ठी चानादरे" इति षष्ठी। शिला नारी स्त्री अभूत् अभवत्। अलंकारस्तु मालोपमैव। अद्भुतो रसः ॥४२॥

अर्थ—जैसे धातु के पूर्व में स्थित 'ण' व्याकरण के नियमानुसार 'न' में बदल जाता है, जैसे जावण डांलने से दूध दही बनता है, जैसे खेतों में वोया हुआ बीज देखते-देखते अंकुर बन कर प्रकट होता है, उसी प्रकार शिला से नारी प्रकटी ॥४२॥

अथ चतुर्भिः (कलापकेन) अहल्याकृतं दर्शनं निर्दिशन् रामस्वरूपं वर्णयति—

राममग्रत उदीक्ष्य सानुज-
मंशमैश्वरमखण्डमव्ययम्।
सज्यधन्वशरतूणधारिणं
त्यक्तदम्भमतिसौम्यविग्रहम् ॥४३॥

पश्यतां हृदयनेत्रहारिणं
रात्रिनायकविजित्वराननम्।
क्रत्वधीशमतिलम्बिदोर्युग-
मंससौष्ठवतिरस्कृतर्षभम् ॥४४॥

ज्येष्ठभानुमरिपक्षिणां वरो-
ष्ठं रदच्छविपरास्तकुन्दकम्।

श्रेष्ठपद्मनयनं स्मितोज्ज्वलौ-

ष्ठप्रभाप्तचिबुकं सुवक्षसम् ॥४५॥

गुप्तसिन्धु दधतं मलान्धकौ-

णैर्नखांऽशुमुनिभिः श्रितं पदम्।

युक्तमङ्गविभया श्रियेव सा

तं धरानमितकंधराऽनमत् ॥४६॥

चतुर्भिः कलापकम्।

सा अहल्या अग्रतः पुरतः तं सानुजं सलक्ष्मणं रामम् उदीक्ष्य दृष्ट्वा धरायां भूम्याम् आनमिता कंधरा ग्रीवा यया सा तथोक्ता सती अनमत् प्रणतवतीति अस्य कलापकस्य आद्यान्तिमपादयोः पदार्थसंगतिः। मध्यम-पादस्थैः पदैः तं (रामं) विशिनष्टि-अखण्डं पूर्णम् अव्ययम् अविनाशिनम् ऐश्वरम् ईश्वरसंबन्धिनम् अंशम्। सज्यं मौर्वीसहितं धन्व धनुः, शराः बाणाः, तूणो निषङ्गश्चेत्येषां द्वन्द्वः। तान् धारयतीति तथोक्तस्तम्। त्यक्तदम्भं छलरहितम्, अतिसौम्यः प्रियदर्शनो, विग्रहः शरीरं यस्य स तथोक्तः तम्। अत एव पश्यतां जनानां हृदयनेत्रहारिणं हृन्नयनाकर्षिणं, रात्रिनायकस्य चन्द्रस्य विजित्वरं विजयशीलम् आननं मुखं यस्य स तथोक्तः तम्, क्रतूनां यज्ञाद्यनुष्ठानकर्मणाम् अधीशम् अधिष्ठा-तारं स्वामिनम्, अतिलम्बि आजानुलम्बीत्यर्थः। दोर्युगं बाहुयुगलं यस्य स तथोक्तस्तम्, अंसयोः स्कन्धयोः सौष्ठवेन सौन्दर्येण तिरस्कृतः अपमानितः ऋषभः वृषो येन स तथोक्तस्तम्, वृषभस्कन्धमिति भावः। सौष्ठ-वमित्यत्र "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्" इत्युद्गात्रादिभ्योऽञ्। अरिपक्षिणां शत्रुखगानां (तापक-त्वेन) ज्येष्ठभानुं ज्येष्ठमाससूर्यरूपं, वरौ मनोहरौ ओष्ठौ यस्य सः तम्। "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" इति पररूपम्। रदानां दन्तानां छव्या शोभया परास्तं तिरस्कृतं कुन्दं पुष्पविशेषो येन स तम्, ततः स्वार्थे कः। श्रेष्ठे उत्तमे ये पद्मे कमले तद्वद् नयने यस्य सः तम्, स्मितेन मन्दहासेन उज्ज्वलौ यौ ओष्ठौ तयोः या प्रभा कान्तिः तया आप्तं प्राप्तम् आश्रितमित्यर्थः चिबुकम् ओष्ठा-धोभागो यस्य सः तम् सुवक्षसं शोभनवक्षःस्थलम्। अतः परम् अन्तर्गतं चरणं विशिनष्टि-मलानि पापान्येव अन्धानि एव अन्धकानि तिमिराणि तानि ओणन्ति अपनयन्ति ते (कर्मण्यणि) मलान्धकौणा ये नखांशवः नखकिरणाः ते एव मुनयः निर्मलतयेति भावः। तैः श्रितम् आश्रितम्। गुप्ता सिन्धुर्नदी (गङ्गा) यत्र तत् तथोक्तं तत् पदं चरणं, जात्यैकत्वम्। दधतं धारयन्तं श्रिया लक्ष्म्या इव अङ्गविभया शरीरकान्त्या युक्तमन्वितम् ॥४३-४६॥

अर्थ—ये चारों पद्य कलापक हैं, जिनमें अहल्या के द्वारा देखा गया रामस्वरूप का वर्णन। अपने छोटे भाई के साथ राम सामने हैं। ये ईश्वर के रूप हैं, अखण्ड हैं, अव्यय हैं। प्रत्यंचायुक्त धनुष, बाण और तरकश धारण किये हैं। छलरहित हैं, सौम्य विग्रह हैं।

देखने वाले के हृदय और नेत्र मोहित हो जाते हैं। अपने मुख की कान्ति से चन्द्रमा की सुन्दरता को जीतने वाले हैं। यज्ञों के अधिष्ठाता हैं। आजानुबाहु हैं। कन्धों की सुन्दरता वृषभ का तिरस्कार करती है शत्रुरूपी पक्षियों के लिये ज्येष्ठ महिने के प्रचण्ड सूर्य हैं, दातों की कान्ति कुन्दकली की तरह है। सुन्दर कमल की तरह नेत्र हैं। मुस्कान में उजली अधर कान्ति है, चिबुक कान्तिमान है। वक्षःस्थल शोभन है। चरणनखों की कान्ति अज्ञानान्धकार को मिटाने वाली और मुनियों का आश्रय है जिनके चरणों से गंगा प्रकट हुई है। राम की शरीरकान्ति ऐसी लगती है—जैसे साक्षात् लक्ष्मीयुक्त हैं। ऐसे भगवान् राम को देखकर अहल्या ने झुककर प्रणाम किया ॥४३-४६॥

युग्मेन अहल्याकृतां स्तुतिं दर्शयति—

प्रिय् भवांस्त्रिभुवनश्रियाः प्रभो,

यं हि सिस्निहिषति प्रियेव सा।

दर्श्यते खलु तदन्तरे त्वया

शक्तिमन् स्व इव सा, स्वरूपता ॥४७॥

रक्षणादसि ततो द्वितीयवत्

थः सखेव परमेककोऽर्थतः।

सुप्रसन्नमनसेत्यहल्यया

तं प्रणुत्य पुरतो न्यषद्यत ॥४८॥ (युग्मम्)

हे प्रभो ! भवान् त्वं त्रिभुवनश्रिया जगत्त्रय-लक्ष्म्याः प्रिय् प्रिय इवाचरतीति सः। अस्तीति शेषः। हि यतः यं भवन्तं सा त्रिभुवनश्रीः प्रिया वल्लभा इव सिस्निहिषति स्नेहं कर्तुमिच्छति। ''रधादिभ्यश्च'' इति इटि ''रलो व्युपधाद्'' इत्यादिना सनः ं त्वे गुणा-भावः। ''स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्'' इति नियमात् सस्य न षः। हे शक्तिमन् सर्वविधसामर्थ्यशालिन् ! खलु निश्चयेन त्वया भवता तदन्तरे तस्याः त्रिभुवनश्रिया अन्तरे मध्ये स्वरूपता, स्वस्य आत्मन एव रूपं तद्भावः। सा त्रिभुवनश्रीः आत्मनः (ममैव) रूपम् इति भावः। दर्श्यते प्रकटीक्रियते। अत्रोपमानमाह-स्वे आत्मनि सा त्रिभुवनश्रीरिव। यथा त्वम् आत्मनि त्रिभु-वनश्रियं दर्शयसि तथा त्वं तस्यां (तस्याः) निजात्म-रूपतां दर्शयसीति तात्पर्यम्, जगद्-ब्रह्मणोरभिन्नत्वात्। स्वे तद्रूपता इत्यसंभवम् अवर्णयित्वा तदन्तरे स्वरूपता दर्श्यते इति सम्भवमेव वर्णितम्। अत एव ''सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'' इत्यादि शङ्कराचार्याद्यु-क्तमनुसृतम्। एतच्च सर्वशक्तिमत्तां विना न सम्भव-तीत्यत एव संबोधितं ''शक्तिमन्'' इति। शक्तिमत्त्वादेव हि स मायया आत्मनि जगत्त्वभ्रममुत्पादयति, मायाप-हरणेन च तं दूरीकरोतीत्याशयः ॥४७॥

अर्थ—दो श्लोकों के युग्म से अहल्या द्वारा स्तुति : हे प्रभो ! आप जगत्त्रय की लक्ष्मी के प्रिय हैं और वह लक्ष्मी भी आप से प्रेम करने की इच्छुक है। हे सर्वविधसमर्थ आप ही उसके अन्दर स्वरूपता को प्रकट करते हैं। शक्तिमान् की ही शक्ति बाहर प्रकट है ॥४७॥

पुनस्तदेव निष्कर्षरूपेण प्रकटयति-रक्षणात् पालनात् (कारणात्), रक्षणं हि रक्ष्यस्य संभवति अतो रक्ष्यमपेक्ष्यते इति कारणादित्याशयः। ततः तस्याः त्रिभुवनश्रियाः द्वितीयवत् द्वितीय इव असि। अन्यः प्रतीयसे इति भावः। किमिव इत्यपेक्षायामुपमामाह-सखा समानं ख्यायते इति सखा सहचारीत्यर्थः। ''सखा मित्रे सहाये च'' इति हैमः। थ इव। यथा सहचारी थकारः ततः तकाराद् द्वितीय इवास्ति तथा त्वमपि ततः त्रिभुवनाद् द्वितीय इवासीति भावः। परं किन्तु अर्थतः वस्तुत एककः (स्वार्थे कः) एकः अभिन्न एव असीति शेषः। थकारोऽपि तकारात् रूपेण भिन्नो दृश्यते परम् अक्षरतया द्वयोरैक्यम्। तथैव ब्रह्मत्वेन जीवात्मपरात्म-नोरैक्याद् ईश्वरजगतोः कथनस्य प्रकारान्तरमात्रेण ऐक्यमेव। ''ततः'' इति पदस्य द्व्यर्थतया थकारेणैव सहोपमा दर्शिता। इति एवं सुप्रसन्नमनसा आत्मोद्धारेण संतुष्टचित्तया अहल्यया तं रामं प्रणुत्य स्तुत्वा पुरतोऽग्रे न्यषद्यत अस्थीयत। 'प्रणुत्य' अत्र ''उपसर्गादसमा-सेऽपि णोपदेशस्य'' इति णत्वम्। न्यषद्यत इह तु ''सदिरप्रतेः'' इति षत्वम् ॥४८॥

अर्थ— त्रिभुवनश्री-जो रक्षण करती है-वह आपसे अलग दीखती है; पर, ऐसा नहीं है। शक्ति एवं शक्तिमान् वस्तुतः एक हैं। जैसे 'थकार' तकार से अलग दीखता है पर मूलतः दोनों में ऐक्य है। वैसे ही ब्रह्म और जीव अलग दीखते हैं-पर हैं-एक ही। प्रसन्न मन से अपने उद्यम से सन्तुष्ट होकर अहल्या राम की स्तुति कर उनके सामने खड़ी हो गई ॥४८॥

अधिष्ठितहिमालयस्य गौतमस्य योगब-लेनागमनमाह—

प्रस्थितो हिमवतः स गौतमः

कृत्यमेतदवसाय योगतः।

तीर्णसिन्धिव मनो न्यवर्तत

नांशतोऽप्यसुकरं हि योगिनाम् ॥४९॥

स प्रसिद्धः गौतमः अहल्यापतिः योगतः योगात् निजयोगबलेनेत्यर्थः। 'योगतः' इत्येकं कारकम् 'अवसाय' तथा 'न्यवर्तत' इत्युभाभ्यां क्रियाभ्यां सह देहलीदीपकन्यायेनाऽन्वीयते। एतत् इदं कृत्यम् अह-

ल्योद्धाररूपं कार्यम् अवसाय ज्ञात्वा ''अवसितं गतौ। ऋद्धे ज्ञानेऽवसाने च'' इति हैमः। हिमवतः हिमालयतः प्रस्थितः प्रचलितः सन्। इत्यनेन 'अहल्याशापानन्तरं गौतमस्तपस्तुं हिमालयमधिष्ठितः' इति ध्वनितम्। यद्वा 'सः' इति प्रयोगहेतोस्तथा 'अवगत्य' इत्यनुप्रास-सुवचमप्रयुज्य तत्स्थाने 'अवसाय' इति प्रयोगहेतो-र्द्वितीयपाद उभयथा व्याख्येयः। तथाहि-एतत् इदं कृत्यम् अहल्याशापरूपम् अवसाय समापय्य यः गतः प्रयातः स गौतमः योगतः योगबलेन एतत् कृत्यम् उद्धाररूपम् अवसाय ज्ञात्वेति। योगतः योगबलेन न्यवर्तत निवृत्तः। कथमिवेत्युपमामाह-तीर्णाः उल्लंघिताः सिन्धवः समुद्रा येन तत्तथाभूतं मनश्चित्तम् इव। यथा समुद्रान् तीर्त्वा मनः शीघ्रम् आगच्छति तथा सोऽपि हिमवन्तमधिष्ठाय प्रस्थितो योगबलेन शीघ्रं निवृत्त इति भावः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः योगिनां योगविद्यापारंगतानाम् अंशतो लेशतोऽपि असुकरं दुष्करं न। अस्तीति शेषः॥४९॥

अर्थ—महर्षि गौतम ने योगबल से अहल्याउद्धार को जानकर हिमालय से प्रस्थान किया। जैसे मन समुद्र को लाँघकर लौट आता है-वैसे ही योगी के लिये अंशमात्र भी कहीं कठिनाई नहीं। उसका जानना पहुँचना सभी सरलकृत्य है॥४९॥

प्रणामादिकमाह—

हिन्वदद्भुतमुदाप्तदर्शनं
तैर्व्यवन्द्यत स कौशिकादिभिः।
युक्त आदित ऋषीश्वरोऽप्यलं
तं सदेहमिनमाप्य चानमत्॥५०॥

तैः कौशिकादिभिः कौशिकरामलक्ष्मणाऽ-हल्याभिः सः गौतमः हिन्वत्यौ वर्धमाने ये अद्भुतमुदौ आश्चर्यानन्दौ ताभ्याम् आप्तं लब्धं दर्शनं यस्मिन् कर्मणि तत्तथेति क्रियाविशेषणमिदम्। व्यवन्द्यत प्रणतः। च पुनः आदितः आदौ एव ''आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्या-नम्'' इति तसिः। युक्तः योगद्वारा संगतोऽपि ऋषीश्वरो गौतमः तं सदेहं शरीरिणम् इनं प्रभुं राममित्यर्थः। आप्य प्राप्य अनमत् प्रणतवान्॥५०॥

अर्थ—विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण तथा अहल्या ने गौतम के अद्भुतदर्शन से आश्चर्य पूर्वक आनन्दित होकर उन्हें प्रणाम किया और गौतम भी साक्षात् ब्रह्म को रामरूप में पाकर प्रणति में झुक गया॥५०॥

गौतमकृतमहल्यास्वीकारमाह—

प्रकृतिमाकृतिमाप्तवतीमिव
कृशतनू-शत-नूतगुणां सतीम्।
तिरित-तारितताम‌यितां मुनिः
प्रियतमां यतमान्द्यमुपागमत्॥५१॥

मुनिर्गौतमः आकृतिम् आकारम् आप्तवतीं प्राप्तवतीं शरीरधारिणीमित्यर्थः। प्रकृतिमिव। कृशा तनूर्यासां ताः कृशतन्वः स्त्रियः। सामासान्तानामनित्य-त्वात्कबभावः। अत एव ''सुतनु जहिहि कोपं पश्य पादानतं माम्'' इत्यादि बहुलं प्रयुञ्जते कवयः। तासां शतैः नूताः स्तुताः गुणाः यस्या सा तथोक्ता ताम् पूर्वं तिरिता पाषाणरूपे छन्ना पश्चात् तारिता उद्धृता इति तिरिततारिता तस्या भावस्तत्ता ताम्, अयितां प्राप्तां, तिरोहितप्रकटितामित्यर्थः। सतीं साध्वीं प्रियतमां व-ल्लभाम् अहल्यां यतम् उपरतं मान्द्यं मन्दता यत्र कर्मणि तत्तथा। निस्संकोचमित्यर्थः। उपागमत् स्वीचकार। ''समाहितोपश्रुतोपगतम्'' इत्यमरः। यमकमलङ्कारः। स च चतुर्षु पादेषु पदावृत्तियमकम्। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। ''द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।'' इति लक्षणात्॥५१॥

अर्थ—गौतम ने आकार पाई हुई (नारीरूप में शरीरधारिणी) कृशांगी,जो पहले पाषाण रूप में छिपी हुई थी और अब जिसका उद्धार कर दिया है और जिसके शत-शत गुण स्तुति योग्य हैं ऐसी सती साध्वी प्राणवल्लभा अहल्या को, निस्संकोच भाव से अपनाया॥५१॥

अहल्यायाः पतिच्छन्दानुवर्तित्वमाह—

यथा वशिष्ठस्य वधूररुन्धती

काम्या तथा साऽस्य रुचीररुन्धती।

यथा शिवस्याऽऽहितकाय-शोधना

याथार्थ्यतः साऽस्य सती यशोधना ॥५२॥

यथा वशिष्ठस्य अरुन्धती तन्नाम्नी वधूः पत्नी तथा सा अहल्या अस्य गौतमस्य रुचीः इच्छाः। "रुचिः स्त्री दीप्तौ शोभायामभिष्यङ्गाभिलाषयोः।" इति मेदिनी। अरुन्धती अनिवारयन्ती। काम्या स्पृह-णीया आसीदिति शेषः। यथा शिवस्य शंकरस्य आहितं कृतं कायस्य शोधनं (तपश्चर्यया) यया सा तथोक्ता अत एव यशोधना कीर्तिधना सती दक्षात्मजा जन्मान्तरे पार्वतीनाम्नी आसीत्, तथा अस्य गौतमस्य सा याथा-र्थ्यतः यथार्थतया आहितकायशोधना (रामकृतोद्धारेण) यशोधना सती साध्वी आसीदिति शेषः। पादान्त्यपदावृत्त्या यमकालंकारः। उपजातिवृत्तम् ॥५२॥

अर्थ—जैसे वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती है, अहल्या भी गौतम की परम काम्या-स्पृहणीया थी। जैसे सती ने कायशोधन के द्वारा सती साध्वी यशोधना पार्वती बनकर शिव को प्राप्त किया था—उसी प्रकार अहल्या ने भी इस रूप में यशोधना बन गौतम को प्राप्त किया ॥५२॥

तत्सुखप्राप्त्या गौतमो रामं तच्चरणं च द्वाभ्यां स्तौति—

यौषितं सुखमगाद् मुनिर्यतोऽ-

वन्दत प्रमदऋद्धिधाम तम्।

राघवं च चरणं च तस्य तं

ज्येष्ठवद्धृतपुनर्भवं परम् ॥५३॥

यतः यस्मात् कारणभूताद् (राघवात्तच्च-रणाच्च) मुनिर्गौतमः यौषितं योषितः नार्या इदं यौषितं स्त्रीसम्बन्धीत्यर्थः। सुखम् अगात् प्राप्नोत्, तं प्रमदस्य आनन्दस्य ऋद्धेः समृद्धेश्च धाम स्थानं तत् "प्रमदसंमदौ हर्षे" इति साधुः। इति रामपक्षे चरणपक्षे च। ननु आनन्दसमृद्ध्योः स्थानभूताद् रामात् तच्चरणाच्च कथं स्त्रीसुखप्राप्तिरिति चेत्—प्रमदानां स्त्रीणां या ऋद्धिः प्रमदऋद्धिः "ऋत्यकः" इति ह्रस्वप्रकृतिभावौ। तस्याः धाम इत्यर्थेन तद्धेतुत्वं सङ्गच्छत एव। अथ च "सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरणमास्पदम्।" इति वचनात् सर्वं स्फुटम्। ज्येष्ठवत् ज्येष्ठमासवद् हृतः अपनीतः पुनर्भवः पुनर्जन्म येन स तथोक्तः तम् इत्युभयत्र। चरणपक्षे धृताः धारिताः पुनर्भवा नखा येन स तम् इत्यर्थोऽपि विशिष्यते। ज्येष्ठपक्षे तु हृता पुनर्भवा पुनर्नवा शोथघ्नीति यावद् येन सः तम्। निदाघे तस्या नश्वरत्वादिति भावः। "नखे पुनर्नवायां स्त्री पुनर्भवपुनर्नवौ।" इति शब्दार्णवः। परं श्रेष्ठं राघवं च पुनः तम् अहल्योद्धारेण चरणो विशेषतस्तच्छब्देन निर्दिश्यते। तस्य राघवस्य च चरणं पादम् अवन्दत प्राणमत्। यद्वा वक्ष्यमाणप्रकारेण अस्तौत् ॥५३॥

अर्थ—गौतम को स्त्रीसम्वन्धी सुख प्राप्त हुआ—वह भगवान् राम के और उनके चरणों के प्रताप से मिला था इसलिये सुख और समृद्धि के धाम दोनों की स्तुति करते हुए वन्दना की। जैसे ज्येष्ठमास में पुनर्नवा उत्पन्न नहीं होता है—उसी प्रकार राम पुनर्भव को मिटाते हैं और चरणों की नखज्योति से जगमगाते हैं ॥५३॥

नम्रप्रियोऽर्जितसुकीर्तिरुचो वदान्यः

संस्निग्धलक्ष्मण ऋजू रमया समेतः।

योक्ता च कोविद ऋगुक्तदधीच ऋक्थं

तुष्टं पदं विजयते रघुराज ऋद्धम् ॥५४॥

अत्र 'राघुराज' इति शब्दे सर्वा अपि विभक्तयोऽन्तर्भूताः ताभिः पृथक् पृथक् प्रकारेणार्थाः सम्भवन्ति। तत्र प्रथमार्थः—नम्राः नमनशीला भक्ताः प्रियाः यस्य स तथोक्तः, अर्जिता उपार्जिता सुकीर्तेः सुयशसः रुचा रुक् (दीप्तिः) येन सः तथोक्तः 'रुच्' शब्दो भागुरिमतेनावन्तोऽपि। वदान्यो दानवीरः, संस्निग्धः स्नेहपात्रीकृतो लक्ष्मणो येन सः, ऋजुः सरलस्वाभवः,

रमया लक्ष्म्या स्वभावसहचरितयेति भावः। समेतः संयुतः, योक्ता योगिनां स्वं प्रतियोजयिता, कोविदः ज्ञाता, ऋक्षु वेदमन्त्रेषु उक्त उच्चारितो दधीचो दधीचिर्ऋषिर्येन सः, दध्यञ्च्-दधीचशब्दौ दधीचि-पर्यायौ। वेदानामीश्वरोक्तत्वा-दित्थमुक्तम्। इत्यनेन गौतममुनिना स्वजातीयदधीचि-मुनेर्धन्यतां प्रकटयता भगवतो गुणग्राहकत्वं भक्ताधीनत्वं परमकारुणिकत्वं च स्फुटीकृतम्। "दध्यङ्ङाथर्वणः" इत्यादय ऋचस्तन्नामाङ्किता उपलभ्यन्त एव। ऋक्थं धन-भूतं संसार-सारत्वात्। यद्वा ऋगुक्तदधीचः मन्त्रोक्तदधीचेः ऋक्थं धनभूतं, भक्तानामीश्वरधनत्वात्। ऋद्धम् ऋद्धिमत्, तुष्टम् आनन्दमयं, पदं स्थानं, रघुराजः रघूणां राजा रामः। "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच्। विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते। अथ **द्वितीयार्थः**—कः ऋजुः सरलः, विदः ज्ञानस्य योक्ता अस्तीति शेषः। यः (कर्ता) (अन्यानि 'रघुराजः' इति द्वितीयाबहुवचनान्तस्य कर्मणो विशेषणानि, तथाहि) नम्रान् भक्तान् प्रीणातीति नम्रप्रीः तान्, अर्जिता सुकीर्तेः रुग् दीप्तिर्यैस्तें तान्, वदान् वक्तॄन् "वदो वदावदो वक्ता" इत्यमरः। संस्निग्धानि अनुरक्तानि लक्ष्माणि लक्षणानि यैस्ते तान् सुलक्षणानुरागिण इति भावः। समेतीति क्विपि समेत् तान् रमया समेतः श्रिया युक्तान्, ऋचि उक्तो दध्यङ् यैस्ते तान् ऋक्थं धनभूतान् उद्देश्यविधेयभावेन अजहल्लिङ्गवचनमेतत्पदम्, एवं पदम् इत्यपि। ऋद्धम् ऋद्धिमत् तुष्टम् आनन्दमयं पदं स्थानभूतान् रघुराजः श्रीरामान् "एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे।" इति वचनादीश्वरत्वेन वहुत्वप्रयोगोऽत्र विवक्षितः। विजयते अतिशेते। न कोऽपीदृशः ऋजुर्बुद्धेर्योजयिता च य एतादृशान् श्रीरामानतिशेते इति भावः। अथ **तृतीयार्थः**— को विदो बुद्धेर्योक्ता उवदान्य उः शंकर इव वदान्यो दानशूरः "उकारः शंकरः प्रोक्तः" इत्येकाक्षरः रमया लक्ष्म्या समेतोऽपि ऋजुः सरलाशयः (कर्ता (अन्यानि 'रघुराजा' इति तृतीयान्तस्य करणस्य विशेषणानि तथाहि—) नम्रप्रिया नम्रान् प्रीणाति तेन, ऊर्जिता प्रवृद्धा सुकीर्ते रुक् यस्य सः तेनेति ऊर्जितसुकीर्तिरुचा, संस्निग्धलक्ष्मणा सुलक्षणानुरागिणा "[illegible]" इति

ह्रस्वः। एवमन्यत्र। ऋगुक्तदधीचा (द्वितीयार्थवत्), रघुराजा श्रीरामेण ऋद्धम् ऋद्धिं प्राप्तम् ऋक्थं सर्वस्वभूतं तुष्टम् आनन्दमयं पदं स्थानं विजयते वशीकुरुते ? न कोऽपीदृशो यो रामेण ऋद्धम् (ऋद्धिं प्राप्तं) पदं विजयेतेति भावः। अथ **चतुर्थ्यर्थः**—को नम्रप्रियः अर्जितसुकीर्तिरुचः वदान्यः ऋजुः रमया समेतः च पुनः रमया योक्ता योजयिता। चकाराद् 'रमया' इति पदमनुकृष्यते। (कर्ता) इतः परं 'रघुराजे' इत्यस्य चतुर्थ्यन्तस्य विशेषणानि-संस्निग्धलक्ष्मणे लक्षणानुरागिणे विदे वेत्तीति विद् तस्मै ऋगुक्तदधीचे रघुराजे श्रीरामाय (नररूपाय) तादर्थ्ये चतुर्थी तुष्टं प्रसन्नम् अनुकूलीभूतमित्यर्थः। ऋद्धं समृद्धम् ऋक्थं सर्वस्वभूतं पदं संमानास्पदमित्यर्थः। विजयते जयति ? तदर्हं तादृशं पदं स एव जयति नान्य इति भावः। अथ **पञ्चम्यर्थः**—ऋजुः रमया समेतः च रमया योक्ता विदः पण्डितः इगुपधत्वात् कः। इतः परं 'रघुराजः' इति पञ्चम्यन्तस्य विशेषणानि— नम्रप्रियः अर्जितसुकीर्तिरुचः संस्निग्धलक्ष्मणः ऋगुक्तदधीचः (द्वितीयार्थवत्) रघुराजः अन्यः कः ऋक्थम् ऋद्धं तुष्टं पदं विजयते ? इति वद कथय। न कोऽपीत्यर्थः। अथ **षष्ठ्यर्थः**—वदान्यः ऋजुः रमया समेतः च योक्ता को विदः पण्डितः, इतः परं 'रघुराजः' इति षष्ठ्यन्तस्य विशेषणानि-नम्रप्रियः अर्जितसुकीर्तिरुचः संस्निग्ध-लक्ष्मणः ऋगुक्तदधीचः रघुराजः ऋक्थम् ऋद्धं तुष्टं पदं विजयते ? न कोऽपीत्यर्थः। अथ **सप्तम्यर्थः**—नम्रप्रियः अर्जितसुकीर्तिरुचः वदान्यः ऋजुः रमया समेतः योक्ता च को विदः पण्डितः इतः परं 'रघुराजे' इति सप्त-म्यन्तस्य विशेषणानि। संस्निग्धलक्ष्मणे अनुरक्तलक्ष्मणे ऋगुक्तदधीचे रघुराजे श्रीरामविषये ऋद्धम् ऋद्धिं प्राप्तम् ऋक्थं तुष्टं पदं स्थानं व्यवसायं वा विजयते ? न कोऽपीत्यर्थः। अथ **सम्बोधनार्थः**—हे संस्निग्धलक्ष्मण ऋगुक्तदधीच रघुराज ! अवशिष्टानि 'विदः' इत्यन्तानि प्रथमान्तानि 'विदः' इति कर्तृ-विशेषणानि ज्ञेयानि। कोविदः पण्डितः ऋद्धम् ऋक्थं तुष्टं पदं स्थानं तवेति शेषः। विजयते ? न कोऽपीति शेषः। अनेन

लोकातिशायिमहिमा श्रीरामचन्द्र इति व्यक्तम्। उदात्तालङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम्।।।५४।।

अर्थ—जिनके नमनशील भक्तजन प्रिय हैं, जिन्होंने सुयश की दीप्ति अर्जित की हैं, जो दानवीर हैं, जिनके लक्ष्मण स्नेहपात्र हैं, जो सरलस्वभाव हैं, जो लक्ष्मी (सीता) से युक्त हैं, योगियों को अपने प्रति युक्त करने वाले हैं, जो कोविद (शास्त्रज्ञाता) हैं, जिन्होंने वेदमन्त्रों में दधीचि ऋषि का उच्चारण किया हैं; जो ऋद्धि के आनन्दमय स्थान हैं, वह रघुराज (राम) विजय को प्राप्त करते हैं।।५४।।

रामस्य विनयपूर्वकं मिथिलानगरगमनमाह—

मैवं व्यनक्तु गुरुतां मम गौतमर्षे

च्छत्त्रं द्विजा न इति तं प्रतिवन्द्य वन्द्यम्।

प्रीत्याऽनुजेन समनुव्रजितो मुनिं चाऽ-

त्यासन्नमाप मिथिलानगरं स रामः।।५५।।

भो गौतमर्षे एवम् इत्थं मम मे गुरुतां गौरवं मा नहि व्यनक्तु प्रकटयतु। नायं माङ् किन्तु 'मा' एव, अतो न माङि लुङ्। द्विजाः ब्राह्मणाः नः अस्माकं छत्त्रं रक्षकत्वेन च्छत्रभूता इत्यर्थः। इतीत्थं तं वन्द्यं वन्दनीयं प्रतिवन्द्य प्रतिप्रणम्य प्रीत्या हर्षेण अनुजेन लक्ष्मणेन समनुव्रजितः अनुगतः च पुनः मुनिं विश्वामित्रं समनुव्रजित इति चादनुकृष्यते। पूर्वत्र कर्मणि, उत्तरत्र कर्तरि क्तो ज्ञेयः। रामः अत्यासन्नम् अतिसंनिहितं मिथिलानगरम् आप प्राप्नोत्।।५५।।

अर्थ—राम ने विनय पूर्वक गौतम से कहा—'हे महर्षे ! इस प्रकार मेरे गौरव का आप बखान न करें। ब्राह्मण ही हमारे लिए छत्रभूत (रक्षक) हैं।' इस प्रकार वन्दनीय महर्षि को प्रणाम करके आनन्दपूर्वक लक्ष्मण से अनुगत तथा विश्वामित्र के साथ राम अत्यन्त निकटस्थित मिथिलानगरी जा पहुँचे।।५५।।

जनककृतं नगरीप्रवेशनं निर्दिशन्नुपसंहरति—

मत्वा मुनिं रघुवरेण च लक्ष्मणेन

हीरेण नीलमणिनेव सुवर्णमाप्तम्।

पद्मेन वाऽऽर्च्य नयनेन च जातहर्षै-

तिः स्वां पुरीं समनयज्जनकोऽभिरामाम्।।५६।।

इति श्रीकविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये धन्वन्तरिनामा तृतीयः सर्गः समाप्तः।।३।। See copy

जनकः मिथिलाधिराजः नीलमणिना नीलरत्नेन हीरेण हीरकमणिना च (सह) 'विनापि सहयोगं तृतीया वृद्धो यूनेति निर्देशात्।' सुवर्णं काञ्चनमिव रघुवरेण रामेण लक्ष्मणेन च (सह) आप्तम् आगतं मुनिं विश्वामित्रं मत्वा ज्ञात्वा। च पुनः पद्मेन वा कमलेनेव नयनेन नेत्रेण आर्च्य पूजयित्वा सादरं दृष्ट्वेत्यर्थः। जातहर्षैतिः जाता उत्पन्ना हर्षस्य आनन्दस्य एतिः (आ+इतिः) आगमनं यस्य स तथोक्तः सन् अभिरामां मनोहरां स्वां पुरीं समनयत् सम्यक् सादरं प्रावेशयदिति भावः।।५६।।

इति श्रीपण्डितभगवतीलालशर्मविद्याभूषणेन विरचि-तायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिता ब्धिरत्नमहाकाव्य-व्याख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः।।३।।

अर्थ—जनक ने विश्वामित्र को राम एवं लक्ष्मण के साथ आया देखकर ऐसा माना—जैसे सोना हीरा व नीलमणि से जड़ा हुआ हो। राजा ने उनको कमल सदृश नयनों से पूजकर उनके आगमन से हर्षित होकर अपनी मनोहर नगरी में उनके साथ सादर प्रवेश किया।।५६।।

जयपुरवास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं.मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का 'धन्वन्तरि' नामक तृतीय सर्ग समाप्त।

अथ चतुर्थः सर्गः

नगरदर्शनार्थम् अनुमतिमाह—

ततो निवृत्तौ निजनित्यकर्मणः

स्यातामिमौ पूःसुषमाचणाविति।

भिन्नान्तरोऽप्याशयचुञ्चुरप्रति-

षेध्यौ विहर्तुं मुनिरन्वमंस्त तौ ॥१॥

ततस्तदनन्तरं भिन्नं पृथग्भूतम् अन्तरम् अन्तरात्मा यस्य सोऽपि "अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च॥" इत्यमरः। आशयचुञ्चुः आशयेन अन्यदीयेन मनोगताभिप्रायेण वित्तः, अन्याशयज्ञातेत्यर्थः। "तेन वित्तश्चुञ्चुपूचणपौ" इति चुञ्चुप्[1]। मुनिर्विश्वामित्रः निजम् आत्मीयं यन्नित्यकर्म सन्ध्योपासनादिकं तस्मान्निवृत्तौ विरामं प्राप्तौ "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" इत्यपादाने पञ्चमी। नित्यकर्मणः प्रातःकरणीयत्वादत्र प्रातरिति ध्वन्यते। इमौ राजपुत्रौ पुरो नगर्या या सुषमापरमशोभा "सुषमा परमा शोभा" इत्यमरः। सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः" इति षत्वम्। तया वित्तौ इति पूःसुषमाचणौ पुरशोभाभिज्ञावित्यर्थः। स्यातां भवेतामिति हेतोः अप्रतिषेध्यौ न निषेद्धुं योग्यौ तौ रामलक्ष्मणौ विहर्तुं परिभ्रमितुम् अन्वमंस्त अनुज्ञातवान्। अस्मिन् सर्गे वंशस्थेन्द्रवंशयोः संमिश्रणादुपजातिवृत्तम्। "इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम।" यथाऽत्र प्रथमपादे वंशस्थं ततः पादत्रये इन्द्रवंशा "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" तथा "स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः" इति क्रमेण तत्तल्लक्षणात्॥१॥

अर्थ—भिन्न अन्तर (अन्तरात्मा) होते हुए भी दूसरे के हृदय के आशय को जानने में प्रवीण विश्वामित्र मुनि दोनों राजकुमारों को जो नित्य कर्म से निवृत्त हो चुके थे, पुर की परम शोभा को देखने की आज्ञा दे दी॥१॥

त्रिभिर्विहरणप्रकारमाह—

कन्दर्पचैत्राविति कामिनीजनैः

संध्यानयोगाविति योगिभिर्मतौ।

भावार्थशब्दाविति तौ कवीश्वरै-

रान्दोलयन्तौ स्वकथां विचेरतुः ॥२॥

कामिनीजनैः युवतिलोकैः कन्दर्पचैत्रौ कामचैत्रमासौ इति इत्थं, योगिभिः योगाभ्यासिभिः सन्ध्यानयोगौ सम्यग् ध्यानं प्रत्ययैकाग्रता सन्ध्यानम्, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तयोर्द्वन्द्वः। इति, कवीश्वरैर्महाकविभिः। भावार्थः शब्दश्चेति मतौ ज्ञातौ तौ रामलक्ष्मणौ स्वकथाम् आत्मीयवार्ताम् आन्दोलयन्तौ प्रसङ्गविषयीकुर्वन्तौ सन्तौ अपूर्वौ अत्र राजकुमारौ समागतौ इत्यादिप्रकारेणेति भावः। विचेरतुः विहृतवन्तौ। अत्र कामिन्यादीनां कन्दर्पचैत्रादिरूपेण बहुधा उल्लेखनाद् उल्लेखालंकारः। "बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते"॥२॥

अर्थ—दोनों राजकुमारों को कामिनीवृन्द ने कामदेव और चैत्र की तरह देखा, योगियों को लगा जैसे सम्यक् ध्यान और योग हों। कवीश्वरों को लगा कि शब्द और अर्थ सम्पृक्त हो (वागर्थ की तरह) सारे नगर में यह बात फैल गई कि दो राजकुमार विचरण कर रहे हैं॥२॥

दृष्ट्वा दृशा पूर्वमपूर्वमध्वर-

वाटं हृदाऽह्लादत भूरि राघवः।

भाषामहे तत्र किमद्भुतं मुहु-

[illegible] मोदेत हि [illegible] ॥३॥

---

१. केचितदत्र चञ्चुमपि पठन्ति अत [illegible]

राघवो रामः पूर्वं प्राक् अपूर्वं लोकोत्तरम् अध्वरवाटं यज्ञवाटं दृशा नेत्रेण दृष्ट्वा हृदा हृदयेन भूरि बहु आह्लादत अतुष्यत्। तत्र तस्मिन् विषये मुहुः पुनः पुनः किम् अद्भुतम् आश्चर्यं भाषामहे ब्रूमहे न किमपीत्यर्थः। अत्रार्थान्तरेण द्रढयति हि यतः यज्ञपूरुषः यज्ञपुरुषः यागेन यज्ञेन मोदेत आनन्देत्॥३॥

अर्थ—राम ने पहले अपूर्व यज्ञवाट को अपनी आँखों से देखकर हृदय में बहुत ही आनन्द का अनुभव किया। इस विषय में बार-बार आश्चर्य को क्या प्रकट करें। क्योंकि यज्ञपुरुष यज्ञ से ही आनन्दित होता है। यह स्वाभाविक है॥३॥

थकारवर्णस्तमिवानुगामिनं

कैलासवासीव कुबेरमाश्रितम्।

कलानिधिः सौम्यमिवोत्कमुन्मना-

यीषद् हसन् राम उवाच लक्ष्मणम्॥४॥

ईषद् हसन् स्मितं धरन् उन्मना उत्को रामः। थकारवर्णः थकारः तं तकारमिवानुगामिनं पश्चाद्गामिनम् अनुगामित्वेन लक्ष्मणस्तकारेण सहोपमितः। एवमग्रेऽपि। कैलासवासी शिवः कुबेरमिव आश्रितं प्रपन्नम् च पुनः, कलानिधिः चन्द्रः सौम्यं बुधमिव उत्कम् उत्कंठितं लक्ष्मणम् उवाच॥४॥

अर्थ—राम के पीछे लक्ष्मण ऐसे चल रहे थे, जैसे थकार के पीछे तकार हो, कैलासवासी शिव के आश्रित कुबेर हो या चन्द्रमा के पीछे बुध हो। मंद मुस्कराते एवं उत्सुक राम ने उत्कण्ठित लक्ष्मण से कहा॥४॥

द्वाभ्यां मिथिलां वर्णयति—

पूर्दृश्यतां दृश्यतरा निमीश्वर-

वंशोद्भवैर्या परिपालिता नृपैः।

दत्ते सुधामाश्रितवद्भिरुल्लस-

त्तमैः श्रिता द्यौरिव वै बुधैर्मुदम्॥५॥

दृश्यतरा अतिशयेन दर्शनीया पूः नगरी दृश्यतां विलोक्यताम्। या निमीश्वरस्य निमिराजर्षेः वंशोद्भवैः कुलप्रसूतैः नृपैः राजभिः परिपालिता रक्षिता सती द्यौः स्वर्ग इव सुधाम शोभनगृहम्। आश्रितवद्भिः अध्युषितैः उल्लसत्तमैः अतिशयेन उल्लसद्भिः क्रीडद्भिः बुधैः विद्वद्भिः श्रिता आश्रिता सती वै निश्चयेन मुदम् आनन्दं दत्ते ददाति। स्वर्ग-पक्षे-सुधाम् अमृतम् आश्रितवद्भिः। वैबुधैः विबुधानां देवानां समूहैः श्रितेत्यर्थो ज्ञेयः। अत्र तरप्तमपोः क्तक्तवत्वोश्चैकत्र प्रयोगश्चमत्कारावहः। श्लिष्टोपमा॥५॥

अर्थ—'लक्ष्मण ! इस अतिशय सुन्दर नगरी को देखो। निमि वंशधर राजाओं ने इस नगरी का पालन किया है। यह स्वर्ग की तरह है। इसके भवन सुन्दर है, जिनमें रहने वाले विद्वान् बहुत आनन्द करते हैं, खूब क्रीड़ा करते हैं। ये सभी को आनन्द प्रदान करते हैं। जैसे स्वर्ग में अमृत का आश्रय लेने वाले देवसमूह हों॥५॥

वराङ्गनाकेलिकलानिकेतनं

राज्यं स्मरस्येव यदस्ति कामिनाम्।

देवप्रियं ब्रह्मविचारणास्पदं

वीतस्पृहेभ्योऽपि च भात्यदः पुरम्॥६॥

वराङ्गनानां सुन्दरीणां याः केलिकला विहारकौशलानि तासां निकेतनं गृहं यत् (पुरं) कामिनां स्मरस्य कामस्य राज्यम् इवाऽस्ति। अदः तदेतद् देवप्रियं देवतास्पृहणीयं ब्रह्मविचारणायाः परमतत्त्वचिन्तनस्य आस्पदं स्थानम् "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इति सुट्। 'आस्पदं पदकृत्ययोः' इति मेदिनी। पुरं नगरं वीतस्पृहेभ्यः निरीहेभ्यः अपि भाति रोचते। रुच्यर्थयोगे चतुर्थी॥६॥

अर्थ—सुन्दरियों की केलिकला से यहाँ घर भरे हैं। कामियों के लिये तो यह नगर कामदेव का निवास है। ब्रह्म विचार का भी यह स्थान है, जिसे

देवता भी चाहते हैं। निःस्पृह व्यक्तियों के लिये भी यह स्थान बहुत रुचिकर है॥६॥

द्वाभ्यां क्रीडावनं वर्णयति—

वत्साऽग्रतः केलिवनीं तु पश्य, या-

रम्या द्रुपुष्पाभरणैर्लताऽशुकैः।

मेनादनादैः कुशलानि पृच्छती

नवाब्जगन्धैरुपकर्षतीव नौ ॥७॥

वत्स, अग्रतः पुरतः केलिवनीं क्रीडावनीं तु पश्य। द्रूणां वृक्षाणां पुष्पाणि तानि एव आभारणानि तैः। (तथा) लता एव अंशुकानि वस्त्राणि तैः। रम्या रमणीया। मेनादनादैः मयूरशब्दैः "मेनादः केकिनि च्छागे माजरि" इति हैमः। कुशलानि पृच्छती सती या (केलिवनी) नवैः नवीनैः अब्जगन्धैः कमलसौरभैः। अत्र नवशब्देन प्रभातविकासजन्यो गन्धः सूचितः। नौ आवाम् उपकर्षति समीपमाकर्षतीव समासोक्तिः॥७॥

अर्थ—हे वत्स ! देखो, आगे केलिवन है, क्रीड़ा वाटिका है। यह बहुत सुन्दर है। पेड़ के फूलों के गहने पहने हैं। लताओं के वस्त्रों से यह शोभायमान है। मयूर की केकाध्वनि से यह वाटिका सभी को कुशल प्रश्न पूछती सी है। नये खिले कमलों की सुगन्ध से हमें खींच रही है॥७॥

मन्ये सरोहंसरवेण गायति

या वादयत्यप्यलिगुञ्जवल्लकीम्।

चक्रांश्च कीरानिव नर्तयत्यसौ

तनोति दूर्वास्थलमेतदासनम् ॥८॥

अहं मन्ये। या (केलिवनी) सरसो ये हंसास्तेषां रवेण शब्देन गायति गानं करोति। अपिः समुच्चये। अलीनां भ्रमराणां यो गुञ्जः शब्दः स एव वल्लकी वीणा तां वादयति। चक्रान् चक्रवाकान् कीरान् शुकांश्च नर्तयति नृत्यं कारयतीव। असौ एषा (केलिवनी) एतत् पुरो दृश्यमानं दूर्वास्थलं दूर्वामयमङ्गणम् (तदेव) आसनम् अस्मदर्थमिति भावः। तनोति आस्तृणाति॥८॥

अर्थ—मैं मानता हूँ। यह (केलिवनी) हंसों की ध्वनि से गा रही है। भौरों की ध्वनि से गुंजार के रूप में यह बीणा बजा रही है। चकवाचकवी और तोतों को नचा रही है। इस समारोह में सम्मिलित होने वालों के लिये हरी दूब का सुन्दर आसन बिछा रही है॥८॥

तत्रत्यं गौरीवन्दनमाह—

विवाहकाम्यन्नविवाहितो जनो

वामाजनोऽभीप्सुरनन्यकान्तताम्।

सतीसुखीयन् युवलोक उत्सुको

नंनम्यते नम्यपदामिहेश्वरीम् ॥९॥

इह अत्र केलिवनीप्रदेशे उत्सुकः इष्टमर्थं साधयितुमुद्युक्तः। "इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः" इत्यमरः। अविवाहितः असंजातविवाहः "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच्। जनः लोकः विवाहकाम्यन् आत्मनो विवाहमिच्छन्। "काम्यच्च" इति काम्यच्। विवाहकामनयेति भावः। वामाजनः स्त्रीजनः अनन्यकान्ततां न अन्या (स्त्री) यस्य सः अनन्यः एकपत्नीक इति यावत्। अनन्यः कान्तः पतिर्यस्याः सा तद्भावस्तत्ता ताम् एकपत्नीकपतिसुखमिति भावः। अभीप्सुः इच्छुः। "आप्ज्ञप्यृधामीत्" इति सनि ईत्वम् अभ्यासलोपश्च। तत उः। युवलोकः तरुणजनः सतीसुखीयन् आत्मनः सतीसुखम् इच्छन् "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच्। पतिव्रतास्त्रीसुखकामनयेति भावः। नम्यपदां वन्द्यचरणाम् ईश्वरीम् उमां (गौरीं) नंनम्यते पुनः पुनरतिशयेन वा नमति। "दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्" इति भागवतवचनात्॥९॥

अर्थ—अविवाहित जन विवाह की कामना से सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने अचल सुहाग के लिये,

युवक सती (साध्वी) युवती की कामना से पूजनीया गौरी के चरणों में अतिशय विनम्र होकर वन्दना करते हैं॥९॥

राजकुमारीपरिजनं वर्णयति—

चलाक्षिमीनः कुचचक्रयुग्मवान्

राराज्यमानोच्चलचैलवीचिमान्।

महीपकन्यानुचरीगणः पुरः

स्यदः स्रवन्त्या इव दृश्यतामयम्॥१०॥

चलानि चपलानि अक्षीणि नेत्राणि एव मीना मत्स्या यत्र स तथोक्तः। कुचाः स्तना एव चक्राश्चक्रवाकास्तेषां यानि युग्मानि युगलानि तद्वान्। राराज्यमानानि अतिशयेन शोभमानानि उच्चलानि उत्तरलानि यानि चैलानि वस्त्राणि तान्येव वीचयस्तरङ्गाः तद्वान्। अत एव स्रवन्त्या नद्याः स्यदः वेगः प्रवाह इव इत्यर्थः। ''स्यदो जवे'' इति निपात्यते। अयम् एष महीपकन्यायाः राजकुमार्याः अनुचरीगणः परिजनः पुरोऽग्रे दृश्यताम् अवलोक्यताम्। त्वयेति शेषः॥१०॥

अर्थ—इस राजकुमारी के अनुचरीगण को देखो, मीनसी जिसकी चंचल आँखें है, चक्रवाकयुगल की तरह जिसका स्तनयुगल है, उड़ता हुआ आंचल लहरों की तरह लहराता है—वह नदी के वेगवान् प्रवाह की तरह है॥१०॥

विशेष—कवि ने नदी का रूपक बांधा है। नदी में मीन तटपर चक्रवाक एवं तरंगे होती हैं—इन्हीं को राजकुमारी के अनुचरीगण (सेविका-समूह) में आरोपित किया है॥१०॥

पञ्चभिः सीतां वर्णयति—

भव्याऽब्धिवासस्थलजाऽप्ययोनिजा

रमेव देवीष्वथ तासु सोडुषु।

तनोति सीताऽमृतमेव चान्द्रम-

स्याभेव पूर्णा विकलङ्कदर्शना॥११॥

अथेति अत्र समुच्चये। भव्या शुभा भाविनी (पत्नी) इति च ध्वन्यते। ''भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु।'' इति मेदिनी। अब्धिः समुद्रो वासो वस्त्रं यस्या सा अब्धिवासाः पृथ्वी तस्यां यत् स्थलं क्षेत्ररूपं 'खर्परे शरी'ति विसर्गलोपः। तत्र जाता ''सप्तम्यां जनेर्डः'' इति डः। रमा-पक्षे तु अब्धिः समुद्र एव वासस्थलं निवासस्थानं तज्जा अपि अयोनिजा योनितोऽनुत्पन्ना। अत्रापिर्विरोधमाभासयति। यत्तादृशा-दुत्पत्तिस्थानादुत्पन्नापि योनित उत्पत्तिस्थानादजातेति। ''योनिः स्त्रीपुंसयोश्च स्यादाकरे स्मरमन्दिरे।'' इति मेदिनी। देवीषु सत्त्वरजस्तमःशक्तिषु रमा लक्ष्मीरिव तासु अनुचरीषु सा सीता, उडुषु तारासु पूर्णा अखण्डिता विकलङ्कदर्शना निष्कलङ्कदर्शना चान्द्रमसी चन्द्रमस इयं चन्द्रसंबन्धिनीत्यर्थः। आभा दीप्तिरिव अमृतं सुधामेव तनोति वर्षति। दर्शनानन्द उत्प्रेक्षितः। सीताया आदिशक्तित्वात् सा अमृतं मोक्षं तनोति संपादयती-त्यर्थोऽपि ध्वन्यते॥११॥

अर्थ—पाँच श्लोकों में सीता का वर्णन : सामने यह शुभा है, जो समुद्ररूपी वस्त्र से शोभित पृथ्वी से उत्पन्न अयोनिजा लक्ष्मीरूपा हैं। (लक्ष्मी समुद्र से उत्पन्न हुई, सीता पृथ्वी की पुत्री है-अतः अयोनिजा है) वह सखियों के बीच ऐसी लगती है—जैसे तारों के बीच पूनम के निष्कलंक अमृतमय चन्द्रमा की ज्योति हो। जिसकी छटा छिटक रही हो॥११॥

भियेव नो भाति चिरं तडित्, प्रति-

षेधं गतेवार्कविभाऽपि संनिधौ।

चण्डी शिवाऽभूदिदमुद्भवात्परं

नंनन्त्यमूं स्तोत्ररता सरस्वती॥१२॥

इदमुद्भवात् अस्याः सीताया जन्मनः परमनन्तरं संनिधौ समीपे भिया भीत्या इव तडित् विद्युत् चिरं बहुकालं नो भाति शोभते। तस्याः क्षणप्रभात्वेनोत्प्रेक्षणम्। अर्कविभा सूर्यकान्तिरपि

प्रतिषेधं निषेधमिव गता प्राप्ता ! राजान्तःपुरस्य असूर्यम्पश्यत्वादिति भावः। शिवा गौरी चण्डी अत्यन्तकोपना अभूत्। सरस्वती स्तोत्ररता स्तवनतत्परा सती अमूं सीतां नंनन्ति अतिशयेन पुनः पुनर्वा नमति। यङ्लुकि रूपम्॥१२॥

अर्थ—सीता के जन्म के साथ ही विद्युत् (बिजली) डर के मारे इसके सामने ठहर कर शोभित नहीं हो पाती है। इसके पास सूर्य की विभा भी टिक नहीं पाती है (असूर्यम्पश्या होने के कारण) शिवा (गौरी) चण्डी (अत्यन्तकोपना) है, सरस्वती तो स्तोत्ररता होकर पुनः पुनः अतिशय नमन करती है॥१२॥

सदोदितं हीनकलङ्कमक्षयं
समग्रमस्या मुखमिन्दुमण्डलम्।
त्यक्ताऽविकासे जलजन्मनी दृशौ
वरा शुकस्येव मृदुस्तु नासिका॥१३॥

अस्याः सीताया मुखं सदा सर्वदा उदितम् उदयितं न तु कदाप्यस्तंगतमिति भावः। हीनकलंकं कलङ्करहितम् अक्षयं क्षयदोषरहितम् एतादृशं समग्रं पूर्णम् इन्दुमण्डलं चन्द्रबिम्बमस्तीति शेषः। दृशौ नेत्रे त्यक्तो मुक्तोऽविकासः रात्रिको म्लानभावो याभ्यां ते जलजन्मनी कमले स्त इति शेषः। नासिका नासा शुकस्य इव वरा मनोज्ञा, तु परन्तु मृदुः कोमला। व्यतिरेकालंकारः॥१३॥

अर्थ—चन्द्रमा तो सदा उदित नहीं रहता और कलंक युक्त भी है, पर सीता का मुखचन्द्र उस तरह का है जो हमेशा उदित है, पूर्ण है, निष्कलंक है। सीता के नेत्र उस कमल की तरह है, जो कमल सदा खिला रहता है और कभी मुरझाता नहीं। नासिका तोते की तरह मनोज्ञ है, पर तोते की नाक कठोर है, यह मृदु है।॥१३॥

विशेष—इसमें व्यतिरेक अलङ्कार है, जिसमें उपमेय को उपमान से अधिकता या विशेषता वाला बतलाया जाता है॥१३॥

चलांशु कुन्दाग्रति दन्तसौष्ठवं
नासाग्रमुक्ताप्यधरेण शोणति।
द्राक्षायते वागथवा सुधायते
जाने स्थितः कम्बुरयं गलच्छलात्॥१४॥

चलाः अंशवः किरणा यत्र तद् दन्तानां सौष्ठवं सौन्दर्यं कुन्दानां कुन्दपुष्पाणाम् अग्रमिवाचरति "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः" इति क्विप्। चलांशुत्वेन कुन्दाग्रतो दन्तसौष्ठवं व्यतिरिच्यते। यद्वा चलांशु यत्कुन्दाग्रं तद्वदाचरतीति अभूतोपमा। नासाग्रस्य मुक्ता मौक्तिकभूषा साऽपि अधरेण ओष्ठेन शोणति रक्तीभवति। शोणृ वर्णे इत्यस्य रूपमिदम्। वाक् वाणी द्राक्षायते द्राक्षा इवाचरति, अथवा सुधायते सुधा अमृतमिवाचरति। उभयत्र "कर्तुः क्यङ् स लोपश्च।" इति क्यङ्। अहं जाने मन्ये। गलच्छलात् कण्ठमिषात् अयं कम्बुः शंखः स्थितः। "शंखः स्यात् कम्बुरस्त्रियौ" इत्यमरः। अत्र प्रथमतृतीययोः पादयोरुपमा। चतुर्थेऽपन्हुतिः। द्वितीये तु मुक्तायाः स्वकीयस्य श्वेतत्वगुणस्य परित्यागपूर्वकेण अन्यस्य अधरस्य गुण-(रक्तत्व) ग्रहणेन तद्गुणालंकारः। "तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।" इति तल्लक्षणात्॥१४॥

अर्थ—दाँतों की कान्ति कुन्द को परे करती है, (कुन्द में श्वेतता है, पर चमक नहीं जबकि दाँतों में किरणों जैसी कान्ति है।) नाक में आभूषण के रूप में पहना हुआ मोती अधरों की लालिमा से लाल कान्ति धारण किये है। वाणी को क्या कहा जाय, यह दाख़ की तरह मधुर है या कहना चाहिये अमृत सी मीठी है। गला तो शंख की तरह है, ऐसा कहना ठीक नहीं लगता है जैसे गले के छल से साक्षात् शंख ही उसकी जगह स्थापित कर दिया है॥१४॥

धत्तोऽब्जनालोपमितिं भुजौ मुहु-

मनोभुवः काञ्चन-गोलिके कुचौ ।

पाण्यङ्घ्रिपङ्केरुह-नाभि-वार्भ्रमैः

शेवालिनीं स्मारयतीह मामियम् ॥१५॥

भुजौ बाहू अब्जनालस्य कमलनालस्य उपमितिम् उपमां धत्तः धरतः। कुचौ स्तनौ मनोभुवः कामस्य काञ्चनगोलिके सुवर्णमयाल्पगोले। अल्पार्थे कः। "गोला गोदावरीसख्योः कुनटीदुर्गयोः स्त्रियाम्। पत्राञ्जने मण्डले चालिञ्जरे बालखेलने॥" इति मेदिनी। पाणी करौ च अङ्घ्री पादौ चेति पाण्यंघ्रि "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इत्येकत्वम्। तदेव पंकेरुहाणि कमलानि तथा नाभिरेव वार्भ्रमः जलभ्रम आवर्त इत्यर्थः। द्वन्द्वः। तैः (कारणैः) इयं सीता इह अत्र स्थाने मां शेवालिनीं नदीं स्मारयति स्मृतिमानयति। अत्र कमलजलभ्रमादिभिः नदीस्मरणेन स्मरणालंकारः। "सदृशानुभवाद् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते।" इति लक्षणात् ॥१५॥

अर्थ—राजकुमारी की दोनों बाहें कमल नाल के सदृश है। दोनों गोल छोटे-छोटे स्तन जैसे कामदेव की दो कांचन गोलिका हों। हाथ और चरण कमलवत् हैं और नाभि जलभ्रम (आवर्त) सदृश है। इससे मुझे सीता का स्मरण हो आया है। (नदी में कमल और जलभ्रम होने से सीता को देखकर नदी का स्मरण हो आना स्वाभाविक है) ॥१५॥

नरेन्द्रपुत्री भुजगं मनो हरेत्

संजायतेऽन्तर्मम हन्त विक्रिया।

यत् स्पन्दतेऽस्या मम दृक् च सव्यिकाऽ-

तः किं भवेन्नाम विधेर्विचेष्टितम् ?॥१६॥

नरेन्द्रपुत्री सीता भुजगं बाहुगामि मनः चित्तं हरेत् हर्तुं शक्नोति। शक्यर्थे लिङ्। अन्यया प्राग् हर्तुमशक्तत्वादेवं रामस्योक्तिः। नरेन्द्रस्य विषवैद्यस्य पुत्री च भुजगं सर्पं हरेदेव। "नरेन्द्रस्तु महीपाले विषवैद्ये च पुंस्ययम्।" इति मेदिनी। हन्तेति खेदे। मम मे अन्तः मनसि विक्रिया विकारः कामजन्य इति भावः। संजायते भवति। यद् अस्याः सीताया मम च सव्यिका सव्या "सव्यं दक्षिणवामयोः" इति विश्वः। तेन सीताया वामा, रामस्य तु दक्षिणेति ज्ञेयम्, स्त्रीपुंसयोः शुभाव-हत्वात्। दृग् नेत्रं स्फुरति। अतः अस्मात् कारणात् किं नामेति संभावनायाम्। विधेर्दैवस्य विचेष्टितं विलसितं भवेत् स्यात् ?॥१६॥

अर्थ—यह राजकुमारी, मेरे तेज दौड़ने वाले मन को हरण करती है, जैसे विषवैद्य की पुत्री साँप का हरण करती है। इसे देखकर मेरे मन में कामजन्य विकार हो रहा है। इसका वामनेत्र और मेरा दाहिना नेत्र फड़क रहा है—पता नहीं दैव की क्या करने की इच्छा है॥१६॥

अथ द्वाभ्यां तयोर्मिथो दर्शनेनानुरागं स्फुटीकरोति—

वियन्मणीवंशमणिर्मणीवक-

वाट्यामिति ख्यान् विरतो रतोऽप्यभूत्।

स तां शिखीवाभ्रघटां ददर्श, तं-

यामिन्यधीशं च चकोरिकेव सा ॥१७॥

मणीवकवाट्यां पुष्पवाटिकायां "पुष्पं सूनं सुमनसः प्रसवश्च मणीवकम्" इति हैमः। रतः संसक्तोऽपि वियत आकाशस्य या मणी रत्नं सूर्यस्तस्य यो वंशः सूर्यकुलमित्यर्थः। तस्य मणी रत्नं रामः इति एवं ख्यान् कथयन् विरतः विरामं प्राप्तः अभूत् अभवत्। रतोऽपि विरतः (विरक्तः) इति विरोधाभासः। स (रामः) तां सीतां शिखी मयूरः अभ्रघटां मेघघटामिव ददर्श, सा च तं चकोरिका चकोरी यामिन्यधीशं रात्रिनाथं चन्द्रमिवेत्यर्थः। ददर्शेत्याकृष्यते ॥१७॥

अर्थ—दो श्लोकों में दोनों के दर्शनजन्य अनुराग का वर्णन : आकाश के मणि-सूर्य वंश के शिरोमणि राम वाटिका में प्रेम में रत होते हुए भी, इतना कहकर चुप हो गये। राम सीता को यों मुग्ध होकर देखते थे–जैसे मोर मेघघटा को देखता है और सीता यों देखती थी जैसे रात्रि के स्वामी चन्द्र को चकोरी देखती है॥१७॥

विशेष—'रत' होकर 'विरत' होने में विरोधाभास अलङ्कार है॥१७॥

माकन्दमाकन्दलितं पिकीव सा,

स तां मिलिन्दो नलिनीमिवैहत।

सुरस्रवन्तीव समेत्य सागरं

तं राममुल्लोलयति स्म जानकी॥१८॥

पिकी कोकिला आकन्दलितं विकसितं (तारकादित्वादितच्) माकन्दम् आम्रम् इव "आम्रे माकन्द इत्यपि" इति शब्दार्णवः। सा तं ऐहतेत्युत्तरेण वाक्येनान्वयः। मा लक्ष्मीः तस्याः कन्दः सुखदाता इत्यर्थोऽपि ध्वन्यते। अत एव 'तम्' इत्यप्रयुज्यमानेऽपि न दोषः। मिलिन्दो भ्रमरः "रसायुश्चञ्चरीकश्च मिलिन्दो मधुसूदनः।" इति शब्दार्णवः। नलिनीं कमलिनीमिव स रामः तां सीताम् ऐहत अकामयत। सुरस्रवन्ती गङ्गा सागरं समुद्रमिव समेत्य संगत्य जानकी तं रामम् उल्लोलयति स्म उद् उत्कर्षेण सतृष्णीकरोति स्म वा चञ्चलीकरोति स्म। "सतृष्णे चञ्चले लोलः" इति वैजयन्ती। समुद्रं च गङ्गा उल्लोल–(कल्लोल) वन्तं करोत्येव॥१८॥

अर्थ—सीता राम को देखकर ऐसी मोहित हुई–जैसे कोकिला मंजरित आम्र को देखकर होती है। राम सीता को ऐसे चाहने लगे जैसे भौंरा कमलिनी को चाहता है। सीता ने राम को अपनी ओर ऐसा आकर्षित किया जैसे देवनदी सागर को मिलन के लिये कल्लोलित करती है॥१८॥

रामाय तंथा तद्दर्शनं कथमुचितमभूदित्यत आह—

रामस्तदालोकमवेत् प्रियङ्कर-

मंहस्करं स्त्रीक्षणमाविदन्नपि।

दर्द्रष्टि सूर्यो हि विधीच्छयाऽब्जिनीं

शशी तथा कैरविणीमिति स्मरन्॥१९॥

स्त्रीणां नारीणाम् ईक्षणं दर्शनं विकृतमनसेति भावः। अंहस्करं पापकरं "कृञो हेतु" इति टः। "अतः कृकमि०" इति सः। आविदन् मन्यमानोऽपि रामः, हि यतः विधीच्छया दैवप्रेरणया सूर्यः अब्जिनीं कमलिनीं दर्द्रष्टि पुनः पुनरतिशयेन वा पश्यति। दृशेर्यङ्लुकि "रूगूरिकौ च लुकि" इति रुक्। गुणं बाधित्वा सृजिदृशोरित्यम् तथा पुनः शशी चन्द्रः कैरविणीं कुमुदिनीं (विधीच्छया दर्द्रष्टि) इति स्मरन् विचिन्तयन् सन् तदालोकं तस्याः सीताया आलोकं दर्शनम् "आलोकौ दर्शनद्योतौ" इत्यमरः। प्रियङ्करं हितावहं "क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" इत्यण्पक्षे चात् खच्। अवेत् अमन्यत॥१९॥

अर्थ—स्त्री को इस तरह से देखना पाप है, यह जानते हुए भी राम इसे प्रियंकर हितवह की तरह मानते थे–जैसे देव की इच्छा से सूर्य कमलिनी की ओर तथा चन्द्रमा कुमुदनी की ओर बार-बार देखता है। ऐसी ही स्वाभाविकता राम ने अनुभव की॥१९॥

पुनस्तद्विषये रामस्य विचारमाह—

रमाभृदारम्भशुभाऽभिधो यथाऽ-

थ. सम्यगाकारविपर्ययोऽप्यहम्।

प्रिया रमा सांप्रतमेव सांप्रतं

यं सैव सीतेत्यनुरज्यतीत्यवैत् ॥२०॥

यथा यद्वत् अथः अथेत्यव्ययस्यानुकरण-मिदम्। अथेत्यव्ययवदित्यर्थः। आरम्भतः जन्मप्रारम्भतः शुभा भव्या अभिधा 'राम' इति नाम यस्य सः तथोक्तः। अथ-पंक्षे तु आरम्भं प्रारम्भं शुभं मङ्गलं च अभिदधातीति आरम्भशुभाभिधः आरम्भ-मङ्गलवाचक इत्यर्थः। एषा श्लिष्टोपमा। सम्यङ् समीचीनः आकारस्य रूपस्य विपर्ययो वैपरीत्यं यत्र तथोक्तोऽप्यहं (रामः) आकारस्य रूपस्य वैपरीत्येऽपि (यथा लक्ष्मीर्गौररूपाऽहं च श्यामरूपः) तथा सत्यपीति भावः। रमाभृत् लक्ष्मी-धरः। अस्मीति शेषः। 'राम' शब्दोऽपि आकार-मात्रावैपरीत्येन (अकारस्थाने आकारस्य आकारस्थाने च अकारस्य विपर्ययेण 'रमा' भवति तथा सति 'रामो' रमाभृदिति सिध्यति। रामे रमा स्वभावेन स्थिताऽस्तीति भावः। अथ 'अथ' शब्द आकारवैपरीत्येन कथं रमाभृत्? इत्यत उच्यते-"शिलोच्चये थकारः स्यात् थकारो भयरक्षणे।" इत्येकाक्षरकोशादत्र थकारस्यार्थो भयरक्षणं, सोऽस्या अस्तीति अर्शआद्यचि 'था' भयरक्षिका लोकमाता लक्ष्मीः। 'था' (थ×आ) शब्दोऽपि आ×आकारविपर्ययेण आ च आकारश्च तयोर्विपर्ययेण तथाहि-'आ' विपर्ययः 'अः'। तदा 'थ+अ' इति स्थितौ पुनः आकारस्य शब्दस्वरूपस्य वैपरीत्ये कृते 'अथ' इति सिध्यति। अतः 'अथ' शब्दोऽपि रमाभृत्। यद्वा-'अथ' शब्दस्य आकारविपर्यये रूपविकारे "अथो" इति भवति। सोऽपि तत्पर्यायतया मङ्गलवाचित्वेन रमाभृत् शोभावह इत्यर्थेन श्लिष्टोपमाऽक्लिष्टतया निर्वहति। सा प्रकृतिसहचारिणी एव प्रिया रमा लक्ष्मीः सीता इति सीतास्वरूपा यं (मां रामं) सांप्रतम् इदानीं सांप्रतं युक्तमेव "सांप्रतं तूचितेऽधुना" इति हैमः। अनुरज्यति अनुरागेण स्वीकरोति। इति एवम् अवैत् अमन्यत। राम इति कर्तृपदं पूर्वत आकृष्यते॥२०॥

अर्थ—राम का इस विषय पर विचार : मेरा नाम राम है, वही रमा है। रकार का आकार जब मकार में मिला तो वर्ण विपर्यय के कारण रमा बन गया और मकार का आ जब रकार में मिला तो राम बन गया। हमारा नित्य एक ही रूप-दो रूपों में है। तो यह प्रिया रमा इस समय सीता रूप में है। जैसे अथ जो मंगलवाची शब्द है, वह मूल में 'थ'कार था थकार का अर्थ है भव का रक्षण करने वाला। थ का बना 'था' यानि इसका स्त्रीलिंगवाची शब्द जिसका अर्थ है-रक्षा करने वाली। इसमें थ + अ – वर्ण विपर्यय के कारण बना अथ मंगल करने वाला। अर्थात् जैसे 'था' और 'अथ' एक ही है-केवल स्त्रीलिंग पुलिंग का भेद है, इसी प्रकार राम और रमा एक ही है। यानी मेरा जो सीता के प्रति प्रेम तीव्रआकर्षण में औचित्यस्थापन विदग्धशैली में है॥२०॥

अथ नवभिः सीतायाः पूर्वानुरागदशां वर्णयति—

सखीगणं प्रोज्झ्य रघूद्वहाग्निना

जतूकृतैकाऽभ्रमदत्र मैथिली।

गात्रेण भिन्नापि तमेव सा हृदा

मनोज-जाड्येन जडीकृताऽऽश्रयत् ॥२१॥

रघूद्वहो राम एव अग्निः तेन जतूकृता लाक्षीकृता द्रवीभावं नीतेत्यर्थः। "कृभ्वस्तियोगे०" इति च्विः। "च्वौ च" इति दीर्घः। एका एकाकिनी मैथिली मिथिलायां जाता मैथिली। "तत्र जातः" इत्यणि "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप्। यद्वा मैथिलस्य जनकस्याऽपत्यं स्त्री मैथिली। "तस्यापत्यम्" इत्यण्। अत्र पुष्पवाट्याम् अभ्रमत् व्यचरत्। गात्रेण शरीरेण भिन्ना पृथगभूताऽपि सा मनोजजाड्येन कामकृतेन मूकीभावेन जडीकृता मूकीकृता सती। "जडा हिमार्त-मूका-ऽज्ञाः" इति मंखः। हृदा मनसा तं रघूद्वहाग्निमेव आश्रयत् शरणमगच्छत्। जडीकृतः शीतार्तीकृतश्च अग्निमाश्रयत्येव तथा जडीभूता लाक्षापि॥२१॥

अर्थ—आगे के इन नौ श्लोकों में सीता की पूर्वानुरागदशा का वर्णन : सीता ने सखियों को छोड़ दिया, वह एकाकिनी पुष्पवाटिका में घूमने लगी। वह काम के कारण मूक हो गई, जैसे कामरूप शीत ने उसे जड़ बना दिया हो, जैसे जमा हुआ लाख हो। जैसे जमा हुआ लाख अग्नि की गर्मी से पिघलता है; उसी प्रकार कामरूपी शीतलता के प्रभाव से मूक बनी सीता अपने को भूलकर रघुवंशी रामरूपी अग्नि की शरण में गई। जैसे ठण्ड से मारा व्यक्ति आग के पास लाभ पाता है–उसी प्रकार सीता की भी काम की जड़ता दूर करने के लिये राम ही त्राता बने॥२१॥

वन्दीकृताऽप्यन्तरबन्धनालये

नंनन्ति च ध्यायति पश्यति स्म तम्।

वीक्षे स्वमस्या नु हृदीति तेन तू-

रः पूर्णमौर्णोद् वसनेन सेक्षिता॥२२॥

अन्तरम् अन्तरात्मा एव बन्धनालयः कारागारं तत्र वन्दीकृता उपग्रहीकृता। "प्रग्रहोपग्रहौ वन्द्याम्" इत्यमरः। मैथिलीत्यनुकृष्यते। तं रामं नंनन्ति स्म पुनः पुनरतिशयेन वा नमति स्म, ध्यायति स्म पश्यति स्म चेति 'स्म' इत्यव्ययं सर्वत्र संबध्यते। नु इति तर्के (अहम्) अस्याः सीताया हृदि हृदये स्वम् आत्मानं वीक्षे पश्यामि इयं तु मया हृदये वन्दीकृता, एवमहमपि अनया वन्दीकृतः किम् ? इति कारणात् तेन तु ईक्षिता दृष्टा सा मैथिली वसनेन वस्त्रेण उरः वक्षःस्थलं पूर्णं पूर्णतया। क्रियाविशेषणमिदम्। और्णोत् आच्छादयत्। "ऊर्णोतेर्विभाषा" इति वा वृद्धिः प्राप्ता तां बाधित्वा "गुणोऽपृक्ते" इति नित्यं गुणः। लज्जाकृतं वक्षःस्थलाच्छादनं तथा प्रतीयमानत्वेन उत्प्रेक्षितम्। अत्र मैथिलीत्येकस्यैव कारकस्य नमनाद्यनेकक्रियान्वयित्वाद् दीपकमपि। "अथकारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।" इति लक्षणात्॥२२॥

अर्थ—सीता ने अपने हृदय रूपी बन्दीगृह में राम को बन्द कर लिया है। वह अपने हृदय में राम को देखकर बार-बार नमस्कार करती थी, ध्यान करती थी और देखती थी। राम भीतर जैसे सोच रहे हैं, मैंने जैसे अपने हृदय में सीता को बन्दी बनाया है, क्या इसने भी मुझे बन्दी बना लिया ? यह विचार कर के ही मानों सीता अपने हृदय को वस्त्र से ढक रही है–जैसे हृदय को कोई देख न ले॥२२॥

प्रतीक्षमाणामपि वीक्ष्य सा सखीं

तिरोहिता कुञ्ज इवेक्षते स्म तम्।

ज्ञात्वा स्मितैर्मर्म विवृण्वतीं च ता-

मवर्णयत् सा वरवर्णिनी वनीम्॥२३॥

सा मैथिली प्रतीक्षमाणां स्व-प्रतीक्षां कुर्वाणां सखीं सहचरीं वीक्ष्य दृष्ट्वाऽपि कुञ्जे लतादिपिहिते प्रदेशे तिरोहिता निलीना इव तं रामम् ईक्षते स्म पश्यति स्म। आत्मनः कुञ्जनिलीनतामेव सखीं ज्ञापयन्तीति भावः। मर्म हृदयगतं रामनिरीक्षणरूपं तात्पर्यं ज्ञात्वा च पुनः स्मितैर्मन्दहासैः विवृण्वतीं प्रकटयन्तीं तदेव मर्मेति भावः। तां सखीं सा वरवर्णिनी रूपवती सीता वनीं वृक्षवाटिकाम् अवर्णयत् प्राशंसत्। अहं तु वृक्षवाटीसुषमावकृष्टाऽत्र भ्रमामि नान्यत् किमपि कारणमिति भावः॥२३॥

अर्थ—प्रतीक्षा करती सखियों को देखकर वह कुंज में जाकर छिप गई। अपने हृदय के भाव जब मुस्कराहट से प्रकट होने लगे तो उस सुन्दर रूपवाली सीता ने यह कहकर छिपाया कि मैं तो वाटिका को देखकर प्रसन्नता से मुस्करा रही हूँ; और कोई कारण नहीं॥२३॥

नुन्नाऽऽत्मना सेति चिचिन्त यत् क्रिया-

पाठेऽपि नाख्यायि मयाऽन्यपूरुषः।

लक्ष्म्या इव श्रीवर एष लोकभृद्

यन्माति मेऽन्तर्न परस्तदद्भुतम् ॥२४॥

आत्मना अन्तरात्मना नुन्ना प्रेरिता सा सीता इति चिचिन्त चिन्तयामास। 'आधृषाद्वा' इति वचनाण्णिजभावपक्षे रूपमिदम्। यत् क्रियापाठे क्रियाणां तिङन्तपदानां पाठे पठनेऽपि मया अन्यपूरुषः प्रथमपुरुषपर्यायः अन्य्पुरुषः न आख्यायि उच्चारितः। अन्यपुरुषनामोच्चारणेऽपि सत्या दोषः किं पुनर्दर्शनादौ इत्याशयेन एतत्कथनम्। यद् लक्ष्म्याः श्रिया इव मे अन्तः मनसि एषः अयं पुरो दृश्यमानः श्रिया शोभया वरः श्रेष्ठः लोकभृद् लोकान् जनान् बिभर्ति पुष्णातीत्यसौ राजेत्यर्थः। राज-पुत्रोऽपि राजैव कथ्यते किं पुनरपरिचितेनेति न दोषः। माति संमितो भवति, परोऽन्यो न तद् अद्भुतम् आश्चर्यमस्तीति शेषः। अपिच "लक्ष्म्या इव मे (सीतायाः) अन्तः लोकान् भुवनानि बिभर्ति धारयतीत्यसौ लोकभृद् त्रिलोकीयुक्त इति भावः। श्रीवरः श्रिया लक्ष्म्या वरः पतिः रामरूपो विष्णुरित्यर्थः। माति। परो नेत्यद्भुत" मित्यर्थोऽपि करणीयः। परस्य सामान्यस्यापि अमाने त्रिलोकी-सहितस्य च विष्णोर्माने अद्भुतं भवत्येव आश्रयभूतस्य मनसोऽणुतमत्वात्। अत एवात्र अधिकालंकारोऽपि। "आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमिष्यते।" इति तल्लक्षणात् ॥२४॥

अर्थ—अपनी अन्तरात्मा से प्रेरित हो सीता विचार कर रही है, मैंने तिङन्तपद के पाठ में प्रथमपुरुष का पर्याय 'अन्यपुरुष' तक का उच्चारण तक नहीं किया है; फिर देखने का तो प्रश्न ही नहीं। जैसे लक्ष्मी सारे विश्व में फैले विष्णु को अपने हृदय में रखती है; पर आश्चर्य-किसी पर के लिये (गैर के लिये) जगह नहीं। आधार होता है, आधेय से; पर, पर के लिये जगह नहीं। मैं लक्ष्मीरूप और ये विष्णुरूप (हमारा पुरातनप्रेम इस समय नवरूप में आया है) ॥२४॥

पिपास्यते रूप-सुधाऽस्य मेऽमुना

तुर्याऽर्थसारस्य लभेव चक्षुषा।

वचोऽमृतं किं पिबतीति बोधितुं

चलच्छ्रुतेः पार्श्वमिवावभाति यत् ॥२५॥

मे मम अमुना अनेन चक्षुषा (कर्त्रा) तुर्यस्य चतुर्थस्य "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति यत् आद्याक्षरस्य च लोपः। अर्थसारस्य पदार्थस्य मोक्ष-स्येत्यर्थः। लभा लाभ इव। लभषः षित्वात् "षिद्भि-दादिभ्योऽङ्" इत्यङ्। अस्य रामस्य रूपं सौन्दर्यं तदेव सुधाऽमृतं (कर्म) पिपास्यते पातुमिष्यते। यद् (चक्षुः) 'किं वचोऽमृतं वाणीसुधां पिबति ?' श्रुतिः (कर्णः) इति कर्तृपदं विभक्तिविपर्यासेन उत्तरत आकृष्यते इति एवं बोधितुं ज्ञातुम् इव श्रुतेः कर्णस्य पार्श्वं समीपं चलत् प्रसरत् अवभाति शोभते। कर्णान्तप्रसारिणः चक्षुषः कर्णान्तप्रसरणे उत्प्रेक्ष्यते यत्, यथाऽहं रूपामृतं पिपासामि तथा इयं श्रुतिः किं वचोऽमृतं पिबतीति ज्ञातुमिव यत् (चक्षुः) कर्णपार्श्वे चलतीति तात्पर्यम्। फलोत्प्रेक्षा ॥२५॥

अर्थ—मेरी आँखें राम की रूप सुधा का पान कर पूर्ण तृप्त हो गयी, जैसे मुक्ति का परम सुख पा गई। अब ये नेत्र कर्ण पर्यन्त फैल कर मानों यह जानने के लिये इच्छुक है कि क्या ये कान भी राम के वचनामृत का पान करते हैं ॥२५॥

विशेष—प्रेम में आँखें कानों तक फैलकर चितवन बनती हैं, इसी की कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि ये आँखें क्या इसलिये कानतक फैली है। यह फलोत्प्रेक्षालङ्कार है ॥२५॥

नरेन्द्रपुत्रोऽयमनन्यवृत्ति मे

निर्दिष्ट इष्टो विधिनेव रोचते।

देवी प्रसीदत्वधुना तु मेऽन्यथा

शात्वा तनूं दुष्टविधिः प्रतुष्यतु ॥२६॥

विधिना दैवेन सद्भाग्येनेत्यर्थः। निर्दिष्टः प्रदर्शितः अयम् एषः नरेन्द्रपुत्रः राजकुमारः (रामः) इष्टः प्रियः मे मह्यम् अनन्यवृत्ति न अन्या वृत्तिर्यत्र कर्मणि तत्तथा अन्यनिरपेक्षमित्यर्थः। रोचते सुभाति। अधुना इदानीं तु देवी गौरी प्रसीदतु तुष्यतु। अन्यथा नो चेत् तनूं शरीरं शात्वा कृशीकृत्य। "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इति वैकल्पिकमित्त्वम्। दुष्टविधिः दुर्दैवं प्रतुष्यतु प्रसीदतु ॥२६॥

अर्थ—विधाता की परम कृपा से आज मैंने राजपुत्र के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया है और मेरी चित्तवृत्ति भी उनमें एकाग्र है। हे गौरि ! अब तो आप कृपादृष्टि कीजिए। यदि आपकी कृपादृष्टि नहीं होगी तो इस क्षीण शरीर से फिर दुर्दैव ही प्रसन्नता को प्राप्त हो। (यानि या तो राम वररूप से प्राप्त हो—नहीं तो मरण अभीष्ट है।) ॥२६॥

कैलासमाप्नोतु शिवप्रभावतः,

केऽय्यात् पयोधेरुत, वाऽनले धनुः।

याः सन्ति राज्ञां मदवाप्तिलालसाः

प्रिया इवानेन सहैव यान्तु ताः ॥२७॥

धनुः कार्मुकं वरणपणीभूतमिति भावः। शिव-प्रभावतः महादेवसामर्थ्येन कैलासं तन्निवासम् आप्नोतु गच्छतु। उत अथवा पयोधेः समुद्रस्य के जले। "कं शिरोऽम्बुनोः" इत्यमरः। अन्तर्मज्जनं द्योतयितुं कर्म-स्थानेऽधिकरणं विवक्षितम्। अय्यात् अयतां गच्छ-तादित्याशीर्विवक्षिता। अनुदात्तेत्त्वलक्षणस्यात्मनेपदस्य चक्षिङो ङित्करणाज् ज्ञापकादनित्यत्वेन परस्मैपदमत्र प्रयुक्तम् "उदयति यदि भानुः" इत्यादिवत्। वा अथवा अनले अग्नौ अय्यात्। राज्ञां नृपाणां याः मम अवाप्तेः प्राप्तेः लालसा अत्यभिलाषाः "सोऽत्यर्थं लालसा द्वयोः" इत्यमरः। सन्ति, ताः प्रियाः वल्लभा इव अनेन (धनुषा) एव सह सार्धं यान्तु गच्छन्तु मया तु रामस्य वरणे धनुर्नमनमुपेक्ष्यत एवेति भावः ॥२७॥

अर्थ—(सीता के मन में वरण पणीभूत (शर्त-स्वरूप) इस पिनाक धनुष के प्रति आक्रोश है 'न रहे बाँसुरी' यह यदि हट जावे तो सारे बखेड़े मिट जावें और मैं राम का वरण कर लूँ) भगवान् शिव के प्रभाव से यह धनुष या तो कैलाश चला जावे, या समुद्र में डूब जावे या अग्नि में पड़ जावे—जिससे मेरे पाने की राजाओं की लालसा भी इस धनुष के साथ चली जावे और फिर मैं राम का स्वेच्छा से वरण कर लूँ ॥२७॥

यदप्ययं स्वल्पवया महामहाः

कामं न जय्यः परमुग्रशक्तिना।

रहः पराभूतिमवाप्य यूथपै-

णात् किं पलायेत किशोरकेशरी? ॥२८॥

यदपि यद्यपि अयं रामः स्वल्पवया नवयौवनः। "वयः पक्षिणि बाल्यादौ यौवने च नपुंसकम्।" इति मेदिनी। परं किन्तु महामहाः महातेजाः सन् उग्रशक्तिना प्रचण्डपराक्रमेण (जनेन) कामं यथेच्छं न जय्यः जेतुं शक्यः। अत्र दृष्टान्तयति- किं किशोरकेशरी किशोरा-वस्थाप्राप्तः सिंहः यूथपैणात् यूथेश्वराद् मृगात् रहः विजने "रहश्चोपांशु चालिङ्गे" इत्यमरः। पराभूतिं परा-जयम् अवाप्य प्राप्य पलायेत ? धावेत् न कदापीत्यर्थः। परा-पूर्वस्य अयतेर्विधिलिङि "उपसर्गस्यायतौ" इति रस्य लः ॥२८॥

अर्थ—यद्यपि ये किशोर हैं, पर हैं तेजस्वी; क्या अपनी उग्र शक्ति से इसे चढ़ा नहीं सकते। सिंह के किशोर की शक्ति के सामने क्या हाथियों का तथा मृगों का झुण्ड भाग नहीं खड़ा होता ? ॥२८॥

विशेष—सीताजी को विश्वास है कि ये नृपकिशोर अपनी शक्ति से धनुष को चढ़ा सकेंगे ॥२८॥

तं सम्यगेतं हृदयेश्वरो मम

व्रतं प्रपूर्यान्नियतव्रतात्मनः।

जन्मैतु साफल्यमथेति सेच्छती

तं न्यस्य चित्ते न्यवृतन्नृपात्मजा ॥२९॥

हृदयेश्वरः अन्तर्यामी। एतेन रामस्याऽपि हृदयेश्वरत्वं (प्राणेश्वरत्वं) ध्वनितम्। नियतव्रतः निश्चितव्रतः आत्मा यस्याः सा तस्याः। दृढैकनिश्चयाया इत्यर्थः। मम मे तम् एतम् इमं व्रतं नियमं "नियमो व्रतमंस्त्री" इत्यमरः। सम्यक् सुतरां प्रपूर्यात् पूरयतु। पृणातेराशीर्लिङि उदोष्ट्येत्युत्त्वम्। अथेत्यनन्तरं समुच्चये वा। जन्म साफल्यं सफलताम् एतु प्राप्नोतु। इति एवम् इच्छती इच्छां कुर्वती सा नृपात्मजा सीता तं रामं चित्ते मनसि न्यस्य निवेश्य न्यवृतत् निवर्तते स्म। "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदे पुषादीत्यङ् ॥२९॥

अर्थ—हे हृदयेश्वर ! मेरे इस दृढ़व्रत को आप पूर्ण करें मेरे जन्म का साफल्य हो, ऐसी इच्छा करती हुई सीता अपने हृदय में प्रियतम को स्थापित कर चल पड़ी ॥२९॥

रामस्य निर्वतनमाह—

प्रियोऽपि भक्तिव्रतयोगशालिनां

योग्यां मुदं तामनुभूय भूयसीम्।

भ्रात्रा सुतेनेव विनम्रमौलिना

तातः प्रयातः स्वमनःस्थया तया ॥३०॥

भक्तिश्च व्रतञ्च योगश्चेति ते, तान् शलन्ति प्राप्नुवन्तीति तेषां तद्वतामित्यर्थः। अत्र व्रतपदम् अनन्तरपद्योक्तस्य 'नियतव्रतात्मनः' इति पदस्य समर्थकं ज्ञेयम्। प्रियः वल्लभः राम इत्यर्थः। अपिः समुच्चये। तां योग्यां समुचिताम्। सीतायाः (स्त्रियाः) स्वकीयत्वेनेति भावः। भूयसीं बहुलतराम्। बहोरीयसुनि "बहोर्लोपो भू च बहोः" मुदम् आनन्दं सीतादर्शनजातामिति भावः। अनुभूय उपभुज्य विनम्रमौलिना नतमस्तकेन। सीतारामयोरनुरागदर्शनादिति भावः। भ्रात्रा सुतेन पुत्रेण तातः पितेव (तथा) स्वमनःस्थया निजहृदयगृहीतया तया सीतया (सह) प्रयातः गतः स्वनिवासस्थानमिति भावः ॥३०॥

अर्थ—राम भक्तिव्रतवाली सुयोग्य सीता के दर्शन (मिलन-दर्शन) का आनन्दमय अनुभव करते हुए, अपने हृदय में सीता को स्थापित कर विनम्र मस्तक से इसे स्वीकार कर, लक्ष्मण के साथ अपने आश्रम को लौट आये, जैसे पिता पुत्र के साथ आया हो ॥३०॥

तदानीन्तनीं रामस्यावस्थितिमाह—

लक्ष्मीधरोऽन्वर्थतया स सीतया

मनःस्थयाऽन्तःस्थशिखो यथा शिखी।

णो धातुपूर्वो न इव क्रियास्थितोऽ-

नुमीयते स्माऽन्य इवर्षिणाऽऽदितः ॥३१॥

ऋषिणा विश्वामित्रेण (कर्त्रा) मनस्थया चित्तस्थितया सीतया (कारणेन) अन्वर्थतया चरितार्थत्वेन (करणेन) यद्वा अन्वर्थतया रामा स्त्री लक्ष्मीरस्यास्तीति अर्शआद्यचि 'रामः' इति चरितार्थत्वेन लक्ष्मीधरः स रामः (कर्म) यथा अन्तःस्थशिखः अन्तर्वर्तिज्वालः शिखी अग्निः तथा क्रियास्थितः तिङन्तपदसाधनावस्थितः धातुपूर्वः णः न इव, क्रियास्थितः कर्मानुष्ठानप्रवृत्तः सन् आदितः पूर्वतः (कालात्) अन्यः अपर इव। सीताध्यानपरत्वेन विलक्षणचेष्टितत्वादिति भावः। अनुमीयते स्म अनुमितः। सीतागृहीतहृदयो रामः कार्यविषये पूर्वापेक्षयाऽन्य इव प्रतीयते स्मेति भावः ॥३१॥

अर्थ—विश्वामित्र ने देखा कि राम अब वे राम नहीं हैं, बदले हुए अब वे लक्ष्मीधर हैं—यानि विश्वामित्र ने अनुमान लगाया कि अब राम के हृदय में सीता बस

गई हैं–अतः राम अब अधूरे नहीं–लक्ष्मी सहित शक्ति सहित पूर्ण हैं। वे उस अग्नि की तरह है जिसकी शिखा अब भीतर छिपी है॥३१॥

विशेष—तिङन्त पद साधना में अवस्थित णकार नकार रूप में अन्य हो जाता है उसी प्रकार राम भी पूर्वकाल से अपर की तरह हो गये॥३१॥

विश्वामित्रादित्रयस्य धनुर्यज्ञे गमनमाह—

जगाम नीता जनकेन सादरं

गाधेयमुख्यत्रितयी-शिखित्रयी।

मखस्थलं राजभिराशु पूर्वतोऽ-

हम्पूर्विकापूर्वमपूर्वमाश्रितम्॥३२॥

जनकेन सीरध्वजेन सादरं ससम्मानं नीता पुरस्कृता गाधेरपत्यं गाधेयः "इतश्चानिञः" इति ढक्। गाधेयमुख्यानां विश्वामित्रादीनां त्रितयी एव शिखित्रयी दक्षिणाहवनीयगार्हपत्यनाम्नी अग्नित्रयी "संख्याया अवयवे तयप्" इति तयपि "द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा" इति तस्य वाऽयच्। राजभिः नृपैः पूर्वतः प्रथमतः आशु शीघ्रम् अहम्पूर्विकापूर्वम् अहं पूर्वम् अहं पूर्वम् इत्येवंरूपपुरस्सरं सुप् सुपेति समासः। "अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्।" इत्यमरः। अपूर्वं विलक्षणं यथा स्यात्तथा आश्रितम् अधिष्ठितं मखस्थलं धनुर्यज्ञस्थलीं जगाम॥३२॥

अर्थ—गाधिपुत्र विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण ऐसे लग रहे थे–अपनी तेजस्विता में जैसे दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि एव गार्हपत्याग्नि हैं। विश्वामित्र को जनक सादर अपनी अपूर्व यज्ञस्थली पर, राजाओं की अहम्पूर्विकापूर्व–यानि पहले मैं पहले मैं का रेल-पेल धक्कमधक्का मचे–उससे पहले ही ले गये॥३२॥

आसनोपवेशनमाह—

स्नेहाद् धनुर्यज्ञविधाननिश्चिताऽ-

हाद् निर्मितं प्राक् कलधौतविष्टरम्।

विज्ञं नृपोऽध्यासयतोभयान्वितं

नम्रो गुरुं शक्र इवाश्विसंयुतम्॥३३॥

नम्रो नृपो जनकः उभयेन रामलक्ष्मणद्वयेन अन्वितं युक्तम् "उभादुदात्तो नित्यम्" इति तयस्याऽयच्। विज्ञं विश्वामित्रं, शक्र इन्द्रः अश्विभ्याम् अश्विनीकुमाराभ्यां संयुतं युक्तं गुरुं बृहस्पतिमिव, धनुर्यज्ञस्य विधानाय संपादनाय निश्चितं नियतीकृतं यद् अहर्दिनं तस्मात् "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच्। "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम्। प्राक् पूर्वं निर्मितं रचितं कलधौतविष्टरं सुवर्णासनं "कलधौतं रूप्यहेम्नोः" इत्यमरः। स्नेहात् प्रीत्या अध्यासयत उपावेशयत्॥३३॥

अर्थ—विनम्र जनक ने राम-लक्ष्मण के साथ शोभित विश्वामित्र को यज्ञ मण्डप में पहले से ही निर्मित स्वर्णासन पर बहुत प्रेम से बैठाया, वे ऐसे लग रहे थे जैसे इन्द्र अपने गुरु (बृहस्पति) को अश्विनीकुमारों के साथ सादर बैठा रहा हो॥३३॥

द्वाभ्यां तत्रत्यां रामशोभामाह—

यतीश्वरानूरुपुरस्सरस्तदा

संभूषितो लक्ष्मण-दीप्तिराशिना।

पन्नाऽऽभपीठोदय-पर्वतोदयी-

नः प्रातरुद्यात इवाबभौ विभुः॥३४॥

तदा तस्मिन् काले यतिनां जितेन्द्रियाणाम् ईश्वरः पति विश्वामित्रः स एव अनूरुः अरुणसारथिः सः पुरःसरः अग्रेसरो यस्य सः॥ "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इति टः। लक्ष्मण एव दीप्तिराशिः प्रभापुञ्जः तेन संभूषितः अलंकृतः। पन्ना पतिता आभा प्रभा यत्र तथाभूतं यत् पीठमासनं तदेव उदयपर्वतः पूर्वपर्वतः तत्र उदयी अभ्युदयशाली। विभुः प्रभू रामः। प्रातः प्रभाते उद्यात उदितः इनः सूर्य इव। बभौ शुशुभे। सामस्त्यकम्॥३४॥

अर्थ—यतीश्वर विश्वामित्र सूर्य के सारथी अरुण की तरह थे, लक्ष्मण सूर्य की प्रभा के समान प्रभा से जगमगाता हुआ था और स्वर्णासन उदयगिरि की तरह था और उस सिंहासन पर विराजमान राम ऐसे थे—जैसे उदयोन्मुख वाले सूर्य हों॥३४॥

विशेष—सांगरूपक। राम-सूर्य। लक्ष्मण-प्रभा। विश्वामित्र-अरुण। स्वर्णासन-उदयगिरि॥३४॥

सुरैः सुरेशः स्थविरैः शिशुः प्रियो
मित्रं वयस्यैर्दयितोऽङ्गनाजनैः।
त्राता प्रपन्नै रिपुभिर्यमस्तथाऽऽ-
नन्दास्पदं ब्रह्म मतः स योगिभिः॥३५॥

सः रामः सुरैः देवैः सुरेश इन्द्रः, स्थविरैः वृद्धैः प्रियः शिशुः, वयस्यैः वयसा तुल्यैः। "नौवयोधर्म०" इति यत्। मित्रं सखा, अङ्गनाजनैः स्त्रीलोकैः दयितः प्रियः, प्रपन्नैः आश्रितैः त्राता रक्षकः, रिपुभिः शत्रुभिः यमः कालः, तथा योगिभिः आनन्दस्य आस्पदं स्थानं ब्रह्म परमतत्त्वं मतः ज्ञातः। उल्लेखालंकारः॥३५॥

अर्थ—राम देवताओं को इन्द्र के समान, बूढ़ों को बच्चे के समान, युवकों को मित्र के समान, नारियों को प्रिय के समान, शत्रुओं को यम के समान और योगियों को सच्चिदानन्द ब्रह्म के समान जान पड़े॥३५॥

विशेष—उल्लेख अलंकार जहाँ एक अनेक प्रकार से वर्णित हो॥३५॥

दर्पान्नृपानित्युदुवाच वन्दिराड्
वर्धिष्णुमुत्साहमतीव वर्धयन्।
धनुर्विवृण्वन् करचेष्टितैरपी-
नः संप्रविष्टो धनुपीव दक्षिणैः॥३६॥

वर्धिष्णुं वर्धनशीलम् "अलंकृञ्निराकृञ्०" इत्यादिना इष्णुच्। उत्साहम् अतीव भृशं वर्धयन् अपिः समुच्चये। धनुषि धनूराशौ संप्रविष्टः संक्रान्तः इनः सूर्य इव। दक्षिणैः वामेतरैः करचेष्टितै हस्तप्रसारैः। अन्यत्र दक्षिणैः दक्षिणायनेन दक्षिणदिग्व्यापिभिः। करचेष्टितैः किरणप्रसारैः। धनुः[१] शिवकार्मुकम्। अन्यत्र धनूराशिम्। विवृण्वन् प्रदर्शयन् वन्दिराट् वन्दिनां राजा। दर्पाद् मदात् नृपान् भूपतीन् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण उदुवाच उच्चैरुक्तवान्॥३६॥

अर्थ—चारणराज ने वर्धमान-उत्साह को और बढ़ाते हुए ओजस्वी वाणी में घोषणा की। जैसे धनुराशि में प्रवेश करता (दक्षिणायन होता) हुआ सूर्य अपनी किरणों को फैलाता है, उसी प्रकार चारण ने अपने दाहिने हाथ की चेष्टाओं से इस शिवधनुष के माध्यम से उत्साह को (जोश को) बढ़ाने वाली ललकारभरी वाणी से कहा॥३६॥

द्वाभ्यां धनुर्भङ्गाय वन्दिन उद्घोषणामाह—

भ्राजिष्णुजिष्णुत्व-यशश्चिकीषया
तथा महाधन्वधृतां जिगीषया।
रंहस्कृता देवसुतोद्विवक्षया
दर्पेण राज्ञां सह नम्यतां धनुः॥३७॥

जिष्णुर्जयनशीलः तद्भावो जिष्णुत्वं तस्य यशः, भ्राजिष्णु प्रकाशनशीलम् "भुवश्च" इति चकाराद् भ्राजेरिष्णुच्। भ्राजिष्णु यत् जिष्णुत्वयशः तस्य चिकीषा चेतुमिच्छा तया। "विभाषा चेः" इति कुत्वम्। विजययशोऽर्जनेच्छेयेत्यर्थः। महाधन्वधृतां महाधनुर्धारिणां जिगीषया जेतुमिच्छया। "सँल्लि-टोर्जेः" इति कुत्वम्। तथा रंहः वेगं करोति उत्पादयतीति तया त्वराकारिण्येत्यर्थः। देवस्य राज्ञः। "देवो मेघे सुरे राज्ञि" इति मेदिनी। सुता पुत्री सीतेति यावत्। तस्या उद्विवक्षया उद्वोढुमिच्छया। राज्ञां

---

१. धनुरिति पदं सर्गनामोपलक्षणम्।

नृपाणां दर्पेण मदेन सह धनुः शिवचापः। नम्यतां प्रगुणीक्रियताम्। वीरैरिति शेषः। अत्र राजमदनमनेन सह धनुर्नमनं मनोरञ्जकतया वर्णितमतः सहोक्तिरलंकारः "सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः।" इति तल्लक्षणात्॥३७॥

अर्थ—इन दो श्लोकों में वन्दी द्वारा धनुर्भंग के लिये आह्वान : जो विजयप्राप्त यश की इच्छा वाले हैं, जो धनुर्धारियों को जीतने के इच्छुक हैं और राजपुत्री सीता के साथ विवाह के आकांक्षी है—वे शीघ्र आगे आवें, इस धनुष के साथ घमण्डी राजाओं को झुकावें—यानी इस धनुष को झुकाकर इस पर प्रत्यंचा चढ़ावें। यहाँ धनुष को झुकाना और घमण्डी राजाओं का झुकाना एक साथ दिखाकर सहोक्तिअलङ्कार का सुष्ठु प्रयोग किया गया है॥३७॥

यियास्यतां गेहमुत प्रयास्यतां

तोषाद् भुजो वाऽन्तदिदृक्षयाऽऽस्यताम्।

भ्रान्त्वा बहुर्वीरजनः पुरा महौ-

तुः सर्पराजीव वृथाऽत्र शूरितः॥३८॥

गेहं गृहं यियास्यतां यातुमिष्यताम्। उत अथवा। तोषात् प्रमोदात्। भुजः बाहुः प्रयास्यतां परिश्रम्यताम्। वा अन्तस्य निश्चयस्य "अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः। अवयवेऽपि" इति हैमः। दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया आस्यताम् उपविश्यताम्। वीरैरिति शेषः। पुरा पूर्वकाले। बहुः वीरजनः। अत्र अस्मिन् धनुषि एतद्विषये इत्यर्थः। भ्रान्त्वा भ्रमं प्राप्य। साधारणधनुर्भ्रमेणेति भावः। वृथा व्यर्थमेव शूरितः वीरतामदर्शयत्। अत्रोपमिमीते-महौतुः महाविडालः सर्पराजि सर्पाणां राजनीव। यथा महाबिडालः साधारणसर्पभ्रमेण सर्पराजे शूरयति तथा वीरजनोऽत्र धनुषि शूरित इति भावः॥३८॥

अर्थ—या तो आप लोग घर चले जावें, या तमाशा करना हो तो भुजाओंकी मेहनत दिखा दें या तमाशा देखना हो तो बैठे रहिये—क्योंकि इस धनुष पर बहुत से राजाओं ने (उसे मामूली धनुष समझकर) भ्रम से अपनी बहादुरी को अजमाया है; जैसे कोई बड़ा विलाव छोटे से साँप के भ्रम में शेषनाग से भिड़ गया हो—ऐसी नादानी बड़े-बड़े वीर यहाँ कर गये हैं॥३८॥

तत्र राज्ञां व्यवसितमाह—

सौदामनीपातमिवाऽसहिष्णवो

भ्राजिष्णवस्तद्वच उन्मदिष्णवः।

त्रपां धनुष्कोटिमथाऽस्पृशन् सम-

महेः फणां स्थास्नुमिवाऽऽहितुण्डिकः॥३९॥

सौदामनीपातं विद्युत्पातम् इव। तद्वचः तस्य वन्दिराजस्य वचो वचनम् असहिष्णवः असहनशीलाः। "न लोक०" इति षष्ठीनिषेधः भ्राजिष्णवः तेजस्विनः। उन्मदिष्णवः उन्मत्ताः (राजानः) त्रपां लज्जाम् अथ पुनः धनुष्कोटिं चापान्तभागम्। समं सह अस्पृशन् स्पृष्टवन्तः। एषापि सहोक्तिः। तेषां धनुष्कोटिस्पर्शने उपमामाह-आहितुण्डिकाः अहेः सर्पस्य तुण्डेन मुखेन दीव्यन्ति ते "तेन दीव्यति०" इत्यादिना ठक्। व्यालग्राहिणः स्थास्नुं स्थिरां "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इति ग्स्नुः। अहेः सर्पस्य फणा फणमिव "स्फटायां तु फणा द्वयोः" इत्यमरः॥३९॥

अर्थ—राजाओं की करतूत : चारण की वाणी राजाओं को कड़कड़ाती बिजली गिरने की तरह मालूम हुई। वे तिलमिला उठे और जोश में भरकर धनुष उठाने चल पड़े। धनुष की कोटि को छूते ही उसके साथ लाज से गड़ गए। धनुष क्या था—जैसे बाजीगरों (सपेरों) ने साँप के फन को खड़ा कर दिया हो॥३९॥

नुत्वा सुरान् धन्वनि धन्वितात्मसु

दर्पादथैषूच्छ्वसितेषु कोऽप्यवक्।

शराऽसनं चेन्न, वने शराऽऽसनं

यन्मौनिनामस्ति तदेव भज्यताम् ॥४०॥

सुरान् इष्टदेवान्। नुत्वा स्तुत्वा। ध्वनि चापोपरि दर्पाद् अहंकाराद् एषु उन्मत्तेषु राजसु धन्वितः धनुष्कृतः आत्मा शरीरं यैस्तेषु सत्सु। धनुरुत्थापनाय स्वशरीरमपि धनुराकारं कृतवत्सु सत्स्विति भावः। अथ अनन्तरम्, उच्छ्वसितेषु उच्चैः श्वासं कृतवत्सु। सर्वशक्तिसमर्पणेऽपि निष्फलतयेति भावः। कोऽपि कश्चित् कौतुकदर्शी अवक् उक्तवान्। चेद् यदि शरासनं धनुः न भज्यते इति शेषः तर्हि, यद् मौनिनां मुनीनां शरासनं शराणां तृणविशेषाणाम् आसनम् अस्ति, तदेव भज्यतां त्रोट्यताम्। तदापि शरासनभङ्गस्य चरितार्थता सेत्स्यतीति भावः। यद्वा शराणामासनं भज्यतां सेव्यताम्। मुखदर्शनभयात् तदासनं गृह्यतामिति भावः। अत्र तुल्यबलयोर्वीरता-भीरुताप्रमाणप्राप्तयोः शराऽसनशराऽऽसनभञ्जन-भजनयोर्विरोधस्य चातुर्याद् दर्शनेन विकल्पालंकारः "विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पा-लंकृतिर्मता।" इति लक्षणात् ॥४०॥

अर्थ—राजा लोगों ने धनुष को उठाने के लिये, पूरी ताकत लगाकर धनुष की तरह ही अपने शरीर को बना लिया, पर जब वह उठा नहीं तो वे लम्बी साँसे लेकर अपनी असफलता सूचित करने लगे। इस पर एक विनोदी दर्शक ने कहा, 'यदि यह शरासन नहीं टूटा तो कोई बात नहीं मुनियों के शर नामक घास से बने आसन को ही तोड़ दे–जिससे 'शरासन' तोड़ा, धनुष तोड़ा न सही शर+आसन तो तोड़ा। यह भी विनोद है कि यदि यह शरासन भंजन नहीं हुआ तो क्या, लाज छिपाकर सीधे मुनियों की तरह शरासन (ध्यान करने के आसन) पर भजन ही करो। भंजन न सही भजन ही सही। यहाँ विकल्प अलङ्कार है। विकल्प में दो तुल्य वातों को चतुरता से दिखाकर उनके विरोध को प्रकट किया जाता है। यहाँ वीरता एवं कायरता में समबल है और विरोध भी व्यंजित है। 'विकल्पस्तुल्यवलयोर्विरोधस्चातुरीयुतः' ॥४०॥

राजोरगाणामिव धन्वनां यदा

मनाग् नरेन्द्रैरपि कर्ष्टुमैशि नो।

स्यदो नदानामिव दर्शिनां तदो-

दपादि कोलाहलकः कुतूहलात् ॥४१॥

यदा नरेन्द्रैः नराणामिन्द्रैः इन्द्रसदृशैः पतिभिः महाराजैरपि। अन्यत्र विषवैद्यैरपि। उरगानां सर्पाणां राजा वासुकिरिव। धन्वनां धनुषां राजा पिनाकः। मनाक् ईषत्। कर्ष्टुं स्थानाच्चालयितुम्। नो ऐशि न अशाकि न शक्त इत्यर्थः। तदा तदानीं जलप्रवाहाणां स्यदः वेग इव। कुतूहलात् कौतुकाद्। दर्शिनां कौतुकदर्शकानां कोलाहलकः कलकलः उदपादि उत्पन्नः ॥४१॥

अर्थ—इन्द्र के सामन बड़े-बड़े राजा जव धनुषों के राजा इस पिनाक को अपनी जगह से हिला न सके–जैसे विषवैद्य साँपों के राजा वासुकि का कुछ नहीं कर सके हों–यह देखकर तमाशा देखने आये दर्शकों की भीड़ में शोर होने लगा जैसे कोई बड़ा नद कलकल छलछल कर उठा हो ॥४१॥

यियंसुरन्तः परतापशङ्कया

तापेन संधाच्युतिजेन चेरितः।

भास्वानिवाऽऽवाह्नि उल्लसन् पुन-

र्यागाहतो वह्निरिवाऽवदन्नृपः ॥४२॥

परेषाम् अन्येषाम् आगतानां वीराणामिति भावः। तापः दुःखं तस्य शङ्कया। कथमहम् अपमानेन एतान् दुःखयामीति शङ्कयेति भावः। अन्तः अन्तःकरणे यियंसुः यन्तुम् उपरंतुमिच्छुः। यद्वा अन्तः अन्तःकरणं यियंसुः रोद्धुमिच्छुः। च पुनः। संधायाः प्रतिज्ञायाः "संधा प्रतिज्ञा मर्यादा" इति कोशः। च्युतिः भङ्गः

तज्जेन तदुत्पन्नेन। तापेन दुःखेन। ईरितः प्रेरितः। यदि अहं किंचिदपि न वदेयं तर्हि प्रतिज्ञाभङ्गः स्यादित्याशयेनेति भावः। अत एव आवाहितः आमन्त्रितः पूजादाविति भावः। भास्वान् सूर्य इव, पुनः तथा यागे यज्ञकर्मणि आहूतः आनीतः। वह्निः अग्निरिव उल्लसन् शोभमानः। सूर्याग्नी अपि पूजायज्ञादिकर्मणि आवाहितौ परस्य अन्यस्य आवाहकस्य संतापशङ्कया मनो नियच्छतः किन्तु सन्धाच्युतिजेन मर्यादाभङ्गभवेन तापेन (दुःखेन) प्रेरितौ भवतः। तद्वत् राज्ञः परिस्थितिर्ज्ञातेति तात्पर्यम्। नृपः राजा जनकः अवदत् उक्तवान्॥४२॥

अर्थ—राजा जनक एक ओर आये हुये राजाओं की इस अपमान की स्थिति को देखकर भीतर चुप से बैठे थे, यदि कुछ न कहूँ तो प्रतिज्ञा भंग होगा इधर भगवान् सूर्य और अग्निदेव भी यज्ञ के अवसर पर आये हुए थे। आखिर उनकी तरह शोभमान राजा ने कहना शुरु किया॥४२॥

राज्ञां वैफल्ये जनकवचनमाह—

निरोजसः कोटिरणुत्विषो दशाऽ-
त्यंशुर्न चौकोऽप्यसरन्न यद्धनुः।
प्रायः स्थितेऽपि ग्रहमण्डले विनै-
णलाञ्छनात् को द्यति नैशिकं तमः ?॥४३॥

निरोजसः निस्तेजस्काः कोटिः कोटिसंख्यकाः सुबहव इति भावः। अणुत्विषः अल्पतेजसः दश विरला इति भावः। च पुनः। अत्यंशुः अतिशयितोंऽशुः प्रभा यस्य स यद्वा अंशुं सूर्यमतिक्रान्तः। "अंशुरर्कप्रभोस्रेषु" इति मेदिनी महातेजा इत्यर्थः। एकोऽपि न अस्तीति शेषः। यद् यतः कारणात् धनुः न असरत् स्थानादपि नाऽचलत्। एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते—प्रायः विशेषेण ग्रहाणां ताराणां मण्डले समूहे। "नक्षत्रं तारका ताराज्योतिषी भमुडु ग्रहः।" इति हैमः। स्थिते विद्यमानेऽपि एणलाञ्छनाद् चन्द्राद् विना कः नैशिकं रात्रिभवं "निशाप्रदोषाभ्यां च" इति ठञ्। तमोऽन्धकारं द्यति खण्डयति। द्रो "अवखण्डने" "ओतः श्यनि" इत्योलोपः। तारामण्डलेऽपि कोटिशो निस्तेजस्कप्रायाः। सप्तर्षि-गुरु-शुक्र-ध्रुवा इति दशाल्पतेजसः, अत्यंशुस्तु चन्द्रं विना न कोऽपीति संगच्छते॥४३॥

अर्थ—राजाओं की विफलता पर जनक का वचन : बिना तेज वाले चाहे करोड़ों इकट्ठे हो जावें, पर वे थोड़े से तेजवाले एक सूर्यप्रकाश को लाँघ नहीं सकते इसी प्रकार इस धनुष को सब मिलकर भी टस से मस न कर सके। सच है–रात के अन्धेरे को बेचारे तारे मिलकर भी मिटा नहीं सकते, यह तो चन्द्रमा है जो रात को (अन्धेरे को मिटाकर) जगमगा देता है॥४३॥

सर्वंसहा भर्तृगतामवीरता-
माप्य त्यजन्ती निजवीरमातृताम्।
हिताऽमलश्यामलसद्गुणामिमां
तापक्रुधा दर्शयते धनुर्भ्रुवम्॥४४॥

सर्वंसहा पृथ्वी। "पूःसर्वयोर्दारिसहोः" इति खच्। सर्वंसहेति साकूतं पदम्। तेन सर्वसहनक्षमाऽपि वक्ष्यमाणं न सहते इति भावः। भर्तृगतां पत्यौ वर्तमानां भूपतिषु विद्यमानामिति यावत्। अवीरताम् अशूरताम्। आप्य प्राप्य। निजां स्वकीयां वीरमातृतां वीरजननीत्वम्। त्यजन्ती मुञ्चन्ती। पत्युरवीरत्वे तत्सन्तानस्य वीरत्वाऽसंभवादिति भावः। तापक्रुधा तापजन्या क्रुत् तापक्रुद् मध्यमपदलोपी समासः। तया एतद्दुःखोद्भवेन क्रोधेनेति भावः। हितः धारितः "दधातेर्हिः" इति धाञो हिः। अमलो निर्मलः श्यामलः श्यामः सन् शोभनः गुणः ज्या (प्रत्यञ्चा) अन्यत्र गुणो वर्णो यया सा तां "गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये।" इत्यादि मेदिनी। इमाम् एतां धनुर्भ्रुवं धनुरेवभ्रूः ताम् दर्शयते दृग्गोचरीकारयति। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥४४॥

अर्थ—सब कुछ सहन करने वाली पृथ्वी ने जब अपने पतियों (पृथ्वीपतियों) की इस कायरता को देखा तो वह समझ गई अब मैं वीरमाता नहीं रहूँगी। जब पति कायर हों तो वीर पुत्र कहाँ ? इससे धरती क्रोधित हो रही है, वह अपनी निर्मल व शोभन सद्गुणों को धारण करते हुए भी व्याकुल है और इस धनुष के रूप में अपनीं भौहों को तानकर क्रोध को प्रकट कर रही है ॥४४॥

विशेष—यहाँ उपेक्षालंकार है ॥४४॥

जनकवचनं कुत्र कुत्र कथं कथं परिणतमित्याह—

जनकनृपतिवाणीति श्रुता बाणवर्षं
नरपतिहृदि हृद्या भक्तचित्ते सुधाश्रीः।
कलितविकचवीरत्वाम्बुजे रामचेत-
स्यथ कमलवने वाऽरंस्त नामाऽलिनीव ॥४५॥

इति इत्थं श्रुता आकर्णिता जनकनृपतेः वाणी वचनं नरपतिहृदि नरपतीनां समागतानां राज्ञां हृदि हृदये बाणवर्षं शरवृष्टिः अरंस्त विलसतिस्मेति सर्वत्र संबध्यते। भक्तचित्ते भक्तानां मनसि। हृद्या प्रिया। सुधाश्रीः अमृतलक्ष्मीः। अथ तथा। कलितं धारितं वीरत्वं वीररस एव अम्बुजं कमलं येन तत् तस्मिन्। कमलवने वा सरोजकानने इव। रामचेतसि राघवमनसि। नामेति प्राकाश्ये। अलिनी भ्रमरीव अरंस्त। मालिनीवृत्तम्। ''ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'' इति लक्षणात्। तस्य च 'नामालिनी' इति मालिनीशब्देन सूचितत्वाद् मुद्रालंकारः ॥४५॥

अर्थ—जनक के वचनों का किन-किन पर कैसा प्रभाव पड़ा ? जनक के वचन आगत राजाओं पर ऐसे लगे—जैसे बाणों की बौछार हो, भक्तों के हृदय में प्रिय अमृत वर्षा की तरह सुखद प्रतीत हुए और रामका मानस जो वीररस का ही कमलवन था—उस पर यह वाणी भ्रमरी बन मंडराती शोभित हुई ॥४५॥

विशेष—'नामालिनी' इस पद से मालिनी छन्द की प्रतीति कराई गई है अतः मुद्रालङ्कार है ॥४५॥

सर्वेषां मौनधारणमाह—

कुर्यां किंतु विनाज्ञया मुनिपते-
रित्येकसंधात्मना
लेशः क्षत्रकुलौजसोऽस्ति नहि वा
कोऽपीति तेनर्षिणा।
जाग्रत्यग्रजनौ करोमि किमहं
नामेति सौमित्रिणा
तावत् किंचन मौनमेव विधृतं
मौनस्य राज्ये स्थिते ॥४६॥

मुनिपतेः विश्वामित्रस्य आज्ञया विना किंनु कुर्याम् ? इति हेतोः एकसंधात्मना एका मुख्या संधा मर्यादा यस्य स तथोक्त आत्मा यस्य स तेन मर्यादा-पुरुषोत्तमेन रामेणेत्यर्थः। मौन विधृतमित्युत्तरेणान्वयः सर्वत्राऽपि। कोऽपि कश्चित् क्षत्रकुलौजसः क्षत्रिय-वंशतेजसः लेशः कणः अस्ति वा नहि ? क्षत्रकुलतेजो-लेशः कश्चिदवशेषोऽस्ति न वेति भावः। इति तेन प्रसिद्धेन ऋषिणा विश्वामित्रेण (मौनं धृतम्)। अग्रजनौ ज्येष्ठे जाग्रति विद्यमाने अहं किं नाम करोमि इति सौमित्रिणा सुमित्राया अपत्येन लक्ष्मणेन ''बाह्वादिभ्य-श्च'' इति इञ्। मौनस्य तूर्णीभावस्य राज्ये स्थिते सति। तावत् तदवधि। किंचन किंचिद्। मौनम् एव विधृतं धारितम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ''सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।'' इति लक्षणात् ॥४६॥

अर्थ—सर्वत्र मौन का साम्राज्य : सब ओर चुप्पी छा गई। मर्यादा पुरुषोत्तम राम चुप थे, मुनि की आज्ञा बिना कैसे बोले ! मुनि चुप थे, देखें किसी में क्षात्रतेज का अंश बचा है या नहीं। बड़े भाई के रहते

उनके सामने छोटा भाई लक्ष्मण भी किसी तरह चुप्पी साधे रहा। मौन के इस राज्य में लक्ष्मण मौन को ही किसी तरह धारण किये रहा ॥४६॥

रामस्योत्थानाय विश्वामित्रवचनमाह—

देवेनेव हृदि स्थितेन रभसा-

न्नुन्नोऽब्रवीत् कौशिको

वत्सोत्तिष्ठ विनम्रतासहजया-

ऽलंशङ्कया मेऽधुना।

माता ते रघुवीर वीरजननी

वीराग्रणीस्ते पिता

येनोद्दृप्य धनुर्भ्रुवं स्फुटयती-

मां वीरपत्नी धरा ॥४७॥

हृदि हृदये। स्थितेन। अध्युषितेन देवेन अन्तर्यामिणा इव। रभसाद् वेगाद् "रभसो वेगहर्षयोः" इति विश्वः। नुन्नः प्रेरितः। कौशिको विश्वामित्रः। अब्रवीत् अवदत्-वत्स ! उत्तिष्ठ। अधुना इदानीं विनम्रतासहजया विनयसहोत्पन्नया। मे मम। शंकया संकोचेन अलं साध्यं नास्तीत्यर्थः। "गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इति वचनात् तृतीया। अधुना मम शंकां मा कुरु इति भावः। भो रघुवीर ! ते तव। माता वीरजननी वीरं जनयति उत्पादयति तथाभूताऽस्तीति शेषः। ते पिता वीराग्रणीः शूरशिरोमणिः (अस्ति)। येन कारणेन वीरपत्नी वीरः पतिः (दशरथो) यस्याः सा "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति साधुः। धरा पृथिवी उद्दृप्य उत्कृष्टमभिमानं कृत्वा इमां पुरो दृश्यमानाम् धनुर्भ्रुवं धनूरूपां भ्रुवम्। स्फुटयति प्रकटति दर्शयतीत्यर्थः। 'सर्वंसहे' त्यादिचतुश्चत्वारिंशपद्यगतस्य जनकवचनस्यैतत् प्रतिवचनं ज्ञेयम्। तत्र क्रोधजनितं भ्रूप्रदर्शनमुत्प्रेक्षितमत्र दर्पजनितम् ॥४७॥

अर्थ—अन्तर्यामी की प्रेरणा से विश्वामित्र ने राम से कहा, पुत्र ! उठो, मेरी शंका मत करो, सहज विनम्रभाव से आगे बढ़ो। हे रघुवंशिन् ! तुम्हारी माता वीरमाता है, तेरे पिता वीरों में अग्रणी है। यही जानकर यह वीर पत्नी धरा अभिमान से भर-तुम पर अभिमान का भाव प्रकट करती हुई गर्वीली होकर धनुषरूपी अपनी भौहों से हार्दिक उल्लास प्रकट करती हुयी तुम्हें देख रही है। आश्वस्त दृष्टि से ॥४७॥

धनुर्भंगाय रामस्योत्थानमाह—

वन्द्यामेतां गिरमृषिपते रामचन्द्रो निशम्य

निर्मायैतत्प्रणतिममुनाऽऽशंसुनाऽऽशास्यमानः।

मित्रेणेव प्रिय-जय जयेत्युच्यमानोऽनुजेन

तारानाथस्तम इव धनुर्भङ्क्तुमुत्तिष्ठति स्म ॥४८॥

रामचन्द्रः। एतामिमां वन्द्यां स्तुत्याम् ऋषिपतेः विश्वामित्रस्य। गिरं वाणीम्। निशम्य श्रुत्वा। एतत्प्रणतिम् एतस्य विश्वामित्रस्य प्रणतिं प्रणामं निर्माय विधाय। आशंसुना आशिषं दातुमिच्छुना। "सनाशंस०" इति उः। अमुना विश्वामित्रेण आशास्यमानः आशिषा योज्यमानः सन्। मित्रेण सुहृदा इव अनुजेन कनिष्ठेन लक्ष्मणेन 'प्रिय जय जय' हे प्रिय-जय विजयप्रिय त्वं जय। मित्रपक्षे हे प्रिय त्वं जय जय इतीत्थम् उच्यमानः अभिनन्द्यमानः सन्। तारानाथश्चन्द्रः तमोऽन्धकारमिव। धनुः चापं भङ्क्तुं द्विधाकर्तुम् उत्तिष्ठति स्म उत्थितः॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम्। तल्लक्षणं तु "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत्।" इति ॥४८॥

अर्थ—राम का धनुर्भंग के लिये खड़ा होना—विश्वामित्र की इस वन्दनीया वाणी को सुनकर रामचन्द्र उठे। उन्होंने विश्वामित्र के सामने सर झुकाया, उनकी आशीष पाई। छोटे भाई ने जय-जयकार किया।

वे धनुष की ओर ऐसे चले जैसे चन्द्रमा रात के अन्धेरे को मिटाने के लिए बढ़ता है॥४८॥

विशेष—यहाँ धनुष को रात्रि का अन्धकार माना गया है और राम को चन्द्र से उपमित किया है॥४८॥

धनुर्भंगायोद्यते रामे स्त्रीणां सम्भ्रान्तवचनमाह—

सदृक्-चेतश्चोरः क्षितिपति-
किशोरः स्मरवपु-
र्वरिष्ठे कोदण्डेऽनुकृतयम-
दण्डे बत पतन्।
लसत्यैन्द्रिः पीवा हिमशिखरिणी
वाऽऽक्रमणकृत्
क्षणादेणाक्षीणामिति भणिति-
वीणाऽक्कणदणु॥४९॥

'बत' इत्यव्ययम् अत्र खेदस्याश्चर्यस्य वा सूचकम्। 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत।'' इत्यमरः। दृशा नेत्रेण सह वर्तमानं सदृक् यत् चेतो मनः तस्य चोरः चौरः नेत्रमनोहर इत्यर्थः। अत एव स्मरस्य कामस्य वपुः शरीरमिव वपुर्यस्य सः तथोक्तः। क्षितिपतिकिशोरः राजकुमारः (रामः)। अनुकृतः उपमितः यमदंडः कालदण्डो येन तत् तस्मिन् यम-दण्डानुकारे इत्यर्थः। वरिष्ठे महत्तमे। ''प्रियस्थिरस्फि-रोरु०'' इत्यादिना उरोर्वरादेशः। कोदण्डे धनुषि। पतन् आक्रमन् सन्। हिमशिखरिणि हिमालये। आक्रमणकृत् आक्रमणकारी। पीवा पीवरशरीरः। ऐन्द्रिः इन्द्रस्यापत्यं जयन्त इव। लसति शोभते। इति इत्थं क्षणात् क्षणेन। एणाक्षीणां स्त्रीणां भणितिः उक्तिरेव वीणा अणु अल्पं यथा स्यात्तथा किञ्चिदित्यर्थः। अक्कणत् अवाद्यत। पदान्तानुप्रासादीनां पञ्चानामप्यनुप्रासानामत्र संसृष्टिः। तत्तल्लक्षणं तु दर्पणाद् बोध्यम्। शिखरिणीवृत्तम्। लक्षणं तु ''रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'' इति। तन्नामसूचनेन मुद्राऽपि॥४९॥

अर्थ—धनुर्भंग करने के लिये जाते हुए राम के प्रति नारियों का कथन—यह हमारी आँखों और मनको चुरानेवाला, कामदेव की तरह सुन्दर शरीर वाला राजकुमार धनुष की ओर ऐसे बढ़ रहा है, जैसे यह यम दण्ड हैं, जिसके पड़ते ही यह धनुष टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। लगता है, जैसे इन्द्रपुत्र जयन्त हिमालय पर आक्रमण करने वाला है। मृगनयनी नारियाँ इस प्रकार मधुर मन्द बोली से बोल रही थी—जैसे वीणा की मीठी झंकार हो॥४९॥

तदानीन्तनं सीताकृतं देवाश्रयणमाह—

णत्वं गतो न इव संप्रति रेफयोगात्
संसिद्धरुग् विरुगभूत् किल यन्मुखेन्दुः।
पश्यन्त्यसौ जनकजा तदिदं विशेषा-
न्नानाविधान् सुमनसो मनसोपदध्यौ॥५०॥

किलेति सम्भाव्ये। सम्प्रति अधुना रेफयोगात् रेफाणाम् अधमानां योगः संसर्गः तस्मात्। ''रवर्णे पुंसि रेफः स्यादधमे वाच्यलिङ्गकः।'' इत्यमरः। प्राकृतस्त्री-जनसंसर्गेणेति भावः। यन्मुखेन्दुः यस्याः सीताया मुखेन्दुः मुखचन्द्रः संसिद्धरुक् संसिद्धा स्वभावसिद्धा रुक्कान्तिर्यस्य सः तथोक्तः। विरुक् विच्छायः। अभूत् अभवत्। स्त्रीणां संसर्गात् राजकुमारेण धनुर्भङ्गस्य संदिग्धत्वं तर्कयन्त्याः सीताया मुखं विच्छायमभूदिति भावः। किमिवेत्युपमामाह-रेफयोगात् णत्वं गतः न इव। यथा रेफस्य रवर्णस्य योगात् नकारो णकारो भवति तथेत्यर्थः। असौ सा जनकजा सीता तदिदं रामस्य धनुःस्पर्शनं स्त्रीणां वितर्कणं च पश्यन्ती सती विशेषात् आधिक्येन मनसा चित्तेन। नानाविधान् अनेकप्रकारान्। सुमनसो देवान्। उपदध्यौ सस्मार। वसन्ततिलकं वृत्तम्। श्लिष्टोपमा यमकं च॥५०॥

अर्थ—सीता देवों को मना रही है : जैसे रेफ के संयोग से सन्धि के नियम के अनुसार न का ण हो जाता है, इसी प्रकार सीता भी अपनी सखियों की मण्डली में राम के विष्णुत्व को भूलकर कुछ की कुछ हो गई है और देवताओं को मना रही है। उसका चाँद जैसा स्वाभाविक कान्तिमय मुख अभी उदास (मलिन) हो रहा है॥५०॥

लक्ष्मणस्योद्घोषणामाह—

नाकाधिनायकमिवाह्वयमान उच्चै-
रीषायितं तदनुजो भुजमुन्नमय्य।
णादिर्हि धातुरिव नादितया युतोऽल-
मुत्साहवर्धनरसाप्लुत इत्यवादीत्॥५१॥

तदनुजः तस्य प्रकृतस्य रामस्य अनुजो लक्ष्मणः। ईषायितम् ईषा हलदण्डः "ईषा लाङ्गलदण्ड स्यात्" इत्यमरः। तद्वत् आचरितं हलदण्डसदृशमित्यर्थः। भुजं बाहुं दक्षिणमिति भावः। उच्चैः उन्नमय्य उच्चीकृत्य। नाकाधिनायकम् इन्द्रम् आह्वयमानः स्पर्धया धृष्णुवन्निव। "स्पर्धायामाङः" इत्यात्मनेपदम्। हिः पादपूरणार्थः। णादिः धातुरिव नादितया नादः शब्दः यद्वा "नाभेरूर्ध्वं हृदि स्थानाद् मारुतः प्राणसंज्ञकः। नदति ब्रह्मरन्ध्रान्ते तेन नादः प्रकीर्तितः।" अपिच "आकाशाग्नेर्मरुज्जातो नाभेरूर्ध्वं समुच्चरन्। मुखेऽभिव्यक्तिमापन्नो यः स नाद इतीरितः" इत्युक्तलक्षणः प्राणवायुवृत्तिविशेषः सोऽस्यास्तीति नादी 'तद्भावस्तत्ता तया युक्तः। नादवानित्यर्थः। णादिर्धातुश्च नादितया नकारादित्वेन युक्तो भवत्येव। अतः श्लिष्टोपमा। अलम् अत्यर्थम्। उत्साहवर्धनरसेन वीररसेन "उत्साहवर्धनो वीरः" इत्यमरः। आप्लुतः आपूर्णः सन्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। अवादीत् उक्तवान्॥५१॥

अर्थ—राम के छोटे भाई लक्ष्मण ने हल-दण्ड सदृश प्रचण्ड भुजदण्ड को ऊपर उठाकर-स्वर्ग के अधिपति इन्द्र की स्पर्धा में नाद करते हुए या णादि धातु की तरह नाद (गर्जना) करते हुए उत्साह बढ़ाने वाले वीर रस से ओतप्रोत होकर यह कहा॥५१॥

तत्र द्वाभ्यां धनुरुत्थापनमाह—

तत्त्वं चिन्तय हे स्थिरे, फणिपते
क्षीराब्धिवायुं त्यज,
मा कूर्मेश्वर कूर्मकेलिकलनां
कुंर्या हि कुर्यात्यधः।
वश्यं दिक्करिणो मनः कुरुत, मा
लीड्ढ्वं मनाक् शल्लकीं,
धूः सह्या क्षणमेष दाशरथिरु-
त्तभ्नाति रौद्रं धनुः॥५२॥

हे स्थिरे पृथ्वि ! तत्त्वं भूतार्थं स्थिरत्वधारणरूपमित्यर्थः। यद्वा तत् त्वं स्थिरभावं चिन्तय विचारय। स्थिरया स्थैर्यं न त्याज्यमिति भावः। हे फणिपते शेष ! क्षीराब्धेः क्षीरसागरस्य वायुं पवनं त्यज मुञ्च। सर्पाणां पवनाशनत्वादिदानीं सावधानीकरणाय तद्वारणम् उचितम्। हे कूर्मेश्वर ! कच्छपपते ! कूर्मकेलिकलनां कच्छपक्रीडासंसर्गं। मा कुर्याः न कुरु। हि यतः। कुः पृथ्वी अधः नीचैः याति गच्छति। हे दिक्करिणः दिग्गजाः मनः वश्यं वशीभूतं "वशं गतः" इति यत्। कुरुत। शल्लकीं हस्तिखाद्यलताविशेषं मनाक् किंचित्। मा लीड्ढ्वं न खादत क्षणं क्षणमात्रं धूः भारः कूर्मादीनामित्यर्थः। सह्या सहनीया। एषोऽयं दाशरथिः दशरथपुत्रो रामः। साकूतमिदम्। रौद्रं रुद्रसंबन्धि शिवस्येत्यर्थः। धनुः चापम् उत्तभ्नाति उत्थापयति। "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" इति सस्य थत्वम्॥५२॥

अर्थ—हे स्थिर रहने वाली धरती ! तुम स्थिर रहना, धीरज रखना, हे शेषनाग ! तुम अभी क्षीरसागर की हवा का पान करना रोक देना। हे कूर्मेश्वर ! तुम जरा

कूर्म के क्रीडा संसर्ग को बन्द कर देना, क्योंकि यह पृथ्वी अभी नीचे धसने वाली है—अतः सावधान मन से संभालना। हे दिग्गजों ! मन को जरा वश में रखना और शल्लकीलता को खाना बन्द कर देना—थोड़ी देर सभी मन को संभालकर पृथ्वी को उठाने के लिये सावधान हो जावो। क्योंकि राम रुद्र के धनुष (पिनाक) को उठाने वाले हैं।

(लक्ष्मण शेष नाग के अवतार है, अतः सभी को जो किसी न किसी प्रकार धरती को उठाने के कर्तव्य में लगे हैं सावधान होने के लिये ओजस्वी वाणी में आज्ञा प्रदान कर रहे हैं) ॥५२॥

सीतां संमदयन् रिपून्
विमदयन्नुन्मादयन्नप्यलं
ताप्यांश्चेतसि तापयंश्चपलयन्
क्ष्मां, दिग्गजान्नामयन्।
यत्नात् संघटयन् भटान्, विघटयं-
श्चोद्द्रावयन् कातरा-
नुच्चैश्चापमुदञ्चयन् विजयते रामो
मनो मोहयन् ॥५३॥

सीतां संमदयन् हर्षयन्। हर्षार्थस्य मदोर्मित्त्वाद् ह्रस्वः। रिपून् वैरिणः अलम् अत्यर्थम् उन्मादयन् उन्मत्तीकुर्वन्नपि विमदयन् मद-(मत्तत्व)-हीनीकुर्वन्निति विरोधे निर्गर्वीकुर्वन् इत्यर्थेन तत्परिहारः। ताप्यान् तापयितुं योग्यान् मत्सरिण इति भावः। चेतसि चित्ते तापयन् प्रज्वलयन्। क्ष्मां भूमिं चपलयन् कम्पयन्। दिग्गजान् नामयन् नमयन्। भारातिशयेनेति भावः। "ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा" इति वा मित्त्वम्। भटान् योधान् यत्नात् संघटयन् एकत्र कुर्वन्। कातरान् भीरून् विघटयन् पृथक् कुर्वन्। च पुनः उद्द्रावयन् धावयन् मनो मानसं मोहयन् मुग्धं कुर्वन्। स चापं धनुः उच्चैः ऊर्ध्वम् उदञ्चयन् उत्थापयन्। रामः विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥५३॥

अर्थ—सीता के मन को आनन्द से मदमस्त करते हुए, शत्रुओं के मान का मर्दन करते हुए, ईर्ष्या से जलने वालों के दिलों को और जलाते हुये पृथ्वी तथा दिग्गजों को झुकाते हुए, वीरों को एकत्र करते हुए, कायरों को भगाते हुए, चंचल मन को मोहित करते हुए—राम ने धनुष को ऊपर उठाया—इस प्रकार धनुष उठाने वाले राम की जय हो, जय हो ॥५३॥

अथ ज्याटंकारं वर्णयति—

गत्वा योगिजनैर्गुहामपि गृहि-
स्थायं मनाक् स्थीयतां,
तावत् किंचन कच्छपीं कुरु कराद्
दूरं गिरां देवते।
राजानो लघुचापमानरसिकाः
कर्णौ पिधद्ध्वं क्षणं
मंमन्यध्वमिदं प्रभूत्तत-धनु-
र्ज्याटंकृतिः श्रूयते ॥५४॥

योगिजनैः योगिभिः गुहां पर्वतगुहां गत्वाऽपि मनःशान्त्यर्थमिति भावः। मनाक् ईषद् गृहिस्थायं स्थीयताम् गृहिभिरिव स्थीयतामित्यर्थः "उपमाने कर्मणि च" इति चात्कर्तरि णमुल्। ज्याटंकारश्रवणेन समाधिभङ्गात्तेऽपि क्षणं गृहस्थदशामेव अनुभवन्तु इति भावः। हे गिरां देवते सरस्वति ! (त्वमपि) तावत् किञ्चन् किञ्चत्कालम्। कच्छपीं तन्नाम्नीं स्ववीणां कराद् हस्तांद् दूरं कुरु अपसारय। अवधान-भङ्ग-संभवादिति भावः। हे लघुचापमानरसिकाः। लघूनां चापानां धनुषां माने उत्तोलने रसिकाः कौतुकिनः तत्संबुद्धौ। लघु च अपमान-रसिका इत्यर्थोऽपि ध्वन्यते तेषामपमान-संभवात्। तत्र लघु (शीघ्रम्) इति

क्रियाविशेषणं बोध्यम्। हे राजानः! (यूयं) क्षणं कर्णौ पिधद्ध्वम् आच्छादयत। भागुरिमतेन अपेरल्लोपः। ''दधस्तथोश्च'' इति धत्वम्। पुनः स्वोक्तं द्रढयति-इदं मदुक्तं मंमन्यध्वं पुनः पुनरतिशयेन वा मन्यध्वम्। (यतः) प्रभुणा रामेण उत्ततम् आकृष्टं यद् धनुः तस्य ज्याटंकृतिः मौर्वीटंकारः श्रूयते आकर्ण्यते॥५४॥

अर्थ—धनुष के टंकार का वर्णन : हे योगियों! गुहा में अभी ध्यान न लगाना, थोड़ी देर के लिये गृहस्थदशा में ही मन को लगाये रखना, क्योंकि धनुष की टंकार तुम्हारे ध्यान को भंग कर देगी। हे देवी सरस्वती! अभी अपनी कच्छपी वीणा को बजाना शुरू न करना, हे राजाओं! तुमने छोटे-छोटे धनुषों की ज्याटंकार सुनी है, राम धनुष्टंकार करने वाले हैं, इसलिये अपने कान दोनों हाथों से क्षणभर के लिये बन्द कर लेना-क्योंकि अभी-अभी राम द्वारा आकृष्ट धनुष की टंकार (ध्वनि) श्रवण की जा रही है॥५४॥

चापभङ्गं सूचयति—

शक्रान्तत्रासङ्गः स्वभुजबलकला-
जीविनां केलिरङ्गः
शिष्टोद्वाहानुषङ्गः खलु जनकसुता-
ऽभीष्टलाभप्रसङ्गः।
नंनम्यार्थीष्ट-सङ्गः प्रतिभटपृथिवी-
पालिनां चाभिषङ्गो
रोमाञ्चोत्थानचङ्गः स्फुरति रघुवरा-
कृष्टकोदण्डभङ्गः॥५५॥

खलु इति वाक्यालंकारे शक्रान्तः इन्द्रपर्यन्तः त्राससङ्गः भयसंगमरूपः। स्वभुजबलं निजबाहुवीर्यम् एव कला सा एव आजीवो जीविका एषामस्तीति तेषां केलिरङ्गः क्रीडास्थानरूपः। शिष्टः उद्घोषितः उद्वाहस्य सीतारामविवाहस्य अनुषङ्गः प्रस्तावो येन स एतादृशः। जनकसुतायाः सीतायाः। अभीष्टलाभस्य वाञ्छितार्थप्राप्तेः प्रसङ्गः प्रसङ्गरूपः। नंनम्या अतिशयितः प्रणामः। नमेर्यङन्तात् ''अ प्रत्ययात्'' इति अः प्रत्ययः। तदर्थिनां भक्तानामित्यर्थः। इष्टसङ्गः वाञ्छितार्थसंगमः। प्रतिभटाः प्रत्यर्थिनो ये पृथिवीपालिनो राजानस्तेषाम् अभिषङ्ग पराभवस्वरूपः। रोमाञ्चस्य रोमहर्षणस्य यदुत्थानम् उत्पत्तिः तत्र चङ्गः दक्षः। ''चङ्गस्तु शोभने दक्षे'' इति मेदिनी। एतादृशः रघुवराकृष्टस्य कोदण्डस्य धनुषः भङ्गः। ''म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'' ॥५५॥

अर्थ—धनुष टूटने का मतलब है-इन्द्र तक के भय का दूर होना, अपनी भुजाओं का भरोसा रखने वाले वीरता से जीविका चलाने वालों को केलिरंग का प्राप्त होना, राम सीता के विवाह की घोषणा होना, सीता का मनचाहा प्रसंग प्राप्त होना, भक्तों की अभीष्ट सिद्धि होना, प्रतिद्वन्द्वी भूपालों का पराजित होना, और आश्चर्य तथा आनन्द से रोमांचित होना। यानि धनुष भंग के साथ ही युगपत् ऐसे दृश्य सर्वत्र दिखाई दिये॥५५॥

लक्ष्मणोक्तिमुपसंहरति—

हित्वा स्वमर्थमजहत् परमात्मनोऽर्थं
णीयं परार्थमभिवक्ति यथा हि धातुः।
यत्नात्तथा प्रभुयशोऽनुज इत्युवाचाऽ-
थाऽवाचयंत्स विबुधान्विबुधांश्च नाके॥५६॥

यथा हि धातुः भ्वादिः। स्वम् आत्मीयम् अर्थम् अभिधेयं हित्वा त्यक्त्वा ''जहातेश्च क्त्वि'' इति इत्वम्। परं किन्तु आत्मनः स्वस्य अर्थम् अभिधेयम् अजहत् अत्यजन्। णीयं णिच्प्रत्ययसंबन्धिनं प्रेरणारूपं परार्थम्। अन्यम् अर्थम् अभिवक्ति स्फुटीकरोति। अयं भावः-यथा करोति-कारयति, अत्र कृधातुः णिचि स्वार्थं करणं त्यजति, किन्तु स्वम् अर्थम्

अर्थान्तराऽप्रवृत्तेः करणमर्थमत्यजन्नपि णीयं परार्थं कारणा-स्वरूपं प्रेरणार्थं प्रकटयति। तथा सः अनुजः लक्ष्मणः स्वम् आत्मीयम् अर्थं प्रयोजनं हित्वा त्यक्त्वा परम् आत्मनोऽर्थं प्रयोजनं अजहत् अत्यजन् सन्। स्वार्थस्य सांसारिककार्य-प्रपञ्चस्य त्यागेऽपि ईश्वरगुणानुवादेनाऽभीष्टलाभात् स्वार्थसिद्धि-संभवेनेति भावः। अत एव एतद्वाक्यं विरोधमाभासयति। स्पष्टः: तत्परिहारस्तु परमात्मनः परमेश्वरस्य अर्थं कार्यं यशोगानरूपमत्यजन् इत्यर्थेन ज्ञेयः। इति इत्थं यत्नाद् यत्नेन प्रभुयशः स्वामिकीर्तिम् उवाच बभाषे। अथ पुनः विबुधान् पण्डितान् अवाचयत् अभाषयत् च पुनः नाके स्वर्गे विबुधान् देवान् "विबुधो ज्ञे सुरे" इति मेदिनी। अवाचयत् अभाषयत्। तदुद्घोषितयशःश्रवणेन देवा अपि प्रभुयशो गीतवन्त इति भावः। अत्र 'उवाचे' ति स्वार्थिकः 'अवाचयत्' इति च ण्यन्तः प्रेरणार्थक उक्ता-र्थस्योदाहरणस्वरूपः प्रयोगोऽतीव चमत्कारावहः ॥५६॥

अर्थ—लक्ष्मण के कथन का उपसंहार करते है। जैसे कोई व्यक्ति स्वार्थ को छोड़ देता है और परमार्थ में लग जाता है, जैसे धातु अपना अर्थ छोड़कर प्रेरणार्थक बन कर दूसरों के कार्य कराने वाली बन जाती है। इसी तरह लक्ष्मण यह कहकर चुप हुए-पर जो राम का यश लक्ष्मण द्वारा उच्चारित हुआ, वह यश विद्वानों द्वारा धरती पर और देवताओं द्वारा स्वर्ग में फैलने लगा ॥५६॥

इन्द्रागमनमाह—

पौलोम्यधीश्वर उपैत् कुतुकं दिदृक्षु-
रैरावतं च हयमुच्छ्रवसं विहाय।
रक्ष्या बभूव यत एकतरेण पूर्वाऽ-
नुत्रस्यतीष्वसनभङ्गभयात् तथाऽन्याः ॥५७॥

कुतुकं चापभङ्गादिकौतुकं दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः पौलोम्यधीश्वरः पुलोम्नोऽपत्यं स्त्री पौलोमी इन्द्राणी तस्या अधीश्वर पतिः इन्द्रः। ऐरावतं स्वगजं च पुनः उच्छ्रवसं उच्चैःश्रवसं स्वघोटकं विहाय त्यक्त्वा उपैत् आगच्छत्। तयोरुभयोस्त्यजने कारणं दर्शयति—यतः यस्मात् कारणात् एकतरेण द्वयोरेकेन ऐरावतेन "एकाच्च प्राचाम्" इति डतरच्। पूर्वा पूर्वदिक् रक्ष्या रक्षणीया बभूव आसीत्। तथा अन्यः द्वितीय उच्चैःश्रवाः इष्वसनस्य चापस्य यो भङ्गः तस्माद् यद् भयं तस्मात् अनुत्रस्यति चकितो भवति। अत इन्द्रः पद्गः एव समागत इति भावः ॥५७॥

अर्थ—इन्द्र का आगमन : शचीपति इन्द्र की कुतूहल को देखने की इच्छा जागृत हुई। वह ऐरावत हाथी तथा उच्चैःश्रवा घोड़े को वहीं छोड़कर पैदल ही पहुँचा। कारण ऐरावत को धनुष भंग के समय पृथ्वी की रक्षा के लिये पूर्व दिशा में दिग्गज का कर्तव्य निभाना था और उच्चैःश्रवा तो उस आवाज से विचलित हो भाग खड़ा होता-इसलिये पैदल ही आना उचित समझा गया ॥५७॥

सोऽयं धनुर्भङ्गः कं प्रभावमुदपादयदित्यत आह—

गर्हा क्षत्रकुलस्य वीर्यमसतां
मानो धनुर्धारिणां
तोषो मत्सरिणां मदो भृगुपते-
र्ध्यानं पिनाकेशितुः।
दूनत्वं जनकस्य तस्य दुहितु-
श्चाधिः समाधिर्विधे-
रंहो दर्शिजनस्य चेति सकलं
भग्नं समं धन्वना ॥५८॥

क्षत्रकुलस्य क्षत्रियवंशस्य गर्हा निन्दा। असतां दुर्जनानां वीर्यं प्रभावः। धनुर्धारिणां मानः चित्तसमुन्नतिः। मत्सरिणां मात्सर्यवतां तोषः आनन्दः।

भृगुपतेः परशुरामस्य मदो गर्वः। पिनाकेशितुः पिनाकस्वामिनः शिवस्य ध्यानम्। जनकस्य दूनत्वं परितापः। तस्य दुहितुः सीतायाः आधिः मनोव्यथा। विधेः ब्रह्मणः समाधिः। च पुनः। दर्शिजनस्य दर्शकलोकस्य अंहः पापम्। इति सकलं सर्वं धन्वना धनुषा समं सह भग्नं नष्टम्। सहोक्तिः ॥५८॥

अर्थ—धनुर्भंग का क्या प्रभाव हुआ, इसका दिग्दर्शन : धनुर्भंग से केवल धनुर्भंग मात्र नहीं हुआ, उसके साथ क्षत्रियकुल की निन्दा, दुष्टों की वीरता, धनुर्धारियों का मान, ईर्ष्या करने वालों का सन्तोष, भृगुपति का गर्व, शिवजी का ध्यान, जनक का परिताप, सीता की मनोव्यथा, विधाता की समाधि—ये सब भी भंग हो गयें ॥५८॥

विशेष—सहोक्ति अलङ्कार ॥५८॥

शिवस्यागमनमाह—

पिनाकभृद् गोर्हि पिनाकभञ्जनात्
त्रासाभिशङ्की तमपास्य पद्ग ऐत्।
दग्धात्मभूधन्वन आत्मनोऽपि तं
शत्रुत्वशोधं प्रभुमालुलोकिषुः ॥५९॥

दग्धम् आत्मभुवः आत्मजस्य कामस्य धन्व धनुर्येन स तथोक्तस्तस्य आत्मनः स्वस्य शत्रुत्वशोधं वैरशोधिनं प्रभुं रामरूपं विष्णुम् आलुलोकिषुः आलोकितुमिच्छुः। पिनाकभृद् महादेवः। पिनाकभञ्जनाद् धनुर्भङ्गात् गोः स्ववाहनबलीवर्दस्य त्रासाभिशङ्की भयशङ्की। तं गाम् अपास्य त्यक्त्वा। पद्गः पद्चारी सन् ऐत् आगच्छत्। शिवेन पुरा विष्णुपुत्रस्य कामस्य धनु[१]र्दग्धं, तत्प्रतीकारं कर्तुमिवं यद्यपि विष्णुना (रामेण) शिवधनुर्भग्नं, तथापि शिवो वाहनं विना पद्गः सन्नपि प्रभुदर्शनायागत इति तात्पर्यम्। अनेन शिवस्य परमौदार्यं रामस्य च पारमैश्वर्यं पूर्णतया दर्शितम् ॥५९॥

अर्थ—शिवजी ने विष्णु के पुत्र कामदेव को जलाया था, इसी के वैरशोधन के लिये आज विष्णु ने (रामावतार रूप से) शिवजी के धनुष पिनाक को भंग कर दिया।

शिवजी इसको देखने के लिये नन्दी (बैल) को छोड़कर पैदल ही चल पड़े—क्योंकि धनुर्भंग की प्रचण्डध्वनि से बैल के चौंककर विदग जाने का भय था ॥५९॥

विशेष—शिव का परम औदार्य एवं राम का परम ऐश्वर्य पूर्णतया दर्शाया गया है ॥५९॥

ब्रह्मण आगमनमाह—

रथान्मरालात् तत एव विच्युतोऽ-
थेष्वासभङ्गाच्चलितः समाधितः।
नम्रः स्वहानेरधिकार्थसाधकं
चतुर्मुखोऽविन्दत रामदर्शनम् ॥६०॥

अथेत्यनन्तरम्। इष्वासस्य धनुषः भङ्गात्। समाधितः समाधिकार्यात्। चलितः स्खलितः। तत एव इष्वासभङ्गादेव यद्वा ततः स्थानादेव। रथात् स्वरथभूतात् मरालात् हंसाद् विच्युतः पतितः। धनुर्भङ्गेन चकितस्य मरालस्योड्डीनत्वादिति भावः। नम्रः चतुर्मुखो ब्रह्मा। स्वहानेः समाधिभङ्गक्षतेः। अधिकार्यस्य विशेषप्रयोजनस्य साधकं रामदर्शनम् अविन्दत प्राप्नोत्। निराकारं गवेषयतः साकारस्य साक्षात्कारेण हानितोऽप्यधिकतरो लाभ इति ज्ञेयम् ॥६०॥

अर्थ—ब्रह्मा के आगमन का वर्णन : ब्रह्मा अपने वाहन हंस को छोड़कर चल पड़ा। समाधि भंग कर उससे अधिक लाभ साकारप्रभु के दर्शन को मानकर

१. शिवचिकीर्षितस्य धनुर्दहनस्य प्राधान्येन आनुषङ्गिकस्य कामदहनस्य तु गौणत्वेन धनुर्दहनमेव मूले विवक्षितम्।

पैदल आये। धनुर्भंग के शब्द से डरकर हंस तो फड़फड़ाकर उड़ जायगा–इस डर के मारे हंस को छोड़ना उचित था।

समाधि में निर्गुण की तलाश करने के लाभ को छोड़ने से जो हानि होगी, उससे अधिक लाभ तो सगुण साकार के दर्शन से प्राप्त होगा॥६०॥

रङ्गस्थले सीताया आगमनमाह—

शृङ्खलानुगतसख्युपेतया
गंगयेव शुचिवीचियुक्तया।
वेशरम्यरचनामनोज्ञया
रङ्ग एष समभूषि सीतया॥६१॥

शृङ्खलस्य इव अनुगतं यासां ताः इति शृङ्गलानुगताः। शृङ्खलाकारेणानुगामिन्य इत्यर्थः। याः सख्यः ताभि उपेतया युक्तया। अत एव शुचिवीचियुक्तया पवित्रतरंगयुक्तया। गंगया भागीरथ्येव। वेशस्य या रम्या रचना प्रसाधना तया मनोज्ञा मनोहरा तया। सीतया (कर्त्रीभूतया) एषः रङ्गः रंगस्थलं समभूषि अलंक्रियते स्म॥६१॥

अर्थ—रंगभूमि पर सीता का आगमन : सखियों से घिरी हुई–मर्यादा से बंधी सीता जो आ रही थी–जैसे उर्मिमाला (तरङ्ग-पंक्ति) से शोभित गंगा हो। उनकी वेशभूषा रमणीय थी और प्रसाधन भी मोहक था। वह रंगभूमि सीता से अलङ्कृत हो गई, जैसे सीता (हल की लकीरों) से क्षेत्र शोभित होते हैं॥६१॥

विशेष—यहाँ सीता में श्लेष है॥६१॥

वरणमालापरिधापनमाह—

पुत्री विदेहनृपतेर्हृदयस्थरामा
रेजे हरिन्मणिचितेव सुवर्णभूषा।
सूपात्तया स्वकरयोर्वरणस्रजा सा
तं, सेव तत्किरणमात्मरुचा, युयोज॥६२॥

हृदयस्थो रामो यस्याः सा तथोक्ता। विदेहनृपतेर्जनकस्य पुत्री सीता। हरिन्मणिना अश्मगर्भरत्नेन चिता खचिता सुवर्णभूषा स्वर्णभूषणमिव। रेजे शुशुभे। "फणां च सप्तानाम्" इत्येत्वाभ्यासलोपौ। सा सीता स्वकरयोः निजहस्तयोः सूपात्तया सुतरामुपात्तया गृहीतया। "अच उपसर्गात्तः" इति तः। तत्समयसुधटैर्लज्जौत्सुक्यादिभिर्वरणस्रजः पतनाशङ्कया यत्नाद् गृहीतयेति भावः। वरणस्रजा स्वयंवरमालया तं रामं युयोज युक्तीकृतवती तत्कण्ठे परिधापितवतीत्यर्थः। अत्रोपमामाह-सा सुवर्णभूषा आत्मरुचा स्वकान्त्या तत्किरणं तस्य हरिन्मणेः किरणम् इव॥६२॥

अर्थ—विदेह की पुत्री वह सीता–जिसके हृदय में राम विराजते थे–ऐसी लग रही थी–जैसे नीलमणि की कान्तिकिरण स्वर्णमय हो झलक रही हो। उस सीता ने वरमाला को (कहीं लाज व सात्विककम्प के कारण खिसक न जाय–इस डर से) मजबूती से पकड़े हुए–राम के गले में पहनाया॥६२॥

अधुना स्वयंवरमालाधारिणीं रामकन्धरां वर्णयति—

गङ्गेवोर्मीविलासाऽसितसरसिजिनी-
वाप्तलक्ष्मीनिवासा,
गाधेयानन्दवासावनिरवनिपति-
प्रार्थ्यकामप्रवासा।
कूजत्पारावतासादित-विरुत-कला-
सत्त्रिरेखाऽधिवासाऽऽ-
लेख्या रामस्य भासाऽद्युतदति वरण-
स्रग्धरा कन्धरा सा॥६३॥

ऊर्मीं वीचिं विलासयति धारयत्येतादृशी गंगा इव, "कं सुखे वारिशिरसोः" इति हेमोक्तेः कंधराया जलधरत्वेन गङ्गया सहोपमानम्। आप्तः प्राप्तो लक्ष्म्याः श्रिया निवासो यया सा तथोक्ता असितसरसिजिनी नीलकमलिनीव, गाधेयस्य विश्वामित्रस्य आनन्दवासावनिः, आनन्दनिवासभूमिः, अवनिपतीनां स्पर्धालुनृपाणां यः प्रार्थ्यः प्रार्थनीयः कामो मनोरथः तं प्रवासयति दूरीकरोति तथाभूता, विरुतस्य शब्दस्य कला, सत्यः शोभनाः त्रिरेखा रेखात्रयी तस्या अधिवासः निवासः, ततः-कला-अधिवासयोर्द्वन्द्वः। कूजद्भिः तदानीन्तनेन आनन्देन शब्दायमानैः पारावतैः आसादितौ प्राप्तौ विरुतकला-सत्त्रिरेखाधिवासौ यस्याः सा तथोक्ता, यस्याः कन्धरातः शब्दकला त्रिरेखानिवासश्च कूजद्भिः कपोतैः प्राप्तौ एतादृशी कन्धरेति भावः। आलेख्या चित्रणयोग्या। रामस्य वरणस्रग्धरा स्वयंवरमालाधारिणी सा कन्धरा ग्रीवा। भासा कान्त्या। अति अत्यर्थम्। अद्युतत् शुशुभे "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदे पुषादीत्यङ्। स्रग्धरा-पदेन वृत्तसूचनाद् मुद्रालंकारः पदान्तानुप्रासश्च ॥६३॥

अर्थ—वरमालाधारिणी राम की कन्धरा का वर्णन : वरमाला से शोभित राम की कन्धरा ऐसी लग रही थी, जैसे गंगा उर्मिमाला (तरङ्ग-पंक्ति) सहित हो, नील कमलिनी में लक्ष्मी विराज रही हो, विश्वामित्र के आनन्द की भूमि हो, ईर्ष्यालु राजाओं के मान का भंग करने वाली हो, तीन रेखाओं वाली गर्दन कबूतर की तरह शोभित हो—जिसमें कलरव हो ॥६३॥

श्रीरामदर्शनं प्रशंसन् सर्गमुपसंहरति—

व्यलोकि मात्सर्यधियाऽपि यैः प्रभुः

सर्वैस्तदा तैरघमेव हारितम्।

जयत्यदो राममुखेन्दुदर्शनं

यत् प्राप्य न प्राप्यमिहास्ति किंचन ॥६४॥

इति श्रीकविराजाशुकविश्रीनित्यानन्दशास्त्रिविरचिते श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये रामांके धनुर्नामा चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥४॥

यैः मात्सर्यधिया अन्यगुणद्वेषमत्याऽपि। प्रभुः रामः। व्यलोकि दृष्टः। तदा तैः सर्वैः (जनैः) अघं पापम् एव। हारितं व्यपगमितम्। नान्यत् किमपीति भावः। अदः तद्। रामस्य मुखेन्दोः मुखचन्द्रस्य दर्शनम्। यद्वा 'अदोराममुखेन्दुदर्शनम्' इति सर्वं समस्तं पदम्। अमुष्य (प्रभोः) रामं मनोहरं यन्मुखेन्दुदर्शनं तत् जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। यत् प्राप्य इह अत्र लोके किंचन किंचित् प्राप्यं प्रापणीयं नाऽस्ति। लोकेनेति शेषः ॥६४॥

इति विद्याभूषणपण्डितभगवतीलालशर्मविरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्यव्याख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥४॥

अर्थ—राम दर्शन की प्रशंसा करते हुए सर्ग की समाप्ति—जिन्होंने राम को मत्सरता से (गुणों में दोष देखने वाली बुद्धि से) भी देखा, उनका भी क्या गया पाप ही नष्ट हुआ। पर, जिन्होंने प्रभु का प्रेमभावना से दर्शन किया उनको तो इतना मिला कि इस संसार में कहीं कुछ भी और पाने योग्य बचा ही नहीं। वे तो कृतकार्य हो गये, सफल मनोरथ हो गये ॥६४॥

जयपुरवास्तव्य राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का **'धनुर्नामक'** चतुर्थ सर्ग समाप्त।

अथ पञ्चमः सर्गः

मिथिलातः साकेतं प्रति पत्रिकाप्रेषणमाह—

गुप्तीकृतामथ जनकश्चराध्वना

हस्ताक्षरभ्रमरभृतां सुपत्रिकाम्।

मालामिवाऽभ्युपदिशतीं करग्रहं

साकेतपुर्यधिपतये व्यसर्जयत्॥१॥

अथेत्यनन्तरम्। जनकः। साकेतपुर्यधिपतये अयोध्यापतये दशरथाय। "साकेतः स्यादयोध्यायाम्" इति विश्वः। चराध्वना चारपुरुषद्वारा गुप्तीकृतां संयत्नकेन (संपुटकेन) आच्छन्नाम्। हस्ताक्षराणि निजकरलिखितवर्णा एव भ्रमराः तैर्भृतां पूर्णाम् करग्रहं सीतारामयोर्विवाहं हस्तग्रहणं च। अभ्युपदिशतीं सूचयन्तीम्। मालां पुष्पमाल्यमिव। सुपत्रिकां व्यसर्जयत् प्रेषितवान्। अस्मिन् सर्गे प्रभावतीवृत्तम्। तल्लक्षणं तु "वेदग्रहैस्तभसजगाः प्रभावती" ॥१॥

अर्थ—मिथिला से साकेत के प्रति पत्रिका भेजना—जनक अपने हस्ताक्षर से युक्त राम-सीता के विवाह की लग्नपत्रिका लिफाफे में बन्द पर दूत के द्वारा अयोध्या पति के पास भिजवाई। वह पत्रिका क्या थी—ज़ैसे पुष्पमाला थी और काले-काले अक्षर भ्रमरपंक्ति की तरह थे॥१॥

घ्नन्ती सुतद्वयकुशलाऽलभाशुचं

धर्मात्मनो मनसि नृपस्य पत्रिका।

मातृत्रयस्य च परमोदमातताऽऽ-

त्माभीप्सितागम इव पत्रिकागमः॥२॥

सुतद्वयस्य पुत्रयुगलस्य रामलक्ष्मणयोरित्यर्थः। यत् कुशलं तस्य या अलभा अप्राप्तिः तस्याः शुचं चिन्तां घ्नन्ती दूरीकुर्वती। पत्रिका। धर्मात्मनो धार्मिकस्य नृपस्य दशरथस्य। च पुनः। मातृत्रयस्य कौशल्या-सुमित्रा-कैकेयीनां मनसि परमोदं परमानन्दम् आतत आतेने। तनादिभ्यस्तथासोः" इति सिचो लुक्। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति पत्रिकागमः पत्रिकाया आगमनम् आत्माभीप्सितस्य आत्मप्रियजनस्य आगम आगमनमिव भवतीति शेषः॥२॥

अर्थ—वह पत्रिका राम-लक्ष्मण के समाचार न मिलने के कारण जो चिन्ता थी उसे दूर भगाने वाली थी। धर्मात्मा राजा दशरथ के आनन्द को बढ़ाने वाली थी। तीनों माताओं—कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी को परम मोद देने वाली थी। पत्रिका क्या आई जैसे प्रिय जन का ही आगमन हुआ हो॥२॥

निर्वर्ण्य तां स्म भरत उन्मनायते

षाण्मातुरो गणपति-पत्रिकामिव।

दाक्ष्यात् पठन्नथ मुमुदेऽधिकाधिकं

धिन्वन्त्यलं स्वनिपठिताः सुपत्रिकाः॥३॥

षाण्मातुरः कार्तिकेयः गणपतिपत्रिकां गणेशपत्रिकामिव भरतः तां (रामादिकुशल-) पत्रिकां निर्वर्ण्य दृष्ट्वा। उन्मनायते स्म उत्कण्ठते स्म। "भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः" इति क्यङ् सलोपश्च। अथानन्तरं (तां) दाक्ष्यात् चातुर्यात् पठन् वाचयन् सन् अधिकाधिकम् उत्तरोत्तरं मुमुदे आनन्दति स्म। अत्रार्थान्तरम्-स्व-निपठिताः स्वेन आत्मना निपठिताः वाचिताः सुपत्रिकाः कुशलपत्रिकाः अलम् अत्यर्थं धिन्वन्ति प्रीणयन्ति। "धिन्विकृण्व्योर च" इत्युः प्रत्ययः॥३॥

अर्थ—भरत उस सुपत्रिका को देखकर ऐसा उत्कण्ठित हुआ, जैसे कार्तिकेय गणेशपत्रिका को देखकर प्रसन्न हुये हों। उस पत्रिका को कुशलता से ध्यान पूर्वक देखा और फिर उस पत्रिका को अधिक प्रेम से पढ़ा इस तरह आनन्द बढ़ता ही गया॥३॥

अथ विवाहारम्भसंभारमाह—

पर्वोत्तमागतिमिव तां तदा चरै-

तिं मेनिरे सुबहु नृपादयो जनाः।

प्रिय् चोत्सवो व्यजनि पुरोऽङ्कसंगमाद्

यं सज्जनाः समुपजिजीवुरादरात् ॥४॥

तदा नृपादयः राजप्रभृतयो जनाः लोकाः। तां चरैतिं चराणां चारपुरुषाणाम् एतिम् आगमनम्। पर्वोत्तमागतिम् उत्तमोत्सवागमनमिव। "पर्व क्लीबं महे ग्रन्थौ" इत्यादि मेदिनी। सुबहु विशेषप्रकारेण मेनिरे अमन्यन्त। च पुनः। उत्सवः अङ्कसंगमात् अन्तिकसङ्गात् उत्सङ्गसंगमाच्च पुरः नगर्याः प्रिय् प्रिय इवाचरतीत्यसौ। व्यजनि बभूव। नगरीम् अङ्क-(उत्सङ्ग) वर्तिनीं कृत्वा उत्सवः तस्या वल्लभ इव बभूवेति तात्पर्यम्। यं (उत्सवं) सज्जनाः सन्तः। आदरात् समुपजिजीवुः आश्रितवन्तः ॥४॥

अर्थ—राजा आदि जनों ने चरों के आगमन को पावन उत्सव की तरह माना। फिर सारे नगर में उत्सव की धूम मच गई। जैसे नगरी की गोद उत्सव के रूप में प्रिय से भर गई हो ॥४॥

गुर्वाज्ञया नरपतिना निमन्त्रितो

हेरम्ब उल्लसितमनाः समागमत्।

नत्वा स तं परिणयपत्रिका अदात्

सर्वेऽञ्जसाऽन्तिकमुषिता इवाययुः ॥५॥

गुरोः वशिष्ठस्य आज्ञया। नरपतिना दशरथेन निमन्त्रितः कृतनिमन्त्रणः। हेरम्बः गणेशः। उल्लसितमनाः आनन्दितचेताः सन्। समागमत्। स नरपतिः तं हेरम्बं नत्वा परिणयपत्रिकाः विवाहनिमन्त्रणपत्रिकाः अदात् दत्तवान्। अन्तिकं समीपम् उषिताः स्थिता इव सर्वे निमंत्रिताः लोकाः। अञ्जसा शीघ्रम्। "स्राग् झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राग् मङ्क्षु सपदि द्रुते।" इत्यमरः। आययुः आगमन् ॥५॥

अर्थ—राजा ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से गणेश को निमन्त्रित किया। प्रसन्न मन गणेश जी पधारे। राजा ने प्रणाम कर उनके चरणों में पत्रिका समर्पित की। फिर सभी लोकों को शीघ्र ही निमन्त्रण भेजा। कार्य इतना शीघ्रता से सम्पन्न हुआ—जैसे सभी लोक पास ही स्थित हों अतः सभी शीघ्र ही वहाँ आये ॥५॥

हित्वा वृथा-स्थितममरत्वमुत्तमं

तोषावहं नरवर-वर्ष्म बिभ्रतः।

रामस्य तां परिणयनोत्सवश्रियं

मोदादुपाययुरमरा दिदृक्षवः ॥६॥

रामस्य तां परिणयनोत्सवश्रियं विवाहोत्सव-लक्ष्मीं दिदृक्षवः द्रष्टुमिच्छवः। अमराः देवाः। वृथास्थितं रामविवाहं द्रष्टुमशक्यत्वेन वृथा व्यर्थमेव स्थितं वर्तमानम् अमरत्वं देवत्वं हित्वा त्यक्त्वा। तोषावहम् आनन्दजनकम्। उत्तमं नरवरवर्ष्म मनुष्यश्रेष्ठशरीरं बिभ्रतो धरन्तः सन्तः। मोदात् उपाययुः ॥६॥

अर्थ—देवताओं ने रामविवाहश्री को देखने में असमर्थ देवतागण को व्यर्थ समझा और इस विवाह के आनन्द लेने की भावना से उन्होंने आनन्द को वहन करने वाले मनुष्य के श्रेष्ठ शरीर को मानकर नरदेह धारण का आनन्द प्राप्त किया और शीघ्र ही वहाँ पर आये ॥६॥

लक्ष्मीं वहन् भट इव जन्यसंभ्रम-

मञ्जूत्सवव्यतिकरसूचिनीं मुखे।

णेदा यथा ह्युभयपदार्थमाप्तवा-

नग्रे ततो जनकचरव्रजोऽव्रजत् ॥७॥

भट इव योध इव, मुखे मुखोपरि संभ्रमो हर्षत्वरा, मंजूत्सवो मनोहरोत्सवः। तयोर्द्वन्द्वः। जन्यानां वरपक्षीयजनानां ये संभ्रममंजूत्सवाः तेषां व्यतिकरः विषयः तत्सूचिनीं लक्ष्मीं शोभां वहन् धरन्। भट-पक्षे तु जन्यस्य युद्धस्य यः संभ्रमः त्वरा स एव मंजूत्सवस्तद्विषयसूचिनीम्। "जन्यं हट्टे रणे गहें वरस्निग्धे तु पुंस्ययम्।" इति शब्दार्णवः। यथा हि णेदा "णेदृ कुत्सासंनिकर्षयोः" इति धातुः उभयपदस्य परस्मैपदात्मनेपदरूपस्य अर्थम् आप्तवान् तथा (सोऽपि) उभयपदस्य वरकन्या-पक्षीय-स्थानद्वयस्य अर्थं कार्यम् आप्तवान् प्राप्तः। जनकचरव्रजः जनकस्य राज्ञः चरव्रजः चारपुरुषसमूहः। ततः तत्स्थानात्। अयोध्यातः अग्रे सर्वेभ्यः पूर्वम् अव्रजत् अगच्छत्। वर-कन्यापक्षीयाणां कार्यसूचनां वहन् चरवर्गोऽग्रे गत इति भावः ॥७॥

अर्थ—जैसे युद्ध के समय वीरों के मुख पर एक चमक आ जाती है, उसी तरह इस मंजुल उत्सव के कारण सभी चारों के मुख चमक उठे। जिस प्रकार 'णेदृ' धातु उभयपदी (परस्मैपद आत्मनेपद) होती है– उसी प्रकार जनक और दशरथ के चरसमूह वर-कन्यापक्ष दोनों के होकर बारात के आगे-आगे चले ॥७॥

जन्य-प्रयाणमाह—

चञ्चद्-रथावलि-परिराजित-द्विजाऽ-
सीमोर्जितेभ-समधिरूढराजका।
तङ्गत्तुरङ्गम-विलसन्नृपात्मजाऽ-
यासीत् पदातिभिरथ जन्य-संहतिः ॥८॥

अथ चञ्चन्ती शोभमाना या रथावलिः रथपंक्तिः तत्र परिराजिताः शोभिताः द्विजाः ब्राह्मणाः (वशिष्ठादयः) यस्यां सा तथोक्ता। असीमोर्जिता अपरिमित बलाः ये इभाः गजाः तान् समधिरूढं अधिष्ठितं राजकं राजसमूहो यत्र सा। "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र०" इत्यादिना समूहार्थे वुञ्। तङ्गन्तः वेगात् प्रसर्पन्तो ये तुरङ्गमाः तत्र विलसन्तो नृपात्मजाः राजकुमारा यत्र सा। एतादृशी जन्यसंहतिः वरपक्षीय-जनसमुदायः। पदातिभिः पदचरैः (सह) "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" इति पादस्य पद्। अयासीत् ययौ। "यमरमनमातां सक् च" इति सक् ॥८॥

अर्थ—शोभायमान रथपंक्ति पर वशिष्ठादि ब्राह्मण शोभित हुए। शक्तिशाली हाथियों पर राजन्य वर्ग आरूढ़ हुआ। तेज चलने वाले घोड़ों पर राजकुमार चढ़े। इस प्रकार पैदल, रथ, हाथी और घोड़ों वाली बारात चली ॥८॥

ते संस्मृतप्रभुमुखपद्मदर्शना
वन्या-हृता अपि मिथिलां द्रुतं ययुः।
नेत्रान्तरात्मभिरभिचोदिताः पथि
नद्यम्बुजाधिगमसमुत्सुकीकृतैः ॥९॥

पथि मार्गे वन्याहृताः वन्या वन-समूहः। "पाशादिभ्यो यः" इति यः। तया हृता आकृष्टा अपि ते (जन्याः) नद्यम्बुजानां नदीकमलानां योऽधिगमः प्राप्तिः तेन समुत्सुकीकृतैः सोत्कण्ठीकृतैः। नेत्रान्तरात्मभिः नयनमनोभिः। अभिचोदिताः प्रेरिताः सन्तः। अत एव संस्मृतं प्रभोः रामस्य मुखपद्मदर्शनं यैस्ते तथाभूताः। मिथिलां नगरीम्। द्रुतं शीघ्रम्। ययुः प्रापुः। वनाकृष्टा अपि ते नदीकमलदर्शनेन रामस्य मुखकमलं स्मृत्वोत्कण्ठिताः सन्तः मिथिलां शीघ्रमेव प्रापुरिति तात्पर्यम्। स्मरणालङ्कारः ॥९॥

अर्थ—बाराती मार्ग में वन प्रदेश की ओर तथा नदी जल में खिले कमलों की ओर आकर्षित हुए; पर, इनसे भी अधिक राम के मुख कमल का स्मरण कर उसके प्रति अधिक लालायित होने के कारण वे शीघ्र ही जनकपुरी पहुँचे ॥९॥

विशेष—स्मरणालङ्कार ॥९॥

सम्बन्धिनोः संमेलमाह—

वन्द्यं नृपं परिसरमेत्य पूर्वतोऽ-

नंनम्यताऽङ्गणगत एव मैथिलः।

गत्वा पदा स तमनमत्तथा मिथो

त्वादृग् मिलेत् सुकृतित इत्यशंसताम् ॥१०॥

मैथिलो जनकः। पूर्वतः जन्यागमनात्पूर्वमेव। परिसरं पुर्याः पर्यन्तभुवम्। एत्य आगत्य। अङ्गणगतः अङ्गणस्थितः सन् एव। वन्द्यं वन्दनार्हं वरपितृत्वादिति भावः। नृपं दशरथम् अनंनम्यत पुनः पुनरतिशयेन वा प्रणतवान् स नृपो दशरथः। पदा पादेन गत्वा न तु वाहनासनादिस्थ एवेति भावः। तं मैथिलम् अनमत्। तथा पुनः 'त्वादृक् भवादृशः सुकृतितः पुण्यकर्मणा मिलेत् संगच्छेत' इति एवं मिथो अन्योन्यम् अशंसताम् प्रशंसतः स्म ॥१०॥

अर्थ—राजा जनक बारात की अगवानी के लिये पहले ही नगर के सीमान्त पर मैदान में पहुँच गये। उन्होंने वन्दनीय दशरथ को बार-बार प्रणाम किया, दशरथ ने भी उन्हें प्रणाम किया। आपस में प्रेम से मिले और दोनों यही कह रहे थे। आप जैसा सम्बन्धी बड़े भारी पुण्य से ही प्राप्त होता है, इस प्रकार परस्पर प्रशंसा करते रहे थे ॥१०॥

नत्वा नृपं जनकनृपोऽथ कोटिशो

दीनारकानुपहृतवान् कृताञ्जलिः।

स्तीर्णाऽग्रिमाङ्कमुपगुह्य तौ मिथो

त्वाचं सुखं बहु भजतः स्म चान्तरम् ॥११॥

अथ जनकनृपः नृपं दशरथं नत्वा कृताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः सन् कोटिशः कोटितोऽप्यधिकान् इत्यर्थः। दीनारकान् दीनारान् सुवर्णमुद्राः। उपहृतवान् उपहाररूपेण समर्पितवान्। तौ दशरथजनकौ मिथो अन्योन्यं स्तीर्णाग्रिमाङ्कं स्तीर्णम् आच्छादितम् अग्रिमं संमुखीनम् अङ्गमेव अङ्कं शरीरं यत्र कर्मणि तत्तथा। उपगुह्य आलिङ्ग्य। त्वाचं त्वगिन्द्रियसंबन्धि। च पुनः आन्तरं मनः-संबन्धि बहु सुखं भजतः स्म अनुभवतः स्म ॥११॥

अर्थ—जनक ने दशरथ को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर करोड़ से भी अधिक स्वर्ण मुद्राएँ (दीनार) भेंट की। फिर दोनों भुजबन्धन कर खूब प्रेम से गले मिले। इस आलिंगन में दोनों ने शरीरमिलन का सुख पाया और उससे भी अधिक ह्रदय मिलन की आन्तरिक अनुभूति क्री ॥११॥

विश्वामित्रादिसंमेलानन्दमाह—

बह्वादरात् स्थितिमधिवासिते नृपे

हूते तथा सपदि मुनौ सराघवे।

दर्पादिव प्रणतिवरोपगूढजाः

काः का मुदोऽकृषत न कं कमात्मसात् ॥१२॥

बह्वादरात् बहुमानात्। नृपे दशरथे स्थितिं जन्यावासस्थानम् अधिवासिते अधिष्ठापिते सति तथा बह्वादरात् सराघवे राघवाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां सह वर्तमाने। मुनौ विश्वामित्रे। सपदि शीघ्रं हूते आहूते सति। प्रणतिः पूज्यानां प्रणामः, वरः पूज्यकृतवरप्रदानम् उपगूढम् आलिङ्गनं (भावे क्तः) पितापुत्रादीनामिति भावः। ततो द्वन्द्वः। तज्जाः तद्भवाः। काः काः मुदः हर्षाः। दर्पात् स्व-(हर्ष) राज्यस्य अभिमानात् इव। कं कं जनम् आत्मसात् आत्माधीनं ''तदधीनवचने'' इति सातिः। न अकृषत न कृतवत्यः ? अपि तु सर्वा मुदः सर्वमपि जनमिति भावः। प्रणामाशीर्वादालिङ्गनैः सर्वेऽपि आनन्दवशीकृता जाता इति तात्पर्यम् ॥१२॥

अर्थ—विश्वामित्र के मिलनानन्द का वर्णन—दशरथ जनवासे में बहुत आदर के साथ स्थित हो गये। उन्होंने सादर विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण को बुलाया।

सभी एक-दूसरे से मिले। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, भाई-भाई का यह मिलन आशिष, आलिंगन, प्रणाम आदि के रूप में हुआ। उस समय किस-किस को कौन-कौन सा सुख नहीं मिला ? यानी सभी को सभी प्रकार के सुख मिले॥१२॥

जन्यावलेर्नगरप्रवेशमाह—

चित्रं जनं तटतरुमघ्नती ततोऽ-

त्रस्नूकृताऽखिलपशुपक्षिसंहतिः।

कूलङ्कषावदपि हि जन्य-वीथिकाऽ-

टन्ती शनैर्जनकपुराब्धिमाविशत्॥१३॥

ततस्तदनन्तरम्। कूलंकषा नदी ''सर्वकूलाभ्र-करीषेषु कषः'' इति खच् तद्वदपि हि। सुदीर्घवाहित्वेन पुराब्धि-प्रवेशेन च नदीसाम्यं प्राप्ताऽपीति भावः। चित्रम् आश्चर्यमेतदस्तीत्यर्थः। जनं पुरवासिलोकरूपं तटतरुं तीरवृक्षम् अघ्नती अनुन्मूलयन्ती। न त्रस्नूकृता भीरूकृता अखिला पशु-पक्षिणां संहतिः समूहो यया सा। ''त्रसिगृधी'' ति क्नुः। शनैः मन्दम् अटन्ती भ्रमन्ती। जन्यवीथिका जन्यावली। जनकपुराब्धिं मिथिलापुरसमुद्रम् आविशत् प्रविवेश। चित्रालंकारः॥१३॥

अर्थ—बारात का नगर में प्रवेश—जैसे किनारे को तोड़ती उमड़ती नदी समुद्र की ओर जाती है, उसी प्रकार यह बारात नदी की तरह जनकपुरी रूपी समुद्र की ओर धीरे-धीरे चली। पर, दोनों में अन्तर है। नदी तट के पेड़ों को गिराती है, पर नगर के लोग जो वृक्ष थे—वे प्रसन्नता से देख रहे थे। नदी के उमड़ने से पशु-पक्षी घबड़ा जाते हैं, पर यहाँ ऐसा नहीं हुआ। यह एक आश्चर्य है॥१३॥

विशेष—यहाँ चित्रालङ्कार है॥१३॥

वरोपचारं वर्णयति—

मन्त्रैरिव श्रुतय उमारमागिरो

नुत्वा वरं नरवपुषः सुगीतिभिः।

प्रापुः सुधा-रसरसनाफलं, च सोऽ-

प्यन्वीक्ष्य ताः स्मितकुसुमैरिवार्चयत्॥१४॥

नरवपुषः मनुष्यशरीरधारिण्यः। उमारमागिरः गौरीलक्ष्मीसरस्वत्यः। श्रुतयो वेदत्रयी। मन्त्रैः ऋचाभिरिव। सुगीतिभिः सद्-गानविशेषैः। वरं विवोढारं नुत्वा स्तुत्वा। सुधाया इव रसो यस्याः सा तथोक्ता या रसना जिह्वा तस्याः फलं लाभं प्रापुः। च पुनः। सः वरोऽपि राम इत्यर्थः। ताः उमारमागिरः अन्वीक्ष्य अनुकूलतया दृष्ट्वा। स्मितैरेव कुसुमैः आर्चयत् अपूजयदिव। क्रियोत्प्रेक्षा॥१४॥

अर्थ—वरपूजा का वर्णन—सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती ने नरशरीर धारण कर के मन्त्रों से राम का यश गाकर अमृतमयी अपनी रसना को धन्य किया और राम ने भी उनको पहचान कर मुस्कराहटरूपी पुष्पों से उनकी पूजा की॥१४॥

भव्याः स्त्रियो ननृतुरथोजजगुर्यदा

रम्यं महिष्युपचरति स्म तं वरम्।

द्वारे कृते क्षणमिति तोरणोत्सवे

जन्याञ्जनाञ्जनकजना अपूजयन्॥१५॥

यदा यस्मिन् काले। भव्याः शोभनाः सौभाग्यशालिन्य इति भावः। स्त्रियो ननृतुः अनृत्यन्। अथ पुनःउज्जगुः उच्चैर्गानं चक्रुः। तदेति शेषः। महिषी जनकस्य कृताभिषेका राज्ञी। तं रम्यं रमणीयं वरम् उपचरति स्म तिलकारात्रिकाद्युपचारैः पूजयति स्म। यद्वा 'रम्यम्' इति पदं क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्येयम्। इतीत्थं क्षणं क्षणमात्रं द्वारे राजभवनद्वारे तोरणोत्सवे कृते सति। जनकजना जनकस्य लोकाः जन्यान् जनान्। अपूजयन् सममानयन्। सौगन्ध्यताम्बूलादिसमर्पणेनेति भावः॥१५॥

अर्थ—शौभाग्यवती स्त्रियाँ नाचने गाने लगीं। राज-महिषी ने रमणीय वर (राम) के तिलक निकाला, उनकी आरती की। इधर तोरणोत्सव के समय जनक के आदमियों ने बरात की खूब आवभगत की। सुगन्धलेपन, ताम्बूल आदि से स्वागतसत्कार किया ॥१५॥

पाणिग्रहणं वर्णयति—

स्यन्ने द्विजेश-ऋगमृते, सुखेऽनिले,

शाखाद्वये हुतशिखि चर्षिणोदिते।

स स्वग्रहीज्जनकसुताकरं वरो

नात्मेन्द्रियाण्यपि ततृपुः प्रशंसिनाम् ॥१६॥

द्विजेशानां ब्राह्मणश्रेष्ठनाम् ऋक् ऋचा वेदमन्त्र इत्यर्थः "ऋगृचायां च ऋग्वेदे" इति मङ्खः। स एव अमृतं तस्मिन् स्यन्ने स्रुते सति। द्विजेशात् चन्द्राच्चामृतं स्यन्दत एव। अनिले पवने। सुखे सुखावहे सति। च पुनः ऋषिणा मुनिना वशिष्ठेन शतानन्देन वा। हुतशिखि हुतः शिखी अग्निर्यस्मिन् कर्मणि तत्तथा। कर्तरि कर्मधर्मोपचाराद् हुतघृतोऽग्निरपि हुत एव कथ्यते। यद्वा अर्श आद्यचि कृते' भुक्ता ब्राह्मणाः' 'पीता गावः' 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत् साधुत्वम्। अत एव 'हुताग्नयः' इति बहुलं प्रयुज्यते। शाखा वेदैकदेशः। तद्-द्वये। जनककुलशाखा दशरथकुलशाखा चेति द्वयम्। तत्र उदिते उच्चारिते। वर-कन्ययोः शाखोच्चारे विहिते सतीति भावः। स वरो रामः। जनकसुतायाः करं पाणिं स्वग्रहीत् सुतरां गृहीतवान्। ह्यन्तेति न वृद्धिः। (तदा) प्रशंसिनां साधुसाध्विति प्रशंसतां जनानाम् आत्मा एव न ततर्प किंतु इन्द्रियाणि अपि ततृपुः तृप्तानि। 'द्विजेश+ऋगमृते' तथा 'चर्षिणा' इति 'ऋत्यकः' इति ह्रस्वविकल्पस्य उदाहरणद्वयम् ॥१६॥

अर्थ—पाणिग्रहण का वर्णन—द्विजेश-ब्राह्मणश्रेष्ठ वेदमन्त्र पढ़ते थे, जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता हो। सुख देनेवाली हवा बहती थी। वशिष्ठ और शतानन्द दोनों वंशों का शाखोच्चार कर रहे थे। राम ने सीता का पाणिग्रहण किया—उस समय प्रशंसा करने वालों का तन-मन तृप्त हो गया ॥१६॥

अथ त्रिभिः पद्यैः सीता-सख्योर्मिथो मार्मिकं नर्मालापमाह—

रम्यां प्रभोस्तनुसुषमा-सुधां पिबा-

म्यक्ष्णेति तां यदवधि वीक्षते वधूः।

मा संभ्रमेरिति मणि-भित्ति-बिम्बतो

वस्तूञ्छती वदति सखीति साऽगदीत् ॥१७॥

सध्रीचि भो अबुधमहं भवन्मुखोत्-

थं श‍ृण्वती वचनमितो हि दक्षिणाम्।

कृत्वा विपर्ययमधुनाऽस्यतः परं

त्वामालपिष्यति जन एष वामतः ॥१८॥

'रक्ताऽसिता तव दृगभूद् यथा तथा

मत्वा नु मां वदसि किमि' त्यवक् सखी।

मा संभ्रमेर्भवसि तथैव रागिणै-

णाङ्केन वौषधि, रिति तामवग् वधूः ॥१९॥

प्रभोः स्वामिनः रम्यां मनोहराम्। तनुसुषमासुधां शरीरशोभामृतम्। अक्ष्णा नेत्रेण। पिबामि इति हेतोः। यदवधि यावत् वधूः सीता तां तनुसुषमासुधां वीक्षते पश्यति। तदवधि (तावत्) इत्यध्याहार्यम्। मणिभित्तिबिम्बतः रत्नमयभित्तिप्रतिबिम्बात् "बिम्बस्तु प्रतिबिम्बे स्यान् मण्डले पुंनपुंसकम्।" इत्यादि मेदिनी। वस्तु वास्तविकमर्थं सीताकृतं रामरूपदर्शनरूपं "वस्तु द्रव्ये च भूतार्थे" इति शब्दार्णवः। उञ्छती गृह्णती सखी मा सम्भ्रमेः मा त्वरस्वेति वदति कथयति इति कथयति सा वधूः (सीता) अगदीत् ॥१७॥

भोः सध्रीचि सह अञ्चतीति सध्र्यङ् ऋत्विग्दधृगित्यादिना क्विनि "सहस्य सध्रिः" इति सध्र्यादेशे च "उगितश्च" इति ङीप्। तत्सम्बुद्धौ सध्रीचि हे सखि इत्यर्थः। इतः अस्मात् स्थानात् भवन्मुखोत्थं त्वन्मुखनिर्गतं वचनं शृण्वती अहं (त्वां) दक्षिणां दक्षिणवर्तिनीम् अबुधं ज्ञातवती। अधुना विपर्ययं तद्वैपरीत्यं कृत्वा असि वर्तसे। दक्षिणतो वामाऽभवः इति भावः। अतः परम् एष जनः अहं त्वां वामतः वामे भागे आलपिष्यति आभाषिष्यते। अत्र मार्मिकस्तु एषोऽर्थो ध्वन्यते-अधुनावधि भवन्मुखोत्थं तत्तद् वचनं शृण्वती अहं त्वां दक्षिणामनुकूलां ज्ञातवती, अधुना तु तद्विपर्ययं कृत्वा असि प्रतिकूलाऽसि इति भावः। स्वामिशरीरशोभादर्शनान्तरायभूतत्वादिति भावः। अतः परम् अहं त्वां वामतः वामां प्रतिकूलाम् आलपिष्यामि। सार्वविभक्तिकस्तसिलिति वचनादत्र द्वितीयार्थे तसिल्। ॥१८॥

इतः परं सख्याः प्रतिवचनम् रक्तेति। यथा असिता श्यामा अबद्धेत्यपि ध्वन्यते। तव दृक् नेत्रम्। जात्यैकत्वम्। अधुना रक्ता लोहिता क्रोधेनेति भावः। रामेण रक्ता अनुरक्ता चेति ध्वन्यते। अभूत्। तथा मां मत्वा किंनु वदसि ? यथा तव दृक् असिता अधुना रक्ता अभूत् तथा मां मत्वा अर्थात् तथैव दक्षिणा सती अहं वामा जाता इति मत्वा मां किन्नु वदसि ? इति सखी अवक् प्रत्यवददित्यर्थः। अथ सीतावचनम्-मेति। मा सम्भ्रमेः मा त्वरस्वेति सकाकु तदुक्तस्यानुकरणम्। तथैव यथा मम असिता दृग् रक्ताऽभूत्, त्वमपि असिता अबद्धा सती रागिणा अनुरागिणा रक्ता अनुरक्ता भवसि भविष्यसि "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति वर्तमानवत्। अत्रोपमिमीते-एणांकेन चन्द्रेण औषधिः वा इव। इति वधूः तां सखीम् अवक् प्रत्यवदत्॥१९॥

अर्थ—जब तक सीता राम के सुन्दर शरीर के शोभारूपीअमृत का पान कर रही है, तब तक मैं मणि जटित भित्ति में दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब (शोभा) का पान करूँ यह विचार कर सखी सीता से कहती है–अभी जल्दी न करें॥१७॥

अर्थ—सीता ने कहा, 'हे सखी ' आज तक तो तू हमेशा दक्षिणवर्ती–अनुकूल बोलती थी, आज वाम (प्रतिकूल) क्यों दिखाई दे रही है? ॥१८॥

अर्थ—सखी ने कहा 'ऐसा तो नहीं, आपकी आँखें जो काली कजरारी थीं, वे लाल (क्रोध से लाल, प्रेम से लाल) हो रही हैं, इसलिए ऐसा मालूम हो रहा है। सीता ने उत्तर में मर्म की वाणी में कहा, तू लाल (प्रेम में) आँखों वाली हो रही है। मुझ पर मिथ्या आरोप कर रही हैं' ॥१९॥

विशेष—इन तीन श्लोकों में सीता व सखी का परस्पर नर्म व मर्मवचन ध्वनित हैं॥१९॥

अग्निप्रदक्षिणामाह—

वह्निं ततोऽकृत यतनात्प्रदक्षिणं
नेता निशः सह निशयेव रम्यया।
त्रय्या समं विधिरिव सीतया वरो
यः श्रीयुतोऽस्त्यखिलकृतप्रदक्षिणः॥२०॥

ततस्तदनन्तरं वरः सीतया (सह) यतनात् यत्नात् वह्निम् अग्निं प्रदक्षिणम् अकृत पर्यक्राम्यत्। अत्रोपमानद्वयमाह-रम्यया निशया सह निशः निशायाः "पद्दन्नोमास्" इत्यादिना निशाया निश्। नेता नायकः चन्द्र इव। त्रय्या वेदत्रय्या। समं सह। विधिः ब्रह्मा इव। तस्य प्रभावातिशयम् आह–य इति–यः वरो रामः (विष्णुः) श्रीयुतः[१] लक्ष्मीसहितः। अलिखकृतप्रदक्षिणः अखिलैः सर्वैः इन्द्राग्निसूर्यादिभिः कृता प्रदक्षिणा परिक्रमा यस्य स तथाभूतोऽस्ति। सोऽपि यत्नात् अग्निं प्रदक्षिणीचक्र इति चित्रम्॥२०॥

---

१. श्रीपदं सर्वनामोपलक्षणम्।

अर्थ—अग्नि के फेरों का वर्णन : राम सीता के साथ यत्न पूर्वक विवाह वेदी की अग्नि के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं; ऐसे लगते हैं—जैसे चन्द्र रात्रि के साथ या ब्रह्मा तीन वेदों के साथ हों। आश्चर्य है, जो श्रीयुत हैं लक्ष्मी सहितं हैं और जिनके चारों ओर इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि फेरी लगाते हैं, आज वे नरलीला करने के कारण अग्नि की फेरी लगा रहे हैं॥२०॥

देवैः स्रुतैरपि च नरैः सुमैस्तथा
वन्हेर्हुतैर्मृगमदकुङ्कुमद्रवैः।
गन्धं वहन् बहु बहु गन्धवाहको
धर्मो यथा प्रचरितवान् समन्ततः॥२१॥

देवैः सुरैः। अपि च। नरैर्मनुष्यैः। स्रुतैर्वर्षितैः। सुमैः पुष्पैः। वह्नेरग्नेः हुतैः हवनैः। तथा मृगमदस्य कस्तूर्याश्च कंकुमस्य काश्मीरस्य च। द्रवैः रसैः। गन्धं सौरभं बहु बहु भूरि भूरि वहन् धरन्। गन्धवाह एव गन्धवाहकः पवनः। यथा धर्मः (तथा) समन्ततः सर्वतः प्रचरितवान् प्रससार॥२१॥

अर्थ—देव और मनुष्य वर-वधू पर फूलों की वर्षा कर रहे हैं। अग्नि में कस्तूरी केसर-(कुंकुम) से युक्त द्रव्यों की आहुति दी जा रही है। हवा अपने धर्म के अनुसार बहुत-बहुत सुगन्ध को लिये चारों ओर बहकर फैल रही है॥२१॥

द्वाभ्यां जन्य-जेमनमाह—

वस्त्राणि साभरणमथोद्वहत् सखि-
संलापजां स्मितसरसां मुदं दधत्।
काले कुतूहलरसमिच्छु जेमितुं
शास्त्रक्रमात् स्थितमिहजन्यमण्डलम्॥२२॥

अथ काले समये। वस्त्राणि साभरणं भूषणसहितं यथा स्यात् तथा उद्वहत् धारयत्। सखिसंलापजां मित्रालापसमुत्पन्नां स्मितेन मन्दहासेन सरसां मुदं हर्षं दधत्। कुतूहलरसं वैवाहिककौतुकरसम् इच्छु जन्यमण्डलम् इह अत्र प्रदेशे शास्त्रक्रमात् "आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत" इत्याद्युक्तशास्त्रविधिना जेमितुं भोक्तुं स्थितम् उपविष्टम्।॥२२॥

अर्थ—जनेती खूब सजधजकर सुन्दर वस्त्र पहन, गहनों को धारण कर, मित्रों के साथ बात-चीत करते मुस्कराते, विवाहरस में भरकर शास्त्रविधि का पालन कर भोजन करने के लिये आ जमे। शास्त्रविधि है—"आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत"॥२२॥

तत्रादितः पचनगृहाधिकारिणाऽ-
त्रत्ये हि येऽर्पणविषये नियोजिताः।
ते बल्लवाः प्रथमत आशितंभवा
न्यस्तासनं व्यधिषत भोज्यसाधनाः॥२३॥

तत्र तस्मिन् स्थाने। ये हि आदितः पूर्वत एव पचनगृहस्य पाकशालाया अधिकारिणा अध्यक्षेण। अत्रत्ये अत्र-संबन्धिनि "अव्ययात् त्यप्" इति त्यप्। अर्पणविषये परिवेषणकार्ये नियोजिताः नियतीकृताः। ते बल्लवाः सूपकाराः "बल्लवः सूपकारे स्याद् भीमसेने च गोदुहि।" इति मेदिनी। प्रथमतः न्यस्तासनं न्यस्तानि आस्तीर्णानि आसनानि यत्र कर्मणि तत्तथा। आशितंभवाः आशिताः तृप्ताः भवन्ति आभिस्ताः। "आशिते भुवः करणभावयोः" इति खच्। भोज्यसाधनाः भोजनसामग्रीः। व्यधिषत अकुर्वन् परिवेषितवन्त इत्यर्थः॥२३॥

अर्थ—वहाँ पहले से ही पाकशाला के प्रधान की अध्यक्षता में सारी सुव्यवस्था थी। नियुक्त किये हुए सूपकारों ने (परोसने वालों ने) आसन बिछा दिये और विविध प्रकार की भोज्य सामग्री—जो तृप्ति प्रदान करने वाली थी—परोस दी॥२३॥

वस्तु क्रमात् सकृदशितं जिघत्सितं
सन्तृप्य तैर्न प्रमया कि खादितुम्।

सुघ्राणता त्वहृत विमानगानपि

खं शून्यमित्यहह ! तदा मतं जनैः ॥२४॥

तैः जन्यैः। क्रमात् क्रमेण। सकृत् एकवारम् "एकस्य सकृच्च" इति सकृत् अशितं भुक्तं वस्तु मोदकादिद्रव्यं जिघत्सितम् अत्तुम् इष्टम् "लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घसादेशः। परं किन्तु संतृप्य तृप्तीभूय खादितुं भोक्तुं न अशाकि न शक्तम्। भोज्यवस्तूनां सुबहुत्वेन एकैकवारमेव भुक्तैस्तैस्तृप्तिर्जातेति भावः। सुघ्राणता स्वादिष्ठत्वेन अकृच्छ्रेण उपादेयगन्धता। "आतो युच्" इति युच्। भोज्यवस्तूनां सुस्वादुता सौगन्ध्यमित्यर्थः। विमानगान् विमानचारिणो देवानपि अहृत अपहृतवती। वायुहार्यस्य सौगन्ध्यस्य वायुपथे प्रसृतत्वादिति भावः। अहहेत्यद्भुते। तदा तस्मिन् काले। जनैः लोकैः। खम् आकाशं शून्यम् इति मतं ज्ञातम्। आकाशस्य देवमार्गत्वाद् यदा देवा अपि सुगन्धतया हृतास्तर्हि विहगानां तु अर्थापत्त्यैव हृतत्वसंभवात् तस्य (आकाशस्य) शून्यत्वसंभव इति भावः॥२४॥

अर्थ—विविध प्रकार के व्यंजन परोसे गये थे, एक-एक चीज को एक बार ही खा सके, भूख की इच्छा होते हुए भी दूसरी चीजों के कारण एक बार लेकर ही तृप्ति का अनुभव किया। पदार्थों में सुगन्ध भरी थी, विमान पर चढ़े हुए देवता–इस सुगन्ध से परितृप्त होकर–स्वर्ग में चलते बने। आकाश एकदम सूना था पक्षी भी नहीं मँडरा रहे थे। जब सारी सुगन्ध देवता ले गये तो फिर पक्षियों के लिये बचा ही क्या ? यही आकाश की शून्यता का कारण है॥२४॥

द्वाभ्यां यौतुकं वर्णयति—

चित्रीयितान् प्रथममुदीक्ष्य यौतुकं

त्रप्त्वा पुनर्निलयमपीप्सतः सुरान्।

कूटीकृताऽमितमणिहेमपात्ररुक्-

टंकारकावनुपदिनौ निचक्रतुः ॥२५॥

यौतुकं सुदायम् उदीक्ष्य दृष्ट्वा प्रथमं पूर्वं चित्रीयितान् आश्चर्यमाप्तान् "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इति क्यच्। पुनः त्रप्त्वा लज्जित्वा। स्वविभूत्यपेक्षया जनकविभूतेरुत्कृष्टतरत्वदर्शनादिति भावः। निलयं निवासं स्वर्गं गोपनस्थानं चेति ध्वन्यते। "निलयोऽस्तमिते गृहे। गोपनस्य प्रदेशेऽपि" इति हैमः[१]। अपि ईप्सतः आप्तुं गन्तुम् इच्छतः सुरान् देवान्। अनुपदिनौ अनुपदम् अन्वेष्टारौ "अनुपद्यन्वेष्टा" इति साधुः। . कूटीकृतानि राशीकृतानि यानि अमितमणिहेमपात्राणि अपरिमितानि रत्नसुवर्णपात्राणि तेषां यौ रूक्टंकारकौ कान्तिटंकारशब्दौ निचक्रतुः न्यक्चक्रतुः। जनकवैभवदर्शनेन लज्जित्वा निलयं गच्छतोऽपि देवान् राशीकृतरत्नस्वर्णपात्राणां कान्तिटंकारौ अनुपदम् अन्विष्य लज्जया नीचीकृतमुखान् चक्रतुरिति तात्पर्यम्। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥२५॥

अर्थ—दो श्लोकों में दहेज का वर्णन : दहेज की राशि को देवताओं ने प्रथम चकित होकर देखा, फिर उस धन की विपुलता को देखकर तथा स्वर्ग से बढ़कर जानकर, लज्जित होकर अपना-सा मुँह कर स्वर्ग जाने को तैयार हुए। इतने में ढेर के ढेर लगे सोना, मोती, माणिक रत्नों को देखकर और उनकी मीठी झणकार सुनकर, उनकी आवाज का अनुसरण करते हुए राशि के पास आये और शर्म के मारे नीचा मुँह किये खड़े रहे॥२५॥

गन्धद्विपान् कलितझलज्झलान्मुदा

तेजोभृतस्तरलतरांस्तुरङ्गमान्।

रामा नरान् रथशिबिका ददच्च गा

मेयायितं नृपतिरदर्शयन्निजम्॥२६॥

मुदा हर्षेण। कलिता धारिता झलज्झला

---

१. अयं हैमः पाठः अमरकोशव्याख्यासुधात उद्धृतः परमस्मदीये हैमपुस्तके न लभ्यते।

कर्णास्फालः यैस्ते तथोक्तान् "कर्णास्फाले झलज्झला" इति हस्तिप्रकरणे त्रिकाण्डशेषः। गन्धद्विपान् मदगन्धोपलक्षितान् गजान्। तेजोभृतः तेजस्विनः। तरलतरान् अतिचपलान् तुरङ्गमान् घोटकान्। रामाः नारीः। नरान् पुरुषान्। पदातीनामप्यत्रैवान्तर्भावः। रथशिबिकाः रथान् शिबिकाश्च शिबिकायाः सेनाङ्गत्वाभावात् द्वन्द्वश्चेत्येकवद्भावो न। च पुनः। गा धेनूः। ददत् यौतुकत्वेन प्रयच्छन् नृपतिः जनकः। निजम् आत्मीयं मेघायितं मेघवदाचरितं मेघसाम्यमित्यर्थः। भावे क्तः। अदर्शयत्। मेघ इव यौतुकद्रव्याणि ववर्षेति भावः॥२६॥

अर्थ—दहेज में जो हाथी दिये, वे सभी मदोन्मत्त थे और उनके कानों की फड़फड़ाहट सभी को आनन्दित करती थी, घोड़े तेज चलने वाले थे, नरों को दहेज में नारियाँ मिली रथ और पालकियों का कहना ही क्या। जनक ने इतना दिया, जैसे वे बादल ही बन गये थे और खूब बरस रहे थे॥२६॥

लक्ष्मणादीनामूर्मिलादिभिः सह विवाहमाह—

पुत्रीत्रयं कुलभवमूर्मिलादिकं

त्रय्यै नृपोऽदित किल लक्ष्मणादये।

शोभामयानथ सकला वरोरुभिः

कामं, विधेः श्रुतिभिरिवाननेन्दवः॥२७॥

किलेति प्रसिद्धौ। नृपो जनकः। लक्ष्मणादये लक्ष्मण आदिः यस्यां सा तस्यै त्रय्यै त्रयाय लक्ष्मणादिभ्रातृत्रयायेत्यर्थः। अत्र रामसाहचर्येण प्रथमागतस्य लक्ष्मणस्यैव प्राधान्यं विवक्षितम्। कुलभवं गोत्रजातम् ऊर्मिलादिकं पुत्रीत्रयं कन्यात्रितयम् अदित दत्तवान्। लक्ष्मणाय ऊर्मिलां, भरताय माण्डवीं, शत्रुघ्नाय श्रुतकीर्तिमिति भावः। अथेत्यनन्तरं सकलाः सर्वे रामादयश्चत्वारः। वरोरुभिः चतसृभिः वधूभिः कामं पर्याप्तं शोभाम् अयान् प्रापुः। अत्रोपमामाह-विधेः ब्रह्मणः आननेन्दवः मुखचन्द्राः श्रुतिभिः वेदैरिव॥२७॥

अर्थ—जनक ने अपने कुल में उत्पन्न उर्मिला, माण्डवी एवं श्रुतकीर्ति का विवाह लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ सम्पन्न किया। चारों राजकुमार इन राजकुमारियों के साथ ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे ब्रह्मा के चार मुख चार वेदों से शोभित हो रहे हों॥२७॥

सीतायाः प्रस्थापनमाह—

तुष्यन्त्यपि प्रियदुहितुर्गमेन सा

रक्षन्त्यलं धृतिमपि दुर्मनीकृता।

स्तन्यं पयोऽक्षिजमपि मुञ्चती चिरा-

दाश्वास्य तां व्यसृजदुदश्रुमम्बिका॥२८॥

प्रियदुहितुः सीतायाः गमेन प्रस्थानेन "प्रस्थानं गमनं गमः" इत्यमरः। तुष्यन्ती प्रसीदन्ती अपि। चिरप्रार्थ्यमानस्य कन्याया अनुरूपवराऽनुगमनस्याऽद्य दृष्टत्वादिति भावः। धृतिं धैर्यम् अलम् अत्यर्थं रक्षन्ती अपि (प्रियदुहितृगमेन) दुर्मनीकृता विमनीकृता दुर्मनसश्च्वौ "अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च" इति सलोपः। स्तन्यं स्तने भवं "शरीरावयवाद्यत्" इति यत्। अपि तथा अक्षिजं नेत्रजं पयः दुग्धं जलं च। स्तन्यं पयो दुग्धं (स्नेहेन) नेत्रजं पयो जलं विरह-कातर्येणेति भावः। मुञ्चती त्यजन्ती अम्बा एव अम्बिका माता उदश्रुम् उद्गताश्रुजलां तां प्रियदुहितरम् आश्वास्य धीरयित्वा। चिराद् बहुकालाद् व्यसृजत् प्रस्थापयामास॥२८॥

अर्थ—सीता की विदाई का वर्णन : मनचाहा सुयोग्य वर पाने पर सन्तुष्ट होती हुई भी धीरज की रक्षा करने वाली, माँ का मन सीता की विदाई से उदास हो गया। स्तनों से (वात्सल्याधिक्य से) दूध और आँखों से आँसू बहने लगे और बहुत देर के बाद सीता को धीरज बाँधते हुए—उसे छोड़ सकी॥२८॥

राजाऽवदत् स्वविरहकातरां सुतां

जानीहि भो दशरथमेव मां सदा।

दक्षे ! तथा श्वशुरवधूं स्वमातरं

शर्माऽस्तु ते हृदि धर राममीश्वरम् ॥२९॥

राजा जनकः। स्वस्य आत्मनो विरहेण कातरां दीनां सुतां पुत्रीम् अवदत्। भो दक्षे चतुरे ! दशरथं माम् एव सदा जानीहि विद्धि। तथां श्वशुरवधूं कौशल्यां स्वमातरं (जानीहि)। ते तुभ्यं शर्म सुखं "चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः" इति चतुर्थी। अस्तु। 'शर्माऽस्तु ते' इति वाक्यस्यान्तःपात उत्तरस्य समर्थनाय ज्ञेयः। तथाहि-रामं स्वभर्तारमिति भावः। ईश्वरं परमेश्वरं हृदि धर मनसि निर्णयेत्यर्थः ॥२९॥

अर्थ—अपनी जुदाई से अधीर सीता को राजा जनक ने कहा, बेटी ! तुम अपने श्वसुर को मेरी तरह जानना, अब सासू ही तुम्हारी माँ की जगह है। अपने हृदय में सदा राम को (पतिदेव को) आनन्द देने वाला समझकर धारण करना ॥२९॥

रम्योद्धुरोऽथ गमनवाद्य-वादनोत्-

थः सज्जितानिव विदधद् वरानुगान्।

स्वर्गेऽभितो वदितुमिव प्रियं ख-दि-

गंशान् समानविरतमानशे ध्वनिः ॥३०॥

अथेत्यनन्तरं रम्यश्चासौ उद्धुरः तीव्र इति रम्योद्धुरः। वरानुगान् जन्यान् सज्जितान् संनद्धान्। विदधत् कुर्वन्निव। गमनवाद्यं प्रस्थानवाद्यं भेर्यादि तदुत्थः ध्वनिः शब्दः। स्वर्गे (तथा अभितः सर्वतः "अभितः शीघ्र-साकल्य-संमुखोभयतोऽन्तिके" इति मेदिनी। प्रियं सीतारामविवाहस्य निर्विघ्नसम्पन्नतारूपं प्रीतिकरं वृत्तं वदितुं सूचयितुमिव। समान् सर्वान् खदिगंशान् खम् आकाशश्च दिशश्चेति खदिशः तेषाम् अंशान् भागान् आकाशदिग्विभागानित्यर्थः। अविरतम् अनारतम् आनशे व्याप। "अश्नोतेश्च" इति नुट् ॥३०॥

अर्थ—अब बारात प्रस्थान के बाजे मधुरता एवं तीव्रता लिये बज उठे। वे सब बारातियों को प्रस्थान के लिये तैयार होने की सूचना दे रहे थे। स्वर्ग में, आकाश में और सभी दिशाओं में बाजों की मंगलध्वनि बज उठी। जो राम-सीता के विवाह के निर्विघ्न समापन होने की सूचना दे रही थी ॥३०॥

जन्यव्रजाऽनुचरितराममन्वितां

गावोऽपि तां जनकसुतां प्रतस्थुषीम्।

मन्दं ततो द्रुतगति दूरमन्वयान्

विज्ञायते पशुभिरपि प्रियादरः ॥३१॥

गावः धेनवोऽपि। जन्यव्रजेन जन्यसमूहेन अनुचरितः अनुगतो यो रामस्तम् अन्विताम् अनुगतां प्रतस्थुषीं प्रस्थितवतीम्। स्थाधातोः क्वसौ उगितश्चेति ङीपि "वसोः संप्रसारणम्" तां जनकसुतां (प्राक्) मन्दं शनैः। ततः द्रुतगति शीघ्रगमनं यथा स्यात्तथा। दूरम् अन्वयान् अन्वगमन्। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-पशुभिः अपि प्रियस्य स्ववल्लभस्य आदरः संमाननं विज्ञायते बुध्यते ॥३१॥

अर्थ—राम के पीछे-पीछे बारात रवाना हुई। गाएँ भी राम से युक्त सीता की तलाश में पीछे-पीछे आई। सीताजी के पीछे धीरे-धीरे चलीं फिर तेजी से बढ़ीं। पशु भी अपने प्रिय के प्रति अपना समादर प्रकट करते हैं ॥३१॥

लब्धे नृपौ पुर उपशल्य एयतुः

पन्थानमीप्सितमनुयाप्य कौशिकम्।

सुश्लाघया कथमपि मानयन्नथ

तं मैथिलं दशरथराड् न्यवर्तयत् ॥३२॥

पुरः मिथिला नगर्याः। उपशल्ये परिसरे। लब्धे आगते सति नृपौ दशरथजनकौ कौशिकं विश्वामित्रम् ईप्सितं जिगमिषितं पन्थानं मार्गम् अनुयाप्य अनुगमनेन

प्रापय्य। एयतुः आजग्मतुः। अथ इत्यनन्तरं सुश्लाघया सम्यक् प्रशंसया। मानयन् संमानयन्। दशरथराट् दशरथनृपः। तं मैथिलं जनकम्। कथमपि कथंचित् अनिच्छन्तमपि कृच्छ्रेणेत्यर्थः। न्यवर्तयत् निवर्तितवान्॥३२॥

अर्थ—जनकपुरी के सीमान्त तक राजा जनक, दशरथ और विश्वामित्र पहुँचे। दशरथ और जनक ने विश्वामित्र को अपने अभीष्ट मार्ग पर पहुँचाया। दशरथ ने जनक की बहुत प्रशंसा की और उनके न चाहने पर भी उनसे विदा लेकर बारात के साथ अयोध्या के मार्ग पर चल पड़े और जनकादि लौट गये॥३२॥

अथ त्रिभिः परशुरामसमागमनं वर्णयति—

गत्वा मनाग् मनुजपतिः स भासुरं
तेजोभरं समुपसरन्तमैक्षत।
तुच्छेतरप्रकृतिरतर्कयत्तरां
तस्मिन् मुहुः किमिदमिति स्वचेतसि॥३३॥

स मनुजपतिर्दशरथः। मनाक् किंचिद्। गत्वा समुपसरन्तं समीपमागच्छन्तं भासुरं दीप्तिशीलं "भञ्जभासमिदो घुरच्" इति घुरच्। तेजोभरं तेजोऽतिशयम् ऐक्षत अपश्यत्। तुच्छेतरा उदारा प्रकृतिः स्वभावो यस्य स (मनुजपतिः) तस्मिन् तद्विषये। किम् इदम् इति। स्वचेतसि स्वमनसि। मुहुः पुनः पुनः। अतर्कयत्तरां प्रकर्षेण तर्कितवान्। "तिङश्चे" ति तरपि "किमेत्तिङव्यय०" इत्यादिना आम्॥३३॥

अर्थ—तीन श्लोकों में परशुराम के आगमन का वर्णन : मनुजपति दशरथ थोड़ी दूर ही गये थे कि उन्हें पास में आती हुई एक तेजोराशि दिख पड़ी। उदार स्वभाव वाले राजा ने विचारा—यह क्या है ? बार-बार अपने मन में तर्क-वितर्क करते रहे॥३३॥

मिन्ना द्युतिर्न च न चलेति नो तडिद्,
भव्याकृतिर्नहि यत एष, नो शशी।
रथ्या रथोऽपि च नहि, नायमर्यमा,
तोषो न मे मनसि, शिखी तु धूमवान्॥३४॥

वर्तेत नो हरिरपि, नो चतुर्भुजः
शिष्टो विधिः किल नहि, नो चतुर्मुखः।
ठस्संभवेदपि नहि, न त्रिलोचनः
प्रत्यक्षमाः ! परशुधरोऽस्ति भार्गवः॥३५॥

द्युतिः कान्तिः न मिन्ना स्निग्धा। "आदितश्च" इति इडभावः। न च चला क्षणिका इति हेतोः नो तडित् विद्युन्नेत्यर्थः। यत् एष (तेजोभरः) भव्याकृतिः सौम्याकारो न, अतः शशी चन्द्रो न। यद्वा भव्या सौम्या आकृतिराकारो नेति व्यस्तं पदम्, तत एष इति शशिनो विशेषणं व्याख्येयम्। रथ्याः रथवाहिनोऽश्वाः। "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इति यत्। 'रथ्यो वोढा रथस्य यः' इत्यमरः। अपि च रथो नहि, अतः अयं अर्यमा सूर्यो न। मे मनसि तोषः संतोषो न, यतः शिखी अग्निस्तु धूमवान् भवति। अतः तेन मनो न संतुष्यतीति भावः। हरिर्विष्णुरपि नो वर्तेत भवेत्। संभावनायां लिङ्। यतः चतुर्भुजः बाहुचतुष्टयवान् नो। किलेति संभाव्ये। शिष्टः आप्तस्वरूपः विधिर्ब्रह्मापि नहि यतोऽयं चतुर्मुखो नो। ठः महेश्वरः "ठो महेशः समाख्यातः" इत्येकाक्षरः। अपि न संभवेत्, यतः त्रिलोचनः त्रिनेत्रः न। आः इति दुःखसूचकम्। प्रत्यक्षं साक्षात् परशुधरः भार्गवः परशुरामोऽस्ति परशुधरत्वादिति भावः। सोऽयं संदेहालंकारः। स च निश्चयान्तः। तल्लक्षणं तु "संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा॥" इति॥३४-३५॥

अर्थ—यह कान्ति स्निग्ध नहीं है, तो क्या तड़ित् है ? तड़ित् भी नहीं हो सकती, तड़ित् चंचल (क्षणिक) होती है यह तो लगातार आ रही है। यह

सौम्याकार नहीं है, अतः चन्द्र भी नहीं है। इसके अश्व जुते हुए नहीं है, अतः सूर्य भी नहीं है। मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हो रहा है, अधीर है। क्या यह अग्नि है, नहीं अग्नि तो धूमध्वज होती है, इसके धुवां नहीं। फिर है तो क्या–कुछ सूझ नहीं पड़ता॥३४॥

अर्थ—तो क्या हरि है ? नहीं, वे तो चतुर्भुज होते हैं। क्या यह ब्रह्मा हैं ? नहीं, ब्रह्मा तो चार मुखवाले होते हैं तो क्या शिव हैं ? नहीं, शिव तो त्रिलोचन हैं। (इतने में वह ज्योति पास आने पर स्पष्ट होती गई) और कह उठे–हाय ! ये तो भार्गव परशुधर-परशुराम है॥३५॥

विशेष—इसमें सन्देह अलङ्कार है। कवि प्रतिभा से उत्पन्न कुछ को कुछ समझना और निश्चय न कर सकना शुद्ध सन्देह अलङ्कार है। यह तीसरे प्रकार का सन्देह है–जिसमें निश्चय तक पहुँचा गया है। (१) शुद्धसन्देह, (२) निश्चयगर्भ और (३) निश्चयान्त॥३५॥

अथैकविंशत्या पद्यैः परशुरामप्रसङ्गं वर्णयति—

मुक्त्वा रथा 'द्यज़सुत एष वन्दते'
खैर्विह्वलैरिति वदतोऽपि भूपतेः।
द्वित्राणि यान् सपदि पदानि भार्गवो 'ऽ-
जैः संलपेत् किमु हरि' रित्युपैक्षत॥३६॥

रथादि रथमुख्यानि राजचिह्नानि। मुक्त्वा त्यक्त्वा। 'एषः अयम्। अजस्य तदाख्यस्य महाराजस्य सुतः पुत्रः। दशरथ इत्यर्थः। वन्दते प्रणमति। विनयाधिक्यं दर्शयितुं पितुर्नाम्नाऽऽत्मानं बोधयन्नभिवादितवानिति ज्ञेयम्। इति' विह्वलैर्व्याकुलैः। खैः इन्द्रियैः। "इन्द्रियेऽपि खम्" इत्यमरः। उपलक्षणे तृतीया। वदतोऽपि भूपतेर्दशरथस्य "षष्ठी चानादरे" इति षष्ठी। सपदि शीघ्रं द्वित्राणि द्वे वा त्रीणि द्वित्राणि "संख्ययाऽव्यया०" इत्यादिना वा-(संशया) र्थे बहुव्रीहिसमासे "बहुव्रीहौ संख्येये०" इत्यादिना डच्। पदानि पादन्यासान्। यान् गच्छन्। भार्गवः परशुरामः "किमु किं हरिः सिंहः विष्णुरिति ध्वन्यते। अजैः छागैः। एतेन 'अज-सुत' इति राजोक्तस्याऽनादरो दर्शितः। (सह) संलपेत् मिथो भाषेत।" इति उपैक्षत उपेक्षां कृतवान् भूपतिमिति भावः। क्षत्रमदोपसंहारी विष्णोरवतारोऽयं भार्गवः अजस्यापत्यैः "अजैः[१]" किं संलपेदित्यपि द्योत्यते॥३६॥

अर्थ—नीचे २१ पदों में परशुराम प्रसंग : राजा दशरथ ने रथ से उतरकर कहा–मैं अज पुत्र दशरथ आपको प्रणाम करता हूँ। यह कहते-कहते उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई। परशुराम ने दो-तीन पैंड चलकर उपेक्षा करते हुए कहा, 'अच्छा अज (बकरे) का पुत्र मुझ हरि (सिंह) से बात करना चाहता है, क्या सिंह अज (बकरे) के पुत्र से बात कर सकता है?॥३६॥

निध्याय तं क्षतहरकार्मुकं क्रुधा
युज्येत का प्रतिकृतिरित्थमुन्नयन्।
यज्ञोपवीतमपि कुठार-कत्थया
मान्द्यं नयन् परशुधरोऽवदन् मदात्॥३७॥

तं क्षतहरकार्मुकं भग्नशिवचापं रामं क्रुधा रोषेण निध्याय दृष्ट्वा "निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्" इत्यमरः। का प्रतिकृतिः पूजा इत्यान्त[२]रिकोऽर्थः। का प्रतिकृतिः प्रतीकारः इति बाह्यो[३]ऽर्थः। "प्रतिकृतिस्तु पूजने। प्रतिमायां प्रतीकारे" इति हैमः। युज्येत योग्याऽस्ति। इत्थं एवं उन्नयन् तर्कयन्। कुठारस्य परशोः कत्थया श्लाघया। यज्ञोपवीतं ब्रह्मसूत्रमपि। मान्द्यं मन्दताम्। नयन् प्रापयन्। ब्राह्मणेन हि यज्ञोपवी-

---

१. लक्षणयाऽपत्यार्थो गृह्यते "रघूणामन्वयं वक्ष्ये" इतिवत्।
२. भगवद्विषयकः।
३. नरशरीरविषयकः॥

तत्प्रशंसनमुचितं न तु कुठार-प्रशंसनमित्यत एदुक्तम्। परशुधरः भार्गवः। मदाद् गर्वाद्। अवदत्॥३७॥

अर्थ—शिव धनुष को तोड़ने वाले राम की ओर परशुराम ने क्रोध से देखा और यह तर्क किया– इसका क्या प्रतिकार किया जाय ! परशुराम ने अपने ब्राह्मण होने के चिह्न यज्ञोपवीत की प्रशंसा में कुछ न कहकर उसे मन्दता प्रदान कर गर्व से कुठार की प्रशंसा में कहना शुरु किया॥३७॥

"नो मद्भयात् किल यदमर्शि केनचिद्
राम त्वयेशधनुरभञ्जि तन्मदात्।
ज्यारोपणावधि तु सहेत शैशवे
यद्भञ्जनं तदिति न बाहुजान्तकः॥३८॥

यत् किल मद्-भयात् केनचित् (वीरेण) नो अमर्शि अस्पर्शि। हे राम ! तद् ईश-धनुः शिव-कार्मुकं त्वया मदात् अभञ्जि भग्नम्। "भञ्जेश्च चिणि" इति वा नलोपः। बाहुजानां क्षत्रियाणाम् अन्तकः कालः अयं मद्रूपः परशुराम इत्यर्थः। शैशवे बाल्ये तवेति शेषः। ज्यारोपणावधि मौर्वीसमधिरोपणपर्यन्तं तु सहेत क्षमेत। यद् भञ्जनं द्विधा-करणं तदिति न सहेतेत्यर्थः। क्षत्रियान्तकस्य मे धनुषो ज्यारोपणान्तं कार्यं (तव) बाल्यहेतोः पुनरपि सह्यं परं भञ्जनं कदापि नेति तात्पर्यम्॥३८॥

अर्थ—'देखो, मेरे डर के मारे दूसरे राजाओं ने तो पिनाक को छूने तक की हिम्मत नहीं की और तूने तो उसे तोड़ डाला। धनुष पर तुम प्रत्यंचा चढ़ा देते, वहाँ तक मैं तुम्हें बालक जानकर सह लेता, पर क्षत्रियों का अन्त करने वाला मैं इसे तोड़ने को सह नहीं सकता॥३८॥

नैराजकं कृतममुना श्रुतं नहि ?
च्छद्मातिगं तदवनिदानमप्यहो।
रामाख्यया किमनुकरोषि राजबी-
ज्यंशोऽस्म्यहं द्विजनिकुलस्य पर्शुभृत्॥३९॥

अमुना अनेन मयेति यावत्। कृतं नैराजकं निःक्षत्रियत्वं "प्राणभृज्जाति०" इत्यादिना भावेऽञ्। नहि नो श्रुतम् ? इति काका कथनेन किमोऽप्रयोगेऽपि प्रश्नो व्यज्यते। अहो ! छद्मातिगं छलातीतं तत्प्रसिद्धम् अवनिदानं भूमिदानमपि। नहि श्रुतमित्यन्वीयते। राजबीजी राजवंश्यः त्वं रामाख्यया रामनाम्ना किम् अनुकरोषि अनुकरणविषयं करोषि मामिति शेषः। "अनुपराभ्यां कृञः" इति परस्मैपदमेव। यदहं पर्शुभृत् परशुधरः "कुठारस्तु परशुः पर्शुपर्श्वधौ।" इति हैमः। द्विजनिकुलस्य ब्राह्मणवंशस्य अंशः अस्मि। अतस्त्वं मां नानुकर्तुं कदापि शक्त इति भावः॥३९॥

अर्थ—'इसने निःक्षत्रिय धरती को बनाया है, क्या सुना नहीं ? यह तो प्रसिद्ध ही है कि मैंने पृथ्वी का निश्छल हो दान कर दिया। तू राजवंशी होकर मुझ द्विजवंशी के नाम परशुराम के 'राम' शब्द की नकल क्यों करता है?॥३९॥

मन्त्री धृतासन ऋषिरर्घ्यपाद्यवान्
हा पाहि देह्यभयमिति ब्रुवञ्जनः।
बद्धाञ्जलिस्फुरितलवङ्गपूगकै-
लः पार्थिवोऽपि च चकिता व्यलोकयन्॥४०॥

धृतासनः हस्तगृहीतासनः। मन्त्री राजामात्यः। अर्घ्यपाद्यवान् ऋषिर्वसिष्ठः। हा पाहि रक्ष, अभयं देहि इति ब्रुवन् जनः प्रजालोकः। बद्धो योऽञ्जलिः तत्र स्फुरिताः शोभिताः लवङ्गपूगकैलाः एलालवङ्गक्रमुकाः (संमानोपकरणद्रव्याणि) यस्य सः तथोक्तः। पार्थिवो दशरथोऽपि च। एते चकिताः भीताः सन्तः। व्यलोकयन् पश्यन्त आसन् तमिति शेषः। ते तदा तत्संमुखे न किमिपि कर्तुमशक्नुवन्निति भावः॥४०॥

अर्थ—मन्त्री हाथ में आसन लिये, वशिष्ठ ऋषि पूजा का अर्घ्य-पाद्य लाये, दशरथ हाथ जोड़ सम्मान के लिये इलायची, लौंग, सुपारी को लिये खड़े

घबराये (ताकते) रहे। लोग कहने लगे 'रक्षा करें अभयदान दें' पर उनके सामने किसी से कुछ करते न बना ॥४०॥

स प्राग् नमन्निति विनिशम्य राघवो
जय्यं विदन्नपि तमजेयमुन्नयन्।
गात्रं दिधक्षुमिव रुडग्निमन्तयन्
मन्दस्मितैरमृतरसैरिवागदीत् ॥४१॥

स राघवः रामः प्राक् एतत्कथनात्पूर्वमेव। नमन् प्रणमन्। इति विनिशम्य श्रुत्वा। तं परशुरामम्। जय्यं जेतुं शक्यम्। विदन् जानन्नपि। अजेयं न जेतुं योग्यम्। उन्नयन् तर्कयन्। "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" अन्यत्र योग्यार्थे क्षेयः जेयः। गात्रं शरीरं परशुरामस्येति भावः। दिधक्षुं दग्धुमिच्छुमिव। रुडग्निं क्रोधाग्निम्। अमृतरसैः सुधारसैरिव मन्दस्मितैः। अन्तयन् निर्वापयन् सन् अगदीत् उवाच ॥४१॥

अर्थ—राम ने यह सुनकर भी कुछ कहने के पहले प्रणाम किया। 'मैं जीत सकता हूँ, यह जानकर भी–ये ब्राह्मण होने के कारण जीतने योग्य नहीं है, ऐसा विचार कर अपनी अमृतमयी मन्द मुस्कान से परशुराम की क्रोधाग्नि को जो उनके शरीर को जलाये जा रही थी शान्त करते हुए कहना शुरु किया ॥४१॥

वन्द्योऽसि नो भृगुपतिवंशभूषण
नंनम्यते पुनरिति ते पदद्वयम्।
वीरोचितं यतितुमहं नहि क्षमो
रोषोद्धुरे परशुधरेऽपि भार्गवे ॥४२॥

हे भृगुपतिवंशभूषण ! नोऽस्माकं क्षत्रियाणां त्वं वन्द्यः प्रणम्योऽसि। इति कारणात् ते पदद्वयं चरणयुगलं पुनः नंनम्यते अतिशयेन प्रणम्यते। मयेति शेषः। अहं रोषोद्धुरे क्रोधभीषणे। परशुधरे धृतकुठारेऽपि। भार्गवे त्वयीत्यर्थः। वीरोचितं वीरयोग्यं यतितुं प्रयतितुं नहि क्षमः समर्थः। क्षत्रियाणामस्माकं क्रुद्धे धृतशस्त्रेऽपि ब्रह्मकुले वीरतादर्शनं निन्दास्पदमिति भावः ॥४२॥

अर्थ—हे भृगुवंश के भूषण ! आप हमारे लिये पूजनीय हैं। मैं आपके चरणद्वय में बार-बार प्रणाम करता हूँ। आप क्रोध से भीषण हो रहे हैं, परशु उठाये हुए भी है, फिर मैं वीरोचित व्यवहार करने में अपने को असमर्थ मानता हूँ ॥४२॥

विशेष—ब्राह्मणों के प्रति शौर्यप्रदर्शन करना हमारे लिये वर्ज्य है ॥४२॥

रामो भवान् परशुयुतोऽस्मि केवलो
मत्तोऽधिको द्विज ऋषिरर्पको जयी।
पादाश्रितः किमनुकरोतु किंकरो
दध्यात् प्रभां न पदमणिः-शिरोमणेः ॥४३॥

भवान् परशुयुतो रामः। अस्मि अहं तु केवलः (रामः)। अत्र 'अस्मी' त्यव्ययमहमर्थे "त्वामस्मि वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति" इत्यादिवत्। अत एव मत्तो मदपेक्षया अधिकः विशिष्टः। यतः द्विजः ब्राह्मणः, तत्रापि ऋषिः, तत्रापि अर्पको दानी, तत्रापि जयी विजयशाली। पादाश्रितः चरणसेवकः किंकरः परिचारकः किम् अनुकरोतु अनुकुर्यात्। भवन्तमिति शेषः। अत्र दृष्टान्तयति-पदमणिः चरणस्थानीयं रत्नं शिरोमणेः चूडारत्नस्य प्रभां कान्तिं न दध्याद् धारयेत् ॥४३॥

अर्थ—आप तो परशुराम हैं—मैं केवल राम हूँ। कहाँ आप, कहाँ मैं ! आप हैं ब्राह्मण, फिर उससे बढ़कर ऋषि, दानी भी और विजयी भी। मैं आपके चरणों का सेवक आपकी नकल क्या करूँगा। क्या पदमणि कभी शिरोमणि की प्रभा को पा सकती है? ॥४३॥

प्रस्तावतो व्यवसितवत्सु राजसु

साध्यं मयाऽऽचरितमभाजि यद्धनुः।

दर्पस्तु स, प्रथमत एव चेष्ट्यते

कः शक्तिमान् क्रमिकपणं ह्युपेक्षते ॥४४॥

प्रस्तावतः यो धनुराततज्यं कुर्यात् स सीतामुद्वोढुमर्हेदिति प्रस्तावात्। राजसु व्यवसितवत्सु उद्योगं कृतवत्सु सत्सु। मया साध्यं साधयितुं योग्यमेव आचरितं कृतं, यद् धनुः अभाजि भग्नम्। 'साध्यम्, इत्यस्य शक्त्यर्थव्याख्यानेन नमनयत्ने क्रियमाणे शक्तिप्रकर्षयोगेन भञ्जनं स्वयमेव जातमिति सिध्यति। अतः साधयितुं शक्यं साध्यमित्यर्थोऽपि ध्वन्यते। अतः परं परशुरामेण यत् प्रागुक्तं 'मदात् अभञ्जि' तदुत्तरमाह-दर्पो मदस्तु सः गण्यते इति शेषः। (यत्) प्रथमतः पूर्वतः एव प्रस्तावादिकमनपेक्ष्यैव इत्यर्थः। चेष्ट्यते चेष्टा क्रियते। प्रसङ्गं विना कार्यप्रवृत्तेर्दर्प इति कथ्यते इति भावः। एतदेव अर्थान्तरेण द्रढयति-हि यतः कः शक्तिमान् सामर्थ्यवान्। क्रमिकपणं क्रमागतं ग्लहं साध्यसाधनारूपम्। उपेक्षते उपेक्षाविषयं करोति कोऽपि नेत्यर्थः ॥४४॥

अर्थ—जो धनुष पर प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ावेगा वही सीता के साथ विवाह करेगा, इस प्रस्ताव से अन्य राजाओं के निष्फल रहने पर मैंने साध्य को सिद्ध करने के लिये उचित (योग्य) ही आचरण किया कि धनुष को भंग कर दिया। आपने कहा कि मद (दर्प) से यह कार्य किया—इसका उत्तर यह है कि मेरे द्वारा इसके नमन-यत्न करने पर यह शक्ति प्रकर्ष के योग से स्वयं ही टूट गया; और मद तो उसे कहते हैं कि प्रस्ताव के पूर्व ही चेष्टा की जाती है, मैंने तो क्रमागत पण को पूर्ण किया है, क्योंकि कौन शक्तिमान् साध्य की उपेक्षा करता है? अर्थात् कोई नहीं ॥४४॥

गर्जन्नथो हरिरिव भार्गवोऽवदत्

त्वादृग् नमन् नमयति मां धनूमिव।

तुष्टोऽस्मि नेदृशनमनेन, मन्दितः,

सम्पूजितो दहन इवार्घ्यवारिणा ॥४५॥

अथो इत्यनन्तरम्। हरिः सिंह इव गर्जन्। भार्गवः परशुरामोऽवदत्-त्वादृग् त्वत्समो जनः नमन् नम्रीभवन् सन् मां धनूमिव चापमिव "कृषिचमित-निधनि० (उ. १-८०)" इत्यूप्रत्ययान्तोऽपि धनूशब्दः। "स्थावरोऽपि धनुर्गुणी। शरावापो धनूः स्त्री स्यात् तृणता त्रिणताऽपि च।" इति त्रिकाण्डशेषः। नमयति नीचैः करोति। एतदेव 'प्रकारान्तरेण कथयति-अर्घ्यवारिणा अर्घ्यजलेन। संपूजितः सम्यक्प्रकारेण अर्चितः। दहनः अग्निरिव। ईदृशेन नम्नेन अहं तुष्टः प्रसन्नो नाऽस्मि। (किन्तु) मन्दितः मन्दीकृतोऽस्मि। अग्निर्हि अर्घ्यजलेन संपूजितो निर्वापणेन मन्दतां गच्छति न तु तुष्यति तथैवाहमस्मीति भावः ॥४५॥

अर्थ—भार्गव सिंह की तरह गर्जन करते हुए कहने लगे। राम तुम्हारी इन नम्रता भरी बातों ने मुझे धनुष की तरह झुका दिया। अग्नि की अर्घ्यजल से पूजा की जाती है तो वह मन्द हो जाता है; पर, बुझता नहीं। तुम्हारी इन बातों से मेरी क्रोधाग्नि मन्द तो हुई है; पर, वह सन्तुष्ट नहीं है ॥४५॥

मत्वेति लक्ष्मण 'उचितं हि बाडवो

हात्माऽस्य यद् वचनरसैर्न शाम्यति'।

माधुर्यवद् बदरमिवाह निष्ठुरं

नंनन्ति लक्ष्मण इति रेणुकात्मज ॥४६॥

(अयं) हि बाडवो ब्राह्मणः। वाडवाग्निश्च उचितं योग्यमस्तीति शेषः। हा कष्टम्। यद् यतः कारणाद्। अस्य आत्मा वचनरसैः रामोक्तैः रसवद्भिर्वचनैरित्यर्थः। न शाम्यति नो शान्तो भवति। रसैः

जलैश्च वाडवाग्निर्न शाम्यति किन्तु उद्दीप्यते "रसो गन्धरसे जले" इत्यादि मेदिनी। इति एवं लक्ष्मणो मत्वा ज्ञात्वा। बदरमिव बदरीफलमिव माधुर्यवद् मधुरम्। निष्ठुरं कठोरं च। बहिर्मधुरम् अन्तः कठोरं चेति भावः। हे रेणुकात्मज ! रेणुकापुत्र परशुराम ! रे अणुकात्मज! अणुकस्य तुच्छस्य पुत्र, यद्वा रेणुकायाः धूल्याः पुत्र इति च ध्वन्यते। ईदृशं चामन्त्रणं प्रागुक्तस्य 'अजसुतः' इति दशरथोक्तस्य वन्दनवचनस्याऽऽनादरणेन तादृशमेव प्रतिवचनस्वरूपं ज्ञेयम्। लक्ष्मणो नंनन्ति अतिशयेन प्रणमति इति आह उवाच। 'आहे' त्यव्ययम् उवाचेत्यर्थे। "अथाह वर्णी विदितो महेश्वरः" इति कुमारः ॥४६॥

अर्थ—लक्ष्मण ने विचारा। परशुराम तो वाडवाग्नि सदृश है, वह राम के जल जैसे शीतल वचनों से शान्त कैसे हो सकती है। शान्त होने के स्थान पर तो वह भड़क उठेगी। अब लक्ष्मण ने बेर की तरह ऊपर से मधुर पर भीतर से कठोर वचनों का प्रयोग करते हुए कहा, 'हे रेणुकात्मज!' मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। इस सम्बन्ध के द्वारा परशुराम ने जब दशरथ द्वारा प्रयुक्त राजा 'अज' के नाम को 'अज' बकरे के रूप में लेकर उपहास किया, उसी का उत्तर मानों लक्ष्मण दे रहे हैं–'हे रेणु से (धूल से) पैदा होने वाले।' कटूक्ति का श्लेष से उत्तर दिया गया है ॥४६॥

राड्भिः समैर्धृतमपि तत् सृतं न तद्
मंमंसि यन्न धनुरमर्शि मद्भयात्।
सम्यग्-यशो-जनकसुताप्ति-संमुखे
त्यक्त्वा भवद्भयमखिलान् न्यलीयत ॥४७॥

यत् त्वं मंमंसि पुनः पुनरतिशयेन वा मन्यसे। मद्भयात् धनुः न अमर्शि स्पृष्टं केनापीति शेषः। तत् समैः सर्वैः राड्भिः नृपैः धृतं स्पृष्टमपि तत् (धनुः) न सृतं स्थानान्न चलितम्। सम्यग् मनोहरं यद् यशः तथा जनकसुतायाः सीतायाः आप्तिः लाभः तयोः संमुखे। भवद्भयं त्वद्भयम्। अखिलान् सर्वान् त्यक्त्वा विहाय। न्यलीयत निलीनम्। सुयशः सीतालाभेच्छुषु राजसु त्वद्भयं नांशतोऽपि दृश्यते स्मेति भावः ॥४७॥

अर्थ—आप जो यह मानते हैं कि मेरे भय से राजाओं ने धनुष को छुआ तक नहीं; ऐसी बात नहीं। राजाओं ने उसे उठाने की कोशिश की, पर, वह तो सरकता तक नहीं था। उनके सामने यश था और सीता प्राप्ति का लोभ था–आपके भय का तो नाम तक नहीं था ॥४७॥

पक्षे गते त्वमुपगतो, न तद् धनू
रामाह्वये यदि ममताऽस्ति, गृह्यताम्।
क्रत्वादिकं, न तु धनुरादि भूसुरो
मंमन्यते बहु मनसीति विश्रुतम् ॥४८॥

पक्षे पञ्चदशदिनात्मके समये। गते व्यतीते सति। त्वम् उपगतः प्राप्तः। तद् धनुः न अस्तीति शेषः। यदि रामाह्वये राम इति नाम्नि ममता ममत्वबुद्धिः अस्ति। (तर्हि) गृह्यताम्। भूसुरो ब्राह्मणः। मनसि क्रत्वादिकं यज्ञादिकं बहु मंमन्यते अतिशयेन मन्यते आद्रियते इत्यर्थः। न तु धनुरादि चापादिकम्। इति इत्थं विश्रुतं पारम्पर्येण आकर्णितम् ॥४८॥

अर्थ—धनुष को टूटे पन्द्रह दिन होने आये। अब तो उस धनुष का पता तक नहीं। 'राम' का नाम मेरे भ्राता के साथ जुड़ा है तो आप ले लीजिए। इसके लिये बखेड़ा क्या ? आप तो ब्राह्मण हैं, आप की महिमा तो यज्ञादि में है; न कि धनुष आदि में, यह हमने परम्परा से सुना है ॥४८॥

अज्ञं क्षमां नय शिशुमित्यृषीश्वरो
याचेऽभयं भवत इति क्षितीश्वरः।
चक्षुःसुधा द्विजपतितः स्रवन्तु त-
द्भ्रातेति तं प्रकुपितमन्वनेषत ॥४९॥

अज्ञं व्यवहारानभिज्ञं शिशुं बालं क्षमां नय क्षमस्वेति ऋषीश्वरो वसिष्ठः। भवतः त्वत्तः अभयं याचे प्रार्थये इति क्षितीश्वरो दशरथः। द्विजपतितः ब्राह्मण-श्रेष्ठात् चन्द्राच्च चक्षुःसुधा दृष्टिमयामृतानि स्रवन्तु वर्षन्तु इति तद्भ्राता तस्य लक्ष्मणस्य भ्राता भरतः। रामेण तु अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् शत्रुघ्नस्य च कनिष्ठत्वे-नानधिकारित्वाद् भ्रातृशब्देनात्र भरतस्यैव ग्रहणम्। तं प्रकुपितम् अतिक्रुद्धं परशुरामम् अन्वनेषत अनुनीतवन्तः ॥४९॥

अर्थ—परशुराम से ऋषीश्वर वसिष्ठ ने कहा, 'यह बच्चा है, ना समझ है, इसे आप क्षमा करें।' दशरथ ने कहा; 'आप अभय प्रदान करें, यही मेरी याचना है। भरत ने कहा, 'आप तो द्विजपति हैं, (चन्द्रमा हैं) आपकी आँखों से अमृत झरना चाहिये। यह क्रोध की आग नहीं ॥४९॥

विशेष—यह भ्राता शब्द भरत के लिये प्रयुक्त है। द्विजपति में श्लेष है, ब्राह्मण और चन्द्रमा ॥४९॥

तत्तद्वचांस्यवगणयन् स कोपभू-

रंसान्निजात् परशुमवाञ्चयत् करे।

रामस्तदा पुर उपसृत्य सादर-

मब्रूत, मां कथय निजापराधिनम् ॥५०॥

तत्तद्वचांसि तानि तानि वचनानि। अवगणंयन् अनाद्रियमाणः। स कोपभूः क्रोधस्थानं परशुरामः। निजात् अंसात् स्कन्धात्। परशुं करे अवाञ्चयत् अवतारितवान्। तदा रामः। पुरोऽग्रतः। उपसृत्य सादरम् अब्रूत अवदत् निजापराधिनं स्वापराधकारिणं मां कथय वद ॥५०॥

अर्थ—क्रोधभूमि परशुराम ने इन बातों की अवहेलना की और अपने कन्धे से उतार कर परशु हाथ में ले लिया। राम आगे बढ़े और कहने लगे—मैं हूँ आपका अपराधी—कहिये, क्या कहते हैं ॥५०॥

मान्योऽसि भोः ! पितुरपि के वयं पुन-

र्यद् वक्त्ययं तदतिकृपाबलेन वः।

भाषा शिशोर्लघुरपि सह्यतां गुरो,

वन्दारवे नहि किल कोऽपि कुप्यति ॥५१॥

भोः ! पितुः जनकस्याऽपि त्वं मान्यः पूज्योऽसि। वयं पुनः के। अस्माकं तत्पुत्राणां तु मान्यत्वे को नाम संशय इति भावः। यत् अयं लक्ष्मणः वक्ति कथयति। तत् वः युष्माकं मुनिवराणामिति भावः। अतिकृपाबलेन परमानुग्रहप्रभावेण वक्तीत्यनुकृष्यते। महताम् अतिकृपाबलमत्ता एव बाला उच्चावचं वदन्तीति भावः। हे गुरो ! शिशोर्बालस्य लघुः गौरवहीनाऽपि भाषा वाणी सह्यतां क्षम्यताम्। गुरवो हि गुरुं भारं वोढुं शक्ता भवन्ति तर्हि लघु तु सहेरन्नेवेति भावः। किलेत्यनुनये। कोऽपि वन्दारवे प्रणामकारिणे नहि कुप्यति क्रुध्यति। "क्रुधद्रुहेर्ष्ये"ति चतुर्थी ॥५१॥

अर्थ—आप तो हमारे पिताश्री द्वारा माननीय हैं, फिर उनके पुत्रों के द्वारा मान्य तो हैं ही। आपको मुनि समझ कर लक्ष्मण ने ऊँची-नीची बातें कह दी हैं। छोटे तो यों ही बोलते हैं, वे तो क्षम्य हैं। गुरुजन सहनशील होते हैं, उन्हें तो छोटों की ना समझी सहनी ही पड़ती है। इसी में गुरुजन का गौरव है। नियम है—कोई भी प्रणाम करने वाले पर कोप नहीं करता ॥५१॥

पुष्टार्थया रघुवरभाषया मुनि-

रस्तंगतक्रुदहिरिवेष्टगाथया।

कृच्छ्राद् वदन् 'पृथुक्तयाऽऽम्बरीषतोऽ-

तः सोदरात् प्लवस' इति व्यमुक्त तम् ॥५२॥

इष्टगाथया प्रियगेयपदेन। "गाथा श्लोके संस्कृतान्यभाषायां गेयवृत्तयोः।" इति मेदिनी। अहिः

सर्प इव। पुष्टार्थया समर्थितवाच्यया। रघुवरभाषया रामवाण्या। अस्तंगतक्रुद् शमितक्रोधः। मुनिः परशुरामः। 'त्वं पृथुकतया बालत्वेन आम्बरीषतः अम्बरीष-कुलोत्पन्नात्। कुलसंबन्धेन'तस्येद'मित्यण्। अतः अस्मात् सोदराद् भ्रातू रामात् (कारणात्) प्लवसे उच्छलसि' इति वदन् सन् कृच्छ्रात् कष्टेन तं लक्ष्मणं व्यमुक्त अत्यजत्। अम्बरीषो हि भगवतः परमभक्तोऽकारणक्रुद्धं दुर्वाससं भक्ति-चमत्कारमदर्शयत्। तत्कुलोत्पन्नो रामोऽपि तथा कर्तुं शक्नुयादत एव त्वं दृप्यसीति तात्पर्यम्। अथ च ''पृथुकौ चिपिटार्भकौ'' इति कोषात् पृथुकः चिपिटोऽपि अम्बरीषतो भ्राष्ट्रात् प्लवते उच्छलतीति ध्वन्यते ॥५२॥

अर्थ—राम की प्यारी गेय पदावली से (अर्थभरी वाणी) से परशुराम का क्रोधरूपी सर्प शान्त हो गया, जैसे कोई गारुड़ी सांप को मन्त्रों से वश में कर लेता है। परशुराम ने कहा–हे राम ! आप अम्बरीष कुल में उत्पन्न हुये हो, अम्बरीष ने दुर्वासा को भक्ति का चमत्कार दिखाया था अतः तुम्हारा यह भाई लक्ष्मण तुम्हारे कारण ही जो भाड़ में चिपिट की तरह उछल कूद कर रहा है, इसको मना करो, दूर हटाओ यह अपनी फड़फड़ाहट बन्द करे ॥५२॥

विशेष—यहाँ अम्बरीष (अम्बरीष राजा और भाड) पृथुक (बालक और चिपिट) यह दो अर्थ है अतः श्लेषोपमालङ्कार है ॥५२॥

त्वष्टा स्ववर्धकमिव पर्शुमाहित-

मेकान्तयन् स ऋषिरुवाद राघवम्।

वर्ण्येत किं गिरिशधनुर्ह्यनामि यद्

रामाधुना न्विदमजधन्व नम्यताम् ॥५३॥

त्वष्टा वर्धकी। स्वस्य वर्धकं वासिमिव। आहितं गृहीतं पर्शुं कुठारम्। एकान्तयन् एकान्तं कुर्वन् ''व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः'' इति नीतिसंदर्भः। स ऋषिः परशुरामः। राघवम् उवाद उवाच। यद् हि गिरिशधनुः शिवचापः अनामि नमितः। त्वयेति शेषः। किं वर्ण्येत प्रशस्येत ? हे राम ! नु वितर्के। अधुना इदानीम्। इदम् अजधन्व विष्णुधनुः ''अजा विष्णुहरच्छागाः'' इत्यमरः। नम्यतां नतीक्रियताम् ॥५३॥

अर्थ—जैसे बढ़ई अपने औजार बसूले को समेट लेता है उसी प्रकार परशुराम ने परशु को हटा लिया। एकान्त में ले जाकर कहा। तुमने शिव चाप को झुकाया है, इसमें कोई प्रशंसा नहीं, इस विष्णु-धनु को झुका दो ॥५३॥

जाग्रन्महाजगरमिवाथ राघवो

धर्मप्रियः सपदि चकर्ष तद् धनुः।

मन्दीभवन्महसमुवाच तं च, भो

ज्ञ प्रोच्यतां कथमनुयाम्यमोघताम् ॥५४॥

अथ धर्मप्रियो राघवः। जाग्रतं महान्तम् अजगरमिव तद् वैष्णवं धनुः। सपदि सद्यः। चकर्ष आकृष्टवान्। तं च परशुरामं मन्दीभवन्महसं हीनीभवत्तेजसम्। रामस्य पूर्णविष्णुत्वपरिचयादिति भावः। उवाच—भो ज्ञ विद्वन् ! प्रोच्यतां कथ्यताम्। कथं केन प्रकारेण अमोघताम् अमोघत्वं विष्णुधनुष इति भावः। अनुयामि अनुसरामि अनुपालयामीत्यर्थः। विष्णुधनुषोऽमोघतारहस्यज्ञत्वेन परशुरामं प्रति 'ज्ञ' इत्यामन्त्रणं साकूतम् ॥५४॥

अर्थ—धर्मप्रिय राघव ने अजगर सदृश उस धनुष को शीघ्र ही खींच लिया–यानी उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। इससे परशुराम का तेज मन्द हो गया। राम ने कहा हे ज्ञ (सर्वविद्) आप कहिये, इस अमोघ वैष्णवधनु का क्या उपयोग किया जाय। अर्थात् इस विष्णु धनुष की अमोघता का किस प्रकार अनुपालन करूँ ॥५४॥

विशेष—यहाँ 'ज्ञ' का सम्बोधन साकूत-(साभिप्राय) है ॥५४॥

इत्थं द्विजः श्रुतिविषयं नयन्नयं
तिग्मत्विषाऽग्निरिव कृशोऽमुनाऽवदत्।
रामाऽमुना जहि मम लोकमर्जित-
मंशुद्युता रविरिव तेज ऐन्दवम् ॥५५॥

इत्थम् एवम्। श्रुतिविषयं कर्णगोचरं नयन् शृण्वन्नित्यर्थः। अयं द्विजः परशुरामः। तिग्मत्विषा सूर्येण अग्निरिव। अमुना रामेण कृशः कृशीकृतः "अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः" इति क्तान्तो निपातः। अवदत्। राम ! अमुना आततज्येन, धनुषा तल्लक्षितेन बाणेनेत्यर्थः। अर्जितम् उपार्जितं मम लोकं स्वर्गादिकं जहि नाशय। अत्रोपमिमीते-रविः सूर्यः, अंशुद्युता किरणकान्त्या ऐन्दवम् इन्दोरिदं चन्द्रसंबन्धीत्यर्थः। तेज इव ॥५५॥

अर्थ—परशुराम ने जब यह सुना तो वे जैसे सूर्य के सामने अग्नि का तेज फीका हो जाता है—वैसे निस्तेज हो गये और उन्होंने कहा, 'हे राम ! मेरे द्वारा अर्जित स्वर्गलोकादि को नष्ट कर दो।' जैसे सूर्य के तेज के सामने चाँद निस्तेज हो जाता है—वैसे ही परशुराम राम के सम्मुख मन्द लग रहे थे ॥५५॥

वन्द्ये तथा कृतवति तं विदन् विभुं
चोक्षं स्तुवन्नथ स मुनिः पदं ययौ।
ब्रह्मर्षयो रघुवरमभ्यवर्धयन्
वीत्वा भयं भृगुपतिमन्वगादिव ॥५६॥

वन्द्ये स्तुत्ये रामे इत्यर्थः। तथा तेन परशुरामोक्तेन प्रकारेण कृतवति सति। स मुनिः परशुरामः तं रामं विभुं व्यापकं विष्णुमित्यर्थः। विदन् जानन्। अथ पुनः। चोक्षं मनोहरं यथा स्यात् तथा। "चोक्षो गीते शुचौ दक्षे तथा तीक्ष्णमनोज्ञयोः" इति मेदिनी। स्तुवन् सन्। पदं स्थानं ययौ जगाम। ब्रह्मर्षयो रघुवरम् अभ्यवर्धयन् अभ्यनन्दन्। भयं वीत्वा अपगम्य आदादिकाद्वेतेः क्त्वा। भृगुपतिं परशुरामम्। अन्वगात् अन्वगमदिव। उत्प्रेक्षा ॥५६॥

अर्थ—वन्दनीय राम ने परशुराम के कथनानुसार किया यानि विष्णुधनुष से बाण चलाकर उनके द्वारा अर्जित स्वर्गलोकादि को नष्ट कर दिया। परशुराम ने उन्हें विष्णु समझा और वे मनोहर वाणी में राम की स्तुति कर अपने स्थान को लौट गये। ब्रह्मर्षियों ने राम का अभिनन्दन किया। भय मानो परशुराम के साथ ही पीछे-पीछे चला गया ॥५६॥

परशुरामे गते रामसंमानमाह—

रामं सुवैद्यमिव नाशितसंनिपातं
मोदान्निवारितमहाभयसंनिपातम्।
पित्रादयो गतगदा इव मानदृष्ट्याऽ-
पश्यंस्तथा सुमुनयस्त्वसमान-दृष्ट्या ॥५७॥

संनिपातः कफादित्रयस्य विजातीयवैषम्यरूप-त्रिदोषजो विकारः। स नाशितो येन तथाभूतं सुवैद्यमिव उत्तमचिकित्सकमिव। मोदाद् हर्षात् निवारितो महाभयस्य संनिपात उपस्थितिर्येन तथाभूतं रामम्। गतगदा इव रोग-विमुक्ता इव पित्रादयः दशरथादयः। मानदृष्ट्या आदरदृष्ट्या। अपश्यन्। तथा सुमुनयो महर्षयस्तु। असमानया विशिष्ट्या दृष्ट्या ज्ञानेन "दृष्टिर्ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने". इत्यमरः। अपश्यन्। उपमा यमकं च। वृत्तं वसन्ततिलकम् ॥५७॥

अर्थ—परशुराम के चले जाने पर राम का सम्मान : जैसे अच्छा वैद्य वात, पित्त, कफ से उत्पन्न सन्निपात को दूर कर देता है, उसी प्रकार राम ने परशुराम से उत्पन्न भय को दूर कर दिया। सब प्रसन्न हो गये। पिता दशरथ रोग मुक्त होकर राम को और आदर से

देखने लगे और मुनियों ने राम को विशिष्ट दृष्टि से देखना शुरु किया—अर्थात् वे अब राम को विष्णु समझने लगे।।५७।।

रथ्यान् गजांश्च वर्णयति—

रथ्यो मनोरथमिवाक्षजवो रथं स्वं
मोदाद् वहन् सुपथि कैः पथिकैर्न दृष्टः।
दानी कलीभ्य इव घूर्णितदृग् द्विपश्चो-
रःपट्टघट्टितटणत्कृतिघोषिघण्टः।।५८।।

अक्षाणाम् इन्द्रियाणां जवो वेगः। "अक्षं सौवर्चले तुत्थे हृषीके" इति हैमः। मनोरथम् इच्छामिव। रथ्यो रथं वोढाऽश्वः। जातित्वादेकत्वम्। एवमग्रेऽपि। स्वं रथं पथि मार्गे वहन् कर्षन्। कैः पथिकैः पान्थैः न दृष्टः। अपि तु सर्वैर्दृष्ट इत्यर्थः। द्विपो गजश्च। कलीभ्यः कलेः कलियुगस्य इभ्यो धनिक, इव "इभ्य आढ्यो धनी" इत्यमरः। दानी मदजलवान् दानदाता च घूर्णितदृक् मदभ्रान्तनेत्रः। तथा उरःपट्टे वक्षःस्थले घट्टिता चालिता टणत्कृतिघोषिणी टणत्कारनादिनी घण्टा येन स तथोक्तः। कैर्न दृष्ट इति पूर्वेण संबन्धः। कलियुगस्य धनिकोऽपि यो दानी भवति स वक्षःस्थलीयां घण्टां नादयति यदहं दानी अहं दानीति इति भावः।।५८।।

अर्थ—रथों और हाथियों का वर्णन : रथी अपने रथों को इन्द्रियों के वेग के समान मनोरथ बनाकर अपने-अपने पथों पर चले जा रहे थे, उनको किन-किन पथिकों ने नहीं देखा ? सभी ने रथों के वेग का अनुभव किया। मदजल बहाते, नशे में घूर्णित नेत्रों वाले हाथी अपने वक्षःस्थल पर चलायमान घण्टा ध्वनि करते हुये चल रहे थे। जैसे कलियुग के दानी अपने चारों ओर दानी होने का प्रमाण पट्ट चिपटाये घूमते हैं।।५८।।

विशेष—यहाँ दानी में श्लेष है—मद बहाने वाले और दान देने वाले। जैसे हाथी की घण्टाध्वनि घनघनाती है—उसी प्रकार दानी भी ऐसा प्रचार करते फिरते हैं। कलियुग के दिखाऊ दानियों पर करारा व्यंग्य है। "कलि इभ्यः" = कलियुग के धनवान्।।५८।।

अश्वतरं वर्णयति—

सुश्लिष्टभीमनर-रात्रिचरी-हिडिम्बा-
मुक्तो घटोत्कच इवाश्वतरो धुरीणः।
खः सिद्धवर्णसमुदाय इव स्वयोनौ
सुभ्राजते स्म मिलितद्विरवाकृतिः सन्।।५९।।

धुरं वहति धुरीणो भारवाहो। "धुरो यड्ढकौ" इति ढक्। अश्वतरः तनुः[१] अश्वः अश्वतरः गर्दभेनाऽश्वायामुत्पन्नोऽश्वविशेषः खच्चर इति प्रसिद्धः। "वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे" इति ष्टरच्। अस्य विजातीयशुक्रशोणितोत्पन्नत्वे उपमामाह—सुश्लिष्टः गाढमालिङ्गितो भीमनरः भीमसेनरूपो नरो मनुष्यो यया सा तथोक्ता या रात्रिचरी राक्षसी हिडिम्बा तया (गर्भरूपेण) मुक्तः प्रसूतः घटोत्कचः तन्नामा नरराक्षसरूपो व्यक्तिविशेष इव। एतादृशोऽश्वतरः। स्वयोनौ पशुजातौ मिलितौ मिश्रितौ द्वयोः गर्दभाश्वयोः रवाकृती शब्दाकारौ यत्र तथोक्तः सन्। सुभ्राजते स्म सुशोभते स्म। क इवेत्यपेक्षायामुपमामाह-सिद्धे स्वयं-सिद्धे वर्णसमुदाये अक्षरसमाम्नाये ख इव खवर्ण इव। सोऽपि मिलितद्विरवाकृतिः मिलिते संपृक्ते द्वयोः रवयोः रेफवकारयोः आकृती यत्र तथोक्त इव सुशोभते। तथा-हि—र+व = ख=ख इति। एषोत्तरा उपमाश्लिष्टा।।५९।।

अर्थ—खच्चरों का वर्णन : जैसे नर भीम और राक्षसी हिडिम्बा के मिलने से घटोत्कच पैदा हुआ उसी तरह घोड़ी और गधे से पैदा होने वाले ये खच्चर—भार को ढोते हुए तेज चले जा रहे हैं। जैसे दो वर्ण रेफ और वकार के मिलने से 'ख' एक सिद्ध वर्ण बनता है—

---

१. आश्वेन अश्वायामुत्पन्नत्वेऽश्वत्वम्। अन्यपितृकत्वे तु तस्य तनुत्वमेव।

उसी प्रकार ये खच्चर दो के मिलन से उत्पन्न शोभित हो रहे हैं॥५९॥

उष्ट्रं वर्णयति—

मन्दीकृतद्विरसनां रसनां सनिम्बाऽऽ-

हारान्मुखोरुकुहरात् समदं विवृण्वन्।

यत्नाद् ययौ स्वयुवतीरिव मद्यपाताऽऽ-

शाः पार्श्वसंमुखगता मय ईक्षमाणः॥६०॥

निम्बाहारः निम्बभक्षणं तेन सह वर्तमानात् सनिम्बाहारात् मुखोरुकुहरात् मुखरूपमहाविलात्। मन्दीकृतः तिरस्कृतः द्विरसनः सर्पो यया सा तां सर्पानुकारिणीमित्यर्थः। रसनां जिह्वाम्। समदं मत्तत्वेन। विवृण्वन् प्रकटयन् निःसारयन्नित्यर्थः। मय उष्ट्रः। "उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः" इत्यमरः। मद्यपाता सुरापः स्वयुवतीरिव निजतरुणीरिव। पार्श्व-संमुखगता उभयपार्श्वसंमुखवर्तिनीः आशा दिशः ईक्षमाणः पश्यन् स्वाभाविकत्वेनेति भावः। यत्नात् वाहकयत्नेन न तु स्वयम्। ययौ जगाम। मद्यपोऽपि उभयपार्श्ववर्तिन्यौ संमुखवर्तिनीं च युवतिं मदजन्यकामवशात् पश्यत्येव। उष्ट्रजातिस्वभाववर्णनेन स्वभावोक्तिरलंकारः। तल्लक्षणं तु "स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्" ॥६०॥

अर्थ—उष्ट्र का वर्णन : ऊँट बड़े चाव से नीम खाते हैं, वे मदोन्मत्त होकर अपने मुँह से ऐसे वलवलाते हैं-जिनके सामने दो जिह्वावाले सर्पों का फुंफकार भी फीका हो जाता है ऐसे ऊँट दोनों दिशाओं की ओर देखते हुए सवारों के यत्न से दौड़े जा रहे हैं। जैसे कोई मद्यप पार्श्व भाग में और संमुख मौजूद मदोन्मत्ता नारी की ओर कामवशात् देखता जा रहा हो॥६०॥

विशेष—ऊँट का स्वाभाविक वर्णन है। यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है॥६०॥

मार्गीयं वृक्षकृतं संमानमाह—

नम्र एव पथि पादपो मुमो-

चैच्छिकं कुसुमवर्षणं प्रभौ।

छत्रचामरविधी च दर्शयन्

पित्सतां कलरवैर्जयं जगौ॥६१॥

पथि मार्गे। पादपो वृक्षो नम्रो नम्रीभवन् एव न तु उन्नमन्निति भावः। प्रभौ श्रीरामे। ऐच्छिकम् इच्छया संसृष्टं "संसृष्टे" इति ठक्। कुसुम-वर्षणं पुष्पवर्षं मुमोच उत्ससर्ज। छत्रचामरयोः विधी विधाने च दर्शयन् प्रकटयन् सन् शाखा-वीजन-च्छायाप्रदानाभ्यामिति भावः। पित्सतां पक्षिणां "सनि मीमाघुरभलभशकपत०" इतीस्। "पित्सन्तो नभसंगमाः" इत्यमरः। कलरवैः मधुरास्फुटशब्दैः। जयं विजयं जगौ गीतवान्। इयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। रथोद्धतावृत्तम्॥६१॥

अर्थ—रास्ते के वृक्षों द्वारा किया गया सम्मान : राम के सम्मान में रास्ते का पेड़ झुककर फूल बरसाते थे, छायादान देकर, डालियों को हिलाकर छत्रचंवर की तरह पंखा कर रहे थे। पक्षियों के कलरव के मिष जयजयकार करते थे॥६१॥

अथ भूमिकृतं संमानमाह—

तुष्टितो दुहितृकान्तमेक्ष्य भू

राघवं स्थलसरोजलोचनैः।

देवमार्चदुपपुष्पकेसरैः

शाद्वलैः सदधिलाजदूर्विका॥६२॥

भूः पृथ्वी। स्थलसरोजलोचनैः स्थलकमलनेत्रैः। दुहितृकान्तं जामातरं देवं राघवं रामम्। तुष्टितः प्रमोदेन एक्ष्य (आ×ईक्ष्य) दृष्ट्वा उप आसन्नानि पुष्पाणि तत्केसराणि च येषां तानि तथोक्तैः शाद्वलैः शादहरितैः

(वनैः) "नडशादाड् ड्वलच्। इति ड्वलच् सदधिलाज-दूर्विका दध्यक्षतदूर्वासहिता सती "सामान्येन तु पुष्पाणि श्वेतान्येव प्रकीर्तयेत्" इति वचनात् पुष्पस्थानीयं दधि, केसरस्थानीया लाजाः, शाद्वलस्थानीया च दूर्वा ज्ञेया यथासंख्येन। आर्चत् पूजितवती ॥६२॥

अर्थ—भूमि द्वारा किया गया सम्मान : धरती ने अपनी पुत्री (भूमिजा) (सीता) के सहित अपने जामाता राम को अपनी कमलिनी रूपी आँखों से प्यार से देखकर बहुत सन्तुष्ट हुई इनकी पुष्प, केसर और हरियाली को क्रमशः दधि, लाजा और दूर्वा बनाकर पूजा की ॥६२॥

अयोध्यापौराणामभ्युद्गमनमाह—

रामं पुरीपरिसरे नमितेशचाप-

ज्यं ध्वस्तरक्षसमुदूढविदेहकन्यम्।

रामा नरोऽभ्युदयिता दयितावलोकं

मोदादनन्यरुचिदृष्टि समालुलोकन् ॥६३॥

रामाः स्त्रियः। नरः पुरुषाश्च पुरीपरिसरे अयोध्योपशल्ये। अभ्युदयिताः अभ्युद्गताः सन्तः नमिता आकृष्टा ईशचापस्य पिनाकस्य ज्या मौर्वी येन तम्। ध्वस्तानि नाशितानि रक्षांसि राक्षसाः येन तम्। उदूढा परिणीता विदेहकन्या सीता येन तम्। अत एव दयितावलोकं प्रियदर्शनं रामं मोदाद्-हर्षात् अनन्या एकाग्रा रुचिः दृष्टिश्च यत्र कर्मणि तत्तथा समालुलोकन् अपश्यन्। "नाग्लोपिशास्वृदिताम्" इति ह्रस्वाभावः। नमितेत्यादिविशेषणत्रयं तत्तत्स्मृत्यापादकम् ॥६३॥

अर्थ—अयोध्यावासियों के द्वारा स्वागत अयोध्या निवासी स्त्री पुरुष नगर की सीमा पर राम के स्वागत के लिये एकत्र हो गये। राम जिन्होंने शिवधनुष को झुकाया है, जिन्होंने राक्षसों को मारा है और विदेहनन्दिनी सीता के साथ विवाह किया है उनके दर्शन के लिये एकाग्रभाव से सहर्ष आ जुटे ॥६३॥

पुरी-प्रवेशमाह—

मन्दस्मितामृतरसैरधिनोज्जनं स

हारी चकोरमिव संप्रति रामचन्द्रः।

बद्धोरुवान्दनिकमाल उदक्तलाजै-

लः सत्पथोऽह्वदिव तं पुरगोपुरस्य ॥६४॥

इति श्रीकविराजाशुकविश्रीनित्यानन्दशास्त्रिरचितं
रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये
श्रीनामा पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥५॥

संप्रति अधुना। हारी मनोहरः स रामचन्द्रः। चकोरमिव जनं पुरलोकम्। मन्दस्मितैरेव अमृतरसैः अधिनोत् अप्रीणयत्। बद्धा उरुर्महती वान्दनिकमाला वन्दनमाला यत्र सः। उदक्ता विकीर्णाः लाजा अक्षता एलाश्च यत्र सः। पुरगोपुरस्य पुरद्वारस्य "पुरद्वारं तु गोपुरम्" इत्यमरः। सत्पथः सन्मार्गः "ऋक्पूरब्धूः०" इत्यः। तं रामचन्द्रम् अह्वत् आहूतवानिवेति उत्प्रेक्षा। "लिपिसिचिह्वश्च" इत्यङ् ॥६४॥

इति श्रीपण्डितविद्याभूषणभगवतीलालशर्मरचितायां
शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्य-
व्याख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥५॥

अर्थ—इस समय मनोहारी रामचन्द्र ने अपने मधुर मुस्कराहटरूपी अमृतरस से चकोररूपी नगर-वासियों को आनन्दित किया। स्वागत में बन्दनवारे बँधी थी, लाजा अक्षत, इलायची आदि सुन्दरपथों पर विकीर्ण थे। नगरद्वार राम का स्वागत करने के लिये मानो आह्वान कर रहा था ॥६४॥

जयपुरवास्तव्य राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का '**श्रीनामक**' पञ्चम सर्ग समाप्त।

अथ षष्ठः सर्गः

द्वाभ्यां वधूवरप्रवेशमाह—

पार्थिवस्य गृहमाप स पश्चा-

दुत्सवार्चितसुरः सवधूकः।

केलिकौतुककलाकुशलानां

चारुगानविधिना वनितानाम् ॥१॥

पश्चात् तदनन्तरम्। सवधूकः वधूसहितः। "नद्यृतश्च" इति कप्। स रामः। केलयः नर्माणि च कौतुकानि कौतूहलानि च तेषां या कला तत्र कुशलानां निपुणानां वनितानां स्त्रीणाम्। चारुगानविधिना मनोहर-गीतविधानेन उत्सवार्चितसुरः उत्सवेन अर्चिताः पूजिताः सुराः स्थानकुलादिदेवताः येन सः तथाभूतः सन्। पार्थिवस्य पृथिव्या ईश्वरस्य राज्ञ इत्यर्थः। "सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ" इत्यञ्। गृहं भवनम् आप प्राप। चिरकालादागतस्य परिणीतसीतस्य श्रीरामस्य स्वागतसंमानसूचनायाऽत्र सर्गे मुख्यतया स्वागतावृत्तम्। "स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्।" इति तल्लक्षणात् ॥१॥

अर्थ—दो श्लोक में वर-वधू का प्रवेशवर्णन : राम ने सीता (वधू) सहित राजगृह में प्रवेश किया। जहाँ वनिताएँ मधुर गीत गा रही थी, केलि-कौतुक में प्रवीण थी। तथा जहाँ देवपूजन विधिवत् किया जा रहा था ॥१॥

स्यन्दित-स्मितसुधं शशिनं वाऽऽ-

रात्रिकेण विधिनाऽऽर्च्य सभार्यम्।

ज्यायसी तमलमैक्षत माता

यत्नतः कृतनतिं च ननाथे ॥२॥

ज्यायसी जेष्ठा। "वृद्धस्य च" इति ज्यादेशः। "ज्यादादीयसः" इत्यात्त्वम्। माता कौशल्या शशिनं वा चन्द्रम् इव। स्यन्दिता वर्षिता स्मितसुधा मन्दहासामृतं येन स तम्। सभार्यं सपत्नीकं तं रामम्। आरात्रिकेण आरात्रिकसंबन्धिना। तस्येदमित्यण्। विधिना विधानेन आर्च्य पूजयित्वा। अलम् अत्यर्थम्। ऐक्षत दृष्टवती। च पुनः। कृतनतिं कृताभिवादनम्। यत्नतो यत्नात्। ननाथे आशिषा युयोज। "आशिषि नाथः" इत्यात्मनेपदम् ॥२॥

अर्थ—चन्द्र की तरह अपनी मुस्कान-अमृत बरसाती हुई बड़ी रानी कौशल्या ने राम की वधू के साथ आरती उतारी। दोनों ने प्रणाम किया। रानी ने उन्हें खूब आशिष दीं ॥२॥

चतुर्भिर्वैवाहिकोत्तरोत्सवमाह—

न्याप लोक इह गान-सुनाट्यैः

संस्तुतैर्वररसैश्च सुमाल्यैः।

दत्त-भोजनरसैः श्रुतिजा-ऽऽक्ष-

त्वाच-नास-रसनोत्थ-सुखानि ॥३॥

इह अयोध्यायाम्। लोको जनः। गान-सुनाट्यैः गीतैः नाटकैश्च। संस्तुतैः वर्षितैः। वर-रसैः कुङ्कुमद्रवैः। "अथ कुङ्कुमम्। काश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतने" इत्यमरः। सुमाल्यैः शोभनमालाभिः। दत्तैः प्रदत्तैः भोजनरसैश्च। श्रुतिजं श्रवणेन्द्रियजन्यं (गानैः), आक्षम् अक्षिसंबन्धि चक्षुरिन्द्रियजन्यं (सुनाट्यैः), त्वाचं त्वगिन्द्रियसंबन्धि तज्जन्यमित्यर्थः। (कुङ्कुमरसैः), नासं नासासंबन्धि (सुमाल्यैः), रसनोत्थं रसनेन्द्रियभवं च सुखं (भोजनरसैः) यथासंख्येन न्याप प्राप्तवान्। तदा लोकाः पञ्चेन्द्रियसुखं यौगपद्येनाऽनुभूतवन्त इति भावः ॥३॥

अर्थ—चार श्लोकों में विवाह के उपलक्ष्य में उत्सवों का वर्णन : अयोध्या में प्रजाजन में गायन, नाटक, कुंकुमरस, सुन्दर मालाएँ और भोजनरस की धूमी मची थी। यानी प्रजाजन की पंचेन्द्रियों को तृप्त करने की एक साथ ही प्रभूत सामग्री थी। श्रवणेन्द्रिय गायन से आँखें नाटक से, कुंकुमरस से त्वगिन्द्रिय, पुष्पमालाओं से घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय भोजन से तृप्ति का अनुभव कर रही थी ॥३॥

पुष्कलं विपद आपदरङ्कोऽ-

न:समूढ-परमोदकजातम्।

पुष्क[१]रं विपद आप दरं को

न: ! स मूढ-पर-मोद-क-जातम् ॥४॥

विगते पदे चरणौ यस्य स: विपद: पादहीन:। अरङ्क: न विद्यते रङ्को दरिद्रो यस्मात् परमदरिद्रो मनुष्य इति भाव:। पुष्कलं प्रभूतम् अन:समूढपरमोदकजातम् अन: शकटं तेन समूढानां नीतानां परमोदकानां श्रेष्ठमोदका-(लड्डुका) नां जातं समूहम् आपत् प्राप्तवान्। यो महादरिद्र: पादहीनश्चासीत् सोऽपि गृहे स्थित एव शकटद्वारा प्रापितानां मोदकानां बहुं समूहं प्राप्त इति भाव:। हे न: हे नर ! क: स: (य:) मूढस्य मूर्खस्य परस्य शत्रो: मोद: हर्ष एव कं जलं तस्माद् जातम् उत्पन्नं पुष्करं कमलं तद्रूपमित्यर्थ:। विपद: आपत्ते: दरं भयम् आप प्रापत्। न कोऽपीत्यर्थ:। तदानीं कोऽपि तद् विपत्तिभयं न प्राप, येन मूढा: शत्रव: आनन्दं सुखं च लभन्ते इति भाव:। एतत् समुद्गकयमकं मूलरामायणीयस्य ''पुन: पुन:'' इति वीप्सितपदपाठस्य प्राप्त्यवसरे दर्शयत: कवे: समयसमुत्पन्नप्रतिभाकौशलं ज्ञायते। एवमन्यत्रापि तत्तत्स्थलेषु बोध्यम् ॥४॥

अर्थ—जो बिना पैर वाले थे या महादरिद्र थे, उनके पास भी गाड़ियाँ भर भर इस उत्सव की खुशी में ढेर-के-ढेर लड्डू प्राप्त कराये गये। हे मनुष्य ! इस समय ऐसा कोई भी नहीं था, जिसे विपत्ति हो या भय हो—अत: मूर्खों एवं शत्रुओं को सुख नहीं मिलता था ॥४॥

विशेष—इस श्लोक में यमक का चमत्कार है। दो-दो चरण एक से हैं—पर यमक बल से अर्थ अलग-अलग है। यह पाण्डित्यकौशल का चमत्कार है ॥४॥

निष्ठितेन विधिना जनिता ये

वर्धिताश्च सह राजसुतेन।

तत्सहोपयमिता अशुभंस्ते

यान्ति धन्यपदवीं सह धन्यै: ॥५॥

निष्ठितेन अवहितेन विधिना दैवेन ये (प्रजावर्गकुमारा:) राजसुतेन रामेण सह जनिता: वर्धिताश्च। ते तत्सहोपयमिता: तेन सह विवाहिता: सन्त:। अशुभन् शोभन्ते स्म। ''द्युद्भ्यो लुङि'' इति परस्मैपदे द्युतादित्वादङ्। अत्रार्थान्तरमाह—धन्यै: सह धन्यपदवीं धन्यपदं यान्ति गच्छन्ति जना इति शेष: ॥५॥

अर्थ—परम सौभाग्य से विधि संयोग से राजकुमारों के साथ जिन प्रजावर्ग के कुमारों का जन्म हुआ और जिनके साथ बड़े हुए—उनके भी विवाह हो गये। वे धन्या (धण-स्त्री) को पाकर स्वयं धन्य (धणी) नाम से विभूषित हो गये अर्थात् धन्य पुरुषों के साथ रहने से सभी जन धन्य हो जाते हैं ॥५॥

मास इत्यकलि दंपतिभिस्तै:

सङ्गवासरमपि क्षणवत् तत्।

तन्निवेदनमिवाप्य च पूषा

तोषलम्बितकरो न्वससान्त्वत् ॥६॥

---

१. ''यमकादौ भवेदैक्यं वबोर्डलो रलोस्तथा।'' इत्युक्तनयात् 'पुष्कलं पुष्करम्' अत्र न यमकत्वहानि:।

तैः प्रागुक्तैः सह-विवाहितैः प्रजावर्गीयैरित्यर्थः। श्रीरामसीतादीनां स्वेष्टदेवानां संभोगशृङ्गारवर्णनस्य करिष्यमाणस्यानौचित्येन प्रजावर्गकुमाराणामाश्रयणं पूर्वत एवारब्धं कविनेतिबोध्यम्। दम्पतिभिः जायापतिभिः क्षणवत् क्षणसमानम् अपि तत् सङ्गवासरं संगमदिनं मास इति अकलि गणितम्। इत्यर्थेन विरोधे आभासिते-क्षणवत् उत्सवशालि "क्षण उद्धव उत्सवः" इत्यमरः। अपि तत् सङ्गवासरम् औत्सुक्यवशात् मास इति अकलि इत्यर्थेन तत्परिहारः। पूषा सूर्यश्च तेषां निवेदनं प्रार्थनाम् आप्य प्राप्येव। तोषेण आनन्देन लम्बिताः कराः किरणाः लम्बितो हस्तश्च येन सः। नु इति वितर्के। अससान्त्वत् समाश्वासितवान्। तानिति शेषः। अस्तोन्मुखो जात इति भावः॥६॥

अर्थ—इष्टदेव राम सीता का शृंगार वर्णन अनुचित है, अतः कवि अयोध्यावासियों के शृंगार का वर्णन कर महाकाव्यपरम्परा का निर्वाह कर रहा है।

नवदम्पत्तियों ने मिलन के एक-एक क्षण को मास हो गया है, ऐसा अनुभव किया। उनकी प्रार्थना पर सूर्य ने अपनी फैली हुई किरणकणों को समेट लिया। सूर्य अस्तोन्मुख हो गया॥६॥

संध्यां वर्णयति—

भज्यमानसमकामि-वि-योगा
रञ्जितेव रविणा तरुराजी।
तंतनीत्यरुणभां स्म च संध्या
भज्यमानसमकामिवियोगा॥७॥

भज्यमानः सेव्यमानः समकामिनां तुल्याभिलाषिणां वीनां पक्षिणां योगः संमेलो यत्र सा तरुराजी वृक्षपङ्क्तिः। रविणा सूर्येण रञ्जिता रागं प्रापिता इव। स्वार्थे णिच्। च पुनः। भज्यमानः भग्नीक्रियमाणः समेषां सर्वेषां कामिनां कामुकानां वियोगो विरहो यया सा। संध्या। अरुणभां रक्तां कान्तिं तंतनीति स्म अतिशयेन विस्तृणाति स्म॥७॥

अर्थ—सन्ध्यावर्णन : सम कामना वाले पक्षियों से तरुराजि सेवित थी, उस पर सूर्य की सन्ध्याकालीन अरुणकिरण प्रेम के रूप में पड़ रही थी। उन सुनहरी किरणों ने प्रेमियों के विरह को भंग कर दिया यानी अब मिलन की भूमिका तटपार हो रही थी॥७॥

विशेष—इस श्लोक में प्रथम एवं चतुर्थ चरण एक से है; यमक के कारण अलग-अलग अर्थ हैं। प्रथम में वि+योग का अर्थ है–वि यानी पक्षी और योग यानी संमेल। चौथे में वियोग का अर्थ है जुदाई। भज्यमान में प्रथम चरण में अर्थ है भजना, सेव्यमान। चतुर्थ चरण में भज्यमान का अर्थ है-तोड़ना॥७॥

रक्षितांशुरपि वा मलिनेन
ताप्यते समययोगमवाप्य।
ग्रस्यमानमभितस्तिमिरेणौ-
जः समाप्तिमगमद्धि खरांशोः॥८॥

रक्षितांशुः संरक्षितदीप्तिरपि। वेति वितर्के। मलिनेन मलिनात्मना समययोगम् अवसरम् अवाप्य प्राप्य ताप्यते बाध्यते। हि यतः। तिमिरेण अन्धकारेण। अभितः परितः। ग्रस्यमानं कवलीक्रियमाणं खरांशोः सूर्यस्य। ओजः तेजः। समाप्तिम् अन्तम्। अगमत् प्राप्नोत्। अत्र सामान्यस्य विशेषेण समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥८॥

अर्थ—कभी-कभी समय के प्रभाव से रक्षित प्रकाश को अन्धकार घेर लेता है। देखो, चारों ओर फैलते अन्धेरे ने सूर्य के प्रकाश को ढक लिया है॥८॥

विशेष—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है, जिसमें सामान्य का विशेष से समर्थन है॥८॥

स व्यराजदुडुराजसमाजः

काल इन्दुरघुपत्युदयेन।

मङ्क्षु यः खरमहोभृगुरत्नाद्

मन्दमन्दगतकान्ति निलिल्ये॥९॥

काले समये। इन्दुश्चन्द्र एव रघुपती रामस्तस्य उदयेन अभ्युदयेन। सः। उडूनि नक्षत्राणि एव राजानः क्षत्रियाः "राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे" इत्यमरः। तेषां समाजः समूहः। व्यराजत् विशेषेण शोभते स्म। यः खरमहाः सूर्य एव भृगुरत्नं परशुरामः तस्मात्। मङ्क्षु शीघ्रम्। मन्दं मन्दं गता कान्तिर्यत्र कर्मणि तत्तथा। निलिल्ये निलीयते स्म। "अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति" इति 'भृगुरत्नाद्' अत्रापादानम्॥९॥

अर्थ—परशुराम रूपी सूर्य के सामने सब राजा तारों की तरह छिप गये थे पर, अब राम रूपी चाँद निकला है, जिसमें तारों का समूह जगमगा रहा है। यानी राम सभी को चमकने का आगे बढ़ने का अवसर देने वाले हैं, दमनकारी नहीं है॥९॥

नम्रितेन्दुरपि का न मुखेनाऽ-

वाप्तशुच्युदयमानमदिन्दुम्।

यैच्छदीप्सितसुखं, सति काले

वश्यतां शकटिरेत्युडुपस्य॥१०॥

मुखेन नम्रितेन्दुः नम्रीकृतचन्द्रा। का (स्त्री)। अवाप्तशुच्युदयं प्राप्तनिर्मलोदयम् इन्दुम्। न आनमत् प्रणमति स्म अपि तु सर्वा अपि आनमन्। या ईप्सितस्य कान्तस्य सुखम् ऐच्छत्। प्रियसुखाभिलाषिणी उदयमानम् इन्दुमनमदिति भावः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति— काले समये सति उपस्थिते इत्यर्थः। शकटिः। उडुपस्य नौकायाः वश्यताम् अधीनताम् एति प्राप्नोति। या मुखेन कदापि इन्दुं नमयति सा काले तमेव स्वसुखेच्छया नमति यथा शकटिः कदापि उडुपं वहति सैव समये उडुपेनोह्यते। "वदन्ति शं बुधाः श्रेयः शश्च शास्ता निगद्यते।" इत्येकाक्षरवचनात् शा श्रेयसी कटिः यस्याः सा शकटिः स्त्री उडूनि पाति रक्षतीत्युडुपः, तस्य चन्द्रस्य वश्यतामेतीत्यर्थेन प्रकृतं श्लिष्टतयाऽपि द्रढयितुं शक्त एषोऽर्थान्तरन्यासः॥१०॥

अर्थ—प्रिय का सुख चाहने वाली लज्जा के कारण इस चन्द्रमुखी ने चन्द्रमा को अपनी सुन्दरता से नीचे झुका दिया। कभी चांद अच्छा दीखता है और कभी मुख।

कभी गाड़ी नाव पर कभी नाव गाड़ी पर। श्लेष से यह भी अर्थ है कि इस श कटि ने यानी सुन्दर कमरवाली कामिनी ने उडुप (रक्षा) करने वाले पति को अपने वश में कर लिया है॥१०॥

अथ संभोगं वर्णयति—

राज्यमात्मभुवि शासति काम-

मत्यजत् सपदि का नहि मानम्?।

पादपद्मपतनं तु पतीनां

दाम्भिकच्छलमिव ह्युपचारः॥११॥

आत्मभुवि कामे। राज्यं कामं यथेष्टं शासति सति। का (स्त्री)। सपदि शीघ्रम्। मानं कोपम्। न अत्यजत् अमुञ्चत्? सर्वा अपि अत्यजन्नित्यर्थः पतीनां भर्तॄणां पाद-पद्मयोः पतनं तु दाम्भिकच्छलम् इवं दम्भेन चरंति ते दाम्भिकाः। चरतीत्यर्थे ठक् छलोपजीविनः। तेषां छलमिव हि उपचारः उपचार-मात्रमभूत्। पादपतनस्य आवश्यकताऽपि नाभूत् किन्तु तत्तेषामुपचारमात्रमासीदिति भावः॥११॥

अर्थ—संभोग का वर्णन : इस समय काम का शासन है, अत: कौन स्त्री ऐसी होगी जो अपना मान शीघ्र ही छोड़ नहीं देगी। नायकों द्वारा नायिका के चरणों में नमन करना (मानभंग करने के लिये)–यह छल करने वालों का ढंग है। दोनों ओर छलका प्रयोग है। पर, अभी आवश्यकता नहीं ॥११॥

वुङ्गिताऽपि सहजत्रपया या
पत्युरन्तिकमनायि सखीभिः।
स्पृष्टमात्रगृहदेहलिका सा
शत्रपत् सपदि काऽपि निवृत्ता ॥१२॥

या। सहजया स्वाभाविक्या। त्रपया लज्जया। वुङ्गिता वर्जिता निषिद्धाऽपीत्यर्थः। 'वुगि वर्जने' इत्यस्य रूपम्। सखीभिः। पत्युः भर्तुः। अन्तिकं समीपम्। अनायि नीता। सा काऽपि युवतिः स्पृष्टमात्रा केवलं स्पृष्टा गृहदेहलिका शय्यागृहदेहली यया सा तथोक्ता सती। शत्रपत् शत्रौ स्खलितौ पदौ यस्मिन् कर्मणि तत्तथा। सपदि शीघ्रम्। निवृत्ता प्रत्यागता। एषा नवोढा मुग्धा ॥१२॥

अर्थ—नवोढ़ा मुग्धा का चित्रण : सखियाँ सिखाकर सहज लाज को छुड़ाकर नववधू को प्रिय के पास ले गई, पर, वह तो शयन कक्ष की देहरी को छूकर ही वापस लड़खड़ाती फौरन आ गई ॥१२॥

नन्दिनी-परिजन-स्वजनैश्चाऽऽ-
दिष्टसत्कुलवधूचितशिक्षा।
ग्राहितावसतिरादृतवन्तं
मेति साऽऽह धवमाश्विव रम्भा ॥१३॥

नन्दिनी ननान्दा "ननान्दा तु स्वसा पत्युर्ननन्दा नन्दिनी च सा।" इति शब्दार्णवः। परिगतो जनः परिजनः श्वशुरपरिवारजन इत्यर्थः। स्वजनः बन्धुजनः पितृपरिवारजन इत्यर्थः। एतैः आदिष्टा शिक्षिता सत्कुलवधूचिता शिक्षा यस्यै सा तथोक्ता। तथातैरेव ग्राहिता स्वीकारिता आवसतिः वासशाला यया सा तथाभूता। रम्भा तन्नाम्नी स्वर्वेश्या इव सा प्रागुक्ता नवोढा। आदृतवन्तं स्वसंमानं दर्शितवन्तम्। धवं पतिम्। मा इति नो इति। आशु शीघ्रम्। आह उवाच। तथाविधादरप्रतिषेधं चकारेति भावः। रम्भा[1] स्वर्गवेश्या च धवं नरं (मार्त्यलोकस्थं) 'मा' इति कथनेन उपेक्षेत एवेति ध्वन्यते। "धवः पुमान्नरे धूर्त्ते पत्यौ वृक्षान्तरेऽपि च" इति मेदिनी। सौन्दर्यातिशयेन धवं प्रति 'मा' इति कथनेन च सा रम्भा इवेत्युपमिता। एषा प्रागुक्तैव ॥१३॥

अर्थ—ननद से तथा अपने परिवार से शिक्षा पाई हुई वह नववधू अपने प्रिय के समीप तो गई। प्रिय ने जब रम्भा कहकर आदर दिया तो वह लाज से 'मा' नहीं ही शीघ्रता से कहा ॥१३॥

कल्पितस्वपन-शान्तदृगन्या
रोद्धुमाज्ञपितमप्यनभीष्टम्।
राज्यवत् प्रददे नवचुम्बं
यं पुराऽऽप दयितो न सयत्नः ॥१४॥

अन्या कापि। कल्पितं न तु स्वाभाविकं यत् स्वपनं निद्राणं तेन शान्ते शमिते मीलिते इत्यर्थः। "वा दान्तशान्त०" इति निपातः। दृशौ नेत्रे यया सा। रोद्धुं निवारयितुम् आज्ञ[2]पितं बोधितमपि (रोद्धुम्) अनभीष्टम् अनभिलषितम्। पूर्वत्र "शकधृषज्ञा०" इत्यनेन, उत्तरत्र "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इत्यनेन तुमुन्। राज्यवत् राज्यमिव "तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः" इति

१. रम्भापदं सर्गनामोपलक्षणम्।
२. 'ज्ञप ज्ञानज्ञापनयो' इत्यस्य रूपम्।

वतिः। नवचुम्बं नवीनं चुम्बनं प्रददे दत्तवती। दयितायेति शेषः। ''न शंसदद०'' इत्येत्त्वाभ्यासलोपाभावः। यं (नवचुम्बं) सयत्नः यत्नवान् दयितः प्रियः पुरा पूर्वं न आप प्राप्तवान्। एषा प्रगल्भा धीरा च ॥१४॥

अर्थ—प्रगल्भा धीरा नायिका : जिस नवचुम्बन को प्रिय प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न कर सका, कल्पित नींद से मीलित दोनों नेत्रों वाली नायिका के खुलने पर नायिका ने अपनी ओर से नायक को नया चुम्बन दिया ॥१४॥

रामणीयकरसेन हि रन्तु-

माह्वयन्त्यथ वरं स्पृश मेति।

गर्भितं सदुभयार्थपदेन

मत्तदृक् चिरमचुम्बि वदन्ती ॥१५॥

रमणीयाया भावो रामणीयकम्। ''योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'' इति वुञ्। तस्य रसः तेन हि रन्तुं विहर्तुम् आह्वयन्ती। अथ पुनः। वरं भर्तारं 'मा स्पृश' इति सदुभयार्थेन विद्यमानद्व्यर्थेन पदेन। मा मां स्पृश तथा मा न स्पृश, इति मापदस्योभयार्थत्वम्। गर्भितं युक्तम्। वदन्ती कथयन्ती मत्तदृक् मत्तलोचना चिरम् अचुम्बि चुम्बिता। एषा प्रगल्भा रूपगर्विता च ॥१५॥

अर्थ—प्रगल्भा रूपगर्विता नायिका : रमणीयरस में विहार करने की अभिलाषा रखने वाली नायिका कह रही है–'मुझे मत छूना' दूसरा अर्थ गर्भित है–'मुझे स्पर्श कर' इस प्रकार कहने वाली मत्तनयना नायिका प्रिय से प्रगाढ़ भाव से चुम्बित हुई। यहाँ 'मा' शब्द के दो अर्थ है, मा = मुझको, मा = नहीं अतः दोनों अर्थों से चमत्कार है ॥१५॥

नर्मकीलमपरा त्वधरोष्ठं

काङ्क्षयन्तमथ तत्क्षतकारम्।

क्षत्त्र आः क्षतकृदित्यललज्जद्

या ततः प्रथममेव ललज्जे ॥१६॥

अपरा अन्या तु स्त्री। अधरोष्ठम् अधरं नीचैःस्थम् ओष्ठं काङ्क्षयन्तं काङ्क्षां कुर्वन्तम्। नामधातवीयो णिच्। इच्छन्तं चुम्बनायेति भावः। अथ पुनः। तस्य अधरोष्ठस्य क्षतकारं क्षतकारिणं नर्मकीलं प्राणनाथम् ''भर्ता भरुर्नर्मकीलः प्राणनाथः सुखोत्सवः।'' इति त्रिकाण्डशेषः। आ इति पीडायाम्। 'क्षत्त्रः क्षतात्त्रायते एवंभूतः। क्षतकृत् क्षतकारी।' इति एवम्। अललज्जत् लज्जितं कृतवती। या ततः तस्मात् तं दृष्ट्वा इत्यर्थः। ''ल्यब्लोपे पञ्चमी'' इति पञ्चमी। प्रथममेव ललज्जे लज्जिता। अत्र अधरोष्ठयोः समानपर्यायत्वेऽपि अन्यार्थतया पुनरुक्तवदाभासः। ''आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः॥'' इति तल्लक्षणात्। एषा मध्याधीरा मध्या च ॥१६॥

अर्थ—अन्य मध्याधीरा ने चुम्बन के लिये अधरोष्ठ को चाहने वाले, पश्चात् उस अधरोष्ठ में (क्षत) घाव करने वाले नर्मकील (प्राणनाथ) को (क्षत से रक्षा करने वाला (क्षत्रिय) भी इस प्रकार क्षतकारी (घाव करने वाला) हो गया) इस प्रकार कहकर लज्जित किया, परन्तु उसको लज्जित होता हुआ देखकर वह नायिका उससे पहले ही लज्जित हो गई ॥१६॥

गत्वरः प्रमदिकाननतः प्राक्

तेजसाऽऽर्द्य कुचकुम्भिककुम्भम्।

तुन्दकूप्युपरि चापि सतृष्णो

भव्यमाप वसनं प्रियसिंहः ॥१७॥

प्राक् पूर्वम्। प्रमदा एव प्रमदिका स्त्री तस्याः आननं मुखं तस्मात्। अथ च प्रमदि हर्षप्रदं यत् काननं वनं तस्मात्। गत्वरः गमनशीलः "गत्वरश्च" इति क्वर-प्रत्ययान्तो निपातः। प्रियसिंहः प्रिय एव सिंहः। तेजसा प्रभावेण पराक्रमेण च "तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः।" इति मेदिनी। कुचः स्तन एव कुम्भिककुम्भः करिकुम्भः तम्। आर्द्य पीडयित्वा। च तुन्दकूप्या नाभेः उपरि अपि। "नाभिर्द्वयोस्तुन्दकूपी" इति त्रिकाण्डशेषः। सतृष्णः सस्पृहः पिपासितश्च सन् "तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे" इत्यमरः। सिंहोऽपि करिकुम्भ-पीडनोत्तरं पिपासितः स्यादेव। कूप्युपरि अपि तत्तृष्णा न शाम्यति। प्रियस्य च नाभिदर्शनानन्तरमपि तृष्णा नैव शाम्यति। भव्यं मनोहरं वसनम् ऊरुवस्त्रं निवासस्थानं च आप जग्राह। तत्रैव तृष्णाशान्तिसंभवादिति भावः ॥१७॥

अर्थ—जिस प्रकार सिंह हाथी के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के बाद भी प्यास के कारण किसी जलाशय की चाह करता है, उसी प्रकार प्रिय ने प्रमदा के कुचों के मर्दन के बाद भी तृप्ति का अनुभव नहीं किया और अपनी प्यास बुझाने के लिये नाभी के नीचे सुन्दर वस्त्र का स्पर्श किया ॥१७॥

ननु सीतारामयोरालिङ्गनं कथं न वर्णितमित्यत आह—

रश्मिवन्तमिव राममुपेता
तेजउद्गतिरराजत सीता।
श्रीरिवास्ति हि ययोर्जगतीयं
मान्द्यमेतदुपगूढकथा तत् ॥१८॥

रश्मिवन्तं सूर्यम्। उपेता उपगता। तेजउद्गतिः तेजःसंगतिरिव। रामं राघवम् उपेता उपगता सीता। अराजत अशोभत। तयोरिव तयोरपि स्वभावसंसृष्टत्वादिति भावः। ययोः सीतारामयोः इयं जगती भुवनत्रयी (तेजउद्गतिरश्मिराश्योः) श्रीः शोभेव हि "श्रीर्वेशरचनाशोभाभारतीसरलद्रुमे। लक्ष्म्यां त्रिवर्गसंपत्तिविधोपकरणेषु च॥ विभूतौ च मतौ च स्त्री" इति मेदिनी। अस्ति। तत् तस्मात् कारणात् एतयोः सीतारामयोः उपगूढकथा आलिङ्गनवर्णनं मान्द्यम् मूर्खतैवास्तीति शेषः। सीतारामयोर्जननीजनकयोर्जातेन मया जगत्यन्तर्भूतेनाऽऽलिङ्गनमवर्णनीयमेवेति भावः ॥१८॥

अर्थ—सीताराम के आलिंगन का वर्णन न करने का कारण : सीता राम तो नित्य साथ हैं जैसे सूर्य अपनी प्रभा के साथ है। ये तो संसार के माता पिता है, अतः इनके मिलन का वर्णन करना मूर्खता है; इसी कारण इनके आलिंगन का वर्णन मेरा (कवि का) विषय नहीं ॥१८॥

भङ्ग्यन्तरेण सीतारामयोः प्रेमाणं वर्णयति—

सत्यसौ हृदयमस्य सुधामा
त्यक्तभिन्नदयिताश्रयभावात्।
सत्यसौहृदयमस्य सुधामाऽ-
न्धोर्मिवद् हृदि सतोऽकृत भर्तुः ॥१९॥

सुधामा शोभनदेहा सुप्रभावा वा। "धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः।" इति मेदिनी। असौ सती पतिव्रता सीता। त्यक्तभिन्नदयिताश्रयभावात् त्यक्तः भिन्नाया अन्यस्याः दयितायाः प्रियाया आश्रयो येन सः तस्य भावस्तस्मात्। अनन्यप्रियत्वादिति भावः। सत्यसौहृदयमस्य सत्यं सौहृदं सौहार्दम् एव यमः नित्यकर्म यस्य सः तस्य अत एव हृदि सतः विद्यमानस्य "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः। अस्य भर्तुः पत्युः हृदयं चित्तम्। सुधाम शोभनं

स्थानम् अकृत अकरोत्। किं नाम प्राकृतजनोचितेन बाह्येनाङ्गसंगमनेन, सा तु हृदयमेव स्थानमकरोदिति भावः। किंवत् इत्यपेक्षायाम् आह—अन्धोर्मिवत्। अन्धस्य चक्षुर्हीनस्य ऊर्मिः उत्कण्ठा तद्वत्। यथा अन्धस्योत्कण्ठा क्वापि आश्रयं न प्राप्नोति किन्तु हृदि विद्यमानं भर्तारम् अन्तर्यामिणम् एवाश्रयति तद्वत् सीताऽपीति भावः। इत्यनेन सीतारामयोः प्रेम्णः परा काष्ठा दर्शिता। प्रथमतृतीयपादगतं यमकम्॥१९॥

अर्थ—सीता ने किसी दूसरी जगह स्थान न बना कर प्रिय राम के हृदय में ही अपना नित्य निवास बना लिया, जैसे अन्धे की इच्छा—कहीं बाहर का सहारा न पाकर अपने हृदय में ही अपने प्रिय को नित्य स्थापित कर लेती है। इससे सीताराम के अनन्य प्रेम की व्यंजना है॥१९॥

सीतारामयोर्नवसङ्गप्रमोदमाह—

जिष्णुशच्युपमयोर्नवसङ्गे-
तेन्द्रियार्थसुखयोर्हृदि यूनोः।
रिक्तसागर इवामृतपूरो
यः प्रमोद उदगाद्, न स वर्ण्यः॥२०॥

जिष्णुशच्यौ इन्द्रेन्द्राण्यौ उपमा उपमानं ययोस्तौ तयोः। नवेन नवीनेन सङ्गेन संगमेन एतम् आगतं प्राप्तम् इन्द्रियार्थानां विषयाणां सुखं याभ्यां तयोः। यूनोः युवतिश्च युवा च तयोः सीतारामयोरित्यर्थः। "पुमान् स्त्रिया" इति पुंसः शेषता। हृदि हृदये। रिक्तसागरे अमृतपूर इव यः प्रमोदः आनन्दः उदगात् उत्थितः स न वर्ण्यः नो वर्णयितुं शक्यः। तस्यालौकिकत्वादिति भावः॥२०॥

अर्थ—सीताराम का नवसंगप्रमोद अलौकिक है अतः वर्णन से परे है। जैसे इन्द्र एवं शची का मिलन हो, युवक-युवती का इन्द्रियों के साथ पदार्थों का सुखद अनुभव हो, वैसा यह मिलन नहीं है। यहाँ तो ऐसे लगता है, जैसे खाली सागर हो और उसमें अमृत की बाढ़ आ गई हो, वह जैसे वर्णन में नहीं आ सकता उसी प्रकार सीता राम का मिलन अलौकिक है, अतः वह अवर्णनीय है॥२०॥

रामस्य निद्राधीनतां वर्णयति—

राममेक्ष्य सकलत्रमयाताऽऽ-
मन्त्र्य जृम्भ-सहचारिततन्द्र्या।
स्तुत्यमादिदयिताऽहृत निद्रा
पुण्यवन्तमनुरज्यति सर्वः॥२१॥

स्तुत्यं स्तोतुं योग्यं रामं सकलत्रं सपत्नीकं सकलान् सर्वान् त्रायते रक्षतीति सकलत्रस्तम् इत्यपि ध्वन्यते। एक्ष्य दृष्ट्वा। अयाता स्वयमनुपस्थिता। एकस्या उपभुज्यमानतायाम् अन्यस्या अनुपस्थितिरुचितैव। सकलत्रः सर्वरक्षको मामपि अवेक्षिष्यते इत्याशयेनाऽनुपस्थिता च आदिदयिता आदेः प्रथमकालस्य दयिता प्रिया। आदेः परमात्मनो दयिता प्रिया च। "या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता" इति सप्तशती। निद्रा जृम्भेण जृम्भणेन सहचारितया सहप्रेषितया तन्द्र्या प्रमीलया आमन्त्र्य आहूय। निन्द्रोन्मुखं हि पूर्वं जृम्भा ततः तन्द्रा आगच्छत्येव। अहृत आचकर्ष स्ववशीचकारेत्यर्थः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति हि यतः सर्वः सकलो जनः पुण्यवन्तम् अनुरज्यति स्निह्यति॥२१॥

अर्थ—राम की निद्राधीनता का वर्णन : स्तुति करने योग्य, सकलत्र (सीता के सहित) राम को देखकर निद्रा स्वयं उपस्थित नहीं हुई, क्योंकि एक की उपभुज्यमानता में दूसरी की अनुपस्थिति उचित ही है। परन्तु यह राम तो सकलत्र (सबकी रक्षा करने वाले) हैं अतः मेरी भी अपेक्षा करेंगे, यह जानकर आदिपुरुष की प्रिय–निद्रा आने को तैयार हुई; पहले उसने जम्भाई

भेजी, फिर तन्द्रा उसके बाद निद्रा आई। सच है; पुण्यशाली से कौन अनुराग नहीं करता है॥२१॥

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। यहाँ सकलत्र शब्द के दो अर्थ है—१. सकलत्र = सबकी रक्षा करने वाला, २. सकलत्र = कलत्र (स्त्री) के सहित॥२१॥

प्रभातं वर्णयति—

नष्टमन्तकभियेव निशाटै

राम उत्थितवतीष्टमुहूर्ते।

लक्ष्यते स्म विधुरे विधुरेको

यद् बभौ जनकजामुखचन्द्रः॥२२॥

इष्टमुहूर्ते ब्राह्ममुहूर्ते। रामे उत्थितवति जागरिते सति। निशाटैः निशाचरैः अन्तकस्य नाशकस्य भिया भयेन इव नष्टं पलायितम्। एकः विधुः चन्द्रः विधुरे वैकल्ये तेजसो मन्दत्वेन विषमदशायामिति भावः। लक्ष्यते स्म दृश्यते स्म। कुत इत्यपेक्षायामाह-यद् यस्मात् कारणात् जनकजायाः सीतायाः मुखचन्द्रः बभौ शोभते स्म। इत्यनेन सीतायाः सुप्तोत्थितत्वं प्रकटितम्॥२२॥

अर्थ—प्रभात वर्णन : ब्रह्ममुहूर्त में राम जागेंगे, इस डर के मारे रात्रिचर राक्षस पहले ही भाग खड़े हुए। चांद भी फीका पड़ गया, क्योंकि जनकपुत्री सीता का मुखचन्द्र शोभित हो रहा है। इससे सीता का जाग उठना ध्वनित है॥२२॥

नाद्यते स्म सुरसद्मसु शङ्खो

गद्यते स्म बटुभिः श्रुतिपाठः।

रम्यते स्म सह चक्रविहङ्गैः

स्यन्दते स्म सुरभिस्तनधारा॥२३॥

सुरसद्मसु देवालयेषु। शङ्खः नाद्यते स्म शब्दायते स्म। बटुभिः बालकैः ब्रह्मचारिभिर्वा श्रुतिपाठः वेदपाठः गद्यते स्म उच्चार्यते स्म। चक्रविहङ्गैः चक्रवाकैः। सह सार्धम् रम्यते स्म विह्रियते स्म। सुरभीणां गवां "सुरभिर्गवि च स्त्रियाम्" इत्यमरः। स्तनधारा स्तनानां धारा। दुग्धधारेत्यर्थः। स्यन्दते स्म स्रवति स्म॥२३॥

अर्थ—देव मन्दिरों में शंख बज रहे हैं। ब्रह्मचारी वेद ध्वनि करने लगे हैं। चकवा-चकवी का मिलन हो रहा है और गायों के दुहने जाने से दुग्धधार की ध्वनि हो रही है॥२३॥

अथ कदापि दशरथस्य सभाप्रवेशं प्रस्तुवन्नग्रिमां कथामारंभते—

जगामेति वेलोदितेऽर्के कदापि

नरेशः सभामैत् खला यां तु नार्हन्।

स्यति प्रेक्ष्य यस्तस्य पक्षीशितुः किं

चतुःशालके स्याद् भुजङ्गप्रयातम्?॥२४॥

इति इत्थं वेला समयो जगाम व्यतीयाय। कदापि कदाचित्। अर्के सूर्ये उदिते सति। नरेशः दशरथः। सभाम् ऐत् अगच्छत् यां सभां खला दुर्जनास्तु न आर्हन् गन्तुं नायुज्यन्त। अत्र दृष्टान्तयति-यः प्रेक्ष्य दृष्ट्वा (एव) स्यति नाशयति। भुजङ्गमिति भावः। तस्य पक्षीशितुः गरुडस्य चतुःशालके अन्योन्याभिमुख-शालाचतुष्कयुक्ते भवने। चतस्रः शालाः समाहृताः चतुश्शालम्। "आवन्तो वा" इति वा क्लीबत्वम्। ततः स्वार्थे कन्। किं भुजङ्गप्रयातं सर्पगमनं स्यात्? न कदापीति भावः। भुजङ्गप्रयातं वृत्तम्। तल्लक्षणं तु "भुजङ्गप्रयातं भवेद् यैश्चतुर्भिः।" इति॥२४॥

अर्थ—दशरथ के सभाप्रवेश के साथ कथा के आगे का वर्णन प्रारम्भ : किसी एक दिन जब सूर्य निकला तो राजा दशरथ ने चतुःशाला (राजदरबार) में प्रवेश किया, जहाँ दुष्टों का कभी प्रवेश होता ही नहीं है। क्या गरुड़ को देखकर 'भुजंग प्रयात' साँप का आना हो सकता है? नहीं!॥२४॥

विशेष—यह 'भुजंग प्रयात' छन्द है–मुद्राअलङ्कार है। भुजंग प्रयात छन्द के प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं॥२४॥

तत्र प्रणत्या सुखपृच्छयेक्षया

त्राता नृणामादृत नॄन् यथोचितम्।

गम्भीरतां व्यङ्क्तुमिवाथ तादृशं

मन्विन्द्रवंशार्हमिदं वचोऽब्रवीत्॥२५॥

तत्र सभायाम् नृणां त्राता नरपालो दशरथः। प्रणत्या प्रणामेन (पूज्यान्) सुखपृच्छया कुशलप्रश्नेन (सचिवादीन्)। ईक्षया दर्शनेन दृष्टिपातेनेति यावत् (सर्वसाधारणजनान्) एवं यथोचितं यथायोग्यं नॄन् जनान् आदृत संमानितवान्। अथेत्यनन्तरं गम्भीरतां स्वगाम्भीर्यं व्यङ्क्तुं प्रकटयितुमिव तादृशं गम्भीरम् मनुः तदाख्यो वैवस्वतः कुलादिपुरुषः स इन्द्र एव तस्य वंशार्हं कुलोचितम् इदं वचः अब्रवीत्। 'इन्द्रवंशा' इति संकेतेन इन्द्रवंशावृत्तं सूचितम्॥२५॥

अर्थ—राजा दशरथ ने प्रणाम से पूज्यों को, कुशल प्रश्न से–सचिवों को और दृष्टि से सर्वसाधारण को यथोचित सम्मानित किया। फिर वैवस्वत मनु के वंशधरों में इन्द्र के समान होने के कारण कुलगौरव को ध्यान में रखकर गम्भीर वाणी में अपने मनोभाव प्रकट किये॥२५॥

द्वाभ्यां राजा स्वकीयं वृद्धत्वं वर्णयति—

नम्रं वपुर्गुरुनतिव्यसनादिवेद-

मेयन्ति राजबलयोऽर्धविपर्ययाच्च।

कालस्य कर्णनिकटे वदतः 'कुरु द्रा-'

ग्रोचिष्णुदन्तकिरणाः सितरोमरोहाः॥२६॥

गुरूणां या नतिः प्रणमनं तस्य व्यसनात् आसक्तेः इव इदं वपुः नम्रं नमनोन्मुखम् (अस्ति)। वृद्धत्वेनेति भावः। च पुनः। नतशरीरतायामपीति भावः। राज-वलयः राजप्रदत्ताः कराः अर्धस्य खण्डस्य विपर्ययात् वैपरीत्यात् अखण्डतया पूर्णतयेति भावः। एयन्ति (आ + इयन्ति) आगच्छन्ति। स्वाधीनराजकर-प्राप्तियोग्यस्य ईदृशस्य सुविशालस्य राज्यस्य भारवहनासमर्थमिदं नमनोन्मुखं वपुरिति भावः। अथ च राज-बलयः अर्धस्य शब्दगतार्धभागस्य विपर्ययात् वैपरीत्यात्-अर्थात्-जरा-वलयः जराया वृद्धत्वस्य चर्मशैथिल्यरेखाः इदं वपुरिति पूर्वतः (अत्र कर्मभूतम्) अनुकृष्यते। इमं देहं एयन्ति आगच्छन्तीति ध्वनि-तोऽर्थः। ईदृशे वृद्धत्वे पूर्णराजवल्युपभोगशालिराज्यस्य भारासहत्वं द्योतितम्। सितरोमरोहाः श्वेताः रोमाङ्कुराः "स्यात् प्ररोहोऽङ्कुरोऽङ्कूरो रोहश्च" इति हैमः। 'द्राक् शीघ्रतां कुरु' इति कर्णनिकटे वदतः कालस्य मृत्योः। रोचिष्णवो भ्राजिष्णवः "अलंकृञ्निराकृञ्०" इत्यादिना इष्णुच्। दन्तकिरणाः (सन्ति) इत्युत्प्रेक्षा॥२६॥

अर्थ—दो छन्दों में राजा अपनी वृद्धावस्था का वर्णन करता है : गुरुजनों के सम्मुख झुकने वाला यह शरीर अब राज्य के भार को संभालने में झुक गया है–यानि वृद्धावस्था के कारण यह शरीर अब राज्य के दायित्व को उठाने में असमर्थ हो रहा है यों तो राज की बली-यानी राज्यभर से कर खूब आ रहे हैं–यानी विशाल राज्य है और अधीनस्थ राजागण कर दे रहे हैं पर 'राजवली' में पहला पद राज उलट कर जरा हो गया है और वली–यानी चर्म शैथिल्य यानी बुढ़ापे के कारण झुरियाँ पड़ गई है। श्वेत केश कान के पास आकर कहने लगे हैं–अपने श्वेत दाँत की चमक दिखाकर- 'राजन् अब जल्दी कर'–देख मौत आ रही है।

इस प्रकार वृद्धावस्था का बहुत ही मार्मिक वर्णन है। रामचरितमानस मिलाइये॥२६॥

दन्ता विवेके सति 'दन्तविप्राऽ-

ण्डजा द्विजा' इत्युपघुष्टकोशान्।

कान् स्मारयन्तीह न मादृशान् नॄन्

प्रत्तं सुबन्ते स्वमदन्तभावम् ॥२७॥

दन्ताः विवेके याथार्थ्येन वस्तुस्वरूपावधारणे सति विद्यमाने, इत्यनेन दन्तानां, द्वितीयवारप्ररोहेऽपि प्रथमवारप्ररोहस्यैव ज्ञानं प्रकटितम्। "दन्तविप्राण्डजाः द्विजाः" दन्त-ब्राह्मणपक्षिण-एते द्विजा द्विजन्मानः इति उपघुष्टकोशान् अभ्यस्तकोषान् कान् मादृशान् मत्समान् वृद्धानित्यर्थः। नॄन् पुरुषान् सुबन्ते व्याकरणस्य सुबन्त-(शब्दसाधन) विषये प्रत्तं दत्तम् "अच उपसर्गात्तः" इति दाधातोस्तः। स्वम् आत्मीयम् अदन्तभावम् अकारान्तत्वं न दन्तस्य भावम् अर्थात् दन्तस्य अपुनरुत्पत्तिं च। इह लोके। न स्मारयन्ति अपितु अवश्यं स्मारयन्ति। अयं भावः। विवेके उत्पन्ने यदा अभ्यस्तेषु कोशेषु दन्तादीनां द्विजन्मत्वं ज्ञायेत तदा एकवारप्ररोहस्यैव ज्ञानं संभवति प्रथमप्ररोहसमये विवेकाभावात्। तेन द्विवारप्ररोहस्य प्रत्याशा जायते। परन्तु व्याकरणसुबन्तपाठे यदा दन्तस्य अदन्तभावः ज्ञायते तदा प्रत्याशाभङ्ग एव स्यात्। अतो नष्टा दन्ता अतः परम् अभावायैवेति। उपजातिवृत्तम्॥२७॥

अर्थ—'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' कोश से मालूम होता है कि द्विज यानी दो बार जन्म लेने वालों में दाँत भी शामिल है, एक बार दाँत टूटने पर दुबारा आता है; पर, जब ज्ञान हो जाता है तो क्या वह यह आशा करता है कि दाँत फिर आ जावेंगे। जैसे व्याकरण के सुबन्त (शब्दसाधन) विषय में दन्त का अदन्त भाव हो जाता है—यानी दन्त अभाव। अर्थात् दत्तम् = प्रत्तम् यहाँ दकार के स्थान पर प्र आ गया है अतः फिर प्र के स्थान पर द नहीं आने वाला है। मैं समझ गया हूँ कि मेरे दाँत चल गये, अब आने वाले नहीं। वृद्धावस्था की मुझे गहरी अनुभूति है॥२७॥

अतो वक्तव्यमाशयं प्रकटयति—

विन्यस्य राघव इतो निजराज्यभारं

वेदार्थवेदिनि विशिश्रमिषामि वृद्धः।

शक्त्या विधेर्हि विकलो द्युमणौ तमिस्र-

हर्तव्यतामुषसि मुञ्चति पूर्णचन्द्रः ॥२८॥

इतः अस्मात् कारणात्। अहं वृद्धः वेदार्थवेदिनि वेदार्थज्ञे राघवे रामे। निजराज्यस्य भारं विन्यस्य निधाय। विशिश्रमिषामि विश्रमितुमिच्छामि। अत्र दृष्टान्तेन पूर्वोक्तं समर्थयति-हि यतः विधेः दैवस्य। शक्त्या सामर्थ्येन। विकलः मन्दतां प्राप्तः। पूर्णचन्द्रः। उषसि प्रभाते। द्युमणौ सूर्ये। तमिस्रस्य अन्धकारस्य। हर्तव्यतां हरण-कार्यं मुञ्चति त्यजति। मन्दीभूतः पूर्णचन्द्रः सूर्ये एव अन्धकारशमनभारं स्थापयतीति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥२८॥

अर्थ—इस वर्णन का क्या आशय है—इसका कथन : मैं अपना राज्यभार वेदविद् राम को सौंपकर विश्राम करना चाहता हूँ। जैसे चन्द्रमा जब देखता है कि अब वह अन्धेरे को दूर करने में मन्द हो रहा है तो उषा काल में सूर्य को अंधकार मिटाने का भार सौंपकर हट जाता है॥२८॥

अथैकादशभिर्वशिष्ठकृतं रामगुणानुवादमाह—

प्रमिताक्षरामथ मुनिः स गिरं

विशदां जगाद रदरुग्-विशदाम्।

श्यति रामचन्द्र इह तापमपि

तुलयन्नपि प्रतपनं तपनम् ॥२९॥

अथ इत्यनन्तरं स मुनिर्वशिष्ठः। प्रमिताक्षरां प्रमाणयुक्तवर्णाम् रदानां दन्तानां रुचा कान्त्या विशदां श्वेताम्। श्वेतवद् दृश्यमानामिति भावः। विशदां व्यक्ताम्। "विशदः पाण्डुरे व्यक्ते" इति मेदिनी। गिरं वाणीं जगाद उवाच। प्रतपनं प्रकर्षेण तपतीति

प्रतपनस्तम्। नन्द्यादेर्ल्युः। तपनं सूर्यं तुलयन् अनुकुर्वन्नपि। अयमपिर्विरोधसूचकः। एतच्च प्रागुक्तस्य राजवचनस्यानुवादः। रामचन्द्रः राम एव चंद्रः। इह लोके। तापं दुःखं संतापं च। अपिः समुच्चये। श्यति तनूकरोति। सूर्यस्तु तापकरोऽयं तु चंद्रत्वात् तापहरत्वेन तस्माद् व्यतिरिच्यते। अत्र 'प्रमिताक्षरा' इति पदेन प्रमिताक्षरावृत्तं संकेतितम्। तल्लक्षणं तु ''प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता'' इति॥२९॥

अर्थ—निम्न ग्यारह श्लोकों में वशिष्ठ द्वारा राम का गुण-कथन : वशिष्ठ ऋषि ने प्रामाणिक अक्षरों में अपने श्वेत दाँतों की कान्ति से अनुरंजित निर्मल वाणी में कहना प्रारम्भ किया निःसन्देह रामचन्द्र सूर्य की तरह तेजस्वी हैं; पर सूर्य तो ताप करता है और रामचन्द्र चन्द्र की तरह ताप (सन्ताप) हरण करते हैं। यह इनकी विशेषता है॥२९॥

विशेष—श्लोक के प्रारम्भ में ''प्रमिताक्षराम्'' इस पद से ही मुद्रालङ्कार के रूप में प्रमिताक्षर नामक छन्द कहा जाता है॥२९॥

मत्वा मुखामृतकरामृतवैरि केऽन्ये

हालाविषं विभविनस्तरुणास्त्यजन्तः।

रक्षन्ति धर्ममसुहृन्मृगनाशकर्म-

ण्यंहांसि किन्तु मृगयूपमिता भजन्ते॥३०॥

के अन्ये अपरे। रामाद् विनेत्यर्थः। विभविनः वैभववन्तः। तरुणा युवानः। हाला मदिरा एव विषं गरलं ''सुरा हलिप्रिया हाला'' इत्यमरः। मुखमेव अमृतकरः चन्द्रः तस्य यदमृतं वचनमाधुर्यरूपं तस्य वैरं विरोधोऽस्यास्तीति तत् मत्वा ज्ञात्वा। मदिराविषं स्वमुखामृतस्य शत्रुं ज्ञात्वेति भावः। त्यजन्तः मुञ्चन्तः। तारुण्यवैभवाभ्यां युक्ता अपि मदिराव्यसनरहिता इति भावः। असुहृदः अमित्राः शत्रव एव मृगास्तेषां नाशकर्मणि हिंसाकर्मणि धर्मम् ऐहलौकिकपारलौकिकोन्नतिसाधनरूपं कार्यं रक्षन्ति पालयन्ति ? न केऽपीत्यर्थः किन्तु मृगयूपमिता व्याधसदृशाः। अंहांसि पापानि। भजन्ते सेवन्ते। ते हि धनयौवनमदोन्मत्ताः सुरापाः मृगानिवानपराधिनो निर्बलानपि रिपून् वृथा मारयन्तो व्याधा इव पापभागिनो भवन्तीति तात्पर्यम्॥३०॥

अर्थ—साधारणतः वैभव एवं यौवन में मत्त होकर तरुण हालारूप (मदिरा-रूप) विष का सेवन करते हैं; पर राम के मुख में अमृतमयी वाणी है—अमृत के (माधुर्य के) विरोधी हैं—विष और मदिरा, इसीलिए इन्होंने वैभव एवं यौवन के होते हुए भी मदिरारूप विष को त्याग दिया है। और इन्होंने शत्रु रूपी मृगों का हनन करके ही धर्म का पालन किया है, इसके विपरीत मदिरापान करने वाले व्याधसदृश अत्याचारी वृथा ही निर्बल शत्रुओं को हरिणों की तरह मारकर के केवल पाप को ही बढ़ाते हैं॥३०॥

रामं समुद्रमिव सिन्धुगणो गुणौघो

मोदादलब्धशरणः शरणं प्रपन्नः।

राजः परे यमुपजीव्य घना इवैते

जीवन्ति जीव-सुखजीवन-जीवनाप्ताः॥३१॥

सिन्धुगणः नदीसमूहः। ''देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्'' इत्यमरः। समुद्रम् इव अलब्धशरणः अप्राप्ताश्रयः गुणौघः गुणसमूहः। मोदाद् हर्षात्। शरण्यं रक्षकं प्रपन्नः प्राप्तः। घना मेघा इव। एते इमे परे अन्ये राजः राजानः यं (रामं समुद्रं च) उपजीव्य आश्रित्य जीव-सुखजीवन-जीवनाप्ताः जीवनां प्राणिनां यत् सुखजीवनं (सुखेन जीवयति) सुखजीवनप्रदं जीवनं जीविका जलं च तत् आप्ताः प्राप्ताः सन्तः। जीवन्ति प्राणन्ति। यथा मेघाः समुद्रतो जलमाकृष्य जीवान् जीवयन्तो जीवन्ति तथा राजानोऽपि रामाद् गुणान् प्राप्य प्रजासुखजीवन-जीविकाभूतं राज्यशासनं प्राप्ताः सन्तः ताः प्रजाः जीवयन्तो जीवन्तीति तात्पर्यम्॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र में नदियाँ मिल जाती हैं, उसी तरह राम में गुण समूह आकर मिल गये हैं। राम शरण्य हैं जिनमें गुणों ने शरण प्राप्त की है। जैसे समुद्र से मेघ जीवन (जल) प्राप्त कर दूसरे प्राणियों को जीवन प्रदान करते हैं, उसी तरह दूसरे राजा उन से गुण प्राप्त कर उसके बल पर प्रजा को जीविका आदि प्रदान कर जीवन देते हैं॥३१॥

वर्षोन्मुखाब्दमिव नृननुरञ्जयन्तं

लोला दृशोऽसितरुचा मुहुरञ्जयन्तम्।

चक्षुष्यमुं कलयतां हि सदैव जातै-

नःकर्म लीयत उपस्थित-दैवजातैः॥३२॥

वर्षोन्मुखः वर्षुको योऽब्दः मेघः तमिव। नॄन् जनान्। अनुरञ्जयन्तं प्रसादयन्तम्। अत एव लोलाः सतृष्णाः। दृशो नेत्राणि। असितरुचा श्यामकान्त्या। मुहुः पुनः पुनः। अञ्जयन्तं कज्जलिनीकुर्वन्तम्। अमुं रामं हि। चक्षुषि नेत्रविषये। कलयतां कुर्वतां पश्यतामित्यर्थः। उपस्थितदैवजातैः उपस्थितैः संप्राप्तैर्भाग्यसमूहैः जातम् उत्पन्नम् एनःकर्म पापकर्म। सदैव लीयते क्षीयते। एतद्दर्शनमपि पापहरमिति भावः। यमकम्॥३२॥

अर्थ—जैसे वर्षा करने वाले बादल की ओर लोग सतृष्ण आँखों से देखते हैं—उसी प्रकार राम भी सभी की आँखों को अपनी साँवली शोभा से रंग देते हैं—आँखें जैसे काजल लगाने से शान्ति का अनुभव करती है ये सभी को सुख शान्ति प्रदान करते हैं। इनके दर्शन मात्र से दैवाधीन जो लोग हैं—उनके पापकर्म तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

राम सबको आनन्द देते हैं—पाप मिटाने वाले हैं॥३२॥

विद्रावयत्यरिगणान् ह्वयति स्वपक्षान्

रामस्य केवलमहो युधि सिंहनादः।

धंधंधमत्कृतिपरो हि जयानकस्य

रावो धिनोति सुहृदोऽसुहृदो दुनोति॥३३॥

अहो इत्याश्चर्ये। युधि युद्धे रामस्य केवलं सिंहनादः। अरिगणान् शत्रुसमूहान्। विद्रावयति पलाययति। स्वपक्षान् स्वसहायान् च ह्वयति आकारयते। एतदेव प्रतिवस्तुना उपमिमीते—जयानकस्य विजयपटहस्य। धंधंधमत्कृतिपरः धंधंधं इत्यनुकरणतत्परो हि रावः शब्दः सुहृदः धिनोति प्रीणाति। असुहृदोऽ-मित्रांश्च दुनोति दुःखयति। अत्र आह्वान-प्रीणनयोः विद्रावण-परितापनयोश्च अनुकूलन-प्रतिकूलनपर्यवसि-तत्वेन धर्मैक्यात् प्रतिवस्तूपमालंकारः। तल्लक्षणं तु "वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता॥" इति॥३३॥

अर्थ—राम जब युद्ध में सिंहनाद करते हैं तो शत्रु भाग खड़े होते हैं और मित्रगण आ जुटते हैं। जब राम का विजय का नगारा धंधंकर कड़ाकधिन—कड़ाकधिन बजता है तो शत्रुओं को धुन कर रख देता है, दुःख देता है और मित्रों को आनन्दित करता है।

एक ही धर्म का अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव है॥३३॥

विशेष—यह प्रतिवस्तूपालङ्कार है॥३३॥

क्षत्त्रस्य धर्ममनुसृत्य कुमारभावे

संपाद्यमानमखविघ्नविधानहेतून्।

हत्वा निशाचरगणान् धृतकौशिकाज्ञं

त्वामेष धन्यतममप्रथयत् पृथिव्याम्॥३४॥

एष रामः। कुमारभावे कुमारदशायाम्। क्षत्त्रस्य क्षत्त्रियस्य। धर्मं कर्तव्यम् अनुसृत्य। संपाद्यमानः क्रियमाणो यो मखः यज्ञस्तस्य यो विघ्नस्तस्य विधाने करणे हेतून् कारणभूतान् निशाचरगणान् राक्षससमूहान्। हत्वा नाशयित्वा। धृता धारिता कौशिकस्य विश्वामित्रस्य आज्ञा येन स तं त्वाम्। पृथिव्यां धन्यतमं

सर्वातिशयितं धन्यम् अप्रथयत् प्रख्यापितवान्। त्वामिति दशरथं संबुध्य प्रकृतोक्तिः एनं विना तदाज्ञायाः पालनस्याऽसंभवादिति भावः ॥३४॥

अर्थ—राम ने कुमारावस्था में क्षत्रिय धर्म का अनुसरण करते हुए विश्वामित्र की आज्ञा के अनुसार यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों का नाश किया। इस कार्य के द्वारा इन्होंने सारी पृथ्वीमण्डल को और तुम्हें एक साथ धन्य कर दिया ॥३४॥

शक्तोऽनुकूलयितुमेव महिष्यवाप्त-
रम्योद्भवोऽपि जननीः समभक्ति तिस्रः।
भङ्गं नयन् किल तमांसि समानताभा-
गंशुर्भजेत् त्रिजगतीर्दिविजोऽपि सूर्यः ॥३५॥

महिष्यां कौशल्यायाम् अवाप्तः प्राप्तः रम्यः उद्भवः जन्म येन स तथाभूतोऽपि एष रामः। तिस्रः जननीः मातॄः कौशल्याप्रभृतीरित्यर्थः। समं[1] सदृशं भक्तिर्यत्र कर्मणि तत्तथा। अनुकूलयितुम् अनुकूलीकर्तुम्। शक्तः समर्थः। एतदेव दृष्टान्तयति—किलेति प्रसिद्धौ। तमांसि अन्धकारान् भंगं नाशं नयन् प्रापयन् भञ्जन्नित्यर्थः। दिविजः दिवि जातः दिविजः "प्रावृट्शरत्कालदिवां जे" इति सप्तम्या अलुक्। अपि सूर्यः समानतां तुल्यतां भजन्ति ते समानताभाजः अंशवः किरणा यस्य सः तथोक्तः सन्। न तु न्यूनाधिकांशुरिति भावः। त्रिजगतीः तिस्रो जगतीः भजेत् भक्तुं शक्तः। शकि लिङ्। यथा स्वर्गजातः सूर्यो भुवनत्रये समप्रकाशः तथा कौशल्याजातोऽपि रामो मातृत्रये समानभक्तिरिति तात्पर्यम् ॥३५॥

अर्थ—महिषी कौशल्या से जन्म लेनेवाला राम तीनों माताओं के प्रति समान रूप से भक्ति भाव रखने वाला है। जैसे स्वर्ग में जन्म लेने वाला सूर्य तीनों लोकों के अन्धकार को समान भाव से दूर कर देता है—कहीं कम-ज्यादा नहीं ॥३५॥

दर्दृश्यते युवतिभिर्यदपि स्वकान्त-
दर्शं, स तास्तु भगिनीयति भक्तभार्यः।
शश्यत्र कैरवततीः प्रियबन्धु-रीत्या
हर्षं नयत्यपहृतक्षणदाऽन्धवस्त्रः ॥३६॥

यदपि यद्यपि। स रामः। युवतिभिः तरुणीभिः स्वकान्तदर्शं स्वकान्त इव। दर्दृश्यते पुनः पुनरतिशयेन वा दृश्यते। यङ्लुगन्तात्कर्मणि रूपम्। "कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः" इति दृशेरेवानुप्रयोगे "उपमाने कर्मणि च" इति णमुल्। तु परन्तु सः रामः (इति देहलीदीपकन्यायेनोभयवाक्यान्वयि)। भक्ता सेविता भार्या पत्नी सीता येन तथाभूतः सन्। ताः (युवतीः) भगनीयति भगिनीरिवाचरति। "उपमानादाचारे" इति क्यच्। अत्र दृष्टान्तमाह—अत्र लोके अपहृतं क्षणदाया रात्र्याः (नायिकास्थानीयायाः) अन्धम् अन्धकारमेव वस्त्रं येन सः। शशी चन्द्रः। कैरवततीः कुमुदपङ्क्तीः प्रियबन्धुरीत्या प्रियबान्धवव्यवहारेण, न तु रमणरीत्येति भावः। हर्षं नयति हर्षयति ॥३६॥

अर्थ—यद्यपि युवतियाँ राम को प्रिय की दृष्टि से बारबार निहारती है, पर सीता से सेवित राम का उनके प्रति बहन की तरह का व्यवहार है। जैसे चन्द्रमा रात्रिरूपी नायिका के अन्धेरेरूपी वस्त्र को हटाकर अपनी प्रेमिका की तरह उसके प्रति व्यवहार करता है। पर, वह कुमुदपंक्ति को प्रिय बन्धु की तरह खिलाकर-उसे हर्ष प्रदान करता है ॥३६॥

सुभ्रातरोऽपि भरतप्रमुखाः श्रयन्ति
तीक्ष्णात् स्वकीयनियमात् तममी समास्याः।
णं ठादिका इव परं सविशेषकास्यं
चाप्याकृतिं किल समान्तरयत्नवर्गाः ॥३७॥

---

1. भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्यातम्। अन्यथा "स्त्रियाः पुंवद्०" इति पुंवद्भावाभावे 'समाभक्ति' इति स्यात्।

समं तुल्यम् आस्यं मुखं यद्वा समा तुल्या आस्या स्थितिर्येषां ते इति भ्रातृपक्षे। तथा समं तुल्यम् आस्यं स्थानं मूर्धरूपं येषां ते इति वर्णपक्षे। समोऽविषमः आन्तरयत्नः मानसिकप्रयत्नो वर्गः समूहश्च येषां ते इति भ्रातृपक्षे। तथा समः तुल्यः आन्तरयत्नः आभ्यन्तरप्रयत्नः स्पृष्टरूपः, वर्गः टवर्गत्वं च येषां ते इति वर्णपक्षे। अमी एते भरतप्रमुखाः भरतादयः त्रयः सुभ्रातरः। ठादिकाः ठकारादयस्त्रयो वर्णाः परम् अन्ते वर्तमानं णं णकारम् इव। चाप्याकृतिं चापिनी धनुष्मती आकृतिः शरीरं यस्य स तम् इति रामपक्षे। तथा चापिनः धनुष्मतः आकृतिरिव आकृतिः आकारो यस्य स तम् इति ण-पक्षे। णकारो हि धनुष्मन्तमाकारचिह्नं धरति। तथा हि-ण। सविशेषकास्यं सविशेषकं तिलकसहितम् आस्यं मुखं यस्य स तम्। "तमालपत्र-तिलक-चित्रकाणि विशेषकम्" इत्यमरः। इति रामपक्षे। णकारपक्षे तु विशेषम् एव विशेषकम् अधिकमित्यर्थः। मूर्धातिरिक्तम् आस्यं स्थानं नासिकारूपं यस्य सः तम्। तं रामं तीक्ष्णात् सुदृढात् स्वकीयात् नियमात् परिचर्याव्रतात् इति भ्रातृपक्षे। क्रमव्यवहारात् इति वर्णपक्षे। श्रयन्ति सेवन्ते अनुकूलं तं प्रति ते भ्रातरोऽप्यनुकूला एवेति भावः ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रकार समान मूर्धारूपस्थान तथा स्पृष्टरूप आभ्यन्तर प्रयत्न वाले ठ, ड तथा ढ वर्ण धनुष की आकृति वाले तथा मूर्धास्थान के अतिरिक्त नासिका स्थान का आश्रय लेने वाले ण का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार समान मुख और समान स्थिति तथा समान ही मनोगत प्रयत्न वाले भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न तीनों भाई धनुष के समान आकृति वाले तिलक से विभूषित भगवान् श्रीरामचन्द्र का नियमित रूप से आश्रय लेते थे ॥३७॥

विशेष—यहाँ कवि ने भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न को ठ, ड, ढ के रूप में वर्णित किया है, तथा राम को णकार के रूप में विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। यहाँ वर्णों के स्थान और प्रयत्न के सम्बन्ध में व्याकरण के नियमों को प्रदर्शित किया है ॥३७॥

यस्तां न मुञ्चति च यं नहि धर्मसंधाऽऽ-
गस्तीं यथा दिशमगस्त्यमुनिश्च तं सा।
त्यज्येत तेन न वधूर्न तया स नून-
ञ्चक्षेऽहमेव न, परं त्वमपीत्यशङ्कम् ॥३८॥

धर्मसंधा धर्ममर्यादा यं (रामं) नहि मुञ्चति। यश्च तां धर्मसंधां न मुञ्चति। यथा अगस्त्यमुनिः आगस्तीम् अगस्तेरिमां दिशं दक्षिणामित्यर्थः। सा आगस्ती दिक् च तम् अगस्त्यं न मुञ्चति। तेन रामेण नूनं निश्चयेन वधूः सीता न त्यज्येत नो मुच्येत। तया वध्वा च स रामो न त्यज्येत। इति इत्थम-हमेव न चक्षे वदामि परं किन्तु त्वमपि अशङ्कं निश्शङ्कं चक्षे वदसि। चक्षेर्लटि मध्यमोत्तमपुरुषैकवचनयो रूपसारूप्यप्रदर्शनं चमत्कारावहम्। यत्र यत्र रामस्तत्र तत्र सीता, यत्र यत्र च सीता तत्र तत्र रामः, तस्य रामस्य सदा धर्ममर्यादासंब-द्धत्वादिति भावः ॥३८॥

अर्थ—राम जैसे मर्यादा को नहीं छोड़ते हैं, उसी प्रकार धर्म मर्यादा भी उन्हें नहीं छोड़ती है। अगस्त ऋषि दक्षिण दिशा को नहीं छोड़ते हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा भी उन पर अनुरक्त हैं। न राम सीता से अलग हैं और न सीता राम से। जहाँ जहाँ राम है, वहाँ वहाँ सीता है, जहाँ-जहाँ सीता है, वहाँ वहाँ राम है। राम और सीता का भी इसी प्रकार अन्योन्यभाव से नित्य सम्बन्ध है। इससे राम का मर्यादा व सीताप्रेम प्रगाढ़भाव से प्रकट है ॥३८॥

अतः स्वस्य सभापतेर्मन्तव्यमाशयमाह—

अर्थं चिकीर्षति स, नो तु धनायतीहाऽ-

गस्त्योऽब्धिमाचुलुकयत्, किमुदन्यति स्म?।

त्यक्त्वा चिरं नृप विदांकुरु विद्धि कार्यं

भ्राजिष्णुवंशमणये दिश यौवराज्यम् ॥३९॥

सः रामः अर्थं कार्यं चिकीर्षति कर्तुमिच्छति। नो तु नतु इह लोके धनायति धनाय लुभ्यति। अत्र दृष्टान्तमाह–अगस्त्यः कुम्भजो मुनिः अब्धिं समुद्रम् आचुलुकयत् पीतवान्। एतद्रूपं चुरादिधातूनां बाहुल्यात् सिद्धम्। किम् (अगस्त्यः) उदन्यति स्म पिपासाकुल आसीत् ? नैवेति भावः। धनायति उदन्यति चेति रूपद्वयम् "अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु" इति क्यजन्तं निपात्यते। यथाऽगस्त्यः चुलुकनार्हं समुद्रं यच्चुलुकितवान् न तु पिपासित आसीत् तथैवायं रावणादिवधम् अर्थं चिकीर्षति नतु राज्याय लुभ्यतीति वशिष्ठाभिप्रायः। अतो निष्कर्षमाह–भो नृप दशरथ ! चिरं विलम्बं त्यक्त्वा। कार्यं कर्तव्यं विदांकुरु विद्धि बुध्यस्व बुध्यस्वेति प्रकृतस्य दार्ढ्यार्थं द्विरुक्तिः। "विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्" इत्यामादयो वा। भ्राजिष्णुः आभासुरो यो वंशमणिः कुलरत्नं तस्मै श्रीरामाय यौवराज्यनिर्देशाय पदमेतत्साकूतम्। यौवराज्यं युवराजाधिकारं दिश देहि॥३९॥

अर्थ—राम अर्थ कार्य (रावण-वध) के करने के इच्छुक हैं, न कि उनको अर्थ का (धन का) लोभ है; जैसे कि अगस्त ऋषि ने समुद्र को पी लिया था, क्या वे प्यासे थे ? नहीं। राम कुलमणिरूप हैं, तेजस्वी हैं– उनको शीघ्र युवराज बनाइये, अब विलम्ब न करें॥३९॥

सभ्यानां यौवराज्यसंभारत्वरादर्शनेन सर्गमुपसंहरति—

तदुक्तमभ्राम्बु कृषीवला इवाऽ-

रं प्राप्य हृष्टाः परिषद्वलाः परम्।

तद्-यौवराज्यार्थमुपात्तशिष्टयोऽ-

थावाप्तराज्या इव ते त्वरामधुः ॥४०॥

इति श्रीकविराजाशुकविना श्री नित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये रम्भानामा षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥६॥

कृषीवलाः कर्षकाः। अभ्राम्बु मेघजलमिव ते परिषद्वलाः सभ्याः। "रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्" इति वलचि कृषीवल-परिषद्वलौ सिद्धौ। कृषीवले तु "वले" इति दीर्घत्वम्। तदुक्तं वशिष्ठवचनम् अरं शीघ्रं प्राप्य लब्ध्वा। निशम्येत्यर्थः। परम् अतीव हृष्टाः। अथ च तद् यौवराज्यार्थं तस्य रामस्य यौवराज्यसंभारविधानार्थम् उपात्तशिष्टयः गृहीतादेशाः सन्तः। अवाप्तराज्या इव प्राप्तस्वराज्या इव। त्वरां शीघ्रताम्। अधुः धृतवन्तः। वंशस्थेन्द्रवंशयोर्मिश्रितयोरुपजातिवृत्तम्॥४०॥

इति श्रीविद्याभूषणपण्डिश्रीभगवतीलालशर्मणा-निर्मितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहा-काव्यव्याख्यायां षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥६॥

अर्थ—जैसे वर्षाजल को पाकर किसान प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार वशिष्ठ की वाणी को सुनकर सभी सभासद बहुत प्रसन्न हुए। युवराजपद के विधान को सम्पन्न करने के लिये जिनको आज्ञा मिली, उनको लगा कि युवराजपद उन्हें ही शीघ्र प्राप्त हो गया है॥४०॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का '**रम्भानामक**' षष्ठ सर्ग समाप्त।

अथ सप्तमः सर्गः

द्वाभ्यां पुरपथं वर्णयति—

अक्षतशोभो नगरपथो द्रा-

गस्तरजस्कः स्फुरदभिषेकः।

त्यक्ततमस्को मुनिरिव रेजे

वन्दनमालाकलितपदश्रीः ॥१॥

अक्षतैः लाजैः शोभते सः। स्फुरन् संजायमानः अभिषेकः सेचनं यत्र सः। अत एव अस्तमपगमितं रजः धूलिः यस्मात् सः। त्यक्ततमस्कोऽन्धकारहीनः प्रकाशस्य विद्यमानत्वादिति भावः। वन्दनमालाभिः माङ्गलिकमाल्यविशेषैः आकलिता संपादिता पदानां स्थानानां गृहाणामित्यर्थः। श्रीः शोभा यत्र स तथोक्तो नगर-पथः पुरमार्गः। मुनिरिव ऋषिरिव द्राक् शीघ्रं रेजे शुशुभे। यौवराज्योत्सवस्य करिष्यमाणत्वादिति भावः।· श्लिष्टेयमुपमा। मुनि-पक्षे-न क्षता खण्डिता शोभा यस्य सः। अस्तरजस्कः रजोगुणविकाररहितः। स्फुरदभिषेकः वर्तमानयज्ञादिनिमित्तस्नानः। त्यक्ततमस्कः तमोगुणवि-काररहितः। वन्दनानां भक्तकृतप्रणामानां मालया पङ्क्त्या आकलिता पदयो चरणयोः श्रीः यस्य स इत्यर्थो ज्ञेयः। अस्मिन् सर्गे वनवासस्य वर्णितत्वाद् वानवासिका वृत्तम्। तल्लक्षणं तु मात्रासमकप्रकरणान्तर्गतं– "तद्युग[1]लाद् वानवासिका स्यात्।" इति ॥१॥

अर्थ—राम के यौवराज्याभिषेक के लिये नगरपथ मुनि की तरह शोभित हैं। नगरपथ–अक्षत से, (लाजा से) शोभित है, मुनि भी अखण्डित शोभावाले होते हैं। पथ विना रज के (धूलि के) हो गये हैं क्योंकि इन पर जल से छिड़काव (अभिषेक) किया गया है, मुनि भी विना रजोगुण (रज) के शोभित होते हैं और अभिषेक (स्नान) के कारण स्वच्छ होते हैं मार्ग प्रकाश (गतरजस्क) से जगमग हैं, जैसे ऋषि तमोगुण से रहित होने के कारण ज्ञान से ज्योतिर्मय होते हैं। मार्ग वन्दनमालाओं से शोभित हैं, मुनि के चरण भी वन्दना करने वाले भक्तजनों की प्रणामपंक्ति से शोभित हैं॥१॥

विशेष—यहाँ महाकवि ने श्लेष के बल पर पथ और मुनि का रूपकत्व प्रदर्शित किया है॥१॥

चक्षुष्पातान् दिव इव रोद्धुं

नाच्छन्नोऽध्वाऽजनि न वितानैः।

चैत्यस्थानामिह दिविजानां

वर्षन्त्यासीदमृतरसं दृक् ॥२॥

दिवः स्वर्गस्य[2]। चक्षुष्पातान् दृष्टिपातान्। रोद्धुं निवारयितुमिव। अध्वा मार्गः। वितानैः उल्लोचैः। आच्छन्नः पिहितः। न अजनि अभूत् (इति) न। किन्तु अभूदेव। प्रकृतस्य दार्ढ्यार्थं नशब्दस्य द्विः प्रयोगः। तर्हि देवानां दृष्टिनिवारणादमङ्गलमित्यत आह–इह अत्र स्थाने नगरे इत्यर्थः। चैत्यस्थानां देवालयवासिनां दिविजानां देवानां दृक् दृष्टिः। अमृतरसं सुधारसम्। वर्षन्ती मुञ्चन्ती। आसीत् अभूत्। मार्गस्य वितानाऽऽच्छन्नत्वेऽपि देवानां शुभदृष्टिपातेनाऽवञ्चि-तत्वमेवेति तात्पर्यम्॥२॥

अर्थ—नगर के पथ वितानों (मण्डपों) से आच्छादित हैं, इससे स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की दृष्टि नीचे के दृश्य को देखने से रुकी नहीं ऐसा नहीं; यानि स्वर्गस्थदेवता धरती के इस दृश्य को देखने से वंचित हो गये और नगर पथ भी उनकी अमृतमयी दृष्टि से अभिषिक्त होने से वंचित हो गया लेकिन, धरती पर मन्दिरों में रहने वाली देवमण्डली की अमृतमयी दृष्टि से तो ये पथ सिंचित हो गये थे॥२॥

---

१. तद्युगलात् मात्राचतुष्टययुगलाद् यदि जगणोऽथवा नलघू स्यातां तर्हि वानवासिकेति पूर्वानुवृत्त्याऽर्थो ज्ञेयः। तेनेदं षोडशमात्रात्मकं छन्दः।

२. लक्षणया स्वर्गवासिनाम्। रामराज्याभिषेकसंभारं दृष्ट्वा तत्कृतो विघ्नो मा भूदिति भावः।

पुरपथस्य वितानाच्छन्नत्वे पुनः कथं देवानां यौवराज्योत्सव-ज्ञानम् ? इत्यत आह—

जग्ध्वा हव्यान्यपि हुतभुग् द्रा-
ग्राज्ञे वृत्तं स्वरदित धूमैः ।
हैन्द्रं चेतो व्यथितममुष्मा-
द्रंरन्ति स्माऽमरविपिने यत् ॥३॥

हव्यानि जग्ध्वा भुक्त्वाऽपि। हुतभुग् अग्निः। धूमैः धूमद्वारा। स्वः स्वर्गे। राज्ञे महेन्द्राय वृत्तं रामयौवराज्यरूपं वृत्तान्तम् अदित दत्तवान्। अपिशब्दोऽत्र भोजयितुर्भोजनजनिताया उपकृतेर्विस्मरणं राजशब्दश्च स्वोपजीव्यस्य महेन्द्रस्य कृतज्ञताप्रकटनं सूचयति। अमुष्मात् अतः कारणाद्। हा इति कष्टम्। ऐन्द्रम् इन्द्रसंबन्धि चेतो मनः व्यथितं खिन्नम्। यत् (चेतः) अमरविपिने नन्दने रंरन्ति स्म अतिशयेन रमते स्म ॥३॥

अर्थ—पुर-पथ के वितानों से आच्छन्न होने पर भी देवगण यौवराज्योत्सव का ज्ञान कैसे कर पाये ? इसका निम्न समाधान है—

धरती पर अग्नि में जो आहुतियाँ दी गई, उन आहुतियों के कारण जो धूम ऊपर उठा, उसने नन्दनवन में विहार करने वाले देवराज इन्द्र को यौवराज्य की सूचना दे दी, इससे इन्द्र का मन व्याकुल हो गया (यदि राम का राज्याभिषेक हो गया तो रावणवध कौन करेगा और देववृन्द को संकट से कौन मुक्त करेगा ?) ॥३॥

शक्रो ब्राह्मीं कृतनतिरूचे
रामं प्रव्राजय सुर-सिद्ध्यै ।
सत्स्वार्थाय स्त्रियमपि देवा
नंनम्यन्तेऽन्यहितमुपेक्ष्य ॥४॥

शक्र इन्द्रः। कृतनतिः कृतप्रणामः सन्। ब्राह्मीं सरस्वतीम् ऊचे उवाच। सुराणां देवानां सिद्ध्यै रावणवधरूपकार्यसाधनाय। रामं प्रव्राजय प्रव्रज्यां कारय वने वासयेत्यर्थः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति देवा अपि सत्स्वार्थाय सतो विद्यमानस्य स्वार्थस्य सिद्ध्यै। अन्येषां हितं लाभम् उपेक्ष्य उपेक्षां कृत्वा स्त्रियं स्त्रीजातिमपि। अपिशब्दोऽत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन आवश्यकतानुसारं 'देवाः स्त्रियम्' इति उभाभ्यामपि पदाभ्यां संबध्यते नंनम्यन्ते पुनः पुनरतिशयेन वा नमन्ति ॥४॥

अर्थ—इन्द्र ने सरस्वती से प्रार्थना की कि आप राम के वनवास के लिये कुछ करें, जिससे देवकार्यों की सिद्धि हो। यह ठीक है कि देवता और स्त्रियाँ अपनी हित कामना से दूसरे के हितों की अवहेलना करते ही हैं ॥४॥

सरस्वती सुरसिद्ध्यै कीदृशमुपायं चकारेत्यत आह—

खड्गीचक्रे कुसुममयीं प्रा-
गंहोबुद्ध्या भरतजनन्याः ।
चर्यां दशरथहृदलिकृते गीः
पश्चाच्छाणीचकार चेटीम् ॥५॥

गीः सरस्वती। "गीः स्त्री भाषासरस्वत्योः" इति मेदिनी। दशरथस्य यो हृदलिः हृदयभ्रमरः तस्य कृते। भरतजनन्याः कैकेय्याः। कुसुममयीं पुष्पभूतां चर्यां व्यवहारम्। अंहोबुद्ध्या पापमतिसमुत्पादनेन। प्राक् पूर्वं खड्गीचक्रे कृपाणं कृतवती। राजहृदयभ्रमरकृते या कैकेय्याः चर्या कुसुममयी आसीत्तां प्राक् खड्गीचक्रे इति भावः। पश्चात् चेटीं मन्थराख्याम् अनुचरीम्। शाणीचकार निकषं चक्रे। चर्याखड्गस्योत्तेजनायेति भावः ॥५॥

अर्थ—सरस्वती ने सुरों की अभीष्ट सिद्धि के लिये क्या किया ? इसका वर्णन—

सरस्वती ने राजा दशरथ के हृदय-भ्रमर के लिये कैकेयी के पुष्पसदृश व्यवहार को पापमति-उत्पादन से तलवार की तरह धारवाला (कठोर) बना दिया, और मन्थरा दासी को शाण की तरह बना दिया।

शाण पर जैसे धार तेज की जाती है, उसी प्रकार कैकेयी—तलवार को मंथरा ने ही उत्तेजित कर उसे तेज धार वाली बनाया था।

रानी-तलवार। दशरथ-भ्रमर। चेटी-शाण ॥५॥

रक्ताचार्येव हि भरताऽम्बां

मन्त्रं सैवं दृढमशिशिक्षत्।

प्रीताऽप्यद्वेड् नियतिरिवैषा

तस्मात् पश्चात् प्रियमपि येन ॥६॥

रक्ता स्निग्धा आचार्येव गुरुरिव। पुंयोगाभावाद् ङीषानुगभावः। सा चेटी भरताम्बां कैकयीम्। मन्त्रम्। एवम् इत्थम्। दृढं गाढम्। अशिशिक्षत् अशिक्षयत्। "गतिबुद्धिशब्दा०" इत्यादिना भरताम्बायाः कर्मत्वम्। येन प्रीता प्रीतिमती अपि। एषा भरताम्बा। नियतिरिव भाग्यमिव। तस्मात् पश्चात् मन्त्रशिक्षणादनन्तरम्। प्रियमपि प्रीणातीति प्रियस्तमपि। अपिशब्दः प्रियपदस्य साकूतत्वेन विरोधद्योतकः। भर्तारं दशरथमित्यर्थः। अद्वेड् वैरायते स्म ॥६॥

अर्थ—जैसे स्नेहशील आचार्य अपने शिष्यों को पढ़ा लिखाकर पक्का कर देते हैं। उसी प्रकार नियतिवश अपने प्रियभर्त्ता दशरथ के प्रति वैरभाव उसने दिखाया ॥६॥

तूष्णीका सा क्रुधमभिनीयै-

णीदृक् कान्तं स्मरशरविद्धम्।

चापसमभ्रू-धृतदृगिषुभ्यां

क्षय्यं क्षत्वाऽवददनुनीता ॥७॥

तूष्णीका (तदानीम्) तूष्णींशीला "शीले को मलोपश्च" इति सिद्धिः। सा एणीदृक् मृगनयना कैकेयी। क्रुधं क्रोधम्। अभिनीय दर्शयित्वा। स्त्रीचरित्रसुलभां कृत्रिमां चेष्टां प्रकटयितुम् 'अभिनीय' इति प्रयुक्तम्। स्मरशरैः कामबाणैर्विद्धम्। अत एव क्षय्यं क्षेतुं शक्यम्। कान्तं वल्लभम्। चापसमयोर्धनुरनुकारिण्योः भ्रुवोः भ्रूद्वये धृताभ्यां दृगिषुभ्यां नेत्ररूपबाणाभ्याम्। क्षत्वा आहत्य। अनुनीता चाटुप्रभृतिभिः प्रसादिता सती। अवदत् अकथयत् ॥७॥

अर्थ—कैकेयी क्रोध में थी, फिर भी कार्यसिद्धि के लिये चुप रही। उसने मृग जैसे चंचल नयनों में बाणों से कटाक्ष कर अपने प्रिय को घायल किया। तिरछी भौंए मानो धनुष है और चितवन के बाण हैं। इस प्रकार अपने प्रिय दशरथ की ओर कामातुर नयनों ने देखा और इस प्रकार मानो चाटुकारिता के वचनों ने मौन रह कर भी—प्रिय को रिझाया ॥७॥

यन्न्यास्येऽहं, रणेऽददा यौ

सास्मरीषि तौ वरौ नु राजन्? ।

यच्छ त्वं तावुताऽऽत्मदेहौ

कौमुदीव तेऽचलाऽस्तु कीर्तिः ॥८॥

यत् रणे युद्धे त्वं यौ अददाः। अहं च न्यास्ये न्यासरूपेण अस्थापयम्। न्यस्यतेरनद्यतने भूते रूपमिदम्। "उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा" इत्यात्मनेपदम्। "अभिज्ञावचने लृट्" इति लृटि प्राप्ते "न यदि" इति निषेधः। नु इति प्रश्ने। हे राजन्! तौ वरौ सास्मरीषि ? पुनः पुनरतिशयेन वास्मरसि? 'गुणोऽर्ति' तिगुणः। त्वं तौ (वरौ) यच्छ देहि। उत अथवा। आत्मदेहौ मनः कायौ यच्छ नियच्छ। कामचलितम् आत्मानं मनो नियच्छ मदङ्गस्पर्शाय चलितं देहं च नियच्छेति भावः। पूर्वत्र दाणो रूपमुत्तरत्र यमे रूपं ज्ञेयम्। कामविजयेन वरप्रदानस्यावश्यकतैव नेति तात्पर्यम्। तेन विकल्पालंकारः श्लेषोज्जीवितः संघटितः। "विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः।" ते तव कीर्तिः कौमुदीव चन्द्रिकेव अचलाऽस्तु। राज्ञश्चन्द्रस्य च कौमुदी भवत्येव। यदि विकल्पालंकारः श्लेषोज्जीवितो व्याख्यातुमनिष्टस्तर्हि इत्थं व्याख्येयम्-तौ यच्छ देहि उत आत्मनो देहौ पाञ्चभौतिक-यशः

स्वरूपौ कार्यौ यच्छ देहि। वराऽप्रदाने तयोर्नाश-संभवात्। तत्र क्रमेण कीर्तिः अचला चला चास्तु इति पूर्वोत्तरवाक्यानुसारं व्याख्येयम्॥८॥

अर्थ—याद है न, आपने रण के मैदान में दो वर दिये थे, वे आपके पास धरोहर के रूप में–अमानत के रूप में रखे हैं। उनको देवें। उनको देकर अपनी कीर्ति को अचल करें। नहीं तो (दो वर नहीं देवें तो) आपको अपना शरीर और कीर्तिशरीर (दो) देना पड़ेगा। पांचभौतिक शरीर भी जायगा और यशःशरीर भी नष्ट होगा॥८॥

वरमुखि ! तत् किं, वरयुगमन्यत्

सत्यं दद्यामिति नृप ऊचे।

तनुभूवशिनां जघनयुगं च

स्तनयुगमधिकं, किमिह वरयुगम्॥९॥

हे वरमुखि सुमुखि ! तत् वरयुगं किम् ? अन्यद् वरयुगं सत्यं यथा स्यात्तथा दद्याम् अर्पयेयम्। इति नृपो राजा ऊचे। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति तनुभूवशिनां काम-वशगानां (जनानाम्)। जघनयुगं स्तनयुगं च अधिकम्। इह अनयोः जघनयुगस्तनयुगयोः विद्यमानयोरित्यर्थः। वरयुगं वरयोर्युगं युगलं किम् ? न किमपीत्यर्थः। वरा श्रेष्ठा सीता (लक्ष्मीः) वरः श्रेष्ठो रामः (विष्णुः) च तयोः युगं किम् ? न किमपीत्यर्थोऽपि ध्वन्यते। कामा-न्धानां तद्युगलविषयकध्यानमेव नश्यतीति भावः॥९॥

अर्थ—दशरथ अभी कामातुर हैं–इसी की व्यंजना यहाँ है। 'अरी सुन्दर मुख वाली ! ये कौन से दो वर हैं, ले क्यों नहीं लेती ! तेरे दो स्तनयुग एवं जघनयुग के सामने ये दो क्या औकात रखते हैं ?

इसका यह भी अर्थ है कि जो कामवशीभूत हो जाता है, वह वरा (श्रेष्ठ) सीता (लक्ष्मी) वर (श्रेष्ठ) राम (विष्णु) को तुच्छ समझता है। उसे केवल कामिनीयौनअंग ही प्रिय लगते हैं॥९॥

स्यदः कूलमुद्रुज इव नद्या

राज्ञ्या पतितुद् वच उदगालि।

मध्येऽरण्यं चतुर्दशाब्दान्

स्यतु रामोऽस्तु च नृप इह भरतः॥१०॥

नद्याः कूलं तटमुद्रुजति भनक्तीति कूलमुद्रुजः "उदि कूले रुजिवहोः" इति खश्। स्यदः वेग इव। राज्ञ्या कैकेय्या। पतिं भर्तारं तुदति व्यथयतीति पतितुद्। वचो वचनम्। उदगालि उद्गीर्यते स्म। 'अचि विभाषा" इति लत्वम्। रामः मध्येऽरण्यम् अरण्यस्य मध्यं यथा स्यात्तथा वनमध्ये इत्यर्थः। "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इति समासो मध्यस्यैदन्तत्वं च। चतुर्दश अब्दान् वर्षाणि स्यतु अन्तयतु समापयत्वित्यर्थः। इह अयोध्यायां च भरतो नृपो राजा अस्तु॥१०॥

अर्थ—जैसे नदी अपने वेग से किनारे को तोड़ देती है, उसी प्रकार कैकेयी ने अपनी वाणी से राजा को दुःख देने वाले वचन कहे। राम चौदह वर्षों तक वन में रहे और भरत राजा बनकर सिंहासन पर बैंठे। ये हैं–दो वर॥१०॥

वक्रगतिकयाऽहिवनितयेव

नेत्राम्बु जहत् तयेति दष्टः।

वनं स्मरन् हृदि, न सरुचि राज्यं

न रपति स्म हा नरपतिरीषत्॥११॥

इति इत्थं कथनप्रकारेणैवेत्यर्थः। अहिवनित-येव सर्पिण्येव। वक्रगतिकया कुटिलोपायया कुटिलगम-नया च। तया कैकेय्या। दष्टः दंशितः सन्। नेत्राम्बु अश्रु। जहत् मुञ्चन्। नरपतिः दशरथः। हृदि मनसि। वनं रामस्य वनगमनमित्यर्थः। स्मरन् सन् राज्यं भरतस्य राज्यप्रदानमित्यर्थः। न सरुचि सेच्छं स्मरन्। अहिदष्टश्च वनं जलं स्मरति, 'सः' इति पदस्य नरपतिविशेषणस्य पृथक्करणेन रुचिराज्यं रुचिरं सुन्दरम् आज्यं घृतं च न

स्मरति। तस्य हि रुचिः अहिते जलपाने भवति न तु हिते घृतपाने भवतीति भावः। हा इति कष्टम्। ईषत् किंचिदपि न रपति स्म नहि वदति स्म। मौनमभजदित्यर्थः। 'न रपति-नरपति' इति द्विरावृत्त्या यमकमपि ॥११॥

अर्थ—टेढ़ी चलने वाली सांपिनी की तरह रानी ने इन वचनों से जैसे राजा को डंक मारा–वे कुछ कह न सके–आँखों में झर-झर आँसू बहाते रहे। वे राम के वनवास की बात सोचते रहे, अपने दिये हुए राज्य की नहीं–जैसे साँप से काटा हुआ–वन (जल) की बात तो सोचता है, फिर हित करने वाले–आज्य (घृत) की बात नहीं सोचता। नरपति राजा दशरथ–'न रपति' नहीं बोलते हैं–यानी मौन हो–मन में विसूरते रहे ॥११॥

विशेष—यहाँ नरपति तथा न रपति-में यमक है॥११॥

चक्षुरुन्मिषन् स तामथोचे
रैस्वर्ण-भूरि-बहुमणिरत्नम्।
सममखिलं त्वं गृहिणि गृहाणाऽ-
हहाऽमुं च हर गहनवनगमम् ॥१२॥

अथेत्यनन्तरम्। चक्षुः नेत्रे। जात्यैकत्वम्। उन्मिषन् उन्मीलयन्। सकर्मकोऽपि मिषिः। अन्तर्भावितण्यर्थो वा। स दशरथः तां कैकयीम् ऊचे–हे गृहिणि भार्ये! राः रूप्यकादिद्रव्यं, स्वर्णं कनकं, भूरयो बहवः, बहुमणीनां रत्नानि अर्थात् रत्नश्रेष्ठानि रत्नानि। एषां समाहारद्वन्द्वः। तत्। एतदखिलं सर्वम्। समं सार्धं युगपदित्यर्थः। गृहाण अहहेति दुःखे। अमुम् एनं गहनस्य विषमस्य वनस्य गमं प्रस्थानं रामवनगमनमिति भावः। हर त्यज। एतद्विषयकं हठं त्यजेति भावः। अत्र रै[1]–स्वर्णभूरि[2], भूरि-बहु, समम्-अखिलं, गृहिणी-गृहाः[3], अह-हा, मुञ्च हर, गहन-वन' इत्येषामेकपर्या-यत्वेनाऽऽभासितत्वात् पुनरुक्तवदाभासः ॥१२॥

अर्थ—दशरथ ने आँखें मुँदे हुए कहा–'हे गृहिणि! तू धन (रूपक्य आदि द्रव्य) सोना, श्रेष्ठमणियाँ–सब प्रचुरमात्रा में ले ले; पर भयंकर वनगमनरूप वर को छोड़ दे। इस वर के बदले सब कुछ माँग ले ॥१२॥

ऋक्थमिदं मे सुते सति नृपे
षड्रसमन्तः सति हि सुभोज्ये।
योषा कुलजा पटुरथ गुरुतोऽ-
भ्यासमिता सेत्यवेत्य नोचे ॥१३॥

सुते पुत्रे भरते नृपे राज्ञि सति विद्यमाने इदं पूर्वोक्तम्। ऋक्थं धनम्। मे ममैवास्तीति शेषः। अत्र दृष्टान्तयति—सुभोज्ये शोभने भोज्यपदार्थे हि सति। षड्रसं षण्णां रसानां मधुरादीनां समाहारः अन्तः अन्तर्भूतमेवास्तीति शेषः। इति इत्थम्। योषा जात्या स्त्री, ततः कुलजा कुलीना, ततः पटुः चतुरा, अथ ततः गुरुतः गुरोर्मन्थरातः अभ्यासं शिक्षाया आवृत्तिम् इता प्राप्ता सा। अवेत्य (तीक्ष्णतया) ज्ञात्वा न ऊचे नैव वदति स्म। तूष्णीमेवाऽतिष्ठदिति भावः। अत्र योषात्वादिजात्या स्वतः सिद्धस्य तीक्ष्णज्ञानस्योत्कर्षार्थं कुलजात्यादीनां निर्देशादनुगुणालंकारः। तल्लक्षणं तु "प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः।" इति ॥१३॥

अर्थ—अपने पुत्र भरत के लिये तुमने राज्य मांगा है, इसके बाद कुछ और मांगना अनुचित है। जिसने षट् रसों से अपने को तृप्त कर लिया, उसके सामने कितना ही सुस्वादु भोजन रखा हो–वह व्यर्थ है! तू श्रेष्ठ कुलोत्पन्ना है, चतुरा है और सुशिक्षिता है–फिर ऐसा कथन अनुचित है ॥१३॥

---

१. 'स्वर्णेऽपि राः' इत्यमरः।
२. 'स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ' इत्यमरः।
३. 'गृहं गृहा पुंभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि।" इत्यमरः।

गर्हां लप्स्ये, न हा धिगर्हां

मन्मथवशगो विनश्यतीति।

सर्वं रघुवर-विरह-पिशाचाऽऽ-

वेशाद् विमृशन् नृपतिरमूर्च्छत् ॥१४॥

हा धिक् ! कष्टम् धिक्कारविषयश्चेत्यर्थः। अहं गर्हां निन्दां लप्स्ये प्राप्स्यामि, अर्हां प्रशंसां न प्राप्स्यामीत्यर्थः। 'गर्हाम्' इत्यस्य द्विरावृत्त्या यमकम्। मन्मथवशगः कामजितः (जनः) विनश्यति हानिं प्राप्नोतीत्यर्थः। इति इत्थं सर्वं रघुवरस्य विरहः भावी वियोगः स एव पिशाचस्तस्य आवेशात् आक्रमणात् (हेतोः) विमृशन् चिन्तयन्। नृपतिः अमूर्च्छत् मूर्च्छां प्राप्नोत्॥१४॥

अर्थ—हा ! धिक्कार है ! मुझे निन्दा मिलेगी, प्रशंसा नहीं मिलेगी' जो कामवश होता है, उसका विनाश हो जाता है। राम के भावी विरह-पिशाच से विकल राजा सोच करते-करते बेहोश होकर गिर गये॥१४॥

वधूस्तु तस्याह्वयदिह रामं

धारिताञ्जलिं तथाह वृत्तम्।

याथार्थ्यमवेत्य स समुदूचे

सुसुतः स हि योऽनुचरति पितरौ ॥१५॥

तस्य नृपतेः। वधूः कैकयी तु। इह अत्र स्थाने। रामम् आह्वयत् आह्वयति स्म। तथा पुनः। धारिताञ्जलिं कृताञ्जलिं तं रामं वृत्तम् अतीतं वृत्तान्तम्। आह उवाच। स रामः याथार्थ्यं यथार्थताम्। अवेत्य ज्ञात्वा। समुत् सानन्दम् ऊचे। पितरमुद्दिश्येति सप्तदशपद्यात् भावो ज्ञेयः। स हि सुसुतः सुपुत्रः। यः पितरौ माता-पितरौ। "पिता मात्रा" इति पितुः शेषत्वम्। अनुचरति आज्ञापालनादिनाऽनुकूलयति॥१५॥

अर्थ—वधू कैकेयी ने राम को बुलाया। सारी बात कह सुनाई। राम ने श्रद्धावनत हो पूर्ण रूप से सारी बातें जान ली। हाथ जोड़कर इतना कहा—'जो माता-पिता की आज्ञा के अनुसार चलता है, वही सपूत है' ॥१५॥

रक्षिष्यति मां वनेऽपि पित्रो-

रयमेवाज्ञाऽनुसरणकवचः।

क्षत्त्र-सुतोऽहं क्षतान्न भीरुः,

साम्प्रतमेमीयता न शोच्यम् ॥१६॥

वनेऽपि माम् अयम् एष पित्रोर्मातापित्रोः आज्ञानुसरणकवचः आज्ञापालनरूपः कवच एव। रक्षिष्यति पालयिष्यति। अहं क्षत्त्रसुतः क्षत्रियः (अस्मि)। अत एव क्षतात् हानेः। न भीरुः न विभेमीत्यर्थः। साम्प्रतम् अधुना। एमि गच्छामि। इयता एतावता एतावन्मात्रप्रसङ्गेनेति भावः। न शोच्यम् शोको न कार्यः॥१६॥

अर्थ—'माता पिता का यह आज्ञापालन वन में भी मेरा रक्षा कवंच बनेगा। क्षत्रिय का अर्थ है जो क्षत से नाश-से-'त्र' यानी त्राण करे-फिर मैं क्षत्रियपुत्र होकर विघ्नों (हानि) से क्यों डरूँगा। मैं अभी वन को प्रस्थान करता हूँ। इतनी सी बात के लिये शोक, चिन्ता कैसी?॥१६॥

सम्बोध्य पितरमिति निजजननी

तेन विनम्याऽनुमतिमयाचि।

षाण्मातुरमिव शिवाऽन्वशात् त-

म्प्रस्नुतदृक्कुच-सुवाक् क्रमात् सा ॥१७॥

इतीत्थं तेन पितरं दशरथं संबोध्य समाश्वास्य। निजजननी कौशल्या। विनम्य नत्वा। अनुमतिम् अनुज्ञाम्। अयाचि, प्रार्थिता। ननु 'पितरं संबोध्य' इतिवत् 'निजजननीं विनम्य' इति द्वितीयान्तेन भाव्यमिति चेत् "गुणक्रियातोऽभिहिते प्रधानक्रियया क्वचित्। कर्मोच्यते, यथा देवः स्तोतुं शक्यो न

केनचित्॥" इति वचनात् प्रधानया 'अयाचि' क्रियया सह कर्मणो विवक्षितत्वेन प्रथमान्तत्वेऽपि न दोषः। सा कौशल्या। शिवा गौरी षाण्मातुरं कुमारमिव। तं रामम्। क्रमात् क्रमेण। प्रस्नुते स्नुते दृशौ कुचौ सुवाक् आशीश्च यस्याः सा तथोक्ता सती। अन्वशात् अनुमेने। यद्वा प्रस्नुतेत्यादि क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्येयम्। प्राग् वियोगशोकेनाश्रुपातः, ततः प्रेम्णा स्तन्यपातः, ततश्च शुभवचनात्मकाशीर्वृष्टिः संजातेति तात्पर्यम्॥१७॥

अर्थ—राम ने पिता दशरथ को धीरज बंधाया, माता कौशल्या के सामने झुककर वन गमन की आज्ञा मांगी। कौशल्या ऐसी दिखती थी जैसे पार्वती हो और राम छःमाताओं के पुत्र साक्षात् कार्तिकेय हों। कौशल्या के पहले दुःख से आँसू झरते रहे, फिर मातृत्व के आवेश में स्तनों से दूध उमड़ा और फिर शुभ वचनों से आशीर्वाद की वर्षा की॥१७॥

विशेष—वियोग (शोक) से अश्रुपात, प्रेम से दूध का झरना और शुभ वचनों से आशीर्वृष्टि–तीन बरसातों का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है॥१७॥

तिग्मं विषं[1]मिव वनगमवृत्तं

शुक् तथाऽऽनशे पुरे प्रतिगृहम्।

श्रावक-वाचक-कथा वराकी

वरा कीर्तिरपि सुमातुरनशत्॥१८॥

तिग्मं तीक्ष्णं विषं गरलमिव वृश्चिकादेरिति भावः। वनगमवृत्तं रामवनगमनवृत्तं तथा शुक् तज्जनितः शोकश्च। पुरे प्रतिगृहम् आनशे व्याप। स्वयमेवेति भावः। वराकी दीना "जल्पभिक्ष" इत्यादिना षाकनि षित्त्वान् ङीष्। शृण्वन्ति ते श्रावकाः। ब्रुवन्ति ते वाचकाः। तेषां कथा वार्ता। अपि तथा। सुमातुः कैकेय्याः। कीर्तिः सुमातृत्वजनितं यशः। अनशत् नष्टा। पुषादित्वादङ्। संभूय मिलितानां जनानां नवकौतुकवर्धिनी कथा कैकयीकीर्तिश्च यथासंख्यं वनगमनवृत्तेन शुचा च नष्टेति भावः। 'वराकी' इत्यस्य द्विरावृत्त्या यमकमपि॥१८॥

अर्थ—राम के वनगमन का यह वृत्तान्त भयंकर विष की तरह अयोध्या के घर-घर में व्याप्त हो गया। बेचारे सुनने वाले और कहने वाले दुःखी हो रहे थे और कैकेयी की सुमाता होने की कीर्ति नष्ट हो गयी॥१८॥

सहगमनाय सीतायाः प्रार्थनमाह—

राममनिच्छन्तमपि हि सीताऽ-

क्षम्यभावि-पतिवियोगभीता।

सारमवोचत् सनति विनीता

नांऽशतोऽपि तनुधृतिरसुवीता॥१९॥

अनिच्छन्तं सह-गमनम् अवाञ्छन्तमपि हि रामम्। अक्षम्योऽसह्यो यो भावी भविष्यन् पतिवियोगस्तस्माद् भीता सती। विनीता नम्रा। सीता सारं निष्कर्षभूतं यथा स्यात्तथा। सनति सप्रणामम्। अवोचत् अवदत्-असुभिः प्राणैः। वीता वर्जिता। तनुधृतिः शरीरावस्थानम् अंशतोऽपि लेशतोऽपि। न भवतीति शेषः। प्राणेषु भवत्सु गतेषु तनोर्मम जीवनं कदापि न भविष्यतीति सहनयनमेव युक्तमिति भावः। पर्यायोक्तम्, पादान्तानुप्रासोऽपि॥१९॥

अर्थ—सहगमन के लिये सीता की प्रार्थना : राम सीता को साथ लेकर वनवास में नहीं जाना चाहते थे। सीता असह्य विरहव्यथा से व्याकुल और डरी हुई, झुकी खड़ी थी–इतना ही साररूप से कह पाई–'प्राणों के निकलने पर शरीर किसी भी प्रकार अंश मात्र भी टिका नहीं रह सकता'॥१९॥

लक्ष्मणस्य प्रार्थनमाह—

तदनु लक्ष्मणोऽञ्जलिधर ऊचे

दासमृते किं प्रभोः प्रभुत्वम्?।

---

१. विषपदं सर्गनामोपलक्षणम्।

वधू-बान्धवौ विपदि हि बोध्यौ,

नेदीयांसः शुभे तु सर्वे ॥२०॥

तदनु तदनन्तरम् अञ्जलेः धरः कृताञ्जलिरित्यर्थः। लक्ष्मणः ऊचे। अनिच्छन्तमपि राममिति पूर्वतः संबध्यते। किं दासं सेवकम् ऋते विना। प्रभोः स्वामिनः। प्रभुत्वं स्वामित्वम्। संभवतीति शेषः। कदापि नेत्यर्थः। विपदि विपत्तौ हि। वधू-बान्धवौ स्त्री-बन्धू शोभना स्त्री शोभनो बान्धवश्चेत्यर्थः। बोध्यौ ज्ञेयौ परीक्षणीयावित्यर्थः। शुभे शुभसमये तु संपदीत्यर्थः। सर्वे सकलाः (कुटुम्बिनः) नेदीयांसः समीपतरवर्तिनः। भवन्तीति शेषः। अन्तिकस्य नेदादेशः। अतो ममापि सहगमनमेवोचितमित्याशयः॥२०॥

अर्थ—लक्ष्मण ने यह प्रार्थना की : तदन्तर लक्ष्मण ने अंजलि बांधकर कहा–'हे प्रभो ! प्रभु का प्रभुत्व बिना सेवक के कैसा ? सेवक नहीं तो प्रभु नहीं। वधू और प्रिय बन्धु (बान्धवों) की विपत्ति में ही परख होती है। सुख में तो सभी निकट रहते हैं॥२०॥

रामस्यानुमतिमाह—

प्रसन्नचित्तः प्रसन्नचित्तौ

तितिक्षुहृदयस्तितिक्षुहृदयौ।

ज्ञात्वा श्यामा-बुधौ निदिदिशेऽ-

तश्चलितुं तौ स रामचन्द्रः ॥२१॥

प्रसन्नचित्तः तितिक्षुहृदयः वातातपादिसहिष्णु-मनाः स राम-चन्द्रः। प्रसन्नचित्तौ तितिक्षुहृदयौ तौ सीतालक्ष्मणौ। श्यामाबुधौ अप्रसूत-स्त्री-पण्डितौ ज्ञात्वा मत्वा। अतः इतः स्थानाच्चलितुं प्रस्थातुं सह गन्तुमिति भावः। निदिदिशे आज्ञप्तवान् अनुमेने इति भावः। "अप्रसूताऽङ्गना भर्त्रा नैव त्याज्या कदाचन" तथा च "संग्राह्यः पण्डितो जनः" इति नीतिवचनात्। चन्द्रश्च श्यामां रात्रीं बुधं रौहिणेयं च सह गृह्णात्येवेति कविसंप्रदायः॥२१॥

अर्थ—राम की स्वीकृति : वातादि को सहन करने वाले राम ने प्रसन्नता से प्रसन्न चित्त दोनों को (सीता-लक्ष्मण को) (वे भी विषम कष्ट सहिष्णु थे) साथ चलने की आज्ञा दी। क्योंकि नीतिवचन है कि श्यामा को (अप्रसूता षोडशी को) तथा पण्डित को छोड़कर नहीं जाना चाहिये, साथ रखना चाहिये। जैसे चन्द्रमा रात को और बुध को साथ लिये रहता है॥२१॥

विशेष—(१) 'अप्रसूतांगना भार्या नैव त्याज्या कदाचन।'

(२) 'संग्राह्यः पण्डितो जनः' ॥२१॥

अथ करुणरसमुद्भावयन् वनप्रस्थानप्रसङ्गं वर्णयति—

चलितुमनसमथ नरोऽश्रुनीरै

राममसिञ्चन्, न तीर्थनीरैः।

मेघ इव तमो दधे स कृष्णै-

णचर्म, तडितं न पीतवेशम् ॥२२॥

अथानन्तरम्। चलितुमनसं प्रस्थातुकामं रामम्। नरः पुरुषाः। अश्रुनीरैः असिञ्चन् अभ्यषिञ्चन्। तीर्थनीरैः अभिषेकार्थानीततीर्थजलैः न असिञ्चन्। स रामः मेघः तमोऽन्धकारमिव कृष्णैणचर्म कृष्णमृगाजिनं दधे दधार। तडितं विद्युतमिव पीतवेशं न दधे। मेघो यथा विद्युत्स्थानापन्नं कदापि तमो दधाति तथा सोऽपि पीतवेषस्थानापन्नं कृष्णाजिनं दधाविति भावः॥२२॥

अर्थ—वन-गमन के समय करुण-रस वर्णन : वन गमन के समय नरों ने राम को अभिषेकजल से नहीं, आँसूओं से सींचा। रामरूपी मेघ ने अन्धेरे की तरह अपने को कृष्णमृगचर्म से आच्छादित किया न कि बिजली रूपी पीताम्बर से॥२२॥

विशेष—राम के विरह में लोग आँसू बहाते रहे और राम तापस वेष में कृष्ण मृगचर्म धारण कर वन की ओर चले॥२२॥

वन्द्याक्रन्दं, न वन्दमकृता-

धः पेतुर्नाऽक्षतास्तु, वनिताः।

संताडयति स्म चाङ्गमङ्गं

यथायथं, नो जनो मृदङ्गम्॥२३॥

वन्दी स्तुतिपाठकः। रोदनम् अकृत अकरोत्। वन्दं स्तुतिपाठं न। वन्देर्घञ्। अक्षताः लाजा न अधः पेतुः। तु किन्तु वनिताः स्त्रियः अधः पेतुः। रामाभिमुखं तद्गमननिवारणायेति भावः। जनः यथायथं यथास्वम् अङ्गम् अङ्गं मस्तकादिकं प्रत्यङ्गं संताडयति स्म, मृदङ्गं मुरजं न। अभिषेकप्रस्तावस्थाने वनगमनप्रस्ताव उपस्थित इत्येतयोः पद्ययोर्निष्कर्षः॥२३॥

अर्थ—वन्दीजन ने स्तुति पाठ नहीं किया, उसके स्थान पर वे रोने लगे, राम के ऊपर स्वागतलाजा नहीं फेंके गये, अतः नीचे नहीं गिरे, उनकी जगह स्त्रियाँ नीचे गिर पड़ी। मनुष्यों ने मृदंगताड़न नहीं किया, उसकी जगह अपने शिर आदि को शोकाधिक्य से पीटने लगे॥२३॥

तिर्यञ्चोऽप्यथ रुरुदुरजस्रं

रमिता गावोऽपि ववृषुरस्रम्।

क्षणेन हाहारव इह पुर्य्यां

साम्प्रतमहहाऽऽस्त च सुरपुर्याम्॥२४॥

अथ तिर्यञ्चः शुकसारिकादयः पक्षिणोऽपि अजस्रम् अनवरतं रुरुदुः। रमिता लालिताः रामेणेति भावः। गावो धेनवोऽपि अस्रम् अश्रु ववृषुः अमुञ्चन्। साम्प्रतम् अधुना। क्षणेन क्षणमात्रेण। इह अस्यां पुर्य्याम् अयोध्यायाम्। अहह आश्चर्ये। सुरपुर्यां स्वर्गे च हाहारवः हाहाकारः आस्त आसीत्। स्वर्गे तु रामवनगमनेनानन्दो भवेदिति विरोधं दर्शयितुं 'अहहे' ति प्रयुक्तम्। स्वर्गेहाहागन्धर्वस्य रवो गानशब्द आसीदित्यर्थेन तत्परिहारः। "हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्।" इत्यमरः॥२४॥

अर्थ—और तो और पशु-पक्षी भी राम-विरह में आँसू बहाते रहे। हाथ से पाली पोंसी गई गायों की आँखों से आँसू झरते रहे। क्षणभर में धरती पर हाय! हाय! होने लगा और स्वर्ग में 'हाहा-हूहू' गन्धर्वों का आनन्द के कारण गान होने लगा॥२४॥

ऋषयोऽनुजमैक्षिषत मृदुमपी-

षीकतूलमिव तमन्तरमृदुम्।

णादिकशब्दोज्झितमिव कोश-

मग्निमहिममिव रघुपमविकृतिम्॥२५॥

ऋषयो वशिष्ठादयो मुनयः। तम् अनुजं रामानुजं लक्ष्मणमित्यर्थः। इषीकतूलं तूलिकावेष्टितं तूलम् इव "इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु" इति ह्रस्वः। मृदुमपि बहिः कोमलमपि। अन्तर्मनसि अमृदुं क्रूरम् ऐक्षिषत ददृशुः। कैकेय्याचरितमननादिति भावः। तथा रघुपं रामम्। ण आदिर्येषां ते तथोक्ता ये शब्दाः तैरुज्झितं रहितम्। कोशं संस्कृताभिधानसंग्रहग्रन्थमिव। अथच। अहिमं तुहिनरहितम् अग्निम् इव अविकृतिं कोपवैमनस्यादिविकाररहितम् (ऐक्षिषत)। परकीयमनोज्ञानस्य ऋषीणामेवाधिकारसंभवात्ते एवात्र कर्तृत्वेन विवक्षिता इति ज्ञेयम्॥२५॥

अर्थ—वशिष्ठादि ऋषियों ने देखा—लक्ष्मण जो शरीर से तूल की तरह कोमल दिखता है, वह भीतर से कठोर (दृढ़) है। और राम को निर्विकार देखकर ऐसा लगा—जैसे संस्कृत का कोश हो—जो 'ण' से प्रारम्भ होने वाले अभिधान या शब्दों से रहित हो या उस अग्नि के समान दिखाई पड़े, जो तुहिनरहित-निर्धूम हो। ऋषियों को ही बाह्यरूप के भीतर छिपे अन्तःस्वरूप का ज्ञान हो सकता है॥२५॥

निदिष्टेन भूभुजाऽस्य सजुषा

कल्पितमुदश्रु सुमन्त्र-विदुषा।

पादौ नत्वा रथमधिरूढा

नांऽशतोऽपि ते, जनास्तु मूढाः॥२६॥

पादौ चरणौ पूज्यानां दशरथादीनामिति भावः। नत्वा प्रणम्य। भूभुजा राज्ञा दशरथेन। निदिष्टेन आज्ञप्तेन। अस्य भूभुजः सजुषा सह जुषते इति सजूर्मित्रं तेन। सुमन्त्रविदुषा सुमन्त्रनाम्ना विज्ञेन। उदश्रु उद्गतान्यश्रूणि यत्र कर्मणि तत्तथा। कल्पितं योजितम्। रथम् अधिरूढा आरूढाः सन्तस्ते सीतारामलक्ष्मणाः। अंशतोऽपि लेशतोऽपि न मूढाः मोहं न गताः। तु किन्तु। जनाः मूढाः मोहं (मूर्छां) गताः। पादान्तानुप्रासः॥२६॥

अर्थ—राजा दशरथ की आज्ञा से बुद्धिमान् सुमन्त्र रोते-रोते रथ ले आया। दशरथ के चरणों में प्रणाम करके राम लक्ष्मण और सीता रथारूढ़ हो गये, मन में किसी प्रकार का मोह नहीं किया, लेकिन प्रजाजन मोह को (मूर्च्छा को) प्राप्त हो गये॥२६॥

दवीय इत्वा निवर्तमानोऽ-
ण्डज इवं पक्षद्वितय-विहीनः।
कालनीत इव सुतयुगमुक्तोऽ-
रण्यात् कथमपि पुरं नृपोऽयात्॥२७॥

दवीयः सुदूरम्। "स्थूलदूर" इत्यादिना सिद्धम्। इत्वा गत्वा। निवर्तमानः प्रत्यागच्छन्। सुतयुगेन पुत्रयुगलेन। मुक्तो रहितः। पक्षद्वितयविहीनः पक्षद्वयरहितोऽण्डजः पक्षीव। नृपः राजा दशरथः। कालनीत इव मृत्युना प्रापित इवेत्युत्प्रेक्षा। अरण्याद् वनात्। पुरम् अयोध्यानगरीम्। कथमपि कथंचित् कष्टेनेत्यर्थः। अयात् प्रापत्॥२७॥

अर्थ—राजा दशरथ सुदूर जाकर दोनों पुत्रों से रहित हो वन से यों अयोध्या को बड़ी कठिनाई से लौट आये, जैसे कोई पक्षी दो डैनों के बिना नीचे लौटा हो। जैसे मृत्यु ही उन्हें अयोध्या में ले आई हो॥२७॥

यत्र तत्र होदपादि रुदितं
वासे वासे तदा न मुदितम्।
सितकर आह्निक इव गतधामा
नाम्ना राजा न सार्थनामा॥२८॥

यत्र तत्र सर्वत्रेत्यर्थः। हा कष्टम्। रुदितं रोदनम् उदपादि उत्थितम्। तदा वासे वासे गृहे गृहे। मुदितम् आनन्दो न। आसीदिति शेषः। रुदित-मुदितयोर्भावे क्तः। आह्निकः दैनिकः "कालाट्ठञ्" इति ठञि "अह्नष्ठखोरेव" इति नियमाद् "नस्तद्धिते" इति टिलोपो न। सितकरश्चन्द्र इव गतधामा निस्तेजा राजा नृपः। नाम्ना नाममात्रेणैव आसीदिति शेषः। सार्थनामा राजते इति राजेति व्युत्पत्त्या चरितार्थनामा नासीदित्यर्थः। तदा राजा शोभा-विहीन एव संजात इति भावः॥२८॥

अर्थ—उस समय अयोध्या के घर-घर में 'हा! कष्ट !! हा ! कष्ट !!' रुदन की ध्वनि ही सुनाई पड़ रही थी, कहीं आनन्द नहीं था। जैसे दिन के समय चाँद निस्तेज (फीका) हो जाता है, राजा कोरे नाम के 'राजा' शोभित होनेवाले थे, पर वास्तव में उनमें शोभा का नामोनिशान तक नहीं था॥२८॥

इतः परं रामादीनां वनवासकथामाह—

ते गतवन्तोऽथ शृङ्गवेरे
नता व्यश्रमन् गुहेन राज्ञा।
ततो विसृष्टः सुमन्त्र आर्त्या
त्रैलोक्यादिव बहिष्कृतोऽगात्॥२९॥

अथ ते रामादयः। गतवन्तः सन्तः। गुहेन राज्ञा शृङ्गवेराधीशेन। नताः प्रणताः सन्तः। शृङ्गवेरे तदाख्ये तदीयपुरे। व्यश्रमन् विश्रान्ताः। पुषादित्वादङ्। ततः तेभ्यो रामादिभ्यः त्रिभ्यः। विसृष्टः विसर्जनं प्राप्तः। सुमन्त्रः। त्रैलोक्यात् त्रिभुवनात्। चतुर्वर्णादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्। बहिष्कृतो निर्वासित इव। आर्त्या तद्विरहपीडया। "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया। अगात् अगमत्। अयोध्यां प्रतीत्यर्थः॥२९॥

अर्थ—अब राम के वनगमन का वर्णन : वे शृंगवेर पुर गए, वहाँ राजा गुह ने उनके प्रति सेवा भाव

प्रकट किया। वहाँ सबने विश्राम किया फिर राम-लक्ष्मण-सीता ने सुमन्त्र को विदाकर अयोध्या भेज दिया। तीनों से वियुक्त होने के कारण ऐसा लगा जैसे उसे त्रिभुवन से निष्कासित कर दिया हो॥२९॥

वक्ति गाङ्गतटमितः स्म स गुहो

वद, नावि कोऽस्ति, तदेव सोऽवक्।

स चारोप्य तांस्तदिङ्गितेन

तारयमाणोऽन्वयुङ्क्त सचिवान्॥३०॥

गाङ्गं गङ्गाया इदं तटं तीरम्। इतो गतः सन्। स गुहः शृङ्गवेराधीशः। वक्ति स्म वदति स्म। नाविकमुद्दिश्येति भावः। वद ब्रूहि। नावि तरणौ कोऽस्ति ? स नाविकः तदेव गुहोक्तमेव अवक् अवदत्। 'नाविकोऽस्तीति' प्रष्टुः प्रश्नरूपमेव। उत्तरितवानिति भावः। अत्र प्रश्नोत्तरालङ्कारः। स नाविकश्च तस्य गुहस्य इङ्गितेन चेष्टाकृतसूचनया। तान् रामादीन् आरोप्य अधिष्ठाप्य। नावमिति शेषः। तारयमाणः तारयन् सन्। सचिवान् मार्गसेवार्थमागतान् गुहमन्त्रिणः। अन्वयुङ्क्त अपृच्छत्। "स्वराद्यन्तोपसर्गाद् (युजेः)" इत्यात्मनेपदम्। 'नाविकः' इति तु "तरति" इति ठगन्तो ज्ञेयः॥३०॥

अर्थ—शृंगवेर का स्वामी गुह गंगा के तट पर आया, उसने प्रश्न किया—'नाव में कौन है ?' नाविक ने 'नावि कोऽस्ति ?' इस प्रश्न को ही 'नाविकोऽस्ति' इस उत्तर रूप में (यह नाविक है) पलट कर कहा॥३०॥

विशेष—यहाँ प्रश्नोत्तर-अलङ्कार है। उसके बाद नाविक ने राम-लक्ष्मण-सीता को नाव पर चढ़ाकर तैराता हुआ, मार्ग में सेवा करने हेतु आये हुये गुह के मन्त्रियों से प्रश्न किये॥३०॥

जन कस्य सुताऽस्त्यसौ भगवती ?

ननु को दण्डी विभाति देवः ?।

स्थापितसेवाव्रतोऽनुगत् को ?

नरोऽवदन्नुत्तरी त्वमेव॥३१॥

हे जन लोक ! इति सचिवान् प्रति संबोधनम्। असौ इयं भगवती ऐश्वर्यशालिनी कस्य सुता पुत्री ? जनकस्य पुत्रीत्यत्रैवोत्तरम्। नन्विति प्रश्ने आमन्त्रणे वा। दण्डी संन्यासी को देवो राजा "देवो राज्ञि सुरे मेघे" इति मेदिनी। विभाति शोभते ? कोदण्डी धनुष्मान् देवः श्रीरामचन्द्रः इत्युत्तरमत्रैव। स्थापितं गृहीतं स्थिरीकृतं वा "तत्करोति' इति णिचि 'प्रियस्थिरस्फिरोरु०' इत्यादिना स्थादेशः। सेवाव्रतं येन सः तथोक्तः। अनुगत् अनुगच्छतीति क्विपि। अनुगामी कः। अस्तीति शेषः। तदुत्तरमत्रैव 'अनुगत्कः' अनुगत् एव अनुगत्कः। स्वार्थे कन्। अनुचर इत्यर्थः। अत एव नरः ते पुरुषाः। अवदन्—त्वमेव भवान् प्रष्टा एव उत्तरी। उत्तरमाचष्टे उत्तरयति, ततो ग्रह्यादेर्णिनिः। उत्तरदायीत्यर्थः। असीति शेषः। एतदपि प्रश्नोत्तरम्। अथ च-असौ एषां कस्य सुतेति प्रश्ने कस्य जलस्य सुता भगवती माहात्म्यवती। इत्यनिर्दिष्टनाम्न्याः स्पष्टत्वेनोत्तरम्। 'उत्तरी' इति। उत्कृष्टा तरी नौका। काष्ठस्य हि जननी-जनकाभ्यां भूमिजलाभ्यामुत्पन्नत्वात्तरी जलस्य जनकस्य सुता। दण्डी दण्डधरः देवः देवस्वरूपः को विभाति ? अस्योत्तरं 'त्वमेव।' नाविको हि नौकादण्डं धरत्येव। श्रीरामसेवया च स देवस्वरूपः। ततः स्थापितसेवाव्रतः कोऽनुगत् अनुचरः भगवद्दासपदवाच्यः ? अस्योत्तरमपि 'त्वमेव।' तादृक्सेवाधिकारित्वात्। इत्यर्थोऽपि नौ-नाविकयोर्धन्यत्व-सूचको ध्वन्यते॥३१॥

अर्थ—गुह-'हे जनो ! बताओं यह ऐश्वर्यशालिनी किसकी पुत्री है ? यह दण्डी-संन्यासी-राजारूप में कौन देव शोभित हैं ? यह सेवाव्रती अनुचर कौन है ? उत्तर में पथ दिखाने वाले सेवकों ने कहा—'आपने ही प्रश्न में उत्तर दे दिया है। 'जन कस्य सुता' का उत्तर 'जनकस्य सुता।' जनक की पुत्री 'को दण्डी विभाति ?' का उत्तर है-'कोदण्डी विभाति' यह कोदण्ड-धनुषधारी है, वही देव है। पीछे चलनेवाला कौन है ? यह जो 'अनुगत्क' है-यानी सेवक है, वही

यह लक्ष्मण हैं। दूसरा अर्थ है—तीनों प्रश्नों के उत्तररूप आप ही है—आपही उत्तरी (उत्तर देने वाले) उत्कृष्ट नौका वाले हैं, आपही दण्ड-यानी पतवार को धारण करने वाले हैं। आपही सेवक हैं॥३१॥

निश्चित्योदर्कमलघु धन्य-

वादभृतमपि स्वमातरमहो।

सिद्धः शिशुरिव स नेच्छति स्म,

नीचोऽपि हि वेत्ति हानि-लाभौ॥३२॥

स नाविकः। सिद्धः सिद्धिं संसारवैमुख्यरूपं साफल्यं प्राप्तः। शिशुः बालक इव। उदर्कम् उत्तरं फलम् ''उदर्कः फलमुत्तरम्'' इत्यमरः। अलघु महत् निश्चित्य निर्णीय। मदीयतारणपण्यस्वरूपं श्रीरामत आत्मतारणं प्राप्स्यामीति महद् भविष्यत् फलं निश्चित्येति भावः। अहो इत्याश्चर्ये। धन्यवादभृतं धन्यवाद-पूर्णमपि स्वम् आतरं तरणमूल्यम् ''आतरस्तरपण्यं स्यात्'' इत्यमरः। नैव इच्छति स्म ऐच्छत्। तारणमूल्यं नैव गृहीतवानिति भावः। सिद्धः शिशुरपि तादृशपुत्र-जन्मप्रदानाद् धन्यवादभृतं धन्यवादं बिभर्त्तीति क्विपि। लोकानां धन्यवादानुपार्जयन्तीमपि स्वमातरं स्वकीय-जननीं नैव इच्छति तत्कारयिष्यमाणविवाहादिबन्धन-भयादिति भावः। इत्येषा श्लिष्टोपमा। अथ च-नाविकपक्षे इत्थमपि अर्थः संभवति—उदर्कम् आत्मोद्धारस्वरूपं महत् फलं निश्चित्य धन्यवादभृतमपि तज्जन्म-प्रदानं विना कुत ईदृशस्य सौभाग्यस्य लाभ इति धन्यवादधारिणीमपि स्वमातरं स्वजननीं नेच्छति स्म न बहु मन्यते स्म। रामसदृशस्य पुत्ररत्नस्य वनवासने मातुः (कैकेय्याः) कारणत्वादिति भावः। यद्यपि रावणादिवधेन शुभोदर्कं रामवनवासनं तथापि एता-दृशस्य पुत्ररत्नस्य पतिदुःखमूलं वनवासनमनुचितमेव। तथैव शुभोदर्कमपि मदीयं जननं स्यात्, परं मा भूत्कदापि मन्निमित्तकं पितृभ्रात्रादीनां दुःखं मातुःकारणेनेति गूढविचारेण सोऽपि स्वमातरं न बहु मन्यते स्मेति तात्पर्यम्। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति—हि यतः। नीचोऽपि वर्णेनाधमोऽपि जनः। (स्वकीयौ) हानिलाभौ वेत्ति जानाति॥३२॥

अर्थ—केवट ने राम-लक्ष्मण-सीता को गंगा के पार करके उतराई के रूप में कुछ नहीं लिया। क्योंकि कौन ऐसा नासमझ होगा जो उतराई के रूप में अपने जीवन को सफल बनाने वाले—संसारसागर से पार उतरने के महान् फल को प्राप्त कर-इस लौकिकपण्य को प्राप्त कर अपनी जीती वाजी हारेगा। हमेशा साधारण से साधारण (ना समझ) भी अपने हानि-लाभ को समझता है॥३२॥

विज्ञभरद्वाजमुनिमपापं

रूपवन्तमिव तपःकलापम्।

पितृसममाप्य स्वपितृविरहजं

तापं रामो व्यमुञ्चत निजम्॥३३॥

रामः अपापं निष्पापम्। रूपवन्तं मूर्तिमन्तं तपःकलापं तपोराशिमिव। पितृसमं पितृसदृशम्। विज्ञं विद्वांसं भरद्वाजमुनिम्। आप्य प्राप्य। स्वपितृविरहजं स्वतातवियोगोद्भवम्। निजम् आत्मीयं तापं व्यमुञ्चत अत्यजत्। पितृनिरपेक्षं भरद्वाजकृतं वात्सल्यमन्वभूदिति भावः॥३३॥

अर्थ—राम ने विद्वान्, निष्पाप, मूर्तिमान् तपःस्वरूप भरद्वाज के दर्शन किये। अपने पिता दशरथ के विरह से उत्पन्न शोक (पीड़ा) को भूल गये। क्योंकि भरद्वाज से उन्हें पितासदृश वात्सल्यभाव मिला॥३३॥

शूर्पकर्ण-किरि-मृगेन्द्रघुष्टं

पनसं-पलाशादिविटपि-जुष्टम्।

णमिव तटवर्ग-परिवृतकूटं

खाश्लिष्टमगात् स चित्रकूटम्॥३४॥

स रामः। शूर्पकर्णैः गजैः "वराङ्गः पुष्करी शूर्पकर्ण-सामज-पैचिलाः।" इतिः त्रिकाण्डशेषः। किरिभिः सूकरैः "कोलः पोत्री किरिः किटिः" इत्यमरः। मृगेन्द्रैः सिंहैश्च घुष्टं शब्दितम् पनसपलाशादयो ये विटपिनो वृक्षास्तैर्जुष्टं सेवितम्। तथा णमिव णकारमिव। तटवर्गेण समस्थलसमूहेन। परिवृतं परिमण्डितं कूटं शिखरं यस्य स तम्। णकारपक्षे तु–तटवर्गाभ्यां तवर्गटवर्गाभ्यां परिवृतः परिमण्डितस्त-न्मध्यवर्तीत्यर्थः। तथाभूतश्चासौ कूटोऽविचालीति कर्मधारयः। वर्णानामविचालित्वधर्मादिति भावः। "कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ" इत्यादि मेदिनी। तम्। खाश्लिष्टं खेन आकाशेन आश्लिष्टमालिङ्गितं चित्रकूटं तदाख्यं गिरिम् अगात् प्रापत्॥३४॥

अर्थ—सामने चित्रकूट था, जो हाथियों, शूकरों और सिंहों के नाद से ध्वनित था, जो पनस, पलाश आदि वृक्ष समूह से आवृत था; जो 'ण' कार की तरह तवर्ग और टवर्ग से परिमण्डित था। (समस्थल-समूह से परिवृत शिखर वाला था।) और जिसके शिखर आकाश से आलिंगित थे।

जिस प्रकार से 'णकार' टवर्ग तवर्ग के मध्य में स्थिर है। इधर वह कवर्ग व चवर्ग के बाद आता है और दूसरी ओर उसके तवर्ग और पवर्ग होते हैं। इस प्रकार वह दो-दो वर्गों के मध्य में अटल है। इधर 'णकार' का उच्चारण स्थान भी मूर्द्धा है–जो ऊप र है, इसी प्रकार 'चित्रकूट' भी ऊपर आकाश से आलिंगित है।

'कूट' में श्लेष है। कूट का एक अर्थ है। निर्विकार स्थिर और दूसरा अर्थ है–शिखर॥३४॥

रामायैषोऽभिरोचते स्म

क्षमाभृदासीदयमचलो यत्।

सीताऽपि हृदाऽस्पृहयदमुष्मै

काम्यो गोत्रोद्भवः स गोत्रः॥३५॥

एष चित्रकूटः। रामाय अभिरोचते स्म सुभाति स्म। "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति संप्रदानम्। यद् यतः कारणात्। अयं चित्रकूटः। क्षमाभृत् क्षमां पृथ्वीं बिभर्ति तथोक्तः। तथा अचलो न चलतीत्येवंभूतः। रामस्याऽ-भिरुचिस्तु क्षमाभृत्त्वेन क्षान्तिमत्त्वेन अचलत्वेन दृढनि-यमत्वेन आत्मनः सादृश्योपलम्भात्। लोको हि स्वस-दृशामनुरज्यति। सीताऽपि हृदा मनसा अमुष्मै चित्रकूटाय अस्पृहयत् ऐच्छत्। "स्पृहेरीप्सितः" इति संप्रदानम्। अत्र हेतुमाह–गोत्रोद्भवः गोत्रा पृथ्वी तत उद्भवतीति तस्याः सीतायाः। गोत्र-(पर्वत) जायाश्च स (चित्रकूटः) गोत्रः पर्वतः काम्यः अभिवाञ्छनीयः। अथच गोत्रोद्भवः समानकुलजायाः सगोत्रः समानकुलजः काम्यो भवत्येव। इत्युभयत्राऽपि श्लिष्टत्वम्॥३५॥

अर्थ—राम को चित्रकूट बहुत प्रिय है; क्योंकि यह पर्वत क्षमा (पृथ्वी) का भरण-पोषण करता है और अचल है, भगवान् के गुण सादृश्य के कारण यह उन्हें प्रिय है, वे भी क्षमा करने वाले हैं और अचल (स्थिर) है।

सीताजी भी चित्रकूट को बहुत चाहती है क्योंकि चित्रकूट गोत्र है यानी पृथ्वी का त्राण करने वाला है और सीता भी गो (पृथ्वी) से उत्पन्न है अतः दोनों सगोत्री हैं॥३५॥

मनः सुमित्रोद्भवोऽप्यहृत सोऽ-

रूपि राम-पद-पवित्रितो यत्।

पिक-शुकचन्द्रकि-चकासि चपलै-

णीमृग इति तेऽवसन्निह सुखम्॥३६॥

स चित्रकूटः। सुमित्रोद्भवो लक्ष्मणस्यापि। मनश्चित्तम्। अहृत अहरत्। यत् सः रामस्य राघवस्य पदाभ्यां चरणाभ्यां पवित्रितः अरूपि दृष्टः। यद्वा रामाः पशुविशेषाः तेषां पदैः चरणैः पवित्रितः दृष्टः। लक्ष्मणस्य मनोहरणं तु राघवचरणपूतत्वेनैवेति ज्ञेयम्।

इति अस्मात् कारणात् ते रामादयस्त्रयोऽपि। पिकाः कोकिलाः, शुकाः कीराः, चन्द्रकिणो मयूराश्च तैश्चकास्ति शोभते इति क्विप्। तस्मिन्, तथा चपलाश्चञ्चला एणीमृगाः हरिणीहरिणा यत्र स तस्मिन्। इह अस्मिन् चित्रकूटे। सुखं यथा स्यात्तथा, सुखेनेत्यर्थः। अवसन्॥३६॥

अर्थ—लक्ष्मणहृदय को भी चित्रकूट ने आकर्षित कर लिया, क्योंकि वह भगवान् राम के चरणों से पवित्र था। वहाँ कोयल, तोता, चंचल मृग-मृगी सभी आनन्द से निवास करते थे और चाँदनी सदैव छिटकती रहती थी॥३६॥

रामप्रस्थानकथामुपवर्ण्येदानीमयोध्यावृत्त माह—

तत्रायोध्या-पुरे पुरेशोऽ-

तः प्राणसमे गते रघुवरे।

शूर्मिमिवाष्टापद-पद-दीप्रां

पर्यङ्केद्धां शितिमधृत तनुम्॥३७॥

तत्र अयोध्यापुरे। अयोध्या पूः "ऋक्पूरब्धू०" इत्यः प्रत्ययः। तस्मिन्। पुरेशो दशरथः। अतः एतस्मात् पुरात् एतस्यास्तनोश्च। प्राणसमे रघुवरे रामे गते सति। अष्टापदस्य स्वर्णस्य यत् पदमासनं तेन दीप्रां भासुरां "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इति रः प्रत्ययः। शूर्मिमिव लौहप्रतिमामिव। पर्यङ्केन स्वर्णमञ्चकेन इद्धां दीप्ताम्। अत्रेद्धशब्देन पर्यङ्कस्य सौवर्णत्वं व्यज्यते। नतु स्वतेजसेति भावः। शितिं श्यामां "शिती धवलमेचकौ" इत्यमरः। तनुं शरीरम्। अधृत धृतवान्। गतप्राणा च तनूः श्यामा भवत्येव॥३७॥

अर्थ—अयोध्या से राम के चले जाने से ऐसा लगा, जैसे दशरथ के प्राण ही चले गये हों। वह स्वर्ण से चमकता हुआ सिंहासन लौह की तरह काला हो गया; जैसे सोने के समान चमकता शरीर गतप्राण होने से स्याह हो जाता है। वैसे ही अयोध्या निस्तेज हो गई॥३७॥

दशरथस्य स्वर्गमनमाह—

ए इवाऽङ्गज-परकलावियोग-

खाञ्ज्याद् रा-मात्र-कथन-शक्तः।

वाक्-चेतोभ्यां तु राममाप्तो

याति दिवं स्म स नृपकुलतिलकः॥३८॥

अङ्गजः शरीरजः पुत्रो राम इत्यर्थः। स एव परा उत्कृष्टा कला परात्मशक्तिः तस्या यो वियोगो विरहः स एव खाञ्ज्यं खोडत्वं तस्मात् (हेतोः) रामवियोगजवैकल्यवशादिति भावः। ए इव एकार इव रामात्रस्य केवलं 'रा' इत्यस्यैव कथने उच्चारणे शक्तः समर्थः। वैकल्येन 'राम' इति पूर्णनाम्न उच्चारयितुमशक्यत्वादिति भावः। एकारपक्षे—अङ्गजा णकारवर्णस्य अङ्गभवा या परा अन्तिमा कला अंशः "कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके।" इत्यादि मेदिनी। तद्वियोग एव खाञ्ज्यं तस्मात् रा-मात्रकथनशक्तः। एकारस्य अन्तिमकलायाः पृथक्करणेन 'रा' इत्येवमेव उच्यते। वाक्चेतोभ्यां वाणीमनोभ्यां तु रामं पूर्णतया आप्तः आपन्नः। नृपकुलतिलकः दशरथः। दिवं स्वर्गम्। याति स्म अगमत्॥३८॥

अर्थ—दशरथ के स्वर्ग-गमन का वर्णन : राम का अलग होना दशरथ के लिये ऐसा हुआ जैसे उसकी परम कला ही चली गई हो। वे अब लूले लंगड़े से हो गये; अब उनसे 'राम' पूरा शब्द भी उच्चारित नहीं होता था, केवल 'रा' मात्र कह पाते थे। उनकी वाणी और उनका मन 'राममय' हो गये। नृपशिरोमणि दशरथ स्वर्ग को सिधार गये॥३८॥

विशेष—एकार (ए) की अन्तिम कला का वियोग ही खञ्ज-पना है, अर्थात् एकार की अन्तिम कला के पृथक्-करण से 'रा' का ही उच्चारण होता है।

दुर्दिन-सूर्यास्त-दर्श-तुल्या-

द्युक्त-विरह-नृप-मृति-भरतगमात्।

तान् नूनतुदत् त्रिगुणमिह तमः

सर्वतोमुखी विपद्धि पतति ॥३९॥

दुर्दिनं मेघच्छन्नं दिनं "मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्" इत्यमरः। तत्र सूर्यस्य अस्तम् अस्तंगमनम्। भावे क्तः। तदुपरि दर्शोऽमावस्या। तत्र हि चन्द्रप्रकाशस्याऽपि प्राप्त्यसंभवात्। एषां समाहारद्वन्द्वः। तत्तुल्यात्। युक्तयोः संगतयोः रामलक्ष्मणयोरिति भावः। विरहो वियोगः। तदुपरि नृप-मृतिर्दशरथमरणं, तत्रापि भरतस्य गमः मातुलगृहं प्रति प्रस्थानम्। एषां समाहारद्वन्द्वः। तस्मात् (कारणात्) इह अयोध्यायाम्। त्रिगुणं तमः शोकस्तिमिरं च तान् नूनं पुरुषान् अतुदत् व्यथयति स्म। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति–हि यतः। विपद् विपत्तिः। सर्वतोमुखी सर्वतः समन्ततो मुखं यस्याः सा तथाभूता सती। पतति आयाति ॥३९॥

अर्थ—दशरथ के मरने पर अयोध्या विपत्तियों से घिर गई।

एक था अकाल मेघाच्छन्न दिवस; दूसरा सूर्य का अस्त होना, तीसरी आ गई–अमावस्या जिसमें चन्द्रमा का अभाव। राम वनगमन, दशरथ की मृत्यु और भरत का ननिहाल होना–ये तीन विपत्तियाँ एक साथ अयोध्या पर आ गिरी! सत्य है–विपत्ति कभी अकेली नहीं आती ॥३९॥

वरर्षयो गुरुवशिष्ठवामा

राजकलेवरमणीयऋतभाः।

क्षतेराभरतनवार्कयोगं

सान्वयपरिकरमपुः कथंचित् ॥४०॥

वराः श्रेष्ठाः ऋषयः। तथा गुरवः पूज्याः वशिष्ठो वामो वामदेवश्चेति द्वन्द्वः। अणीयः अत्यल्पम् ऋता दीप्ता भाः कान्तिर्यस्य तत्। "ऋतं शिलोञ्छे पानीये पूजिते दीप्त-सत्ययोः।" इति हैमः। सान्वयपरिकरं सकुलपरिवारं "परिकरः पर्यङ्क-परिवारयोः।" इत्यादि हैमः। राजकलेवरं नृपशरीरं शवमित्यर्थः। भरत एव नवार्कः बालसूर्यः तस्य यो योगः संगतिः तस्मात् आ "आङ् मर्यादाभिविध्योः। इत्यव्ययीभावः। भरतागमनपर्यन्तमित्यर्थः। कथंचित् कथमपि। क्षतेः अणुकीटादिजन्यहानेः। अपुः अरक्षन्। तैलस्थापनाद्युपायेनेति भावः। अथच–अनन्तरोक्त-पद्यानुसारममावस्यारात्रियोगे, रमणीयऋतभाः रमणीया दीप्तकान्तयः। भाशब्दोऽत्र आदन्तः। वरर्षयः सप्तर्ष-यः, गुरुः बृहस्पतिः, वशिष्ठवामा अरुन्धती चैते मिलि-त्वाऽपि राजकलेव राज्ञश्चन्द्रस्यैका कलेव। तावत्प्रका-शधारणसमर्था इत्यर्थः। अन्वयपरिकरेण अनुयन्ति तेऽन्वया अनुगामिनस्तेषां परिकरः परिवारः तारासमूह इत्यर्थः। तेन सह विद्यमानं यथा स्यात्तथा नवार्कयोग-पर्यन्तं क्षतेः अन्धकारजन्यपादस्खलनादिहानेः लोकं रक्षन्त्येवेत्यर्थोऽपि ध्वन्यते ॥४०॥

अर्थ—गुरु वशिष्ठ वामदेव आदि ही अब कान्तिमय तारकमण्डली की तरह राजा के शव के रखवाले थे; पृथ्वी आदि से उत्पन्न कीटादि से रक्षा करने के लिये उसे तैल भरी नाव में सुरक्षित रखा। भरत ही अब बाल सूर्य है, उसके आने पर ही घनघोर रजनी बीत सकती है ॥४०॥

भरतानयनमाह—

खगवेगहयस्थ-सादिलोकै

रंहस्वितुरङ्गमस्थभरतः।

त्रिविष्टपादिव खगैः खगेशः

शिष्ट्यायांनायि मातुलगृहात् ॥४१॥

खगस्येव वेगो येषां ते खगवेगा ये हया अश्वाः तत्र तिष्ठन्ति तथोक्ता ये सादिलोकाः अश्वारोहिज-नास्तैः। रहस्वी रहो वेगोऽस्यास्तीति रंहस्वी यः तुर-

ङ्गमोऽश्वः तत्रस्थः भरतः। मातुलगृहात् शिष्ट्यै राज्य-शासनाय आनायि आनीतः। अत्रोपमिमीते-खगैः पक्षिभिः त्रिविष्टपात् स्वर्गात् खगेशः गरुड इव। यथा शासनाय स्वर्गात् पक्षिभिर्गरुड आनीयते तथेति भावः ॥४१॥

अर्थ—भरत के आगमन का वर्णन : तेज घोड़ों पर सवार भेजे गए। घोड़े पक्षीवेग से पहुँचे। भरत को वे शीघ्रता से ले आये–जैसे पक्षी स्वर्ग से गरुड़ पक्षी को ले आये हों ॥४१॥

विशेष—जिस प्रकार शासन के लिये पक्षियों के द्वारा स्वर्ग से गरुड लाया जाता है उसी प्रकार राज्य-शासन के लिये अश्वारोहियों के द्वारा मातुलगृह से भरत लाये गये।

भरतदशामाह—

रसैरविजितोऽपि ताम्रकूटैः

संविसर्जितोऽपि मातुलान्या।

चैत्यपथेऽभूत् स सद्भ्रमिकहृद्

वरशतद्रु-सृतिमितोऽपि तप्तः ॥४२॥

ताम्रकूटस्य 'तम्बाकू' इति प्रसिद्धस्य पदार्थस्य "संविदा ताम्रकूटं च कालकूटं च धुस्तुरम्।" इति तन्त्रम्। इमे 'तस्येदम्' इत्यणि ताम्रकूटा ये रसाः स्वादाः तैः अविजितः अवशीकृतोऽपि। ताम्रकूटप्रचारबहुलेषु केकयप्रदेशेषु निवासेनापाऽपि ताम्रगूटाऽनासक्तेरिति भावः। मातुलान्या मातुलपत्न्या मातुलस्य धत्तूरस्य स्त्रीव तया भङ्ग्या च "मातुलानी कलाये स्याद् भङ्गायां मातुलस्त्रियाम्" इति मेदिनी "मातुलोपाध्याययो-रानुग्वा" इत्यानुग् ङीष् च। संविसर्जितः प्रस्थापितो रहितश्चापि। भङ्ग्याऽप्यविजितोऽपीत्यर्थः। सः भरतः चैत्यपथे अयोध्यास्थविश्रामप्रदेशे "चैत्यमायतने बुद्ध-बिम्बे चोद्देश्यपादपे। यज्ञविश्रामदेवानां स्थानेषु च चितापदे॥" इति रुद्रः। सद्-भ्रमिकहृत् सन् विद्यमानो यो भ्रमः सोऽस्यास्तीति सद्भ्रमि, तथोक्तं हृद् हृदयं यस्य सः राजशोकेन चैत्यमार्गस्य शून्यत्वाद् भ्रमपूर्णहृदयो भरतोऽभूदिति भावः। अथ च ताम्रकूटभङ्गाभ्याम-विजितत्वेऽपि सद्भ्रमिकं विद्यमानभ्रमिरोगं हृद् यस्य सः। इत्यर्थेन विरोध आभासते। परिहारश्चापि प्रागुक्तेनार्थान्तरेण ज्ञेयः। तथा वरा श्रेष्ठा या शतद्रुसृतिः शतद्रुनदीमार्गः तम् इतः प्राप्तः सन्नपि, यद्वा वराः शतद्रवः वृक्षशतानि तत्पथम् इतः प्राप्तोऽपि तप्तः ताप-ग्रस्तः इति विरोधे, प्रागुक्तेन भ्रमेण तप्तो दुःखित इत्यर्थे तत्परिहारः ॥४२॥

अर्थ—भरतदशा का वर्णन : यद्यपि कैकेय प्रदेश में ताम्रकूट-'तम्बाकू' का प्रयोग होता है और वहाँ 'मातुलानी' भांग की भी लत है; पर भरत इससे प्रभावित नहीं रहे। और मामियों का और ननिहाल का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। पर, जब वे चैत्य-पथ पर आये, उसे जब जनशून्य देखा तो व्याकुल हो गये। इनकी इस व्याकुलता के ताप को शतद्रु नदी का मार्ग और सैकड़ों वृक्षों से आच्छादित शीतल मार्ग भी दूर न कर सका ॥४२॥

दूनमनाः पितृगतिं निशम्य

षण्मुख इव च स्वगणपति-वनम्।

णं ज्ञानीवाऽपहार्य मौनी

चैत्य उपाम्बं स्थितः स भरतः ॥४३॥

पितृगतिं पितृदशां पितुर्मरणमित्यर्थः। निशम्य श्रुत्वा। दूनमनाः संतप्तहृदयः। च पुनः षण्मुखः कार्त्तिकेय इव स्वगणस्य बन्धु-वर्गस्य यः पतिः स्वामी रामस्तस्य वनं वनगमनं निशम्य। षण्मुखपक्षे तु स्वगणपतेः बन्धुगणेशस्य वनं वनवासं निशम्येत्यर्थः। ज्ञानी ज्ञानवान् णं ज्ञानम्। "णकारः कीर्तितो ज्ञाने निर्णयेऽपि प्रकीर्तितः" इत्येकाक्षरः। अपहार्य हारयित्वैव मौनी तूर्ष्णीभूतः सन् स भरतः चैत्ये देवस्थाने उपाम्बम् अम्बाया मातुः समीपे "अव्ययं विभक्ति-

समीप०" इत्यादिनाऽव्ययीभावः। स्थितः तस्थौ। षण्मुखोऽपि अम्बाया दुर्गायाः समीपे तिष्ठत्येव ॥४३॥

अर्थ—पिता के मरण को सुनकर संतप्त-हृदय भरत अधीर हो गये। जिस प्रकार कार्त्तिकेय अपने भाई गणेश के वनवास को सुनकर देवस्थान पर अपनी माता (पार्वती) के पास चुपचाप खड़े रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी होते हुये भी ज्ञान को छोड़कर भरत चुपचाप अपने भाई के वनवास को सुनकर देवस्थान पर अपनी अम्बा (माता) के पास स्थित हो गये ॥४३॥

वसिष्ठादयो रुदन्तमन्ते

राजशवेक्षण-समसमयं तम्।

क्षरदश्रूणि प्रमार्ज्य 'कार्यं

सम्प्रति कुर्वि' त्यधीरयन् द्राक् ॥४४॥

अन्ते तत्तद्वृत्तश्रवणानन्तरम्। राज्ञो यः शवः कुणपः तस्येक्षणं दर्शनं तत्समसमयं तत्समकालम्। क्रियाविशेषणमिदम्। रुदन्तं तं भरतं वसिष्ठादयो मुनयः। क्षरन्ति स्रवन्ति अश्रूणि। प्रमार्ज्य परिमार्ज्य। "मृजेर्वृद्धिः" इति वृद्धिः। 'सम्प्रति अधुना। कार्यं कर्तव्यम् अग्निसंस्कारादिकं कुरु' इति। द्राक् शीघ्रम् अधीरयन् धीरीकृतवन्तः ॥४४॥

अर्थ—वशिष्ठादि ने रोते हुए भरत को राजा के शव को दिखाने के साथ ही साथ उसके बहते हुए आँसुओं को पोंछते हुए कहा कि इस समय जो करणीय हो, वही कार्य करो, यह कहकर उसे धीरज बँधाया ॥४४॥

निर्ह्रियमाणेऽथ शवशिबिकया

जनेशकुणपे सुतावरुदिताम्।

घातितवन्तः स्वमङ्गमङ्गं

नराश्च नार्योऽरिदेहघातम् ॥४५॥

अथ शवशिबिकया कुणपसंबन्धिना वाहनेन। जनेशस्य राज्ञः कुणपे शवे। निर्ह्रियमाणे उह्यमाने। सुतौ भरतशत्रुघ्नौ। अरुदितां रुरुदतुः। "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इति इट्। नरा नार्यश्च। अरिदेहघातं स्वं निजम् अङ्गम् अङ्गं घातितवन्तः ताडितवन्तः। शत्रुशरीरमिव स्वम् अङ्गं घातितवन्त इत्यर्थः। "उपमाने कर्मणि च" इति णमुल्। हिंसार्थेभ्यः स्वार्थेऽपि णिच्। "हनस्तोऽचिण्णलोः" इति तकारः ॥४५॥

अर्थ—राजा की अर्थी को ले जाते हुए भरत शत्रुघ्न रो रहे थे। स्त्री-पुरुष अपने अंगों को-शत्रु के अंगों की तरह पराया जान कर ताड़न करते हुये शोकविह्वल थे ॥४५॥

रमणे हत इव मृगे मृगयुणै-

णेयं यूथं, नृपयुवति-कुलम्।

राज्ञि कुविधिना हृते समस्तं

मस्तकवक्षोहतियुतमरुदत् ॥४६॥

मृगयुणा लुब्धकेन। रमणे प्रिये मृगे हते मारिते सति। ऐणेयम् एणीनां मृगीणामिदम् ऐणेयम् "एण्या ढञ्" इति ढञ्। यूथं कुलमिव। कुविधिना दुर्दैवेन। राज्ञि दशरथे। हृतेऽपहृते सति। समस्तं सर्वम् नृपयुवतिकुलं राज्ञीवर्गः। मस्तकवक्षोहतियुतं शिरोवक्षःस्थल-ताडनसहितम् (यथा स्यात्तथा)। अरुदत् अरोदीत्। "इरितो वा" इति च्लेरङ् ॥४६॥

अर्थ—जैसे कोई व्याध हरिण को मार देता है और हरिणियाँ व्याकुल हो जाती हैं, उसी प्रकार दुर्दैववश दशरथ की मृत्यु से रनिवास व्याकुल होकर अपने माथे और छाती को पीट-पीट कर रो रहा था ॥४६॥

ते नृपदारा अरक्षिषत चै-

पां यद् रघुपति-निरीक्षणाशा।

चैत्ये देवीव हृदि विरेजे,

वस्तु दिदृक्षुः कथं विनश्येत्? ॥४७॥

ते प्रागुक्ताः नृपदाराः कौसल्यादयो राज्ञ्यः। अरक्षिषत अनुमरणाद् रक्ष्यन्ते स्म। यद् यत एषां नृपदाराणाम्। हृदि मनसि। चैत्ये देवालये देवीव। रघुपतिनिरीक्षणाशा श्रीरामदर्शनलालसा। विरेजे शुशुभे। ''फणां च सप्तानाम्'' इत्येत्त्वाभ्यासलोपौ। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति–वस्तु सत्यार्थं ''वस्तु द्रव्ये च सत्यार्थे'' इति मङ्खः। दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः। कथं विनश्येत् क्षीयेत। न कथमपीत्यर्थः ॥४७॥

अर्थ—रानियों ने राजा के साथ सहगमन नहीं किया, राम के दर्शन की आकांक्षा से उन्होंने अपनी रक्षा की। जिस देहमन्दिर में देव विराजते हों, उसे नष्ट कैसे किया जा सकता है ?॥४७॥

परिसमाप्त और्ध्वदैहिकादौ

दानभोजनादिकेऽप्यवसिते।

नुन्नोऽप्यैच्छच्छ्रियं न भरतो

गान्धिक इव पूतिगन्धिवीथीम् ॥४८॥

ऊर्ध्वो देहः प्रेतदेहस्तत्र भवम् और्ध्वदैहिकम् मृतदिनमारभ्य सपिण्डीकरणान्तं क्रियमाणः कर्मकलापः। ''अध्यात्मादेष्ठञिष्यते'' इति ठञ्। ''अनुशतिकादीनां च'' इत्युभयपदवृद्धिः। तदादौ (कर्मणि) परिसमाप्ते सति। अपिच दानभोजनादिके गोदानब्राह्मणभोजनादिके अवसिते समाप्ते सति। नुन्नः प्रेरितोऽपि। वशिष्ठादिभिरिति भावः। भरतः श्रियं राज्यलक्ष्मीं नैच्छत्। अत्रोपमानमाह-गान्धिकः गन्धेन जीवति गान्धिकः। ''वेतनादिभ्यो जीवति'' इति ठक्। पूतिर्दुष्टो गन्धो यस्याः सा पूतिगन्धिः ''गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः'' इति इकारः। सा चासौ वीथी मार्गः तामिव ॥४८॥

अर्थ—जब अन्त्येष्टिक्रियासम्बन्धी सारे कार्य पूरे हो गये। दानभोजनादि सभी विहित कार्य पूरे हुए। तब वसिष्ठादि के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी श्री भरत राज्यलक्ष्मी को नहीं चाह रहे थे। जैसे कोई गन्धी-दुर्गन्ध से भरी हुई गली को नापसन्द करता है॥४८॥

वरौ विगर्ह्याऽहह 'रघुवंश-

नेतुस्त्वं वानवासिकाऽसि।

तस्यैव फलं पिता मृत' इति

मित्रां जननीमपावदत सः ॥४९॥

सः भरतः। वरौ प्रार्थितौ वरौ। विगर्ह्य निन्दित्वा। 'अहहेति खेदे। त्वं रघुवंशनेतुः रघुकुलनाथस्य रामस्य। वानवासिका वनवासः प्रयोजनमस्या इति वानवासी ''चूडादिभ्य उपसंख्यानम्'' इत्यण्। ततः स्वार्थे कन्। असि। तस्य रामवनवासस्यैव फलं पिता दशरथो मृतः' इति एवम्। मित्रां स्निग्धां त्वदर्थं मया सर्वं साधितमिति स्नेहं दर्शितवतीमित्यर्थः। जननीं कैकयीम् अपावदत अनिन्दत्। ''अपाद् वदः'' इत्यात्मनेपदम्। 'वानवासिका' पद-संकेतेन वानवासिकावृत्तस्य सूचनाद् मुद्रालङ्कारः ॥४९॥

अर्थ—भरत ने दोनों वरों की निन्दा की, क्योंकि इन्हीं के कारण रामवनगमन हुआ और जिसके परिणामस्वरूप पिता का मरण हुआ। इस प्रकार स्नेह दिखाकर सारा काम बिगाड़ने वाली अपनी माता की भरत ने निन्दा की॥४९॥

विशेष—यहाँ 'वानवासिका' शब्द से इस नाम का छन्द भी ध्वनित है। यहाँ 'मुद्रालङ्कार' है॥४९॥

निशम्य मन्त्रविदिति भरतगिरं

वशिष्ठ उभय-व्यथा-द्विरसनैः।

सकलशोकविषधरैर्विदष्टं

तारमाह तं चिकित्सितुमनाः ॥५०॥

इति इत्थम्। भरतस्य गिरं वचनं जननीनिन्दन-स्वरूपामित्यर्थः। निशम्य श्रुत्वा मन्त्रविद् राज्यसंचालनविचारज्ञो गारुडमन्त्रज्ञश्च वशिष्ठः। उभयप्रकारे ये व्यथे पीडे पितृमरण-रामवनवासस्वरूपे ते एव द्वे रसने जिह्वे येषां ते तथोक्तास्तैः। सकलाः सर्वे ये शोकाः 'सीतारामलक्ष्मणाः कीदृशं मां तर्कयिष्यन्ती' त्यादिकाश्चिन्तास्ते एव विषधराः सर्पास्तैः विदष्टं दंशितं तं भरतं चिकित्सितुमना स्वस्थीकर्तुकामः सन् तारम् उच्चैः स्वरेण। 'इदं श्रोतव्यं विषयं सर्वेऽपि शृण्वन्तु' इत्याशयेन स्वरस्य अत्युच्चत्वम्। आह उवाच ॥५०॥

अर्थ—मंत्रविद् (गारुड़ी) वशिष्ठ ने जब भरत की यह वाणी सुनी तो उन्हें ऐसा लगा यह दो वरदानरूपी दो जीभ वाले सम्पूर्ण शोक रूपी विष (जहर) को धारण करने वाले सर्पों से डसा हुआ है, अतः विष उतारने वाली मंत्रवाणी से उन्होंने कहा ॥५०॥

जगत्स्थितिवर्णनेन भरतहृदयोत्थितं कैकयीदूषणभ्रममपाकरोति—

जगद् ब्रह्म-मर्कट-कृतजालं
नन्वणुकीटादासुरपालम्।
स्थायि न किञ्चित् कृतमिह सत्त्वं
नटवत् कर्ताऽऽत्मा विभु तत्त्वम् ॥५१॥

ननु निश्चयेन अणुकीटात् आ सूक्ष्मतमकीटादारभ्य आसुरपालं महेन्द्रपर्यन्तम्। प्रथम आङ् अभिविध्यर्थक उत्तरस्तु मर्यादार्थकः। पूर्वमसमस्तं पदमुत्तरं तु समस्तम्। आङः सत्त्वाद् "निपात एकाजनाङ्" इत्यस्याप्रवृत्तेर्दीर्घसंधिः। जगत् इदं दृश्यमानं भुवनम्। ब्रह्म परब्रह्म एव मर्कट ऊर्णनाभः "मर्कटः कपिलूतयोः" इति शब्दार्णवः। तेन कृतं विस्तारितं जालम्। अस्तीति शेषः। अनेन ब्रह्मणो निमित्तत्वमुपादानत्वं च सिद्धम्। इह जगति कृतं निर्मितं किंचित् किमपि सत्त्वं प्राणी "सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः। आत्मत्वे व्यवसायाऽसुचित्तेष्वस्त्री तु जन्तुषु।" इति मेदिनी। स्थायि स्थिरं नित्यमित्यर्थः। न। नटवत् नट इव कर्ता जगदुत्पादनशीलो ब्रह्मरूप आत्मा परमात्मा। विभु व्यापकं सर्वमूर्तसंगतं तत्त्वमस्तीति शेषः। अतः "तस्यैव फलं पिता मृतः" इति कथनं व्यर्थमेवेति भावः। एतदादिपद्यचतुष्टये मात्रासमकान्तर्गतमेव च्छन्द ऊह्यम् ॥५१॥

अर्थ—हे भरत! यह जगत् ब्रह्मरूपी मकड़े से बनाया गया जाल है, और अणु कीड़े से लेकर देव पर्यन्त जाल की तरह फैलाया गया है। ब्रह्म ही जगत् का ऊर्णनाभ की तरह अभिन्न निमित्तोपादान है। यहाँ कुछ भी स्थाई नहीं है। यहाँ विभु-व्यापक ब्रह्म-नट की तरह जगत् रूपी नाटक की सृष्टि कर रहा है ॥५१॥

नियता प्रकृतिर्नटीव कुरुते
वास्तवमीशो नाट्यं धरते।
सिसाधिषुस्तद् विशति स वेशान्
नाम्ना माता-पितृनिर्देशान् ॥५२॥

नियता परमात्मकृतनियमनिर्वाहिका परमात्मना कार्ये नियुक्तेत्यर्थः। प्रकृति जगदारम्भिका सत्त्व-रजस्तमोरूपगुणत्रयात्मिका अघटितघटनापटीयसी ईश्वरेच्छा। नटीव नटस्य स्त्रीव। कुरुते उत्पादन-रक्षण-संहरणात्मकं कर्म करोतीत्यर्थः। प्रागुक्तमेव पुनः स्पष्टतरीकरोति-वास्तवं वस्तुतस्तु इत्यर्थः। क्रियाविशेषणमिदम्। ईशः परमेश्वरः नाट्यं नटस्य कर्म धरते धारयति। ईश्वरो जगन्नाटकनिर्माणे सूत्रधारत्वं धारयतीति भावः। स ईशः तत् नाट्यकर्म सिसाधिषुः साधितुमिच्छुः। नाम्ना मातापितृनिर्देशान् मातापितृपदवाच्यान्। "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" इत्यानङ्। वेशान् विशति धारयतीत्यर्थः। तर्हि को नाम पिता, का नाम माता, किं नाम मातृकृतं भ्रातुर्वनवासदानम् ? एतत्सर्वमपि त्रिलोकीसूत्रधारस्य नाट्य-मित्यतो वृथा कुत्रापि दोषारोपणमिति वशिष्ठस्याशयः ॥५२॥

अर्थ—परमात्मा के कार्य के लिये यह प्रकृति वशवर्तिनी की तरह उनकी इच्छा का अनुकरण करती है। नाट्य कार्य की सिद्धि के लिये तरह-तरह के वेश धारण करती है। यहाँ न माता-पिता है, न कोई बन्धु बान्धव ! सभी नाटक के पात्र हैं॥५२॥

रचिता जगती विश्रमशाला

क्षणिका इह युववृद्धा बालाः।

सांप्रतमेके पश्चादन्ये

नित्यस्थितिकं कमपि न मन्ये॥५३॥

जगती एतद् जगत्त्रयम्। विश्रमशाला विश्राम-वासः। रचिता निर्मिता ईश्वरेणेति शेषः। इह जगत्यां (विश्रमशालायां) युवानश्च वृद्धाश्च तथा बालाः क्षणिकाः क्षणस्थायिनः सन्तीति शेषः। सांप्रतम् इदानीम् एके केचित् (सन्ति)। पश्चाद् अन्ये अपरे भविष्यन्तीति शेषः। नित्या अविनाशिनी स्थितिः अवस्थानं यस्य स तं कमपि जनम् अहं न मन्ये। इह जगति सर्वेऽपि नश्वरा इति भावः॥५३॥

अर्थ—यह संसार एक विश्राम करने का स्थान है। यहाँ जो बच्चे, जवान या बूढ़े हैं, सभी क्षण मात्र हैं, नश्वर हैं। एक आता है, दूसरा चला जाता है। यहाँ नित्य कहीं कुछ भी नहीं हैं॥५३॥

हस्तमुपेता यादृग् मात्रा

तावत् तादृग् भवति हि यात्रा।

न्यासं स्वकृतं नहि लभते कः ?

सन्नुद्धारद इह भुवने कः ?॥५४॥

यादृक् यादृशी मात्रा धनसंपत् पुण्यसंपदिति ध्वन्यते। "मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे। अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीबं कात्स्र्न्येऽवधारणे।" इति मेदिनी। हस्तम् उपेता करतलगता जाता। कर्मभिरुपार्जितेत्यर्थः। तावत् तदवधि तादृक् तादृशी हि यात्रा गमनस्थितिः सांसारिकजीवनयात्रेति ध्वन्यते। भवति। को जनः स्वकृतं न्यासम् उपनिधिं स्थापितं द्रव्यमित्यर्थः। उपार्जितं पापपुण्यफलं च नहि लभते न प्राप्नोति ? सर्वोऽपि लभते इत्यर्थः। इह भुवने जगति। कः सन् साधुः उद्धारदः ऋणदाता 'उद्धारश्चोद्धृतावृणे" इति मेदिनी। अस्तीति शेषः। न कोऽपीत्यर्थः। उपार्जितस्य कर्मणः फलमेव भुङ्क्ते नानुपार्जितस्येति भावः। अत उपार्जितकर्मानुसारफलभोगे सिद्धे उपालम्भनशोचनादिकं व्यर्थमेवेति वशिष्ठाशयः॥५४॥

अर्थ—यहाँ जिसके पास जितनी मात्रा (धनसम्पदा) है, पुण्यसंचय है, उतनी ही उसकी यात्रा है। यहाँ पर रखी हुई धरोहर कोई नहीं पाता। यहाँ सभी अपने पाप-पुण्य को भोगने आते हैं। यहाँ कोई उधार देने वाला नहीं है। अपनी कमाई ही खाओ। अतः यहाँ न कोई उलाहने का अवसर है और न शोक का मौका, अतः किसी की शिकायत करना या किसी को उलाहना देना सभी व्यर्थ हैं॥५४॥

अथ प्रकृते कर्तव्यम् आदिशति—

सभ्योऽसि, तत् त्यज शुचो, जनतार्ति-शीतं

हर्तुं वसन्ततिलकं तिलकं गृहाण।

स्रागेव भाविनि घुणाक्षररीतितो माऽ-

णिष्ठेऽपि मात्रवगुणे कुरु दोषदृष्टिम्॥५५॥

त्वं सभ्यः सभार्होऽसि। "सभाया यः" इति यः। तत् तस्मात् कारणात्। शुचः सर्वान् शोकान् त्यज। जनता जनानां समूहः "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" इति तल्। तस्या अर्तिः पीडा सैव शीतं हिमं तद् हर्तुम् अपनेतुं वसन्ततिलकं वसन्तस्य तिलकमिव वसन्तविकासिपुष्पविशेषः। तत्। शिशिरसुलभस्य शीतस्याऽपाये तस्य हि विकासो भवति, अत एव वसन्ततिलकत्वेनारोपः। तिलकं राज्यतिलकं गृहाण धारय। घुणाक्षररीतितः घुणाक्षरन्यायेन स्राक् शीघ्रमेव

भाविनि कर्मवशात् आपातिनि, न तु कृते इति भावः। अणिष्ठे अणुतमेऽपि। मात्रवगुणे जननीदूषणे। दोषदृष्टिं दूषणत्वेन विचारणम्। मा कुरु ॥५५॥

अर्थ—तू सभ्य है, समझदार है, शोक करना बन्द कर। जनता के दुःखरूपी शीत को दूर करने के लिये वसन्ततिलकरूप (वसन्त-ऋतु में विकसित होने वाले पुष्प के समान) राज्यतिलक ग्रहण कर। जैसे वसन्तऋतु में वसन्ततिलक नामक पुष्प खिलता है और उससे शीत की पीड़ा खत्म हो जाती है, उसी प्रकार तेरा राजतिलक प्रजा के कष्टों को हरने वाला है। ये सभी कार्य घुणाक्षर न्याय से–यों ही आकस्मिक हो जाते हैं। अतः माता में जराभी दोष दृष्टि मत रख।

विशेष—घुणाक्षरन्याय–जैसे लकड़ी में लगा घुन उसे काटता है और काटने से यों ही अंजान में किसी अक्षर की आकृति बन जाती है; उसी प्रकार संसार में घटनावली घटित हो जाती है–किसी का किसी पर दायित्व नहीं ॥५५॥

अधुना भरतस्य निश्चयं निर्दिशन् सर्गमुपसंहरति—

चङ्गं प्रपाजलमिवेति वचः पिबन् धी-
तुर्या दशाः पिपविषुर्भरतः कुविन्दः।
दत्त्वाऽत्र सद् ध्रुवपदं विरहातपार्तः
शर्मार्थमाश्रयितुमैहत रामकल्पम् ॥५६॥

इति श्रीकविराजाशुकविश्रीनित्यानन्दशास्त्रिरचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्ये विषनामा सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥७॥

इति एवम्। चङ्गं मनोहरम्। वचः वसिष्ठवाक्यम्। प्रपाजलमिव पानीयशालापानीयमिव। पिबन् किन्तु विरहः रामवियोगः स एव आतपः सूर्यतापस्तेनार्तः पीडितः। वशिष्ठोपदेश-प्रपाजलेन शान्तपितृशोकपिपासार्तिः किन्तु अशान्तरामवियोगातप इति भावः। धीः बुद्धि सैव तुरी काष्ठादिरचितं वयनसाधनं तया दशाः जीवनदशाः वस्त्राञ्चलं च पिपविषुः पवितुमिच्छुः शोधयितुमिच्छुः "सनि ग्रहगुहोश्च" इतीड्निषेधः "स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि" इतीट्। "ओः पुयण्ज्यपरे" इत्यभ्यासस्येत्त्वम्। भरतः कुविन्दः भरतरूपः तन्तुवायः। अत्र अस्मिन् वशिष्ठवचसि। सत् प्रशस्तम्। ध्रुवपदं गेये मुहुरावर्तनीयं गेयविशेषम्। "भज तं रामं भज तं रामं भज तं रामं भरत सदा। प्राप्ते काले सति विकराले नहि नहि रक्षति कोऽपि तदा।" इत्येवंरूपं दत्त्वा योजयित्वा। शर्मार्थं सुखार्थं विरहातपार्तिशा-न्तिसुखप्राप्त्यर्थमिति भावः। रामकल्पं राघवकल्पद्रुमम् "कल्पो विकल्पे कल्पद्रौ संवर्ते ब्रह्मवासरे। शास्त्रे न्याये विधौ" इति हैमः। आश्रयितुं शरणीकर्तुमैहत ऐच्छत् ॥५६॥

इति श्रीविद्याभूषणपण्डितभगवतीलालरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्य-व्याख्यायां सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥७॥

अर्थ—अब भरत के निश्चय का वर्णन : वशिष्ठ के मनोहर वाक्य प्यासे भरत के लिये प्याऊ के जलतुल्य थे, उसका पिता की मृत्यु का शोक तो मिटा; पर राम के विरह की पीड़ा दूर नहीं हुई भरत ने बुद्धिपूर्वक वशिष्ठ के वचनों के मर्म की तलाश की, इससे यही लगता है कि यह गहरी पीड़ा रामरूपीकल्पतरु की शरण ग्रहण करने से ही मिट सकती है; और कोई उपाय नहीं ॥५६॥

विशेष—भरत का यही ध्रुवपद (टेक) था–

'भज तं रामं भज तं रामं भज तं रामं भरत सदा।
प्राप्ते काले सति विकराले नहि नहि रक्षति कोऽपि तदा' ॥५६॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का 'विष' नामक सप्तम सर्ग समाप्त।

अथ अष्टमः सर्गः

भरतस्य प्रस्थानं वर्णयति—

तस्मात् पश्चात् संतितरीषुर्व्यसनाब्धिं

तोषोत्पादं राघवपादाम्बुजपोतम्।

ज्ञात्वा नत्वेत्याशयमूचे स वशिष्ठं

तिष्ठद्गु श्वः प्रातरितः प्रस्थितिरस्तु ॥१॥

तस्मात् ततः पश्चादनन्तरम्। व्यसनं विपत्तिरेव अब्धिः समुद्रः तम्। संतितरीषुः सम्यक् तरीतुमिच्छुः स भरतः राघवस्य रामस्य पादाम्बुजं चरणकमलमेव पोतः नौः तम्। तोषोत्पादम् आनन्दजनकं ज्ञात्वा। वशिष्ठं नत्वा। इति इत्थम्। आशयं स्वमभिप्रायम् ऊचे-श्व आगामिनि दिने तिष्ठद्गु तिष्ठन्त्यो गावो यस्मिन् स तिष्ठद्गु दोहनकालः तस्मिन्। "तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च" इत्यव्ययीभावान्तो निपात्यते। प्रातः प्रभाते। इतः अयोध्यातः। प्रस्थितिः प्रस्थानम्। अस्तु भवतु। अस्मिन् सर्गे मत्तमयूरं वृत्तम्, "वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्।" इति तल्लक्षणात् ॥१॥

अर्थ—भरत का प्रस्थान : उसके पश्चात् भरत ने विचारा-नगर के व्यथा-सागर से पार होने का एक ही उपाय है-राम के चरणरूपी नौका का आश्रय, इससे पार उतरा जा सकता है। यह जानकर भरत ने अपने आशय से वशिष्ठ को अवगत कराया और कहा-कल प्रभात होते ही (जब गायों के दुहने का समय हो) हमें प्रस्थान करना है ॥१॥

वर्णं वर्णं तस्य गुणान् नीतनिशाका

धंधंधंधंधंकृतिनादं पटहस्य।

श्रुत्वा श्रुत्वा प्रस्थितवन्तो बहु जीव-

त्वायुष्मानित्याशिषमूचुः पथि पौराः ॥२॥

तस्य भरतस्य। गुणान् विनयदाक्षिण्यादीन्। वर्णं वर्णं वर्णयित्वा वर्णयित्वा। नीतनिशाका गमित-रात्रीकाः। "आदाचार्याणाम्" इत्यात्वम्। पटहस्य प्रस्थानसूचकवाद्यविशेषस्य धंधंधंधंधंइत्यनुकारिणं नादं शब्दं श्रुत्वा श्रुत्वा। 'वर्णं वर्णम्' इत्यत्र 'आभीक्ष्ण्ये णमुल्' इति णमुलमुदाहृत्य अत्र क्त्वान्तत्वस्योदाहरणेन तस्य वैकल्प्यं दर्शितम्। प्रस्थितवन्तः सन्तः। पौराः पुरवासिनः। "सोऽस्य निवासः" इत्यग्। पथि मार्गे। 'आयुष्मान् प्रभूतायुःशाली "भूमनिन्दाप्रशंसासु" इत्यादिवचनादत्र भूम्नि मतुप्। इति भरतं प्रति निर्देशः। बहु प्रचुरं यथा स्यात्तथा। चिरमित्यर्थः। जीवतु जीव्यादिति आशिषं स्वस्तिवादम् ऊचुः ॥२॥

अर्थ—रात के बीतते ही भरत की गुणावली का गान होने लगा। कूच करने के नगारे पर डंके की चोट पड़ने लगी। यह सुनकर रास्ते में पौरजन 'भरतजी की जय हो, वे दीर्घायु' हों इस प्रकार की आशिषें देने लगे ॥२॥

रामं सीतालक्ष्मणयुक्तं धृत-विद्युद्-

वप्पीहं वाऽब्दं लघु पश्याम इतीच्छाः।

णः सद्धात्वाद्या इव ते न स्थितिमाप्ताः

क्रोशान् गत्वाप्यध्वनि भूरीनपि लोकाः ॥३॥

धृता विद्युत् तडिच्च वप्पीहः चातकश्च येन सः तम् "चातकः स्तोकको वप्पीहः सारङ्गो नभोम्बुपः।" इति हैमः। अब्दं वा मेघमिव सीतालक्ष्मणयुक्तं रामं लघु शीघ्रं पश्याम इति इत्थम् इच्छा येषां ते तथोक्ताः ते लोकाः। अध्वनि मार्गे। भूरीन् बहूनपि क्रोशान् गत्वाऽपि। सद्धात्वाद्याः सतां स्वभावेन विद्यमानानां धातूनाम् आद्या ण इव णकारा इव स्थितिं गति-निवृत्तिं विश्राममिति यावत्। न आप्ताः नैव कुर्वन्ति स्मेत्यर्थः। सद्धात्वाद्याश्च णो नस्थितिं नः[1] स्थितिं नकारस्यावस्थां

---

१. 'खर्परे शरि विसर्गस्य वा लोप' इति विसर्गलोपः।

प्राप्नुवन्त्येव। णकार इवाचरति णकारायते इत्यादिनाम-धातुषु सूत्रप्रवृत्तिर्न भवतीति दर्शयितुं सदिति धातो-र्विशेषणं प्रयुक्तम्॥३॥

अर्थ—बिजली और पपीहे से युक्त मेघ (बादल) की तरह सीता और लक्ष्मण से युक्त राम को हम शीघ्र ही देखेगें ऐसी इच्छा से युक्त मानव मार्ग में बहुत कोसों तक चलकर भी स्वभाव से विद्यमान धातुओं के आद्य णकार की तरह न स्थिति को अर्थात् विश्राम को प्राप्त नहीं करते थे॥३॥

विशेष—यहाँ कवि ने सीता को बिजली, लक्ष्मण को पपीहा और राम को मेघ के रूप में वर्णित किया है, तथा धातुओं के आदि में णकार की नकारस्थिति की तरह लोगों के मार्ग-चलन में विश्रान्ति को नकार के रूप में बताया है, अर्थात् वे निरन्तर गमन करते थे।

धन्यंमन्या राम-दिदृक्षा-गतशोक-
मूर्च्छारम्भा मातर उत्का अपि तिस्रः।
छिन्नध्वान्ता भास्करभासेव जगत्योऽ-
तः प्रस्थानं चक्रुरमन्दं शिबिकाभिः॥४॥

भास्करभासा सूर्यकान्त्या छिन्नध्वान्ता नाशि-तान्धकारा जगत्य इव। रामस्य दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया गता नष्टाः शोकमूर्च्छारम्भा शोकजन्यमूर्च्छागमा यासां ताः। अत एव उत्का उन्मनसः। धन्यंमन्या आत्मानं धनं मन्यन्ते ताः। "आत्ममाने खश्च" इति खश्। "अरुर्द्विषद्०" इति मुम् च। तिस्रोऽपि मातरः। शिबिकाभिः नरयानविशेषैः। अतः अयोध्यातः। अमन्दं शीघ्रम्। प्रस्थानं चक्रुः॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य की कान्ति से त्रिलोकी का अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार राम के दर्शन की इच्छा से जिनकी शोक से उत्पन्न मूर्च्छा नष्ट हो गई है ऐसी अपने आप को धन्य मानती हुई तीनों माताओं ने अत्यन्त उत्सुक हो पालकियों से शीघ्र ही अयोध्या से प्रस्थान किया॥४॥

स स्वं बिभ्रद् भूरि कुटुम्बं शुचि मुक्ता-
हारं चैतन्नायकमीशं विचिकीषुः।
यं यं देशं सोऽलमकार्षीत् पथि तं तं
वन्दं वन्दं तीर्थमिवाध्यास्त सयत्नम्॥५॥

स भरतः। शुचि पवित्रं निश्छलत्वादिति भावः। मुक्तो वर्जित आहारो भोजनं येन तत् व्रतोपवासपरमित्यर्थः। तत्। स्वं स्वकीयं भूरि बहु। कुटुम्बं पोष्यवर्गं बिभ्रद् धारयन्। च पुनः एतन्नायकम् एतस्य कुटुम्बस्य नायकं नेतारम् ईशं स्वामिनं राममित्यर्थः। विचिकीषुः विचेतुमन्वेषयितुमिच्छुः। कुटुम्बे शुचिमुक्ताहारस्य शुभ्रमौक्तिकमालाया आरोपो-ऽपि ध्वन्यते। एतस्य मुक्ताहारस्य चापगतो नायको मध्यमणिश्च अन्विष्यते एव। "नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि।" इति मेदिनी। पथि मार्गे। स कुटु-म्बनायको रामो यं यं देशं प्रदेशम् अलमकार्षीत् स्वनि-वासेन भूषितवान्, तं तं तीर्थमिव भगवत्पूत-स्थानमिव, वन्दं वन्दं नत्वा नत्वा। सयत्नम् अन्वेषणय-त्नपुर-स्सरम्। अध्यास्त अधिष्ठितवान्। "अधिशीङ्०" इति कर्मत्वम्॥५॥

अर्थ—भरत जी अपने कुटुम्बियों को साथ लेकर-राम जो कि मुक्तामाला के मध्य मणि थे-उनकी तलाश में आत्मा से मुक्त होकर व्रत रखकर-चल पड़े। रास्ते में जहाँ-जहाँ रुके, उसे तीर्थ समझकर वन्दना करते चले–क्योंकि वे स्थान राम के चरणस्पर्श से पवित्र थे॥५॥

गुहस्य संगममाह—

रम्यं रामप्रेष्ठसखं श्रीगुहमाप
यान् कान्तारान्तः पदचारीव रथं सः।
मालाप्रोतं स्फाटिकमक्षं प्रभुपाद-
सक्तस्पर्शी कर्करकं वा गुणयन्तम्॥६॥

कान्तारस्य वनदुर्गप्रदेशस्य अन्तः मध्ये यान् गच्छन् स भरतः पदचारी पद्गः रथम् इव। रम्यं सुन्दराकारम् रामस्य प्रेष्ठं प्रियतमम्। इष्ठनि "प्रियस्थिरस्फिरोरु०" इत्यादिना प्रादेशः। सखायं मित्रम् "राजाहःसखिभ्यः०" इति टच्। श्रीगुहं श्रीयुतं गुहराजम् आप प्राप्तवान्। किं कुर्वन्तमित्यपेक्षायामाह-मालाप्रोतं जपमालाकलितं स्फाटिकं स्फटिकमणिसंबन्धिनम् अक्षं मणिकम्। प्रभोः श्रीरामस्य यः पादश्चरणस्तेन सक्तस्पर्शं लग्नस्पर्शम्। कर्करकं वा कर्करमिवेत्युत्प्रेक्षा। वाऽत्र वितर्के। गुणयन्तम् आवर्तयन्तम्। मालागतोऽक्षः श्रीरामचरणलग्नकर्करत्वेनाऽत्र उत्प्रेक्षितः। रथोऽपि चक्राङ्गभूतम् अक्षम् आवर्तयत्येव। तदानीं भरतस्य गुहाश्रयः पद्गस्य रथालम्बनमिव जात इति निष्कर्षः ॥६॥

अर्थ—गुह से मिलना : रामका प्रिय श्रीगुह उन्हें मिला। ऐसा लगा-जैसे पैदल को रथ मिल गया हो। वह गुह रामनाम की माला जप रहा था-उसकी स्फटिकमाला राम के चरण से स्पर्शित थी-अतः महिमामयी हो गई थी ॥६॥

अथ चतुर्भिः पद्यैर्गङ्गायमुनयोः सङ्गं वर्णयति—

मालां कौन्दीं शम्भुजटाजूटविमुक्तां
रीतिं पित्रुत्सारिततमसोऽभिनयन्तीम्।
चंचूर्यन्ते यत्र मराला ह्रुतदृष्टा
नाम्ना गङ्गां तां यमुनां चायमपश्यत् ॥७॥

अत्र गङ्गां यमुनां च यथासंख्येन विशिनष्टि-अयं भरतः। शम्भोः शिवस्य जटाजूटाद् विमुक्तां पर्यस्तां कौन्दीं कुन्दपुष्पसंबन्धिनीं मालां मालामिवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। इति गङ्गाविशेषणम्। पित्रा सूर्येण उत्सारितस्य प्रद्रावितस्य तमसोऽन्धकारस्य रीतिं प्रचारम् अभिनयन्तीम् अभिनयेन दर्शयन्तीम्। मत्पित्रा द्रावितस्य तमसो द्रवणम् एवम् भवतीति सूर्यपुत्री (यमुना) अभिनयेन दर्शयतीति भावः। इति यमुनाविशेषणम्। यत्र ययोर्गङ्गायमुनयोः मराला हंसाः ह्रुताश्च ते दृष्टाश्च सन्तः। गङ्गायां सदृशवर्णतया ह्रुताः अप्रतीताः यमुनायां च विपरीतवर्णत्वेन दृष्टाः प्रतीता इति भावः। चंचूर्यन्ते गर्हितं चरन्ति। "लुपसदचरजपजभ०" इति यङि "चरफलोश्च" इति च नुकि उत्परस्याऽतः इत्युत्त्वम्। नुकश्च पदान्तत्वम्। नाम्ना तां गङ्गां यमुनां च अपश्यत् ॥७॥

अर्थ—निम्न चार श्लोकों में गंगा-यमुना के संगम का वर्णन : भरत ने गंगा को देखा, ऐसा लगा जैसे शिव की जटाजूट से कुन्द पुष्प की माला गिर पड़ी हों। यमुना ऐसी दिखाई दी-जैसे वंशपिता सूर्य के द्वारा उत्सारित (भगाये गये) अन्धकार के प्रचार (गति) को अभिनय के द्वारा प्रकट कर रही हो। श्वेत गंगा और श्यामल यमुना में हंस विचर रहे थे। कभी वे छिप जाते और कभी प्रकट होते थे। कारण जब हंस गंगा की लहरों पर तैरते तो दोनों श्वेतता मिल कर एक हो जाती अतः वे छिप जाते; पर, जैसे ही यमुना की लहरों पर तैरते तो विपरीतरंगों के कारण साफ दिखाई पड़ते थे ॥७॥

मञ्जूच्चापोल्लासिखगं तद्-द्वयसङ्गं
राम-प्रेयोलक्ष्मणमूर्त्योरिव मेलम्।
क्षण्वन्तं द्राक् पापमथो तापमशेषं
सम्प्रत्येष प्रेक्ष्य दधौ चेतसि हर्षम् ॥८॥

एष भरतः। संप्रति इदानीम्। मञ्जवो मनोहरा उच्चा उपरिवर्तिन्यः तटसमवर्तिन्यो न तु नीचैर्वर्तिन्य इति भावः। या आपो जलम्। "ऋक्पूरब्धूः" इत्यः। ताभिः उल्लासिनः केलिमन्तः खगाः पक्षिणो यत्र सः तमिति गङ्गायमुनासङ्गपक्षे। तथा मञ्जौ उन्नते चापे धनुषि उल्लासी खगो[१] बाणो यस्य यस्मिन् वा स तं

१. "खगः सूर्ये ग्रहे देवे भागणे च विहङ्गमे" इति मेदिनी।

धनुर्बाणधारिणमिति रामलक्ष्मणमेलपक्षे। तयोः गङ्गायमुनयोर्द्वयं युगलं तस्यं सङ्गम्। रामश्च प्रेयान् प्रियतरो लक्ष्मणश्च तयोर्ये मूर्त्ती विग्रहौ तयोर्मेलं संमेलमिव। कृष्णशुक्लत्वादिति भावः। अशेषं सकलं पापम् अथो पुनः तापं दुःखं द्राक् शीघ्रं क्षण्वन्तं नाशयन्तमित्युभयत्र। तानादिकः क्षणिः शत्रन्तः। प्रेक्ष्य दृष्ट्वा चेतसि मनसि हर्षं दधौ॥८॥

अर्थ—गंगा-यमुना के संगम पर पक्षी किलोल कर रहे थे। भरत को ऐसा लगा-जैसे गौरवर्ण लक्ष्मण और श्यामवर्ण राम का मिलन हो रहा है। भरत के मन का पाप-ताप दूर हो गया और वे अत्यन्त हर्षित हुए॥८॥

वार्यन्तःस्थाऽब्जैः सुरभिं तं स शशङ्के

यत्कस्तूरीयुक्तमृगाङ्कद्रव एषः।

माद्यन् खेलन् स्नानथ पश्यन् किल बालै-

णः सस्नेहं स्वम्बु पिबेन्नो इह नो चेत्॥९॥

स भरतः वारिणो जलस्य अन्तःस्थानि यानि अब्जानि कमलानि तैः सुरभिं सौगन्ध्ययुक्तं तं गङ्गायमुनासङ्गं शशङ्के तर्कयामास–यत् एषः अयम्। कस्तूर्या मृगमदेन युक्तः मृगाङ्कस्य कर्पूरस्य "मृगाङ्कौ चन्द्रकर्पूरौ" इति रभसः। द्रवो रसः अस्तीति शेषः। नो चेत् अन्यथा इह अस्मिन् (गङ्गायमुनासङ्गे) किलेति संभाव्ये। बालैणः मृगशावकः माद्यन् हृष्यन् "शमामष्टानां दीर्घः श्यनि" इति दीर्घः। खेलन् क्रीडन्, स्नान् स्नानं कुर्वन्, अथ पुनः पश्यन् सन् स्वम्बु सुजलं नो पिबेत्। कस्तूरी–(मृगमद) मृगाङ्कयोर्मृगस्य संबन्धित्वेन तज्जलपाने सस्नेहत्वं सिद्धम्। अनुमानालङ्कारः॥९॥

अर्थ—भरत गंगा-यमुना के जल में कमलों की सुगन्ध से युक्त गंगा-यमुना के सङ्गम के सम्बन्ध में विचार किया कि–यह मृगमद (कस्तूरी) से युक्त मृगाङ्क (कपूर) का रस है। अन्यथा इस सङ्गम में मृगशावक इसमें कस्तूरी और कपूर मिला है-क्या ? कस्तूरी-श्यामल है और कपूर धवल है। क्रीड़ा करते रहे नहाते रहे, पर उन्होंने जल का पान नहीं किया क्योंकि कस्तूरी या कपूर के सम्बन्धि होने से स्नेह का स्वाद मिल जाता, जिससे व्रतभंग होने का भय था॥९॥

सुस्नातस्वःस्त्रीकुचकस्तूर्यभिमिश्रं,

बद्धक्रीडैरावतदानाम्बुयुतं वा।

हुत्युच्छिष्टप्लावित-मृत्साकलितं वा,

शोभां सूते गाङ्गमिहाम्भः सितकृष्णम्॥१०॥

सुस्नातानां सम्यक् स्नानं कृतवतीनां स्वःस्त्रीणां देवाङ्गनानां या कुचकस्तूरी स्तनोपलिप्ता कस्तूरी तयाऽभिमिश्रं संयुतम्। वाऽथवा। बद्धक्रीडः गृहीतजलकेलिः य ऐरावतस्तस्य दानाम्बुना मदजलेन युतं युक्तम्। वाऽथवा। हुतेः हवनकर्मणः उच्छिष्टा अवशिष्टा तथा प्लाविता वाहिता या मृत्सा वेदिकाद्यारचनार्थमानीता प्रशस्ता मृत्तिका। 'मृद्' शब्दात् "सस्नौ प्रशंसायाम्" इति सः। तया आकलितं संवलितम्। सितकृष्णं श्वेतश्यामं गाङ्गं गङ्गाया इदम् अम्भो जलम्। इह गङ्गायमुनासङ्गे। शोभां सूते उत्पादयति॥१०॥

अर्थ—लगता है, स्वर्ग की स्त्रियाँ-देवांगनाएँ यहाँ सुस्नान करने आई हैं, उन्हीं के स्तनों में लगी हुई कस्तूरी पानी में मिल गई है, इसीसे यमुना की श्यामलता है। या ऐरावत हाथी ने हथिनियों के साथ जलक्रीड़ा की है, जिसके मद से यह जल मादक बन गया है अथवा यज्ञों के अन्त में वहाँ की हवन के अन्त में बचने वाली सामग्री से युक्त वेदिका की प्रशस्त मिट्टी इसमें बहाई गई है-इसीसे गंगा-यमुना का यह संगम गौर-श्याम रंग युक्त है और सुरभि से सुगन्धित है॥१०॥

माद्यन् रामाख्यानमहाभारतयोग-

रीत्येव ज्ञोऽसौ द्विनदीसङ्गविभूत्या।

चेलक्नोपं वर्षति वारीव वगाढो

नम्रस्तीरे तत्र भरद्वाजमदर्शत् ॥११॥

असौ भरतः। रामाख्यानं रामायणं महाभारतं च अनयोर्यो योगः कथाद्वयसङ्गस्तस्य रीत्या प्रकारेण ज्ञो विद्वानिव। द्विनदीसङ्गविभूत्या गङ्गायमुनासङ्गमैश्वर्येण। माद्यन् प्रहृष्यन्। तथा चेलक्नोपं वस्त्रक्लेदनोचितं "चेले क्नोपेः" इति णमुल्। वर्षति स्रवति। वारि इव जले इव। तीरे गङ्गायमुनासङ्गमतटे वगाढः स्नातो नम्रश्च सन्। तत्र तीरोपान्त एव। भरद्वाजम् अदर्शत्। इरित्त्वादङि "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ॥११॥

अर्थ—यह संगम रामायण महाभारत के आख्यानों से जुड़ा है, इसके जानने से भरत बहुत मुग्ध हो रहे हैं। इधर से आती हुई शीतल वायु ऐसे लगती है–जैसे जलधारारूप गीला वस्त्र उड़ रहा है-जिससे पानी चू रहा है, जिसकी शीतलता का अनुभव भरत कर रहे हैं। विनम्र होकर स्नान करते हैं। बाद में इन्होंने तीर के पास भरद्वाज ऋषि का दर्शन किया ॥११॥

द्वाभ्यामाश्रमशान्तिं वर्णयति—

सम्यक् शान्तिर्मूर्तिमतीवाश्रमभूमी

रागद्वेषच्छेदकरी तेन लुलोके।

वर्हिंत्रोटिं चुम्बति सर्पः स्म च यत्रै-

णः कण्डूयामास हरिं शृङ्गयुगेन ॥१२॥

तेन भरतेन। मूर्तिमती शरीरधारिणी। शान्तिरिव आश्रमभूमिः लुलोके दृष्टा। भौवादिकोऽयं लोकिः। तां शांति निदर्शयति-यत्राश्रमभूमौ सर्पः वर्हिणः शाश्वतिकविरोधिनो मयूरस्य त्रोटिं चंचुं "चंचुस्रोटिरुभे स्त्रियौ" इत्यमरः। चुम्बति स्म। च पुनः। एणो मृगः हरिं सिंहं शृङ्गयुगेन शृङ्गद्वयेन कण्डूयामास कण्डूयते स्म। मिथः शाश्वतवैरिणोऽपि स्निह्यन्ति स्मेति भावः ॥१२॥

अर्थ—दो श्लोकों में आश्रम की शान्ति का वर्णन : यह आश्रम भूमि अत्यन्त प्रशान्त है। शान्ति की मूर्ति है। रागद्वेष रहित इसको देखकर भरत सोचने लगे-यह आश्रम की भूमि है। यहाँ सांप अपने स्वाभाविक वैरभाव को भूलकर मयूर की चोंच को चूम रहा है। यह हरिण निर्भय होकर अपने दोनों सींगों से सिंह को खुजला रहा है। शाश्वत शत्रु भाव वाले प्राणी यहाँ परस्पर स्नेह वद्ध हैं ॥१२॥

नव्या व्याघ्रा गोः स्तनकान् व्यत्यपिबन्त

विष्वग् धेनुर्द्वीपि-शिशुं स्म व्यतिलीढे।

रोहित्यः पद्भ्यां व्यतिजघ्नुश्च तरक्षून्

धोरण्यश्च व्यत्यगमन् कोकमजानाम् ॥१३॥

नव्याः नवीनाः बाला इत्यर्थः। व्याघ्राः गोः धेन्वाः। स्तनकान् स्तनान्। व्यत्यपिबन्त वत्सस्य योग्यं पानं ते कृतवन्त इत्यर्थः। धेनुः गौः द्वीपिशिशुं व्याघ्रशावकं विष्वग् सर्वतः व्यतिलीढे स्म। व्याघ्रीयोग्यं लेहनं सा करोति स्मेत्यर्थः। उभयत्रापि "कर्तरि कर्मव्यतिहारे" इत्यात्मनेपदम्। रोहित्यः मृग्यः। पद्भ्यां चरणाभ्याम्। अग्रिमाभ्यामिति भावः। स्नेहताडनं हि ताभ्यामेव संभवति। तरक्षून् चित्रकान्। व्यतिजघ्नुः तरक्षुयोग्यं हननं ता अकुर्वन्नित्यर्थः। च पुनः अजानां छागानां धोरण्यः पङ्क्तयः। कोकं वृकं "कोकस्त्वीहामृगो वृकः" इत्यमरः। व्यत्यगमन् वृकयोग्यं गमनं ता अकुर्वन्नित्यर्थः। अत्रोभयत्रापि पूर्वप्राप्तमात्मनेपदं "न गतिहिंसार्थेभ्यः" इत्यनेन निषिध्यते ॥१३॥

अर्थ—बाघ के शिशु गाय के थनों से दूध पी रहे हैं। गायें बाघ के बच्चों को चाट रही है। हरिण अपनी दोनों टांगों से लकड़बन्धे का ताड़न करते हैं। बकरियों की पंक्ति भेड़ियों की तरह चल रही है ॥१३॥

त्रिभिर्भरद्वाजकृतं भरतस्यातिथिसत्कारमाह—

बह्वातिथ्यां कल्पयति स्म स्वविभूत्या

लक्ष्मीं नाना विष्णुरिवासौ मुनिमान्यः।

वन्द्यात् तस्मात् तां भरतो नो अजिघृक्षत्,

तावाख्यातां साग्रहमन्तेऽहसताऽल्पः ॥१४॥

असौ मुनिमान्यः भरद्वाजः। विष्णुरिव स्वविभूत्या निजतपःप्रभावेण। बहूनि आतिथ्यानि अतिथ्यर्थसामग्र्यो यत्र सा तां नाना विविधां लक्ष्मीं संपदं कल्पयति स्म सज्जयति स्म। भरतार्थमिति शेषः। भरतः वन्द्यात् प्रणम्यात् पूज्यादित्यर्थः। तस्माद् भरद्वाजात् ताम् (अतिथि-लक्ष्मीम्)। नो नहि। अजिघृक्षत् ग्रहीतुमैच्छत्। "सनिग्रहि०" इति इडभावः। तौ भरद्वाजभरतौ साग्रहम् आग्रहपूर्वकम् आख्याताम् अवदताम्। स्वीकारार्थमस्वीकारार्थं च मिथ इति भावः। अन्ते अल्पः भरतः। अह्नसत अल्पीभवति स्म तदाज्ञोल्लङ्घनं युक्तं न मेने इति भावः ॥१४॥

अर्थ—तीन श्लोकों में भरद्वाज के द्वारा किये गये भरत के आतिथ्य का वर्णन : मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज ने अपने तप के प्रभाव से अतिथि के उपयुक्त विविध प्रकार के पदार्थों को सजाया, जैसे साक्षात् विष्णु की आज्ञा से लक्ष्मी अपने वैभव के साथ आई है पूजनीय भरद्वाज से भरत इस आतिथ्य को अस्वीकार कर रहे थे और भरद्वाज इसे ग्रहण करने का आग्रह कर रहे थे। अन्त में भरत ने विनम्रता से भरद्वाज की आज्ञा को शिरोधार्य किया। बड़ों की आज्ञा के सामने झुकना ही भरत ने उचित समझा ॥१४॥

क्षत्रो विप्रेणाद्रिय इत्याकुलचेता

मोहं नीतः किन्त्वमुना तत्परिभोगे।

राजत्यन्तर्द्धिः किमु येऽन्तर्द्धिरुतेति

वस्तु न्यूहन्नीशितुरिच्छेति स मेने ॥१५॥

अहं क्षत्रः क्षत्रियो विप्रेण ब्राह्मणेन भरद्वाजेन आद्रिये सत्क्रिये। इति कारणात् आकुलचेताः अशान्तमनाः। किन्तु तस्याः आतिथ्यलक्ष्म्याः परिभोगे उपभोगसमये। अमुना भरद्वाजेन मोहं नीतः मुग्धीकृतः सन्। 'किमु किं मे मम अन्तर्द्धिः अन्ता'[1] अन्तिकस्था ऋद्धिः उत अथवा अन्तर्द्धिः अन्तर्धानं मुनिकृतसत्कारोपभोगजन्येन आत्मसंकोचेनेति भावः। राजति शोभते' इति वस्तु परमार्थं न्यूहन् तर्कयन् "उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा" इति पाक्षिकं परस्मैपदम्। स भरतः। ईशितुः ईश्वरस्य इच्छा इति मेने। ईश्वरस्य ईदृश्येव इच्छा यदयं भोजयति, अहं च भुञ्जे इति मेने इति भावः ॥१५॥

अर्थ—मुझ क्षत्रिय का इस प्रकार ब्राह्मण आदर सत्कार करे, इससे भरत आकुल हो गये। पर, जब इस वैभव का भोग किया तो उनके पास की ऋद्धि-इसके सामने तुच्छ लगी। फिर वे तर्क करने लगे। समझ में आया-यह ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर कहीं खिला रहा है, मैं खा रहा हूँ। ऐसा मानकर सन्तुष्ट हुए ॥१५॥

णत्वं यद्वद् याति नकारो रत एवं

तेषां मानं प्राक् तु नकारो रत आपम्।

नम्या ये मे, तत्त्वधमर्णोऽधिकमानं

तेभ्यः सोऽहं धारय इत्येष चिचिन्त ॥१६॥

यद्वद् यथा। रतः रेफात् (परः) नकारः णत्वं याति प्राप्नोति। एवं तथैव। प्राक् पूर्वं तु नकारः न निषेधं करोतीत्येवंभूतः अहम्। रतः तत्परः सन् तेषां मानं सत्कारम्। पूजार्थकस्य मानेर्घञि रूपम्। आपं प्राप्नवम्। तेषां केषामित्यत आह—ये मे मम नम्याः वन्दनीयाः पूज्या इति भावः। तत् तस्मात् कारणात्तु सोऽहम् अधमर्णः ऋणग्राही। तेभ्यः उत्तमर्णेभ्यः भरद्वाजसदृशेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इत्यर्थः। "धारेरुत्तमर्णः" इति संप्रदानम्। अधिकं मानं वृद्धिसहितं सत्कारं धारये धारयामि। एषामधिकं संमानं कुर्यां तदा ऋणमुक्तः स्याम् इति एष भरतः चिचिन्त विचारितवान् ॥१६॥

अर्थ—जैसे रेफ के परे नकार णकार में बदल जाता है; उसी प्रकार भरद्वाज के सामने पहले मैं नकार-इन्कार कर रहा था; पर, पीछे तत्पर होकर मैंने इसे स्वीकार किया। ऐसा हुआ जैसे कर्ज देने वाले के सामने

---

१. "अन्तः स्वल्पे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः। अवयवेऽपि" इति हेमः।

कर्ज लेने वाला विनम्र हो जावे-उसके प्रति अधिक सम्मान प्रकट करे, तभी ऋणमुक्त हो जाता है। ऐसा भरत ने माना ॥१६॥

चतुर्भिर्भरतगुहयोर्मिथो भक्तिप्रशंसनं निर्दिशति—

अब्रूतेतः प्रस्थितमेनं गुहराजो

नाथो भक्तं मानयति स्वादधिकं यत्।

दृष्ट्या हार्द्या पश्य, भरद्वाज इहर्द्ध्या

त्यक्त्वा रामं त्वाऽऽदृतवांस्तत्पदमाप्तम् ॥१७॥

इतः अस्मात् स्थानात्। प्रस्थितम् एनं भरतं गुहराजः अब्रूत अवदत्—नाथः प्रभुः ईश्वर इत्यर्थः। भक्तं स्वात् आत्मनः अधिकं विशेषरूपेण। क्रियाविशेषणमेतत्। मानयति सत्कारयति-यत् यथाहि-त्वं हार्द्या हृदयसंबन्धिन्या दृष्ट्या नेत्रेण ज्ञानेनेति यावत्। पश्य। इह अत्र स्थाने भरद्वाजः रामं त्यक्त्वा ऋद्ध्या तपःप्रभावकल्पितया विभूत्या तत्पदं तस्य रामस्य चरणं स्थानं वा आप्तम् आपन्नं त्वा त्वाम् आदृतवान् सत्कृतवान्। एषा ऋद्धिः रामस्य सत्कारार्थं तेन न कल्पिता किन्तु तवैवेति भावः ॥१७॥

अर्थ—चार श्लोकों में भरत और गुह की परस्पर भक्ति की प्रशंसा : गुहराज ने प्रस्थान करते हुये भरत से कहा—'ईश्वर भक्त को अपने से अधिक मानते हैं। आप जरा ज्ञान नेत्रों से देखिए। भरद्वाज ने इतनी ऋद्धि के साथ राम का आतिथ्य नहीं किया, जितना आपका' क्योंकि आप राम के चरणसेवक हैं ॥१७॥

तुच्छीभावं स्वस्य निजाम्बाव्यवहृत्या

तद्-वाचाऽऽप्याश्वासित उच्छ्वस्य विवृण्वन्।

वाक्यं तं प्रोवाच स, रामप्रियभक्त !

यं त्वं प्राप्तस्तेन मयाप्तं फलमेतत् ॥१८॥

तद्वाचा तस्य गुहस्य वाचा वाण्या आश्वासितः सान्त्वितोऽपि सन् स भरतः। निजाया अम्बाया मातुः (कैकेय्याः) व्यवहृत्या व्यवहारेण उच्छ्वस्य उच्चैः श्वासं कृत्वा। स्वस्य आत्मनः तुच्छीभावं तुच्छतां विवृण्वन् प्रकटयन् सन्। तं गुहराजं वाक्यं प्रोवाच—भो रामप्रियभक्त! त्वं यं (मां) प्राप्तः लब्धः। तेन मया (भरतेन) एतत् फलं भरद्वाजकल्पितसत्कारोपभोगरूपम् आप्तं लब्धम्। रामप्रियभक्तस्य तव संगतिपुण्येनाऽहं तादृशसत्काराधिकारी अभूवं नान्यथेति भावः ॥१८॥

अर्थ—गुह के इस कथन से आश्वस्त होते हुए भी भरत ने अपनी माँ कैकेयी के व्यवहार से लज्जित होते हुए दुःख भरी लम्बी सांस लेते हुए गुहराज से कहा—'हे राम के प्रिय भक्त! यह तो आपका ही स्वागत था; साथ होने से मुझे भी प्रसाद मिल गया ॥१८॥

रामोऽप्याशासेहमितीच्छान्वित आप्योऽ-

वश्यं, यत् त्वत् सिन्धुयुगं चर्षिरितः सः।

णः स्यात् पूर्वस्मात् त्रितयाद् यत् परमाप्यः

काले पुण्यात् पुण्य उपात्तेऽस्ति हि सिद्धिः ॥१९॥

अहम् इति इत्थम् आशासे आशां करोमि—रामः इच्छान्वितः मदिच्छामनुसृतः अनुकूल इति भावः। सीतारूपया स्वकीयया इच्छया अन्वितो युक्तो राम ईश्वर इति च ध्वन्यते। अवश्यं निश्चयेन आप्यः लब्धव्यः। यद् यस्माद् हेतोः। त्वत् गुहराजात् सिन्धुयुगं गङ्गायमुनानदीद्वयसङ्गः। च पुनः ततः परमित्यर्थः। ऋषिः भरद्वाजः। इतो भरद्वाजात् परं सः रामः। प्राप्स्यते इति शेषः। त्वत्सङ्गफलं सिन्धुयुगप्राप्तिः। तत्फलं भरद्वाजप्राप्तिः। तत्फलं च रामप्राप्तिरिति भावः। अत्र दृष्टान्तयति—यद् यतः। णः[1] ज्ञानं पूर्वस्मात् प्रथमात् त्रितयात् श्रवण-मनन-निदिध्यासनेति त्रिकात् परम् आप्यः प्राप्तव्यः स्याद् भवति। यद्वा शुभेच्छा-

---

१. णकारः कीर्तितो ज्ञाने इति प्रागुक्तम्।

विचारणतनुमानसेति त्रितयाद् वेदान्तशास्त्रप्रसिद्धात् णो ज्ञानं सत्तापत्तिस्वरूपं परम् आप्यो भवतीति व्याख्येयम्। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति–पुण्यात् एकस्मात् सुकृतात् पुण्ये अन्यस्मिन् सुकृते पुण्यानुबन्धिनि पुण्ये इत्यर्थः। उपात्ते अर्जिते भुक्ते वा हि सति काले समये। सिद्धिः तादात्म्यरूपमुक्तिप्राप्तिसाफ[1]ल्यम् अस्ति भवति ॥१९॥

अर्थ—भरतजी ने कहा-मुझे राम के दर्शन अवश्य होंगे। मैं उनकी इच्छा के अनुकूल हूँ और वे स्वयं इच्छामय हैं। इसका प्रमाण यह है कि पहले गुह! आप मिले हैं, आपके कारण संगम की प्राप्ति और संगम के कारण महर्षि भरद्वाज के दर्शन और भरद्वाज के कारण राम मिलेंगे ही।

प्राप्ति में तीन का महत्त्व जैसे 'ण' यानी ज्ञान भी तीन पर निर्भर है श्रवण, मनन और फिर निदिध्यासन या वेदान्त-शास्त्र के अनुसार शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानस के बाद सत्तापत्तिरूप परम की प्राप्ति। इसी प्रकार यह तीन का जोड़ा है ॥१९॥

द्रष्टव्य—पहले गुह, उसके दर्शनस्वरूप गंगा-यमुना का संगम दर्शन, उसके फलस्वरूप ऋषि भरद्वाज का दर्शन और भरद्वाज की कृपा से रामदर्शन। जैसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के कारण ज्ञान की प्राप्ति होती है या शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानस के बाद सत्तापत्ति की प्राप्ति होती है ॥१९॥

लघ्वात्मत्वात् स्वस्तुतिमाकर्ण्य गुहः स
चोरो मुष्णन् दृष्ट इवोत्संकुचितोऽख्यात्।
दिष्ट्या रामभ्रातरभूत्ते शुभसङ्गोऽ-
तः पश्चादप्युक्त-सुलाभा मम जाताः ॥२०॥

स्वस्तुतिं स्वकीयप्रशंसाम्। आकर्ण्य स गुहः लघ्वात्मत्वाद् वर्णविचारेण स्वस्य तुच्छताकल्पनयेत्यर्थः। उत्संकुचितः उद् उत्कर्षेण संकोचं प्राप्तः सन्। कथम् उत्संकुचित इत्यपेक्षायामुपमामाह–चोरः मुष्णन् चोरयन् सन् दृष्टः धनस्वामिनाऽवलोकित इव। अख्यात् अवदत्–भो रामभ्रातः! दिष्ट्या मङ्गलेन। ते तव। शुभसङ्गः शुभः संगमः। अभूत्। अतः अस्मात् शुभसङ्गात्। उक्ताः पूर्वोक्ताः गङ्गायमुनासंगमदर्शनादि–भाविरामदर्शनान्ताः सुलाभाः शोभनाः लाभाः। मम मे। जाताः। अतस्त्वमेव गुरुतर इति भावः ॥२०॥

अर्थ—भरत के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर, गुह अपनी लघुता का अनुभव पर संकोच से भर गया, उसकी हालत ऐसी हुई, जैसे कोई चोर चोरी करता हुआ, रंगे हाथों, साहूकार द्वारा पकड़ लिया गया हो। गुह ने कहा–'ऐसा नहीं; आपके शुभदर्शन से मुझे त्रिवेणी का दर्शन हुआ और उसी के फलस्वरूप महर्षि भरद्वाज के दर्शन का तथा भावि-राम के दर्शन का पुण्यफल मिला। अतः सारा श्रेय आपके शुभ दर्शन को ही है ॥२०॥

जल्पन्तावित्यन्यगुणांस्तौ प्रभुकीर्तिं
गायं गायं तं गिरिमाप्तौ द्रुतमेव।
मन्ये रामं तस्य च भक्तं गुणयन्तौ
सत्कारार्थी संमुखमायात् स जडोऽपि ॥२१॥

प्रभुकीर्तिं श्रीरामयशो गायं गायं गीत्वा गीत्वा इति इत्थम् अन्यस्य न त्वात्मन इति भावः। गुणान् जल्पन्तौ वर्णयन्तौ। अन्योन्यं प्रशंसन्ताविति भावः। तं गिरिं चित्रकूटमित्यर्थः। द्रुतं शीघ्रमेव आप्तौ प्राप्तौ। प्रभु-तद्भक्तगुणवर्णनविनोदेन चित्रकूटः शीघ्रमेव प्राप्त इति भावः। अत्रोत्प्रेक्षते–अहं मन्ये शङ्के। रामं च पुनः तस्य भक्तं भरतं गुहं च। गुणयन्तौ गुणानाचक्षाणौ कीर्तयन्तावित्यर्थः। तौ भरतगुहौ (कर्म) सत्कारार्थी अभ्युद्गमनादरं प्रदातुकामः। स गिरिश्चित्रकूटः जडो निश्चेतनोऽपि। संमुखम् अभिमुखम् आयात् आगच्छत् ॥२१॥

---

१. प्रकृते रामाङ्गालिङ्गनम्।

अर्थ—इस प्रकार राम का गुणानुवाद करते-करते और आपस में एक-दूसरे की प्रशंसा करते-करते वे दोनों चित्रकूट को शीघ्र ही पहुँच गये, उन्हें पथ की दूरी का भान ही नहीं हुआ या ऐसा प्रतीत होता है कि राम का गुणगान करने वाले दोनों भक्तों की अगवानी करने के लिये वह जड़ (पहाड़) भी चेतन की तरह आ पहुँचा है॥२१॥

अथ सप्तभिस्तत्रत्यां रामादिस्थितिमाह—

हर्षं शोकं च ज्ञपयन्तौ तु तदानी-

मास्पन्देते स्मात्र गिरौ राघवबाहू।

रीतिं भ्रात्रोर्वा स्मरयन्तौ स विदंस्तौ

चक्षुःक्षेपैरैक्षत रेणूंश्च करेणून्॥२२॥

तदानीं तस्मिन् समये। अत्र गिरौ। हर्षं शोकं च। ज्ञपयन्तौ ज्ञापयन्तौ। "ज्ञप ज्ञान-ज्ञापनयोर्मित्।" राघवबाहू रामभुजौ आस्पन्देते स्म स्फुरतः स्म। दक्षिण-बाहुस्फुरणं भ्रातृसंगमहर्षं वामबाहुस्फुरणं च पितृमरण-शोकं सूचयति स्मेति भावः। भ्रात्रोः आत्मनो भरतस्य चेत्यर्थः। रीतिं प्रकारं स्मरयन्तौ वा उत्कण्ठापूर्वकं स्मृतिपथम् आपयन्ताविव। अयं भावः-रामस्य हि तदा वनवासेनाऽभीष्टलाभेन हर्षः, भरतस्य तु रामप्रव्रज्याद्य-निष्टलाभेन शोक आसीदतः कविरुत्प्रेक्षते यत् भ्रात्रो-स्तदानींतनीं रीतिं तौ बाहू स्मरयांचक्रतुरिति। स्मृ आध्याने मित्। उभयत्रापि "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम्। (स्वबाहू) विदन् जानन् स रामः। चक्षुःक्षेपैः दृष्टिप्रक्षेपणैः। रेणून् पांसून्। करेणून् गजांश्च। भरतसेनाया इत्यर्थः। ऐक्षत दृष्टवान्॥२२॥

अर्थ—निम्न सात श्लोकों में राम आदि की स्थिति का वर्णन : यहाँ चित्रकूट में विराजते राम की दोनों भुजाएँ (हर्ष व शोक को बताने वाली) फड़कने लगी। दाहिनी भुजा के फड़कने का शकुन है—भाई भरत से मिलाप और बाई भुजा के फड़कने का अशुभ संकेत है—पितृ-शोक। या वे भाई भरत को याद कर रहे थे—इस सन्दर्भ में दोनों भुजाओं के फड़कने का अर्थ है—वनवासप्राप्तिरूप हर्ष और अपनी प्रव्रज्या से भरत की व्याकुलतारूप शोक। इतने में ही पलकों के गिरने के साथ-साथ एक दम उड़ती हुई गर्द, और हाथियों का यूथ दिखाई पड़ा॥२२॥

स्तन्यं रूपं गोरिव मूर्तेः प्रपिबन्तं

स्यान्नो विघ्नोऽत्रेति च चित्ते कलयन्तम्।

श्रद्धापूर्णं स्थापयितुं लक्ष्मणवत्सं

मन्दं दूरे प्रेषितवाँल्लोकहितार्थी॥२३॥

लोकहितार्थी जनहितैषी राम इत्यर्थः। गोरिव धेन्वा इव मूर्तेः स्वशरीरस्य रूपं सौन्दर्यं स्तन्यं पयः। असमस्तमेतद् रूपकम्। रूपदुग्धमित्यर्थः। प्रपिबन्तं प्रकर्षेण पिबन्तम्। रूपदर्शनासक्तमित्यर्थः। 'अत्र रूपस्तन्यपाने विघ्नो नो स्यात् न भवेत्' इति च चित्ते मनसि कलयन्तं कुर्वन्तम्। श्रद्धापूर्णं "प्रत्ययो धर्मकार्येषु सा श्रद्धेत्यभिधीयते" इति स्मृत्युक्तलक्षणेन प्रत्ययेन पूर्णम् आदरपूर्णं च। लक्ष्मणवत्सं लक्ष्मणं-कनिष्ठं "वत्सः पुत्रादिवर्षयोः।" "तर्णके नोरसि क्लीबम्" इति मेदिनी। स्थापयितुं संदिग्धं विषयं स्थिरीकर्तुं निश्चेतुमित्यर्थः। मन्दं शनैः। दूरे सुदूरस्थाने प्रेषितवान् प्रहितवान्। लोकहितैषी च गोः पयो निर्विघ्नकल्पनं पिबन्तं वत्सं तर्णकं स्थापयितुं[1] स्थानापन्नीकर्तुं प्रेषयत्येव। अत्र स एव केवलं रूपदुग्धं मा पिबतु, अन्येऽपीत्याशयेन लोकहितार्थीति रामः सूचितः॥२३॥

अर्थ—रामरूपी गाय के दुग्धका लक्ष्मण रूपी बछड़ा जो पान कर रहा था, लोक का हित करने वाले राम ने उसे यह सब जानने के लिये दूर भेजा॥२३॥

विशेष—जिस प्रकार गाय का दूध पीने वाले बछड़े को धीरे-धीरे दूर ले जाकर बाँध देते हैं; उसी

१. स्थिरं करोति, तिष्ठन्तं प्रेरयति वा स्थापयतीति रूपस्य समानता दर्शिता।

प्रकार राम के पास बैठे हुए लक्ष्मण को रामने भरत के आने से होने वाली हलचल की असलियत जानने के लिये भेजा॥२३॥

पर्यालोक्य ज्ञाततदर्थः स तमूचे

दंशीहीनं मत्कुणमुक्तं मशकोनम्।

तत् पित्राप्तं राज्य-सुखीयः-शयनं स्वं

दायापेतं कर्तुमुपेतो भरतोऽयम्॥२४॥

स लक्ष्मणः। पर्यालोक्य परितो दृष्ट्वा। ज्ञाततदर्थः परिज्ञाततद्विषयः सन्। तम् रामम् ऊचे। अयं भरतः। तत् पित्राप्तं पितुः प्राप्तं राज्यमेव सुखीयः सुखतरं शयनं शयनीयम्। दंशीहीनं दंशकाणुकीट-विशेषवर्जितम्, मत्कुणमुक्तं खट्वामलाख्यकीटवर्जितम्, मशकोनं मशककीटविशेषरहितम्। दंशीमत्कुणमशकाः सुखशयनविघातकाः, प्रकृते राज्यपक्षे तु तादृशाः कर्णेजपनिन्दकप्रतिपक्षिणो ज्ञेयाः। दायः पित्रादिद्रव्ये भ्रात्रादीनामधिकारापन्नो विभागः तस्मादपेतं वर्जितम्। "अपेतापोढमुक्त०" इति समासः। एवंभूतं कर्तुं संपादयितुम्। उपेतः आगतः। तादृशराज्यसुखशयने विघ्न-भूतानाम् अस्माकमुन्मूलनायागत इति भावः॥२४॥

अर्थ—लक्ष्मण ने जाकर चारों ओर देखकर पूरी जानकारी प्राप्त करली और आकर कहने लगे। यह भरत चढ़ आया है; वह चाहता है पिता के द्वारा प्राप्त राज्य पर शयन के बाधक मच्छर डांस आदि हैं, उनको हटा दिया जाय और निष्कण्टक हो राज्यरूपी शयन पर मजे में सोया जाय॥२४॥

विशेष—लक्ष्मण का अभिप्राय यह है कि भरत हमें यानी राम-लक्ष्मण को बाधक समझता है; इसलिये सेना लेकर आया है और चाहता है हमें युद्ध में जीतकर असपत्न राज्य का भोग करे। भरत ऐसी दुर्भावना से हम पर सेना लेकर चढ़ आया है॥२४॥

तेनाहं भो आर्य! शपे ते प्रतिजाने,

नत्वाऽद्य त्वां चापगुणोट्टङ्कनशब्दैः।

मातृस्वान्तोद्यानचरिष्णुं भरताऽलिं

यात्वा द्राग् विश्लेषय ऐश्वर्यसरोजात्॥२५॥

भो आर्य राम! तेन हेतुना। अहं ते तुभ्यं शपे शपथं करोमि। "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इति संप्रदानम्। "शप उपालम्भे" इत्यात्मनेपदम्। प्रतिजाने अङ्गीकरोमि। वक्ष्यमाणमित्यर्थः। "संप्रतिभ्यामना-ध्याने" इत्यात्मनेपदम्। अद्य त्वां नत्वा। चापगुणस्य धनुर्मौर्व्या यदुट्टङ्कनम् आतननं तस्य शब्दैः। मातुः कैकेय्याः स्वान्तं चित्तमेवोद्यानं तत्र चरिष्णुं भ्रमण-शीलम्। भरताऽलिं भरतभ्रमरम्। यात्वा गत्वा। द्राक् शीघ्रम्। ऐश्वर्यं राज्याधिपत्यरूपं तदेव सरोजं कमलं तस्मात्। विश्लेषये वियोजयामि॥२५॥

अर्थ—लक्ष्मण ने राम से कहा—'इसलिये हे आर्य! मैं आपकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ और आपके चरणों में झुककर यह प्रतिज्ञा करता हूँ, धनुष पर डोरी चढ़ाकर टंकार कर कहता हूँ—मैं कैकेयी माँ के अन्तःकरणरूपी उद्यान में गुंजार करने वाले भरतरूपी भ्रमर को राज्याधिपत्यरूपी कमल से उड़ाकर दूर कर दूंगा। यानी भरत को राज्यच्युत किये बिना, युद्ध में हराये और मारे बिना हटने वाला नहीं हूँ॥२५॥

विशेष—लक्ष्मण के इन वचनों में राम के प्रतिअनन्य भक्ति, निःस्पृहता, शौर्य-भाव और चपलता झलकती है॥२५॥

विश्वस्तः सौभ्रात्र उदारे भरतस्य

नाथोऽवादीत् तं त्वरमाणं विनिषेधन्।

दूरे तस्याऽकण्टकताऽऽपादनमेतद्

रम्यं राज्यं जात्वपि नेच्छेत् स महात्मा॥२६॥

भरतस्य उदारे महति ''उदारो दातृमहतोर्दक्षिणे चाभिधेयवत्।'' इति मेदिनी। सौभ्रात्रे सुभ्रातुः कर्मणि भावे वा। ''हायनान्तयुवादिभ्योऽण्'' इत्यण्। विश्वस्तः विश्वासं प्राप्तः। नाथः प्रभू रामः। तं लक्ष्मणं त्वरमाणं धनुरादि सज्जीकर्त्तुं शीघ्रतां कुर्वन्तम्। विनिषेधन् निवारयन्। ''उपसर्गात्सुनोति०'' इत्यादिना सस्य षत्वम्। अवादीत्। तस्य राज्यस्य भरतस्य वा। अकण्टकताया निष्कण्टकत्वस्य आपादनं करणम्। शात्रवादिविघ्ननिराकरणमित्यर्थः। दूरे दूरत एवास्तीत्यर्थः। स महात्मा उदारस्वभावः। जातु कदाचित्। रम्यं रमणीयं राज्यमपि न इच्छेत्। मत्प्रवासेन विरक्तः स राज्यस्य रम्यत्वात्तदपि नेच्छेदिति भावः। यद्वाऽपिशब्दो जातुनैव संबध्येत। जात्वपि कदाचिदपीत्यर्थः॥२६॥

अर्थ—अपने भाई भरत के भ्रातृ-भाव के प्रति गहरी आस्था रखने वाले राम ने लक्ष्मण को इस प्रकार लड़ने की तैयारी करने के लिये रोका और कहने लगे—'मुझे तो लगता है—उदार भरत हमारे निष्कण्टक राज्य को पाकर उससे उदासीन है और वह महात्मा इस रमणीयराज्य को छोड़ने की भावना से आया है'॥२६॥

मन्यस्व ज्ञंमन्य सुमान्यं तमनन्यं

पश्यस्युग्रंपश्य किमुग्रं तमनुग्रम्।

वामोऽवामायेर्ष्यति दोर्यत् स्फुरणैस्तद्

ह्यस्तन्यन्तः स्वप्नकथा च प्रदुनोति॥२७॥

हे ज्ञंमन्य पण्डितंमन्य! तं भरतम् अनन्यम् अद्वितीयं सुमान्यं संपूज्यं मन्यस्व जानीहि। हे उग्रंपश्य! उग्रं क्रूरं यथा स्यात्तथा पश्यतीत्येवंविध! ''उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च'' इति खश्। अनुग्रं विनीतसरलाशयम् उग्रम् उत्कटं किं पश्यसि आलोचयसि? भरतं प्रतीदृशी दुर्वासना सर्वथा त्यक्तव्यैवेति भावः। यद् वामो दोः बाहुः स्फुरणैः स्पन्दनैः अवामाय दक्षिणाय। (दोष्णे) ईर्ष्यति ईर्ष्यां करोति। तं दक्षिणं स्फुरन्तं दृष्ट्वा ईर्ष्ययेव स्वयं स्फुरतीति गम्योत्प्रेक्षाश्रितो भावः। ''क्रुधद्रुहेर्ष्या०'' इत्यादिना संप्रदानम्। तत्। च पुनः। ह्यस्तनी गतदिवस-संजाता। ''सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'' इति ट्युस्तुट् च। स्वप्नकथा सीता-स्वप्नवार्ता अन्तः चित्तं प्रदुनोति व्यथयति॥२७॥

अर्थ—अपने को पण्डित (समझदार) मानने वाले हे लक्ष्मण! तू भरत को अद्वितीय पूज्य जान। हे उग्रंपश्य! यानी सब ओर उग्रता को ही देखने वाले लक्ष्मण! भरत को विनम्रभाव वालों में अग्रणी जान। मेरी दाहिनी और बाई भुजाएँ एक साथ फड़कती है—इससे शुभ एवं अशुभ दोनों की सूचना मिल रही है। दाहिनी भुजा परमप्रिय भाई से मिलने के रूप में शुभ प्रकट कर रही है; लेकिन सीता ने रात में एक दुःस्वप्न देखा है—वही मानो यथार्थ होने के रूप में अशुभ बन कर आया है॥२७॥

नृत्यन्तीति भ्रातृवरस्य स्मृतिरन्तः

पात्रं मन्योरप्यररञ्जद् रघुराजम्।

मध्येरङ्गं रङ्गदुपाङ्गं स्फुरदङ्गं

जौषं नृत्यं हर्षयते यद्वदहर्षम्॥२८॥

इति इत्थम्। अन्तर्मनसि। नृत्यन्ती खेलन्ती। भ्रातृवरस्य भरतस्य। स्मृतिः चरितपरम्परा[१]नुशीलनपूर्वकम् आध्यानं मन्योः वामभुजस्फुरणस्वप्नकथाजन्यशोकस्य पात्रं[२] भाजनम् अपि रघुराजं श्रीरामम् अररञ्जत् विनोदयति स्म। अत्रोपमामाह-यद्वद् यथा मध्येरङ्गं नाटकीयरङ्गस्थले रङ्गन्ति चलन्ति उपाङ्गानि करतलाङ्गुल्यादीनि यत्र तत्। तथा स्फुरन्ति ईषच्चलन्ति अङ्गानि भुजादीनि यत्र तत्। जौषं जोषा योषा स्त्रीत्यर्थः। ''योषा जोषाऽपि च ख्याता'' इति द्विरूपः। तस्या इदम्। नृत्यं (कर्तृ) अहर्षं (कर्म) हर्षरहितं (जनं) हर्षयते प्रमोदयति॥२८॥

---

१. अतो वक्ष्यमाणं नृत्यमपि स्फुरदङ्गोपाङ्गं वर्णितम्। अत उपमेयस्य हीनत्वं न शङ्क्यं तादृशत्वेन स्मृतेः स्वाभाविकत्वात्।

२. '[illegible] च' इति [illegible]।

अर्थ—अपने श्रेष्ठ भाई भरत की स्मृति राम के हृदय को आनन्दित करने लगी; दाहिनी भुजा के फड़कने का यह लक्षण है। पर सीताजी के सपने के अपशकुन को बताने वाला–बाई भुजा का फड़कना है। पर, दोनों के होने पर भी सुख के भाव ने दुःख को परास्त कर दिया है। जैसे रंगमंच में कोई युवती नृत्य करती है तो उसका वह आनन्द दुःखीदर्शक को भी आनन्दित करता है॥२८॥

विशेष—नृत्य का आनन्द अहर्षित व्यक्ति को हर्ष युक्त करता है; उसी प्रकार राम के हृदय में भरत की स्मृति से विशेष आनन्द का अनुभव हुआ और दुःख का शकुन उसके सामने दब गया॥२८॥

भरतस्य दर्शनमाह—

जन्माऽऽफल्यं नाशय पाहि प्रतिरक्ष

हा दीनं मेत्येव वदन्तं प्रणमन्तम्।

रम्यं ध्यायन्नेव लुलोके भरतं स

भार्येवाऽऽर्यान् प्रापयतीष्टं स्मृतिरेव ॥२९॥

जन्मनः आफल्यं निष्फलत्वं नाशय दूरीकुरु। पाहि रक्ष। हा कष्टम्। मा मां दीनं प्रतिरक्ष प्रतिगृहाण। प्रतिशब्देन रामकर्तृकम् आत्मनः प्राग्विमुक्तत्वं भरतेन ध्वनितम्। इति इत्थमेव। नान्यत् किमपीत्यर्थः। वदन्तं प्रणमन्तं पादप्रणामं कुर्वन्तम्। भरतम्। रम्यं मनोविनोदपूर्वकं यथा स्यात्तथा ध्यायन् स्मरन्नेव स रामः। लुलोके ददर्श। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-स्मृतिरेव भार्या पत्नीव आर्यान् सज्जनान् इष्टम् अभीष्टं प्रापयति नयति योजयतीत्यर्थः। आर्याः स्मृतमात्रमेव इष्टं प्राप्नुवन्तीति फलितोऽर्थः॥२९॥

अर्थ—भरतदर्शन : भरत ने आर्त स्वर में कहा–हे प्रभो ! आप मेरे जन्म के निष्फलत्व को दूर करें। मेरी रक्षा करें। मुझ दीन को आप छोड़ें नहीं अपराध होने पर भी पुनः अपनावें। इस प्रकार कहते हुए और प्रणाम में झुके हुए भरत को राम ने देखा। जिस भरत का स्मृति में ही ध्यान कर रहे थे।

स्मृतिरूपी भार्या–आर्यजन–(श्रेष्ठजन) को उनके अभीष्ट तक पहुँचाती है॥२९॥

श्रीरामभरतयोः समागममाह—

यां स्नेहस्य प्रौढिमहो अन्वभवत्, तं

रामः श्लिष्ट्वा, तं स च नत्वा, क ऋचेत् ताम्?।

मन्ये तत्रस्थस्य जनस्यापि तदा तां

स्यन्न्रा नेत्रस्योदकधारैव जगाद ॥३०॥

रामः तं भरतं श्लिष्ट्वा आलिङ्ग्य। च पुनः। स भरतः तं रामं नत्वा प्रणम्य। अहो यां स्नेहस्य प्रौढिम् उत्कर्षम् अन्वभवत् अनुभवति स्म। तां कः ऋचेत् प्रशंसितुं शक्नोति ? न कोऽपीत्यर्थः। तौदादिकस्य "ऋच स्तुतौ" इत्यस्य रूपम्। अहं मन्ये-तदा तस्मिन् काले। तां स्नेहप्रौढिं तत्रस्थस्य चित्रकूटस्थायिनो जनस्य लोकस्याऽपि। जनमित्यर्थः। कर्मणोऽविवक्षायां षष्ठी। स्यन्न्रा परिस्रुता नेत्रस्य उदकधारा अश्रुधारैव जगादः-सूचितवती॥३०॥

अर्थ—राम भरत के मिलाप का वर्णन : राम ने भरत का आलिंगन कर और भरत ने राम को प्रणाम कर–जिस गहन प्रेम का अनुभव किया, उस उत्कर्ष प्राप्त आनन्द का शब्दों में कौन वर्णन कर सकता है।

कवि कह रहा है–'मैं तो यह मानता हूँ, उस दृश्य को साक्षी रूप में जो व्यक्ति वहाँ चित्रकूट पर खड़े इस दृश्य को देख रहे थे, वे तो चुप रहे, उनके नेत्रों से झरती हुई अश्रुधारा ने किंचित् वर्णन किया॥३०॥

राजमरणवृत्तेनाक्रन्दमाह—

गृध्रो मांसैर्यद्वदतृप्तो विधिरस्त्रै

रंरन्ति स्माऽद्यापि, न पुर्येव, वनेऽपि।

हन्त क्ष्माभृन्मृत्युगिरा यः समभूत् स

त्वाक्रन्दोऽन्वाप्तो गिरिणाऽपि प्रतिनादैः॥३१॥

यद्वद् यथा मांसैः अतृप्तः गृध्रः। तथा अस्त्रैः अश्रुभिः (अतृप्तः) विधिः दुर्दैवं पुरि अयोध्यायामेव न रंरन्ति स्म पुनः पुनरतिशयेन वा रमते स्म, किन्तु अद्याऽपि वनेऽपि रंरन्ति स्म। तदेव निदर्शयति-हन्तेति खेदे। क्ष्माभृतो राज्ञो मृत्युगिरा मरणवृत्तेन यः समभूत् संजातः स तु आक्रन्दः रोदनं गिरिणा चित्रकूटेनाऽपि प्रतिनादैः प्रतिध्वनिभिः प्रतिशब्दमिषादित्यर्थः। अन्वाप्तः अनुसृतः क्ष्माभृतो गिरेर्मृत्युर्गिरा गिरिकृतमनुरोदनमुचितमेवेत्यपि ध्वनितम्। यद्यपि "पादादौ न प्रयोक्तव्याः प्रायशश्चादयो बुधैः।" इति वचनात् तुर्यपादादिप्रयुक्तः 'तुः' दोषशङ्कामाभासयति, किन्तु सिंहावलोकनेन पृष्ठगत पदमपेक्षमाणाश्चादयो न दोषाय कल्पन्ते। इत्येव सूचयितुं 'प्रायशः' इत्युक्तम्। एतदेवानुसृत्य कालिदासेन प्रयुक्तम्-"वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव।" इति कुमार०-७/८७॥३१॥

अर्थ—राजा दशरथ के मरणशोकसंवाद से क्रन्दन का फैलना : जैसे कोई गिद्ध मांस से अतृप्त रह जावे, उसी प्रकार लगता है—दुर्दैव अयोध्या में आँसुओं से तृप्त नहीं हुआ, अतः वह राजा की मृत्युशोकजनित पीड़ा से इस चित्रकूट को भी ध्वनित कर रहा है। यानि राजा दशरथ के मृत्युशोकसंवाद से वहाँ जो क्रन्दन हुआ, उसकी प्रतिध्वनि चित्रकूट ने भी की॥३१॥

अथ पञ्चभिः वशिष्ठस्य धैर्योपदेशं निर्दिशति—

जल्पाकानां जल्पमिवानल्पमथैनं

टालं टालं स्माह वशिष्ठो धृतिवाचा।

युक्तं शुग्-रात्र्येत्विति रामार्कमुदीक्ष्यो-

षंमन्योऽयं काल इतःकिं तम आस्ताम्॥३२॥

अथ वशिष्ठः। धृतिवाचा धैर्यवचनेन। जल्पाकानां वाचालानाम् "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्।" इत्यमरः। "जल्पभिक्ष०" इत्यादिना षाकन्। जल्पं बहुगर्ह्यभाषणमिव अनल्पं बहुलम् उत्तरोत्तरं वर्धमानमित्यर्थः। एनम् आक्रन्दम्। टालं टालं निवार्य निवार्य। आह स्म वदति स्म। राम एव अर्को रविः तम् उदीक्ष्य दृष्ट्वा शुक् शोक एव रात्री एतु अपगच्छतु इति युक्तमुचितम्। अत एव अयं कालः उषंमन्यः आत्मानम् उषां प्रभातं मन्यते तथोक्तः। इतः अस्मात्कारणात् किं तमः शोकोऽन्धकारश्च आस्ताम् तिष्ठेत्। कदापि नेति भावः। रामे दृष्टे शोकेन नैव भवितव्यमिति तात्पर्यम्॥३२॥

अर्थ—निम्न पाँच श्लोकों में महर्षि वशिष्ठ द्वारा दिये जाने वाले धैर्योपदेश का वर्णन : इधर राजा दशरथ के मृत्यु-संवाद से क्रन्दन करने वालों का क्रन्दन बढ़ रहा था; जिसे वशिष्ठजी के धैर्य युक्त वचनों से धीरे-धीरे हटाया गया। उन्होंने कहा—रामरूपी सूर्य को देखकर शोक (अन्धकार) कैसे रह सकता है ? इस काल को उषाकाल समझो—फिर अन्धकार कैसे?॥३२॥

गृध्नोर्गर्धः शोकभृतः शुक् च न सम्यग्

रंरन्तीशः कालमयोऽयं हि विचित्रम्।

चक्षुः सून्मील्यान्तरमालोकयितव्यं

नित्यं लोके किं ननु दृष्टं तमपास्य?॥३३॥

गृध्नोः लुब्धस्य। "त्रसिगृधि०" इति क्नुः। गर्धो लोभः। च पुनः। शोकभृतः शुक् शोकः। न सम्यक् सत्यं सङ्गतमस्तीतिशेषः। क्रियाविशेषणत्वेन विवक्षितम्। हि यतः। अयं हि ईशः सर्वव्यापीश्वरः कालमयः समयस्वरूपः विचित्रं यथा स्यात् तथा विचित्रतयेत्यर्थः। रंरन्ति-मुहुर्मुहुरतिशयेन वा रमते। यदुक्तम्—"अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः। समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया।" इति कालरूपस्य हीश्वरस्य सर्वकार्याणां कारणत्वेन लोभः शोकश्च मिथ्यैवेति भावः। एतदेवोत्तरार्धेन विशदयति—आन्तरम्

अभ्यन्तरीयं चक्षुः नेत्रं सून्मील्य सम्यग् उद्घाट्य आलोकयितव्यं द्रष्टव्यम्–लोके जगति। तं नित्यम् अविनाशिनं कालस्वरूपमीश्वरम्। अपास्य त्यक्त्वा। किं ननु दृष्टम् ? न किमपीत्यर्थः। अत्र वर्ण्यावर्ण्ययोः शोकगर्धयोर्मिथ्यात्वस्यैकस्य धर्मस्योक्तौ तुल्ययोगिता। "वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता" इति लक्षणात्॥३३॥

अर्थ—लोभी का लोभ और शोक करने वाले का शोक मिथ्या है; क्योंकि इनके पीछे वह कालस्वरूप ईश्वर ही एक मात्र सबमें रमण कर रहा है। ज्ञान की आँखों को खोलकर देखो–सर्वत्र वही सर्व व्यापी ब्रह्म अकेला ही दीख पड़ेगा; और जो ऊपर भास रहा है, वह कहाँ है !' एकमात्र अद्वितीय रूप ब्रह्म ही है॥३३॥

हन्तात्मानं प्रोज्झ्य चतुर्धा य इतो द्यां
तं शोचेत प्राकृतवद् भोः ! किमु भूपम्?।
दृश्यः साक्षात् कीर्तिशरीरः स सदैवे-
ष्ट्वा यज्ञान् यः प्रास्थित भोगानपि भुक्त्वा॥३४॥

हन्तेति हर्षे। यः (भूपः) चतुर्धा चतुष्प्रकारेण। आत्मानं प्रोज्झ्य त्यक्त्वा। पुत्राणां पित्रात्मरूपतया चतुरः पुत्रान् परित्यज्येति भावः। द्यां स्वर्गम् इतो गतः। भोः ! यूयं प्राकृतवत् साधारणजना इव। तं भूपं दशरथम्। किमु किं शोचेत ? अशोच्यः स इति भावः। स भूपः कीर्तिशरीरः यशोमूर्तिः सन्। कीर्तिशरीरेणेत्यर्थः। सदैव साक्षात् प्रत्यक्षं दृश्यः द्रष्टुं शक्यः। यः (भूपः) यज्ञान् अश्वमेधादीन् इष्ट्वा अनुष्ठाय। भोगानपि च भुक्त्वा। प्रास्थित प्रतस्थे। इतो लोकादिति शेषः॥३४॥

अर्थ—यह तो हर्ष की बात है कि वह राजा अपने चार पुत्रों में विभक्त होकर यहाँ पर उपस्थित है। वह गया कहाँ है। तुम साधारण व्यक्ति की तरह उस राजा का शोक क्यों कर रहे हो ? देखो, वह तो कीर्तिरूपी शरीर से अभी भी यहाँ मौजूद है। वैसे देखें तो उसने यहाँ भोगों को खूब भोगा है और यज्ञों का अनुष्ठान किया है करणीय सभी कार्य करने से वह मुक्त है॥३४॥

हृष्टात्मा त्वं राम, विषद्यालमिदानीं
तां धीरोक्तिं संस्मर हेऽवक् प्रवसन् याम्।
श्रुत्वा स्मारं स्मारमथो तां धृतिमेमि
त्वादृग् धीरः कोऽस्ति नु धीरर्षिधुरीण!॥३५॥

राममुद्दिश्यैतद् वशिष्ठवचनम्–भो राम ! त्वं हृष्टात्मा प्रसन्नचित्तः। परमानन्दस्वरूप इति ध्वन्यते। असीति शेषः। इदानीम् अधुना विषद्य दुःखितो भूत्वा अलम् इति प्रतिषेधे। "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इति क्त्वाप्रत्यये कृते ल्यबादेशः। हे भोः ! तां धीरोक्तिं धीरवाणीं संस्मर स्मृतिविषयीकुरु यां (धीरोक्तिं) प्रवसन् वनं प्रति प्रव्रजन् सन् अवक् अवदः। तां (धीरोक्तिं) श्रुत्वा। अथो पुनः स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा अहं वशिष्ठः। धृतिं धैर्यम्। एमि प्राप्नोमि प्राप्नवमित्यर्थः। "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति वर्तमाने लट्। नु पृच्छायाम्। हे धीराणाम् ऋषीणां धुरीण अग्रेसर ! त्वादृक् भवादृशः को धीरोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः। धियं बुद्धिम् ईरयति प्रेरयतीति धीरः परमात्मेत्यपि ध्वन्यते॥३५॥

अर्थ—हे राम ! तुम तो आनन्द स्वरूप हो। इस समय शोक को दूर करो। तुम तो धीरों में और ऋषियों में अग्रगण्य हो। वनवास के समय तुमने जिस धैर्य से युक्त वाणी को कहा था, उसे बार-बार स्मरण करके मैं (वसिष्ठ) धैर्य को प्राप्त कर रहा हूँ। तुम्हारा जैसा धैर्यशाली कौन होगा ? अधीर न होकर अपने स्वरूप में स्थिर होने का यह समय है॥३५॥

चक्षुर्मार्ग्यं लक्ष्मणकानीतजलेन
मैथिल्याख्यां संस्मर सीते भव धीरा।
थिरॄथिरॄनादाङ्कैः स्वगरुद्भिः स्थिरतां वाऽऽ-
लीं पश्य त्वं निर्दिशतीं मत्तमयूरीम्॥३६॥

सीतामुद्दिश्योक्तिरियम्–सीते ! अनुकम्पितो लक्ष्मणो लक्ष्मणकः। "अनुकम्पायाम्" इति कन्। तेन आनीतं यज्जलं तेन चक्षुः नेत्रम्। जात्यैकत्वम्। मार्ग्यं परिमार्जनीयम्। "मृजेर्विभाषा" इति क्यपः पाक्षिको ण्यत्। "चजोः कु०" इत्यादिना कुत्वम्। अत्र जलानयनरूपकार्यान्तरनियोजनेन लक्ष्मणस्याऽपि प्रसक्तायाः शोकग्रस्तेर्वियोजनं युक्त्या सूचितम्। मैथिल्याख्यां मैथिलीनाम संस्मर। जीवन्मुक्तस्य मैथिलस्याऽपत्यं (स्त्री) भूत्वा एवम् आत्मानं शोकायत्तीकरोषीति नोचितमिति भावः। धीरा भव। थिर्-थिर्नादः अङ्कः चिह्नं यत्र तैः स्वगरुद्भिः स्वपक्षैः स्थिरतां वा शोकचलितस्य मनसः स्थिरत्वमिव निर्दिशतीम् उपदिशतीम् आलीं सहचरीत्वेन सखीं मत्तमयूरीं मत्तां नीलकण्ठीं पश्य। एषा सखी मत्तमयूर्यपि त्वां धीरयतीति भावः। 'मत्तमयूरी' पदेन मत्तमयूरस्य वृत्तस्य सूचनाद् मुद्रालंकारः॥३६॥

अर्थ—हे सीते ! तुम मिथिलानरेश (विदेह) राजर्षि की पुत्री होकर, आँसू बहाती हो, यह उचित नहीं; धैर्य धारण करो, लक्ष्मण के द्वारा लाये हुये जल से अपने नेत्रों को साफ करो। यह मत्त मयूरी भी अपने पंखों को फड़फड़ाकर जो थिर-थिर का नाद कर रही है, वह तुम्हारी सखी की तरह-तुम्हें स्थिर होने-(यानी धैर्यवती होने) के लिये समझा रही है॥३६॥

विशेष—महाकवि ने 'मत्तमयूरी' शब्द से यह भी संकेत कर दिया है कि यह छन्द 'मत्तमयूर' है। इससे 'मुद्रालङ्कार' का प्रयोग भी हो गया है॥३६॥

रामस्यापस्नानादिकमाह—

रामोऽपस्नातोऽञ्जलिदानादि च कृत्वा

घर्मं त्यक्त्वा मन्युमयं चाऽऽगुरु नत्वा।

वश्यस्वान्तोऽवेत्य हृदर्थं भरतस्य

शोकं चान्तस्तापमपास्यन्निदमूचे॥३७॥

अपस्नातः मृतं पितरमुद्दिश्य स्नातः "अपस्नातो मृतस्नातः" इत्यमरः। रामः अञ्जलिदानादि निवापकृत्यादिकं कृत्वा। मन्युमयं शोकरूपं घर्मं निदाघं त्यक्त्वा दूरीकृत्य। स्नानान्ते घर्मव्यपगम उचित एव। च पुनः। आगुरु आज्येष्ठं ज्येष्ठजनपर्यन्तं गुरुमात्रादिकानित्यर्थः। नत्वा प्रणम्य। वश्यस्वान्तः शान्तचित्तः सन्। भरतस्य हृदर्थं मनोगतमभिप्रायम् अवेत्य ज्ञात्वा। शोकं पितृमरणादिजां शुचम्। अन्तस्तापं स्वमातृकल्पितव्यतिकरजन्यं मनस्तापं च। अपास्यन् दूरीकुर्वन् इदं वक्ष्यमाणम् ऊचे॥३७॥

अर्थ—राम ने राजा दशरथ के उद्देश्य से और्ध्वदैहिक कार्यों के समापन करने की दृष्टि से–स्नान किया, जलांजलि दी, शोकमयी गर्मी को इस प्रकार दूरकर–सभी गुरुजन को प्रणाम किया। राम ने शान्तचित्त होकर, भरत के मनोभाव को जानकर, अपनी माताओं के मनस्ताप को दूर करते हुए–कहना शुरू किया॥३७॥

रामस्य भरतं प्रति कर्तव्योपदेशमाह—

कस्माद् वत्स ! श्यामदलेन्दोः क्रशिमानं

संप्राप्तस्त्वं मय्यपि सत्युज्ज्वलपक्षे?।

तप्तोऽम्बास्वप्यक्षयवर्षासु सतीषु?,

तोषः स्यान्नश्छत्रमुपर्यस्ति वशिष्ठः॥३८॥

भो वत्स ! मयि उज्ज्वले मनोविकाराराहित्येन निर्मले पक्षे सहाये सति विद्यमानेऽपि। श्यामदलस्य कृष्णपक्षस्य इन्दोश्चन्द्रस्य क्रशिमानं कृशताम्। "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इतीमनिच्। "र ऋतो हलादेर्लघोः" इति ऋकारस्य रत्वम्। कस्मात् कुतः कारणात् संप्राप्तः ? उज्ज्वलपक्षे शुक्लपक्षे सत्यपि इन्दोः कृशतेति कथमित्यर्थोऽपि। अपिच अम्बासु मातृषु अक्षयवर्षासु अक्षयम्[1] अक्षीणत्वाशिषं वर्षन्ति तासु सतीषु विद्यमानास्वपि। कस्मादिति पूर्ववाक्यादाकृष्यते। तप्तः दुःखितः ? अक्षयासु अक्षीणासु वर्षासु

१. अक्षयवर्षोऽयं चायुष्यमस्त्विति सुप्रसिद्ध आशीर्वादः।

प्रावृट्सु सतीष्वपि कस्मात् तप्तः तापं प्राप्तः इत्यर्थोऽपि। नोऽस्माकम् तोषः आनन्दः स्याद् भवेत्। यतः उपरि वशिष्ठः छत्रं छत्ररूपोऽस्ति। छत्रे सति तोषाभावः कथमिति भावः। अत्र उज्ज्वलपक्षादिषु हेतुषु सत्स्वपि इन्दुवृद्ध्यादीनां कार्याणामनुत्पत्ते-र्विशेषोक्तिरलङ्कारः। "कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।" इति तल्लक्षणात्॥३८॥

अर्थ—राम का भरत के प्रति कर्तव्योपदेश : मेरे जैसे शान्त हृदय वाले शुक्लपक्ष के रहते हुए, तुम कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की तरह क्षीण हो रहे हो, यह उचित नहीं, असंगत है। तुम्हें ताप क्यों–जबकि माताओं के अमित आशिषों की वर्षा हो रही है। हमें सन्तोष न हो, यह ठीक नहीं–क्योंकि हमारे ऊपर वशिष्ठ की छत्रच्छाया है॥३८॥

विशेष—यहाँ महाकवि ने भरत की क्षीणता और ताप दग्धता को दूर करने के लिये क्रमशः दो उदाहरण दिये हैं। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है, क्षीण नहीं होता। वर्षा में ताप नहीं होता। छत्र का अर्थ यहाँ पर वशिष्ठ की छत्रछाया (आश्रय) है। उसे पाकर भी यदि तोष न हो–यह विचित्रता का ही रूप है। यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। 'कारण के रहते हुये भी जहाँ कार्य न हो'॥३८॥

विद्वन् स्वस्य स्वर्गततातस्य च कीर्तिं
लज्जे कर्तुं स्वार्थधियाऽहं सकलङ्काम्।
लाभो लोके नास्ति सुपुत्रस्य हि पित्रोः
पादाब्जाज्ञापालनतोऽन्यः किल कोऽपि॥३९॥

भो विद्वन् विचारशील भरत ! अहं, रामः स्वार्थधिया लक्ष्म्युपभोगस्वार्थबुद्ध्या स्वस्य आत्मनः च पुनः स्वर्गतस्य स्वर्गं गतस्य तातस्य पितुर्दशरथस्य कीर्तिं सकलङ्कां सापवादां कर्तुं लज्जे लज्जितो भवामि। हि यतः। किलेति प्रसिद्धौ। लोके जगति सुपुत्रस्य शोभनस्य पुत्रस्य पित्रोः मातापित्रोः पादाब्जस्य चरणकमलस्य आज्ञापालनतः आज्ञानुपालनात् अन्यः इतरः "अन्यारादितरर्ते०" इत्यादिना पञ्चमी। कोऽपि लाभः फलं नास्ति॥३९॥

अर्थ—भरत ! तुम विचारशील हो विचारो। मैं यदि स्वार्थबुद्धि से राज्यलोभ में आ जाऊँगा तो स्वर्गस्थ पिता के यश को कलंकित करूँगा। पुत्र वही सुपुत्र है, जो मातापिता के चरण-कमल का सेवक हो, आज्ञापालक हो। अतः यही उचित है कि पिता दशरथ की आज्ञा का पालन किया जाय। इससे बढ़कर और लाभ क्या हो सकता है ?॥३९॥

कुर्यामाज्ञां चेत् पितुरासिन्धु-विसारी-
लेन्द्रस्य प्राक् तर्हि वयं स्याम सुधन्याः।
रिक्ताः कुम्भा हेम्न इवोज्झ्याः परथा स्मो
यः पित्राज्ञामत्ययते सोऽस्ति कुपुत्रः॥४०॥

चेत् यदि। वयम् आसिन्धुविसारिण्याः[1] आसमुद्रप्रसारिण्याः इलायाः[2] पृथिव्याः इन्द्रस्य स्वामिनः। पितुः आज्ञां प्राक् राज्योपभोगात् पूर्वं कुर्याम पालयेम, तर्हि सुधन्याः स्याम भवेम। "हेतुहेतुमतोर्लिङ्" इति लिङ्। परथा अन्यथा। रिक्ताः जलादिना अपूर्णाः। हेम्नः सुवर्णस्य कुम्भाः कलशा इव उज्झ्याः वर्जनीयाः स्म। निष्फला इत्यर्थः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति–यः पित्राज्ञां पितुराज्ञाम् अत्ययते उल्लङ्घते स कुपुत्रोऽस्ति॥४०॥

अर्थ—हमारे पिता–जिनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ है–पहले उनकी आज्ञा का पालन किया जाय। बाद में राज्य प्राप्ति की बात हो। हम इस तरह त्याज्य होंगे, जैसे स्वर्णघट (जलविहीन) खाली होने से त्याग के योग्य होता है, अपशकुन रूप होता है॥४०॥

---

१. "विसृत्वरो विसृमरः प्रसारी च विसारिणि।" इत्यमरः।
२. "गोभूवाचस्त्विडा इलाः" इत्यमरः।

विशेष—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। विशेष का सामान्य से समर्थन है॥४०॥

तस्मात् कनिष्ठसहगौ निरपायमावां
तत्त्वं समीक्ष्य पितृशासनमन्वियाव।
स्तेनाविवेक्षण-निमीलमितो लिलीषू,
नैवं यदि, क्व निवसेव परत्र लोकात्?॥४१॥

तस्मात् कारणात्। तत्त्वं वास्तविकतां समीक्ष्य विचार्य। कनिष्ठसहगौ लक्ष्मणशत्रुघ्नसहितौ आवां (राम-भरतौ)। निरपायं निर्विघातं यथा स्यात्तथा। पितृशासनं पित्राज्ञाम् अन्वियाव अनुसरेव। यदि एवं न अन्यथेत्यर्थः। स्तेनौ चौरौ इव ईक्षणनिमीलं नेत्रे निमील्य "स्वाङ्गेऽध्रुवे" इति णमुल्। लज्जितानां हि नेत्रनिमीलनमुचितम्। इतोऽस्मात् लोकात् लिलीषू निलेतुमिच्छू। "अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति" इत्यपा-दानम्। आवां परत्र अन्यत्र क्व कुत्र निवसेव तिष्ठेव ? एतल्लोकीयपरिचितजनतो लज्जमानौ लोकादन्यत्र क्व गमिष्याव इति भावः। इतः परं ५२ तमपद्यान्तं वसन्ततिलकं वृत्तम्॥४१॥

अर्थ—इसलिये, तत्त्व की समीक्षा करने के बाद यही उचित है कि हम दोनों, दोनों छोटे भाइयों यानी लक्ष्मण-शत्रुघ्न सहित-पिता की आज्ञा का पालन करें। नहीं तो चोरों की तरह आँखें बन्द कर भी लें तो आखिर हम रहेंगे कहाँ ? सारा संसार तो हमें जानता है। कहीं दूर बसने का अन्य कोई ठिकाना भी नहीं मिलेगा॥४१॥

वत्स त्वमद्य तदुत श्व इतः परश्वः
शोकं विहाय कुरु राज्यधुरामशून्याम्।
के तुच्छविच्छुरितबुद्धय आरभन्ते
नव्यं ह्यवश्यकरणीयमपास्य कार्यम्॥४२॥

हे वत्स ! तत् तस्मात् कारणात् त्वं शोकं विहाय त्यक्त्वा। अद्य उत अथवा श्वः उत इतः अस्मात् परश्वः। ततः परस्मिन् दिने। दिनत्रयमध्ये एवेत्यर्थः। राज्यस्य धूः भारस्ताम् अशून्याम् अरिक्तां कुरु। राज्यभारं गृहाणेत्यर्थः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-के तुच्छा अल्पा चासौ विच्छुरिता विचलिता बुद्धिर्येषां ते तथोक्ताः जनाः मूढा इत्यर्थः। अवश्यकरणीयम् अवश्यकर्तव्यं राज्यभारग्रहणादिकं कार्यं हि अपास्य त्यक्त्वा। नव्यं नवीनं वियुक्तबन्धुसंमेलादिकं कार्यम् आरभन्ते प्रस्तुवन्ति। न केऽपीत्यर्थः। के तुच्छविच्छुरितबुद्धयः नव्यं (कार्यम्) आरभन्ते इति प्रश्ने-केतुच्छवि-च्छुरितबुद्धयः केतोः तन्नाम्नो नीचग्रहस्य छविः कान्तिः तया च्छुरितबुद्धयः नष्टमतयः। नव्यं (कार्यम्) आरभन्ते इति तत्रैवोत्तरम्। अतः प्रश्नोत्तर-मलंकारः। केतुग्रहप्रभावाद् बुद्धिर्विचलतीति ज्योतिः-शास्त्रे प्रसिद्धम्॥४२॥

अर्थ—हे वत्स ! तुम आज या कल अथवा परसों इन तीन दिनों के अन्दर-अन्दर राज्य का भार ग्रहण करो।

प्रश्न–कौन ऐसी बिगड़ी बुद्धि वाला होगा, जो सामने कर्त्तव्य कर्म (राज्यभारग्रहण) को छोड़कर-भाइयों के मिलनरूप नये कार्य में उलझा रहेगा ?

उत्तर–केतु के प्रभाव से जिसकी बुद्धि गड़बड़ा गई है; वही ऐसा अकरणीय कार्य करेगा॥४२॥

विशेष—यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। तथा प्रश्न के अन्दर ही उत्तर है।

'के तुच्छ० ?' को ? 'केतुच्छवि०।' करने पर ज्योतिः शास्त्र के अनुसार केतुग्रह के प्रभाव से बुद्धि का विचलित होना प्रसिद्ध है॥४२॥

इतः परं दशभी राजनीतिमुपदिशति—

गृध्रा इवामिषभुवे रिपवो नृपाणां
रंरम्यमाणमनसां स्पृहयन्ति लक्ष्म्यै।

दग्धाश्च कुर्वत इति स्थित आत्मसात् तां

ध्वान्तोद्गमा इव तमोनुदपेतसन्ध्याम् ॥४३॥

गृध्राः आमिषभुवे मांसस्यानाय इव। रंरम्यमाणमनसाम् अतिशयेन पुनः पुनर्वा रममाणचेतसां स्वकर्तव्यराज्यशासने प्रमत्तानामिति भावः। नृपाणां राज्ञां लक्ष्म्यै राज्यश्रियै स्पृहयन्ति इच्छन्ति। "स्पृहेरीप्सितः" इति संप्रदानम्। च पुनः इति एवं स्थिते समुपस्थिते सति। यथाऽधुना त्वया ससैन्यस्वपरिजनागमनं कृतम्, तथा अवसरे उपस्थिते सतीति भावः। दग्धाः ते रिपुहतकाः। दग्धा इति गालिप्रदाने व्यवह्रियमाणा वाग्धारा। तां राज्यलक्ष्मीम् आत्मसात् आत्माधीनां कुर्वते। "तदधीनवचने" इति सातिः। अत्रोपमानमाह-ध्वान्तोद्गमाः अन्धकाराक्रमाः तमोनुदः सूर्यात् अपेताम् उन्मुक्तां सन्ध्यामिव। राजहीनां लक्ष्मीमधीनीकुर्वन्तीत्यर्थः। "चन्द्राग्न्यर्कास्तमोनुदः" इत्यमरः। प्रकृते तु सूर्यचन्द्राऽग्निस्थानीयेषु भरत-शत्रुघ्न-वशिष्ठेषु सन्ध्यास्थानीयां राज्यलक्ष्मीं त्यक्त्वाऽत्रागतेषु ध्वान्तोद्गमस्थानीयानां रिपूणामवसर इत्याशयः ॥४३॥

अर्थ—निम्न दस श्लोकों में राजनीति का उपदेश : जैसे गिद्ध मास के लोभी होते हैं, वे मांस में रमे रहते हैं, वैसे ही ये कलमुंहे शत्रु दूसरों की राज्य-लक्ष्मी के लिये ललचाते रहते हैं। जैसे सूर्य द्वारा छोड़ी हुई–सन्ध्या पर अन्धेरा हमला कर उसे मिटा देता है; उसी प्रकार शत्रु भी ऐसा ही मौका देखते हैं।

तुम यहाँ आये हो, मानों सूर्य यहाँ आया है। राज्य-लक्ष्मी मानो सांझ की तरह वहाँ अयोध्या में है; शत्रु को यहाँ अन्धकार बताया है॥४३॥

जय्यां चिकीर्षव इह श्रियमन्यदेशाऽ-

टाट्यां नृपं रिपुचराः किल कारयन्ति।

युक्त्येत्यराट्कृतमथो विषयं नरोऽस्ते-

षं लाङ्गलं सुकृषिका इव वर्जयन्ति ॥४४॥

इह लोके श्रियं राज्यलक्ष्मीं जय्यां जेतुं वशीकर्तुं शक्यां चिकीर्षवः कर्तुमिच्छवो रिपुचराः शत्रुगूढपुरुषाः। नृपं राजानम् अन्यदेशानां देशान्तराणाम् अटाट्यां पर्यटनम्। "सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः।" इति यङि "अ प्रत्ययात्" इत्यः प्रत्ययः। कारयन्ति। किलेति प्रसिद्धौ। अथो अनन्तरम्। इति एवंप्रकारेण युक्त्या बुद्धिचातुर्येण अराट्कृतम् अराजकीकृतम्। च्विप्रत्ययः। विषयं जनपदं नरः पुरुषाः वर्जयन्ति त्यजंति। ते तं नेच्छन्तीत्यर्थः। अत्रोपमानमाहः—सुकृषिकाः शोभनाः कर्षकाः अस्तेषं निष्कासितलाङ्गलदण्डं लाङ्गलं हलमिव ॥४४॥

अर्थ—विजय की इच्छा वाले शत्रुओं के गुप्तचर दूसरों कें राज्य में घूमते रहते हैं और जहाँ उन्हें राजा के द्वारा छोड़ा हुआ राज्य मिल जाता है तो वे उसे हथियाने का प्रयत्न करते हैं–ऐसे अराजक राज्य को प्रजा छोड़ देती है, जैसे अच्छा किसान उस हल को छोड़ देता है, जिसका दंडा निकल गया हो॥४४॥

मा गाः प्रमादमथ संगतराज्यलक्ष्मी-

र्गन्धद्विपो मदमिवाप्तमदाम्बुधारः।

मानान्ध्यमाप्त इव वन्द्यलिनां स पर्या-

णोनूयनैस्त्वमरिसिंहदृशेक्षितः स्याः ॥४५॥

अथ पुनः। संगतराज्यलक्ष्मीः आश्लिष्टराज्यश्रीः त्वम्। आप्तमदाम्बुधारः संप्राप्तदानजलधारः गन्धद्विपः गन्धोपलक्षितो गजो मदं गर्वमिव। प्रमादम् अनवधानतां मा गा नैव प्राप्नुहि। माङि लुङि "इणो गा लुङि" इतीणो गादेशे "गातिस्था०" इति सिचो लुक्। प्रमत्तो मा भवेत्यर्थः। वंदिनः स्तुतिपाठका एव अलयो भ्रमरास्तेषां वन्दिभूतानाम् अलिनां च पर्याणोनूयनैः परितः पुनः पुनरतिशयेन वा नवनैः स्तवनैः। मानः संमानः तेन यत् आन्ध्यम् अन्धत्वं तद् आप्तः संमानान्धीभूत इत्यर्थः। स इव गन्धद्विप इव त्वम्। अरिः शत्रुरेव स्पर्धालुतया सिंहः। अन्यत्र अरिश्चासौ सिंहश्च

तस्य दृशा दृष्ट्या ईक्षितः दृष्टः स्याः भवेः। संभावनायां लिङ्। वन्दिभूतैर्भ्रमरैर्गुञ्जनगुणगानेन संमानान्धीभूतो यथा मदमत्तो गजः शत्रुणा सिंहेन तर्क्यते तथा त्वमपि वन्दिनां स्तवनेन संमानान्धीभूतश्छिद्रान्वेषिभिः शत्रुभिस्तर्क्येथा इति तथाविधं प्रमादं कदापि नैव प्राप्नुहीत्याशयः ॥४५॥

अर्थ—राज्यलक्ष्मी को पाकर हाथी की तरह मदोन्मत्त न होना। जब हाथी के मद झरता है तो भौंरे गुनगुनाते हुए उसके चारों ओर मंडराते हैं, हाथी मस्ती में आँखें मूँद लेता है—इतने में सिंह उस पर आक्रमण कर उसका विनाश कर देते हैं। तुम राज्यलक्ष्मी को पाकर मदोन्मत्त न होना। भौंरों की तरह चारण-भाट आदि प्रशंसक गुण-गान कर राजा को मदोन्मत्त कर देते हैं और इतने में शत्रु को मौका मिल जाता है अतः तुम न मदमत्त होना और न चापलूसों के चक्कर में आना ॥४५॥

वत्स प्रयत्य कुरु राज्यनिधेः स्वचित्त-

नेत्रेण यामिक इव प्रतिजागरं त्वम्।

सीमामनूष्य भवतीह परस्य सीमा

तां चानु सख्युरनु तामुभयेतरस्य ॥४६॥

वत्स ! त्वं यामिकः प्राहरिक इव "तत्र नियुक्तः" इति ठक्। प्रयत्य यत्नं कृत्वा। स्वचित्तमेव नेत्रं तेन। राज्यमेव निधिः निधानं तस्य प्रतिजागरम् अवेक्षणं कुरु। जागुर्घञि "जाग्रोऽविचिण्" इत्यादिना गुणः। "अवेक्षा प्रतिजागरः" इत्यमरः। उत्तरार्धेन राज्यस्य प्रतिजागरोपेक्षितं सीमानुसीमाविन्यासं निर्दिशति-इह लोके। सीमां स्वराज्यसीमानमनूष्याऽप्यवहितं स्थित्वा। "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वम्। परस्य शत्रोः। सीमा राज्यसीमा भवति। सीमसीमयोर्द्विरूपताऽत्र दर्शिता। तां परस्य सीमाम् अनु अव्यवधानस्थित्या सख्युः मित्रस्य सीमा भवति। तां सखिसीमामनु च उभयेतरस्य शत्रुमित्रेतरस्य उदासीनस्य सीमा भवतीत्यन्वीयते ॥४६॥

अर्थ—प्रिय भरत ! तुम एक सजग पहरेदार की तरह रहो, राज्यनिधि की चौकसी करो। याद रखो—अपनी राज्य-सीमा से लगी हुई जो सीमा है, वह शत्रु की है, शत्रु के राज्य की सीमा के पास समझो मित्र की सीमा है और मित्र की सीमा के पास सोमा उदासीन की है—यानी जो न शत्रु है और न मित्र है।

अर्थात् अपने राज्य की सीमा के पास वाले राष्ट्र शत्रुभाव ही रखेंगे, उनसे सावधान रहना और उनके पास वाले देशों से मित्रता स्थापित करना। इससे पास वाले शत्रुभावापन्न राष्ट्र भी दबे रहेंगे। यानि शत्रु का शत्रु मित्र होता है—इस राजनीति को काम में लाना ॥४६॥

रामानुजोऽसि यदि, पालय धर्मसंधां,

क्षत्त्रोऽसि चेत्, क्षतिभयात् परिरक्ष लोकान्।

संज्ञां समर्ह भरणाद् भरत, श्रियोऽरीन्

संवर्धयंश्च जय लक्ष्मण-शत्रुहाऽग्र्य ॥४७॥

यदि त्वं रामस्य अनुजः अवरजोऽसि (तर्हि) धर्मस्य संधां मर्यादां पालय। चेद् यदि क्षत्त्रोऽसि। तर्हि क्षतिभयात् हानिभयात् लोकान् परिरक्ष। हे भरत ! भरणात् पोषणात् संज्ञां स्वनाम समर्ह योग्यां कुरु चरितार्थयेत्यर्थः। हे लक्ष्मणशत्रुघ्नोः अग्र्य अग्रभव ज्येष्ठ। "अग्राद्यत्" इति यत्। शत्रुह-पदव्याख्यानम् अरिहपदे प्राक्कृतं द्रष्टव्यम् (सर्ग १ श्लोक ५१)। च पुनः श्रियो राज्यलक्ष्मीः अरीन् शत्रूंश्च संवर्धयन् यथासंख्यं वृद्धिं प्रापयन् नाशयंश्च सन्। लक्ष्मणाग्रजत्वेन लक्ष्मीं वर्धयन् शत्रुघ्नाग्रजत्वेन अरीन् वर्धयन् नाशयन्निति भावः। "चौरादिकस्य पूरणच्छेदनार्थकस्य वर्धे रूपम्। "वर्धनं छेदने वृद्धौ" इति दन्तोष्ठ्यादावजयः। एवमेषा काचित् तुल्ययोगिता "हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।" इति। सर्वत्र च परिकर-परिकराङ्कुरौ ज्ञेयौ। जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व ॥४७॥

अर्थ—यदि तू सचमुच राम का (मेरा) छोटा भाई है तो धर्म की मर्यादा का पालन करना। तू क्षत्रिय है, अतः अपने नाम को सार्थक करते हुए प्रजा की क्षति से (हानि के भय से) रक्षा करना। तू भरत है, अतः प्रजा का भरण-पोषण करना। इधर तू लक्ष्मण और शत्रुघ्न से बड़ा है तो तू लक्ष्मण से बड़ा होकर यानी राज्य-लक्ष्मी की वृद्धि करने में तत्पर रहना और शत्रुघ्न से बड़ा होने का तात्पर्य है कि शत्रुओं के नाश करने में अपने को बढ़कर दिखाना ॥४७॥

दर्शक्षपा इव तमोभृत इष्टदेवी-

दर्शं तु पश्य जननीर्जननीतिदक्ष।

शक्रो यथाऽदितिमुपास्स्व च मातरं स्वां

हर्तुं विधेर्गतिमलं क इति स्मरंस्त्वम् ॥४८॥

हे जननीतिदक्ष लोकव्यवहारकुशल ! दर्शक्षपाः अमावस्यारात्रीरिव तमोभृतः शोकवतीः अन्धकारवतीश्च। जननीः मातॄः इष्टदेवीदर्शम् इष्टदेवता इव। "उपमाने कर्मणि च" इति णमुल्। तुरित्यवधारणे। इष्टदेवीतुल्यमेवेति भावः। पश्य मन्यस्वेत्यर्थः। स्वाम् आत्मीयां मातरं च। 'विधेर्दैवस्य गतिं चेष्टितं हर्तुमपनेतुं कः अलं समर्थः।' शक्यर्थे तुमुन्। इति स्मरन् चिन्तयन् सन्। यथा शक्र इन्द्रोऽदितिं स्वजननीं, तथा उपास्स्व सेवस्व। अत्र जनन्यर्थे मातृपदं मात्रर्थे च जननीपदं प्रयुक्तं सत् अन्यासां मातॄणां जननीत्वभावनापरिदर्शकं ज्ञेयम् ॥४८॥

अर्थ—हे लोकव्यवहारकुशल भरत ! तुम शोकग्रस्त माताओं को इष्टदेवता समझकर इनका दर्शन करना; जैसे अमावस्या की रात्रि के समय लोग इष्टदेवता के दर्शन करते हैं। इन्द्र जिस प्रकार अपनी माता अदिति की सेवा करता है; उसीं प्रकार सभी माताओं के प्रति स्वमाता का भाव रखकर-सेवा करना। विधाता ने जो उन पर प्रहार किया है; उसे तुम अपनी सेवा से हल्का कर सकते हो ॥४८॥

कञ्चिद् गृहाण गृहमन्त्रमथात्मपेटा-

बन्धं बधान च पुषाण विचारपोषैः।

धंधंधमत्कृतमिवानकमुत्कबाला

नाकर्णयन्ति ननु के तमुदुच्यमानम् ॥४९॥

कंचित् कमपि गृहमन्त्रं गृहविषयिणम् आभ्यन्तरं न तु बाह्यमित्यर्थः। मन्त्रं गुह्यवादं गृहाण शृणु। मन्त्रिजनादिति शेषः। अथ तम् आत्मपेटाबन्धम् आत्मा मन एव पेटा मञ्जूषा तस्यां बधान नियन्त्रय। "अधिकरणे बन्धः" इति णमुल्। मनस्येव तं रक्षेत्यर्थः। च पुनः तं विचारा एव पोषाः पोषणानि तैःपुषाण पुष्टीकुरु। आलोचनप्रत्यालोचनैर्दृढीकुर्विति भावः। गृहाणादिषु त्रिष्वपि "हलः श्नः शानज्झौ" इति श्नः शानच्। अत्रार्थान्तरेण द्रढयति—नन्विति कोमलामन्त्रणे। के (जनाः) तं मन्त्रम्। उद् उच्चैः उच्यमानं कथ्यमानं न आकर्णयन्ति न शृण्वन्ति ? सर्वेऽपीत्यर्थः। अत्रोपमानमाह-उत्का उन्मनसो बाला बालकाः। धंधंधमत्कृतं धंधमित्यनुकृतशब्दकारिणम् आनकं पटहमिव ॥४९॥

अर्थ—अब एक गुप्त मन्त्रणा सुनो, जो केवल तुम्हारे लिये है, इसे अपने मन (हृदय) की पेटी में सुरक्षित रखना और इसको विचार कर आलोचना प्रत्यालोचना या ऊहापोह से पुष्ट करना। जिस प्रकार उत्कण्ठित बालक धं धं धं शब्द करने वाले नगाडे की आवाज को सुनते हैं उसी प्रकार कौन (जन) उच्चस्वर से कहे जाने वाले उस मन्त्र को नहीं सुनते ? अर्थात् सभी सुनते हैं। अतः तुम ही मेरी इस गूढ-मन्त्रणा को सुनकर हृदयस्थ करना ॥४९॥

मर्यादया विरहितैरहितैरधर्म-

रूपाक्रमैर्व्यथयतो युधि चूर्णपेषम्।

पेष्टुं खलान् खलु यतस्व यतस्वकर्मै-

णद्वेषणोऽपि नृपशून् हरते वनीशः ॥५०॥

त्वं मर्यादया विरहितैः। अहितैः विरुद्धैः। अधर्मरूपैः आक्रमैः आक्रमणैः। व्यथयतो दुःखयतः। जनानिति शेषः। खलान् दुर्जनान्। युधि युद्धे। चूर्णपेषं पेष्टुं चूर्णं (यथा स्यात् तथा) पेष्टुमित्यर्थः। यतस्व यत्नं कुरु। 'खलु' इति वाक्यालङ्कारे। यतः यस्मात् कारणात्। स्वकर्म स्वस्य आत्मनो राज्ञ इति भावः। कर्म कर्तव्यम्। इदमिति शेषः। एतदेव दृष्टान्तरूपेणार्थान्तरेण द्रढयति वन्या वनस्थल्याः ईशः स्वामी। प्रकृते तु अवनीशः इति ध्वन्यते। एणद्वेषणः सिंहोऽपि नृपशून् नॄन् पशूंश्च। नृषु पशवः (तथाविधाः खलाः) तांश्चेति ध्वन्यते। हरते नाशयति। यदि वनीशेन सिंहेनाऽपि नृपशवो हन्यन्ते तर्हि अवनीशेन तु नृपशवो हन्येरन्नेवेति भावः। 'रहितैरहितै' 'यतस्व यतस्व' इति यमकमपि॥५०॥

अर्थ—जो लोग मर्यादा के विरुद्ध चलकर, लोगों का अहित करने के रूप में अधर्माचरण करते हैं, उन दुष्टों को तुम युद्ध में पीस डालना। जिस प्रकार वनराज सिंह वन में मनुष्यों या पशुओं को मार डालता है; तुम भी जो पशुवत् आचरण करने वाले मनुष्य हैं– उन दुष्टों का संहार करते रहना॥५०॥

विश्वासतो निदधतं परितः पदानि
कृत्यं तु निर्बलतुदादधतं स्वलोभात्।
तं राज्यतः कुसचिवं बहिराशु कुर्या
घोटारिमब्धित इवाविलयन्तमम्भः॥५१॥

विश्वासतो विश्वासात् स्वसमुत्पादितादिति भावः। परितः समन्तात् पदानि अधिकारपदेषु स्वाञ्जनान् नियोजयन्तमिति भावः। अन्यत्र विशिष्टैः श्वासैः परितः पदानि चरणान् निदधतं विन्यस्यन्तम्। कृत्यं कार्यं तु स्वलोभात् धनलोभात्। उत्कोचग्रहण-लोभादिति भावः। निर्बलतुद् निर्बलान् तुदति व्यथयति तथोक्तम् आदधतं कुर्वन्तम्। अन्यत्र स्वलोभात् निजतापशमनलोभात् निर्बलान् (प्राणिनः) तौति हिनस्ति तथोक्तं कृत्यम् आदधतम्। तं कुत्सितं मन्त्रिणम्। आशु शीघ्रम्। राज्यतो राज्याद् बहिः कुर्याः। पदच्युत देशनिर्वासितं वा कुर्वित्यर्थः। अत्रोपमानमाह-अब्धितः तडागात् "अब्धिः सिन्धुत-डागयोः" इति हैमः। अम्भो जलम् आविलयन्तं कलुषयन्तं घोटारिम् अश्वरिपुं महिषमिवेत्यर्थः॥५१॥

अर्थ—अपने चारों ओर विश्वस्तव्यक्तियों को पदों पर नियुक्त करना। जो मन्त्री धन के लोभ से रिश्वत लेकर गरीबों को, कमजोरों को सताते हों, उन्हें देश निकाला देकर शीघ्र दूर कर देना। जैसे तालाब के जल को जब भैंसे गन्दा करने लगते हैं तो उन्हें निकाल कर तालाब की स्वच्छता को बनाये रखा जाता है॥५१॥

अन्ते निष्कर्षकथनेन स्वोपदेशमुपसंहरति—

रक्षा च शासनमलोभमसारसार-
दर्शित्वमात्मपरिचिन्तनमुच्चवृत्तम्।
शस्त्रास्त्रसैन्यघटनं च नृपस्य कार्यं
नंनन्ति तं शतमखोऽपि तदाचरेद् यः॥५२॥

रक्षा प्रजापालनम्, अलोभं निर्लोभं शासनं निग्रहानुग्रहाभ्यां राज्यसञ्चालनम्, असारस्य सारस्य च दर्शित्वं विज्ञत्वम्, आत्मनः परस्य शत्रोश्च चिन्तनम् आलोचनं स्वपरराष्ट्रानुचिन्तनमित्यर्थः, उच्चवृत्तम्, उदारचरितत्वम्, शस्त्रादीनां खड्गादीनाम् अस्त्राणां शक्त्यादीनां चायुधविशेषाणां तथा सैन्यस्य सेनायाः सैन्यानां सैनिकानां च घटनं यथानियमम् आयोजनम्। इति नृपस्य कार्यम् अस्तीति शेषः। यः तत् नृपकार्यम् आचरेत् पालयेत्, तं शतमख इन्द्रोऽपि नंनन्ति पुनः पुनरतिशयेन वा प्रणमति॥५२॥

अर्थ—अन्त में निष्कर्ष से उपदेश का उपसंहार : राजा के कर्त्तव्य हैं–प्रजा की रक्षा करना, निर्लोभ भाव से राज चलाना, निग्रह-अनुग्रह का

समुचित प्रयोग करना, स्वराष्ट्र पराराष्ट्रनीति की आलोचना करना, सदाचार, अस्त्र-शस्त्रों की सार संभाल, सेना की निगरानी आदि जो राजा इन सब कार्यों का सम्यक् सम्पादन करता है, उसके सामने सौ यज्ञों को करने वाला इन्द्र भी बार-बार प्रणाम करता है, (झुकता है) ॥५२॥

लक्ष्मणकृतं रामोक्तिसमर्थनमाह—

तं प्रोच्येति रघूद्वहेऽथ विरते

तस्येङ्गितज्ञो जना-

नित्यूचे किल लक्ष्मणो, नवमिवे-

न्दुं येऽद्य यं पश्यथ।

हर्षाद् मीलितदृक् चतुर्दश समा

रात्रीरिवात्याय्य ते

त्यक्तापायघनावृतिं तमुदितं

पूर्णं विधुं द्रक्ष्यथ ॥५३॥

अथानन्तरम्। इति एवम्। तं भरतम्। प्रोच्य कथयित्वा रघूद्वहे रामे विरते विरामं प्राप्ते सति। तस्य रामस्य इङ्गितं "त्वमप्येतदेव समर्थयस्व" इति मनोभावं, यद्वा 'लक्ष्मणो राज्यभारं गृह्णातु तत्स्थानेऽहं श्रीरामसेवां लभेय' इति भरतस्येङ्गितं जानातीतीङ्गितज्ञो लक्ष्मणः जनान् इति ऊचे-ये यूयम् अद्य अस्मिन् दिने नवं नवीनम् इन्दुं चन्द्रमिव यं (रामं) पश्यथ। ते (यूयं) हर्षात् भविष्यद्दर्शनप्रमोदात् मीलिते निमीलिते दृशौ नेत्रे यत्र कर्मणि तत्तथा (चतुर्दश) रात्रीः इव चतुर्दश समाः वर्षान् अत्याय्य समापय्य। त्यक्तो दूरीकृतः अपायो विश्लेष एव घनावृतिः मेघावरणं येन स तं, तं (रामम्) उदितम् उदयं प्राप्तं राज्याभिषेकरूपम् अभ्युदयं च प्राप्तम्। पूर्णम् अखण्डं पौर्णमासमित्यर्थः। विधुं[1] चन्द्रं द्रक्ष्यथ। पूर्णं परिपूर्णताविशिष्टं पूर्णब्रह्मस्वरूपमिति यावत्। विधुं विष्णुं (रामम्) इति ध्वन्यते। "विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशे च राक्षसे।' इति विश्वः। यथा नवेन्दुदर्शिनो हि जनाश्चतुर्दशरात्रिसमापनान्ते उदितं पूर्णचन्द्रं पश्यन्ति, तथैव यूयं चतुर्दशवर्षान् नेत्रे निमील्य समापयत, ततोऽभिषिक्तं श्रीरामं द्रक्ष्यथैवेति लक्ष्मणाशयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५३॥

अर्थ—लक्ष्मण का कथन : भगवान् राम के ऐसा कहने के बाद लक्ष्मण, जो भगवान् राम के मनोभाव को इशारे में समझने वाले हैं, कहने लगे। 'आप लोगों ने आज भगवान् राम के रूप में द्वितीया के नवीन चन्द्रमा का दर्शन किया है। जैसे चौदसपर्यन्त लोग धीरज रखकर पूर्णिमा के दिन पूर्णचन्द्र के दर्शन करते हैं; उसी प्रकार अब आप आँखें मूंद कर चौदह दिन के समान चौदह वर्ष बिता दीजिए; और फिर भगवान् राम को आप पूर्ण चन्द्रमा के रूप में सिंहासन पर अभिषिक्त देखेंगे।

यहाँ–विधु शब्द चन्द्रमा और विष्णु दोनों अर्थों में है। 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशे च राक्षसे' इति विश्वः ॥५३॥

मन्त्रायितेन रघुराड्वचनेन मुग्धो

हासं मनागिव दधद् भरतोऽवदत् तम्।

बालं भवन्त उपदिश्य कृपालवो माऽऽ-

हुर्यत् तदेव करणीयमिहाश्रयः स्यात् ॥५४॥

मन्त्रो देवादिसाधनं स इवाचरितं तेन मन्त्रायितेन मन्त्रोपमेनेत्यर्थः। रघुराजो रामस्य वचनेन मुग्धः मोहं प्राप्तः। अत एव मनाक् किंचिद् हासं स्मितमित्यर्थः। दधद् धारयन्निव भरतः। तं रघुराजम् अवदत्- कृपालवः दयालवः। कृपालुशब्दः कृपां लातीति मितद्रवादित्वाद् डुप्रत्यये साधुः। भवन्तः बालं बालकं मा माम् उपदिश्य नीत्युपदेशं दत्त्वा यद् आहुः कथयन्ति, तदेव करणीयं कर्त्तव्यम्। मयेति शेषः। इह करणीये कार्ये आश्रयः अवलम्बनं स्याद् भवेत्। भवत्प्रदत्तमाश्रयं विना एतत्कार्यं मया कर्तुमशक्यमिति भरताशयः ॥५४॥

१. एतद् विधु (चन्द्र) पदं सर्गनामोपलक्षणम्।

अर्थ—राम के उपदेश से भरत मुग्ध (मोहित) हो गये, जैसे मन्त्र के जादू का प्रभाव हो। अधरों पर मन्द-मुस्कान धारण कर भरत कहने लगे–'हे कृपालु ! आपने जो मुझ बालक को उपदेश दिया है, वह करणीय है। पर, जब तक आप कोई सहारा न दें तब तक मेरे लिये ऐसा करना अशक्य है॥५४॥

दत्ते निशम्येत्यधिपेन पादुके
दासः स सर्वस्वमिवाप्तमादरात्।
हर्षाद् गृहीत्वाऽनमदन्तरुन्नयन्
स्वर्गाऽपवर्गप्रियपद्धती इति ॥५५॥

स दासो भरतः। इति एवं निशम्य श्रुत्वा अधिपेन स्वामिना दत्ते समर्पिते पादुके चरणपादुके आप्तं प्राप्तं सर्वस्वं संपत्तिसामग्रीमिव आदरात् तथा हर्षात् गृहीत्वा "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इतीटो दीर्घः। स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गमोक्षयोः प्रिये अभीष्टे पद्धती पदव्यौ इति अन्तः मनसि उन्नयन् तर्कयन् सन्। अनमत् अवन्दत। इन्द्रवंशावृत्तम्॥५५॥

अर्थ—दास भरत को जब आश्रयरूप राम ने अपनी पादुकाएँ दी तो वे आनन्द से भर, आदर के सहित उन्हें ग्रहण किया। वे (भरत) सोचने लगे ये पादुकाएँ–मेरे लिये स्वर्ग एवं मोक्ष स्वरूप है। जैसे भरत की सारी आकांक्षायें पूर्ण हो गई हैं॥५५॥

गन्तव्यं हेत्यार्त्ता नत्वा राममाश्वासितास्तेऽ-
तश्चेलुश्च प्राप्याऽयोध्यां सस्मरुर्नित्यमेनम्।
चर्यां रक्षन् नन्दिग्रामे पादुकासाक्ष्य-नम्रां-
सःसन् राज्यं न्यस्तं जानन् माण्डवीशःशशास॥५६॥

इति श्रीकविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा रचिते रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्न-महाकाव्ये चन्द्रनामा अष्टमः सर्गः समाप्तः॥८॥

हा कष्टम्। गन्तव्यम् इतो वयं गमिष्याम इति कारणाद् आर्त्ताः दुःखिताः। ते भरतादयो जनाः आश्वासिताः सान्त्विताः सन्तः। रामेणेति भावः। रामं नत्वा अतोऽस्मात् स्थानात् चेलुः प्रतस्थिरे। च पुनः। अयोध्यां प्राप्य। एनं रामम्। नित्यम् अनवरतम्। सस्मरुः स्मरन्ति स्म। नन्दिग्रामे तन्नाम्नि अयोध्यासन्ने प्रदेशे। चर्यां संयमादिव्रताचरणम्। रक्षन् माण्डव्याः तन्नाम्न्याः स्वपत्न्या ईशः पतिः भरत इत्यर्थः। राज्यं न्यस्तं रामेण न्यासीकृतं जानन् मन्यमानः। अत एव पादुकायाः साक्ष्ये साक्षाद्द्रष्टृत्वे "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति इनौ भावे ष्यञ्। नम्रौ अंसौ स्कन्धौ यस्य सः। पादुके साक्षीकृत्य नम्रीभूतः सन्नित्यर्थः। शशास शासनं चकार। चित्रावृत्तम् "चित्रा नाम च्छन्दश्चित्रं चेत् त्रयो मा यकारौ।" इति लक्षणात्॥५६॥

इति श्रीपण्डितविद्याभूषणभगवतीलालरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्य-व्याख्यायाम् अष्टमः सर्गः समाप्तः॥८॥

अर्थ—विछोह से दुःखी होकर–अन्त में भरत राम को प्रणाम कर, उनसे आश्वासन पाकर रवाना हुए। अयोध्या आये। राम का नित्य स्मरण करते रहे। अयोध्या के पास नन्दिग्राम में रहना शुरु किया। वे व्रताचरण में रहने लगे, राम की पादुका के रूप में धरोहर को साक्षी बनाकर, उनकी आज्ञा से शासन करने लगे॥५६॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का 'चन्द्रनामक' अष्टम सर्ग समाप्त।

अथ नवमः सर्गः

श्रीरामस्य चित्रकूटविहारं सूचयति—

तत्र त्वद्रावभिमतसीता-

तोषे रामे विहरति जातु।

स्यन्नाऽऽस्येन्दोर्वचनसुधेत्थं

कम्राऽप्रीणाद् युवतिचकोरीम्॥१॥

तत्र तस्मिन् अद्रौ चित्रकूटे तु। जातु कदाचित्। अभिमतः अभिवाञ्छितः सीतायाः तोषः प्रमोदो मनोविनोद इत्यर्थः। येन सः तस्मिन् रामे। विहरति विहारं कुर्वति सति। आस्येन्दोः मुखचन्द्रात्। रामस्येति भावः। इत्थम् अनेन प्रकारेण। स्यन्ना वृष्टा। कम्रा कमनीया। "काम्यं कम्रं कमनीयम्" इति हैमः। वचनसुधा वचनामृतम्। युवतिचकोरीं पत्नीचकोरीम्। अप्रीणात् प्रमोदयति स्म। चित्रकूटविहारसमये रामः सीतामित्थमूच इति गम्यस्यार्थस्य भङ्ग्या प्रकथनात् पर्यायोक्तम्। वृत्तं तु विंशतिपद्यान्तं मत्ता-नाम "ज्ञेया मत्ता मभसगयुक्ता" इति लक्षणात्॥१॥

अर्थ—श्रीराम का चित्रकूट में विहार–चित्रकूट पर राम सीता के विनोद के लिये विहार करते थे। भगवान् के मुख-चन्द्र से जो वाणी की वर्षा हुई वह मधुर-अमृत के समान थी, उसे सीताजी चकोरी की तरह पान कर रही थी॥१॥

द्वाभ्यां नदीं (मन्दाकिनीं) वर्णयति—

थय्याथय्येत्यनुकृतवाद्या

या नृत्यत्यूर्मिकरविलासैः।

माधुर्यापूरितशिखिगाना

सत्संगीतं भजति नदीयम्॥२॥

'थय्या-थय्या' इतीत्थम् अनुकृतं तुलितं वाद्यं वादित्रशब्दो यया सा। वाद्यशब्देनात्र तच्छब्दो लक्ष्यते। या ऊर्मयस्तरङ्गा एव करा हस्तास्तेषां विलासैर्लीलाभिः नृत्यति नृत्यं करोति। माधुर्येण मधुरत्वेन आपूरितं पूर्णं शिखिगानं मयूरगीतं यस्याः सा इयं नदी सत् शोभनं संगीतं वाद्यनृत्यगान-संगत्या तत्सामग्रीं भजति सेवते। संगीतसाधनां दर्शयतीति भावः॥२॥

अर्थ—दो श्लोकों में मन्दाकिनी का वर्णन—हे सीते! यह मन्दाकिनी 'थय्या थय्या' शब्द करती हुई किसी वाद्य का अनुकरण करती है। लहरों के रूप में हाथ ऊँचा उठाकर नृत्य निरत है। माधुर्य से परिपूर्ण मयूरगान हो रहा है। यहाँ वाद्य, नृत्य, गान के रूप में संगीत पूर्ण रूप से आयोजित है॥२॥

शङ्खैः सापैः सिकतिलतीरं

वर्षास्वाप्तैः प्रदिशति तेऽर्घ्यम्।

रीत्याऽस्यन्ती त्वियमुदबिन्दू-

न्धर्मिष्ठेवाऽर्पयति च पाद्यम्॥३॥

इयं नदी धर्मिष्ठेव अतिशयिता कर्तव्य-पालिनीव वर्षासु प्रावृड्तौ। सिकतिलं बालुकावत् "देशे[1] लुबिलचौ च" इतीलच्। तीरं तटम् आप्तैः आगतैः। सापैः जलपूर्णैः। ऋक्पूरित्यः। शङ्खैः। ते तुभ्यम्। अर्घ्यम् अर्घार्थं जलम् "पादार्घाभ्यां च" इति यत्। प्रदिशति ददाति। उदबिन्दून् उदकस्य बिन्दून् "मन्थौदनसक्तुबिन्दु०" इत्यादिना उदादेशः। अस्यन्ती प्रक्षिपन्ती तु रीत्या विधिना पाद्यं पादार्थं जलम् अर्पयति ददाति॥३॥

अर्थ—यह नदी एक धर्मिष्ठा की तरह वर्षा के समय अपने बलुकामय तट पर जलपूर्ण शंख के द्वारा तुम्हें अर्घ्य दे रही है। जलबिन्दुओं को प्रक्षिप्त करती हुई तुम्हारे लिये पाद्य अर्पण करती हुई अपनी श्रद्धा प्रकट करती है॥३॥

१. देशशब्देन प्रदेशोऽपि गृह्यते।

एकेन सहचरं मृगमनुयान्तीं मृगीं वर्णयति—

मञ्जुं वासं रजतसुवर्ण-

चारुं द्रव्याकरमपि मुक्त्वा।

रिक्ते यान्तीं प्रियमनु मुग्धै-

णीम् पश्य त्वं स्वमनुहरन्तीम् ॥४॥

रजतसुवर्णैः चारुं मनोहरम्। मञ्जुं सुन्दरं वासं निवासस्थानभूतं द्रव्याकरं द्रव्याणां सुवर्णादिपदार्थानाम् आकरं खनिम् अपि। अन्यत्र द्रव्याणां धनानाम् आकरं निधानभूतं वासं निवासम् अयोध्याराज्यमित्यर्थः। मुक्त्वा त्यक्त्वा रिक्ते शून्यस्थाने वने च "रिक्तं शून्ये वने" इति मेदिनी। प्रियं वल्लभं मृगमित्यर्थः। अन्यत्र मद्रूपं प्रियम्। अनुपश्चाद् यान्तीं गच्छन्तीम् अत एव स्वमात्मानं (त्वाम्) अनु[1]हरन्तीम् अनुकुर्वतीं मुग्धाम् अप्रगल्भाम् एणीं मृगीं पश्य। यथा त्वं राज्यं त्यक्त्वा वने मामनुसृता तथा खनिप्रदेशं त्यक्त्वा शून्ये मृगी मृगमनुसरतीति भावः ॥४॥

अर्थ—अपने साथी मृग की ओर देखती हुई मृगी का वर्णन-देखो, यह मुग्धा मृगी सोने चांदी के खान वाले स्थान को छोड़कर इस सूने वन में मृग के पीछे जाती हुई तुम्हारा अनुकरण करती हुई मालूम होती है। तुम भी तो स्वर्णमयी अयोध्या को छोड़कर मेरे साथ इस निर्जन वन में आई हो ॥४॥

कुश्रमणं वर्णयति—

श्रद्धाहीनः श्रमणशरण्यं-

मन्यो मन्योरिव तनुरग्रे।

णांऽशोन्मुक्तः श्रम इव शेषो

धर्मध्वज्यस्त्यभिशिखि, सोऽस्तु ॥५॥

अग्रे पुरतः। श्रद्धाहीनः धर्मप्रत्ययरहितः। शरणे साधुः शरण्यः "तत्र साधुः" इति यः। श्रमणानां संन्यासिनां शरण्यम् आत्मानं मन्यते तथाभूतः। मन्योः क्रोधस्य तनुः मूर्तिरिव। अत एव श्रमणताया व्यर्थतायाम् उत्प्रेक्षते-णस्य ज्ञानस्य योंऽशो लेशस्तेन उन्मुक्तो रहितः शेषोऽवशिष्टः श्रमः परिश्रम इव। श्रमणशब्दतो णकारेऽपगते श्रम एव शिष्यते। श्रमणोऽपि णस्य ज्ञानस्य राहित्येन केवलः श्रम इव शोभते। धर्मध्वजी संमानादिनिमित्तं जटादिधारी "धर्मध्वजी लिङ्गवृत्तिः" इत्यमरः। अभिशिखि अभि अभिलक्षितः संमुखस्थितः शिखी अग्निर्यस्मिन् कर्मणि तत्तथा अस्ति विद्यते। संमुखितवह्निरस्तीति भावः। सः अस्तु आस्तामित्युपेक्षावचनम् ॥५॥

अर्थ—दुष्टसंन्यासी का वर्णन—यह सामने एक श्रद्धाहीन संन्यासी दिखाई दे रहा है। लगता है-जैसे क्रोध का मूर्तिमान रूप हैं 'श्रमण' में यदि 'ण' यानी 'ज्ञान' को निकाल लिया जाय तो शेष 'श्रम' बचता है; इसी तरह यह कहने को 'श्रमण है,परन्तु 'ण' शून्य ('ज्ञान' रहित)है, अतः इसका संन्यास व्यर्थ 'श्रम रूप' है। अर्थात् श्रद्धा न होने से और क्रोध के होने से इसका संन्यास ग्रहण व्यर्थ ही है। यह केवल धर्मध्वजी (सम्मानादि के लिये जटाधारी) सामने स्थित अग्नि की तरह लग रहा है। अतः है तो रहने दो, यहाँ उपेक्षाभाव प्रदर्शित है ॥५॥

सुश्रमणं वर्णयति—

मञ्जुध्यानामृतरसमग्नो-

नित्यश्रद्धाव्रत ऋषिराजः।

पुण्यात्मैषोऽस्य वदनपर्वे-

णाङ्कं द्रष्टुं प्रभव चकोरी ॥६॥

मञ्जु मनोज्ञं यद् ध्यानं ध्येयतत्त्वस्य अवधानं तदेव अमृतरसः तत्र मग्नः। नित्यम् अविनश्वरं श्रद्धाव्रतम्

1. गतताच्छील्याभावाद् 'हरतेर्गतताच्छील्ये' इति नात्मनेपदम्।

आस्तिकतानियमो यस्य सः। एषः अयं पुरोवर्तीत्यर्थः। ऋषिराजः अस्तीति शेषः। अस्य वदनं मुखमेव पर्वेणाङ्कः पूर्णिमाचन्द्रः तम्। द्रष्टुं त्वं चकोरी प्रभव। चकोरीव तन्मुखेन्दुं पश्येति भावः॥६॥

अर्थ—अच्छे संन्यासी का वर्णन—मनोज्ञ ध्यान के अमृतरस में यह संन्यासी मग्न हैं यह तो ऋषिराज है, श्रद्धाव्रत में लीन है, पुण्यात्मा है। इसका मुख पूर्णिमा के चन्द्र के समान है प्रभा से दीप्तिमान् है, तुम चकोरी बन कर देखो तो सही। तब तुम इसकी ध्यानसाधना से अपने को मुग्ध बना लोगी॥६॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रमणभावं विविनक्ति—

मन्ये योऽस्तस्मरमदमन्यु -

भिक्षालोभो गतमुदमन्युः।

गच्छन्तं तं परमहिमन्यु-

च्छेत्तुं नाऽलत्यपि शतमन्युः॥७॥

मन्ये एतदहं जाने। यः अस्तः त्यक्तः स्मरः कामः, मदो गर्वः, मन्युः,क्रोधः, भिक्षालोभश्च येन सः। गतमुद् अपगतहर्षः, अमन्युः शोकहीनः। दैन्यहीनो वा अस्तीति शेषः। परः सर्वोत्कृष्टो महिमा यस्य सः तस्मिन् परमात्मनीत्यर्थः। गच्छन्तं योगद्वारा प्रविशन्तमित्यर्थः। तं शतमन्युः इन्द्रोऽपि उच्छेत्तुं नाशयितुं हानिं नेतुमित्यर्थः। न अलति नहि शक्नोति। "मन्युः पुमान् क्रुधि। शोके दैन्ये च यज्ञे च" इति मेदिनी। पादान्तयमकम्॥७॥

अर्थ—अन्वय-व्यतिरेक से श्रमण-भावना का खुलासा—यह सच्चा संन्यासी हैं मैं यह मानता हूँ कि इसने काम, मद और क्रोध का त्याग कर दिया है। भिक्षा का लोभ तक नहीं है। हर्ष और शोक दोनों से रहित है, परब्रह्म की महिमा में लीन है। इसका इन्द्र भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता हैं॥७॥

विशेष—'मन्यु' शब्द में यमक है। मन्यु का अर्थ दैन्य शोक, क्रोध और यज्ञ है। एक ही शब्द सभी अर्थों में प्रयुक्त है॥७॥

तिष्ठन्तं मन्मथमदमञ्चे

रागद्वेषाऽलिभुजगदष्टम्।

घस्तुं प्रात्तं कुमतिपिशाच्या

वज्री नैव प्रभवति पातुम्॥८॥

मन्मथस्य कामस्य यो मदो मत्तता स एव मञ्चः पर्यङ्कः तत्र तिष्ठन्तम् रागद्वेषौ एव अलिभुजगौ (यथासंख्यं) वृश्चिकसर्पौ ताभ्यां दष्टम्। मञ्चके स्थितस्यापि तयोर्दंशसंभवः सूचितः। कुमतिः कुबुद्धिरेव पिशाची प्रेतस्त्री तया घस्तुं भक्षयितुं प्रात्तं गृहीतम्। एतादृशं श्रमणं तु वज्री इन्द्रः पातुं रक्षितुं नैव प्रभवति शक्नोति॥८॥

अर्थ—यह मिथ्या संन्यासी है। कामोन्माद के पलंग पर यह लेटा है। राग-द्वेषरूप बिच्छु और सांप ने इसको काट रखा है कुमतिरूपी पिशाची ने इसको भक्षण करने के लिये पकड़ रखा है। इसको विनाश से कौन बचा सकता है, वज्रधारी इन्द्र भी आ जावे तो वह भी इसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं है॥८॥

ईदृशो गृहस्थोऽपि मुक्तिं लब्धुमर्हतीति जीवन्मुक्तिपथं दर्शयति—

सोऽयं गार्ह्येऽप्यपहृतलेपोऽ-

भ्यस्तश्रीशाऽङ्घ्रियुगलभक्तिः।

गच्छन् मार्गे जनक इवाऽऽत्म-

च्छन्दान्मुक्तो जनकसुते! स्यात्॥९॥

भो जनकसुते जानकि! सोऽयं पूर्वोक्तः श्रमणः गार्ह्ये गृहस्थभावेऽपि। अपहृतलेपः स्त्रीपुत्रादिसांसारिकप्रपञ्चैरलिप्तः अभ्यस्ताः उत्तरोत्तरम् आवर्तिता श्रीशस्य विष्णोः अङ्घ्रियुगलभक्तिः चरणारविन्दानुरागो

येन सः। मार्गे श्रुतिस्मृतिविहिते पथि गच्छन्। जनको वैदेह इव आत्मच्छन्दात् स्वेच्छया मुक्तः मोक्षापन्नः स्याद् भवेत्॥९॥

ऐसा गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ है। यहाँ जीवन्मुक्ति का पथ निर्देशित है।

अर्थ- हे जनकनन्दिनि ! यह गृहस्थ होता हुआ भी सच्चा संन्यासी है। यह संसार के प्रपंच से अलिप्त हैं उत्तरोत्तर भगवान् विष्णु के चरण-युगल की भक्ति में दृढ़तर हो रहा हैं यह श्रुति-स्मृति द्वारा विहित मार्ग पर राजर्षि जनक की तरह चलता हुआ–अपने आप स्वतः मुक्ति प्राप्त कर लेगा॥९॥

अलिप्तताऽशक्यत्वेऽपि मुक्तिहेतुभूतां चर्यां निर्दिशति—

मर्यादां यस्त्यजति न धर्म्यां

हानिं लाभं च मुहुरुदूहन्।

तेजो भक्तेः सुदधदहीनौ-

जाः सोऽभ्येति प्रभुपदमन्ते॥१०॥

यः हानिं लाभं च। मुहुः पुनः पुनः। उदूहन् तर्कयन्। उपसर्गादस्यत्यूह्योः परस्मैपदम्। तत्र तत्र धर्माधर्मानुष्ठानविषये लाभहानी विधिनिषेधापवाद-विचारेण आलोचयन्निति भावः। धर्म्यां धर्मादनपेतां "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इति यत्। मर्यादां न त्यजति स जनः भक्तेः तेजप्रभावं सुदधत् सम्यक् धारयन्। अत एव अहीनौजाः अनष्टतेजाः। अन्ते तज्जन्माऽतीत्य सति संभवे जन्मान्तरेऽपीति भावः। प्रभुपदं स्वोपासितस्वामिनः सर्वदेवमयस्य विष्णोरिति भावः। पदं स्थानम् अभ्येति आगच्छति। क्रियाया अभ्युप-सृष्टत्वं रामकथने साकूतम्। तेन ममैवेत्याशयः॥१०॥

अर्थ—यह भक्त है, धार्मिक मर्यादा को नहीं छोड़ता है, धर्म अधर्म से उत्पन्न लाभ-हानि का विचार कर व्यवहार करता है। इसके चहरे पर भक्ति का तेज है। इस जन्म में न सही अगले जन्म में यह प्रभु-पद प्राप्त करने का अवश्य अधिकारी है॥१०॥

द्वाभ्यां पुष्पवाटीं वर्णयति—

शस्तो गन्धो ह्वयति नु नौ हेऽ-

वश्यं पश्येः कुसुमवनीं ताम्।

रींह्रींबीजाङ्किभिरिव झिल्ली-

शब्दैर्मन्त्रैर्वशयति या त्वाम्॥११॥

हे इति सीतासंबोधनम्। नु वितर्के शस्तः प्रशस्तो गन्धः नौ आवां ह्वयति आह्वयतीवेत्यर्थः। (अतः) तां कुसुमवनीं पुष्पवाटीम् अवश्यं पश्येः। या (कुसुमवनी) 'रीम्-ह्रीम्' इति रूपाणि यानि बीजानि मन्त्रबीजाक्षराणि तदङ्किभिः तच्चिह्नितैः। मन्त्रैः देवादिसाधनैरिव झिल्लीशब्दैः भृङ्गारीनादैः। त्वां वशयति वशीकरोति। आवाहनादिमन्त्राणामुच्चैरुच्चारणं प्रसिद्धम्॥११॥

अर्थ—निम्न दो श्लोकों में पुष्प वाटिका का वर्णन है—

देवि ! इधर से पुष्पों की मधुर सुरभि हमें बुला रही है, अतः इस पुष्प वाटिका की ओर चलें। झिल्ली की झंकार के रूप में 'रीं ह्रीं' जैसे बीजाक्षरों के मन्त्र गूँजते हुए तुमको अवश्य वश में कर रहे हैं॥११॥

त्रुट्यन्तीभिर्निजसुमनोभिः

सूपायातां महयति सा त्वाम्।

दक्षे ! तां प्रत्युपचर दृष्ट्यो-

नः स्यात् प्रत्यादर उपहासः॥१२॥

सा कुसुमवनी सूपायातां सु सम्यक् उपागतां त्वाम्। त्रुट्यन्तीभिः क्षरन्तीभिः निजसुमनोभिः स्वपुष्पैः। महयति पूजयतीति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। दक्षे

निपुणे ! तां कुसुमवर्नीं त्वं दृष्ट्या शुभदृक्प्रसारेणे-त्यर्थः। प्रत्युपचर प्रतिपूजय। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति- ऊनः सत्कारककृताद् न्यूनः प्रत्यादरः प्रतिसत्कारः उपहासः प्रहासकारणं स्याद् भवेत्। अतो दृष्टिपातरूपेण तत्कृतात् पुष्पोपहारादधिकेनैव तां प्रत्युपचरेति भावः ॥१२॥

अर्थ—हे चतुरे ! यह वाटिका अपने पुष्पों को गिराकर उनके द्वारा तुम्हारी पूजा कर रही है, उसकी ओर शुभ दृष्टि से देखकर प्रति पूजा कर, उसके प्रति आदर का भाव दिखाओ। क्योंकि जब कोई पूजा करें तो उसे स्वीकार न करना या उसकी ओर ध्यान न देना, उपहास का कारण होता है ॥१२॥

द्वाभ्यां भङ्‌ग्या तिर्यक्चेष्टामाह—

शङ्के, चक्राङ्ग-हरिणचक्रं
वर्णाऽभिन्ने कुमुद-तृणा-ऽब्जे।
यात्यालक्ष्यं गतिदृग्गुरोजात्
पूतं दृष्ट्वौक इह भवत्या ॥१३॥

इह अत्र स्थाने। भवत्या त्वया पूतं पवित्रितम्। ओकः निवासस्थानं दृष्ट्वा। गतिदृगुरोजाद् गतिर्गमनं, दृग्[1] नेत्रम्, उरोजौ स्तनौ च एषां समाहारः तस्मात् (कारणात्)। तत्तद्-विभ्रमवशादिति भावः। चक्राङ्गः हंसः, हरिणो मृगः, चक्रौ चक्रवाकमिथुनं च एषां समाहारः। यथासंख्यम्। वर्णेन रूपेण अभिन्ने समाने स्वस्वसारूप्यवतीत्यर्थः। कुमुदं कैरवं, तृणं घासः, अब्जं पद्मं च खदिररसवर्णमत्र विवक्षितम्। एषां समाहारः। तस्मिन्। आलक्ष्यम् अलक्ष्यतां याति गच्छति इत्यहं शंके। भवत्याः गतिवशाद् हंसः कुमुदे, दृग्वशात् हरिणः तृणे, उरोजवशाद् चक्रौ च अब्जे अलक्षितौ भवत इत्याशयः। मीलितालङ्कारः "मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते" इति लक्षणात् ॥१३॥

अर्थ—दो श्लोकों में वर्णित तिर्यक्प्राणियों की गतिविधि के रूप में सीता के रूप की प्रशंसा—

तुम्हारे रहने से पवित्र घर को देखकर तथा तुम्हारी चाल को, आँखों को और स्तनों को देखकर (इनका सादृश्य करने वाले) छिप गये। तुम्हारी सुन्दर चाल को देखकर हंस कुमुद में, नेत्र को देखकर हरिण घास में तथा चकवा के युगल कमलों में छिप गए हैं ॥१३॥

विशेष—यहाँ कवि ने उपमेयों के सम्मुख उपमानों की हीनता दिखाई है ॥१३॥

जिष्णू ऊरू करमिति कुम्भी-
तः स्तम्भं तं रुजति कदल्याः।
सम्यग् यन्न प्रभवति जेतुं
यश्शत्रुं, तत्सखमपि सोऽर्देत् ॥१४॥

इतः एतत्स्थाने। कुम्भी हस्ती। '(त्वदीयौ) ऊरू ऊरुयुगलं करं शुण्डां जिष्णू जेतारौ' 'न लोक०' इति कर्मणि प्राप्तायाः षष्ठ्या निषेधः। इति कारणात् तं कदल्याः रम्भायाः स्तम्भं रुजति भनक्ति। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-यद् यतः सम्यक् सत्यमेतदिति शेषः। यः शत्रुं जेतुं वशीकर्तुं न प्रभवति नहि शक्नोति, स तत्सखं तस्य सखायं मित्रम्। तत्सदृशमन्यमपीत्यर्थः। अर्देत् पीडयेत्। अत्र ऊरुजयनाऽशक्तौ ऊरुसखं कदलीस्तम्भमपि हस्ती पीडयतीत्याशयः। अत्र पूर्वार्धे प्रत्यनीकालंकारः। "प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।" इति लक्षणात्। ॥१४॥

अर्थ—तुम्हारी जंघाओं के सम्मुख बेचारे हाथी की सूंड उपमान होने के योग्य नहीं रही, इसी का वैर निकालने के लिये हाथी तुम्हारी जंघाओं के दूसरे उपमान कदली को उखाड़ रहा है। यह ठीक ही है, जब हमारा वश शत्रु के सामने नहीं चलता तो हम उस शत्रु के प्रिय को दुःख पहुँचा पर अपनी विवशता को निकालने का प्रयत्न करते हैं ॥१४॥

१. अत्र जात्यैकत्वं विवक्षितम्।

विशेष—यहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार का सौन्दर्य है।

"प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः" ॥१४॥

द्वाभ्यां ग्रामवासं वर्णयति—

ग्रामं मृत्साच्छदिकृतवासं
मोषाशङ्काऽऽवृतवृति-घासम्।
दक्षस्त्री-स्थापित-सुकरीषं
शस्तं पश्याऽनुगृह-हलीषम् ॥१५॥

मृत्सा प्रशस्तमृत्तिका, छदिः तृणादिनिर्मितं पटलम्, ताभ्यां कृता वासाः निवासस्थानानि यत्र स तम्। मोषस्य चोरणस्य आशङ्कया आवृतवृतिः आवेष्टितवेष्टनकः घासः तृणपुञ्जो यत्र स तम्। दक्षाभिः निपुणाभिः स्त्रीभिः स्थापितानि गोलाकारतया संघटितानि सुकरीषाणि शुष्कगोमयानि यत्र स तम्। अनुगृहं प्रतिगृहं हलीषं हलम् ईषा हलदण्डश्च यत्र स तम्, अत एव शस्तं प्रशस्तं ग्रामं पश्य। पादान्तानुप्रासः ॥१५॥

अर्थ—दो श्लोकों में गाँवों का वर्णन—इन सुन्दर गाँवों को देखो, जहाँ का प्रत्येक घर झोंपड़ी के रूप का चिकनी मिट्टी से लिपा पुता है, जो घास से छाया हुआ है। चोर अन्दर घुस न सके, इसलिये ये झोपड़ियाँ कंटीली बाड़ से घेरी गई है। चतुरनारियों के द्वारा गोबर से गोलमोल बनाये गये कंडे (थेचड़ी) सुन्दरता से सजे हैं। सब जगह हल और हलदण्ड रखे हैं ॥१५॥

रज्येत् स्वस्थोऽप्यरुचितनाकोऽ-
थात्माऽमत्तः संमुदिह नृणाम्।
मध्येऽच्छागच्छविरयमाप्ताऽ-
जः सत्साधुः ससुरभिखल्यः ॥१६॥

अयं ग्रामः। मध्ये मध्यभूमौ। आप्ताः प्राप्ताः अजाः छागा यत्र स तथोक्तोऽपि अच्छागच्छविः अविद्यमाना छागानाम् अजानां छविर्यत्र स इति विरोधे अच्छा स्वच्छा अगस्य चित्रकूटपर्वतस्य अगानां वृक्षाणां वा छविर्यत्र स इत्यर्थे तत्परिहारः। सन्तो विद्यमानाः साधवः सज्जनाः यत्र स तथोक्तोऽपि। ससुरभिखल्यः सुरभिभिर्मनोज्ञाभिः खल्याभिः दुर्जनसमूहैः सह विद्यमानः। "खलगोरथात्" इति यः। इति विरोधे, सुरभिभिः धेनुभिः खल्याभिः खलानां पिण्याकानां समूहैः सह विद्यमान इत्यर्थेन तत्परिहारः। अस्तीति शेषः। इह ग्रामे। नृणाम् आत्मा अन्तरात्मा। स्वस्थः[1] स्वः स्वर्गे तिष्ठति तथोक्तोऽपि अरुचितनाकः अवाञ्छितस्वर्ग इति विरोधे स्वस्थः अरुण इत्यर्थेन तत्परिहारः। अथ पुनः। समुद् सहर्षः। तथा अमत्तः अप्रहृष्ट इति विरोधे अमत्तः मदविकाररहित इत्यर्थेन तत्परिहारः ॥१६॥

अर्थ—यह गाँव मध्यभूमि में बकरों से व्याप्त होता हुआ भी छागों (बकरों) की छवि से रहित है, यहाँ पर विरोध है इसका परिहार दूसरे अर्थ से होता है—जहाँ पर स्वच्छ चित्रकूट पर्वत के वृक्षों की छवि है। यहाँ मनोज्ञ सज्जन विद्यमान है फिर भी धेनु और दुर्जन-समूह से युक्त है विरोधपरिहार—धेनु (सुरभि) और खल (पिण्याक) समूह से युक्त है। यहाँ के मनुष्य स्वस्थ—(स्वर्ग में स्थित) हैं फिर भी स्वर्ग को नहीं चाहते हैं, विरोधपरिहार— स्वस्थ (अरुण)। यहाँ के पुरुष समुद् (सहर्ष) हैं फिर भी अमत्त (अप्रहृष्ट) है, विरोधपरिहार में अमत्तः (मदविकार से रहित) ॥१६॥

विशेष—विरोधाभास-अलङ्कार है, यहाँ पर श्लेष द्वारा दूसरा अर्थ करने पर विरोध का परिहार होता है ॥१६॥

---

१. "खर्परे शरि वा विसर्गलोपः।"

चतुर्भिः कृषिस्थितिं वर्णयति—

पम्फुल्ति द्रागिह कृषिराशा-
पाकैः सार्धं श्रमिकृषिकाणाम्।
तीरे यत् सा भवति तटिन्या
रेणौ गोमूत्र-मलयुतायाम् ॥१७॥

इह स्थाने श्रमिणां परिश्रमशालिनां कृषिकाणां कर्षकाणाम् आशापाकैः अभिलाषातिशयैः। सार्धं सह। कृषिः द्राक् शीघ्रं पम्फुल्ति अतिशयेन पुनः पुनर्वा फलति। "चरफलोश्च" इति नुक्। "उत्परस्यातः" इत्युत्त्वम्। सहोक्तिरलङ्कारोऽत्र। उत्तरार्धे हेतुमाह-यद् यतः सा कृषिः। तटिन्याः नद्याः तीरे तटभुवि, गवां धेनूनां मूत्रमलाभ्यां युतायां रेणौ धूलौ मृत्तिकायामित्यर्थः। भवति ॥१७॥

अर्थ—चार श्लोकों में कृषि का वर्णन—यहाँ की भूमि पर परिश्रमशील किसानों की अभिलाषा के साथ खेती भी शीघ्र फलवती होती है; कारण यह है कि यह नदी तट की भूमि है, जो गोबर एवं गोमूत्र की खाद पाकर उर्वर है ॥१७॥

हस्ते सव्ये धृतलकुटस्रुग्
नुत्यः साक्षादिव शिखिहोत्री।
मध्येव्याघ्राजिनमभिवह्नि
तारं स्वाहेव वदति रक्षी ॥१८॥

रक्षी कृषिपालकः सव्ये दक्षिणे हस्ते धृतलकुटो दण्ड एव स्रुक् स्रुचा येन सः। अत एव। साक्षात् प्रत्यक्षम् नुत्यः। स्तुत्यः। शिखिहोत्री अग्निहोत्रीव। मध्येव्याघ्राजिनं व्याघ्रचर्मणो मध्ये अभिवह्नि अग्निसंमुखे। अव्ययीभावान्तमेतत्पदद्वयमत्र क्रियाविशेषणत्वेन विवक्षितम्। व्याघ्राजिनस्य विद्युच्छक्तिमयत्वाद् उभयोरेव निद्राद्युपशमाय तन्मध्याध्यासने लाभः। धूमपानाद्यर्थं च कृषिरक्षकोऽपि वह्निं संमुखयति। तारम् उच्चस्वरं, स्वाहा इव स्वाहाकारमिव वदति उच्चारयति ॥१८॥

अर्थ—यह किसान खेत में ऋषियज्ञ करता मालूम होता है। ऋषि के हाथ में जैसे स्रुव होता है, उसी प्रकार किसान के दायें हाथ में लाठी हैं सामने आग का जगरा है, जैसे ऋषि होमाग्नि प्रज्वलित कर रहा है। ऋषि व्याघ्राजिन पर बैठता है, यह भी व्याघ्राजिन पर बैठा है। स्वाहा (मन्त्रध्वनि) करता हुआ यज्ञ करता है; किसान भी बीच-बीच में कभी गा रहा है, कभी पुकार रहा है और कभी हांक़ने की या हुक्के की ध्वनि कर रहा है ॥१८॥

संव्याख्याभूरिव कृषिसञ्चा
गम्या, यस्मादभिमुखमञ्चा!
तोषध्वानिद्विजमुखरं चाऽ-
वागप्यास्यं स्फुटयति चञ्चा ॥१९॥

सञ्चा सारूप्यमुद्रा। "सञ्चा सारूप्य-मुद्रणम्" इति नन्दी। कृषिरेव सञ्चा। संव्याख्याभूः व्याखानभूमिरिव गम्या ज्ञेया। यस्माद् यतः। अभिमुखमञ्चा अभिमुखे संमुखे मञ्चः काष्ठपट्टविशेषः (टेबल Table) यस्याः सा। चञ्चा तृणरचितः पुरुषः। "चञ्चा तृणमयः पुमान्" इत्यमरः। अवाक् मूकमपि आस्यं मुखं तोषेण प्रमोदेन ध्वानिभिः शब्दनैः द्विजैः पक्षिभिः मुखरं वाचालं च स्फुटयति प्रकटयति। चञ्चा व्याख्यातेव मुखस्थपक्षिभिर्मुखरत्वेन व्याख्यातीवेति भावः ॥१९॥

अर्थ—कृषि भूमि ही व्याख्यान भूमि हैं मंच पर काष्ठों से बना पट्टा (टेबल) रखा है। मञ्च के सामने तृणरचित पुरुष है, उसके वाणी नहीं है, फिर भी वह पक्षी की तरह आवाज कर रहा है–इस प्रकार का एक खिलौना रखा है ॥१९॥

नम्राऽऽदत्ते शिलमथ वप्र-

रेणूपर्युञ्छति कणमेषा।

णत्वं षत्वं विधिमिव वेत्ती-

हर्षिस्त्रीणां पटुषु च धुर्या ॥२०॥

इह कृषिस्थितौ। ऋषिस्त्रीणां तपस्विनीनां धुर्या अग्रेसरी। च पुनः। पटुषु निपुणासु धुर्या एषा "यतश्च निर्धारणम्" इति षष्ठीसप्तम्यौ। "धुरो यड्ढकौ" इति यति "न भकुर्छुराम्" इति दीर्घाभावे च धुर्या। नम्रा सती शिलं कणिशाद्यर्जनम् आदत्ते गृह्णाति। अथ पुनः। वप्रस्य क्षेत्रस्य रेणूपरि धूल्युपरि। कणं धान्यकणम्। उञ्छति आदत्ते। "उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्" इति यादवः। स्वकीयं शिलोञ्छवृत्तिविधिं दर्शयतीति भावः। अत्रोत्प्रेक्षते- णत्वं विधिं णत्वविधिं षत्वं च विधिं षत्वविधिं व्याकरणप्रदर्शितमिति भावः। इव वेत्ति ज्ञानविषयीकरोति। णत्वषत्वविधिपरिज्ञानवदस्याः शिलोञ्छग्रहणमित्याशयः। एकाग्रतावधानविषये एषा कल्पना। अत्र च 'ऋषिस्त्रीणाम्' अत्र णत्वविधेः 'पटुषु' अत्र च षत्वविधेर्दिग्दर्शनं ज्ञापितं कविना॥२०॥

अर्थ—कृषि-भूमि पर तपस्विनियों में श्रेष्ठ और चतुरस्त्रियों में अग्रगण्य नम्र पतिव्रता मुनि-पत्नी कणिश (दंगियाँ) इकट्ठी कर रही है। (शीलवृत्ति) तथा खेत की धूल पर पड़े हुये धान्यकण को ग्रहण कर रही है (उञ्छवृत्ति) तथा "ऋषिस्त्रीणां" यहाँ पर णत्वविधि, और "पटुषु" यहाँ पर षत्वविधि, को जानती हुई अपने व्याकरणज्ञान को प्रदर्शित कर रही है अर्थात् वह पढ़ी-लिखी है, और तपस्विनी है॥२०॥

शैलविहारं निर्दिशति—

हरते हि मनोहृदयं हृदयं,

नुदतीति ततः सुनगः सुनगः।

मणिनूपुर-सूच्च-रणच्चरण-

द्वयतोऽट कलापि-हितेऽपिहिते ॥२१॥

हि यतः अयं मनोहृद् हृदयाकर्षी। सुनगः सु शोभना नगाः वृक्षा यत्र सः। सुनगः सुशैलः "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। हृदयं मनो हरते आकर्षति। ततः तस्मात् कारणात् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण नुदति प्रेरयति। त्वामिति शेषः। किमित्याह—त्वं कलापिहिते मयूर-हितकारिणी! अपिहिते अनाच्छन्ने। अत्र प्रदेशे इति भावः। मणिनूपुरैः सूच्चम् उच्चैस्तरां यथा स्यात् तथा रणत् शब्दायमानं चेत् चरणद्वयं तेन। अत्र तृतीयार्थे तसिल् विवक्षितः। अट विहर। 'द्वयतोट कलापि' इति तोटकपदेन तोटकवृत्तं सूचितम्। "यदितोटकमम्बुधिसैः कथितम्" इति लक्षणात् अन्तपदयमकम्॥२१॥

अर्थ—हृदयाकर्षी, अच्छे वृक्षों से युक्त यह पहाड़ हृदय को आकर्षित कर रहा है, अतः हे सीते! तुम भी मयूर के हित करने वाले इस खुले प्रदेश में नूपुर (पायल) के उच्च स्वर से शब्दायमान चरणों से विहार करो॥२१॥

विशेष—हृदयं हृदयम्, सुनगः सुनगः सूच्चरणच्चरणः, कलापिहितेऽपिहिते, चारों चरणों में पादान्तयमकालङ्कार है॥२१॥

पद्माकरं वर्णयति—

चन्द्राननेसुकमलं कमलं करोति

नाच्छं तडागविषयं विष-यन्त्रणार्थम्।

चैत्यायितेऽत्र मधुपा मधुपानलुब्धा

वर्त्माऽपि संपिदधते दधते च मोदम्॥२२॥

चन्द्रानने चन्द्रमुखि सीते! सुकमलं शोभनं कमलम्। जात्यैकत्वम्। कम् अच्छं स्वच्छं तडागविषयं सरःप्रदेशं विष-यन्त्रणार्थं गरलदोषनिराकरणार्थं न अलङ्करोति न भूषयति? अपितु सर्वमपीति भावः। मधुपाने मकरन्दास्वादने लुब्धाः मधुपाः भ्रमराः चैत्यायिते उद्देशपादपसदृशे। तादृशे स्थाने मधुपा मद्यपा

मधु (मदिरा[१]) पानं कुर्वन्ति। अत्र सुकमलं वर्त्म गमनागमनमार्गमपि संपिदधते आच्छादयन्ति। मोदं हर्षं च दधते धारयन्ति। मध्यपदयमकम्। वृत्तं तु वसन्ततिलकम्॥२२॥

अर्थ—हे चन्द्रमुखि ! कौन सा ऐसा तालाब है, जिसको कमल शोभित नहीं कर रहे हैं, और जो स्वच्छ नहीं है और जहाँ गरल (विष) दोषके ताप का निवारण नहीं होता। कौन-सा ऐसा वृक्ष नहीं है, जहाँ मकरन्दपान के लोभी भ्रमर मार्ग पाकर (स्थान पाकर) आनन्दित नहीं होते हैं। यानी तालाब कमलों से शोभित है, और भ्रमर मधुपान करते हैं॥२२॥

त्रिभिर्मुनिवृत्तिं प्रशंसञ् शान्तरसं स्फुटी करोति—

सुभ्रू राजति भालसीमनि परा
भूतिर्न वेदाध्वनि
ग्रीवासंमुखमेव भाति न मुखं
किञ्चाक्षमालापदम्।
वेष-प्रावरणे न तु प्रकरणे
येषां तथा कोमलै-
ण-त्वक्-छित्, कुशलं घनं त्वनुपदं,
तान् पश्य धन्यान् मुनीन्॥२३॥

हे सुभ्रूः ! येषां (मुनीनाम्) भाल-सीमनि ललाटसीमायां परा श्रेष्ठा भूतिः भस्म राजति। वेदाध्वनि श्रुतिमार्गे पराभूतिः पराभवो न राजति। किञ्च अपिच। येषां ग्रीवासंमुखं कंधराभिमुखः भाग एव अक्षमालापदम् अक्षमालायाः जपमालायाः पदं स्थानं भाति शोभते। मुखं वदनम् अक्षमालापदम् अक्षमायाः क्रोधस्य य आलाप आभाषणं तं ददाति तथोक्तं न भाति। तथा येषां वेषस्य प्रावरणे परिधाने। कोमलाया एव एणत्वचः मृगत्वचायाः छिद् छेदः। भावे क्विप्। न तु प्रकरणे कार्यव्यवहारे अस्तीति शेषः। परिहिते मृगाजिने मृगत्वचः क्वचिच्छेदो दृश्यते न तु कर्मणीति भावः। घनं पूर्णं कुशलं क्षेमं तु अनुपदं स्थाने-स्थाने। अपिच कुशानां दर्भाणां लङ्घनम् अतिक्रमणं तु अनुपदं प्रतिचरणन्यासम् अस्तीति शेषः। तान् धन्यान् मुनीन् पश्य। परिसंख्यालंकारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥२३॥

अर्थ—तीन श्लोकों में मुनिवृत्ति की प्रशंसा करते हुए शान्त रस का निरूपण है—सुभ्रू! सुन्दर भौंहों वाली सीते ! यहाँ मुनियों के ललाट श्रेष्ठविभूति से शोभित है, वेदध्वनि का पराभव नहीं है—यानी निरन्तर वेदध्वनि हो रही हैं इनकी ग्रीवा जपमाला से शोभित है, पर मुख-अक्षमालापदं यानी अक्षमा आलापदं अक्षमा (क्रोध) पूर्वक आभाषण करने वाला नहीं है। यहाँ श्लेष अलङ्कार का चमत्कार है। इनका परिधान जो हरिण की कोमल छाल वाला—अवश्य छिद्र युक्त है, पर कर्म में कहीं भी छेद (त्रुटि) नहीं हैं कदम-कदम पर सर्वत्र कुशल है, पर, कहीं पर कुश का लंघन नहीं-यानी कुशासन बिछे हैं। इन धन्य मुनियों को देख॥२३॥

सङ्गः शान्तिरथाऽच्छलं मृगकुलं
पानं झरीयं जल-
माहारः खलु कन्दमूलकफलं
वासस्तथा वल्कलम्।
गम्यो ध्यानपथोऽथवा श्रुतपथो
वाऽरण्यभूमीपथोऽ-
तः सक्लेशभवप्रपञ्चशमनं
धन्यं मुनेर्जीवनम्॥२४॥

शान्तिः सङ्गः संगमनसामग्री। अथवा। अच्छलं निष्कपटं मृगकुलं हरिणयूथमं सङ्गः। झरीयं

---

१. अत्र मधु-(मदिरा) पदं सर्गनामोपलक्षणम्।

निर्झरसंबन्धि। गहादित्वाच्छः। जलं पानम्। खलु इति वाक्यालंकारे। कन्दः, मूलकं मूलं, फलम् एषां समाहारः। आहारः। तथा वल्कलं वासो वस्त्रम् ध्यान-पथः ध्येयस्य ध्यानमार्गः (एव) गम्यो भ्रमणीयः। अथवा श्रुतपथः शास्त्रमार्गः। वा अरण्यभूम्याः वनभुवः पन्थाः गम्यः सर्वत्र अस्तीति शेषः। अतोऽस्मात् कारणात् सक्लेशस्य कौटुम्बिकचिन्तादिदुःखसहितस्य भव-प्रपञ्चस्य संसारजालस्य शमनं निवारकं मुनेः जीवनं वृत्तिः धन्यम्॥२४॥

अर्थ—इन मुनियों का जीवन धन्य हैं। इस जीवन में किसी साथ की आवश्यकता नहीं, केवल संग है तो शान्ति का, निश्छलहरिणों का, पीने के लिये झरनों का स्वच्छ जल; वस्त्र है तो वल्कल; कहीं आना-न-जाना, जाना है तो ध्यानमार्ग में या वेद-मार्ग में या वन-पथ पर। अतः संसार की कौटुम्बिक चिन्ता से और भव (संसार) जाल से मुक्त ये मुनि अपना जीवन सादगी, शान्ति और भगवद् ध्यान में बिता रहे हैं। ऐसी मुनिवृत्ति धन्य है॥२४॥

सुस्थानं यदि चित्रकूटशिखरी,
किं स्वःपुरी वा पुरी,
ग्रीवा चेत् तुलसीय-माल्य, कलिता,
मुक्ताऽस्तु मुक्तालता।
वासश्चेदटवीकुटीरकगृहाः,
किं स्वर्गृहा वा गृहाः,
यद्यस्ति स्वमुखे हरेर्जपरसः,
किं स्यात् सुधाया रसः॥२५॥

यदि चित्रकूटः शिखरी पर्वतः। सुस्थानं शोभनं स्थानमस्तीति शेषः। तर्हि। स्वःपुरी स्वर्गनगरी वा पुरी अयोध्या किम् ? अकिंचित्करीत्यर्थः। चेद् यदि। ग्रीवा तुलसीयेन तुलसीप्रबन्धिना माल्येन मालया कलिता युक्ता, तर्हि मुक्तालता मौक्तिकहारः मुक्ता त्यक्ता अस्तु स्यात्। चेद् वासो निवासस्थानम्। अटव्या वनस्य ये कुटीरा एव कुटीरकाः लघुकुट्यः ते एव गृहाः सन्तीति शेषः। "कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः" इति रः। तर्हि स्वर्गृहाः स्वर्गप्रासादाः, वा गृहाः अयोध्याप्रासादाः किम् ? यदि स्वमुखे हरेः विष्णोः जपरसः जपास्वादः, तर्हि सुधाया अमृतस्य रस आस्वादः किम् ? प्रतीपालंकारः। "प्रती-पमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्यते।" इति लक्षणात्॥२५॥

अर्थ—यदि सुन्दरस्थान वाले चित्रकूट के शिखर मिल जावें तो इनके सामने स्वर्ग क्या है? या अयोध्या नगरी क्या है? गर्दन में यदि तुलसी की माला शोभित है तो उसके सामने मोतियों की माला भी फीकी हैं, रहने को यदि कुटिया मिल जावे तो उसके सामने स्वर्ग या अयोध्या के भवन व्यर्थ हैं। भगवान् का जपरस इतना मधुर है कि इसके सामने अमृत का रस भी बेस्वाद हैं यह है मुनि की महिमा॥२५॥

युग्मेन वेणून् वर्णयति—

चङ्क्रम्यतेऽद्रिरयमुन्नतबाहु नाकं
तत्प्राप्तये विरचयत्यधिरोहिणीं वा।
सर्वंसहां च दिवमेकयतीव किंवा,
वंशैरुत द्रढयतीव नभोवितानम्॥२६॥

शंसत्युताऽत्र वसतीरभिसारिकाणां
सन्देहिनः क्रतुभुजः स्वभुजैरिवैभिः।
द्राघिष्ठतां च परिणाहमसौ मिमीते
मोदेन वा हरिपदाब्जमितस्य खस्य॥२७॥

अत्र युग्मं अद्रिरिति कर्तृपदं वंशैरिति करणपद च सर्वेषु वाक्येष्वन्वीयते। तथाहि-अयम् अद्रिः चित्रकूटः वंशैः वेणुभिः उन्नता बाहवो यत्र कर्मणि तत्तथा

नाकं स्वर्गं चङ्क्रम्यते अतिशयेन क्राम्यति उत्प्लवते इत्यर्थः। वा अथवा (अयम् अद्रिः वंशैः) तस्य नाकस्य प्राप्तये अधिरोहिणीं निश्रेणिं विरचयति ? किंवा सर्वंसहां भूमिं दिवम् आकाशं च एकयति एकीकरोतीव? उत (वंशैः) नभ आकाशमेव वितानम् उल्लोचं द्रढयतीव दृढीकरोतीव ? उत अथवा (अयमद्रिः) स्वभुजैरिव एभिर्वंशैः संदेहिनः संशयाविष्टान् क्रतुभुजः देवान् अभिसारिकाणां[1] संकेतितस्थानगामिनीनां कामिनीनाम् अत्र (अद्रौ) वसतीः निवासान् शंसति निर्दिशति ? वा अथवा असौ अद्रिः (एभिर्वंशैः) हरेः विष्णोः पदाब्जेन चरणकमलेन मितस्य मानविषयीकृतस्य खस्य आकाशस्य द्राघिष्ठतां दीर्घतमत्वं "प्रियस्थिरस्फिरोरु०" इत्यादिना इष्ठनि द्राघादेशः। परिणाहं विशालतां च मोदेन तादृशाऽपूर्वशौर्यकर्मजन्येन आनन्देन मिमीते मानविषयीकरोति ? इत्थं षोढाऽत्र कवेस्तर्कः ॥२६-२७॥

अर्थ—युग्म (दो) श्लोकों द्वारा बांसों का सन्देह-अलङ्कार द्वारा कवि-प्रतिभोत्थित वर्णन मालूम होता है। यह पहाड़ अपने बांसरूपी भुजाओं को फैलाकर स्वर्ग पाने के लिये ऊपर चढ़ता है या स्वर्ग के लिये निसैनी बना रहा है। या यह बांस ऊपर उठाकर सर्वसहन करने वाली भूमि और स्वर्ग की दूरी को कम कर एकाकार कर रहा हैं, या यह बांस आकाश में मण्डप बना रहा है, या संशयशील देवताओं के लिये आने वाली अभिसारिका के लिये संकेत स्थल है, भगवान् विष्णु के चरण-कमलों से मापे गये (वामन-अवतार में) आकाश की दीर्घता और विशालता को यह पहाड अपनी बांसरूपी भुजाओं से नाप रहा है॥२६-२७॥

विशेष—इसमें कविकल्पित सन्देहालंकार है॥२६-२७॥

भूमिशीर्णकुसुमप्रकरं खनिरत्ननिकरं च वर्णयति—

मन्येऽयि भौमि ! तव पेलवपादपद्म-
हानिच्छिदे द्रुसुमसंस्तरमास्तृताऽद्रिः ।
बद्धादरः सुभृतभव्यभवत्-प्रसूती-
लः पश्यतीव खनिरत्नदृशैष यत् त्वाम् ॥२८॥

अयि भौमि भूमिसुते सीते ! उत्तरवाक्यसमर्थनाय साकूतमिदमामन्त्रणम्। अद्रिः चित्रकूटपर्वतः। तव ते। पेलवे कोमले ये पादपद्मे चरणकमले तयोः या हानिः कर्करसंपर्कजा क्षतिः तस्याः छिदे दूरीकरणाय। भावे क्विप्। द्रूणां वृक्षाणां यानि सुमानि पुष्पाणि तेषां संस्तरम् आस्तरणम् आस्तृत आस्तीर्णवान्। "ऋतश्च संयोगादेः" इति वेट्। इत्यहं मन्ये शङ्के। यत् सुभृता सुष्ठुप्रकारेण भृता धारिता पोषितेति च ध्वन्यते अद्रेर्भूभृत्त्वात्। भव्या शोभना भवत्याः तव प्रसूतिः प्रसवस्थानम् इला भूमी येन सः। अत एव बद्धादरः कृतसंमानः एषः अद्रिः खनेः आकरस्य यद् रत्नं तदेव दृग् नेत्रं तया (उभयत्र जात्यैकत्वम्)। त्वां पश्यतीव ॥२८॥

अर्थ—भूमि पर बिखरे पुष्प समूह एवं रत्नों की खान का वर्णन—हे भूमिसुते सीते ! मुझे लगता है—तुम्हारे कोमल चरणों को कहीं खरोंच न लग जाय, यही जानकर इस पहाड़ ने पेड़ों से फूल बरसाकर तुम्हारे लिये फूलों, का बिस्तर लगा दिया है। तुम भूमि पुत्री हो, इस कारण से मेरा अनुमान है। यह पहाड़ खान के रत्नदृगों से तुम्हारी शोभा निहार रहा है॥२८॥

निर्झर-प्रपातं वर्णयति—

आत्मम्भरीन् दुरवटाञ्झरपातदम्भाद्
दिष्ट्यैष शिक्षयति क्लृप्तपरोपकारः ।
तन्वङ्गि कानन-निजाङ्क उदुह्य भूस्त्वां
स्तन्यं प्रवर्षयति शैलकुचायुताहो ॥२९॥

१. "अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा। स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका॥"

दिष्ट्या एष क्लृप्तपरोपकारः झरीयजलेन कृततडागादिभरणरूपोपकारः (अद्रिः)। झरपातदम्भात् निर्झरजलस्य बहिर्निष्काशनच्छलात् आत्मम्भरीन् केवलम् आत्मानं बिभ्रति (जलेन) तथोक्तान् "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च" इति साधुः। दुरवटान् दुष्ठुगर्तान् शिक्षयति बोधयति। परोपकारमिति भावः। उताहो अथवा (झरपातदम्भात् हे तन्वङ्गि ! कृशाङ्गि ! भूः भूमी काननं वनमेव निजाङ्कः स्वोत्सङ्गः तत्र त्वाम् उदुह्य स्थापयित्वा शैलकुचात् एतत्पर्वतरूपस्तनात्। स्तन्यं स्तनोद्भवं पयः प्रवर्षयति। अपह्नुतिरलंकारः ॥२९॥

अर्थ—निर्झर प्रपात का वर्णन : हे कोमलांगि ! यह पहाड़ जलप्रपात से तालाब को भरकर-उन पानी से भरे गढ्ढों को परोपकार की शिक्षा दे रहा है, जो गढ्ढे अपना पानी अपने पास ही रख रहे हैं। यह भूमि माँ की तरह अपनी वनरूपी गोद में शिशु की तरह तुमको रखकर पर्वतरूपी कुचों से गिरे हुये झरने का जलरूपी दूध पिला रही है॥२९॥

तत्रत्यम् अभिसारिकाविनोदमाह—

घ्नन्ति स्मरज्वरमिह प्रियसंगमेनाऽ-

थाऽऽलापमाविदधतेऽभिसृता गुहासु।

वृत्तान्तसूचकजना इव कीचकास्तु

तं छिद्रधारिण इमे बहिरुल्लपन्ति ॥३०॥

इहाद्रौ गुहासु अभिसृताः प्रियसंकेतितस्थानं स्वयमुपगताः अभिसारिकाः। प्रियसंगमेन कान्तसङ्गेन। स्मरज्वरं कामज्वरं घ्नन्ति खण्डयन्ति शमयन्तीत्यर्थः। अथ आलापं विश्रम्भालापम्। प्रियैः सहेति भावः। आविदधते कुर्वन्ति। इमे छिद्रधारिणः रन्ध्रभृतः दूषणग्राहिणश्च "छिद्रं दूषणरन्ध्रयोः" इति मेदिनी। कीचकाः वेणुविशेषास्तु। "वेणवः कीचकास्ते तु ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः" इत्यमरः। वृत्तान्तसूचका जना इव गुप्तमर्मान्वेषणनियुक्ता लोका इव तम् आलापं बहिः उल्लपन्ति उच्चारयन्ति ॥३०॥

अर्थ—यहाँ अभिसारिका के विनोद का वर्णन–यह गुफा ऐसी लगती है, जैसे प्रिय से मिलने का संकेत स्थल हो, यहाँ पर यह जलधारा अभिसारिका की तरह आकर–अपने तापसूची कामज्वर को शान्त करती हुई प्रिय से प्रेमालाप करती हुई मालूम होती है। उस प्रेमालाप को ये छिद्रयुक्त बांस (कीचक) दोष वाले पुरुष की तरह हवा से पूरित होकर-आवाज करते हुए मानो बाहर कह रहे हैं। दोषदर्शी दुष्ट किसी की निजी बात को बाहर प्रकट कर देता है॥३०॥

अथ षण्णामृतूनां सह-समागमं सूचयति—

सीते मुदाऽभिमुखिता इव लोकपात्रा

तावत् समागुरनुराग्यवलोकपात्राः।

यात्राप्रबन्धननिबन्धितबन्धुकामा-

श्चक्षूंषि नःषड्तवः सह बन्धुकामाः ॥३१॥

हे सीते ! लोकपात्रा भुवनरक्षकेण ईश्वरेणेत्यर्थः। मुदा प्रसन्नतया अभिमुखिताः संमुखीकृता इव। अनुरागिणाम् अनुरागवताम् अवलोकस्य दर्शनस्य पात्राः पात्रीभूताः। पात्रशब्दस्त्रिलिङ्गः। यात्रायाः स्वसमागमनस्य प्रबन्धने संपादने निबन्धितः निमित्तीकृतो बन्धुः बान्धवः कामो मदनो यैस्ते। स्वबान्धवकामसाहाय्यं निमित्तीकृत्य समागताः। ऋतुसंपदां कामस्य सहकारित्वेनेति भावः। नोऽस्माकं त्रयाणां षट् चक्षूंषि नेत्राणि सह समकालं बन्धु-कामाः नियन्त्रयितुमिच्छवः। तेषामनुरागिदर्शनपात्रत्वादिति भावः। तुमो मस्य कामे लोपः। एषा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। षड् ऋतवो वसन्तादयः शिशिरान्ताः। तावत् साकल्येन। "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे।" इत्यमरः। समागुः आगच्छन्। पादान्तयमकम्॥३१॥

अर्थ—हे सीते ! भुवनरक्षक ईश्वर के द्वारा प्रसन्नता से मानों संमुख किये गये, अनुरागियों के दर्शन के योग्य, जिन्होंने ने अपनी यात्रा में समागमन के प्रबन्ध के लिए काम को नियुक्त किया है, और हमारे (राम, लक्ष्मण, सीता) छैः (६) नेत्रों को एक साथ नियन्त्रित करने की इच्छा रखने वाले, ये वसन्तादि छैः (६) ऋतुयें एक साथ यहाँ पर उपस्थित हुये हैं।।३१।।

तत्र चतुर्भिर्वसन्तं वर्णयति—

विद्योतते प्रथममेष पुरो वसन्तः
शेषं शरीरमतनोर्ऋतुषूचितो राट् ।
षट्सु श्रिया मधुरिमेव रसेषु कान्तेऽ-
तः किं वसन्ततिलकं तिलकं दधाति ।।३२।।

हे कान्ते प्रिये ! अतनोः अनङ्गस्य शेषम् अवशिष्टं शरीरं मूर्तिरिवेत्यर्थः। तद्बन्धुत्वादिति भावः। षट्सु ऋतुषु। निर्धारणे सप्तम्यत्र विवक्षिता न तु संम्बन्धे षष्ठी। श्रिया शोभया उचितो योग्यो राट् राजा। श्रिया राज्यलक्ष्म्येति ध्वन्यते। अत्रोपमिमीते-षट्सु रसेषु श्रिया आस्वादविभूत्या स्वादोपकरणैर्वा मधुरिमा माधुर्यमिव। "लक्ष्मीसरस्वतीधी त्रिवर्गसंपद्-विभूतिशोभासु। उपकरणवेषरचनाविधासु च श्रीरिति प्रथिता।।" इति व्याडिः। प्रथमं पूर्वं पुरोऽग्रे एष वसन्तः विद्योतते शोभते। अतः ऋतुराजत्वकारणात् किं वसन्ततिलकं वसन्तस्य तिलकमिव पुष्पविशेषम् "वसन्ततिलकं तु स्यात् वृत्त-पुष्प-विशेषयोः।" इति सौभरिः। तिलकं राज्यतिलकं दधाति धारयति। वसन्ततिलकपदेन वृत्तनाम्नः सूचनाद् मुद्रालंकारोऽपि वसन्ततिलकेन वसन्तवर्णनमुचितम्।।३२।।

अर्थ—चार श्लोकों में वसन्त का वर्णन—हे प्रिये ! यह वसन्त, काम का बन्धु होने से मानों कामदेव का भस्मावशेष शरीर है, छैः (६) रसों में आस्वाद की विभूति होने से जैसे माधुर्य (मीठा रस) प्रधान होता है उसी प्रकार छैः (६) ऋतुओं में शोभा (राज्यलक्ष्मी) से योग्य होने के कारण यह वसन्त ऋतुओं का राजा है, इसीलिये वसन्ततिलक नामक पुष्प को राज्यतिलक के रूप में धारण करता है।।३२।।

विशेष—यहाँ इस छन्द का नाम 'वसन्त-तिलक' मुद्रालङ्कार से घोषित किया गया है।।३२।।

सुच्छत्र-चामरकमाम्रक-सस्यशीर्षं
ग्रीवाश्मगर्भमणिमाल्यमथालिमाला।
वर्याम्रमञ्जरिरमुष्य विभाति मौलि-
श्चार्चिक्यमेष धरते सुमचन्दनानाम् ।।३३।।

अमुष्य ऋतुराज्यस्य। आम्रकः अल्प आम्र-वृक्षः। अल्पार्थे कन्। तथा सस्यशीर्षं कणिशम्। "कणिशं सस्यशीर्षकम्" इति हैमः। अनयोः समाहारः। (क्रमेण) सुच्छत्रं च चामरकं चानयोः समाहारः। आम्रवृक्षश्छत्रं कणिशसंघातश्च चामरमिति भावः। अथ पुनः। अलिमाला भ्रमरमाला ग्रीवायाः कन्धराया ! अश्मगर्भमणिमाल्यं नीलमणिमाला। वर्या मुख्या आम्रमञ्जरिः मौलिः किरीटम्। एष ऋतुराजः सुमचन्दनानां पुष्परूपचन्दनरसानां चार्चिक्यं विलेपनम् "चर्चा तु चार्चिक्यं स्थासकः" इत्यमरः। धरते।।३३।।

अर्थ—इस ऋतुराज की सम्राट् की तरह शोभा है। छोटे-छोटे आमों के पेड़ और कणिश (दंगियाँ) ऐसे लगते हैं, जैसे राजा के छत्र और चंवर हों। चारों ओर मतवाले (मण्डराते) भ्रमर नीलम की मणिमाला की तरह गले में शोभित हैं। आम की मंजरी-मुकुट की तरह है। पुष्परूपी चन्दन का रस ऐसा लगता है-जैसे सम्राट् ने चन्दन का विलेपन किया है।।३३।।

पिष्टातकैरिव पलाशसुमैः प्रपूर्णं
तत् प्राङ्गणं युवजनाय सुरोचतेऽद्य ।
सर्वे स्तुवन्ति पिकवन्दिन उच्चवंश-
वंशीं गिरिर्धमति नृत्यति तेऽन्तरात्मा ।।३४।।

पिष्टातकैः अबीर-गुलालादिस्वनामख्यातैः पटवासकैरिव। पलाशसुमैः पलाशपुष्पैः प्रपूर्णं भृतं तत् संमुखे दृश्यमानं प्राङ्गणम् अद्य अस्मिन् दिने (वासन्तिके) युवजनाय सुरोचते सुभाति। रुच्यर्थे चतुर्थी। सर्वे पिकाः कोकिला एव वन्दिनः स्तुतिपाठकाः स्तुवन्ति। ऋतुराजमिति शेषः। गिरिश्चित्रकूट उच्च उन्नतो वंशो वेणुरेव वंशी सुषिरवाद्यविशेषः ताम्। धमति वादयति। ते तव (सीतायाः) अन्तरात्मा नृत्यति। "ऋतूनां कुसुमाकरः" इति वचनाद् वसन्तरूपे रामाभिधाने विष्णौ विद्योतमाने सति सीतायाः प्रकृतिनट्या नर्तनमुचितमेव॥३४॥

अर्थ—सामने का प्रांगण पलाश कुसुमों से भरा है–लगता है अबीर गुलाल है–जो युवक जन को बहुत प्रिय है। कोकिलावृन्द स्तुतिगायक की तरह यशोगान करते हैं। यह चित्रकूट बांस के रूप में बंशी बजा रहा है जिससे हे सीते ! तुम्हारा अन्तरात्मा नाच रहा है। यहाँ 'ऋतूनां कुसुमाकरः' इसके आधार पर भगवान् राम को वसन्तरूप में प्रदर्शित किया गया है, जिसके प्रकाशमान होने पर प्रकृति रूपी सीता नृत्य कर रही है। यह उचित ही है॥३४॥

श्रुत्वाऽस्य योगमभिनन्दसि मेन्दुवक्त्रे !

त्वाञ्चाप्यहं, मिथुनमेनमयं तथा नौ।

रागो रतिश्च रमणो रमणी रतीशो

मन्ये रसेश ऋतुराट् च समं दुरापाः॥३५॥

हे इन्दुवक्त्रे चन्द्रमुखि ! अस्य वसन्तस्य योगं समागमं श्रुत्वा त्वं मा माम् अभिनन्दसि अभिनन्दनं (वर्धापनं) ददासि। अहं च त्वाम्। पुरुषविपरिणामेन अभिनन्दामीत्यर्थः। मिथुनम् आवयोरिति शेषः। एनं वसन्तम्। आवां दंपती वसन्तमभिनन्दाव इत्यर्थः। तथा अयं वसन्तः नौ आवां (दंपती) अभिनन्दति। अन्योन्ययोगस्य सापेक्षतया एतेषां मिथोऽभिनन्दनमुचितमेव। इत्येतदेकक्रियान्वयि दीपकम्। तदेव समुच्चयो[1]ज्जीवितेन अर्थान्तरेण द्रढयति-रागः अनुरागः। रतिः स्थायिभावत्वेन निर्दिष्टा। रमणः प्रियः। रमणी प्रिया। रतीशः कामः। रसानां प्राधान्यत्वादीशः स्वामी शृङ्गारः। ऋतुराट्[2] वसन्तश्चेत्यमी समं साधंभूता इत्यर्थः। दुरापा दुर्लभा भवन्तीति अहं मन्ये । एतेषु एकतमस्याऽपि न्यूनत्वेऽपकर्ष एवेति तात्पर्यम्॥३५॥

अर्थ—हे चन्द्रमुखि ! इस वसन्त के समागम को सुनकर तुम मेरा और मैं तुम्हारा, और हम दोनों (मिथुनरूप में) इस वसन्त का अभिनन्दन कर रहे हैं, और यह वसन्त हमारा अभिनन्दन कर रहा है। यहाँ कैसा दुर्लभ संयोग है। यहाँ अनुराग है, शृंगार का स्थायीभाव रति है, रमण (प्रिय) है, रमणी (प्रिया) है, रतीश यानी काम है, रसराज शृङ्गार और ऋतुरान (वसन्त) एक साथ उपस्थित हैं–यह संयोग दुर्लभ है॥३५॥

इतः परं चतुर्भिर्ग्रीष्मं वर्णयति—

स्यन्दनं खरखरांशुतापित-

वायुरूपमधिरूढ उद्धतः।

नग्नयञ्जनमुपैत् तपस्तथो-

रःस्थलं प्रतपनास्त्रतस्तुदन्॥३६॥

खरस्तीक्ष्णो यः खरांशुः सूर्यः तेन तापितो यो वायुः तद्रूपं स्यन्दनं रथम् अधिरूढः। उद्धतः प्रचण्डः। इत्थं ग्रीष्मस्य रथोद्धतारसतां दर्शयता कविना रथोद्धतावृत्तेन तद्वर्णने औचित्यं प्रकटितम्। जनं लोकं नग्नयन् वस्त्रदूरीकरणेन नग्नीकुर्वन् तथा प्रतपनं संतापनं तदेव अस्त्रं तेन। अत्र तृतीयार्थे तसिल्। उरः स्थलं

---

१. "बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः।"

२. ऋवर्णेऽपि रेफांश आभासते इति नात्र भग्नप्रक्रमता शङ्क्या।

वक्षःस्थलं तुदन् व्यथयन् तपो ग्रीष्मः उपैत् आगतः। तपतीति तपः संतापकोऽपि कश्चिदुद्धतो रथेनागत्य स्वराज्यस्थापनेच्छया जनान्नग्नीकरोत्यस्त्रैश्च पीडयत्येवेति ध्वन्यते रथोद्धतावृत्तम्॥३६॥

अर्थ—चार श्लोकों में ग्रीष्म का वर्णन—प्रचण्ड सूर्य की गर्मी से तप्त वायुरूपी रथ पर चढ़कर ग्रीष्म आ गया है, गर्मी के कारण लोगों के वस्त्र उतार दिये है—जैसे किसी अत्याचारी ने लोगों को नंगाकर दिया है। सब गर्मी के मारे आकुल-व्याकुल है—लगता है जैसे किसी क्रूर ने लोगों के दिलों में तपन का अस्त्र चुभा दिया है॥३६॥

चक्षते 'कुरु कराङ्क' मित्यमी

काकवन्दिन इमं कुशासनम्।

रज्यतेऽलमनुकूलवादिना

सख्यमागतवता परंतपः॥३७॥

अमी एते काका एव वन्दिनः स्तुतिपाठकाः इमम्। कुशं दर्भ एव आसनं यस्य स तम्। ग्रीष्मे प्रायेण कुशानामेवावशिष्टत्वात्तथाऽऽरोपितम्। कुत्सितशासनं (राजानं) चेति ध्वन्यते। कराङ्कं करस्य हस्तस्य अङ्कं निकटवर्तिचिह्नं हस्तगतमित्यर्थः। कुरु इति एवं चक्षते कथयन्ति। काकशब्दानुकरणे एषा संभावितोत्प्रेक्षा। अर्थान्तरं श्लेषोज्जीवितं न्यस्यति-तपः (प्रकृते)ग्रीष्मः परान् तापयतीति परन्तपश्च 'अरुर्द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच्। अरुर्द्विषदिति मुम् च। अनुकूलवादिनां प्रतितट-वादिना (प्रकृते) छन्दानुसारभाषिणा च अत एव सख्यं मित्रत्वम्। "सख्युर्यः" इति भावे यः। आगतवता प्राप्तवता अलमत्यर्थं रज्यते प्रसीदति। तपपक्षे परमिति पदं सख्येन विशेषणीयम् पराकृष्टं सख्यमित्यर्थः॥३७॥

अर्थ—कौवे अब स्तुति पाठक हैं, ये कौवे काँव-काँव करते हुए कुशासन की यानी कुत्सित शासन वाला राजा ही वचा है। अब कुश ही बचे हैं या यह कुशासन —कुशा (दर्भा) का आसन है—जहाँ सब कुछ झुलस गया है ऐसा कह रहे हैं। यह दूसरों को तपाने वाला ही प्रसन्न हो रहा है॥३७॥

यं स्त्रियेव परितप्तवात्ययाऽऽ-

राधितं च सुहृदा दवाग्निना।

मेलयन्त्यति कदाशिषाऽधुनै-

णव्रजा अजननिर्भवत्विति[१]॥३८॥

स्त्रिया पत्न्येव परितप्तया वात्यया वातसमूहेन। "पाशादिभ्यो यः" इति यः। च सुहृदा मित्रेण दवाग्निना दाववह्निना आराधितम् उपासितं यं तपं (ग्रीष्मम्)। अधुना एणवब्रा मृगसमूहाः 'अजननिः अनुत्पत्तिः अजयनिः इति पाठे तु पराजयः। तवेति शेषः। भवतु' इति कदाशिषा कुत्सितया आशिषा "कोः कंत् तत्पुरुषेऽचि" इति कोः कदादेशः। अति अत्यर्थं मेलयन्ति योजयन्ति। एणव्रजानां ग्रीष्मस्या-तिदुःखदत्वादिति भावः। संतापिकयाऽनुरूपया भार्यया संतापकेन सुहृदा च सेवितं संतापकं दुर्बलाः शपन्त इत्यन्योक्तिरूह्या॥३८॥

अर्थ—दावाग्नि से तपी हुई लुएं चल रही हैं, स्त्रियाँ इस ऋतु को शाप दे रही है। इधर हरिणियाँ भी इस ऋतु से व्याकुल हो—इस ऋतु को अभिशप्त कर रही हैं कि तुम्हारी उत्पत्ति नहीं होवे अथवा तुम्हारा पराभव होवे॥३८॥

प्रीयते हृदयमीषदूहयाऽ-

तश्लेम हिमवन्तमन्विति।

चैलमुज्झति तुषारघर्मि ही-

वाग्नि-तप्तमह ! सोऽपि गैरिकम्॥३९॥

१. 'अजयनिः' इति पाठान्तरम्।

अतः अस्मात् स्थानात्। हिमवन्तम् अनु हिमाद्रिं प्रति चलेम गच्छेम इति इत्थम् ऊहया तर्केण हृदयं मन ईषत् किंचित् प्रीयते तुष्यति। (किन्तु) ही इति दुःखे विस्मये वा अह इत्याक्षेपे च। "ही दुःखे हेतावाख्यातो विषादे विस्मयेऽपि च।" तथा "अह प्रशंसाक्षिपयोर्नियोगे च विनिग्रहे।" इति मेदिनी। सोऽपि हिमवानपि अग्नितप्तमिव गैरिकं गैरिकरूपं तुषारः हिममेव ग्रीष्मद्रुतत्वाद् घर्मः स्वेदः अस्यास्तीति तच्चैलं वस्त्रम् उज्झति त्यजति। सोऽपि सूर्यतापतप्तम् अग्नितप्तमिव हिमरूपस्वेदवद् गैरिकवस्त्रं ग्रीष्मवंशेनोज्झतीति व्यर्थं तत्र गमनमिति भावः। एतेन ग्रीष्मस्य प्रभावातिशयो दर्शितः ॥३९॥

अर्थ—अभी इच्छा होती है कि इस गर्मी में हिमालय की ओर चलें, इस इच्छा से जरा शान्ति मिलती है। पर फिर सोचते हैं कि हाय ! हिमालय भी पसीना-पसीना हो रहा है, (गर्मी में बर्फ पिघलकर जल रूप में प्रवाहित है–इसे कवि ने स्वेद कहा है) हिमालय भी गर्मी के मारे गैरिकवस्त्र उतार रहा है। वह वहाँ क्या शान्ति देगा ! जो स्वयं भी ग्रीष्म रूपी तपिश से पीड़ित है ॥३९॥

इतः परं चतुर्भिर्वर्षावर्णनमाह—

निर्बिभ्राणा जलधरमालामालां

सा प्रावृड् द्यां क्षणरुचि-मौलिं मौलिम्।

क्षित्यां नूनं पदमिह धत्ते, धत्ते

कं नो धात्री स्पृशति च बालं वाऽलम् ॥४०॥

सा प्रावृड् वर्षर्तुः जलधरमालां जलदपङ्क्तिरेव माला नीलमणिमाला यस्यां सा ताम्। "'माला तु पङ्क्तौ पुष्पादिदामनि।[1]" इति हैमः। क्षणरुचिर्विद्युदेव मौलिर्मुकुटं यस्यां सा ताम्। द्याम् आकाशरूपां मौलिं मस्तकम्। "मौलिः किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केऽलिमूर्धसु।" इति हैमः। प्रस्तुतेऽर्थे मौलिशब्दस्याऽनपुंसकत्वादत्र स्त्रीत्वं विवक्षितम्। निर्बिभ्राणा निर्भरं धारयन्ती आकाशरूपं मस्तकं धारयन्तीत्यर्थः। नूनं निश्चयेन इह क्षित्यां भूम्यां पदं पादन्यासं स्थानं च। धत्ते धरति। दधाति पुष्णातीति धात्री उपमाता च बालं वा बालकमिव कं जनम् अलम् अत्यर्थं नो धत्ते न पुष्णाति, स्पृशति च ? अपि तु सर्वमपि धत्ते स्पृशति चेत्यर्थः। 'जलधरमाला' पदेन जलधरमालावृत्तं सूचितम्। तच्च वर्षावर्णनेऽतीवोचितम्। अत्र वर्षावर्णने पादान्त्यपदयमकं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥४०॥

अर्थ—चार श्लोकों में वर्षा का वर्णन—यह वर्षा ऋतु जलधारारूपी माला-नीलमणिमाला को धारण किये हैं। विद्युत्रूपी मुकुट को आकाशरूपी मस्तक पर धारण किये हुए है। यह ऋतु पृथ्वीरूपी धाय की गोद में अपना कदम रख रही है। यह धाय सबको धारण करती है ॥४०॥

विशेष—इस छन्द के पदान्त में यमक है और जलधरमाला नामक छन्द का ग्रथन हैं ॥४०॥

तन्वन्नृत्यं स्वनिनदवर्ही बर्ही

तोषं सीरध्वजनृपसूते ! सूते।

वासस्तुल्यान् घनजलधारा-धारा-

नत्राऽऽधत्ते क्षितिरनिघासान् घासान् ॥४१॥

हे सीरध्वजस्य तदाख्यस्य नृपस्य सूते पुत्रि ! "सुत-सूतौ धूत-धुतौ नुत-नूतौ च कीर्तितौ।" इति द्विरूपः। स्वनिनदं निजशब्दं केकारवं वर्हयति वर्धयतीति तथोक्तो बर्ही मयूरः नृत्यं तन्वन् कुर्वन् तोषं प्रमोदं सूते उत्पादयति। अत्र इह स्थाने क्षितिःभूमिः वासस्तुल्यान् वस्त्रसदृशान् घनस्य मेघस्य या जलधारा तां धारयन्ति तान्। अत एव अनिघासान् अविद्यमानो

---

[1] अत्रादिशब्देन अक्षरत्नादीनां बोधः। अत एव जलधारसाम्येन नीलमणिमालेति व्याख्यातम्। पुष्पमालायास्तु श्वेतत्वसंभवादनिष्टापत्तेः। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्मिति पातञ्जलवचनात्।

निघास आहारः पशुकृतं चरणमिति यावद्। येषां ते तान्। पशुभिश्चरितुमारब्धानित्यर्थः। घासान् तृणविशेषान् आधत्ते धरति ॥४१॥

अर्थ—हे सीरध्वज की पुत्रि ! देखो यह मयूर केकारव से और अपने नृत्य से आनन्द को बढ़ा रहा है। इस स्थान पर भूमि वस्त्रसदृश जलधारा को धारण किये हुए है; जहाँ पहले घास (आहार) नहीं था, वहीं घास के रूप में पशुओं के लिये आहार हो गया है॥४१॥

रम्यं रम्यं दृगमृतवर्षं वर्षं

राज्ये राज्ये सरुचिविलोकं लोकम्।

जेमं जेमं सदशनजातं जातं

नव्यं नव्यं द्रढयति कामं कामम् ॥४२॥

रम्यं रम्यं रमणीयं रमणीयं दृशोर्नेत्रयोरमृतं सुधां वर्षयति तथोक्तं वर्षं वृष्टिः (कर्ता) राज्ये राज्ये राष्ट्रे राष्ट्रे प्रतिजनपदमित्यर्थः। सरुचि सस्पृहं विलोकयति पश्यति तथोक्तस्तं लोकं जनं "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०" इत्यादिना णौ कर्मत्वम्। नव्यं नव्यं नवनवं जातम् उत्पन्नं सदशनजातं सुभोजनसमूहं माषादिकमिति भावः। जेमं जेमं भोजयित्वा भोजयित्वा आभीक्ष्ण्ये णमुल्। "नित्यवीप्सयोः" इति सर्वत्र पदस्य द्वित्वम्। कामं प्रकामं कामं मदनं द्रढयति उत्तेजयति। अत्र पादादौ लाटानुप्रासः, पादान्ते तु यमकम्॥ अनयोर्भेदः सुबोधोऽत्र स्थले ॥४२॥

अर्थ—यह वर्षा आँखों के लिये रमणीय हैं अमृत की वर्षा कर रही है। इसको सभी जनपदों के लोग बहुत प्रेम से देख रहे है। नये-नये उत्पन्न भोजन को खिला-खिलाकर यह अति कामभाव को बढ़ा रही है ॥४२॥

वैरायन्ते प्रतितटि नद्यो, न द्यो-

रालोकेऽब्दैरपहृतरूपं रूपम्।

नुन्ने वातैः क्वचन सदभ्रेऽदभ्रे

कञ्चित् कालं स्फुरति सभानुर्भानुः ॥४३॥

नद्यः सरितः प्रतितटि अनुतीरं वैरायन्ते वैरं कुर्वन्ति। कूलङ्कषात्वादिति भावः। "शब्दवैरकलहाभ्र०" इत्यादिना क्यङ्। अब्दैः मेघैः अपहृतरूपम् अपनीतसौन्दर्यं द्योः आकाशस्य रूपम् आकारं न आलोके अहं न पश्यामि। भौवादिकोऽयं लोकिः। क्वचन कुत्रापि वातैः पवनैः अदभ्रे अनल्पे सदभ्रे सति विद्यमाने मेघे नुन्ने अपसारिते सति भानुः सूर्यः सभानुः सकिरणः सन् कंचित् कालं समयं स्फुरति विद्योतते। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया। प्रावृषि भानुदर्शनं कादाचित्कमिति भावः ॥४३॥

अर्थ—कहीं नदियाँ पुलों को तोड़ कर उफन रही हैं, बादलों ने आकाश के रूप को ढक लिया है कभी-कभी हवा घनघोर बादलों को जरा सा हटा देती है—उससे थोड़ी देर के लिए सूरज की किरणें झलक जाती हैं और उससे समय का बोध होता है नहीं तो वर्षा में सूर्य-दर्शन कहाँ ? ॥४३॥

अथ: चतुर्भिः शरदं वर्णयति—

थय्यथय्यिति रवोढमृदङ्गाऽ-

नंनमत्-सितगरुत्-कलगाना।

प्रस्तवीति शरदं सरिदेतां

तिर्यगंशुकधरा परिणोतुम् ॥४४॥

थय्यथय्यिति तादृशप्रदेशविशेषे जलवेगवहनस्य शब्दानुकरणम्। तादृशेन रवेण शब्देन ऊढो धारितो वादित इत्यर्थः। मृदङ्गो मुरजो यया सा। अनंनमत् अवनतिमनाप्नुवत् उन्नमदित्यर्थः। सितगरुतां हंसानां कलगानं मधुरास्फुटशब्दमयं गीतं यस्याः सा, तिर्यञ्चः (तीरस्थाः) पक्षिण एव अंशुकानि वस्त्राणि तेषां धरा धारिका सरिद् नदी प्रस्तुते मन्दाकिनीत्यर्थः।

एताम् आगतां शरदं परिणेतुं स्वागतसंमानेन स्तोतुं प्रस्तवीति प्रारभते। मृदङ्गवादिन्याः कलगानकारिण्याश्च अङ्गविशेषात् तिर्यग् वस्त्रधारणं स्वाभाविकम्। अनेन शरदः स्वागतादरेण पूर्ववर्णितेन स्वागतया शरद्वर्णने औचित्यं दर्शितम्॥४४॥

अर्थ—चार श्लोकों में शरद्वर्णन—शरद् के स्वागत का अवसर हैं मन्दाकिनी नदी के बहते जल में 'थय्या-थय्या' का नाद ऐसा लगता है जैसे मृदंग बज रहा है हंस की आवाज में गीत है। तीरवासी पक्षियों के रूप में तिरछे वस्त्र को धारण किये यह नदी (गङ्गानदी) शरद् ऋतु का स्वागत कर रही है॥४४॥

विशेष—स्वागत में गायन वादन का यहाँ चित्रण है॥४४॥

राजते रजनिरच्छनभस्का
माद्यतीव लसदिन्दु नभश्च।
याति चेन्दुरुरुचन्द्रिक आभां
वेष्ट्यते प्रतिभु चन्द्रिकयाऽपि॥४५॥

अच्छं निर्मलं नभ आकाशं यस्यां सा रजनी रात्री राजते शोभते। नभ आकाशं च लसन् उल्लसन् इन्दुश्चन्द्रो यत्र तत् माद्यतीव मत्तमिव भवति। "शमामष्टानां दीर्घः श्यनि" इति दीर्घः। इन्दुश्च उरुर्विपुला चन्द्रिका यस्य स तथोक्तः सन् आभां शोभां याति प्राप्नोति। चन्द्रिकयाऽपि प्रतिभु प्रतिस्थानम्। "भूः स्थानमात्रे कथिता धरण्यामपि योषिति।" इति मेदिनी। वीप्सायामव्ययीभावः। वेष्ट्यते परिमण्ड्यते। एकावलिरलङ्कारः॥४५॥

अर्थ—स्वच्छ आकाश से युक्त रात्रि शोभित है। आकाश चन्द्रमा से युक्त मत्त हो रहा है। चन्द्रमा स्वच्छ चांदनी से शोभा प्राप्त कर रहा है, और चांदनी भी हर स्थान को मण्डित कर रही है॥४५॥

दिक्षु रुक् शरदिजा नरिनर्त्ति
तंतनीति च मुदं नयनेषु।
सर्सरीति जलदैः सह केकी
वंवनीति च विधिं स्व-पिधानम्॥४६॥

शरदिजा शरदुद्भूता "प्रावृट्शरत्कालदिवां जे" इति सप्तम्या नित्यमलुक्। रुक् शोभा। "रुक् स्त्री शोभाद्युतीच्छासु" इति मेदिनी। दिक्षु दिशासु नरिनर्त्ति पुनः पुनरतिशयेन वा नृत्यति। नृतेर्यङ्लुकि "रुग्रिकौ च लुकि" इति रिगागमः। च पुनः। नयनेषु नेत्रेषु मुदं हर्षं तंतनीति पुनः पुनरतिशयेन वा तनोति। केकी मयूरः जलदैः मेघैः सह सर्सरीति पुनः पुनरतिशयेन वा सरति धावति। "ऋतश्च" इति रुक्। सर्तेर्धावादेशस्तु तिपा निर्देशान्न। अत्र वाक्ये सहोक्तिरलंकारः। च पुनः। केकी विधिं दैवं (गौणकर्म) स्वपिधानं स्वस्य आत्मनः पिधानं तिरोधानं वंवनीति पुनः पुनरतिशयेन वा वनुते याचते॥४६॥

अर्थ—शरद् ऋतु से उत्पन्न शोभा सभी दिशाओं में खूब नांच रही है। और आँखों में आनन्द ही आनन्द बढ़ा रही हैं। बादलों के साथ अब मयूर भी दौड़ रहे हैं-उन्होंने केकाध्वनि और नृत्य बन्द कर दिया है। मोर मानों विधाता से अपने लिये छिपने के स्थान की याचना कर रहे हैं॥४६॥

प्रह्वहंसनिवहैः सरसीवै-
णव्रजैः स्फुरति शाद्वलवाटी।
या पुरा गम-सृतिर्बहुवर्षा-
दुःषमा,ऽद्य तु न शारद-वीर्यात्॥४७॥

प्रह्वैः आसक्तैः "आसक्तनम्रयोः प्रह्वः" इति व्याडिः। हंसनिवहैः हंससमूहैः सरसी सर इव। एणव्रजैर्मृगसमूहैः शाद्वला शादहरिता वाटी वाटिका स्फुरति शोभते। या गमस्य गमनस्य सृतिर्मार्गः पुरा पूर्वं

वर्षाकाले इत्यर्थः। बहुवर्षात् बहुलवृष्टेः। हेतौ पञ्चमी। दुःषमा विषमा (दुर्गमा)। "सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः" इति षत्वम्। (सा) शारदवीर्यात् शरत्संबन्धिनो वीर्यात् प्रभावात् "वीर्यं बले प्रभावे च" इत्यमरः। अद्य शरद्दिवसे तु न, दुःषमा न किन्तु सुषमा सुगमा, जातेति भावः। अपिच पुरा प्राक्काले या आगमसृतिः शास्त्रमार्गः बहुवर्षात् बहुसंवत्सरसमा-हारात् बहुवर्षव्यवधानाद् (हेतोः) इत्यर्थः। बहोः संख्यात्वेन समाहारद्विगौ एकत्वम्। दुःषमा दुर्गमा, साऽद्य शारदवीर्यात् शारदा (सरस्वती) संबन्धिनः प्रभावान्न। तत्प्रसादात् सुगमा जातेत्यर्थोऽपि ध्वन्यते॥४७॥

अर्थ—निर्मल नदियों के तट हंस-समूहों से तथा हरी-हरी घास वाली धरती हरिण वृन्द से शोभित है। बहुत वर्षा से पहले जो मार्ग बन्द से हो गये थे, वे अब खुल गये हैं। यह शरद् की कृपा है। इसी प्रकार जब भगवती शारदा की कृपा हो जाती है तो शास्त्रों के बन्दमार्ग की कठिनता दूर होकर—उनकी सुषमा प्रकट हो जाती है। सरस्वती के या शरद् के वीर्य से (प्रभाव) दुःषमा अब सुगमा होकर सुषमा बन जाती है॥४७॥

इतः परं चतुर्भिर्हेमन्तं वर्णयति—

खिन्नास्तनुत्राण्यपि येऽमुचन् पुरा

तेऽमी वरासीनपि बिभ्रतेऽधुना।

नन्वागतं पश्य हिमर्तुमुद्यतं

चराचरोत्क्लेश इमं कुशीतलैः॥४८॥

ननु इति सीतां प्रति कोमलामन्त्रणे। कुशीतलैः कुत्सितैः शीतैः। अत्र शीतलशब्दः शीतगुणवाची। "शीतं तु शीतलम्" इति त्रिकाण्डशेषः। चराचराणां स्थावरजंगमानाम् उत्क्लेशे बाधने। उद्यतम् आगतम् इमं हिमर्तुं हेमन्तं पश्य। (अतः) ये (जनाः) पुरा ग्रीष्मकाले खिन्नाः सन्तः तनुत्राणि अपि अङ्गरक्षकाणि (वस्त्र-विशेषान्) अपि अमुचन् दूरीकृतवन्तः, ते अमी (जनाः) अधुना हिमर्तौ वरासीन् स्थूलशाटकानपि बिभ्रते धरन्ति। "वरासिः स्यात् खड्गवरे वरासिः स्थूलशाटके।" इति दन्त्यान्तेषु रभसः। वरासिधारणेन तनुत्र-(अङ्गरक्षक) ग्रहणं तु अर्थापत्त्यैव सिद्धमित्यपि-शब्दो द्योतयति। इति प्रकृतोऽर्थः।

अथच—कुशीनां लोहविकारफालविशेषाणां तलैः अधोभागैः "जानपदकुण्ड०" इत्यादिना ङीषन्तः कुशीशब्दः। चराचराणाम् उत्क्लेशे बाधनविषये (स्वयं) मर्तुम्[1] उद्यतम् इमम् आगतं (कमपि) पश्य। अत एव ये पुरा तनुत्राणि वर्माणि अपि अमुचन्, ते अमी अधुना वरासीन् वरान् खड्गान् बिभ्रते इत्यप्रकृतोऽ-र्थोऽपि ध्वन्यते। वंशस्थेन्द्रवंशयोर्मिश्रणादुपजातिवृत्तम्। आग्रहायणिकमासात् संवत्सरस्य हेमन्तस्य चोपजाति-संभवादुपजातिवृत्तेनैतद्वर्णने औचित्यं ज्ञेयम्॥४८॥

अर्थ—चार श्लोकों में हेमन्त का वर्णन—हे सीते! प्रचण्ड ठण्ड के मौसम (हेमन्त) का आगमन हो गया है, जो जड़ चेतन को ठण्ड के आधिक्य से तकलीफ दे रहा हैं ग्रीष्म ऋतु में लोगों ने हल्की अंगरखियों को भी उतार दिया था, उन्होने अब मोटे-मोटे कपड़े पहन रखे हैं॥४८॥

विशेष—कुशों (लोहनिर्मित कुश) के अधोभाग से चराचरप्राणियों को क्लेश देने के लिये (स्वयं) मरने के लिये तैयार इस आने वाले पुरुष को देखो। अंतः जिन्होंने पहिले कवच भी छोड दिये थे, वे ही पुरुष अब श्रेष्ठ खड्गों को धारण कर रहे हैं। यह अप्रकृत अर्थ भी ध्वनित हो रहा है।

प्रभां प्रभेशस्य पटं च पावकं

तिरः प्रियां पाकमथो पिचुं पयः।

ज्ञात्वेति पाद्यानि विधेर्य आश्रयेत्

तं हैमनी रुग् न कदापि बाधते॥४९॥

१. अत्रार्थे हेत्वर्थो हिः पृथक् छेद्यः।

यः (जनः) प्रभेशस्य सूर्यस्य प्रभां प्रकाशम् आतपमित्यर्थः। पटं वस्त्रम्, पावकम् अग्निं, तिरः अन्तर्हिते प्रच्छन्ने स्थाने इत्यर्थः। मर्यादापुरुषोत्तमस्य समर्यादमेतद् वचनम्। प्रियां कान्ताम्, पाकं तत्तत्पौष्टिकौषधमिश्रितं मोदकादिकम्। अथो पुनः पिचुं तूलं, पयो दुग्धमितीमानि विधेः दैवस्य सद्भाग्यप्रदत्तानीत्यर्थः। पाद्यानि पकारादीनि वस्तूनि पाद्यानि पादपूजोपकरणानीति च ध्वन्यते। ज्ञात्वा मत्वा आश्रयेद् गृह्णीयात्। तं (जनं) हैमनी हेमन्तोद्भवा "सर्वत्राण् तलोपश्च।" इत्यण् तलोपश्च। रुक् रोगः कदापि न बाधते॥४९॥

अर्थ—इस ऋतु में जो इन पकारादि-वस्तुओं का जैसे प्रभेश की प्रभा का (सूर्य की धूप का), पट का, पावक (अग्नि) का, एकान्त में प्रिया का, पौष्टिक औषधियों से निर्मित मोदकादि का, पिचु (तूल) का और पय (दूध) का आश्रय-सद्भाग्य से लेने में समर्थ हैं उनको इस हेमन्त ऋतु से उत्पन्न किसी तरह के रोग नहीं सताते हैं॥४९॥

चराचरं चारु भियेव धुन्वती
राज्यं तितांसुस्तुहिनस्य तीव्रता।
मेयं स्पृशत् स्मेति जनोऽद्य कुङ्कुमै-
णनाभिलिप्तो ज्वलदुल्मुकायते॥५०॥

भिया भयेनेव[1] चराचरं चारु सम्यग् यथा स्यात्तथा धुन्वती कम्पयन्ती, राज्यं स्वसाम्राज्यं तितांसुः तनितुमिच्छुः "तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सनो वेड् वाच्यः" इति पाक्षिके इडभावे "तनोतेर्विभाषा" इत्युपधादीर्घः। इयं तुहिनस्य हिमस्य तीव्रता उत्कर्षः मा स्म स्पृशत् मा स्पृशतु इति कारणात् अद्य अस्मिन् हेमन्तदिवसे। जनो लोकः। कुङ्कुमेन काश्मीरजन्मना एणनाभिना कस्तूर्या च लिप्तः कृतलेपः सन्। ज्वलदुल्मुकायते ज्वलन् उल्मुकः अङ्गार इव आचरति। अङ्गारस्य ज्वलितोऽशः कुङ्कुमस्थानीयः, अज्वलितोऽशश्च कस्तूरीस्थानीयः। अतएव क्तान्तं विहाय ज्वलदिति शत्रन्तं प्रयुक्तम्। ज्वलदुल्मुकसमीपे तु सा (तुहिनतीव्रता) नागच्छति। एतल्लेपेन शीतार्तिनाश इति भावः॥५०॥

अर्थ—यह ठण्ड जो चराचर को कंपाती हुई अपना साम्राज्य फैला रही है, लेकिन जिन लोगों ने कुङ्कुम (केसर) का और कस्तूरी का लेपन किया है—यह ऋतु अंगारे की तरह उस केसर और कस्तूरी के लेप को जानकर उसके पास नहीं आती है॥५०॥

विशेष—इस समय कुंकुम और कस्तूरी-अंगारे ही बन गये हैं, जिनके समीप हेमन्त ऋतु की जाने की हिम्मत नहीं होती॥५०॥

तनोति या सीत्कृतिमाननान्तरा-
दाकम्पमाना धृतरोमहर्षणा।
वामेक्षणा सा सुरते रतेश्वरं
लिलीषुराख्यात्यह ! हैममासनम्॥५१॥

या आकम्पमाना धृतरोमहर्षणा धारितरोमाञ्चा आननान्तरात् मुखाभ्यन्तरात् सीत्कृतिं सीत्कारं (सुरतसुलभं) तनोति। सा वामेक्षणा स्त्री सुरते मैथुने लिलीषुः तदङ्गे निलीनीभवितुमिच्छुः। रतेश्वरं प्रियम्। आख्याति कथयति–अह इत्याक्षेपे। हैमं हिमस्येदम् आसनम् यात्रानिवर्तनम् अत्रत्यमेव स्थिरतापादनम्। अत्रैकत्रैव स्थानदृढीकरणमिति भावः। "आसनं द्विरदस्कन्धे पीठे यात्रा-निर्वतने।" इति मेदिनी। इत्युत्तम[2]दंपत्यनुरूपोऽर्थः। अत्र आलिङ्गनजनितानां सीत्कारा-दीनां गोपनेन हिमस्थितिजन्यतया प्रकाशनेन च मीलितालं-कारः। "मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्षणा।" इति तल्लक्षणात्। मध्यमदंपत्यनुरूपोऽर्थस्तु हैमं स्वर्णमयं मदङ्गं (स्त्री-शरीरम्) आसनं कर्तव्यमिति युक्त्या स्त्री कृतं स्वेङ्गितज्ञापनम् अधमद-

१. स्वाभाविकं कम्पनं भिया कम्पनेनोत्प्रेक्षितम्।

२. उत्तमनायिकाया उत्तमनायकं प्रति इङ्गितज्ञापनरूपः। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्।

म्पत्यनुरूपः पुनरयमर्थः—अह है! इत्याक्षेपपूर्वकमामन्त्रणं। मम आसनं इति ग्राम्यतासङ्गतं स्त्रीकृतं स्फुटकथनम्। इत्यस्य वाक्यस्य त्रिधाऽर्थसंगति-र्ज्ञेया ॥५१॥

अर्थ—इस ऋतु में मुख से 'सी-सी' की आवाज निकलती है और सर्दी के मारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कोई प्रिया अपने प्रियमिलन के समय में इन विकारों को याद कर कहती है—यह ऋतु यात्रा का निवारण करने की है; इस ऋतु में तो यहीं आसन उचित है॥५१॥

विशेष– पद्य में ' हैममासनम्' इस की तीन अर्थों से संगति करनी करनी चाहिये- (१) उत्तमनायिका के पक्ष में- हेमन्त ऋतु में आसन (यात्रा-निवृत्ति) करनी चाहिये (२) मध्यमनायिका के पक्ष में- स्वर्णमय मेरे शरीर को ही आसन बनाना चाहिये। (३) अधममनायिका पक्ष में -मेरे साथ तरह-तरह के आसन करने चाहिये।

अन्ते चतुर्भिः शिशिरं वर्णयति—

वसन्तपञ्चम्युपजातिमेष

धंधं-रवं- स्वं पटहं विवृण्वन्।

प्रहस्य काक्वा स्थविरान् हिमर्तुं

तिरोभवन्तं शिशिरोऽनुरुन्धे ॥५२॥

एष शिशिरः। वसन्तपञ्चमी माघशुक्लपञ्चमी तत्र उपजातिः वसन्तवाद्यत्वेन उत्पत्तिर्यस्य स तम्। 'धं धं' इति रवः शब्दो यस्य स तम्। स्वम् आत्मीयं शैशिरम् इति भावः। पटहं विवृण्वन् प्रकटयन्। वसन्तागमनं सूचयन्तं स्वं (शैशिरं) पटहं श्रावयन्निति भावः। काक्वा 'अयं वसन्तागमं सूचयन् वासन्तिकः पटहो वाद्यते, तदिदानीं स्थविरपीडकं शीतं व्यपगच्छति' इति शैशिरे हिमे प्रसार्यमाणे भिन्नकण्ठ ध्वनिना स्थविरान् वृद्धजनान् प्रहस्य उपहस्य। तिरोभवन्तं लीयमानं हिमर्तुं हेमन्तम् अनुरुन्धे पुनर्निवासाय अनुरोधं करोति। यद्वा निवारयतीत्यर्थः। शिशिरस्य हेमन्तवच्चेष्टितत्वादीदृशी संभावना ज्ञेया। हेमन्त-शिशिरयोः स्वभावेन नाधिकतरो भेदः किन्तूभयोः साम्यमेव प्रतीयतेऽत एव हेमन्ते वर्णितेन तत्कल्पेनोपजातिवृत्तेनैव[१] तत्कल्पस्य शिशिरस्य वर्णनं स्थाने कृतं कविना ॥५२॥

अर्थ—चार श्लोकों में शिशिर का वर्णन—यह शिशिर ऋतु है। इसमें माघशुक्ला पंचमी को जो नगारे बजाते हैं वे वसन्त ऋतु के जन्म की सूचना देते हैं और यह काकुध्वनि से कहा जाता है कि अब बूढ़ों की ठण्ड की पीड़ा गई—पर हेमन्त और शिशिर में कोई अन्तर नहीं है, अतः यह भी ध्वनि है कि अभी बूढ़ों के लिये ठण्ड की पीड़ा कहाँ गई है॥५२॥

वाते परास्कन्दिनि निर्धनोऽपि

लिलीषते संज्ञ इहाऽद्य जान्वोः।

नन्वेष चेत् प्रज्ञ उपानतास्य-

श्चकास्ति दोःस्वस्तिकगुप्तहृत्स्वः ॥५३॥

इह जगति। अद्य शिशिरदिवसे। वाते वायौ प्रकरणतः शैशिरे इत्यर्थः। परान् अन्यान् आस्कन्दितुम् आक्रमितुं शीलमस्य स तस्मिन् तादृशे सतीत्यर्थः। परास्कन्दिनि चौरे सति च। निर्धनो दरिद्रोऽपि। अपिशब्दोऽत्र अप्रकृतेऽर्थे विरोधं द्योतयति निर्धनस्य चौरभीतेरसंभवात्। प्रकृते तु अवधारणार्थः। अर्थात् निर्धनोऽपि निर्धन एव न तु सधन इत्यर्थः। संज्ञः संहतजानुकः। "प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः" अत्रत्यं ज्ञुमादेशं केचिज् ज्ञमपि मन्यन्ते। एतदेवावलम्ब्य—"प्रज्ञुः प्रगतजानुः स्यात् प्रज्ञोऽप्यत्रैव दृश्यते। संज्ञुः संहतजानौ च भवेत् संज्ञोऽपि तत्र हि॥ ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानुः स्यादूर्ध्वज्ञोऽप्यूर्ध्वजानुके" इति साहसाङ्कः। अन्यत्र

---

१. वंशस्थेन्द्रवंशामिश्रितोपजातिवृत्तादीषदूनेन, अर्थात् इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रामिश्रितोपजातिवृत्तेन। हेमन्तशिशिरयोरिवानयोरन्तरम्। तदुभयगतं शीतमिवोपजातित्वं तु स्थितमेवेति भावः।

असंज्ञ इति च्छित्वा चौरस्य परास्कन्दित्वात्तद्भयान्निश्चेतन इति व्याख्येयम्। जान्वोः जानुद्वयप्रदेशे लिलीषते निलीनीभवितुमिच्छति। शीताद् भयाच्चेति भावः। ननु एष निर्धनः चेद् यदि प्रज्ञः प्रगतजानुकः बुद्धिमांश्च (तर्हि) उपानतास्यः अवनतमुखः तथो दोःस्वस्तिकेन स्वस्तिकाकारेण बाहुमण्डलेन गुप्तं रक्षितं हृद् अग्रमांसमेव स्वं धनं येन स तथोक्तः सन् चकास्ति शोभते॥५३॥

अर्थ—सर्दी की प्रचण्डता में जब तेज ठण्डी हवा चलती है, तो दीन उस आक्रमण को सह नहीं पाते। गरीब के पास शीतवायु के आक्रमण से बचने का एक ही उपाय हैं वह घुटनों को मोड़कर अपना माथा उनमें डालकर और दोनों सिमटे हुए अपने पैरों को दोनों ओर भुजाओं से स्वस्तिक बनाकर (शीत वायु) का मुकाबला कर सकता है। और अपने हृदयरूपी धन की रक्षा करता हुआ शोभित होता है॥५३॥

बलात् क्षतोष्ठी प्रभुणा कलङ्का-
लंकारिणी चन्द्रकलेव याऽऽभात्।
तनूजसन्ना, शिशिर-स्थितेः सा
त्रपौघ-राहोरबलाऽवति स्वम्॥५४॥

या तनूजसन्ना तनूजेन शरीरजेन कामेनेत्यर्थः। सन्ना अवसन्ना तप्ता इत्यर्थः (अबला) प्रभुणा भर्त्रा बलात् बलात्कारेण क्षतः दष्ट ओष्ठः अधरोष्ठो यस्याः सा तथोक्ता सती। कलङ्कालंकारिणी कलङ्कभूषणधारिणी चन्द्रकला इव आभात् अराजत्। सा अबला[१] स्त्री शिशिरस्य स्थितेः विद्यमानत्वात् (कारणात्) त्रपौघ-राहोः लज्जासमूहरूपाद् राहोः विधुंतुदात् स्वम् आत्मा-नम् अवति रक्षति। अयं भावः—जनसमक्षम् अधरक्षत-दर्शनं लज्जास्पदम्। तच्च शिशिरस्थितिकारणाल्ल-ज्जास्पदं न जायते, तदानीं हि शीतोत्कर्षादधर-स्फटनं स्वाभाविकम्। चन्द्रकलाऽपि—तनूजस्य कामस्य यः संनाशी शिवः तस्य, शिर[२] स्थितेः मस्तकनिवास-कारणात् राहोः स्वमात्मानं रक्षत्येव॥५४॥

अर्थ—इस ऋतु में यदि कोई प्रिय कामावेग से अपनी प्रियतमा के अधरोष्ठ का चुंबन लेकर—उसे क्षत बना दे, तो यह कहकर लज्जा से बच जाती है कि ठण्ड के कारण ओठ फट गए हैं। जैसे चन्द्रकला भगवान् शिव के ललाट में शोभित होकर राहु के ग्रास से बच जाती है॥५४॥

विशेष—यहाँ कवि ने अधर को चन्द्रकला, लज्जा को राहु बनाया है॥५४॥

अन्तिममिष्टं निवेदयन् श्रीरामः प्रस्तुतमुपसंहरते—

करोति हीनं तप-कृष्णपक्षोऽ-
थ पीव हेमन्त-वदात-पक्षः।
यामन्ततोऽर्धं शिशिराष्टमाहो
मानिन्यमूं भुङ्क्ष्व निशेन्दुलक्ष्मीम्॥५५॥

हे मानिनि! यां (निशेन्दुलक्ष्मीम्) तपो ग्रीष्मागम एव कृष्णपक्षः हीनम् अल्पं क्षीयमाणा-मित्यर्थः। अत्र 'हीनम्' उत्तरत्र च 'पीव'-'अर्धं' च क्रिया-विशेषणत्वेन विवक्षितमिति ज्ञेयम्। कृष्णपक्ष इन्दुलक्ष्मीं (चन्द्रशोभाम्) यथा तथा ग्रीष्मो यां (निशां) हीनीकरोति भावः। अथ हेमन्त एव वदातपक्षः शुक्लपक्षः यां (निशेन्दुलक्ष्मीं) पीव महत् अधिकामित्यर्थः। करोति। हेमन्ते निशा वर्धते एव यथा शुक्लपक्षे चन्द्रश्रीः। शिशिर एव अष्टमाहः अष्टमी तिथिः यां (निशेन्दुलक्ष्मीम्) अन्ततः अन्ते शिशिरावसानसमये इत्यर्थः। अर्धम् अर्धामित्यर्थः। करोति। शिशिरान्ते वसन्तारम्भे हि निशाऽर्धा भवत्येव। पलन्यूनत्वेऽपि अर्धैव कथ्यते। समरात्रिंदिवकल्पोऽयं कालः। अमूं तां निशा रात्रिरेव इन्दुलक्ष्मीः तां भुङ्क्ष्व उपभोगेनाऽनुगृहाण। इत्यनेनैषा होलिकारात्रि-

१. अबलेति पदमत्र साकूतम्, शिशिरादिना तस्या गत्यन्तराभावात्।

२. अत्र "खपरे शरि विसर्जनीयस्य वा लोपः।" इति विसर्गो लुप्यते।

र्विवक्षिता। रात्रेः प्रथमचरमयामयोर्दम्पति-विहारस्य निषिद्धत्वं द्वितीयायामारम्भे विधेयत्वं च ध्वन्यते ॥५५॥

अर्थ—अन्त में भगवान् राम अपने इष्ट का निवेदन कर–प्रसंग का उपसंहार करते हैं हे मानिनि ! यह शिशिर ऋतु ही एक ऐसी ऋतु है, जिसकी रात्रि सम हैं ग्रीष्म ऋतु में रातें छोटी और हेमन्त में रातें बड़ी हो जाती हैं इस रात्रि के मध्य के दो प्रहरों को भोग होता है ॥५५॥

विशेष—रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर, दम्पती विहार के लिये निषिद्ध है ॥५५॥

श्रीसीतारामयो रहः केलिनिरूपणेन सर्गमुपसंहरति—

स प्रोच्येति विरेमिवान्, सहचरी
तत्साहचर्योन्मदाऽ-
वादीदेनमिति त्वया विरहिता
वत्स्यं नु चेत्, का दशा? ।
नम्रास्यं स्रवदश्रु चेति वचतीं,
न स्यात् तथेत्यर्पितो-
रःश्लेषेण मनोरमां रमयतो
रामस्य रेमे मनः ॥५६॥

इति श्रीकविराजाशुकविना विरचिते रामाङ्के
श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये मदिरानामा
नवमः सर्गः समाप्तः ॥९ ॥

स रामः इति (सीतां) प्रोच्य कथयित्वा विरेमिवान् विरराम। "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैपदित्वे लिटः क्वसुः। तस्य रामस्य साहचर्येण सहचारित्वसुखेन उन्मदा उत्कृष्टो मदो हर्षो यस्याः सा तथाभूता सती। परं हृष्टा सतीत्यर्थः। "मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः।" इति मेदिनी। एनं रामम् इति अवादीत्—चेद् यदि नु वितर्के त्वया विरहिता वियुक्ता सती अहं अवत्स्र्यम् अभविष्यम् अयोध्यायामिति भावः। "वृद्भ्यः स्यसनोः" इति परस्मैपदे "न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः" इतिड्निषेधः। तर्हि का दशा ? मम अवत्स्र्यदिति शेषः। "लृङ् निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" इत्यनुवृत्य भूते च लृङ् । इति एवं नम्रास्यं नम्रमुखं लज्जयेति भावः। स्रवदश्रु स्रवन्ति वर्षन्ति अश्रूणि[१] यत्र कर्मणि तत्तथा चेति क्रियाविशेष-णद्वयम्। वचतीं वदन्तीं मनोरमां सुन्दरीं सीतां, तथा तेन प्रकारेण अर्थात् मदीयो विरहो न स्यादिति अस्माद्धेतोः अर्थात् एतत्प्रकटयितुम्। उरःश्लेषेण वक्षःस्थलालिङ्गनेन रमयतो विहारयतो रामस्य मनः रेमे रमते स्म। इत्यनेन दम्यत्योः प्रेम्णः पराकाष्ठा दर्शितेति ज्ञेयम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५६॥

इति श्रीपण्डितविद्याभूषण श्रीभगवतीलालविरचितायां
शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नहाकाव्य-व्याख्यायां
नवमः सर्गः समाप्तः ॥९ ॥

अर्थ—भगवान् राम-सीता की एकान्त-क्रीडा का वर्णन–ऐसा कह कर राम मौन हो गये। सहचरी सीता प्रेम-भाव में मग्न हो गई और इतना ही कह पाई–'सोचिये, यदि मैं आप से अलग रहती तो अयोध्या में क्या दशा होती। ये कहकर वह लजा गई और आंसू टप-टप गिरने लगे। तब श्रीरामने कहा कि 'मेरा विरह नहीं होना चाहिये' इसी भाव को प्रकट करने के लिये अपने वक्षःस्थल के आलिङ्गन द्वारा रमण कराते हुये राम का मन रमण करने लगा ॥५६॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का **'मदिरानामक'** नवम सर्ग समाप्त।

---

१. सम्भावित-वियुक्तत्वसंस्मरणेन अश्रुवर्षणम्।

अथ दशमः सर्गः

अथ श्रीरामस्य दण्डकारण्यप्रस्थानमाह—

सुज्ञा आयोध्या अत्र लोकाः पुनः प्रा-

ग्रीत्याऽऽगच्छेयुर्नन्विति ज्ञप्ततर्कः।

वश्योऽन्येद्युः स प्रस्थितो दण्डकान् द्राक्

शङ्के सैषाऽभूत् प्रेरणा वैश्वदेवी ॥१॥

अन्येद्युः अन्यस्मिन्नहनि। "सद्यः परुत्परारियैषमः" इत्यादिना निपात्यते। स वश्यः स्वतन्त्रो रामः। सुज्ञाः अभिज्ञाः परिचितावासा इत्यर्थः। आयोध्याः अयोध्यायां भवाः, अयोध्या वा निवासोऽभिजनो वा एषां ते लोकाः। "तत्र भवः", "सोऽस्य निवासः", "अभिजनश्च" इत्येभिर्यथासंख्यमण्। ननु इति शङ्कायाम्। प्राग्-रीत्या पूर्वागमनप्रकारेण पुनः आगच्छेयुः। संभावनायां लिङ्। इत्येवं ज्ञप्तः ज्ञापितः (सीतालक्ष्मणौ प्रतीत्यर्थः) तर्कः येन स तथोक्तः सन्। दण्डकान् दण्डकारण्यं प्रस्थितः। अत्रोत्प्रेक्षते सा एषा वैश्वदेवी विश्वस्य जगतो देवः परमेश्वरः, अथवा विश्वे सर्वे ये देवाः देवताः तत्संबन्धिनी प्रेरणा कार्य-नियोजना अभूत्। स्वेष्टं कर्म रावणवधं कारयितुमिच्छयेति भावः। इत्यहं शङ्के मन्ये। 'वैश्वदेवी' शब्देन वैश्वदेवीवृत्तं सूचितम्। "पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ।" इति लक्षणात्। द्वादशपद्यान्तमनेनैव वृत्तेन प्रक्रम्यतेऽयं सर्गः ॥१॥

अर्थ—श्रीराम के दण्डकारण्यप्रस्थान का वर्णन–यह स्थान अयोध्या निवासियों को सुपरिचित सा हो गया है। कहीं ऐसा न हो वे पहले की ही तरह आना-जाना शुरु कर दें। विश्वदेवी की ऐसी प्रेरणा हुई कि वह मानों रावण वध को कराने के निमित्त ही राम को यहाँ से दण्डकारण्य जाने को प्रेरित करती है ॥१॥

द्वाभ्यामत्रिदर्शनमाह—

किञ्चिद्दूरेऽत्रेराश्रमं प्राप्तवान् सोऽ-

तश्चन्द्रो वा तं प्राणमत् प्राणमत्तम्।

चारित्रस्यात्मा साऽनसूयां तनूं वाऽऽ-

सीन्नित्यं हृष्टाऽऽरोहिणी प्राप्य सीता ॥२॥

स रामः किञ्चिद् दूरे। अत्रेः आश्रमं प्राप्तवान्। अतः कारणात् स चन्द्रो वा चन्द्रमा इव तं प्राणमत्तं रामचन्द्रदर्शनेन प्राणैः प्राणागमैः मत्तं हृष्टमिवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। प्राणेन तदागमजन्येन बलेन वा मत्तं तमत्रिं प्राणमत् प्रणमति स्म। चन्द्रोऽपि स्वोत्पत्तिकारणमत्रिं प्रणमति। सोऽपि तं दृष्ट्वा प्राणागममत्त इव भवति। चारित्रस्य शीलस्य आत्मा सा आरोहिणी वरारोहा[1]। "भूमनिन्दाप्रशंसासु" इति वचनात् प्रशंसाऽर्थेऽत्र इनिः। रूपिणी कन्येतिवत्। सीता चारित्रस्य तनूं वा मूर्तिमिव अनसूयाम् अत्रिपत्नीं प्राप्य संगत्य नित्यं हृष्टा आसीत्। चन्द्रस्य प्रिया रोहिण्यपि अत्रिपत्नीं प्राप्य हृष्येदेव ॥२॥

अर्थ—दो श्लोकों में महर्षि अत्रि का दर्शन : राम थोड़ी दूर ही आगे चले कि उन्हें अत्रि का दर्शन हुआ। राम ने अत्रि को प्रणाम किया, जैसे चन्द्र-अपने जन्मस्थान अत्रि के दर्शन से आनन्दित होकर उनके चरणों में झुके हों। सीता अत्रि की पत्नी एवं चरित्र की मूर्ति प्रतिमा अनसूया के पास हृष्ट मन से बैठ गई, जैसे चन्द्रपत्नी (रोहिणी) के रूप में सीता वहाँ जा बिराजी हो ॥२॥

निन्याते प्रीतौ दंपती विश्रमावि-

त्यंशं कालस्यान्योन्यमाभाषमाणौ।

वीर्येणाऽथो तौ विप्रयुक्तौ नियत्या

ये संयुक्ताः प्राक् ते वियुक्ताः स्युरन्ते ॥३॥

---

१. आरोहः स्त्रीकटिः।

अन्योन्यं परस्परम् आभाषमाणौ वार्तालापं कुर्वन्तौ तौ दम्पती अनसूयाऽत्री सीतारामौ च। अनसूया-सीते, रामाऽत्री च। मिथः संलपन्तौ इति भावः। विश्रमौ (एतौ द्वावपि दम्पती आवयोः संसारे कान्तारे च खिन्नयोः) विश्रामभूतौ इति हेतोः। अन्योन्यमिति अत्रापि आकृष्यते। प्रीतौ मिथः प्रमुदितौ सन्तौ इति भावः। कालस्य समयस्य अंशं कमपि भागं निन्याते समापयामासतुः। अथो इत्यनन्तरं नियत्याः दैवस्य वीर्येण प्रभावेण तौ दम्पती विप्रयुक्तौ वियुक्तीकृतौ अन्योन्यत इति भावः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति–ये जनाः प्राक् संयुक्ताः, ते अन्ते वियुक्ताः स्युः। अत्रैवंप्रकारेण दम्पत्योः सामान्यव्यवहारप्रदर्शनं कवेर्युक्तिवैचित्र्यं द्योतयति ॥३॥

अर्थ—राम अत्रि से, सीता अनसूया से संभाषण करते रहे। फिर इसमें थोड़ा समय व्यतीत हुआ। फिर काल की प्रचण्ड शक्ति से वे राम-सीता-लक्ष्मण चल पड़े। संसार का नियम है–जो मिलते हैं, वे अन्त में बिछुड़ते हैं ॥३॥

अनन्तरं मार्गगमनं वर्णयति—

णश्शोभां धत्ते प्राक् ततो वै यथा स

रामोऽतः पश्चात् तौ तथौचित्युपेतौ ।

घर्मं तर्षं च श्रान्तिमामन्दवातो

वेशन्तो वन्यश्रीश्च तेषामहार्षुः ॥४॥

यथा वै ततः तकाराद् वर्णात् प्राक् णः णकारः शोभां धत्ते,। (तथा) स रामः शोभामधादिति भावः। रामस्तु ततः ताभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां प्रागित्यर्थो ज्ञेयः। अतः रामात् पश्चात् तौ तथा तेन प्रकारेण अर्थात् प्राक् सीता ततो लक्ष्मणः इति औचित्या योग्यतया उपेतौ युक्तौ। ''औचित्यमौचिती'' इत्यमरः। अणन्तोऽयं भाववाची। णकार-पक्षे तु अतः णकारात् पश्चात् चित्या चयनेन वर्णसंग्रहक्रमेण। यद्वा चिति बुद्धौ उपेतौ आगतौ तथौ तकारथकारौ इत्यर्थः। तेनैषा श्लिष्टोपमा। तेषां रामादीनां घर्मं स्वेदं, तर्षं पिपासां, श्रान्तिं श्रमं च, (यथासंख्यम्) आमन्दो वातः पवनः, वेशन्तः पल्वलं, वन्या वनोद्भवा श्रीः शोभा च अहार्षुः दूरीचक्रुः। अन्वयव्यतिरेकरूपेण एतत्त्रयम् एतत्त्रयरूपमेवेति ध्वन्यते। आमन्दवातो रामस्थानीयः, वेशन्तो लक्ष्मणस्थानीयः वन्यश्रीः सीतास्थानीया। एवं व्यतिरेकरूपेण ज्ञेयम् ॥४॥

अर्थ—आगे मार्ग का वर्णन : जैसे तकार के पूर्व णकार शोभा धारण करता है उसी प्रकार सीता और लक्ष्मण से पूर्व राम ने शोभा धारण की। 'ण' कार के पश्चात् तकार और थकार की तरह राम के पीछे सीता और लक्ष्मण चल रहे थे। राम आगे चलते हैं–उनके पीछे सीता और सीता के पीछे लक्ष्मण मार्ग में चलते सुशोभित हैं। मार्ग में पसीना आता है, प्यास लगती है और थकावट आती हैं। पसीने को दूर करने के लिये शीतल वायु है, प्यास बुझाने के लिये वेशन्त (पोखर) है और विश्राम देने के लिये वन श्री है। ये तीनों भी ऐसे ही हैं जैसे राम शीतल वायु रूप हैं, लक्ष्मण पोखर के संदृश और सीता जी वनश्री की तरह हैं ॥४॥

विशेष—यहाँ कवि ने यथासंख्य अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया है ॥४॥

दण्डकाप्तिं मुनिसंमेलं चाह—

रामो युञ्जानो दण्डकं योगमल्प-

घस्रैः प्राप्नोत् स ध्यान-धीभ्यां सहाभ्याम् ।

वन्द्यं तं युक्तं योगिनस्तन्निवासाः

प्रत्युद्यातास्तेऽपूजयन् पूजयन्तम् ॥५॥

स रामः रामरूपः युञ्जानः योगाभ्यासपथ-पथिकः। असमस्तमेतद् रूपकम्। आभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां सीतालक्ष्मणरूपाभ्यां ध्यान-धीभ्यां ध्यान-ज्ञानाभ्यां सह। तत्साहाय्यमाप्येत्यर्थः।

अल्पघस्रैः परिमितैः दिनैः। "अपवर्गे तृतीया" इति तृतीया। दण्डकं दण्डकारण्यरूपं योगं योगमार्गान्तं प्राप्नोत्। अत एव वन्द्यं वन्दनीयं तं रामरूपं युक्तं योगपारंगतं संमिलितमित्यपि ध्वन्यते। अत एव पूजयन्तं मानयन्तं। तन्निवासाः तत्र दण्डके निवासो येषां ते, दण्डकारण्यवासिन इत्यर्थः। योगिनः प्रत्युद्याताः अभ्युद्गताः सन्तः अपूजयन् सममानयन्। योगिनां युक्तस्य पूजनमुचितम्॥५॥

अर्थ—भगवान् राम सीता एवं लक्ष्मण के साथ दण्डकवन में इस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं–जैसे युञ्जान योगी-ध्यान और धी (बुद्धि) के साथ योगस्थ हो रहा है–थोड़े ही दिन के लिये यह समाधि है। इसलिए बन्दनीय राम के लिए वहाँ के निवासी योगि-जन सम्मानार्थ आये॥५॥

मुनिकृतां रक्षोविनाशार्थनां तत्स्वीकृतिं चाह—

यत्नाद् रक्षां तं सर्षिपङ्क्तिर्ययाचे

यार्ताऽऽसीद् भीत्याऽत्रत्यरात्रिंचरेभ्यः।

थय्या-थय्येति ह्लादयन्ती मृदङ्ग-

न्तुष्टा स्वीकृत्याऽकीर्तयत् कीर्तिमन्ते॥६॥

सा दण्डकारण्यवासिनी ऋषिपङ्क्तिः यत्नात् तं रामं रक्षां ययाचे। याचिर्द्विकर्मकः। या (ऋषिपङ्क्तिः) अत्रत्येभ्यः एतद्वनवासिभ्यः। "अव्ययात् त्यप्" इत्यनुवृत्तौ–"अमेहक्वतसित्रेभ्य एव" इति त्यप्। रात्रिंचरेभ्यो राक्षसेभ्यः। "चरेष्टः" इति टप्रत्यये "रात्रेः कृति विभाषा" इति पाक्षिको मुम्। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानम्। भीत्या भयेन आर्ता पीडिता आसीत्। अन्ते तत्प्रार्थनानन्तरं स्वीकृत्या स्वप्रार्थनास्वीकरेण तुष्टा प्रीता सती 'थय्या थय्या' इति मृदङ्गं मुरजं ह्लादयन्ती वादयन्ती सती (ऋषिपङ्क्तिः) कीर्तिं यशः रामस्येति भावः। अकीर्तयत् कीर्तनद्वारा अश्रावयत्॥६॥

अर्थ—मुनियों ने राक्षसों से रक्षा की प्रार्थना की श्री राम ने हाँ भरी—ऋषि-समूह ने राम से राक्षसों के, खून करने की (मारने की) याचना की, राक्षसों के डर से ऋषि भी डरे हुए थे, राम ने स्वीकृति प्रदान की। इससे ऋषियों ने आनन्द से मृदग को 'थय्या-थय्या' ध्वनि करके बजाया और कीर्तिमान् राम के यश का कीर्तन किया॥६॥

विराधहननमाह—

दुन्दुभ्युन्नादं तं मृदङ्गं विबुध्य

दुष्टस्तत्राऽऽयात् कृष्णरूपो विराधः।

भेत्तारं यज्ञान् संविदानः स रामः-

:कायान्निष्पुण्यात्तं विमुक्तीचकार॥७॥

दुन्दुभेः भेर्या इव उन्नादः उच्चैः शब्दो यस्य स तम्। मृदङ्गं विबुध्य ज्ञात्वा। दुष्टः कृष्णरूपः श्यामाकारः विराधः तन्नामा राक्षसः तत्र आयात्। यज्ञान् भेत्तारं नाशयितारम्। शीले तृन्। अत एव 'न लोक०' इति षष्ठीनिषेधः। तं संविदानः जानन् "विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्" इत्यात्मनेपदित्वाच छानच्। स रामः निष्पुण्यात पुण्यविहीनात् कायात् शरीरात् विमुक्तीचकार मुक्तं कृतवान्। "रामः × कायात्" इत्यत्र अयोगवाहस्य विसर्गस्य अट्सु शर्षु चोपसंख्यानत्वेन "अनचि च" इति द्वित्वम्। मायया कृष्णरूपः वासुदेवाकृतिः यदि कोऽपि राक्षसः स्यात् स चेद्, विराधः राधारहितः, तं यज्ञ-भेतृत्वेन राक्षसं परिचित्य (कृष्णरूपस्य हि यज्ञपुरुषत्वेन तदभावात्) रामद्वारा तच्छरीरतो विमुक्तीकरणमुचितमेवेति ध्वन्यते॥७॥

अर्थ—विराध नामक राक्षस का वध—दुन्दुभि की तरह मृदङ्ग की घनघोर ध्वनि को सुनकर काला कलूटा विराध नामक राक्षस वहाँ आधमका। राम ने उस राक्षस को यज्ञ का विध्वंसक जानकर, उसे पाप करने वाली काया से मुक्त किया। अर्थात् राम ने राक्षस को मारा और मारकर मुक्ति प्रदान की॥७॥

शरभङ्ग-दर्शनम्—

यत्नात् प्रापत् सोऽथाश्रमं शारभङ्ग-

मुत्पन्नार्थाप्तिं तत्पतिं तं च नत्वा।

तत्तत् सिद्धं तत्-स्वःप्रयाणादि दृष्ट्वाऽ-

मंस्त स्वं धन्यं धन्यधन्योऽपि रामः ॥८॥

अथ धन्येषु धन्योऽपि स रामः। यत्नात् प्रयत्नेन। यत्नशब्देन स्वं दिदृक्षोः शरभङ्गस्याऽऽशापूरणप्रयत्नो रामकृतो दर्शितः। शरभङ्गस्येदं शारभङ्गम् आश्रमं प्रापत्। अत एव उत्पन्ना जाता अर्थाप्तिः दर्शनरूपफलप्राप्तिर्यस्य स तम्। तत्पतिं तस्याश्रमस्य पतिं स्वामिनं तं शरभङ्गं नत्वा प्रणम्य। तत् तत् तस्य स्वः प्रयाणादि स्वर्गगमनादिकम्। आदिशब्देन दिव्यसंगीतादिकं दृष्ट्वा स्वम् आत्मानं धन्यम् अमंस्त मेने ॥८॥

अर्थ—शरभङ्ग का दर्शन—धन्यों में धन्य रामचन्द्र जी ने शरभङ्ग ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ ऋषि के स्वर्गगमन और दिव्यसंगीत आदि के सुप्रबन्ध को देखक कर अपने को और अधिक धन्य माना ॥८॥

सुतीक्ष्ण-दर्शनमाह—

दर्शं दर्शं स ब्रह्मधाम्ना सुतीक्ष्णं

शश्वत् संशान्तं चात्मनाम्ना सुतीक्ष्णम्।

यागानुष्ठानार्थेषु वित्तं वशिष्ठं

मान्यः प्राहृष्यच्चास्मरत्तं वशिष्ठम् ॥९॥

स मान्यो रामः। ब्रह्मधाम्ना तपस्तेजसा ब्रह्मवर्चसेन वा "वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः।" इत्यमरः। सुतीक्ष्णं तिग्मं संशान्तं वस्तुतः शान्तस्वरूपम्। किन्तु आत्मनो नाम्ना सुतीक्ष्णम्। यागानां येऽनुष्ठानार्थाः अनुष्ठानकर्माणि तेषु वित्तं प्रसिद्धम्। वशिष्ठं अतिशयिनं वशिनं (मुनिं) शश्वत् मुहुर्मुहुः। दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा। तं प्रसिद्धं वशिष्ठं स्वगुरुम् अस्मरत्। तद्रूपगुणानुशीलनेन वशिष्ठः स्मृतिपथमागत इति भावः। स्मरणालंकारो यमकं च ॥९॥

अर्थ—सुतीक्ष्ण ऋषि के दर्शन—तपस्या की कान्ति से युक्त सुतीक्ष्ण ऋषि को बार-बार देखा वे नाम के सुतीक्ष्ण-(बहुत तीखे) थे, पर प्रशान्ति से युक्त थे। यज्ञों के अनुष्ठान से वे वशिष्ठ-यानी वशियों में (मुनियों में) उत्तम थे। उनकों देखकर वशिष्ठ शब्द के साथ-साथ उन्हें अपने गुरुदेव वशिष्ठ की याद आई, इसलिये (इस स्मृति के कारण) सुतीक्ष्ण के प्रति प्रेम बढ़ा ॥९॥

स प्रेक्ष्य प्रेक्ष्यं तं स्वभार्यानुजाभ्यां

सुप्रीतः सार्धं प्रीतवद्भ्यां नितान्तम्।

ग्रीवां भक्तिं वा नामयित्वोन्नमय्य

वोढा सीतायाः सादरं प्रण्यपप्तत् ॥१०॥

स सीताया वोढा वरः श्रीरामः। तं प्रेक्ष्यं दर्शनार्हं सुतीक्ष्णं प्रेक्ष्य नितान्तं गाढं प्रीतवद्भ्यां प्रसन्नाभ्याम् स्वभार्यानुजाभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां सार्धं सुप्रीतः प्रमुदितः सन् ग्रीवां कन्धरां नामयित्वा "ज्वलह्वलनमामनुपसर्गाद्वा" इति वा मित्त्वम्। सोपसर्गत्वे तु नित्यं मित्त्वम्। एत एव-वा समुच्चये। भक्तिम् उन्नमय्य उन्नतिपथं नीत्वा वर्धयित्वेत्यर्थः। सादरं प्रण्यपप्तत् प्रणतवान्। लृदित्वादङि "पतः पुम्" इति पुमागमः ॥१०॥

अर्थ—सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीराम ऋषि के दर्शन करते रहे। प्रेम से भरकर ऋषि को झुककर प्रणाम किया। भक्तिभाव से गर्दन झुकाई। भक्ति-पथ की महिमा बढ़ाकर, सामने अपना शिर झुकाया ॥१०॥

अगस्त्यदर्शनमाह—

मत्वाऽगस्त्यर्षिं संनिकृष्टं प्रकृष्टं

हारं हृद्धार्यं भक्तिमुक्ताभृतत्वात्।

पर्येत्याकृष्टो राघवस्तद्गुणौघै-

र्वन्द्यं वन्दित्वाऽविन्ददानन्दवृन्दम् ॥११॥

राघवः संनिकृष्टं समीपस्थम् अगस्त्यर्षिम् अगस्तिमुनिम्। भक्तय एव मुक्ताः मौक्तिकानि ताभिः भृतत्वात् पूर्णत्वात्। हृद्धार्यं स्वहृदयेन धारणयोग्यं प्रकृष्टम् उत्कृष्टं हारं मुक्तावलिं मत्वा। तस्य ये गुणाः शमदमादयः रज्जवश्च तेषाम् ओघैः समूहैः आकृष्टः सन्। पर्येत्य आगत्य। वन्द्यं वन्दनीयं तम्। वन्दित्वा। आनन्दानां वृन्दं समूहम् अविन्दत् प्राप। संनिकृष्टः सम्यग् निकृष्टो यः स्यात् स प्रकृष्टो न भवेदिति विरोधाभासोऽपि॥११॥

अर्थ—अगस्त्य ऋषि के दर्शन—अगस्त्य ऋषि पास ही थे, वे श्रेष्ठ थे। राम ने उनको अपने हृदय में भक्तिभावरूपी मोतियों की माला धारण करने वाला समझकर, ऋषि के गुण-समूह के प्रति आकर्षित होकर और पास में जाकर वन्दनीय उन ऋषि को नमस्कार कर आनन्दराशि को प्राप्त की॥११॥

विशेष—साधारणतः जो सन्निकृष्ट—एकदम पास है, वह प्रकृष्ट (बहुत बड़ा) नहीं लगता; यहाँ विरोधाभास का चमत्कार है। ऋषि सन्निकृष्ट होकर भी प्रकृष्ट है॥११॥

अगस्त्यभ्रातुर्दर्शनमाह—

तस्य भ्राजिष्णुं भ्रातरं भ्रातृ-भक्त्या

संज्ञां त्यक्त्वा तद्-भ्रातृ-नाम्नैव वित्तम्।

निध्याय ध्यायं ध्यायमन्तः प्रपूर्णाऽऽ-

भं भानुं भानुभ्राजितेजा ववन्दे॥१२॥

भानोः सूर्यस्येव भ्राजि रोचिष्णु तेजः यस्य स तथोक्तो रामः। भ्रातृभक्त्या भ्रातुरगस्त्यस्य भक्त्या भ्राजिष्णुं रोचिष्णुम् अत एव संज्ञां स्वकीयं नाम त्यक्त्वा। तद्-भ्रातृनाम्ना तस्य अगस्त्यस्य भ्राता इति नाम्ना एव वित्तं प्रख्यातम्। निध्याय दृष्ट्वा। प्रपूर्णाभं पूर्णदीप्तिं भानुं सूर्यम् अन्तर्मनसि ध्यायं ध्यायं स्मृत्वा स्मृत्वा। तेजोऽतिशयादिति भावः। ववन्दे॥१२॥

अर्थ—अगस्त्य के भ्राता का दर्शन—सूर्य की तरह तेजस्वी राम ने अगस्त्य ऋषि के भाई का दर्शन किया, जो सूर्य की तरह तेजस्वी था, उनको देखकर भगवान् राम को सूर्य भगवान् याद आये, उनका मन में स्मरण कर अगस्त्य-भ्राता की वन्दना की। अगस्त्य-भ्राता ने भी भाई के प्रेम के कारण अपना नाम छिपा कर-अपने को अगस्त्य-भ्राता के नाम से ही प्रख्यात किया॥१२॥

अथागस्त्याश्रमीयं प्रास्थानिकं संवादं चतुर्भिराह—

उपाददेऽगस्तिगिराऽथ तत्त-

त्स्मरन् मनस्येव हरेः स शस्त्रम्।

यियासुरूचे च नताननस्तं

त्वामद्य दृष्ट्वा सफलोऽस्मि योगिन्॥१३॥

अथ सः रामः। अगस्तेः गिरा तदाज्ञयेत्यर्थः। तत् तत् तेन शस्त्रेण तत्तद्दानवसंहारादिकमित्यर्थः। मनसि एव स्मरन्। हरेः विष्णोः इन्द्रस्य वा शस्त्रम् उपाददे जग्राह। यियासुः जिगमिषुश्च। नताननो नम्रमुखः सन् तमगस्तिम् ऊचे—योगिन्! अद्य त्वां दृष्ट्वा सफलोऽस्मि। त्वद्दर्शनेन राक्षसवधादिकार्ये मे साफल्यं भविष्यतीति भावः। उपजातिवृत्तम्॥१३॥

अर्थ—अगस्त्य आश्रम-सम्बन्धी वर्णन—राम ने अगस्त्य ऋषि के द्वारा प्रदत्त आदेश से राक्षसों के वध के लिये हरि (विष्णु) और इन्द्र के शस्त्रों को ग्रहण

किया और मन ही मन में उनके सम्बन्ध में बताई गई बातों का स्मरण जारी रखा। विजयेच्छुक राम ने नम्र भाव से कहा– 'हे योगिन्! आपके दर्शन से मैं राक्षसों से पृथ्वी को शून्य करने के कार्य में अवश्य सफल होऊँगा॥१३॥

महामुनिः स्वस्तिगिरा समन्द-

हासान्मुखान्निर्गतयाऽर्चयंस्तम्।

बाधां हरिष्यन्तमुवाच युक्त्याऽऽ-

हुः साधुसङ्गं हि मिथः कृतार्थम्॥१४॥

समन्दहासात् सस्मिताद् मुखाद् निर्गतया स्वस्तिगिरा शुभाशिषा बाधां राक्षसकृतां पीडां हरिष्यन्तं दूरीकरिष्यन्तं "लृटः सद्वा" इति लृटः शतृप्रत्ययः। तं रामम् अर्चयन् संमानयन्। युक्त्या वाक्-कौशलेन। उवाच-साधुसङ्गं सत्संगमं हि। मिथोऽन्योन्यम्। कृतः साधितः अर्थः प्रयोजनं येन स तथोक्तस्तम्। आहुः कथयन्ति। बुधा इति शेषः। अस्मद्दर्शनेन भवत्साफल्यमेव न, किन्तु भवत्समागमेन भाविनो रक्षोऽन्तरायविनाशनादस्मत्साफल्यमपीति भावः॥१४॥

अर्थ—महामुनि ने मन्दहास करते हुए कहा– 'स्वस्ति हो' यह कहकर बताया कि साधुसंग परस्पर मिलकर सिद्धि दाता है, अर्थात् ऋषि ने ध्वनित किया कि केवल मेरे दर्शन से ही नहीं, किन्तु आपके समागमन से (आप से मिलन से) यह सिद्धि होगी॥१४॥

अगस्त्यकृतं पञ्चवटीवर्णनमाह—

प्रेक्ष्या पञ्चवटी सुखामृतघटी

गोदावरीया तटी,

यत्रोल्लासपटीयसी छविनटी

खेलेद् यथा मर्कटी।

चारुः केकिझटी-पिकाऽलि-निकटी-

कृद् याऽस्ति नाट्योद्घटी,

स्थित्यै तत्र जटीय-सीमनि कुटी-

माधेहि यत् त्वं जटी॥१५॥

सुखमेव अमृतं तस्य घटी कलशिस्वरूपा, गोदावरीया गोदावरीनदीसंबन्धिनी तटी तीरस्थलीभूता पञ्चवटी प्रेक्ष्या दर्शनीयाऽस्तीति शेषः। यत्र यस्यां (पञ्चवट्यां) उल्लासे विलासे पटीयसी अतिचतुरा, छविनटी छविः शोभा एव नटी, यथा मर्कटी वानरी, (तथा) खेलेत् रमेत। चारुः मनोहरा या (पञ्चवटी) केकिनां मयूराणां या झटी परम्परा। झडीति लोकभाषा प्रसिद्धा। 'झट संघाते' इतः सर्वधातुभ्य इन्। ततोऽक्तिन्नन्तत्वाद् वा ङीष्। सा केकिझटी नृत्यकलादर्शिनी ज्ञेया। पिकाः कोकिलाः कलरवेण गानकलादर्शिनः। तथा अलयो भ्रमराः स्वगुञ्जरूपवीणावाद्यदर्शिनः। तेषां निकटीकृत् समीपीकारिणी। अत एव नाट्योद्घटी नाट्यं नृत्यगीतवाद्यस्वरूपं तौर्यत्रिकं उद्घटयति प्रकटयति तथोक्ता। "तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्" इत्यमरः। नटस्येदम् "छन्दोगौक्थिक-" इत्यादिना ञ्यः। अस्ति। तत्र तस्यां पञ्चवट्याम्। जटा एषामस्तीति व्रीह्यादित्वादिनौ जटिनो वटप्लक्षादयो वृक्षाः। तत्संबन्धिन्यां सीमनि सीमायाम्। स्थित्यै निवासाय। कुटीम् आधेहि कुरु। यद् यतः त्वं जटी जटाधारी (असि) जटिनो जटिभिः सहवास उचित इति भावः। शार्दूलवृत्तम्॥१५॥

अर्थ—अगस्त्य के द्वारा पंचवटी का वर्णन : गोदावरी के तट पर स्थित पंचवटी दर्शनीया है। यह पंचवटी एक कलशी है–जिसमें सुखामृत छलकता है। यहाँ कि शोभा ही कुशल नटी की तरह चतुर्दिक् नृत्य कर रही है–जैसे मर्कटी (बानरी) क्रीडा करती हो। यहाँ पर मयूरों का नृत्य है, भौंरों के गुंजार की वीणा बज रही है और कोकिला का गायन है। गीत, नृत्य और वादन से पूरा नाट्यमहोत्सव है हे राम! आप अभी जटाधारी-तपस्वी वेश में है–इसलिये वहाँ पंचवटी में जटाधारी संन्यासियों के बीच रहिये॥१५॥

विशेष—पंचवटी के 'ट' के प्रभाव के कारण महाकवि ने टकार-टंकार से सारे श्लोक को गुंजायमान कर दिया है॥१५॥

मञ्जुलं वाक्यमापीय कर्णाध्वना

हारहूरारसं पानपात्र्येव सः।

बल्लभाशीःस्रजा स्रग्विणीं कल्पिते-

लः स्वमूर्तिं धरन् राघवः प्रास्थित॥१६॥

स राघवः। पानपात्र्या पान-पात्रेण हारहूराया द्राक्षाया रसमिव। कर्णाध्वना श्रवणमार्गेण मञ्जुलं मनोहरं वाक्यम्। अगस्त्यस्येति भावः। आपीय निपीय। कल्पितेलः कल्पिता कृता ईला स्तुतिः अगस्त्यस्येति भावः येन स तथोक्तः सन्। बल्लभा प्रिया या आशीः अगस्त्यदत्तेति भावः। सैव स्रक् पुष्पमाला तया स्रग्विणीं मालधारिणीं स्वमूर्तिं स्वशरीरं धरन् प्रास्थित प्रस्थितवान्। अत्र स्रग्विणीपदेन स्रग्विणीवृत्तं सूचितम्। "रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी संमता।" इति तल्लक्षणात्॥१६॥

अर्थ—राम ने अपने कानों के मार्ग से ऋषि के आर्शीवाद को यों धारण किया-जैसे प्याले में द्राक्षारस भर कर कोई पान करता हो। राम ने शुभ आर्शीवाद को ही माला के रूप में ग्रहण कर अपने शरीर को उसी से सम्मान के रूप में मालाधारी बनाया। इस प्रकार प्रसन्न राम ने प्रस्थान किया॥१६॥

त्रिभिर्दंपत्योर्मार्गविश्रमविनोदमाह—

पानीयाय गतेऽनुजे पथि तरु-

च्छाये स्त्रिया स स्थितोऽ-

दाङ्क्षीद् बिम्बफलं तदा शुक इतः

सीताऽतिभीता सती।

गुप्तीकृत्य भयं तु विस्मयमिव

प्राप्ताऽङ्गुलिच्छादितो-

ष्ठेत्यब्रूत निरोष्ठ्य 'मस्त्यथ गतिः

शेषाऽचिरं यात तत्' ॥१७॥

पथि मार्गे। पानीयाय पानीयमानेतुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिनः" इति चतुर्थी। अनुजे लक्ष्मणे गते सति। स रामः स्त्रिया सीतया (सह) तरुच्छाये तरूणां बिम्बादिवृक्षाणां छायायां "छाया बाहुल्ये" इति क्लीबत्वम्। स्थितः उपविष्टः। तदा शुकः बिम्बफलम् अदाङ्क्षीत् दशति स्म। इतः कारणात् अतिभीता। अयं नाम बिम्बफलभ्रमेण मदीयमधरमपि दशेत्। इत्यनेन भयेन परं भीता सती। भयं तु गुप्तीकृत्य। कुलवधूचितया लज्जयेति भावः। विस्मयम् आश्चर्यं प्राप्ता इव। वक्ष्यमाणभावप्रदर्शनेनेति भावः। अङ्गुल्या तर्जन्या च्छादितौ आच्छन्नौ ओष्ठौ यया सा तथोक्ता सती निरोष्ठ्यम् ओष्ठस्थानीयवर्णरहितं यथा स्यात्तथा अब्रूत अभाषत-अथेति प्रश्ने। प्रश्नोऽपि काकुपूर्वकमत्र सूच्यते। किं गतिः यात्रा शेषा अवशिष्टा अस्ति ? तत् तस्माद् हेतोः अचिरं शीघ्रं यात प्रस्थानं कुरुतेति पूज्यत्वाद् बहुत्वं प्रयुक्तम्। नायं शुकस्तादृशमवसरं प्राप्नुयादिति एतावद्गमने कृतेऽपि यात्रावशिष्टा किमित्याश्चर्यपूर्वकेण शीघ्रप्रस्थानहेतुप्रदर्शकेन सीताया निरोष्ठ्यवाक्यप्रयोगेण[१] भयस्य गोपनं विस्मयप्रकटनं चाऽद्भुतनैपुण्यप्रदर्शकम्। मीलितालंकारः॥१७॥

अर्थ—तीन श्लोकों से मार्ग में दम्पती का विनोद और विश्राम—लक्ष्मण जी पानी लाने गये। सीताजी व रामचन्द्रजी वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। इतने में एक तोते ने सीता जी के लाल अधरों की (बिम्बफल के भ्रम से) ओर आने की चेष्टा की। सीता जी भयभीत हो गई, लजा भी गई। इसे छिपाने के लिये उन्होंने दोनों ओठों पर अंगुली रखकर-बिना ओठ से

---

१. ओष्ठ्यवर्णप्रयोगे तु ओष्ठयोरङ्गुलिच्छादितत्वेन ओष्ठ्यवर्णोच्चारणवैकल्यस्य प्रतीयमानत्वात् अङ्गुलिच्छादने विशेषकारणगवेषणया गुप्तीक्रियमाणं भयमाविर्भवेत्।

उच्चरित होने वाले वर्णों का प्रयोग करते हुए कहा– 'चलिये, शीघ्रता करें, निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे ॥१७॥

विशेष—इसमें सीताजी के कौशल को दिखाया गया है॥१७॥

नम्रास्योऽपि स तिर्यगीक्षितवधू-
भीरुत्वचेष्टश्चिरं
चित्ते कौतुकसंमदाननुभवन्
रामोऽब्रवीत् सस्मितम्।
क्षेमं कच्चिदनोष्ठ्य-वाक्य-कुशले
बिम्बोष्ठि तेऽत्र स्थिते
पत्यौ द्रष्टुमपीच्छतु त्वदधरं
को नाम, दंष्टुं तु किम् ? ॥१८॥

स रामः नम्रास्यः अवनतमुखोऽपि। तिर्यक् तिर्यग्नेत्रपातेन ईक्षिता दृष्टा वध्वाः पत्न्याः भीरुत्वचेष्टा येन स तथोक्तः सन् चित्ते मनसि। कौतुकसंमदान् कुतूहलजन्यान् आनन्दान् अनुभवन् उपभुञ्जानः। सस्मितम् अब्रवीत्–हे अनोष्ठ्यवाक्यकुशले निरोष्ठ्यभाषणनिपुणे ! बिम्बोष्ठि ! बिम्बं बिम्बफलमिव ओष्ठो यस्याः सा तत्संबुद्धौ। साकूतमामन्त्रणम्। कच्चित् किं ते तुभ्यं तव वा "चतुर्थी चाशिष्यायुष्य०" इति चतुर्थी षष्ठी वा। को नाम जनः अत्र अस्मिन् मद्रूपे पत्यौ भर्तरि स्थिते त्वदधरं तवौष्ठं द्रष्टुं विकृतेन मनसा निरीक्षितुम् इच्छतु इच्छेत् ? न कोऽपीत्यर्थः। दंष्टुं दंशविषयीकर्त्तुं तु किम् ? तत्तु सर्वथाऽशक्यमेवेति भावः ॥१८॥

अर्थ—भगवान् राम ने मुख नीचा किये हुए भी, तिरछी निगाहों से सारे रहस्य को जान लिया। उन्होंने विनोद में कहा–'हे बिम्बोष्ठि ! तुमने मुझे किसी बहाने से निमन्त्रण दिया है। और मुझ जैसे पति के यहाँ स्थित होने पर कोई भी इस अधररस का अधिकारी नहीं ॥१८॥

संप्राप्य तन्वि शुक एष तवेव नासां
पूर्वैः शुभैर्दशति चोष्ठविडम्बि बिम्बम्।
णं यल्लभेत तृषितोऽपि वने स्वपुण्या-
दभ्येति यद् धृतजलः खलु लक्ष्मणोऽयम् ॥१९॥

हे तन्वि कृशाङ्गि ! एष शुकः पूर्वैः प्राक्तनैः शुभैः सुकर्मभिः। तव नासामिव नासां नासिकां संप्राप्येति नासाशब्दोऽत्र देहलीदीपकन्यायेन उभयत्र संबध्यते। यद्वा तव भवत्या इव नासां नासिकां संप्राप्येति उत्प्रेक्ष्यते। चकारात् पूर्वैः शुभैरिति पुनराकृष्यते। ओष्ठविडम्बि त्वदधरानुकारि बिम्बं बिम्बफलं दशति। "दंशसञ्जस्वञ्जां शपि" इति नलोपः। अत्र दृष्टान्तयति यत् वने अरण्ये तृषितः पिपासितोऽपि जनः स्वपुण्यात् णं पानीयस्थानम्। "णः पुमान् बिन्दुदेवे स्याद् भूषणे गुणवर्जिते। पानीयनिलये चापि केचिदाहुर्मनीषिणः।" इति मेदिनी। लभेत प्राप्नुयात्। नान्यथेति भावः। यद् यस्मात् कारणात् स्वपुण्योपार्जनादिति भावः। धृतजलः लब्धजलः अयं लक्ष्मणः अभ्येति आगच्छति। खलु इति वाक्यालङ्कारे। इति पूर्वोक्तसमर्थनेन सह रहः संलापावसरे प्राप्तकालं लक्ष्मणागमनमपि सूचितम्। अत एव प्रत्युत्पन्नमतेरपि सीताया आवश्यकं नर्मप्रतिवचनं स्थगितमिति ध्वन्यते। अत्रोपमानयोः शुकनासा-बिम्बफलयोः उपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपालङ्कारः। "प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।" इति लक्षणात् ॥१९॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! यह तोता अपने पूर्व पुण्य के प्रभाव से तुम्हारी नाक के समान अपनी नासिका प्राप्त कर तुम्हारे ओष्ठ(अधर)के अनुकरण करने वाले बिम्ब-फ़ल को दश (डस) रहा है । प्यासा व्यक्ति भी अपने पुण्य के प्रभाव से ही वन में भी जल प्राप्त कर लेता है। लो, यह लक्ष्मण पानी लेकर आ गये हैं ॥१९॥

जटायुर्दर्शनं पञ्चवटीगमनं चाह—

शस्तं प्रियामिति वदन् स जटायुषोऽग्रे

योगं समेत्य पथि पञ्चवटीमवाप।

जञ्जन्यमानपरमप्रमदो मुनींश्च

नंनम्यते स्म च कुटीं सुखमध्युवास ॥२०॥

इति इत्थंप्रकारेण। शस्तं प्रशस्तं यथा स्यात्तथा। "शस्तं क्षेमे प्रशस्ते च" इति मेदिनी। प्रियां सीतां वदन् स रामः अग्रे जटायुषः तन्नाम्नो गृध्रस्य योगं संमेलं समेत्य प्राप्य पञ्चवटीम् अवाप। जञ्जन्यमानः पुनः पुनरतिशयेन वा जायमानः परमः प्रमदो हर्षो यस्य स तथोक्तः सन् च मुनीन् नंनम्यते स्म मुहुः प्रणमति स्म। कुटीं च सुखं सुखेन अध्युवास अधिष्ठितवान्। अधिपूर्वस्य वसेराधारः कर्म ॥२०॥

अर्थ—जटायु का दर्शन और पंचवटीगमन का वर्णन—इस प्रकार सीताजी से बात करते हुए राम जटायु से मार्ग में मिले और पंचवटी पहुँचे। फिर मुनियों को प्रणाम करते हुए, अधिक आनन्द का अनुभव करते हुए पंचवटी में कुटी बनाकर उसमें निवास किया॥२०॥

अथ शूर्पणखागमनमाह—

बिभ्राणा विषमां शमीमिव तनूं

व्यात्तानना जातुचिद्

भेरीवोद्रुवती सुरक्तनयने

उल्के इव व्यञ्जती।

दर्पाच्छूर्पणखाभिधा निशिचरी

जात्याऽप्यटन्ती दिवा

चञ्चत्कीकसमालभारिहृदया-

ऽत्राऽऽगाद् यथा डाकिनी ॥२१॥

शमीमिव शमीतरुमिव विषमां विकटां तनूं शरीरं बिभ्राणा धरन्ती। व्यात्तानना उद्घाटितमुखकुहरा। भेरी दुन्दुभिरिव उद्रुवती शब्दायमाना। उल्के इव अग्निनिर्गतज्वाले इव सुरक्ते नयने नेत्रे व्यञ्जती दर्शयन्ती। चञ्चन्ती इतस्ततश्चलन्ती या कीकसमाला अस्थिमाला तां बिभर्त्ति तथोक्तं हृदयं हृदयस्थलं वक्षःस्थलमित्यर्थः। यस्याः सा। यथा डाकिनी तथा शूर्पणखाभिधा शूर्पाणीव नखा यस्याः सा "नखमुखात्संज्ञायाम्" इति स्वाङ्गलक्षणस्य ङीषो निषेधः। "पूर्वपदात्संज्ञायाम्–" इति णत्वम्। तदभिधा तन्नाम्नी जात्या निशिचरी रात्रिचरी अपि। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। दिवा दिने अटन्ती भ्रमन्ती सती। जातुचित् कदाचित् अत्र रामकुटीसमीपे आगात् आयाति स्म॥२१॥

अर्थ—शूर्पणखा के आगमन का वर्णन—खेजड़े की तरह भद्दे शरीर वाली, मुँह फाड़े हुए, भेरी की तरह कर्कश आवाज करने वाली, लाल-लाल आँखों को दिखाती हुई, उल्का की तरह दीखने वाली गर्वीली शूर्पणखा नाम की राक्षसी, अपने हृदय पर हड्डियों की माला धारण करने वाली, किसी डाकिनी की तरह लग रही थी। वह जाति से निशाचरी (रात्रि में विचरण करने वाली) होती हुई भी, कभी-कभी दिन में भी पंचवटी के इधर-उधर चक्कर लगाया करती थी। अतः कभी-कभी रामकुटी के पास भी आती थी॥२१॥

शूर्पणखाभीतिप्रभावं व्यावर्णयति—

पुष्पादानरतास्तपस्विवनिता

वल्लौ निलीय स्थिता,

नम्रा मातुरधोंशुकं च शवरी-

बाला द्रुतं प्राविशन्।

स्तारं स्तारमथाजिनैर्निजतनूं

बालर्षयोऽशेरत,

लान्ती वल्लभपृष्ठमाश्रयमहो!

अध्यास्त सीता भयात् ॥२२॥

भयात् शूर्पणखादर्शनभवादिति भावः। पुष्पाणाम् आदाने अवचये रताः तत्पराः तपस्विवनिताः तापस्यः वल्लौ लतासु निलीय स्थिताः। शबरीबालाश्च नम्राः सन्तः मातुः अधोंशुकम् अधोवस्त्रं द्रुतं प्राविशन्। अथ पुनः। बालर्षयः बालाश्च ते ऋषयः। ऋषिजातीया बालका इत्यर्थः। अजिनैः मृगचर्मभिः निजतनूं स्वशरीरं स्तारं स्तारम् आच्छाद्य आच्छाद्य अशेरत शयिताः। "शीङो रुट्" इति रुडागमः। अहो इत्याश्चर्ये। वल्लभस्य प्रियस्य रामस्य पृष्ठम् आश्रयं शरणं लान्ती गृह्णती सीता अध्यास्त उपाविशत्। नित्यं भर्तुः संमुखगतायाः सीतायाः शूर्पणखाभयजनितस्तदानीन्तनः पृष्ठसेवनावसरो जात इति शूर्पणखानिमित्तको भावी एतद्दम्पतिवियोगः पताका[1]स्थानकत्वेन कविना दर्शितः। भयानको रसः॥२२॥

अर्थ—शूर्पणखा के भय का वर्णन—तपस्वियों की स्त्रियाँ जो फूल चुन रही थीं, वे भय के मारे लताओं के नीचे छिप गई। भीलनियों के बच्चे डरकर अपनी माताओं के अधोवस्त्रों में मुँह ढाप कर छिप गये। ऋषियों के बालक अपने मृगचर्मों में छिप गये।

भगवती सीता जी राम जी के पीछे (डरी हुई होने के कारण ओट लेकर) खड़ी हो गई॥२२॥

विशेष— सीता जो सदा राम के सम्मुख खड़ी होती थी। आज प्रिय के पीछे खड़ी हो गयी है। यहाँ पताकास्थान का कवि ने प्रयोग किया है, जो इस निमित्त से भावी वियोग का सूचक है॥२२॥

सप्ताश्ववंश्य-मदनेक्षणमात्रमुग्धा

तैस्तैः स्वमायिकबलैर्धृतरम्यरूपा।

केलीकलाकुल-कलापि-कलेन नुन्नाऽ-

नङ्गं श्रितेव सुतनूस्तमुवाच सैवम्॥२३॥

सप्ताश्वः सूर्यः। तस्य वंश्यः कुलोत्पन्नः। दिगादित्वाद् यत्। श्रीराम इत्यर्थः। स एव सुरूपत्वाद् मदनः कामः तस्य ईक्षणमात्रेण दर्शनमात्रेण मुग्धा मोहं गता सती। तैः तैः स्वैः मायिकैः मायाभवैः। अध्यात्मादित्वाट् ठञ्। बलैः धृतं रम्यं सुन्दरं रूपं यया सा तथोक्ता। केलीकलायां लीलाव्यापारे आकुलः परायणो यः कलापी मयूरः तस्य कलेन मधुरास्फुटशब्देन नुन्ना प्रेरिता सा। तं श्रीरामम्। अनङ्गं कामं श्रिता आगता प्रतिनिवृत्तेत्यर्थः। सुतनूः सुशोभना मूर्तिरिव। एवमुवाच॥२३॥

अर्थ—सूर्यवंश में उत्पन्न श्रीराम ने जो कामदेव की तरह सुन्दर थे, उन्हें देखकर शूर्पणखा मोहित हो गई। उसने अपनी माया से सुन्दररूप बनाया। केलिकला करने के लिये उद्यत मयूर के मधुर और अस्पष्ट शब्द से प्रेरित हुई उस सुन्दर शरीर वाली, कामासक्ता शूर्पणखा ने श्रीराम से इस प्रकार कहा॥२३॥

श्रीरामं प्रति शूर्पणखाया वचनम्—

मत्तोऽप्यधिका किमस्ति सीता?

हे राघव! या कटाक्ष-लक्ष्म्या।

षुषोढयिषुरिव शरान् स्मरस्यै-

णाङ्कं मुखतो द्विधयितुमिच्छुः॥२४॥

हे राघव! किं सीता मत्तोऽपि मदपेक्षयापि अधिका अस्ति? नैवेति भावः। या (सीता) कटाक्षलक्ष्म्या कटाक्षशोभया स्मरस्य कामस्य शरान् बाणान् षुषोढयिषुरिव षोढा (षट्प्रकारान्) कर्तुमिच्छुरिव। अस्तीति शेषः। या हि पञ्चेषोः पञ्चबाणान् स्वकटाक्षशोभां योजयित्वा षोढा कर्तुमिच्छतीति भावः। "षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च धासु वा" इति वार्तिकेनोत्त्वं पाक्षिकं ष्टुत्वं च। ततो [illegible] कर्त्रर्थे णिचि कृते सन्नन्तादुः।

---

१. "यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत्।"

मुखतः मुखाद् मुखशोभाहेतोरित्यर्थः। एणाङ्कं चन्द्रं द्विधयितुं द्विप्रकारं कर्तुमिच्छुरिवास्तीति शेषः। अस्या मुखशोभया चन्द्रोऽपि द्विधैवेति भावः। तदपेक्षया स्वाधिक्यवर्णने प्रस्तूयमानेऽपि शूर्पणखाकृतं सीताया रूपातिशयवर्णनं तद्रूपदर्शनेन शूर्पणखाया अप्याश्चर्यं द्योतयतीति ज्ञेयम्। वानवासिकावृत्तम्॥२४॥

अर्थ—राम के प्रति शूर्पणखा का कथन—हे राम! क्या सीता मुझसे अधिक सुन्दर है ? नहीं। हे राम! यह सीता अपने कटाक्षों की शोभा से कामदेव के बाणों की छैः (६) संख्या करना चाहती है, जो आज तक पाँच (५) है, तथा मुख की शोभा से चन्द्रमा के दो टुकड़े करना चाहती है॥२४॥

विशेष—यहाँ शूर्पणखा अपने रूप को सीता से अधिक बताना चाहती हैं पर वर्णन इस प्रकार कर गई कि सीता का उत्कर्ष ही व्यंजित हुआ है॥२४॥

गिरीन् मया निर्विश जानकीं त्यजाऽ-
रिं मन्यमानो मशकं तृणाय वा।
रमेत यद् त्वादृश एव मादृशा
साकं तथेदृक्षजनस्त्वमूदृशा॥२५॥

त्वम् अरिं शत्रुं मशकं वा तृणाय मन्यमानः सन् ''मन्यकर्मण्यनादरे'' इति चतुर्थी। जानकीपरित्यागादुत्थितान् रिपूनपि मत्प्रभावाद् मा गणयेति भावः। जानकीमिति साकूतं विशेष्यम्। तेन जनकसदृशवीर-वैर-विचारमपि त्यजेति गम्यते। जानकीं त्यज। मया (सह) गिरीन् पर्वतान् निर्विश उपभुङ्क्ष्व। मया सह शैलविहारान् कुरु इति भावः। यद् यतः त्वादृशः त्वत्सम एव मादृशा मत्समया साकं सह रमेत रमणयोग्यो भवेन्नान्य इत्यर्थः। ईदृक्ष एतादृशो जनस्तु इति लक्ष्मणमुद्दिश्य वचनम्। अमूदृशा एतत्समया इति सीतां निर्दिश्य वचनम्। रमेत। 'त्वादृशः' 'मादृक्', 'ईदृक्षः', 'अमूदृक्' एते शब्दा यथासंख्यं ''त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च'' इति कञि, चात्क्विनि, ''क्सोऽपि वाच्यः'' इति क्से ''आ सर्वनाम्नः'', ''दृक्षे'' इति चाऽऽत्वे सिध्यन्ति॥२५॥

अर्थ—शत्रुओं को मच्छर या तिनके की तरह तुच्छ समझने वाले तुम, सीता को छोड़कर, इस गिरि अंचल में मेरे साथ रमण करो। तू तो मुझ जैसी के साथ रमण करने के योग्य है। इस (सीता) को इस (लक्ष्मण) के साथ रमण करने दे॥२५॥

श्रीरामस्य शूर्पणखां प्रति प्रतिवचनमाह—

तत्तन्निशम्य रघुराडवदत् सुवृत्ता-
लंकार आदिकविगुम्फ इव प्रसन्नः।
चैत्रेण संमिल पलाशिनि लक्ष्मणेन
वश्योऽस्मि माधविकया किल माधवोऽहम्॥२६॥

आदिकवेः वाल्मीकेः गुम्फो ग्रन्थ इव सुवृत्तानां सच्चरित्राणाम् अलंकारो भूषणम् अन्यत्र सुशोभनानि वृत्तानि छन्दांसि पद्यानि वा अलंकाराः काव्यालङ्कारा उपमादयो यत्र स तथोक्तः। ''वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले'' इत्यमरः। प्रसन्नः प्रमुदितः अन्यत्र प्रसादगुणविशिष्टः। रघुराड् रामः तत् तत् शूर्पणखोक्तमित्यर्थः। निशम्य श्रुत्वा अवदत्-पलं मांसमश्नाति तच्छीला तत्संबुद्धौ हे पलाशिनि ! शूर्पणखे! ''पलमुन्मानमांसयोः'' इति मेदिनी। त्वं लक्ष्मणेन लक्ष्मणरूपेण चैत्रेण चैत्रमासेन वसन्तपूर्वार्धेनेत्यर्थः। संमिल संगच्छस्व। पलाशिन्या लतायाश्च चैत्रेण संबन्धः सुखावह एव। तर्हि वसन्तोत्तरार्धेन माधवेन (वैशाखेन) संमेलः कुतो नोच्येतेत्यत आह किलेति प्रसिद्धौ। अहं रामरूपो माधवो वैशाखः माधविकया वासन्त्या लतया ''वासन्ती माधवी लता'' इत्यमरः। सीतारूपयेति भावः। वश्यो वशीभूतोऽस्मि। चैत्रे हि पलाशिन्या लताया वैशाखे च माधव्या उद्विकाशो भवति। माधवो

विष्णुश्च माधव्या लक्ष्म्या वश्य इति ध्वन्यते। अपिच शूर्पणखोदितं पर्वतोपभोगप्राधान्यमनुसृत्य-पलाशित्वात् प्राक्तन-शमीद्रुमाकारत्वाद् मांसभक्षकत्वाच्च चैत्रेण पर्वतेन संमेलस्तवैवोचित इत्यपि गम्यते। ''चैत्रं मृते दैवकुले ना भूभृन्मासभेदयोः।'' इति मेदिनी ॥२६॥

अर्थ—शूर्पणखा की ये बातें सुनकर राम का कथन। आदिकवि वाल्मीकि की रचना जैसे प्रसादगुण युक्त है; छन्द अलंकार से शोभित है—वैसे ही प्रसन्न भाव से श्रीराम ने शूर्पणखा से कहा—

हे शूर्पणखे ! चैत्र स्वरूप लक्ष्मण है—उसके लिये तुम पलाशिनी लता की तरह उपयुक्त हो। पर, मैं हूँ, माधव यानी वैशाख, माधव को चाहिये माधवी यानी लक्ष्मी वैशाख मास को माधवी लता, उसी प्रकार माधव (विष्णु) के लिए माधवी (लक्ष्मी) उपयुक्त है ॥२६॥

विशेष—यहाँ पलाशिनी के दो अर्थ हैं, १. मांस खाने वाली, २. पलाश की लता/माधव-वैशाख, विष्णु। माधवी-माधवी लता और लक्ष्मी ॥२६॥

तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयते—

जनकसुतया सस्त्रीकोऽहं सदा हरिणीक्षणे !

ननु मदनुजोऽजानिर्जाने त्वमप्यधुनाऽधवा।

यदवसितवान् दैवोऽयोगोऽद्य दर्श इव स्फुर-

न्प्रतिपदिव मे त्याज्या विद्यार्थिनोऽपि मिलेन्दुना ॥२७॥

न्विति कोमलामन्त्रणे। हरिणीक्षणे हे मृगीलोचने ! अहं जनकसुतया जानक्या[1] सदा सस्त्रीकः पत्नी-सहितः। ''नद्यृतश्च'' इति कप्। अधुना इदानीम्। मदनुजः मम कनीयान् लक्ष्मणः अजानिः अविद्यमाना जाया पत्नी यस्य सः। ''जायाया निङ्'' इति निङादेशः। अहं जाने वेद्मि, त्वमपि (अधुना) अधवा अभर्तृका असीति शेषः। यद् यतः। दर्शः अमावस्यादिवस इवं स्फुरन् शोभमानः दैवः दैवसंबन्धी अयोगः असंबन्धः युवयोः (लक्ष्मणशूर्पणखयोः) इति भावः। अद्य अस्मिन् दिने। अवसितवान् अवसानम् (अन्तं) गतः अत[2] एव प्रतिपदिव प्रतिपत्तिथिरिव मे मद्रूपस्य विद्यार्थिनश्छात्रस्य त्याज्याऽपि वर्जनीयाऽपि। ''प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता। (वा०सुं०स-५९)'' इति वचनात्। अपिच विद्यार्थिनः सदसद्विवेकशालिनः परस्त्री त्याज्यैव भवतीति गम्यते। अथच ''या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता।'' इति वचनादादिशक्तिस्वरूपसीतामात्रसंबद्धस्य पुरुषस्य त्वं त्याज्यैवेति ध्वन्यते। त्वम् इन्दुना चन्द्रेण मदनुजरूपेण लक्ष्मणेनेति भावः। मिल संगच्छस्व। दर्शान्तस्थितायाः प्रतिपदश्चन्द्रेण नवीनेन सह योगस्यौचित्यम्। स च योगो भावी वा अभावीति रामहृद्गतं सन्दिग्धत्वमपि ध्वन्यते। अत्र प्रतिपदिन्दुशब्दौ एकसंख्याद्योतकौ। तेन एकाकिनी एकाकिना सह संगच्छेतेत्यपि ध्वन्यते। 'हरिणी' ति पदेन हरिणीवृत्तं सूचितम्। ''रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।'' इति तल्लक्षणम् ॥२७॥

अर्थ—इसी बात का प्रकारान्तर से समर्थन—हे मृगनयनी ! मैं तो जनक सुता से सस्त्रीक हूँ, मेरा छोटा भाई जिसकी यहाँ कोई स्त्री नहीं है और तू अभी अधवा बिना पति के यानी कुमारी हैं अतः दोनों का सम्बन्ध वांछित है। क्योंकि आज अमावस्या के दिवस की तरह तुम दोनों का दैव सम्बन्धी अयोग अन्त को प्राप्त हुआ है।

मुझसे यहाँ पर सम्बन्ध इसी प्रकार त्याज्य है, जैसे प्रतिपदा के दिन विद्यार्थी के लिये पढ़ाई त्याज्य होती है—अनध्याय के कारण ॥२७॥

विशेष—यह उपमा महर्षि वाल्मीकि से गृहीत है— प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥२७॥

---

१. ''जानकीं त्यज'' इति शूर्पणखया प्रयुक्तस्य वाक्यस्येदं प्रतिवचनम्।

२. दर्शापगमात् प्रतिपद उपस्थितिरुचितैव।

शूर्पणखाया लक्ष्मणोपगमनमाह—

त्यक्त्वा तं किल कामुकी तदनु सा

सौमित्रयेऽतिष्ठत

यं रम्यं रमयन्त्यभूदविरतं

श्रीराम-सेवाप्रिया।

तस्मात् स प्रतिबध्नतीमपि कृतिं

तामाह, संयच्छति-

दास्यै दास इहेश्वरस्य, नहि सोऽ-

दास्या तु संयच्छते ॥२८॥

तदनु तदनन्तरं सा किल कामुकी मैथुनेच्छावती "लषपतपद०" इत्युकञि 'जानपद-कुण्ड०' इत्यादिना ङीष्। तं रामं त्यक्त्वा। सौमित्रये लक्ष्मणाय अतिष्ठत स्थित्या स्वाभिप्रायं सौमित्रिं बोधयति स्मेत्यर्थः। "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इति संप्रदाने चतुर्थी। "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इति तङ्। यं रम्यं रमणीयं (सौमित्रिं) श्रीरामस्य सेवा एव प्रिया कान्ता अविरतं नित्यं रमयन्ती अनुरञ्जयन्ती अभूत् आसीत्। तस्मात् कारणात् कृतिं तद्रमणकार्यं प्रतिबध्नतीं विघ्नतीमपि तां स लक्ष्मणः आह उवाच। सरलतयोत्तरप्रदाने रामसेवैव हेतुरिति गम्यते। इह लोके। ईश्वरस्य दासः (ईश्वरस्य) दास्यै संयच्छति रतिफलकं दानं ददाति। स ईश्वरस्य दासः अदास्या ईश्वरस्य असेविकया तु नहि संयच्छते, रतिफलकं दानं न ददाति। "अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया" इति 'अदास्या' इत्यत्र तृतीया। "दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे" इति तङ्। अत्र प्रत्युदाहरणमपि संघटनीयम्। अयं भावः-अहं तु ईश्वरस्य (स्वामिनः दासः), अत ईश्वरदास्या सहैव शिष्टव्यवहारं करोमि, ईश्वरस्य अदास्या सह तु अशिष्टव्यवहारं कदापि न करोमि। दासीदास्योरेव शिष्टव्यवहार इति फलितार्थः ॥२८॥

अर्थ—शूर्पणखा का लक्ष्मण के प्रति कथन—वह कामातुरा राम को छोड़कर लक्ष्मण के पास आकर कहने लगी। लक्ष्मण जो कि राम की सेवा में ही लीन रहते थे-क्योंकि राम-सेवा रूपी प्रिया (कान्ता) ही उन्हें अविरत (नित्य) अनुरञ्जित करती थी। अतः उसका (शूर्पणखा) आना सेवा कार्य में बाधक स्वरूप लगा। क्योंकि सेवक तो स्वामी के प्रिय कार्यों की दासी के साथ ही रह सकते हैं, जो स्वामी के विरोधी कार्य से-यानी स्वामी के सेवा-कार्यों में बाधक हैं, ऐसे कार्य सेवक के लिये वर्ज्य हैं। वे (लक्ष्मण) उसे कहने लगे कि—इस संसार में ईश्वर का दास ईश्वर की दासी को रतिफल प्रदान करता है और वह ईश्वर का दास ईश्वर की सेवा न करने वाली दासी को रतिफल प्रदान नहीं करता ॥२८॥

लक्ष्मणस्य शूर्पणखां प्रति फलितम् उत्तरप्रदानमाह—

तमीचरी-स्वामिनि कामयस्व हेऽ-

तः स्वामिनं राघवमात्मकामिनम्।

प्रीतिश्च रक्तिः समयोः प्रियङ्करा

तदाशु सत्यापय हृत्प्रदानतः ॥२९॥

हे तमीचरीणां निशाचरीणां स्वामिनि ! स्वामिनम् अस्मदादीनां दासानाम् ईश्वरं राघवं रामम् आत्मकामिनम् आत्मनः स्वस्य कामिनं कामुकं कामयस्व इच्छ। स्वामि-स्वामिन्योरेवाऽनुराग उचितो न तु दासस्वामिन्योरिति भावः। तदेव अर्थान्तरेण द्रढयति-प्रीतिः स्नेहः रक्तिः अनुरागश्च समयोः सदृशयोः प्रियङ्करा हितकरी। भवतीति शेषः। "क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" चात्खच्। तत् तस्मात् कारणात्। हृदः स्वस्य हृदयस्य प्रदानतः। आशु शीघ्रम् सत्यापय सत्यां कुरु। रक्तिमिति शेषः। हृदयदानेनैव हृदयेश्वरो 'भवतीति' भावः। एतादृश्या राक्षस्याः रामशरकृतेन हृदयवेधेनैव परम-पदप्राप्तिपर्यायेण परमात्मसङ्गमेन अनुरक्तिः सत्या भवतीत्यपि ध्वन्यते। "सत्यार्थवेदानामापुग्" इति नामधातवीये णिच्यापुगागमः ॥२९॥

अर्थ—लक्ष्मण का शूर्पणखा के प्रति कथन–हे राक्षसियों की स्वामिनि ! तू हम दीनों के, (सेवकों) के स्वामी राघव के प्रति कामना कर, ये ही तुम्हारे प्रियतम होने के योग्य है। नियम है कि समान के साथ समान का मेल उचित है। स्वामी-स्वामिनी का मेल वाञ्छनीय है, न कि स्वामिनी और दास का। प्रीति और रति समान के साथ ही शोभनीय है। अपना हृदय देकर इसे सत्य कर। हृदय दान से ही प्रिय हृदयेश्वर होता है॥२९॥

विशेष—इससे यह भी ध्वनित होता है कि रामबाण ही तुम्हारे हृदय का वेध करेंगे॥२९॥

शूर्पणखायाः पुना रामं प्रति प्रार्थनं तत्रासाफल्यं चाह—

मत्वा वाचोयुक्तिमर्थ्यामनाथा
नाथीभावं नाथनाथं ननाथ।
स्तेनी लोप्त्रं वाऽस्य हार्दं तु हर्तुं
न प्राभूत्सा हृत्स्थसीताऽर्कदीप्त्या॥३०॥

न विद्यते नाथः स्वामी (प्रियो) यस्याः सा अनाथा। सा शूर्पणखा। वाचोयुक्तिं वचनचातुरीं लक्ष्मणस्येति शेषः "वागदिक्पश्यद्भ्यो क्तिदण्डहरेषु" इति षष्ठ्या अलुक्। अर्थ्याम् अर्थात् प्रयोजनादनपेताम्। "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इति यत्। हितामित्यर्थः। मत्वा ज्ञात्वा। नाथानाम् इन्द्रादीनां. नाथं स्वामिनं देवाधिदेवं श्रीराममित्यर्थः। नाथीभावं पतीभवनम्। च्व्यन्तोऽयम्। ननाथ ययाचे। नाथ आशिष्येवात्मनेपदमिति नियमादत्र परस्मैपदम्। तु किन्तु सा (शूर्पणखा) स्तेनी चौरी लोप्त्रं वा चौर्यधनमिव "लोप्त्रं तु तद्धने" इत्यमरः। हृत्स्था हृदयस्थायिनी या सीता सैव अर्कदीप्तिः सूर्यप्रभा तया (हेतुना)। अस्य नाथनाथस्य (रामस्य) हार्दं हृदयस्य कर्म प्रेमेत्यर्थः। युवादित्वादण् "हृदयस्य हृल्लेख०" इत्यादिना हृदादेशः। "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" इत्यमरः। हर्तुं वशीकर्तुं न प्राभूत् नो शशाक। सीतारूपसूर्यप्रभा-वशेन सा शूर्पणखा चौरी चौर्यधनमिव रामहृदयगतं प्रेम हर्तुं न शशाक तमोऽभावादिति भावः। शालिनीवृत्तम्॥३०॥

अर्थ—शूर्पणखा का राम के प्रति पुनः कथन–अपने लिये प्रिय को पाने की कामना से उस अनाथा ने इन्द्रादि के स्वामी राम से नाथ बनने की प्रार्थना की। राम के हृदय में सीतारूपी सूर्यप्रभा का निवास था, अतः दिन में ही चौर्यकर्म करने वाली की तरह राम के प्रेम की चोरी न कर सकी। अर्थात् सीतारूपी सूर्यप्रभा के कारण वह (शूर्पणखा) चौरी के धन की तरह रामहृदयगत प्रेम को हरण करने में समर्थ नहीं हुई। क्योंकि चोरी के लिये अन्धकार की आवश्यकता होती है॥३०॥

लक्ष्मणस्य शूर्पणखायाः कर्णनासिकच्छेदन-माह—

विदत्यथात्मविघ्नमेव जानकीं क्षणप्रभां
श्वसत्युदग्रतोऽभिसर्तुमैहत क्षपाचरी।
स्तनत्यतः स्म राघवाम्बुदस्तदिङ्गितानुग-
स्स यामिकोऽसिनाऽच्छिनत् तदीयकर्णनासिकम्॥३१॥

अथ क्षणेन तदीयसंवादकौतुकस्वरूपेण उत्सवेन[१] प्रकृष्टं भाति शोभते सा तां जानकीं सीतामेव आत्मनो विघ्नम् अन्तरायं विदती जानती। अत एव (कार्यसिद्ध्यभावेन) उदग्रतः उच्चैः "उच्चप्रांशून्नतो-दग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे" इत्यमरः। श्वसती उच्छ्वसतीत्यर्थः। क्षपाचरी राक्षसी शूर्पणखा। अभिसर्तुं संमुखमाक्रमितुं जानकीमित्याकृष्यते। ऐहत अचेष्टत। अतः कारणात् राघव एव श्यामत्वेन अम्बुदो मेघः स्तनति स्म गर्जति स्म। तस्य रामस्य यत् इङ्गितं मनोऽभिप्रायः तस्य अनुगः

१. "क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः।" इत्यमरः।

अनुसारी। स यामिकः प्राहरिकः लक्ष्मण इति यावत्। असिना खड्गेन कर्णौ च नासिका च कर्णनासिकं तत् "द्वन्द्वश्च प्राणि०" इत्येकवत्त्वम्। अच्छिनत् छिन्नवान्। अथ च—यदा काऽपि क्षपाचरी निशाचरी अभिसारिका[1] क्षणप्रभां विद्युतम् आत्मगोपनविषये विघ्नं मन्यमाना उच्छ्वसती अभिसर्तुं चेष्टते, तदा मेघे गर्जति सति विद्युत्प्रकाशेन मेघगर्जनेन च तस्याः (अभिसारिकायाः) भयादीङ्गितानुसारी यामिको राजप्राहरिकश्चौर्यव्यभिचारादिकर्मावेक्षी ताम् (अभिसारिकां) कर्णनासिकच्छेदेन दण्डयतीत्यर्थोऽपि ध्वन्यते। पञ्चचामरं वृत्तम्, "जरौ जरौ जगाविदं वदन्ति पञ्चचामरम्।" इति लक्षणात्॥३१॥

अर्थ—उस मिलनोत्सव में शूर्पणखा ने सीता(बिजली) को विघ्नरूप जानकर, उसी पर वह प्रचण्डता से झपटी थी कि इतने में श्याम मेघ की तरह राम ने गर्जना की, राम के मानसिक अभिप्राय को समझने वाले उस यामिक (पहरेदार) लक्ष्मण ने खड्ग से उस राक्षसी (शूर्पणखा) के दोनों कान और नाक काट लिये।

विशेष— जैसे कोई कृष्णाभिसारिका जा रही हो, वह प्रकाश को विघ्न रूपी जान रही हो। इतने में श्यामल मेघों से बिजली चमकी, उसके प्रकाश में कोई प्रहरी रात्रि में व्याभिचारनिरता किसी स्त्री को देखकर दण्डस्वरूप उसके नाक कान काट ले। यह दृश्य भी प्रकाश से ध्वनित है॥३१॥

लक्ष्मणकृतां तद्-गर्हणमाह—

मन्दां ततो रात्रिचरीं जगर्ह स,

हा धिक् प्रभुं तेऽव्ययमानिनं खरम्।

कष्टं, क्रियायुक्त्युपसर्गको यथाऽ-

पिः कामचारार्थमपीह शास्ति यः॥३२॥

ततस्तदनन्तरम्। स यामिको लक्ष्मणः। मन्दां स्वैरिणीं "मन्दोऽतीक्ष्णे च मूर्खे च स्वैरे चाभाग्यरोगिणोः। अल्पे च स्त्रिषु, पुंसि स्याद् हस्तिजात्यन्तरे शनौ।" इति मेदिनी। रात्रिचरीं राक्षसीं शूर्पणखाम् अभिसारिकामिति च ध्वन्यते। जगर्ह निनिन्द। अव्ययम् अविनाशिनम् आत्मानं मन्यते तम्। ते तव प्रभुं स्वामिनम् अधिकाररक्षितत्वात् स्पष्टं प्रभुत्वम्। खरं तन्नामानं राक्षसं हा इति खेदे धिक् धिक्कारः। "अभितः परितः" इत्यादिना धिगुपर्यादियोगे च द्वितीया। खरस्तीक्ष्णोऽपि भूत्वा यो वक्ष्यमाणमाचरति तस्मात्तं धिगित्यपि ध्वन्यते। कष्टमिति खेदे। उपसर्गम् उपप्लवं करोतीति उपसर्गकः। "उपसर्गः पुमान् रोगभेदोपप्लवयोरपि।" इति मेदिनी। क्रियायुक्तौ यज्ञानुष्ठानकर्मयोगे उपसर्गकः उपप्लवकारी यः (खरः) इह लोके विषये वा। कामचारार्थं स्वैरानुष्ठानम् अपि शास्ति शासनेन प्रकटीकरोति। स्वैराचरणशासको हि प्रभुः स्वाधिकाररक्षिता स्त्रीरपि शीलतो भ्रंशयति, अतो नाममात्रेण खरं तं प्रभुं धिगिति भावः। अत्रोपमामाह—यथा अपिः अपिशब्दः। अपीत्यव्ययं स्वं मन्यमानोऽपि प्रादीनां क्रियायोगे उपसर्गत्वेन उपसर्गीभवन् कामचारमर्थमनुशास्तीति एषा श्लिष्टोपमा। "अपिः संभावनाशङ्कागर्हणासु समुच्चये। प्रश्ने युक्पदार्थेषु कामचारक्रियासु च॥" इति हैमः। इन्द्रवंशावृत्तम्॥३२॥

अर्थ—लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के प्रति धिक् कथन—लक्ष्मण ने उस स्वैरिणी की निन्दा करते हुए कहा अपने आप को अविनाशी मानने वाले तेरे स्वामी खर राक्षस को धिक्कार है ,जो नाम से खर (तेज) या प्रखर है—परन्तु है अत्यन्त ढीला ढाला। तभी तो उस यज्ञ क्रिया को ध्वंस करने वाले खर राक्षस के शासन में इस प्रकार के स्वेच्छाचार के दृश्य देखने को मिलते हैं॥३२॥

१. वक्ष्यमाणेनोपलक्षणेन एषा कृष्णाऽभिप्रेतेति ज्ञेयम्।

विशेष– जैसे अपिशब्द अपने आपको अव्यय मानता हुआ भी क्रिया के योग में उपसर्ग होता हुआ कामचार अर्थ का अनुशासन करता है, उसी प्रकार खर भी कामचार (स्वैरानुष्ठान) को शासन द्वारा प्रकट करता है।

शूर्पणखायाः खरोपगमनं तद्वृत्तसूचनं चाह—

किष्कूत्क्षेपमतिव्यथोत्थितमपि
क्रोधोद्भवं व्यञ्जती
किन्दृप्यस्यपहन्मि ते मदमिति
न्यक्कुर्वती प्रस्थिता।
धां वा व्याकृतिरेव सा रघुवरं
सत्पोषधृत्यर्थकं
रामं सद्व्यनुबन्धमाख्यत खर-
प्रेक्षा-पथं संश्रिता ॥३३॥

अतिव्यथा कर्णनासिकच्छेदजा परमपीडा. तत उत्थितम् उत्पन्नमपि किष्कूत्क्षेपं हस्तोत्क्षेपणम्। "किष्कुर्हस्ते वितस्तौ च" इत्यमरः। क्रोधोद्भवं कोपजातं व्यञ्जती प्रकटयन्ती। अत्र मीलितालंकारः। किं दृप्यसि दर्पं करोषि ? ते तव मदं दर्पम् अपहन्मि चूर्णयिष्यामि। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्। इति एवं न्यक्कुर्वती तिरस्कुर्वती। लक्ष्मणमिति शेषः। प्रस्थिता सा व्याकृतिः विरूपा एव। खरस्य खराख्यस्य राक्षसस्य प्रेक्षा-पथं दर्शनमार्गम्। "प्रेक्षा धीरीक्षणं नृत्तम्" इति हैमः। संश्रिता गता खरेण दृष्टा सतीत्यर्थः। सतां साधूनां पोषः पोषणं धृतिर्धारणं धैर्यप्रदानं वा "धृतिर्धारणधैर्ययोः" इत्यमरः। अर्थः प्रयोजनं यस्य स तम्। सतां ग्राहकं पोषकं चेत्यर्थः। सद्व्यनुबन्धं द्वाभ्याम् अनुबन्धाभ्यां मुख्याऽनुयायिभ्यां सह वर्तमानम्। "अनुबन्धः शिशौ दोषोत्पादे मुख्यानुयायिनि। विनश्वरे प्रकृत्यादौ प्रवृत्तस्यानुवर्तने॥" इति मेदिनी। रघुवरं रघूणां श्रेष्ठं रामम् आख्यत आख्यानेन अकथयत्। अस्यतीत्यङ् पर्यचाययदित्यर्थः। का कमिवेत्यपेक्षा-यामुपमानमाह-व्याकृतिः व्याकरणव्यवस्था धां वा धाधातुमिव। यथा व्याकरणव्यवस्था धाधातुम् आख्याति तथा सा रामम् आख्यत। तत्पक्षे-खर-प्रेक्षापथं खरा तीक्ष्णा या प्रेक्षा बुद्धिः तत्पथं तद्विषयं संश्रिता आरूढा (व्याकृतिः)। अथ धां विशिनष्टि–सन्तौ विद्यमानौ पोषधृती धारणपोषणे अर्थौ वाच्ये यस्य स तम्। द्वाभ्याम् अनुबन्धाभ्यां विनश्वराभ्यां (इत्संज्ञकाभ्यां) डु-ञ्भ्यां वर्णाभ्यां सह विद्यमानम्। सार-घुवरं दे-धेऽपेक्षया सारौ[1] यौ घू[2] दाधारूपौ धातू तयोर्वरं श्रेष्ठम्, एकार्थाभिधानापेक्षयाऽनेकार्थाभि-धानादिति भावः। तेनैषोपमा श्लेषानुप्राणिता॥३३॥

अर्थ—शूर्पणखा का खर के पास जाना और यह कहना—नाक कान कटने की पीड़ा से व्याकुल अपने हाथों को कुहनी तक उछालती हुई, क्रोध को प्रकट करती हुई कहती रही—'धिक्कार है–तुम्हें ! क्या समझता है, तेरे घमण्ड को चूर-चूर करके छोडूंगी। सज्जनों के पोषक और धैर्य धारण करने वाले, तथा मुख्य अनुयायियों के सहित राम को कहा कि जैसे व्याकरण के विधान से 'डुधाञ्' धारण-पोषण अर्थ वाली धा धातु के डु-ञ् अनुबन्धों का लोप होता है उसी प्रकार तेरे अनुयायियों का नाश कर दूंगी। खर के पास पहुँची और राम ने उसके साथ क्या किया—यह कह सुनाया॥३३॥

अथ खरस्य रामस्य च युद्धाभिगमनमाह—

मत्वा सर्वमिदं खरः प्रकुपितः
सेनान्वितः प्रस्थितः

---

१. देङ्-धेटोर्हि दाधारूपत्वं कृत्रिमम्, अनयोस्तु स्वाभाविकमत एवानयोः सारत्वम्।

२. "दा-धा घ्वदाप्" इति सूत्रेणानयोर्घुसंज्ञा।

स व्यङ्गां द्विविधास्रिणीं च्युतकचां

रण्डां पुरस्कृत्य ताम्।

हित्वो सोऽपि लघुं धनूमपि शरं

तद्वत् स्त्रियं चानुजं

तोषादाह्वयमानमेनमनघः साघं

जिघांसुर्ययौ ॥३४॥

स खरः इदं सर्वं स्वगमनादिकर्णनासिकच्छेदान्तं वृत्तं मत्वा ज्ञात्वा। प्रकुपितः सन् सेनान्वितः। व्यङ्गां विगताङ्गां कर्णनासिकाहीनां। द्विविधं द्विप्रकारं यत् अस्रं रुधिरं अश्रु च "स्यादस्रं शोणितेऽश्रुणि" इति हैमः। तद्वर्ती च्युतकचां विकीर्णकेशीं तां रण्डां विधवां शूर्पणखां पुरस्कृत्य अग्रेकृत्वा। "पुरोऽव्ययम्" इति गतित्वात्कुगतीति समासे ल्यप्। प्रस्थितः। व्यङ्गत्वादिरण्डात्वान्तम्। उत्तरोत्तरोऽपशकुनप्रकारः सूचितः। तेनाऽत्र अनुगुणालङ्कारः। सोऽपि अनघो निष्पापो रामः। अत्र 'लघुम्' इति पदं चत्वार्यपि कर्मपदानि अन्वेति। लघुं मनोज्ञाम्। "कृष्णागुरुणि शीघ्रे च लघु क्लीबेऽगुरौ त्रिषु। निस्सारे च मनोज्ञे च पृक्कायां च लघुः स्त्रियाम्॥" इति रभसः। धनूं धनुः। अपि पुनः लघुं शीघ्रगामिनं नाराचापेक्षयेति भावः। शरं बाणं हित्वा धृत्वा। "दधातेर्हिः" इति ह्यादेशः। तद्वत् तत्तुल्यमिति क्रियाविशेषणम्। लघुं निस्साराम् (अबलां) मनोज्ञां वा स्त्रियं सीताम्। च पुनः। लघुं स्वापेक्षया अल्पम् अनुजं कनीयांसं लक्ष्मणं 'हित्वा' इति पुनराकृष्यते। अत्र हित्वा त्यक्त्वेत्यर्थः। "जहातेश्च क्त्वि" इति इत्वम्। अबलात्वेन हि स्त्री रक्ष्या। योधने च ज्येष्ठस्य स्वस्यैव योग्यत्वेन तद्रक्षायाः कनिष्ठेन कारणीयत्वात् तौ त्यक्त्वेति भावः। आह्वयमानं स्पर्धापूर्वकमाह्वयन्तम्। "स्पर्धायामाङः" इत्यात्मनेपदित्वेन शानच्। एनं साघं सपापं जिघांसुः हन्तुमिच्छुः। तोषात् प्रमोदाद्। ययौ जगाम। अनघः साघं हन्यादेव। धनूं, शरं; तद्वत् स्त्रियम् अनुजं च हित्वेत्यत्र श्लेषोज्जीवित तुल्ययोगिता ॥३४॥

अर्थ—खर का क्रुद्ध होकर राम पर आक्रमण : सारी बातें जानकर खर सेना को लेकर–शूर्पणखा–जिसके नाक कान से रक्त बह रहा था, जिसके बाल बिखरे थे और जो रांड (विधवा) थी उसे आगे कर लड़ने को चल पड़ा। (यहाँ कवि ने अपशकुनरूप से शूर्पणखा का वर्णन प्रस्तुत कर-भावी विनाश की व्यंजना की है।)।

इधर राम ने अपने धनुष पर शीघ्र ही बाण चढ़ाकर–सीता की रक्षा का भार छोटे भाई लक्ष्मण को सौंपकर-उस पापी के विनाश के लिये ललकार के साथ आनन्द पूर्वक चल पड़े॥३४॥

त्रिभिर्युद्धं वर्णयति—

जय्या चतुर्दशसहस्रचमूः किमित्थं

गाते स्म चित्रममराः स्त्र्यनुजौ च सेना।

मत्वा मृगानिव मृगारिरिमांस्तु भर्ताऽऽ-

चङ्क्रम्यत क्रमत आहत चेषुवर्षैः ॥३५॥

किं चतुर्दशसहस्रस्य राक्षसानामिति भावः। चमूः सेना जय्या जेतुं शक्या ? एकाकिना रामेणेति शेषः। इत्थम् एवम् अमरा देवाः चित्रम् आश्चर्यं गाते स्म गच्छन्ति स्म। स्त्र्यनुजौ सीतालक्ष्मणौ च चित्रं गाते स्म। सेना योद्धुमभिगतेति भावः। चित्रं गाते स्म। 'गाङ् गतौ" धातोर्लटः प्रथमपुरुषस्य वचनत्रयस्य रूपसाम्यं चमत्कारेण प्रदर्शितम्। दीपकालङ्कारः। भर्ता स्वामी रामस्तु इमान् सेना-गतान् चतुर्दशसहस्रराक्षसान् मृगारिः सिंहो मृगानिव मत्वा आचङ्क्रम्यत पुनः पुनरतिशयेन वा आक्रामति स्म। इषुवर्षैः बाणवृष्टिभिश्च आहत प्राहरत्। "आङो यमहनः" इत्यात्मनेपदे "हनः सिच्" इति कित्वान्नलोपः ॥३५॥

अर्थ—निम्न तीन श्लोकों में युद्ध का वर्णन : 'क्या अकेले राम, खर की इस चौदह हजार सैनिकों की विशाल सेना के साथ लड़कर उसे जीत सकेंगे ? इस युद्ध के दृश्य को देखकर आकाश में देवता, लक्ष्मण तथा सेना सीता आश्चर्य को प्राप्त कर रहे थे।

इधर राम ने सिंह की तरह- खर के उन सैनिकों को हरिणों के झुण्ड की तरह समझ कर बाण-वृष्टि से उन पर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया ॥३५॥

गुप्तीकृतान् खलु जनस्थितिदर्शरात्र्या

हांसाः करा इव शरा रघुनन्दनीयाः।

तद्वासरोषसि विभाति समूलघातं

दाक्ष्येण जघ्नुरिहरात्रिमटान्धकारान् ॥३६॥

खलु इति वाक्यालंकारे। स वासरो दिवस एव उषः प्रभातं तस्मिन् विभाति शोभमाने सति। इहाऽस्मिन् स्थाने। हांसाः हंसस्य सूर्यस्य इमे। "भानुर्हंसः सहस्रांशुः" इत्यमरः। कराः किरणा इव। रघुनन्दनीया रघुनन्दनसंबन्धिनः। गहादित्वाच्छः। शरा बाणाः। जनस्थितिः जनस्थानं, दण्डकारण्यान्तर्गतं स्थानं सैव दर्शरात्रिः अमावस्यारजनी तया गुप्तीकृतान् निलीनीकृतान् रात्रिमटा रात्रौ अटन्तीति ते राक्षसाः। "रात्रेः कृति विभाषा" इति मुमागमः। ते एव अन्धकारास्तान् दाक्ष्येण चातुर्येण। समूलघातं जघ्नुर्नाशयांचक्रुरित्यर्थः। "समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः" इति णमुल् ॥३६॥

अर्थ—वह जनस्थान (दण्डकारण्य) अमावस की रात है, उसमें राक्षस अन्धकार की तरह हैं। राम सूर्य की तरह है, उनके आने से वह स्थान प्रभात की तरह हो गया है। राम के बाण सूर्य की किरणों की तरह राक्षस रूपी अन्धकार को मिटाकर- शोभायमान हो रहे हैं। राक्षसों की विशाल चमू को राम ने धराशायी कर दिया ॥३६॥

तत्पश्चात् खरदूषणत्रिशिरसो

रात्रिञ्चरानीकिनी-

तोषान् ब्राह्म इव क्षणः स हतवान्

याम्या-त्रियामामिव।

गम्भीरं समघोषि शङ्खमुरजैः

सत्ताम्र-चूडैस्तथाऽऽ-

र्जद् रामः सुयशोऽपि मार्गशितिप-

क्षैकादशीचन्द्रवत् ॥३७॥

ततः पश्चात् ब्राह्मः क्षण इव ब्राह्ममुहूर्त इव। "क्षणो व्यापारशून्यत्व-मुहूर्तोत्सव-पर्वसु।" इति रुद्रः। स रामः। याम्याया रात्रेः। "श्यामा याम्या दोषा तुङ्गी भौती शताक्षी च।" इति त्रिकाण्डशेषः। त्रियामामिव आदिप्रहरत्रयमिव। रात्रिञ्चराणां राक्षसानाम् अनीकिनीं सेनां तोषयन्ति हर्षयन्ति तथाभूतान् इति पक्षद्वयेऽपि[1] खरदूषणत्रिशिरसः तदाख्यान् तत्सेना-ऽधीशान् हतवान् समापितवान्। मार्गकृष्णपक्षैकादशी-ब्राह्ममुहूर्तोऽपि[2] रात्रेर्यामत्रयं समापयति। शंखैः मुरजैः मृदङ्गैश्च गम्भीरं यथा स्यात्तथा समघोषि संघुष्यते स्म। तद्विनाशे मुनिकृतं शंखमुरजघोषणमुचितम्। ब्राह्ममुहूर्ते च तत् स्वाभाविकम्। तथा सन्तः सज्जना एव ताम्रचूडाः कुक्कुटास्तैः समघोषि। तदपि पक्षद्वये संगतमेव। अपि च। रामः मार्गस्य मार्गशीर्षस्य या शितिपक्षैकादशी कृष्णैकादशी रात्रिस्तस्याश्चन्द्रः तद्वत् सुयशः आर्जत् उपार्जितवान्। मार्गकृष्णपक्षैका-दश्याश्चन्द्रो रात्रेर्यामत्रये व्यतीते ब्राह्ममुहूर्तेन प्राप्यत एव। अवशिष्टयशश्चन्द्रोपार्जनं तु नर-रूपकल्पनायां रावणवधेनैवेत्यपि गम्यते। मार्गकृष्णैकादशी उत्पत्ति नाम्नी च आदि -(श्रीराम) शक्ति-प्रदर्शितदैत्यवधेन प्रख्यातेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया ॥३७॥

अर्थ—उसके बाद खरदूषणत्रिशिरा के नेतृत्व वाली राक्षसों की सेना जो त्रियामा तीन प्रहरवाली यामा रात्रि की तरह थी-राम ने ब्राह्म मुहूर्त की तरह आकर उसका विनाश कर दिया।

---

१. प्रस्तुतेऽप्रस्तुते च पक्षे इति भावः।

२. अयं ब्राह्ममुहूर्तो मार्गकृष्णैकादश्या विवक्षित इति वक्ष्यमाणेन वाक्येन स्फुटीस्यात्।

प्रभात में जैसे मुर्गा बांग देता है, वैसे ही मुनियों ने विजय के शंख और मुरज की ध्वनि कर हर्ष से विजय की घोषणा की।

मार्गशीर्ष के महिने की कृष्णपक्ष की रात्रि में तीन प्रहर गए जैसे चन्द्र उदित होकर अपनी चाँदनी छिटकाता है, उसी प्रकार इन तीनों के विनाश से राम की कीर्ति कौमुदी चतुर्दिक् व्याप्त हो गयी ॥३७॥

लक्ष्मणकृतं शूर्पणखायाः पुनः प्रहासं कल्पयति—

धन्वी लक्ष्मण आत्तहासकुतुको
जातु भ्रमन्तीं वने,
रिक्ते शूर्पणखामुवाच खरणः
सत्कर्णि किं स्वस्ति ते।
वक्रोक्तिं विनिशम्य सोत्थितनवा-
मर्षप्रकर्षा निजो-
रःपट्टं स्पृशती करेण विवृतो-
त्कर्षाऽऽह नस्येतरम् ॥३८॥

धन्वी धनुर्धरः। आत्तं गृहीतं हासकुतुकं प्रहासकौतुकं येन सः। लक्ष्मणः। जातु कदाचिद्। रिक्ते शून्ये वने। भ्रमन्तीं शूर्पणखाम् उवाच-खरा तीक्ष्णा नासिका यस्याः सा तत्संबुद्धौ हे खरणः अथ च खरः तदाख्यो राक्षसः एव नासिका यस्याः सेति ध्वन्यते। "खुरखराभ्यां वा नस्" इति नसादेशः। हे सत्कर्णि शोभनकर्णे सन्तौ विद्यमानौ कर्णौ चटुश्रवणरसिकौ दूषणत्रिशिरसौ यस्याः सेति च ध्वन्यते। "नासिकोदरौष्ठदन्तकर्णशृङ्गाच्च" इति वा ङीष्। छिन्नकर्णनासिकत्वात् काकूक्तिरियम्। किं ते स्वस्ति क्षेममस्तीति शेषः। "नमः स्वस्ति०" इति चतुर्थी। सा शूर्पणखा वक्रोक्तिं कुटिलवचनं लक्ष्मणस्येति भावः। विनिशम्य श्रुत्वा। उत्थितः उत्पन्नः नवस्य नवीनस्य अमर्षस्य क्रोधस्य प्रकर्षः उत्कर्षः यस्याः सा तथोक्ता। करेण हस्तेन निजम् उरःपट्टं वक्षःस्थलं स्पृशती उद्घोषयन्ती। विवृतः प्रकटितः उत्कर्षः स्वप्रकर्षो यया सा तथोक्ता सती। अत एव नस्येतरं नासिकास्थानीयवर्णरहितम् आह उवाच। नासिकास्थानीयवर्णोच्चारणे तु नासिकाऽभावेन तादृशां वर्णानामुच्चारणव्याघातेन स्वाऽप्रकर्षः स्फुटीभवेत् अत उत्तरपद्यस्य निर्नासिक्यत्वहेतुरपि कविना दर्शितः ॥३८॥

अर्थ—लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के प्रति विनोदवचन–धनुर्धर लक्ष्मण ने सुनसान (निर्जन) स्थान में घूमती शूर्पणखा को देखकर उपहास करते हुए कहा– हे खरण ! हे तीक्ष्ण नाक वाली या खर राक्षस ही जिसका नाक था उस पर गर्विता, एवं शोभन कर्ण वाली–हे शूर्पणखे ! क्या तुम्हारा क्षेम है ?

यहाँ नाक कान के न होने से नकटी और बूची न कहकर व्यंग्य से नुकीले नाक वाली व सुन्दर कानों वाली कहा।

इस वक्रोक्ति को सुनकर क्रोध में भरकर अपनी छाती पर प्रहार कर प्रतिज्ञारूप से (नासिका के कट जाने से) बिना नासिका के उच्चरित होने वाले शब्दों में कहा।

यदि नासिका से उच्चरित शब्दों में कहती तो शुद्ध उच्चारण न होने से नकटी होने का भाव विदित हो जाता है, अतः नासिका से उच्चरित वर्णों को टालकर अपने क्रोध की निम्न व्यंजना की ॥३८॥

शूर्पणखायाः प्रतिवचनमाह—

सुभ्राजेऽद्य खरादिकत्रयलयाद्
विग्राऽपि विश्रोत्रिकाऽ-
ग्रीभूतोच्चरितो गलोऽस्त्यवरजो
यत् स्तो दृशौ चाग्रजौ।

वोढारः किल ते त्रयस्त्रिजगतः

पादा इव त्रैपदा

हे वाचाटक पार्शुकेऽपि सति ते

शेषाऽस्ति वाचालता ॥३९॥

(निर्नासिक्यम्)

अहं खरादिकानां खरदूषणत्रिशिरसां त्रयस्य लयाद् नाशात् विग्रा विगतनासिकाऽपि। "वेर्ग्रो वाच्यः" इति नासिकाया ग्रादेशः 'विख्येति' पाठे तु "ख्यश्च" इति ख्यादेशः। विश्रोत्रिका विगतकर्णाऽपि। अपिशब्दोऽत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन द्विरन्वीयते। अद्य अस्मिन् दिने। सुभ्राजे सुतरां शोभे। खररूपनासानाशेन विगतनासिकाऽपि दूषणत्रिशिरोरूपकर्णनाशेन विकर्णाऽपि अहं सुतरां शोभामावहामीति भावः। केनाभिमानेन अद्यापि सुशोभा? इत्यपेक्षायां हेतुं न्यस्यति–यद् यतः कारणात्। अग्रीभूतं प्रधानीभूतम् उच्चरितम् उत्कृष्टं चरितं[1] नादरूपं उच्चरणं[2] च यस्य सः अवरजः कनिष्ठः विभीषणः गलः कण्ठोऽस्ति। ममेति शेषः। च पुनः। अग्रजौ ज्येष्ठौ भ्रातरौ कुम्भकर्णरावणौ दृशौ नेत्रे स्तः। कर्णनासिकच्छेदेऽपि कण्ठस्य दृशोश्च विद्यमानत्वेन परमहान्यभावात् सुशोभैवेति तात्पर्यम्। किलेति ख्यातौ। ते त्रयोऽपि भ्रातरः त्रिजगतः वोढारः धर्तारः सन्तीति शेषः। त्रयः पादाः (त्रिलोकीमानोपयुक्ताः) यस्य स त्रिपात् त्रिविक्रमः तस्य। "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पा ँसुरे।" तथा "त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः" इत्यादयः श्रुतयः। "संख्यासुपूर्वस्य" इत्यलोपः "पादः पत्" इति पदादेशश्च। "रन्तिदेवशिवकीर्तनौ त्रिपात्" इति त्रिकाण्डशेषः। त्रिपद इमे त्रैपदाः। विष्णुसम्बन्धिन इत्यर्थः। पादाः (त्रयः) चरणाः। तथा तेऽपि त्रिजगद्धर्तार इति भावः। अन्तिमेन निष्कर्षेण लक्ष्मणमाक्षिपति–हे वाचाटक बहुकुत्सितवाक् ! "आलजाटचौ बहुभाषिणि" 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' इति आटच्। ततः स्वार्थे कन्। पार्शुके पर्शुः कुठारः प्रहरणमस्येति तस्मिन् परशुरामे इत्यर्थः। "प्रहरणम्" इति ठक् "इसुसुक्तान्तात् कः" इति तस्य कः। सति विद्यमानेऽपि वाचालता बहुकुत्सितभाषित्वम्। शेषा अवशिष्टाऽस्ति ? तथा न स्यादिति भावः। पार्शुके पार्शुप्रहरणे कस्मिन्नपि सति च वाचा एव लता वाचा-लता कुतोऽवशिष्येतेत्यपि ध्वन्यते ॥३९॥

अर्थ—शूर्पणखा का उत्तर–खर, के न होने से यानी मेरी नाक कट गई, (मानों खर गया), दूषण व त्रिशिरा के रूप से मेरे कान भी कट गये; तीनों के मरने पर भी मेरी शोभा में अभी रंच मात्र भी कमी नहीं।

क्योंकि अभी मेरा एक छोटा भाई विभीषण– मेरे कण्ठ के रूप में शेष हैं और दो बड़े भाई रावण तथा कुम्भकर्ण नेत्रों के रूप में विद्यमान है। ये तीन त्रिपाद– वामन से किसी भी प्रकार कम नहीं। जैसे वामन ने तीन कदमों से ब्रह्माण्ड को माप लिया था; उसी प्रकार से ये तीन मेरे भाई इस सारी सृष्टि को काबू में करने वाले (शक्तिरूप) हैं।

पर, अरे लक्ष्मण ! तू तो अभी भी बकवास करना बन्द नहीं करता है, जब कि परशुधर ने तेरी वाचा रूपी लता को (वाचालता को) अपने परशु से काट लिया था। यहाँ कवि ने परशुराम और लक्ष्मण के संवाद की ओर इंगित किया है ॥३९॥

ततो लक्ष्मणस्य प्रतिवचनमाह—

मन्दस्मितैः कथितवान् स इदं निशम्य

पिङ्गाक्षि ! कालकवलीभवतो दृशौ ते।

गच्छेच्छिदां न गल उच्चरितौक एके-

ल, स प्रमुस्त्वजनु लालन-भावतस्तम् ॥४०॥

---

१. अवरज (विभीषण)-पक्षे।

२. गल-(कण्ठ)-पक्षे।

रा लक्ष्मणः। इदं निशम्य मन्दस्मितैः। मन्दहासैः उपलक्षितः "इत्थंभूतलक्षणे" इति तृतीया। कथितवान्–पिङ्गे पिशङ्गे अक्षिणी यस्याः सा तत्संबुद्धौ हे पिङ्गाक्षि ! ते दृशौ नेत्रे कुम्भकर्णरावणरूपे कालकवलीभवतः कालग्रासीभविष्यतः। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्। उच्चरितौकः उत्कृष्टचरितस्य उच्चारणस्य च ओकः स्थानं गलः कण्ठो विभीषणरूपः। छिदां छेदं नाशमित्यर्थः। "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इत्यङ्। न गच्छेत् नो प्राप्नुयात्। संभावनायां लिङ् एका अद्वितीया इला वाणी यस्य सः एकेलः। "गोभूवाचस्त्विडा इलाः" इत्यमरः। दृढवचन[1] इत्यर्थः। स प्रभुः स्वामी रामः लालन-भावतः ललनायाः स्त्रियाः अयं लालनः स्त्रीसंबन्धी तस्य भावस्तस्मात्। गलस्य स्त्रीसंबन्धित्वादिति भावः। तं गलं (विभीषणं) त्यजतु मुञ्चेत्। अथ च-विभीषणस्य स्वभक्ततया लालनभावतः लालनं प्रीतिपोषणं तस्य यो भावः मानसो विकारः तस्मात् (कारणात्) तं त्यजत्वित्यपि ध्वन्यते॥४०॥

अर्थ—लक्ष्मण का प्रत्युत्तर–ऐसा सुनकर लक्ष्मण ने मुस्कराते हुए जवाब दिया। अरे पीले नेत्रों वाली–तुम्हारे दो नेत्र जो रावण व कुम्भकर्ण हैं–समझो वे तो काल के ग्रास बनेंगे (मारे जायेंगे)। रह गया–गलरूप विभीषण ! उसको तो भगवान् राम ने तुम्हें नारी समझ कर अथवा अपना भक्त समझकर-प्यार के कारण छोड़ दिया हैं।

यहाँ लालनभाव में श्लेष है। ललना (स्त्री) सम्बन्धी शूर्पणखा के सन्दर्भ में और लालन-प्रियता के अर्थ में विभीषण के प्रति, शरणागतवत्सलता के कारण॥४०॥

---

१. दृढवचनत्वं तु कर्णनासिकाच्छेदावसरप्राप्तं स्मारयति, तदा मारणस्य निषिद्धत्वादिति भावः।

क्रुद्धायाः शूर्पणखाया रावणं प्रति गमनमाह—

तेन तस्य वचोघृताहवनेन तत्प्रतिघानलोऽ-
नल्पहेतिनिदर्शनोऽप्रियदर्शनोऽलमधुक्षत।
नाऽतृपद्धतिवाचिकं किल साऽऽदिनाऽन्तकलक्षणं
देशवंशरविं प्रयाप्य, गताऽऽत्मनापि तमीश्वरम्॥४१॥

तेन तस्य लक्ष्मणस्य वचो वचनमेव घृताहवनं घृताहुतिः तेन। अनल्पाः हेतयः[2] आयुधानि ज्वालाश्च निदर्शनं प्रमाणं यस्य सः। अत एव अप्रियदर्शनो भयङ्करः। तस्याः शूर्पणखायाः या प्रतिघा[3] क्रोधः स एव अनलः अग्निः अलम् अत्यर्थम् अधुक्षत प्राज्वलत्। तत्परिणाममाह–किलेति संभावनायाम्। सा शूर्पणखा देशवंशयोः स्वदेशकुलयोः रविं सूर्यं रावणमित्यर्थः। आदिना प्रारम्भेण (सह) अन्तमेव अन्तकम् अवसानं लक्षयति बोधयति तद्। हितं प्रेषणयोग्यत्वेन पथ्यम्। वाचिकं संदेशम्। प्रयाप्य संप्रेष्य न अतृपत् नो तृप्तिं गता। (किन्तु) आत्मनाऽपि स्वयमपि तम् ईश्वरं स्वामिनं रावणं गता। स्वयं गत्वा सर्वं व्यतिकरं कथितवतीति भावः। अथच–अः अकारः आदिर्यस्य तत् आदि, तथा नः नकारः अन्ते यस्य तत् नान्तम् इति च तद् नान्तकं[4] चेति आदि–नान्तकं तथाभूतं लक्षणं[5] नाम यस्य स तम् अकम्पनमित्यर्थः। तन्नामानं राक्षसं हितवाचिकं धृतसंदेशं प्रयाप्य प्रेष्य इत्यप्यर्थो गम्यते। ध्वन्यर्थस्तु-दिनान्तक-लक्षणं सायंकालचिह्नस्वरूपं हितवाचिकं हितं संदेशं रविं प्रयाप्य नाऽतृपत्। किन्तु स्वस्य देशकुलघातित्वेन आत्मना तमी रात्री सा ईश्वरं स्वामिनं देशवंशरविं (रावणं) गता। तदस्तीकरणहेतुभूतैव गतेति भावः। दिनान्तरूपे संदेशे तु किञ्चिद् देशवंशरवेः

---

२. "रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः" इत्यमरः।
३. "प्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ।" इत्यमरः।
४. स्वार्थे कन्।
५. "लक्षणं नाम्नि चिह्ने च" इति मेदिनी।

(रावणस्य) अन्तिमम् अवस्थानं स्यात् परं तम्यां रात्र्यां (शूर्पणखायां) गतायां तु पूर्णतयाऽस्तमनमेव अतिक्रुद्धस्रीकृतो राक्षसवंशदेशनाश इति तात्पर्यम्। इत्यनेन अकम्पनवचनस्य किंचिदुपेक्षणं, शूर्पणखावचनेन तु रावणस्य परिकरबन्धः स्फुटं ज्ञाप्यते। हरनर्तनं वृत्तम्। तल्लक्षणं तु–"सौ जजौ भरसंयुतौ करिबाणखैर्हरनर्तनम्।" इति ॥४१॥

अर्थ—लक्ष्मण की वाणी ने शूर्पणखा की क्रोधाग्नि को भड़काने वाली आहुति का काम किया। यद्यपि रावण को यह सब सूचनाएँ अकम्पन नामक राक्षस ने दे दी थी। इससे शूर्पणखा का सन्तोष नहीं हुआ। वह राक्षसी स्वयं रात्रि की तरह रावण के पास पहुँची अपने देश और वंश के सूर्य रावण के पास वह ऐसे गई जैसे सायंकाल के समय में सूर्य के पास रात्रि जाकर सूर्य के भावी विनाश को बता रही है ॥४१॥

क्रुद्धस्य रावणस्य मारीचोपगमनमाह—

नन्वस्यास्तु वचो निशम्य कुतुका-
दामूलचूलं गतो
मन्युं रावण एकरूपसुषमां
सीतां जिहीर्षुर्व्रजन्।
हर्तव्या नहि पश्यतो रघुपतेः
सेत्यूहमानो हृदि
तावत् कार्य-सहायतार्थमगमन्
माया वि-मारीचकम् ॥४२॥

ननु इति संभ्रमे। अस्याः शूर्पणखायास्तु[1] कुतुकात् वृत्तश्रवणकुतूहलात् आमूलचूलं मूलात् प्रारम्भादारभ्य चूलापर्यवसानपर्यन्तम् वचो वचनं निशम्य। मन्युं क्रोधं गतः सन्। एका अद्वितीया रूपस्य सुषमा परमशोभा यस्याः सा तां सीतां जिहीर्षुः अपहर्तुमिच्छुः व्रजन् गच्छन्। रावणः 'पश्यतो रघुपतेः रामस्य "षष्ठी चानादरे" इति षष्ठी। सा सीता नहि हर्तव्या न हर्तुं शक्या' इति हृदि मनसि ऊहमानः तर्कयन् सन् तावत् पूर्वं कार्यसहायतार्थं मायाविनं मारीचकं मारीचं नाम राक्षसम्। अगमत् प्राप्नोत् ॥४२॥

अर्थ—क्रुद्ध रावण का मारीच के पास जाने का वर्णन–रावण ने शूर्पणखा से सारी बातें सुनी। सुनकर वह क्रोध में भर गया। उसने अद्वितीय सुन्दरी सीता के हरण का निश्चय किया। राम के होते हुए सीता का हरण कैसे होगा–इस तर्क-वितर्क में उलझा वह मायावी मारीच के पास इस कार्य में–(सीता हरण के कार्य में) सहायता के लिये पहुँचा ॥४२॥

तदानीन्तनीं मारीचस्य परिस्थितिं वर्णयति—

निर्णीयान्तिकमागतं रघुवरं
सुंन्दस्य सूनुस्तदा
जप्यं रामजपं जपन्नपि भयात्
तामाकृतिं भावयन्।
गार्भागार-तले वसन्नपि गृहे
दत्त्वा कपाटार्गलं
मध्येऽप्यैक्षत राममाह्वय इव
व्यस्तत्वतस्तु स्थितम् ॥४३॥

तदा तस्मिन् काले सुन्दस्य सुन्दनाम्नो दैत्यस्य सूनुः पुत्रो मारीचः। भयात् तां विश्वामित्राश्रमस्थां स्वमारणोद्यताम् आकृतिं श्रीरामरूपं भावयन् स्मरन्नपि। जप्यं भयावेशाज्जपनार्हं रामजपं रामरामेति मानसिकमन्त्रजपं जपन् मनोविषयीकुर्वन्। गृहे कपाटस्य अर्गलं दत्त्वाऽपि गार्भागारे गर्भागारसंबन्धिनि तले अधःस्थाने वसन् 'कदापि रामोऽत्रापि आगच्छेत्' इति

1. तुशब्दोऽत्र अकम्पनेन प्राक् कथितस्य संदेशस्योपेक्षणं द्योतयति।

भयादिति भावः। मध्ये गर्भागारतलमध्येऽपि व्यस्तत्वतः व्यस्ततया तु, न तु समस्ततयेति भावः। सर्वव्यापिरूपेणेति तात्पर्यम्। रामम् ऐक्षत दृष्टवान्। एतावन्तं स्वगुप्तेः प्रयत्नं कृत्वापि तत्र व्यस्तत्वरूपेण तु दृष्टवानेवेति भावः। कस्मिन्निवेत्यपेक्षायामुपमिमीते— आह्वये इव स्वीयनाम्नीव। (मारीच) इति नामपदेऽपि रेफमकारौ स्वरतः पृथक् क्रियमाणौ 'माच' इत्यनयोर्वर्णयोः 'आ-अ' स्वराभ्यां यथासंख्यं योज्यमानौ च 'राम' इति व्यस्तत्वतः व्यतिक्रमरूपेण दृश्यत एव ॥४३॥

अर्थ—उस समय मारीच की परिस्थिति का वर्णन–सुन्द के पुत्र मारीच को जब (विश्वामित्र के यज्ञ रक्षण के समय राम) ने बिना नोक के बाण का प्रहार कर–यहाँ पटक दिया था–उसकी वीरता से अभिभूत वह डर के मारे गर्भगृह अपना कर, उसके कपाट में आगल लगाकर डर के मारे राम-राम जपता हुआ–भय में डूबा रहता था। कभी-कभी कोई मारीच कहकर भी पुकारता तो मारीच को अपना बीच का री सुनाई नहीं देता और माच सुनाई देता और माच के आ-अ-स्वर गायब हो जाते केवल 'म' सुनाई देता और बीच का 'री' रहता है और 'मा' का आ र में लग जाता और कोरा 'राम' ही सुनाई देता ॥४३॥

विशेष—यहाँ कवि ने मारीच की भयातुरता को अनोखे ढंग से व्यंजित किया है। राम के भय से मारीच केवल राम जपता और वही सुनता था ॥४३॥

रावणमारीचयोर्मेलनमाह—

हस्तैस्तस्य मुखैश्च सार्धमररे
संशब्दिते रक्षसो
रीणस्वेद उवाच कस्क इति स,
स्माहेत्यसौ रावणः।
श्वस्तिं प्राग् जहदेष रा-श्रवणतो
ऽथाऽन्ते समाश्वस्य तू-
रःसंश्लेषणतोऽमिलद् विघटित-
द्वाः शर्म चाऽऽपृच्छत ॥४४॥

तस्य रक्षसो रावणस्य हस्तैः। च पुनः। सार्धं सहैव। मुखैश्च अररें संशब्दिते सम्यक् शब्दिते सति। हस्तैस्तु अररे[1] कपाटे संशब्दिते खटकटाकृते इति ध्वन्यात्मकः शब्दो ज्ञेयः। मुखैश्च 'अररे' इति शीघ्रप्रत्युत्तरलिप्सया साहंकारे सम्बोधने संशब्दिते इति वर्णात्मकः शब्दो ज्ञेयः। समानत्वेन सहोक्त्या वर्णने चमत्कारातिशयः। स मारीचः रीणस्वेदः प्रस्रुतघर्मजलः। राम एवागत इति भयावेशादिति भावः। कः कः इति उवाच। "कस्कादिषु च" इति सत्वम्। असौ रावणः आह स्म–रावण इति। एष मारीचः प्राक् पूर्वं 'रा' मात्रश्रवणात् श्वस्तिं श्वासक्रियां "तितुत्रतथ०" इतीडभावः। जहत् त्यजन्। रामात्रश्रवणात् 'राम एवागत' इति भयातिशयादिति भावः। अथ अन्ते अवशिष्टवर्णश्रवणान्ते तू पूर्णे श्रवणशब्दे श्रुते इति भावः। समाश्वस्य समाश्वासं गृहीत्वा तु। विघटितद्वाः उद्घाटितद्वारः सन्। उरःसंश्लेषणतः मातुलभागिनेय-स्नेहप्रदर्शितेन वक्षःस्थलालिङ्गनेन अमिलत्। शर्म क्षेमं च आपृच्छत। "आङि नु प्रच्छोः" इत्यात्मनेपदम् ॥४४॥

अर्थ—रावण व मारीच के मिलन का वर्णन–रावण ने मुख से 'अररे' कहकर और कपाट पर हाथों से खटखट शब्द किया। कपाट खुलने से अररे की ध्वनि सुनकर मारीच इस 'र' को सुनकर घबड़ाहट के मारे 'राम' आ गए हैं–ऐसा लम्बी सांस लेकर अनुभव किया। 'कौन है ?' यह सुनकर रावण ने कहा 'क्यों ? मैं हूँ रावण' पूरा शब्द सुनकर आश्वस्त हुआ 'रावण है अतः कपाट खोले दोनों (मामा-भानजा) ने एक-दूसरे का प्रगाढ़ आलिङ्गन किया और परस्पर कुशल पूछा ॥४४॥

---
१. कपाटमररं तुल्ये' इत्यमरः।

अथ द्वाभ्यां तयोः संलापमाह—

अन्ते तदाशयमवेत्य स ताडकेयोऽ-

नुख्याप्य रामभुजवीर्यमथानुभूतम्।

मा स्त्रीमणी-हृतिकृते स्पृश भोगभूम-

न्यन्ताय सुप्तमहिमित्युपदिष्टवाँस्तम्॥४५॥

अन्ते परस्परकुशलप्रश्नानन्तरम्। स ताडकेयः ताडकाया अपत्यं मारीचः। "स्त्रीभ्यो ढक्" इति ढक्। तदाशयं तस्य रावणस्य आशयम् सीताहरणरूपम् अभिप्रायम्। अवेत्य ज्ञात्वा। अथ च अनुभूतं स्वानुभवविषयीकृतं रामभुजवीर्यं राघवबाहुबलम् अनुख्याप्य प्रख्याप्य प्रकटय्येत्यर्थः। भोगभूमनि राज्यस्त्रीप्रभृतिभोगस्य भूमनि बाहुल्ये (सति) स्त्रीमण्याः सुन्दरीरत्नस्य हृतिकृते अपहरणाय सुप्तं निद्राणम्। अहिं सर्पम्। रक्षोविनाशनिवृत्तरामरूपमिति भावः। अन्ताय नाशाय। सु शोभना सा[1] जटा यस्य स तं चेत्यपि ध्वन्यते। मा स्पृश। इति एवम्। तं रावणम् उपदिष्टवान्। भोगे सति भोगाय उपभोगाय। अहिफणायेति ध्वन्यते। सुप्ताहिस्पर्शनं मूर्खतैवेति भावः। अहिफणस्पर्शनं विना मणिर्हि न लभ्यते। तत्स्पर्शेन च दंशान्नाशो भवत्येव॥४५॥

अर्थ—रावण व मारीच की बातचीत—कुशल प्रश्न के बाद मारीच ने रावण के सीताहरण सम्बन्धी आशय को जाना तो उसके मन में राम की शक्तिशाली भुजा की याद हो आई। उसने रावण को मना करते हुए कहा—"तेरे पास प्रभूत मात्रा में भोग सामग्री है; फिर तू क्यों सोते नाग को जगाकर उसके शिर की मणि को छीनने के प्रयास में मौत को क्यों बुला रहा है॥४५॥

विशेष—मणिधर सांप की मणि को छीनने के पहले उसके फणों से निपटना पड़ता है मणि तो हाथ आयेगी नहीं और अहिदंश से मौत सामने दीखती है। बलवान् राम से वैर कर मौत को बुलाना है—सामने सर्वनाश है॥४५॥

तम्पथ्यं सोऽप्रियमपथगो

ऽस्योपदेशं निरास्थ-

दासन्नान्तोऽगदमिव गदी

स्वाऽगदङ्कारमौलेः।

तावत् त्वाऽन्तं नय इति सरुट्

स्वोक्तिमाम्रेडयंश्चे-

रांचक्रे तं, यदि दिधरिषा,

रुक्मरङ्कूभवेति॥४६॥

पथोऽभावः अपथम्। "पथो विभाषा" इत्यः। "अपथं नपुंसकम्" इति नंपुसकत्वम्। अपथं गच्छतीति अपथगः शास्त्रदर्शितमार्गाऽतिगामी आसन्नान्तः संनिहितमरणः स रावणः। तम् अप्रियं स्वस्याऽप्रीतिकरम्। पथ्यं हितम्। अस्य मारीचस्य। उपदेशं निरास्थत् उपेक्षितवान्। अत्रोपमिमीते—अपथगः कुपथ्याश्रितः अत एव आसन्नान्तः। एतद्विशेषण-द्वयमत्राऽप्यन्वीयते। गदीरोगी स्वस्य आत्मनः अगदङ्कारमौलेःवैद्यमुकुटस्य "कारे सत्यागदस्य" इति मुम्। अगदम् औषधमिव। 'त्वा त्वाम् अन्तं नाशं नये प्रापयामि तावत् मारयाम्येव इत्यवधारणार्थेऽत्र तावत्' इति सरुट् सक्रोधं स्वोक्तिं स्ववचनम् आम्रेडयन् द्विस्त्रिर्वा वदन् च। स रावणः "आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तम्" इत्यमरः। यदि चेद्। दिधरिषा जीवितुमिच्छा। "किरश्च पञ्चभ्यः" इति धृङःसनीट्। (तर्हि) रुक्मरङ्कूभव अभूतः रुक्मरङ्कुः स्वर्णमृगो भवेति तं मारीचम् ईरांचक्रे प्रेरितवान्। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥४६॥

अर्थ—मारीच ने हित की बात कही थी; पर उसे पसन्द नहीं आई, जैसे कोई वैद्यशिरोमणि किसी रोगी को पथ्य की बात कहे और वह उसे न माने तो इसका मतलब है—वह मरने की तैयारी कर रहा है।

---

१. 'व्रतिनस्तु जटा सटा' इति पाठो 'व्रतिनः सा जटा सटा' इतीदृशः केष्वपि मूलपुस्तकेषु लभ्यते।

रावण भी मारीच पर बिगड़ गया और उसे मारने की धमकी देते हुए कहा–उपदेश रहने दे; तुझे तो माया का स्वर्णमृग बनकर सीता को छलना है।" यदि तैयार नहीं तो सामने मौत है। जीने की इच्छा है या नहीं–"देख ले" ॥४६॥

स्वर्णमृगीभूतस्य मारीचस्य कुटीरगमनमाह—

सुश्रेयाः परतो वधेन तदितो
नेत्यन्तरातर्क्य स
ग्रीवाभागविभावितादद्भुतविभो
वैदूर्यशृङ्गाङ्कितः।
वेगान्नीलमणीमयीकृतखुरो
दीप्राननः काञ्चनै-
णत्वं प्राकृतमेव कृत्रिममपि
व्यञ्जन् कुटीरं ययौ ॥४७॥

स मारीचः 'परतः अन्यतः शत्रोर्वा। परात्परत इत्यपि ध्वन्यते। तद्धस्तकृतेनेति भावः। वधेन नाशेन सुश्रेयः सुशोभनं मुक्तिरिति च ध्वन्यते। भविष्यतीति शेषः। तत् सुश्रेयः इतः अस्माद् मित्रभूतात् स्वकीयाद् रावणान्न स्वकीयहस्तेन मरणाद् मर्तुर्मारयितुश्चेत्युभयोरपवादः। इति तत्सुश्रेयो नैवेति भावः।' इति अन्तः मनसि आतर्क्य तर्कयित्वा ग्रीवाभागे विभाविता प्रदर्शिता अद्भुता विभा कान्तिर्येन स वैदूर्यस्य तदाख्यस्य मार्जारनेत्रसदृशस्य मणेः शृङ्गाभ्याम् अङ्कितः चिह्नितः। "विदूरञ्ज्यः" इति ञ्यः। वेगात् शीघ्रं नीलमणीमयीकृताः खुरा येन स तथोक्तः। दीप्रं भासुरम् आननं मुखं यस्य स तथोक्तः। कृत्रिमं करणेन निर्वृत्तमपि। ड्वितः क्त्रिः" इति क्त्रिः। "क्त्रेर्मम् नित्यम्" इति मम्। काञ्चनैणत्वं सुवर्णहरिणत्वं प्राकृतं स्वाभाविकमेव व्यञ्जन् प्रकटयन् सन् कुटीरं श्रीरामकुटीं ययौ प्राप ॥४७॥

अर्थ—मारीच का स्वर्णमृग होकर राम की कुटिया के सम्मुख जाना। मारीच ने विचारा-रावण के हाथ से मरने की अपेक्षा राम के बाण से मरकर मुक्ति लाभ श्रेयस्कर है।

ऐसा निर्णय कर स्वर्णमृगरूप में अपने को प्रकट किया। ग्रीवा भाग में अद्भुत कान्ति थी। (सींग मूंगे से जड़े थे और खुर नीलमणी के बने हुये थे, मुख चमक रहा था, ऐसा स्वर्णमृग बनकर राम की कुटिया के सामने गया। बनावटी रूप को इस प्रकार दिखाया जैसे कोई सच्चा स्वर्णमृग है।

कृत्रिमता के स्थान में प्राकृत का भ्रम पैदा करने में मारीच सफल रहा ॥४७॥

तद्दर्शनेन सीताया हठविधानमाह—

सम्यक् श्रिता जनकजा निजवल्लभाङ्क-
माम्राश्रिता विकचकाञ्चनकन्दलीव।
गच्छन्त्यतीव कुतुकं मुदमद्भुतं चे-
तः प्रेक्ष्य तं हठमधात् करसाच्चिकीर्षुः ॥४८॥

आम्राश्रिता विकचा प्रफुल्ला काञ्चनकन्दली स्वर्णचम्पकलता इव। "सा स्वर्णचम्पकलता काञ्चनकन्दल्यपि ख्याता" इति वनस्पतिकल्पतरुः जनकजा सीता। निजवल्लभस्य श्रीरामस्य। अङ्कम् उत्सङ्गम्। श्रिता आरूढा। इतः स्थानात्। तं काञ्चनमृगं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा। कुतुकं कौतुकं मुदं हर्षम्, अद्भुतम् आश्चर्यं च अतीव गच्छन्ती प्राप्नुवती सती। तं (मृगं) करसात् हस्ताधीनं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः हठं बलात्कारम् अधात् धृतवती। अथच " कदली कन्दली चीन-" इत्याद्यमरवचनात् काञ्चनकन्दली स्वर्णमृगी तं स्वर्णमृगम् इच्छेदेवेत्यपि ध्वन्यते ॥४८॥

अर्थ—उस माया मृग को देखकर सीता का हठपूर्वक कथन–आम्र का आश्रय लिये हुई स्वर्ण चम्पकलता की तरह कोमलांगी सीता भगवान् राम की

गोद में बैठी हुई उस स्वर्ण मृग को कुतूहल से देखती रही और आश्चर्य एवं हर्ष को प्राप्त करती हुई उसने उस मृग को हस्तगत करने का आग्रह राम से किया। ऐसे लगा जैसे (स्वर्णमृगी) काञ्चनकन्दली किसी स्वर्णमृग की चाह कर रही है ॥४८॥

तत्र कवेरुत्प्रेक्षणमाह—

निश्चिन्मः खलु रावणस्य नृपतेः

सद्विप्रकारो ग्रहो

जन्म प्राप तथा विदेहदुहितु-

र्नार्याः कुरङ्गाकृतौ।

घातं कर्तुमथो चतुष्पदनयोः

सद्विग्रहात्मा बभौ,

नश्येन्नो तृणनाशमत्र, स तु यो

रामं हृदाप्याश्रयेत् ॥४९॥

खलु इति वाक्यभूषायाम्। वयं निश्चिन्मः उत्प्रेक्षामहे-रावणस्य नृपते राज्ञः तथा विदेहदुहितुः सीताया नार्याः स्त्रियाः। स प्रसिद्धः द्विप्रकारः नवग्रहान्तर्वर्ती ग्रहः कुग्रहः ग्रहो हठश्चेति द्विविधो ग्रहः। राज्ञः स्त्रियाश्च ग्रहो हठः प्रसिद्ध एव। कुरङ्गाकृतौ मृगरूपे जन्म प्राप। अथो पुनः सद्-विग्रहः शोभनशरीरः (स्वर्णमयत्वात्) आत्मा यस्य सः। तथा स द्विग्रहात्मा द्वौ द्विविधौ ग्रहौ आत्मा यस्य सः तथोक्तः। चतुष्पत् चत्वारः पदः पादा यस्य सः चतुष्पद् चतुष्पाद्। प्रत्येकस्य द्विग्रहात्मतया कुरङ्गस्य चतुष्पत्त्वम् औपलक्षणिकमिति भावः। अनयोः सीतारावणयोः घातं नाशं कर्तुं बभौ शुशुभे। अत्र निष्कर्षेण तारतम्यमाह-अत्र अनयोः सीतारावणयोः (मध्ये) स तु तृणनाशं नो नश्येत् तृणमिव नो नश्येदित्यर्थः। "उपमानात्कर्मणि च" इति णमुल्। यः रामं हृदापि केवलं मनसैव आश्रयेत्। द्विविधग्रहप्रभावात् उभयोर्घाते उपस्थितेऽपि रामस्य मानसिकेनाश्रयेण सीताया रक्षैव, तदभावेन रावणस्य तु घात एवेति फलितम् ॥४९॥

अर्थ—कवि द्वारा उत्प्रेक्षा कथन—लगता है-सीता का नारी हठ ही—स्वर्णमृग बन कर आया है—यह कुग्रह है-जो शोभन स्वर्णमृग का रूपधर कर आया है, सीता व रावण-दोनों पर दो कुग्रह-चार पैर वाले स्वर्ण मृग के रूप में है, पर राम का आश्रय पाकर सीता की रक्षा हुई। और रावण मारा गया।

अर्थात् यह स्वर्णमृग रावण का भावी विनाशरूप बनकर आया है। सीता का हरण तो हुआ पर राम के कारण वह रक्षित रही ॥४९॥

अथ श्रीरामकृतं स्वर्णमृगलक्षीकरणं वर्णयति—

चक्षुः शरं च रघुराड् दधदेकतानं

तत्तत्स्थलीमनुसरंस्तदटाट्यमानाम्।

त्रैयक्षमूर्जितमिहाऽन्वकरोत् कुरङ्गं

नंनम्यमानमपि चोन्नतमाजिघांसुः ॥५०॥

चक्षुः दृष्टिं शरं बाणं च। एकतानम् एकम् अनन्यं तानयतीति[1] तथोक्तम् एकाग्रमित्यर्थः। "एकतानोऽनन्यवृत्तिः" इत्याद्यमरः। दधद् धारयन्। तदटाट्यमानां तेन कुरङ्गेण अटाट्यमानां पुनः पुनरतिशयेन वा अट्यमानां भ्रम्यमाणाम्। "सूचिसूत्रि०" इत्यादिना यङ्। तत्तत्स्थलीं तां तां स्थलीं स्थलम् अनुसरन् अनुगच्छन्। नंनम्यमानं पुनः पुनरतिशयेन वा अनतीभवन्तम् अपिच उन्नतम् उन्नमनं प्राप्तं कुरङ्गं हरिणम् आजिघांसुः व्यद्धुमिच्छुः रघुराड् रामः इह अत्र स्थाने। त्रैयक्षं त्र्यक्षः शिवः तत्संबन्धि ऊर्जितं बलचेष्टितम् अन्वकरोत् अनुकृतवान्। यथा शिवो मृगमनु व्यद्धुमिच्छुः ऊर्जितमदर्शयत् तथा

१. 'तनु श्रद्धोपकरणयोः' कर्मण्यण्।

रामोऽपीति भावः। पुरा हरिणीभूतां सरस्वतीं मृगरूपेण कामयमानं ब्रह्माणं महादेवः शरेण व्यद्धुं चेष्टितवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया। अत एव पुष्पदन्तः– "प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा। धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः॥" इत्येवं शिवं स्तुतवान्॥५०॥

अर्थ—राम ने अपनी दृष्टि बाण की नोक पर एकाग्र (एकतान) कर वनस्थली में मृगवध के लिये मृग के पीछे दौड़े। वह हरिण कभी सिकुड़ता, कभी अपने को छिपाता, अपनी फलांग लगाकर-दूर तक राम को ले गया।

ऐसा लगा जैसे त्रिनेत्र शिव मृग बने ब्रह्मा के पीछे दौड़ रहे हैं–जो मृग बन कर मृगी बनी दुहिता के पीछे कामातुर होकर जा रहे थे, और शिव उनका (ब्रह्मा) वध करने के लिये पीछा कर रहे हैं॥५०॥

शरीरत्यागेन मारीचस्य परमपदलाभमाह—

शस्त्राहतोऽथ स तु 'लक्ष्मण पाहि सीते
रेणौ लुठन्तमिति कैतवतो'ऽपि जल्पन्।
णैकाक्षरोज्झित उपैद् हरिणो हरित्वं
केशिक्षिता विमलितान्त्यदशास्तरन्ति॥५१॥

अथ शस्त्रेण आहतो विद्धस्तु सः स्वर्णहरिणरूपो मारीचः। 'हे लक्ष्मण हे सीते रैणौ धूलौ लुठन्तं मां पाहि रक्ष' इति एवम्। कैतवतः लक्ष्मणाऽपसारणच्छलात्[१]। जल्पन् कथयन्नपि। 'ण' इत्येकाक्षरेण उज्झितो हीनः हरिणः। हरित्वं विष्णुत्वम् उपैत् प्राप्तवान्। हरिणो णकारं मुक्त्वा हरिरेव जातोऽर्थाद् मुक्त इति भावः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-केशिनं तदाख्यं दैत्यं क्षिणोति हिनस्तीति केशिक्षिद् विष्णुः तेन विमलिता निर्मलीकृता अन्त्या चरमा दशा येषां ते जनाः। तरन्ति संसारान्मुच्यन्ते। छलादपि सीता लक्ष्मणाश्रयवचनेन अयं महाभागः संसाराब्धिं तीर्णवानिति भावः। अथ च–के अशिक्षिताः संसाराब्धितरणोपायशिक्षा-वञ्चिताः अज्ञाना इत्यर्थः। विमलितान्त्यदशाः संशोधितचरमदशाः सन्तः तरन्ति संसारान्मुच्यन्ते? इति प्रश्ने, केशिक्षिता विष्णुना विमलितान्त्यदशाः तरन्ति इत्येतदेवोत्तरम्। तेनात्र प्रश्नोत्तरमलंकारः। ध्वन्यर्थस्तु-हे लक्ष्मण ! हे सीते! हे रे ! रस्य अनिलस्य (पवनस्य) अपत्यं तत्संबुद्धौ हे रे हे हनुमन् ! इत्यर्थः। "रश्च कानेऽनिले वह्नौ" इत्येकाक्षरः। अणौ अणोरणीयसि परमात्मनि लुठन्तं भ्रमन्तं तत्प्राप्तये चेष्टमानमित्यर्थः। मां पाहि रक्ष तत्प्राप्तौ साहाय्यं कुरु इति भावः। इत्यनेन अनुक्रमाश्रितानां हनुमल्लक्ष्मणसीतानां कृपया विना परमात्मस्वरूपश्रीरामपदप्राप्तिर्दुःशकेति स्पष्टीभवति॥५१॥

अर्थ—मारीच का शरीर त्याग कर परम पद को प्राप्त करना–बाण से बिद्ध होकर गिरते हुये मायामृग मारीच ने छल से कहा 'हे लक्ष्मण ! हे सीते ! मुझ जमीन पर गिरते हुए की रक्षा करो। हरिण के अन्तिम वर्ण ण को छोड़कर मरते समय हरि का उच्चारण किया इसलिये वह हरिपद का (मोक्ष का) अधिकारी हुआ।

कोई चाहे (किसी भी प्रकार से) छल से या काम, क्रोधादि की भावना से हरि शब्द का उच्चारण करे-वह भवसागर से पार हो जाता है॥५१॥

सीताहठकृतं लक्ष्मणप्रेषणमाह—

नष्टेव तत्तु विनिशम्य जगाद सीता
रामानुजं, स गृधितोऽत्र परैः सशिञ्जः।
घण्टापथे श्वभिरिव द्विरदः सघण्टोऽ-
वःस्या इति ग्रहकटुः प्रजिघाय सा तम्॥५२॥

तद् मारीचोक्तं छलवचनं तु विनिशम्य श्रुत्वा

---

१. एतत्कातरतावर्णितं रामवचनं मत्वा लक्ष्मणोऽत्रागते एकाकिन्याः सीताया हरणार्थं रावणोऽवसरं प्राप्स्यतीति मारीचस्य च्छलवचनम्।

नष्टेव नाशं गतेव सीता रामानुजं लक्ष्मणं जगाद उवाच– अत्र हरिणग्रहणस्थाने सशिञ्जः शिञ्जया शिञ्जिनी (ज्या) टंकारेण सह वर्तमानः स रामः परैः शत्रुराक्षसैः गुधितः परिवेष्टितः। अत्रोपमिमीते-घण्टापथे राजमार्गे "घण्टापथः संसरणम्" इत्यमरः। सघण्टः घण्टाशब्दे-नाऽत्र घण्टानादो लक्ष्यते। तेन घण्टानादसहितः द्विरदः हस्ती श्वभिः कुक्कुरैरिव। यथा राजमार्गे घण्टानादं कुर्वन् गजः कुक्कुरैः परिवेष्ट्यते तथा ज्याटंकारं कुर्वन् स राक्षसैः परिवेष्टित इति भावः। त्वम् अवतीति अवः रक्षकः स्याः भवेः। इति इत्थं ग्रहकटुः ग्रहेण स्वरचितेन हठेन कटुः कटुका अनिवार्या इत्यर्थः। सा सीता। तं लक्ष्मणं प्रजिघाय प्रेषितवती। 'हेरचङि' इति कुत्वम्॥५२॥

अर्थ—सीता का हठपूर्वक लक्ष्मण से कथन–इस नाद को सुनकर सीता नष्ट सी हो गई। वह कहने लगी–'प्रिय जो प्रत्यंचा की टंकार कर रहे थे, शत्रुओं से घेर लिये गए हैं। जैसे राजपथ में घण्टा नाद करता कोई गजराज कुत्तों से घिर गया हैं इस प्रकार कहकर जिद्द पर अड़ी हुई सीता ने बरबस लक्ष्मण को भेज दिया॥५२॥

सीताहरणमाह—

तत्रान्तरे दशमुखः श्रमणीभवन् सोऽ-
तः शेवधे श्रियमिवाऽपहरोऽहरत्ताम्।
सुप्रीतभीतहृदसावधिरोप्य सम्य-
ग्रीत्या रथं च रुदतीं चलदृक् चचाल॥५३॥

तत्र तस्मिन् अन्तरेऽवकाशे। स श्रमणीभवन् भिक्षूभवन् दशमुखः। अतः स्थानाद्। अपहरः चौरः शेवधेः निधेः श्रियं सम्पदमिव तां सीताम् अहरत्। च पुनः। सुप्रीतं कार्यसाफल्यात् सन्तुष्टं भीतं 'कदाचिद् राम आगच्छेत्' इत्याशयेन भयापन्नं हृद् मनो यस्य स तथोक्तः असौ दशमुखः। रुदतीं तां सीतां सम्यग्-रीत्या शोभनप्रकारेण। रथम् अधिरोप्य आरोप्य। चलदृक् चले भयात् इतस्ततश्चलिते दृशौ नेत्रे यत्र कर्मणि तत्तथा चचाल प्रतस्थे॥५३॥

अर्थ—सीताहरण का वर्णन–इसी बीच में रावण ने श्रमण (भिक्षु) का भेष बनाकर सीता का इस प्रकार हरण किया जैसे कोई चोर खजाने से श्री (सम्पदा) को चुराता हैं इस प्रकार कार्य साफल्य से सन्तुष्ट, पर कदाचित् राम अभी आ जावें, इस आशंका से भयभीत रावण रुदन करती सीता को रथ में डालकर-डरी हुई नजर चारों ओर डालता हुआ चल पड़ा॥५३॥

जटायुषो रावणेन युद्धमाह—

वध्वास्तु तेन हृतिमेक्ष्य जटायुषाऽऽर्त्या
वर्षीयसाऽपि युयुधे रुरुधे च मार्गः।
चञ्च्वा व्यलेखि च नखैः स्थितशक्ति, किन्तु
नाद्रिः स भेत्तुमुदसाह्यमुनाऽऽखुनेव॥५४॥

जटायुषा तदाख्येन गृध्रेण। तेन रावणेन (कर्त्रा) वध्वाः भ्रातृजपत्न्याः[१] स्नुषायाः (कर्मणः) तु हृतिं हरणम्। "कर्तृकर्मणोः कृति" इत्युभयोः प्राप्तौ "उभयप्राप्तौ कर्मणि" इति कर्मण्येव षष्ठी न तु कर्तरि। आर्त्या दुःखेन एक्ष्य दृष्ट्वा। वर्षीयसाऽपि अतिवृद्धेनाऽपि। "प्रियस्थिरस्फिरोरु०" इत्यादिना वर्षादेशः। युयुधे युद्धं कृतम्। तेन रावणेन (सह) इति पुनराकृष्यते। च पुनः मार्गः गमनपथः रुरुधे रुद्धः। चञ्च्वा चञ्चुप्रहारेण नखैश्च। स्थितशक्ति यावच्छक्ति यथा स्यात् तथा। व्यलेखि विरदितः। स रावण इति भावः। किन्तु अमुना जटायुषा। आखुना मूषकेणेव अद्रिः पर्वतः सः रावणपर्वत इति भावः। असमस्तमिदं रूपकम्। भेत्तुं विदारयितुं न उदसाहि न शेके॥५४॥

---

१. अयं जटायुर्दशरथेन धर्मभ्राता कृत आसीदिति पौराणिकमाख्यानमूह्यम्।

अर्थ—जटायु का रावण के साथ युद्ध-वर्णन–जटायु ने देखा कि सीतारूप से जैसे उसकी पुत्रवधू का अपहरण हुआ है; अतः दुःख से व्याकुल होकर रावण के साथ युद्ध कर उसके मार्ग को रोककर जटायु नामक गिद्ध ने–इस बुढ़ापे में भी जहाँ तक हो सका–अपने नाखून और चोंच से रावण को जगह-जगह विदारित किया। पर वह चूहे की तरह उस रावणरूपी पर्वत को उखाड़ने (विदारण) में समर्थ नहीं हुआ।

जैसे चूहा पहाड़ के ऊपर जगह-जगह बिल खोद सकता है; पर उसे उखाड़ नहीं सकता। उसी प्रकार रावण के सामने जटायु क्या ? वह तो रावण के शरीर को पंखों (परों) से खरोंच ही लगा सका–उसे रोकने या मारने में असफल रहा ॥५४॥

अन्ते जटायुर्धिक्कृतस्य रावणस्य गमनमाह—

हस्तेन मृत्युमपि रामसमस्य नाऽर्हेत्

त्वादृक् ममार्तिरिति स व्यरमत्तमुक्त्वा।

वामो विधिः स्थितिमिवास्य स तां गृहीत्वा

लिल्ये विहायसि च शीघ्रमवाप लङ्काम् ॥५५॥

त्वादृक् त्वत्समः पापीत्यर्थः। रामसमस्य श्रीरामतुल्यस्य अमोघदर्शनमात्रस्येत्यर्थः। हस्तेन मृत्युं मरणमपि न अर्हेत् न तद्योग्यो भवेत्। इति इत्थंरूपेण मम आर्तिः दुःखमस्ति। नान्येति भावः। इतीति पुनराकृष्यते। इति तं रावणमुक्त्वा स जटायुः व्यरमत्। स रावणः। वामः प्रतिकूलः विधिः भाग्यम् अस्य जटायुषः स्थितिम् अवस्थानं जीवनमिवेत्यर्थः। 'स्थितिः स्त्रियामवस्थाने मर्यादायां च सीमनि।'' इति मेदिनी। तां सीतां गृहीत्वा विहायसि आकाशे लिल्ये दृष्टिच्छन्नोऽभूत्। शीघ्रं च लङ्काम् अवाप ॥५५॥

अर्थ—जटायु का रावण को धिक्कारना और रावण का चल पड़ना–'राम के हाथों तेरी मृत्यु हो, तू इस योग्य भी नहीं। इसी करुण-भाव से मैं तुझसे लड़ा था। पर, तेरा भाग्य ही विपरीत है। यों कहकर जटायु ने विश्राम किया।

जिसका भाग्य प्रतिकूल है, ऐसा वह रावण जटायु के जीवन की तरह सीता को ग्रहण कर, आकाश में देखते-देखते छिप गया और लंका में जा पहुँचा ॥५५॥

[विलापव्याजेन सीताया रावणप्रार्थनाधिक्कारम् इन्द्रागमनं चाह—]

नष्टां नाथ निरक्ष मां क्षयमरिं

नीत्वा, नु माऽऽत्मा तनू

मागच्छाशु, वने विनैव वस मा,

नो नौ विभिन्नं मनः।

हन्तेतीव विलप्य धिग् विदधतीं

क्रव्याद्-दशास्यार्थनां

वेगाद् द्वादशभिर्नकारवचनैः

सीतां मुदेन्द्रो ययौ ॥५६॥

हे नाथ राम ! अरिं शत्रुं रावणं क्षयं नाशं नीत्वा प्रापय्य नष्टां नाशमिव गतां मां निरक्ष पालय। नु इति वितर्के। आत्मा जीवात्मा त्वं मा मां तनूं शरीरम् आशु शीघ्रम् आगच्छ। अथवा आत्मा परमात्मा त्वं मा माम् अतनूम् अशरीरां मायामित्यर्थः। आशु आगच्छ इत्यर्थः। तं विना सा नष्टैवेति भावः। वने अरण्ये प्रवासे च ''वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि कानने।'' इति हैमः। विना एव, मां विनैवेत्यर्थः। मा वस मा तिष्ठ। मदर्थमुद्युक्तो भवेत्यर्थः। नौ आवयोः मनः विभिन्नं पृथग्भूतं नोअस्तीति शेषः। हन्त इति हर्षे[1] दुःखे वा इति

१. विलापरूपरावणधिक्कारेण हर्षः। दुःखं प्रसक्तमेव।

विलप्य[1] इव द्वादशभिः नकारैः निषेधकारैः वचनैः द्वादशनकाराक्षरकथनैश्च क्रव्यादो राक्षसस्य रावणस्य या दशास्यैः दशभिर्मुखैः अर्थना कामनरूपा प्रार्थना ताम् वेगात् शीघ्रं धिग् विदधतीं धिक्कुर्वतीं नाथं माम् आत्मा तनूमिव नष्टामागमिष्यति त्वां च हनिष्यति, स मां विना एकाकी न वसति। नौ आवयोर्मनः विभिन्नं पृथग् नेति सूचनया खण्डयन्तीमिति भावः। दशमुखप्रार्थनाया द्वादशनकारैरेव खण्डनं युक्तम्। सीतां मुदा तस्याः शीलरक्षणजन्येन हर्षेण इन्द्रः ययौ प्राप। अत्र धिक्करणमतिशयनमपि गम्यते। तेन, यथा दशमुखप्रार्थना राममुपेक्ष्य कामं बहु मन्यते स्म, तथा सीता रावणमुपेक्ष्य श्रीराममेव बहु मन्यते स्मेत्यर्थोऽपि ध्वन्यते॥५६॥

अर्थ—विलाप के बहाने सीता का रावण को धिक्कारना इन्द्र के आगमन का वर्णन—मुझ नष्ट सी हुई को हे नाथ! आकर बचावें। इस शत्रु का नाश करें। मैं शरीर की तरह रह गई हूँ—जिसकी आत्मा आप हैं। दोनों क्या अलग-अलग रह सकते हैं। मेरा मन आप में, आपका मुझमें—यों हम दो होकर भी एक हैं।

इस प्रकार सीता ने इस विलाप में बारह नकारों का प्रयोग कर मांसाहारी रावण के दशमुख से उच्चरित प्रार्थना को ठुकरा दिया। सीता की राम के प्रति इस निष्ठा को जानकर, और उसके शीलरक्षण से हर्षित इन्द्र सीता के पास आया॥५६॥

विशेष—इस श्लोक की प्रथम चार पंक्तियों में बारह बार 'न' अक्षर का प्रयोग हुआ है—वह मानों रावण के दशमुख से उच्चरित प्रार्थना को आगे बढ़कर ठुकराने के सदृश है॥५६॥

इन्द्रस्य हविष्यान्नदानमाह—

सुज्ञातशीलः किल तां स सम्य-

प्रीत्या हतारिं प्रियमाप्स्यसीति।

वन्द्यां समाश्वास्य विवन्द्य चार्प्य

मेध्यं हविर्दिव्यमगात् स्वलोकम्॥५७॥

किलेति ख्यातौ। सुज्ञातं सम्यक् ज्ञातं शीलं सुचरितं येन स तथोक्तः स इन्द्रः। सम्यग्रीत्या शोभनप्रकारेण पूर्णतयेत्यर्थः। हताः मारिता अरयो रावणादयो येन स. तम्। प्रियं श्रीरामम्। आप्स्यसि समेष्यसि। इति वन्द्यां प्रणम्यां (सीतां) समाश्वास्य सान्त्वयित्वा, विवन्द्य प्रणम्य, मेध्यं पवित्रं दिव्यं स्वर्गीयं हविर्घृतप्रधानं भोज्यविशेषं च आर्प्य दत्त्वा। स्वलोकम्। अगात् प्रतिनिवृत्तः॥५७॥

अर्थ—इन्द्र का सीता को हविष्यान्न प्रदान करना—इन्द्र ने सीता के शील को सम्यक् प्रकार से जान लिया। वह समझ गया कि सीता को केवल राम ही प्रिय है—अतः रावणादि दैत्यों के वध के पश्चात् यह (सीता) श्रीराम को प्राप्त करेगी। इन्द्र वन्दनीया सीता के पास गया। उन्हें आश्वासन दिया। उन्हें प्रणाम किया। पवित्र हविः (घृत प्रधान भोज्य विशेष) को भेंटकर—वह स्वर्ग चला गया॥५७॥

अथ रामस्य कुटीं प्रति निवर्तनमाह—

वर्त्मन्युदीक्ष्य पुरतः सहसाकृतोऽन्त्यं

तत्रानुजस्य निजपादगतेश्च मान्द्यम्।

द्राक् क्षेपयन् प्रगत ऐक्षत सोऽर्कवंश्य-

ज्येष्ठोऽटवीमिव कुटीं महिला-विहीनाम्॥५८॥

तत्र दण्डकारण्ये। वर्त्मनि मार्गे। पुरतः पूर्वं सहसाकृतः सहसाकारिणः सहसा-कारिण्याश्च अनुजस्य लक्ष्मणस्य च पुनः निजपादगतेः अन्त्यम् अन्तिमं मान्द्यं मूर्खत्वं मन्थरत्वं च द्राक् शीघ्रं क्षेपयन् क्षेपं निन्दां कुर्वन् क्षिप्रं शीघ्रं च कुर्वन् "स्थूलदूर०" इत्यादिना सिद्धम्। पूर्वं सहसाकृतोऽनुजस्य अन्तिमं मान्द्यं मूर्खत्वं क्षेपयन् निन्दन् तथा पूर्वं सहसाकारिण्याः स्वपादगतेः अन्तिमं (लक्ष्मणदर्शनेन) पश्चाद्भवं मन्दत्वं शीघ्रीकुर्वन्निति

---

१. विलापव्याजेनैव धिक्करणं न तु सम्मुखालापेन सतीत्वादिति भावः।

भावः। प्रगतः प्राप्तः सः। अर्कवंश्येषु सूर्यकुलभवेषु ज्येष्ठः रामः। अटवीमिव अरण्यप्रदेशमिव। कुटीं महिलाविहीनां रमणी-(सीता) शून्याम् ऐक्षत अपश्यत्। यथा अटवी स्त्रीविहीनाऽसीत्तथा तत्कुटी अपि जातेति भावः। ज्येष्ठः ज्येष्ठमासश्च आगच्छन् अटवीं महिलया प्रियङ्गुलतया हीनां पश्यत्येवेति ध्वन्यते "श्यामा तु महिलाह्वया" इत्यमरः ॥५८॥

अर्थ—राम ने दण्डकारण्य के रास्ते में हड़बड़ी में आते लक्ष्मण की इस मूर्खता की निन्दा की। वे शीघ्र ही कुटिया के पास आये। अर्क (सूर्य) वंश के ज्येष्ठ श्रीराम ने कुटिया को महिला से शून्य देखा। महिलाविहीन (सीता से रहित) वह कुटी राम को इस प्रकार लगी–जैसे कुटी नहीं-अटवी है, जंगल सी सुनसान–कोई जगह है ॥५८॥

द्वाभ्यां रामस्य विषादं वर्णयति—

रामो विषद्य समयाचत पञ्चभूतं
घट्यस्ति मेऽमृतमयी क्व धरेऽम्बु तेजः।
वः सर्वगः सततगः प्रदिशत्वथैनां
प्रत्यक्षयाम्बर हृता यदि खेचरेण ॥५९॥

रामः विषद्य दुःखमनुभूय। पञ्चभूतं पञ्चमहाभूतसमाहारं समयाचत प्रार्थयत। सीतायाः पाञ्चभौतिकशरीरधारित्वात्तदर्थनं योग्यम्। हे धरे भूः, हे अम्बु ! जल, हे तेजः ! मे अमृतमयी शरीरवचनयोर्माधुर्येण सुधापूर्णा घटी कलशिः सीतेत्यर्थः। क्व कुत्राऽस्ति। घट्यास्तु नेत्रस्थानीयरत्नजटितसुवर्णमय्या विवक्षितत्वात् पृ[1]थिव्यास्तेज[2]सश्च याचनम् उचितम्। अमृतमयत्वाच्च जलस्य। अथ पुनः। सर्वगः सर्वव्यापी सततगः सदागतिः वः पवनः। "वः सान्त्वने च वाते च वरुणे च निगद्यते।" इति मेदिनी। एनां सीतां प्रदिशतु प्रदर्शयतु। हे अम्बर आकाश ! यदि खेचरेण हृता, (तर्हि) त्वं प्रत्यक्षय प्रत्यक्षीकारय ॥५९॥

अर्थ—दो श्लोकों में राम के विषाद का वर्णन–राम-'पाँच तत्त्वों से बनी मेरी अमृतमयी रत्नजटित स्वर्णकलशी के समान सीता कहाँ है ! हे धरती, हे जल, हे अग्नि ! तुम बताओ। (पृथ्वी से रत्न, अग्नि से स्वर्ण और जल से माधुर्य लेते है इसीलिये सीता को रत्नजटित स्वर्णकलशी कहा है जो अमृत से भरी है। हे सब जगह संचार करने वाली वायु। तुम सीता को बताओ, वह कहाँ है। हे आकाश ! यदि किसी खेचर (राक्षस) ने सीता का हरण किया है, तो तू उसे प्रकट करके दिखा।

इस प्रकार पाँचों महाभूतों से सीता को पाने की प्रार्थना कर रहे हैं ॥५९॥

त्यक्तैतद्-रमणोऽत्र राज्यगरिमाऽ-
री रुक्मरूप्यैर्यथाऽ-
पाऽम्भो रेणुभरैः सरोऽलघु मरौ,
नाऽरंस्त यस्याः पुरः।
दक्षा सा क्व नु पद्मिनीति विलपन्
सध्र्यग्-द्विरेफारवं
यत्नाद् द्वादशभिर्हि रेफवचनैः
क्षिप्नुर्व्यचारीत् प्रभुः ॥६०॥

अत्र लोके। यस्याः (पद्मिन्याः सीतायाः) पुरः अग्रे। त्यक्तः विमुक्तः एष (मद्-रूपः) रमणः भर्ता येन सः, मद्रूप-प्रिय-रहित इत्यर्थः। राज्यगरिमा राज्यप्रकर्षः। रुक्मरूप्यैः स्वर्णरजतैः अरिः शत्रुभूतः सन् न अरंस्त न रोचते स्म। यस्यै मद्विना राज्यं स्वर्णरजतैरपि न रोचते स्मेति भावः। अत्रोपमिमीते-यथा मरौ निर्जलप्रदेशे अपाऽम्भः जलरहितं सरः तडागः रेणुभरैः धूलिबाहुल्येन अलघु अनिष्टं[3] (पद्मिन्याः पुरः न रमते

१. पार्थिवं रत्नम्।
२. तैजसं सुवर्णम्।
३. "त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः" इत्यमरः।

तथा)। नु इति प्रश्ने। सा दक्षा चतुरा। पद्मिनी उत्तमस्त्री कमलिनी च क्व कुत्र ? अस्तीति शेषः। पद्मिनीलक्षणं तु "प्रान्तारक्तकुरङ्गशावनयना पूर्णेन्दुतुल्यानना, पीनोत्तुङ्गकुचा शिरीषमृदुला स्वल्पाशना दक्षिणा। फुल्लाम्भोजसुगन्धिकामसलिला लज्जावती मानिनी, श्यामा कापि सुवर्णचम्पकनिभा देवादिपूजारता॥१॥ उन्निद्राम्बुजकोशतुल्यमदनच्छत्रा मराल-स्वना, तन्वी हंसवधूगतिः सुललितं वेषं सदा बिभ्रती। मध्यं चापि वलित्रयाङ्कितमसौ शुक्लाम्बराकाङ्क्षिणी, सुग्रीवा शुकनासिकेति गदिता नार्युत्तमा पद्मिनी॥२॥" इत्यनङ्गरङ्गे। इति विलपन् द्वादशभिर्हि रेफवचनैः रेफवर्णकथनैः। सध्रीचः सहगामिनो द्विरेफस्य भ्रमरस्य[१] आरवं शब्दं यत्नात् क्षिप्नुः निराकरिष्णुः अतिशयान इति भावः। प्रभुः श्रीरामः। व्यचारीत्। भ्रमति स्म। द्विरेफशब्दो हि द्वादशभी रेफकथनैरतिशय्यते एव॥६०॥

अर्थ—वह सीता कहाँ है ? जिसे मेरे बिना सारा (सोने चांदी वाला) राज्य जरा भी प्रिय नहीं लगता है। जैसे रेगिस्तान में तालाब जलशून्य हो जाय और केवल धूलकंकड से भर जाय और पद्मिनी न रहे तो भौंरा केवल इधर-उधर विलाप करता हुआ भटकता है–उसी प्रकार मैं राम भी द्विरेफ की तरह पद्मिनी नायिका सीता के अभाव में विरहव्याकुल अपनी व्यथा कथा को इन बारह रेफ युक्त अक्षरों से व्यंजित करता हुआ अधीर हूँ ॥६०॥

विशेष—महाकवि ने प्रथम चार पंक्तियों में बारह बार रेफ का प्रयोग कर अपनी रचना–रमणीयता से पाठक को मुग्ध किया है।

पद्मिनी लक्षण—

प्रान्तारक्तकुरंगशावनयना, पुर्णेन्दुतुल्यानना,
पीनोत्तुंगकुचा शिरीषमृदुला स्वल्पाशना दक्षिणा।
फुल्लाम्भोजसुगन्धिकामसलिला लज्जावती मानिनी,
श्यामा कापि सुवर्णचम्पकनिभा देवादिपूजारता॥
उन्निद्राम्बुजकोशतुल्यमदनच्छत्रा मरालस्वना,
तन्वी हंसवधूगतिः सुललितं वेषं सदा विभ्रती।
मध्यं चापि बलित्रयाङ्कितमसौ शुक्लाम्बराकाङ्क्षिणी,
सुग्रीवा शुकनासिकेति गदिता नार्युत्तमा पद्मिनी॥

अथ द्वाभ्यां जटायुःसांनिध्यमाह—

सप्राणकण्ठकृतरामजपोऽस्रपूर्ण-
चञ्चूपुटाक्षियुगलो ददृशे जटायुः।
सर्वं वदन्तमथ तं त्वजिनाञ्चलेन
वान् पुण्यवात इव वीजयति स्म रामः॥६१॥

सप्राणेन निष्क्रमणार्थं हृदयात्कण्ठप्रदेशमारूढैः प्राणैः सह वर्तमानेन कण्ठेन कृतः रामजपः राम रामेति जपः येन सः। अस्रेण रुधिरेण अश्रुजलेन च (यथासंख्यं) पूर्णं भृतं चञ्चूपुटम् अक्षियुगलं च यस्य सः। जटायुः ददृशे दृष्टः। रामेणेति शेषः। अथ तं सर्वम् अशेषं हृतसीतेन रावणेन सहानुभूतं प्रसङ्गमित्यर्थः। वन्दतं कथयन्तं जटायुषं तु रामः वान् चलन् पुण्यवात इव पुण्यप्राप्यो वातः इति मध्यमपदलोपी समासः। तेन शीतलमन्दसुगन्धिः पवन इवेति भावः। अजिनाञ्चलेन मृगाजिनप्रान्तेन वीजयति स्म-वायुसेवनं कारयति स्म॥६१॥

अर्थ—दो श्लोकों में जटायु के सान्निध्य का वर्णन–जटायु के प्राण हृदय से कण्ठगत हो रहे थे। वह राम राम का जप कर रहा था। उसकी चोंच खून से भरी थी और आँखों से आँसू बह रहे थे। राम ने उसे देखा। सीताहरण की सारी बातों को सुनाते हुए पुण्यवान् जटायु को राम अपने मृगचर्म के प्रान्तभाग से हवा झल रहे थे॥६१॥

सस्नेहमश्रुसलिलैः स्नपयन् स 'तात !
मा चिन्तये' त्यपमृजन् स्वजटाभिरेनम्।
नीत्वा सुखं च करसेवनतो गतासुं
यत्नाद्ददाह पितृतोऽप्यधिकं व्यवप्त ॥६२॥

१. भ्रमरोऽपि पद्मिनीं कमलिनीम् अन्वेषयन्नासीत्।

अश्रुसलिलैः अश्रुजलैः सस्नेहम् एनं जटायुषं। स्नपयन् स्नानं कारयन्। "ग्लास्नावनुवमां च" इति मित्त्वाद् ह्रस्वत्वम्। आसन्नतरमृत्योरन्तिमस्नान-मुचितमेव। 'हे तात पितः ! पितुर्भ्राताऽपि पितैव बहुमानेन संबोध्यते विनीतैरभिजातैः। मा चिन्तय सीताप्राप्तिस्वर्गत्यादिविषयां चिन्तां मा कुरु' इति एवं प्रकारेण एनं स्वजटाभिः अपमृजन् उत्पुंसयन् च पुनः। करसेवनतः पाणिस्पर्शसेवया सुखं नीत्वा सुखयित्वा। गतासुं गतप्राणं सन्तम् (एनं) यत्नाद् ददाह अग्निसंस्कारेण योजयामास। अपि च। पितृतो दशरथादपि अधिकं यथा स्यात्तथा। आसन्नवर्तितयेति भावः। न्यवप्न तिलजलाञ्जलिप्रदानादिभिः कर्मभिः तर्पितवानित्यर्थः ॥६२॥

अर्थ—राम ने अपने अश्रुजल से जटायु को स्नान कराते हुए कहा–'तात' चिन्ता न करें। अर्थात् सीता की प्राप्ति और अपनी स्वर्गति के विषय में चिन्ता न करें। इस प्रकार अपनी जटाओं से शुद्ध कर अपने हाथों से जटायु को सहलाते रहे। जटायु ने प्राण त्याग दिये। भगवान् राम ने अपने पिता से बढ़कर समझकर उसका दाह संस्कार किया ॥६२॥

अथ कबन्ध-विध्वसंनमाह—

वामां सोऽन्विष्यन् कुसुमितलता–
वेल्लितायामटव्यां-
नक्रं मण्यर्थी सलहरिपयो-
धाविवाप्नोत् कबन्धम्।
रान्तं स्वोपर्याक्रमणमवधीद्
राक्षसं तं च, सोऽपि
वार्तामूचेऽर्थ्यां दिवमधिगत-
स्तत्कराप्तान्त्यकर्मा ॥६३॥

स रामः कुसुमिताः पुष्पिता या लताः ताभिः वेल्लितायां कम्पितायाम् इव दृश्यमानायामिति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। प्रियान्वेषणासक्तं वीरं रामं दृष्ट्वा लताचलनमिषादटवी अपि कम्पिताऽसीदिति भावः। अटव्यां वने वामां स्त्रीं सीताम् अन्विष्यन् अन्वेषयन् कबन्धं तदाख्यं राक्षसम् आप्नोत्। किमिवेत्यपेक्षायामुपमिमीते सलहरौ उल्लोलतरङ्गे पयोधौ समुद्रे। मण्यर्थी रत्नान्वेषी नक्रं कुम्भीरं (जलजन्तु) मिव। च पुनः। स्वोपरि आत्मन उपरि आक्रमणं रान्तं प्रददानं तं राक्षसं कबन्धम् अवधीत् हतवान्। "हनो वध लुङि" इति वधादेशः। सः कबन्धोऽपि। तस्य रामस्य करेण हस्तेन आप्तम् अन्त्यम् अन्तिमं कर्म भूदाहादिकं येन सः तथाभूतः। दिवं स्वर्गम् अधिगतः प्राप्तः सन् अर्थ्याम् अर्थादनपेतां सप्रयोजनामित्यर्थः। वार्तां शबरीसंमेलनादि-प्रार्थनारूपाम् ऊचे। राममिति शेषः। अत्र पूर्वार्धे इष्यमाणायाः सीतायाः स्थाने विरुद्धस्य कबन्धस्य राक्षसस्य संप्राप्तेर्विषादनालंकारः। तल्लक्षणं तु "इष्यमाणविरुद्धार्थ-संप्राप्तिस्तु विषादनम्।" इति वृत्तं तु कुसुमितलतावेल्लिता। तच्च तत्पदप्रयोगेण सूचितमतो मुद्राऽपि। वृत्तलक्षणंतु 'भूतर्त्वश्वैश्चेत् कुसुमितलतावेल्लिता म्तौ नयौ यौ' इति ॥६३॥

अर्थ– कबन्ध-विध्वंस का वर्णन वन में राम तलाश कर रहे थे सीता की। उस समय वह अटवी मानों लताओं के हिलने के बहाने काँपती सी दीख पड़ती थी। उन्हें मिला राक्षस कबन्ध।

जैसे कोई सागर की लहरो में मणि की तलाश करे और मिल जावे उसको नक्र। ऐसा ही हुआ।

राम ने कबन्ध का वध कर उसे जमीन में गाड़ दिया। राम के हाथों से मरने के कारण वह स्वर्ग में जाते हुए अर्थवती वाणी कहता गया कि हे राम ! आप शबरी को (जो पास में ही आपके दर्शनों की प्यासी है)– अवश्य दर्शन देकर कतार्थ करें ॥६३॥

द्वाभ्यां शबरीसाक्षात्कारमाह—

नक्तंचरोक्तिमनुसृत्य स संजिगांसु-
रर्चार्थसंचितसुधाफलकन्दमूलाम्।

षट्कर्मकीर्तितगुणां, तृषितो महेन्द्रे-

भः स्वर्णदीमिव, शुचिं शबरीं ददर्श ॥६४॥

स रामः। नक्तंचरस्य कबन्धाख्यराक्षसस्य उक्तिं वचनम् अनुसृत्य संजिगांसुः सङ्गन्तुमिच्छुः शबर्येति भावः। सङ्गमेरकर्मकात् "समो गम्यृच्छिभ्याम्" इत्यात्मनेपदित्वेन इडभावः। तृषितः पिपासितः महेन्द्रेभः ऐरावतः[१] स्वर्णदीं स्वः स्वर्गस्य नदीं मन्दाकिनीमिव। "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" इति णत्वम्। अर्चार्थं स्व-(राम) सत्कारार्थं संचितानि संगृहीतानि सुधासदृशानि[२] फलकन्दमूलानि यया सा ताम् स्वर्णदीपक्षेऽपि यत्र (तीरोपान्ते) अर्चार्थं देवसत्कारार्थं सुधादीनि संचितानि भवन्त्येव। षट्कर्मभिर्ब्राह्मणैः कीर्तिताः श्लाघिता गुणा यस्याः सा तामित्युभयोः पक्षयोः। यद्वा शबरीपक्षे इदं विशेषेण व्याख्येयम्। कामक्रोधमदलोभमोहमात्सर्याणां पृथक् पृथग् जयरूपाणि यानि षट्कर्माणि तैः कीर्तिता गुणा यस्याः सा ताम्। शुचिं मेध्याम्। स्वर्णदीपक्षे सितवर्णाम्। शबरीं ददर्श ॥६४॥

अर्थ—दो श्लोकों में शबरी-साक्षात्कार का वर्णन—कबन्ध राक्षस के कहने के अनुसार राम शबरी के पास गये। शबरी ने अमृत जैसे मधुर कन्द मूल को अर्पित कर अपनी कृतार्थता का अनुभव किया। राम को काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्य विहीन पवित्रात्मा शबरी ऐसी मालूम हुई जैसे कोई ऐरावत निर्मल मन्दाकिनी पा गया हो ॥६४॥

दिष्ट्या प्रेक्षे त्वां लोकरत्नेति पूर्णा

शः श्रीरामोऽस्तौत् तां, च सा तं कृतार्था।

प्रह्लाद्याऽमूभ्यां भुक्तसम्यक्फलाभ्यां।

स्थानेऽत्राभाजि स्वे शवर्यप्रियत्वम् ॥६५॥

हे लोकेषु जनेषु रत्नश्रेष्ठ[३]! शवरि त्वाम्। दिष्ट्येति हर्षे[४]। प्रेक्षे पश्यामीति रामकृतं तत्प्रशंसनम्। तथा हे लोकानां जगतां रत्न शिरोरत्नभूत ! श्रीराम त्वां दिष्ट्या मङ्गलेन प्रेक्षे इति शबरीकृता रामस्तुतिः। इति पूर्णा पूरिता आशा दर्शनादिलालसा येन स श्रीरामः तां शबरीम् अस्तौत् प्राशंसत्। कृतार्था दर्शनलाभादिना कृतकृत्या सा शबरी च तं श्रीरामम् अस्तौत् स्तुतिविषयं नीतवती। भुक्तानि खादितानि सम्यञ्चि सुमनोहराणि फलानि येन स इति रामपक्षे। शबरीपक्षे तु-भुक्तानि उपभुक्तानि सम्यञ्चि फलानि दर्शनवार्तालापादिलाभा यया सा। अतः निर्विशेषोक्त्या भुक्तसम्यक्फलाभ्याम् अमूभ्यां श्रीरामशबरीभ्यां प्रह्लाद्य आनन्द्य। रामपक्षे-(रामेण) अत्र अस्मिन् स्थाने स्थितौ स्वे आत्मनि शबर्यप्रियत्वं शबर्या भिल्ल्याः अप्रियत्वं तज्जातीयकर्मदृष्ट्या अप्रसन्नत्वम् अभाजि भग्नम्। "भञ्जेश्च णिचि" इति पाक्षिको नलोपः। शबरीपक्षे तु (शबर्या) अत्र-लोके स्वस्य आत्मनो य ईशवर्यः प्रभुश्रेष्ठः श्रीरामः तस्य प्रियत्वं कृपापात्रत्वं स्थाने[५] युक्तं (प्रागुक्तानुसारेण) अभाजि सेवितम्। इत्युभयालाप-सांगत्ययुक्त्या स्तोकेनैकेन पद्येन कविना बहु वर्णितम्। वैश्वदेवी वृत्तम् ॥६५॥

अर्थ—हे लोकों में नररत्न ! राम, आप के दर्शन से शबरी हर्षित हुई है। राम ने भी उसकी दर्शनाभिलाषा की पूर्ति कर उसकी प्रशंसा की।

---

१. ऐरावतपदं सर्गनामोपलक्षणम्।

२. सुधाफलकन्दमूलानीति मध्यमपदलोपी समासो मध्यवर्तित्वेन व्याख्यातः।

३. "रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि" इत्यमरः।

४. "दिष्ट्या हर्षे मङ्गले च" इति मेदिनी।

५. "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः।

राम ने शबरी की प्रशंसा कर जाति विषयक भावना को तोड़ दिया। यहाँ कवि ने दोनों से ही दोनों की प्रशंसा करवाकर अपनी कवित्वशक्ति को दर्शाया है ॥६५॥

शबरीकृतं पम्पावर्णनमाह—

पम्पापुष्करिणी तटस्थहरिणी–

यूथैर्मनोहारिणी

या स्वर्निर्झरिणीव तापजरिणी

संमोदसंचारिणी।

मातुः संस्मरिणी पयःप्रसरिणी

पद्मातिनिर्हारिणी

सम्प्रेक्ष्येति कणीकृतोक्तिरभणीद्

द्यां चाप भिल्लीमणी ॥६६॥

तटस्थैः तीरस्थैः हरिणीयूथैः मृगीकुलैः मनोहारिणी। यद्यपि प्राधान्येन हरिणेति पुंस्त्वेन निर्देश आवश्यकस्तथापि वर्णनस्य स्त्रीकृतत्वादत्र स्त्रियाः प्राधान्यं दर्शितम्। या स्वर्निर्झरिणीव गङ्गेव तापं सन्तापं कष्टं च जरयति नाशयति सा "जनीजॄष्०" इति मित्वाद् ह्रस्वत्वम्। सम्मोदसंचारिणी आनन्दविस्तारिणी। पयःप्रसारिणी तरङ्गितत्वेन जलवेगवती पयः (स्तन्य) पानप्रेमवती च। "प्रसरः प्रणये वेगे" इति मेदिनी। अत एव मातुः पयः-पायिन्यां जनन्याः संस्मरिणी उत्कण्ठापूर्वकस्मृतिकारिणी 'स्मृ आध्याने' मित्। पद्मैः कमलैः अतिनिर्हारिणी अतिदूरगामिसौगन्ध्यवती। "समाकर्षी तु निर्हारी" इत्यमरः। पम्पापुष्करिणी पम्पानाम्नी सरसी संप्रेक्ष्या सम्यक् द्रष्टव्या इति कणीकृता संक्षेपिता उक्तिर्वचनं यया सा "लवलेशकणाणवः" इत्यमरः। भिल्लीमणी शवरीरत्नम् अभणीत् अवादीत्। राममिति शेषः। "अतो हलादेः" इति पाक्षिको वृद्ध्यभावः। द्यां स्वर्गं च आप ॥६६॥

अर्थ—शबरी द्वारा पम्पा पुष्करिणी का वर्णन–पम्पा सरोवर के तीर मृगियों के यूथ से मनोहर हैं। वह अपनी शीतलता से गंगा की तरह ताप का हरण करती है। और आनंन्द का विस्तार करती हैं वह तरंगों से ऐसी मालूम होती है, जैसे माता दुग्धपान कराने के लिए आकुल है।

इस प्रकार पम्पा सरसी का भीलनी ने संक्षेप से वर्णन किया और वह स्वर्ग को चली गई ॥६६॥

रामस्य ततः प्रस्थानमाह—

दिशमर्कवियोगिनीं तथा

दृशमप्येकमगस्तिमाश्रिताम्।

क्षुभितेन हृदा जिगाहिषु-

र्जगदात्मा विधिनेरितोऽचलत् ॥६७॥

अर्कवियोगिनीम् अर्कात् सूर्याद् वियोगवतीम्। तदोत्तरायणस्य जातारम्भत्वादिति भावः। तथा एकम् अगस्तिम् आश्रिताम्। अगस्त्यस्य दक्षिणदिगाश्रितत्वादिति भावः। दिशं दक्षिणामित्यर्थः। अपि च दृशं दृष्टिम्। दृष्टिरपि सूर्यस्य पृष्ठगत्वात् अगस्तेश्च सांमुख्यात्तादृशी एवेति भावः। क्षुभितेन उद्विग्नेन हृदा मनसा जिगाहिषुः व्यवहारे आनेतुमिच्छुः। ऊदित्त्वादिड्वा। अयं भावः–यथा एषा दिक् दृक् च अर्कात् (प्रसङ्गागताद्) वियुज्य एकम् अगस्तिमाश्रिता तथा प्रतिकूलेन विधिना सीताद्वारा एष व्यवहारो न निर्वाहितः। प्रसङ्गागतेन रावणेन मेलिता मत्तो वियोजिता चेति विपरीतमेवाचरितमिति हृदि स्फुरितेन तर्केण

(हेतुना) क्षुभितेन दुःखितेन हृदा दिशं दृशं च जिगाहिषुरिति कथितम्। विधिना दैवेन ईरितः प्रेरितः। जगत आत्मा, अथवा जगत् आत्मा यस्य सः जगदात्मा श्रीरामः। अचलत् ययौ। वियोगिनीपदेन वियोगिनीवृत्तं सूचितम्। तल्लक्षणं तु "विषमे ससजा, गुरुः, समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी" इति ॥६७॥

अर्थ—राम का प्रस्थान—सूर्य से वियोगिनी, तथा अगस्त्य की दिशा यानी दक्षिण दिशा की ओर राम ने प्रस्थान किया। विधि से प्रेरित जगदात्मा राम दक्षिण की ओर चल पड़े ॥६७॥

पम्पादर्शनमाह—

नन्दन्मिलिन्दसुमवृन्दवरां ददर्शै-

कात्म्येन पुष्पसमयेन समं समेताम्।

मञ्जूर्मिलोलतरसारसिकां स पम्पां

जाम्पत्य-सम्पदमतः स्मरति स्म रामः ॥६८॥

इति श्रीकविराजाशुकविना विरचिते
श्रीरामचरिताब्धिरत्ने रामाङ्के महाकाव्ये ऐरावतनामा
दशमः सर्गः समाप्तः ॥१०॥

स रामः पुष्पसमयेन वसन्तेन समं सह ऐकात्म्येन एकः अभिन्न आत्मा स्वरूपम् अन्तरात्मा च यस्यास्तद्भावस्तेन सारूप्येणेति भावः। समेताम् आगताम्। नन्दन्तः प्रमोदमग्नाः मिलिन्दा भ्रमरा येषु तानि यानि सुमानि पुष्पाणि द्रुमकुसुमानि सरोजपुष्पाणि च तेषां वृन्देन वरां मनोहराम्। मञ्जुभिः ऊर्मिभिः तरङ्गैः लोलतराणि चञ्चलतराणि सारसानि कमलानि अथवा लोलतराः सारसाः पक्षिविशेषा यत्र सा ताम्। वसन्त-पक्षे तु मञ्जूर्म्या[1] मनोहरया उत्कण्ठया लोलाः[2] सतृष्णाः तरसारसिकाः[3] शीघ्रतानुरागिणः (जनाः) यत्र स तमितिविभक्तिविपरिणामेन व्याख्येयम्। अतः सरूपयोः सङ्गतयोःपम्पा-वसन्तयोर्दर्शनात् कारणात् जाम्पत्यस्य स्वकीयस्य दम्पतिकर्मणः संपदं संपत्तिं स्मरति स्म। एतौ यथा सह समेतौ तथाऽहं सीतया न समेत इति स्वं दाम्पत्यमस्मरदिति भावः। श्लिष्टोपमा-सहोक्ति-समासोक्तिस्मरणा-नुप्रासालंकाराः ॥६८॥

इति पण्डितविद्याभूषणश्रीभगवतीलालरचितायां
शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्यव्याख्यायां
दशमः सर्गः समाप्तः ॥१०॥

अर्थ—पम्पा का वसन्तसदृश वर्णन—राम ने पम्पा को देखा। जहाँ भौंरे पुष्पों पर मंडराते हुए उन्हें मनोहरता प्रदान कर रहे थे। सुन्दर लहरों से कमल या सारसपक्षी चंचल हो रहे थे।

पम्पा के साथ वासन्ती शोभा को देखकर राम को सीता के न होने से अपने दाम्पत्य जीवन के एकांगी होने की पीड़ा का अनुभव हुआ।

यहाँ कवि ने पम्पा व वसंत का एक साथ वर्णन कर राम के मन में दाम्पत्य जीवन की रिक्तता का अनुभव कराया—यानी उन्हें सीता की स्मृति हो आई ॥६८॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य के 'ऐरावतनामक' दशम सर्ग समाप्त।

---

१. "ऊर्मिः पीडाजवोत्कण्ठा" इत्यादि हैमः।
२. "लोलश्चले सतृष्णे च" इति हैमः। सतृष्णत्वं तु प्रियाधरामृतपानाय।
३. तरसेत्यव्ययं शीघ्रे शीघ्रतायां च।

अथ एकादशः सर्गः

कविः सीताया इन्द्रसमागमे श्रीरामस्य हनुमत्समागमे चोत्प्रेक्षते—

तर्कं कुर्मो विधिरपि नरे-
त्यक्षराग्राद् विलापात्
तोषी सीतारघुवरकृतेऽ-
भून्नरावित्यवेत्य।
गृध्नुर्यस्मादयमपि विपद्-
वैभवस्याऽऽपदब्धौ
रम्यौ पोताविव घटयितुं
शक्रवाती प्रयेते ॥१॥

वयं तर्कं कुर्मः-विधिः दैवमपि। नश्च रश्च नरौ इति अक्षरे अग्रे मुख्ये यत्र स नरेत्यक्षराग्रः तस्मात्, नकाररेफवर्णप्रधानात्। विलापात् सीतारामाभ्यां प्राक् कृताद् विलापनात्। नारी च नरश्चेति नरौ। "स्त्री पुंवच्च" इत्येकशेषः। आदि-स्त्रीपुरुषभूतौ प्रकृतिपुरुषौ इत्यर्थः। इति अवेत्य ज्ञात्वा परिचित्येति यावत्। सीता-कृतेन नकारप्रधानेन विलापेन श्रीरामकृतेन रेफप्रधानेन विलापेन च तत्संसूचित-स्वकीयनरत्वसंकेतं ज्ञात्वेति भावः। सीतारघुवरकृते जानकीरामयोः कृते तोषी प्रमुदितः अभूत्। उत्तरार्धेन तोषप्रमापकं हेतुं दर्शयति-यस्माद् हेतोः विपद्वैभवस्य आपत्तिधनस्य गृध्नुः लोभी अपि। शेषे षष्ठी। अयं विधिः आपदब्धौ विपद्रूप-समुद्रे रम्यौ पोतौ नावौ इव। शक्रवाती इन्द्र-हनुमन्तौ घटयितुं संमेलयितुम्। यथासंख्यं सीतारामाभ्यां सहेति भावः। प्रयेते यत्नं कृतवान्। चिरात् प्रतिकूली-भूतस्य दैवस्य प्रसन्नतयैव सीतया शक्रः श्रीरामेण हनुमांश्च सङ्गत इति भावः। सर्गेऽस्मिन् मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥१॥

अर्थ—सीता को इन्द्र और राम को हनुमान् के मिलने की कवि-कल्पना—यह विधि का विधान ही समझिये कि सीता ने 'नकार' के द्वारा अपने विरह का और राम ने रेफ के द्वारा अपने विरह की व्यंजना की। भावी 'नर' या 'नारी' रूप से प्रकृति-पुरुष के रूप में दोनों का अभेदत्व प्रकट हुआ। इसीलिये प्रसन्न हुये विधाता ने विपदूरूप समुद्र में रम्य पोतों (नावों) की तरह स्थित इन्द्र और हनुमान् को मिलाने के लिये प्रयत्न किया ॥१॥

विशेष—पिछले सर्ग में सीता ने 'नकार' के द्वारा ५६ वें श्लोक में तथा राम ने रेफ के द्वारा ६०वें श्लोक में अपनी व्यथा-कथा कही ॥१॥

द्वाभ्यां श्रीरामहनूमतोः परस्परदृष्टिगो-चरीभावं वर्णयति—

स्यन्नास्राम्बू विपुलपुलकौ,
यद्यपीच्छू अशक्तौ
वक्तुं हर्षाद्, रघुपतिमरु-
न्नन्दनौ भिक्षुवेषौ।
चक्षुर्मार्गं मिथ उपगतौ
दध्यतुः पाम्प-तीरे
'नात्मा तृप्यत्यविरतमिमं
पश्यतो मे' किमेतत् ? ॥२॥

पाम्पतीरे पम्पाया इदं पाम्पं यत् तीरं तस्मिन्। मिथः परस्परं चक्षुर्मार्गं दृष्टिगोचरम् उपगतौ प्राप्तौ। अत एव हर्षात्, प्राक्तनसंबन्धसुलभादिति भावः। स्यन्नानि स्रुतानि अस्राम्बूनि अश्रुजलानि ययोस्तौ। विपुलपुलकौ बृहद् रोमहर्षणौ। यद्यपि वक्तुं संलपितुम् इच्छू, (तथापि) अशक्तौ। तस्माद्धर्षादेवेति भावः। भिक्षु[1]वेषौ

---

१. श्रीरामस्य भिक्षुवेषतायाः प्रदर्शनं यद्यपि अनावश्यकृत्वं तथापि हनुमतः प्रदर्शनाभावश्यकत्वेनैवोक्तम्।

रघुपतिमरुन्नन्दनौ श्रीरामहनुमन्तौ दध्यतुः विचारयामासतुः-एतद्विचारणमपि मिथोविषयकमेवेति मिथ आकृष्यते। इमं पुरो दृश्यमानं भिक्षुं पश्यतो मे आत्मा अन्तरात्मा अविरतं नित्यं न तृप्यति न तृप्तो भवति। एतत् किम् ? कोऽत्र हेतुर्भवेदिति भावः ॥२॥

अर्थ—श्रीराम और हनुमान् का मिलन वर्णन—पम्पा सरसी के तट पर राम ने हनुमान् को और हनुमान् ने राम को देखा। दोनों के प्रेमाश्रु उमड़े, हर्ष से रोमांच हो गया, आनन्दातिरेक से दोनों मग्न हो गये। दोनों तृप्त नहीं हो रहे थे, दोनों की इस अतृप्ति के मूल में कोई-न-कोई हेतु छिपा है ॥२॥

संप्राप्तः किं विपदमसितुं
मूर्तिमान् पुण्यपुञ्जः
पापं यस्माद् भवति विपरी-
तात्म पम्पेति सिद्धम्।
तेर्वाक् तीरद्रव इव परे-
ऽपीष्टयोगा भवन्ति,
हर्षोत्कर्षः प्रथयति पुरो
भाविनीं कार्यसिद्धिम् ॥३॥

किं विपदं सीतावियोगरूपाम् (इति श्रीरामपक्षे), सुग्रीवपत्नीहरणादिरूपम् (इति हनुमत्पक्षे) असितुं दूरीकर्तुं मूर्तिमान् शरीरधारी पुण्यानां पुञ्जो राशिः संप्राप्तः सङ्गतः ? यस्मात् कारणात्। पापं विपरीतात्म विपरीतं सत् विपरीताक्षरयोजनयेत्यर्थः। पम्पा भवति इति सिद्धम् । पम्पाप्राप्तौ पापस्य वैपरीत्यम् अर्थात् पुण्यसंप्राप्तिर्भवेदेवेति भावः। अत एव परे दूरीभूता अपि ते मनश्चिन्तिता इत्यर्थः। इष्टयोगाः शुभयोगाः अर्वाग् यथा स्यात् तथा भवन्ति। आसन्ना भवन्तीत्यर्थः। के इवेत्यपेक्षयाम् उपमिमीते-तीरद्रव इव तटवृक्षा इव। जलाशयतीरतो[1] मिथोऽभिमुखमुपसर्पतो जनस्य परे पारवर्तिनः तीरवृक्षा यथा अर्वाक् अवारं भवन्ति तथा मम ते मनश्चिन्तिताः शुभयोगाः अवारं समीपं भवन्तीत्याशयः। पुनः प्रागुक्तं समर्थयते-हर्षस्य उत्कर्षः पुरोभाविनीम् अग्रतोभविष्यन्तीं कार्यसिद्धिं प्रथयति सूचयति। 'प्रथ प्रख्याने' इत्यस्य रूपम् ॥३॥

अर्थ—सीता के वियोगरूपी राम की विपद् को दूर करने के लिये हनुमान् रूप से और सुग्रीव की पत्नी हरणरूपी हनुमान् की विपद् को दूर करने के लिये रामरूप से-मानों दो पुण्य पुञ्ज "मूर्तियाँ साकार हुई हैं। पम्पा के तट पर पाप के विरुद्ध पुण्य रूप कुछ घटित होने को है। 'पापं' इस शब्द को विपरीत करने पर 'पम्पा' शब्द सिद्ध होता है।

राम और हनुमान् दोनों के मन की चिन्ता दूर हो गयी और शुभयोग प्रकट होने को आया। दोनों के हर्ष का उत्कर्ष यह सूचित करता है कि दोनों की भावी कार्यसिद्धि निकट हैं ॥३॥

अथ द्वाभ्यां भक्तिनम्रस्य हनूमतः श्रीरामपादाभिवादनं वर्णयति—

नुन्नः स्वेनोच इति हनुमान्
'कौ युवां' तत्र मन्येऽ-
मान् मोदौघोऽवहदणु जग-
द्धातृरुद्धाद् हृदब्धेः।
बद्धानम्राञ्जलिरधिगताऽ-
र्थोऽथ रामं ववन्दे
लीनीभूय भ्रमर इव तत्
पादपाथोजयुग्मे ॥४॥

---

१. अत्र जलाशयः पम्पा। तस्याः उभयोर्दर्शनानुभूता उपमा।

स्वेन आत्मना नुन्नः प्रेरितः हनुमान् इति ऊचे- युवां कौ ? तत्र इत्येतन्मात्रकथनविषयेऽहं मन्ये शङ्के। अमान् पूर्णतया स्थातुम् अशक्नुवन् मोदौघः हर्षसमूहो हर्षरूपो जलपूरश्च जगद्धात्रा जगद्-धरणशीलेन विष्णुना (श्रीरामेण) रुद्धात् व्याप्तात् हृदब्धेः हृदयरूपसमुद्रात् अणु अल्पं यथा स्यात्तथा। किंचिन्मात्रमित्यर्थः। अवहत् उच्छलति स्म। विष्णोरब्धिशयनम् उचितम्। हृदि अब्धिसमारोपेण हनूमतो हृदयगाम्भीर्यं द्योत्यते। ततो मोदौघस्य वहनाद् रामहृदयतोऽवहनाच्च रामहृदयस्य गंभीरतरत्वम् जगत्त्रयधर्तृव्याप्तात् हृदब्धेर्मोदौघस्य वहनम् अधिकालंकारं सूचयति। अथ एतदनन्तरम् अधिगतार्थः ज्ञाततदुक्तवृत्तः (हनुमान्)। बद्धः योजितः आनम्रः नतीभूतः अञ्जलिर्येन स तथोक्तः सन्। तत्पादपाथोजयुग्मे श्रीरामचरणकमलयुगले भ्रमर इव लीनीभूय रामं ववन्दे तुष्टाव[1] ॥४॥

अर्थ—भक्ति से नम्र हनुमान् की राम के पादपद्मों में प्रणति—अपने अन्तःकरण से स्वतः प्रेरित 'आप दोनों कौन' इतना ही हनुमान् कह पाये। उनके हृदय के सागर में जैसे विष्णुरूप से राम ही विराज रहे थे, तीनों लोकों को धारण करने वाले विष्णु हनुमान् के गहरे हृदयसागर में समाये हैं। हनुमान् और हृदय की गम्भीरता यहाँ प्रकट हैं। उन्होंने दोनों हाथों की अंजलि बनाकर राम को प्रणाम किया। भौंरे की तरह राम के कमलसदृश दोनों चरणों में वे लीन हो गये॥४॥

श्रीहनूमतो रामचरणनिलीनतां वर्णयति—

शङ्के तस्य क्षणमनिमिषी-
भूय दृग् देवसिन्धुं
तत्रैकाग्रा व्यचिनुत चिरं
काम्यकेलिं चिकीर्षुः।
योग्यं नौज्झत् परमहिमव-
द्धाम तन्मानसं वा,
जह्यात् तज्ज्ञः सघुटिकपदं
किंनु पाणिन्युपात्तम्? ॥५॥

तत्र पादपाथोजयुग्मे एकाग्रा तस्य हनुमतः दृक् दृष्टिः क्षणम् अनिमिषीभूय दर्शनलोभेन निर्निमेषा भूत्वा मत्स्यीभूयेति च ध्वन्यते। काम्यकेलिम् अभिलषितां क्रीडां चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः। देवसिन्धुं गङ्गाम् चिरं व्यचिनुत अन्वेषयति स्म। मत्सी हि गङ्गामन्वेषयेदेव। ''सुरमत्स्यावनिमिषौ'' इत्यमरः। विष्णुपद्या विष्णु- (राम) पद-प्रभवत्वादित्युत्प्रेक्षितम्। इत्यहं शंके। वा अथवा तन्मानसं तस्य हनूमतो मानसं मनः मानसाख्यं सरश्च। परमहिमवत् परोऽत्युत्कृष्टो यो महिमा तद्वत् यद् धाम स्थानं (श्रीरामचरणरूपं), मानससरःपक्षे तु-परमं यद् हिमवद्धाम हिमालयस्थानं न औज्झत् नो अत्यजत्। इति योग्यमुचितम्। किं नु तज्ज्ञः सघुटिकपदज्ञः पाणिन्युपात्तं पाणौ हस्ते न्युपात्तं गृहीतं सघुटिकं सगुल्फं पादग्रन्थिसहितमित्यर्थः। ''तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ'' इत्यमरः। पदं चरणं जह्यात् त्यजेत् ? न कदापीत्यर्थः। अथच-पाणिन्युपात्तं पाणिनिना उपात्तं गृहीतं दर्शितमित्यर्थः। सघुटिकं घुसंज्ञाटिसंज्ञासहितं पदं सुप्तिङन्तं शब्दस्वरूपं तज्ज्ञः किं न जह्यात् ? इत्यप्यर्थो ध्वन्यते। घुटिसंज्ञान्तयोरत्रैवोदाहरणम्-उपात्तं[2] किं[3] च ॥५॥

अर्थ—हनुमान् का राम के चरणों में लीन होने का वर्णन—हनुमान् की आँखें निर्निमेष हो भगवान् राम के रूप-समुद्र में काम्य (अभिलषित) केलि (क्रीडा) करने लगी। आँखें इस समय मछली बन गई थी—यानी मछली की तरह अनिमेष हो गई थी। हनुमान् के हाथ राम के टखनों वाले दोनों चरणों को क्षण भर के लिये भी छोड़ नहीं रहे थे।

---

१. अत्रत्या स्तुतिस्तु परिशिष्टे द्रष्टव्या।

२. 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञकाद्दाञो ''अच उपसर्गात्तः इति तः।

३. 'कायतेर्डिमिः' इति डिमि प्रत्यये ''अचोऽन्त्यादि टि'' इति किम इमष्टिसंज्ञायां ''टेः'' इति टिलोपः।

जैसे पाणिनि द्वारा वर्णित घु संज्ञा टि संज्ञा सहित पद को उस शास्त्र का जानकार छोड़ता नहीं है यानी साथ ही रखता है—अब हनुमान् भी राम चरणों का यह आश्रय कभी छोड़ने वाले नहीं है।

यहाँ कवि ने अपनी व्याकरणनिष्णातता को सूचित किया है॥५॥

विशेष—श्लोक में "उपात्तम्" शब्द घुसंज्ञा का, और 'किम्' शब्द टि संज्ञा का उदाहरण है॥५॥

श्री हनूमतोऽभिमतां प्रार्थनामाह—

नम्रोऽपीत्युन्नमित उचिता-

लिङ्गनै राघवेण

विस्तीर्णं स्वाधिपविपदमा-

वर्ण्य वातिः स ऊचे।

तीर्णोऽद्याऽऽपज्जलधिरमुना

दर्शनेनोज्झतान्नै-

णंमन्यं मां नखकरजला

तेऽङ्घ्रिभा-दिव्यदूर्वा॥६॥

इति इत्थम् नम्रोऽपि पादावनतोऽपि स वातिः हनूमान्। राघवेण रामेण। उचितालिङ्गनैः योग्यालिङ्गन-द्वारा उन्नमितः ऊर्ध्वीकृतः उन्नतिं प्रापित इति च ध्वन्यते। स्वाधिपस्य स्वस्वामिनः सुग्रीवस्य विपदं विस्तीर्णं विस्तृतं यथा स्यात्तथा। सविस्तरमित्यर्थः। दुन्दुभियुद्धादारभ्य राज्यहरणान्तमिति भावः। आवर्ण्य वर्णयित्वा ऊचे-अमुना अनेन दर्शनेन। भवत इति शेषः। अद्य आपज्जलधिः अयं विपत्समुद्रः तीर्णः उल्लङ्घितः। आशापूर्तौ असंदेहाद् भूतकालप्रयोगः। स्वकीयम् आशंसनमाह-नखकरजला नखकिरणा एव जलानि यत्र सा। ते तव। अङ्घ्रिभा चरणकान्तिरेव नीलत्वाद् दिव्या दूर्वा। एणं मन्यम् आत्मानं हरिणं मन्यमानं माम्। न उज्झतात् नो त्यज्यात्। हरिणो दूर्वाम् इवाहं त्वच्चरणकान्तिं कदापि न त्यजेयमिति भावः। विनीतस्य भक्तस्याहंकारत्यागात् कर्तृकर्मणोर्वैपरीत्येन प्रयोग उचितः॥६॥

अर्थ—हनुमान् की अभिमतकथनरूप प्रार्थना—राम ने चरणों में झुके हुए हनुमान् को उठाकर अपना आलिंगन दिया हनुमान् ने अपने स्वामी सुग्रीव की सारी विपत्तियों का विस्तार से वर्णन किया तथा यह कहा कि आपके दर्शन से हम विपत्तियों के सागर से पार हो गये हैं।

आपके चरणों की कान्ति जलवत् है और चरणों की नीली आभा दूब की तरह है और मैं (हनुमान्) मृग की तरह हूँ—अतः प्रार्थना है कि मुझ हरिण को कभी चरण रूपी दूब से दूर न करें यानी नित्य शरण में रखकर मेरी मनोवाच्छा पूर्ण करते रहें॥६॥

अथ हनुमत आत्मपरिचयप्रदानमाह—

पुत्रो वायोरनघ हनुमान्

नाम जातोऽञ्जनायां

प्लुत्वा जात्या कपिरुपगतो-

ऽहं गिरेर्ऋष्यमूकात्।

वेषं भिक्षोर्यदकृषि भव-

ज्ज्ञीप्सया, तत् त्रपेऽहं,

लज्जैव स्यात् कृतकरचनं

त्वादृशे सर्वविज्ञे॥७॥

हे अनघ निष्पाप श्रीराम! अहम् अञ्जनायां तदाख्यायां वानर्यां जात उत्पन्नः। अत एव जात्या कपिः। हनुमान् नाम। वायोः पुत्रः। ऋष्यमूकाद् गिरेः पर्वतात्। प्लुत्वा उच्छल्य। उपगतः आगतः। यद् भवतः तव ज्ञीप्सया ज्ञपयितुं ज्ञातुम् इच्छया। 'आपृज्ञ-प्यृधामीत्' इतीत्वाभ्यासलोपौ। 'सनीवन्तर्ध०' इती-ड्विकल्पः। भिक्षोः वेषम्। अकृषि अकरवम्। तदहं त्रपे

लज्जे। इदमेव अर्थान्तरेण समर्थयते त्वादृशे भवादृशे सर्वविज्ञे सर्वज्ञे कृतकं कृत्रिमं रचनं लज्जा एव स्यात्॥७॥

अर्थ—हनुमान् का अपना परिचय देना–हे निष्पाप राम ! मैं वायु का पुत्र हूँ। मेरी माँ अंजना है। मैं कपि हूँ। मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ आया हूँ।

मैं आपकी पूरी जानकारी लेने के लिये भिक्षु का वेष बनाकर आया हूँ–इसके लिये मैं शर्मिन्दा हूँ।

मैंने बनावटी वेष किया, आप जैसे सर्वज्ञ के सम्मुख यह मेरे लिये लज्जास्पद है॥७॥

प्राग्वर्णितविपदः स्वामिनो निवासादि कथयति—

वर्ग्यैर्वाल्यग्रजविधुरित-
स्तत्र सुग्रीवनामै-
णार्भः कोकार्दित इव शशैः
सीम्नि, नस्तिष्ठतीशः।
णस्सन् नः स्यात्, पुनरपि स धा-
त्वादिगः प्रोपसर्गाद्,
वंश्यो राट् सन्नपि स स तथा-
ऽभूत् तदीयोपसर्गात्॥८॥

तत्र ऋष्यमूके। वालिनामा अग्रजो ज्येष्ठो वाल्यग्रजः तेन विधुरितः व्याकुलीकृतः सुग्रीवनामा नः अस्माकम् ईशः स्वामी वर्ग्यैः स्ववर्गजनैः (सह) तिष्ठति वसति। अत्रोपमानवाक्यमाह-सीम्नि अगम्यस्थान[1]-सीमायां शशैः (सह), कोकेन वृकेण अर्दितः पीडितः एणार्भः हरिणशावकः इव। अथ तस्य राज्यप्राप्तिं राज्यभ्रंशं चोत्तरार्धेन वर्णयति-उत्तरवाक्यस्थित-तथाशब्द-प्रभावात्पूर्ववाक्ये यथा इति उन्नेयम्। यथा धात्वादिगः णदादिधातुपूर्ववर्ती णः णकारः सन् नः नकारः स्यात्। पुनरपि प्रोपसर्गात् स अर्थात् णकारः स्यात्। तथा स सुग्रीवः वंश्यः वंशजातमात्रः राट् राजा सन् अपि, तदीयात् वालिसम्बन्धिनः उपसर्गात् उपद्रवात् स अर्थात् वंश्यः[2] (एव) अभूत्। पूर्वं राजा भूत्वा वालिकृतेनोपद्रवेण पुनः यथापूर्वमवस्थां प्राप्त इतिभावः॥८॥

अर्थ—स्वामी की विपत्ति का वर्णन करने के बाद उनके निवास का कथन–अपने बड़े भाई वालि से डरा हुआ सुग्रीव अभी ऋष्यमूकपर्वत (जहाँ वालि शाप के कारण जा नहीं सकता) पर अपने सहचरों के साथ रहता है, वह वालि से ऐसे भयभीत है, जैसे हरिण भेड़िये से डरा हुआ है।

यह सुग्रीव कहने के लिए राजा है; पर है राज्यच्युत। जैसे व्याकरण में धातु के आदि का णकार नकार हो जाता है, पर, वही उपसर्ग के योग से पुनः णकार बन जाता है, उसी प्रकार आपके सहयोग से वह पुनः राज्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है॥८॥

तत् स्याद् राज्यापहरणमपि
स्त्रीहृतिः केन सह्या ?
त्रस्तः कुर्यात् किमपि न बलो-
च्छृङ्खलात् किन्तु दीनः।
लङ्घ्या साऽऽपत्सरिदनघ ! ते
सत्कृपा-नावमाप्य
कां नो सिद्धिं भजति महता-
माश्रितः पादपद्मम्॥९॥

अपि इति कामचारे। तत् राज्यस्य अपहरणं स्याद् भवेत्। ज्येष्ठत्वादिति भावः। स्त्रीहृतिः पत्नीहरणं केन सह्या क्षम्या ? न केनाऽपीत्यर्थः। किन्तु बलेन

---

१. इत्यनेन ऋष्यमूकोऽपि शापप्रभावाद् वालिनाऽगम्य आसीदिति व्यक्तम्।

२. राजेतरा वंश्यपदमात्रेणैव व्यपदिश्यन्ते।

उच्छृङ्खलात् मर्यादोल्लङ्घिनः (जनात्) त्रस्तः भीतः। दीनः हीनबलः किमपि न कुर्यात्। नो कर्तुं शक्नोतीति भावः। शकि लिङ्। हे अनघ श्रीराम ! सा आपत्सरित् विपत्तिरूपा नदी। ते सत्कृपारूपां नावम्। आप्य लब्ध्वा। लङ्घ्या लङ्घितुं शक्या। अत्र अर्थान्तरं न्यस्यति-महतां स्वगुणप्रभावेण महिमानं प्राप्तानां पादपद्मम् आश्रितः जनः कां सिद्धिं नो भजति प्राप्नोति? अपितु सर्वप्रकारामिति भावः॥९॥

अर्थ—सुग्रीव का राज्य-हरण हुआ सो हुआ; उसकी स्त्री का भी हरण कर लिया गया ! कौन इसे सह सकता है, पर सुग्रीव दीन है, बड़े भाई की उच्छृंखलता के सामने उसका वश नहीं चला। इसलिए मन मारे छिपा पड़ा है। हे अनघ ! आपकी कृपारूपी नौका को पाकर वह इस विपत्तिरूपी नदी से पार हो सकता है।

बड़ों के चरण-कमलों का सहारा पाकर कौन ऐसा है, जो सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता ?॥९॥

विशेष—यहाँ अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार है; विशेष का सामान्य से समर्थन॥९॥

द्वाभ्यां हनुमानुभयोर्मिथः कार्यसाधन-युक्तिमाह—

स त्वं तुल्यव्यसनसुलभां
प्राप्य सुग्रीवमैत्रीं
मार्गभ्रष्टं द्विपमिव मदा-
न्धं प्रभो वालिनं घ्नन्।
साधौ राज्यं सुहृदि घटया-
ऽरिं जयाऽथास्य साह्या-
द्यत्प्राज्ञानां क्षितिरिव फले-
न्नैकमर्थं क्रियैका॥१०॥

भोः प्रभो ! स त्वं तुल्ये स्त्रीहरणप्रसङ्गात् समाने व्यसने दुःखे सुलभाम् अनायासप्राप्यां सुग्रीवमैत्रीं प्राप्य। द्विपं गजमिव मार्गभ्रष्टं धार्मिकपथच्युतम् उत्पथगामिनं च मदान्धं गर्वान्धं दानजलोन्मत्तं च वालिनं तन्नामानं सुग्रीवज्येष्ठं घ्नन् मारयन् सन्। साधौ सुजने सुहृदि सुग्रीवे राज्यं घटय योजय देहीत्यर्थः। अथ तदनन्तरम्। अस्य सुहृदः सुग्रीवस्य साह्यात् साहाय्यात्। अरिं शत्रुं दारापहारिणं रावणमिति भावः। जय वशीकुरु। यद् यस्मात् कारणात् प्राज्ञानां बुद्धिमताम् एका क्रिया कार्यम् एकम् अर्थं प्रयोजनं न फलेत् उत्पादयेत्। किन्तु अनेकमिति भावः। यद्वा नैकधेत्यादिवत् नशब्देन समासे कृते, नैकम् अर्थात् अनेकमर्थं फलेदित्यर्थः। किमिवेत्यपेक्षायामुपमानमाह-क्षितिरिव भूमिरिव। भूमिरपि एकैव धान्यरत्नादिकमनेकमर्थं फलति तथेत्यर्थः। अथच–'क्षि निवासगत्योः' तथा 'क्षि क्षये' इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्तिन्नन्तस्य क्षितिशब्दस्य सिद्धेः "क्षितिर्वासक्षयोर्वीषु" इति कोशवचनात् क्षितिशब्दो-ऽप्यनेकमर्थं फलतीत्यपि व्याख्या भवितुमर्हति॥१०॥

अर्थ—दोनों के यानी राम और सुग्रीव के मिलन से दोनों की कार्य सिद्धि–ऐसा हनुमान् द्वारा कथन।

हे राम ! आपकी स्त्री का भी हरण हुआ है, इसलिए आप भी उसके समान ही विपत्ति में है। अतः आप मार्गभ्रष्ट मदोन्मत हाथी की तरह वालि को मार कर सुग्रीव को सहयोग दें। वह भी आपको शत्रुओं को मारने में व स्त्रीप्राप्ति में सहयोग देगा।

बुद्धिमानों को एक क्रिया केवल एक ही फल नहीं देती, बल्कि अनेक फल देने वाली होती है। जैसे–एक ही क्षिति-(पृथ्वी) धान्य-रत्न-फल-मूलादि अनेक पदार्थों को प्रदान करती है। जैसे—क्षि क्षये, "क्षि निवासगत्योः" इन दो धातुओं से क्तिन् प्रत्यय करने पर क्षिति शब्द निष्पन्न होता है। अतः क्षिति शब्द भी अनेक अर्थों को प्रकट करता है॥१०॥

विपदि विदुषा धीमता धैर्यं सेव्यं धारणीयम्। एतदेव द्रढयति-इह जगति किल स्वस्थताया आरोग्यस्य उपेक्षणम् उपेक्षाविषयीकरणं सर्वांशतः पूर्णतयेत्यर्थः। नाशः ॥२५॥

अर्थ—कामदेव धनुष-बांण धारण कर शिव से भिड़ने गया था पर शिव की दृष्टि से जलकर खाक हो गया। इसी प्रकार चिन्ता जब शरीर को व्याकुल कर देती है तो धैर्य धारण कर उसे हटाया जाता है—इसीलिये धीरज धारण करने से सब काम बनता है। आरोग्य की उपेक्षा करना सब प्रकार से नाश का द्योतक है ॥२५॥

ग्रस्तौ मुक्तौ किमिह तमसा
पुष्पवन्तौ न दृष्टौ ?
गान् मा शोकं किमपि युवयो-
श्चेत इत्याकलय्य।
हर्षादाज्ञापयतु रघुराट्
किञ्च सुग्रीव गृह्णा-
त्वाज्ञाभारं स्वशिरसि भवान्,
स्यात् कुतो नार्थसिद्धिः?॥२६॥

किम् इह जगति तमसा राहुणा ग्रस्तौ पुष्पवन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ मुक्तौ तेन राहुणा उत्सृष्टौ न दृष्टौ ? अपितु दृष्टावेव। इति आकलय्य ज्ञात्वा। युवयोः चेतः मनः किमपि ईषदपि शोकं मा गात् मा प्राप्नोतु। तथा भवन्तावपि विपन्मुक्तौ भविष्यत इति भावः। रघुराट् भो राम ! भवान् हर्षाद् आज्ञापयतु। किञ्च तथा हे सुग्रीव ! भवान् स्वशिरसि आज्ञाभारं गृह्णातु। कुतोऽर्थसिद्धिः कार्यसाफल्यं न स्यात् ? अपितु स्यादेवेति भावः॥२६॥

अर्थ—क्या आपने नहीं देखा है कि राहु से ग्रस्त सूर्यचन्द्र आखिर मुक्त होते ही हैं—उसी तरह हे सुग्रीव ! तुम राम की आज्ञा को ग्रहण करो और राम आज्ञा प्रदान करें। तब दोनों का यह मेल अभीष्ट सिद्ध करने वाला होगा॥२६॥

सप्ताश्वेन्द्वोः पुर इव लघु-
र्दीपदीप्तिर्मदीया
तत्त्वज्ञात्रोः पुरत इति वां
वागकिंचित्करी स्यात्।
मन्तुः किन्तून्मितमवदतो
मंन्त्रिनाम्ना स्थितस्य
त्रिष्वप्येतत् स्थितमिह जगत्-
स्वर्ह एवोपचारः॥२७॥

सप्ताश्वेन्द्वोः सूर्याचन्द्रमसोः। पुरः अग्रे लघुरल्पा दीपदीप्तिः दीपककान्तिरिव। तत्त्वज्ञात्रोः तत्त्वज्ञानशीलयोः वां युवयोः पुरतोऽग्रे इति इत्थम्। मदीया वाग् वाणी अकिंचित्करी अकिंचित्करणशीला स्यात् भवेत्। किन्तु उन्मितं तुलिताक्षरं नतु विस्तृतमिति भावः। अवदतः अब्रुवतः। मन्त्रिनाम्ना मन्त्रीति व्यपदेशेन स्थितस्य नियतस्य जनस्य। मन्तुः अपराधः। भवतीति शेषः। यदाह—"सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरः किल्बिषभाग् भवेत्॥" इति। इह त्रिषु अपि जगत्सु न त्वत्रैवेति भावः। एतत् कथ्यमानं स्थितम्—उपचारः व्यवहारः। वक्तृ-वचनश्रोतृश्रवणात्मक इति भावः। अर्हो योग्य एव। उपचारस्तु स्यादेवेति भावः॥२७॥

अर्थ—आप दोनों तत्त्वज्ञ हैं। सूर्य-चन्द्र वत् है मेरा यह कथन दीपक सा तुच्छ है। इस थोड़े से कथन को मैंने कह दिया है। एक समय आता है—जब कि मन्त्री न बोले तो अपराध और ज्यादा बोले तो अपराध इसलिये 'तुलिताक्षर' में (विस्तार से नहीं) मैंने अपनी बात कह दी है। तीनों लोकों में यह (वक्तृ-वचन, श्रोता का श्रवण) उचित ही है॥२७॥

अथ त्रिभिः श्रीरामं प्रति सुग्रीवस्य स्वपरि-स्थितिनिवेदनमाह—

सुग्रीवोऽख्यादथ रघुवरं

मित्र वातात्मजेन

तावत् प्रोक्तं न्यशमि भवता

भ्रातृकं वैर-बीजम्।

नह्येतस्मात् पुनरपि तदा-

ख्यानमावश्यकं स्यात्

पिष्टस्य स्याद् यदि खलु पुनः

पेषणं मान्द्यमेव ॥२८॥

अथ सुग्रीवो रघुवरम् अख्यात् उवाच। मित्र ! वातात्मजेन हनूमता प्रोक्तं कथितं तावत् तत्परिमितं विस्तृतमित्यर्थः। भ्रातृकम् अस्मद्भ्रातृद्वयसम्बन्धी-त्यर्थः। वैरबीजं द्वेषकारणं भवता त्वया न्यशमि श्रुतम्। एतस्मात् कारणात् पुनरपि तस्य आख्यानं विस्तर-कथनम् आवश्यकम् अवश्यकर्तव्यम्। मनोज्ञादित्वाद्-वुञ्। नहि स्यात्। एतदेव समर्थयते-खलु इति वाक्या-लंकारे। यदि पिष्टस्य वस्तुनः पुनः पेषणं (तद्) मान्द्यं मूढतैव ॥२८॥

अर्थ—निम्न तीन श्लोकों में सुग्रीव का राम के प्रति आत्म-कथन–हे मित्र ! हनुमान् ने मेरी सारी बातें सुना दी हैं, आपने सुना भी है। हम दोनों भाईयों के बैर को बतला दिया गया है। उन सब बातों को दुबारा कहना–पिष्ट-पेषण मात्र होगा। पिष्ट-पेषण करना मूर्खता है ॥२८॥

परिस्थिति-कथनप्रसक्तं हनूमदुक्तस्यापि व्यति-करस्य संक्षिप्तं दिग्दर्शनमाह—

शून्ये राष्ट्रे सति तदवधौ

निर्गते वालिनोक्ते

रक्ष्यं राज्यं सजनसचिवैः

प्रार्थितो भूर्यगृह्णाम्।

मत्वा प्रत्यागतमदिषि चै-

वं स्थिते त्वय्युपेते

क्षंस्ये किं स्त्रीहरणममुना-

ऽऽक्षिप्य निर्वासनं च? ॥२९॥

राष्ट्रे जनपदे शून्ये अराजके सति। वालिना उक्ते कथिते तदवधौ तस्मिन् साग्रसंवत्सररूपे अवधौ निर्गते समाप्ते सति। सजनैः प्रजाजनसहितैः सचिवैः मन्त्रिभिः। भूरि बहु। प्रार्थितः अहं रक्ष्यं रक्षणार्हं राज्यम् अगृह्णाम् गृहीतवान्। च पुनः। प्रत्यागतं प्रतिनिवृत्तं तं वालिनमिति भावः। मत्वा ज्ञात्वा अहं अदिषि दत्तवान्। राज्यमिति भावः। एवम् इत्थं स्थिते। अस्यां दशायां समुपस्थितायां सत्यामिति भावः। त्वयि भवति च उपेते समागते। मया त्वयि उपेते आश्रिते वेति व्याख्येयम्। अमुना वालिना स्त्रीहरणं, च पुनः आक्षिप्य अवहेल्य निर्वासनं मम राज्यतो निष्काशनमिति भावः। किं क्षंस्ये सहिष्ये ? न कदापीति भावः ॥२९॥

अर्थ—फिर भी सारी परिस्थिति को, हनुमान् के कहने पर भी, संक्षेप में दुहराना–देखिए, राष्ट्र सूना था। अवधि बीतने पर भी वालि नहीं आया था। मन्त्रियों ने मिलकर आग्रह किया–राज्य का सूना रहना उचित नहीं सज्जनों की प्रार्थना पर मैंने राज्य ग्रहण किया। फिर वालि ने मेरी स्त्री का हरण कर लिया, राज्य से निकाल दिया। मैं इसे कहाँ तक सहूँ ? अब आपकी शरण हूँ ॥२९॥

चञ्चत्येतद् रघुकुलनृपा-

धीनमास्माकराज्यं

निष्पक्षालम्बनमिह सखे

न्यायमेवाश्रयेस्तत्।

पिष्ट्वा मामप्यनुभव यश-

श्चेदहं सापराधो

यद्दण्ड्यः स्यात् सहजनिरपि-

त्वादृशां न्यायभाजाम् ॥३०॥

एतद् आस्माकम् अस्मदीयम्। "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" इत्यणि अस्माकादेशः। राज्यं रघुकुलनृपाधीनं रघुवंश्यराजायत्तं चञ्चति प्रचलति। रघुणा दिग्विजये वशीकृतत्वाद् रघोर्नामग्रहणं युक्तमेव, अन्यथा 'रविकुल' इत्येवं पठ्येत। तत् तस्मात् कारणाद् हे सखे ! मित्र ! इह अत्र विषये न्यायमेव आश्रयेः आलम्बस्व। चेद् यदि अहं सापराधः (तर्हि) मामपि पिष्ट्वा मारयित्वा यशः अनुभव उपभुङ्क्ष्व। एतदेव द्रढयति–यत् यस्मात् कारणात्। त्वादृशां भवादृशां न्यायभाजां न्यायवताम्। सहजनिः सहजो[1] भ्रातापि। दण्ड्यः दण्डनीयः। स्याद् भवेत्। तद्दण्डनार्हस्य मित्रस्य दण्डदानेऽपि न्यायाचरणेन यश एवेति भावः ॥३०॥

अर्थ—हमारा राज्य आप रघुवंशियों के अधीन रहा है। आप निष्पक्ष होकर न्याय करें। यदि मेरा अपराध हो तो मुझे पीस कर (मारकर) यश प्राप्त करें। यदि वालि का अपराध आपको लगे तो उसे दण्ड दें और मैत्री-निर्वाह कर यश प्राप्त करें ॥३०॥

रामस्य वालिवधोद्यतस्य सुग्रीवं प्रति वचनमाह—

ग्रस्तोन्मुक्तो रविरिव विशे-

षौजसा राघवो भान्

हस्ते स्कन्धाद् धनुरिषुयुतं

बिभ्रदूचे स्फुटार्थम्।

णं न्यायस्य प्रियसख करि-

ष्येऽद्य हत्वाऽग्रजं ते

सख्यं प्राप्स्यं प्रथममुना-

चेदसौ धर्म्यवर्त्स्यत् ॥३१॥

विशेषेण पूर्वापेक्षया उद्दीप्तेन ओजसा तेजसा ग्रस्तोन्मुक्तः पूर्वं ग्रस्तः (राहुणा) पश्चादुन्मुक्तः रविः सूर्य इव भान् दीप्यमानः राघवो रामः स्कन्धात् इषुयुतं बाणान्वितं धनुः हस्ते करे बिभ्रत् धरन् सन्। स्फुटार्थं स्पष्टार्थं (वचनं) ऊचे-हे प्रियसख ! प्रियमित्र ! अद्य ते तव। अग्रजं ज्येष्ठं वालिनमिति यावत्। हत्वा न्यायस्य णं निर्णयम्। "णकारः कीर्तितो ज्ञाने निर्णयेऽपि प्रकीर्तितः।" इत्येकाक्षरः। करिष्ये। अधर्मित्वेन तद्धननस्य न्याय्यत्वं दर्शयन्नाह-चेद् यदि। असौ त्वदग्रजो वाली। धर्मी धार्मिकः। अवर्त्स्यत् अभविष्यत्। (तर्हि) प्रथमं पूर्वम् अमुना अनेन (सह) सख्यं मैत्रीं प्राप्स्यम् अकरिष्यमित्यर्थः। त्वया सह नेति भावः ॥३१॥

अर्थ—वालि-वध के लिये तैयार राम के प्रति सुग्रीव का कथन–ग्रहण से मुक्त होकर सूर्य और अधिक तेजस्वी हो ज़ाता है उसी प्रकार राम तेज से भर गये। कन्धे से धनुष हाथ में लिया, उस पर बाण चढ़ाकर कहा प्रिय सखे ! प्रश्न न्याय का है। अतः तेरे बड़े भाई को जिसने तेरे साथ अन्याय किया है, मारूंगा अगर वह (वाली) धार्मिक होगा तो पहिले मैं उससे मित्रता करूँगा, तेरे साथ नहीं ॥३१॥

मुह्यो मा स्म स्वजन इति तं

दर्शयाग्रेसरः सन्

पापी केनाऽप्यकथितपथो-

ऽप्येति कर्मोपभोगम्।

---

१. दिव्येन पुरुषेण सह संलपतो रामस्य पार्श्वे प्राग् निषिद्धोऽपि लक्ष्मणः सन्नतः। ततश्च सोऽपि रामेण दण्डित इत्युत्तरकाण्डीया कथात्रानुसंधेया।

गच्छत्वस्मात् परमपि परं

दुष्कृतं स्वैर्यसौ मा

मत्वैवं तद्धितमहमयं

त्वत्सहायः करोमि ॥३२॥

स्वजनो बन्धुरिति कारणात्। मा स्म मुह्यः मोहं मा प्राप्नुहि। अग्रेसरः अग्रगः सन् तम् अग्रजं (वालिनं) दर्शय। यदि त्वं मोहाकुलितत्वेन न दर्शयिष्यसि तथाप्येषः अनुजवधूधर्षणरूपस्वपापफलं मरणरूपं भोक्तैवेत्याशयेनाह-केनापि अकथितपथः अप्रदर्शित-मार्गोऽपि पापी कर्मोपभोगम् एति प्राप्नोति। तर्हि मारणमेव को नाम निर्णयः, भवतु कोऽपि क्रूरतरो दण्ड इत्यपेक्षायामाह-असौ अयं (वाली) स्वैरी निरवग्रहः स्वच्छन्दचारीत्यर्थः। अस्मात् परम् अनुजवधूधर्षणा-दुत्तरं परमन्यद् दुष्कृतं पापं मा गच्छतु प्राप्नोतु। एवं मत्वा ज्ञात्वा। त्वत्सहायः त्वत्साहाय्यमाप्तः सन्निति भावः। अयमेषः अहं तस्य वालिनो हितं करोमि करिष्यामि। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्॥३२॥

अर्थ—अब तुम अपने भाई के मोह में न आना। आगे बढ़कर उस पापी को दिखाओ। तुम यदि मोह में पड़कर उसे न बतलाओगे तो भी मैं अनुज के साथ पापाचरण करने वाले उस स्वच्छन्दचारी को, मरण का दण्ड अवश्य दूंगा। क्योंकि आगे वह फिर से ऐसा पाप नहीं करें।

इस प्रकार विचार कर देखने पर तुम अनुभव करोगे कि तुम्हारी, सहायता प्राप्त कर, मैं उसका हित ही करूंगा।

पापी को दण्ड देना-समाज के लिए उदाहरण है और पापी का भी परोक्ष रूप से हित ही है॥३२॥

सुग्रीवस्य भ्रातृप्रदर्शने त्रपात्रासहेतोः कातरतामाह—

अस्मिन् कोपाद् वचसि भरत-

ज्यायसा प्रोच्यमाने

त्रेपेऽत्रासीदथ हरिवरो-

दर्शको भ्रातृसिंहम्।

णोपेतोऽभूद् हरिण इति सो-

ऽप्युह्यमानाद् हरित्वा-

न्मुक्तीभावं हृदि समभिल-

ष्येति संतर्कयामः ॥३३॥

भरतज्यायसा रामेण। कोपाद् अस्मिन् वचसि प्रोच्यमाने सति। भ्रातृसिंहं भ्राता वाली एव बलातिरेकात् सिंहः तम्। दर्शकः दर्शयितुकाम इत्यर्थः। "तुमुन्ण्वुलौ" इति ण्वुल्। हरिवरः वानरवरः सुग्रीवः त्रेपे ललज्जे अथ च अत्रासीत् भीतः। भ्रातृत्वात्तस्य मारणार्थं लज्जा, तस्य च बलातिरेकात् सिंहत्वेन त्रास इति भावः। तत्रोत्प्रेक्षते–उह्यमानाद् (आत्मना) ध्रियमाणादपि हरित्वाद् वानरत्वाद्। मुक्तीभावम् उन्मुक्तताम्। हृदि मनसि। समभिलष्य कामयित्वा। णोपेतः णकारयुक्तः (हरिः) हरिणः मृग इति एवं रूपः सः (सुग्रीवः) अभूत् इति संतर्कयामः। हरिरपि णकारवृद्धौ भ्रातृसिंहप्रदर्शनार्थं हरिण एव जात इति भावः ॥३३॥

अर्थ—सुग्रीव का वाली को दिखाने में लज्जा व भय हेतु से कायरता का वर्णन–राम की कोप से भरी वाणी सुनकर भी, सुग्रीव को अपने भाई वाली को दिखाने में लज्जा का भय का अनुभव हो रहा था। भाई वाली उसे सिंह की तरह लग रहा था, यद्यपि वह हरिवर (कपियों में श्रेष्ठ) था फिर भी वालीरूपी सिंह के सामने अपने को णकार से युक्त हरि (हरिण) समझ कर डर रहा था।

सुग्रीव वाली के सामने भाग गया था—अतः लज्जा, तथा वह सिंह सा मालूम हो रहा था, अतः भय का अनुभव कर रहा था॥३३॥

रामेण सुग्रीवस्य प्रोत्साहनं तत्प्रतिवचनं चाह—

तद्रूपं स प्रभुरकथयत्

प्रेक्ष्य संस्मारयंस्त-

मात्मानं भो असि हरिसुतः

सोऽपि नूनं स एव।

मा भैषीस्तद् विफलमथ स

स्माह रामं रुमेशो

नंष्टा वाली किमिति भवतः

सांशयिक्यस्ति धीर्मे॥३४॥

स प्रभू रामः। तद्रूपं तथाभूतं तं प्रेक्ष्य। तम् आत्मानं तत्स्वरूपमित्यर्थः। संस्मारयन् स्मृतिमानयन् सन्नकथयत्-भोः ! त्वं हरिसुतः वानरपुत्रः असि। नूनं निश्चयेन। सोऽपि वाली अपि। स एव हरिसुतो वानरपुत्र एव। अथच—त्वं हरेः सूर्यस्य सुतः। सोऽपि स एव हरिसुतः। हरेः इन्द्रस्य सुतः इति ध्वन्यते। "हरिर्विष्णा-वहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ। चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः॥" इति यादवः। तत् तस्मात् कारणाद्। विफलं व्यर्थम्। मा भैषीः भयं मा गच्छ। अथानन्तरं स रुमेशः सुग्रीवः रामम् आह स्म—किं भवतः त्वत्तः वाली नंष्टा नङ्क्ष्यति। "मस्जिनशोर्झलि" इति नुम्। इति मे मम। धीः बुद्धिः। सांशयिकी संशयमापन्ना अस्ति। "संशयमापन्नः" इति ठक्॥३४॥

अर्थ—सुग्रीव को उत्साहित करने वाले राम के वचन—सुग्रीव तू अपने को हरि (वानर) का सुत मान रहा है, तो याद रख वह भी तो हरि (वानर) का ही सुत है। तू हरि (सूर्य) का पुत्र है, वह भी हरि (इन्द्र) का पुत्र है। तुम दोनों हरि (वानर) हो, फिर परस्पर भय कैसा।

सुग्रीव, तूं डर मत। तू समझ ले कि-वाली नष्ट होगा। संशय छोड़। यह सुनकर सुग्रीव ने कहा कि क्या आपसे वाली नष्ट हो जायेगा इस विषय में मेरी बुद्धि संशयापन्न है॥३४॥

ज्ञातं तस्यापरिमिति बलं

दुन्दुभिद्वन्द्वयुद्धे

त्वाञ्चाऽऽवेद्मि प्रियसख सुख-

ध्वस्तरक्षःसहस्रम्।

पैशाचेनाकलित इव कि-

न्त्वाक्रमेणोभयत्र

तावद्वीर्यं हृदि दधदपी-

शे न निर्धर्तुमेकम्॥३५॥

दुन्दुभिना तदाख्येनाऽसुरेण यद् द्वन्द्वयुद्धं तत्र। तस्य वालिनः अपरिमिति अपरिमितं बलं ज्ञातम्। मयेति शेषः। हे प्रियसख ! अहं सुखेन अनायासेन ध्वस्तानि नाशितानि रक्षःसहस्राणि चतुर्दशराक्षससहस्राणि येन सः तम्। त्वां च आवेद्मि जाने। किन्तु पैशाचेन पिशाचसंबन्धिना। आक्रमेण आवेशेन आकलित आविष्ट इव। तावत् तत्परिमितं वीर्यं बलम्। हृदि दधदपि विचारयन्नपीत्यर्थः। उभयत्र उभयोर्मध्ये। एकं एकतरम्। निर्धर्तुं निर्धारयितुम्। न ईशे नो शक्नोमि॥३५॥

अर्थ—दुन्दुभि के साथ द्वन्द्व युद्ध में मैं (सुग्रीव) उसके अतुल बल को जान चुका हूँ। इस पर राम ने कहा कि मैंने भी अनायास अकेले चौदह हजार राक्षसों की सेना को मार डाला है, इसे तुम जान लो।

फिर भी तुम (जिस पर पिशाच आक्रमण करले—उसकी तरह) दोनों की शक्ति का कौन बढ़कर है, निर्णय नहीं कर पा रहे हो?॥३५॥

सुग्रीवस्य स्वनिर्णायनोपायकथनमाह—

मन्दं क्षेप्योऽद्रिरिव भवता

दुन्दुभेश्चेच्छवोऽयं

हार्याश्चेमे यदि तु विशिखैः

सप्तभिः सप्त तालाः।

द्वय्येषा मामतिविषमयोः

कार्ययोः सिद्धिरेवाऽऽ-

रात् प्रत्यक्षं नयतु सुतरां

निश्चयं संदिहानम्॥३६॥

चेद् यदि तु। भवता त्वया अयम्। एषः। अद्रिः पर्वतः इव। दुन्दुभेः तन्मारितस्येति भावः। शवः कुणपः मन्दं शनैः क्षेप्यः क्षेप्तुं शक्यः। च पुनः। यदि तु सप्तभिः विशिखैर्बाणैः सप्त तालाः तालद्रुमाः हार्याः हर्तुं भेत्तुं शक्याः। (तर्हि) अतिविषमयोः अतिदुष्करयोः कार्ययोः दुन्दुभिक्षेपणतालभेदनरूपयोः एषा द्वयी उभयी आरात्[१] समीपे। सिद्धिः साफल्यमेव। संदिहानं संशयानं माम् प्रत्यक्षं सुतरां निश्चयं निर्णयं नयतु प्रापयतु। निर्णाययत्वित्यर्थः॥३६॥

अर्थ—सुग्रीव का अपने निर्णय करने के उपाय का कथन—सुग्रीव ने कहा—यदि आप सामने पहाड़ की तरह दिखने वाले दुंदुभि के मृत शरीर के ढेर को सरलता से फेंक सको तथा सामने के सप्त ताल वृक्षों को एक ही बाण में छेद सको, तब मुझे आपकी शक्ति का विश्वास हो जायेगा। तभी मेरा सन्देह जाता रहेगा॥३६॥

चतुर्भिः सुग्रीवोक्तविषये रामस्य विक्रमचेष्टितं वर्णयति—

मर्षं मर्षं कथमपि तदु-

ल्लापमन्तर्दृढीसन्

षड्वर्गाऽन्त्याऽऽक्रममिव परं

सन्मुमुक्षुः स शूरः।

यन्मन्येथास्तदिति कथयन्

सन् पदाङ्गुष्ठकेन

रामोऽक्षिप्यच्छिशुरिव महा-

कन्दुकं दौन्दुभाङ्गम्॥३७॥

परम् उत्कृष्टम्। षड्वर्गस्य कामक्रोधलोभमोह-मदमात्सर्याणां षण्णां वर्गस्य। अन्त्यम्। अन्तिमम् आक्रमम् आक्रमणं (मर्षं मर्षं)। सन् प्रशस्तो मुमुक्षुः मोक्षार्थीव। कथमपि कथंचित् तदुल्लापं तस्य सुग्रीवस्य उल्लापम् उज्जल्पितम्। मर्षं मर्षं सहित्वा सहित्वा। अन्तश्चित्ते। दृढीसन् स्वसाध्यसाधनाय प्रगाढीभवन्। स शूरो रामः। 'यत् त्वं मन्येथाः तद्, भवतु' इति शेषः। इति कथयन्। पदाङ्गुष्ठकेन पादाङ्गुष्ठेन शिशुर्बालो महाकन्दुकं बृहद्गेन्दुकमिव दौन्दुभाङ्गं दुन्दुभिसंबन्धि अङ्गं (मृत-) शरीरम्। अक्षिप्यत् चिक्षेप॥३७॥

अर्थ—चार श्लोकों में राम के विक्रम का वर्णन—जैसे मोक्षार्थी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूप षट् रिपुओं के आक्रमण को सहता हुआ, अपने साध्य साधन में सुदृढ़ रहकर इन पर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार शूरवीर राम ने सुग्रीव के कथन को किसी तरह से सहकर कहा—तो, लो, यही सही यह कहकर पैर के अंगूठे की हल्की सी ठोकर से उस दुन्दुभी के हड्डियो के पर्वतढेर को बड़े भारी गेंद की तरह दूर तक फेंक दिया।॥३७॥

---

१. "आराद्दूरसमीपयोः" इति कोशः।

क्षत्वैकेनाऽपि च स इषुणा-

ऽग्रोन्नतान् सप्त तालान्

सान्वादीप्तानिव कुलगिरी-

नेकवज्रेण वज्री।

वीरस्तालानुकृदभिधम-

प्याशु पातालमद्यद्

रोचिष्णूनामतुलमहसा

किं किलाऽसाध्यमस्ति ?॥३८॥

अपिच किञ्च। स वीरो रामः। वज्री इन्द्रः एकेन वज्रेणं। सानुना शिखरेण आदीप्तान् आभासुरान्। कुलगिरीन् सप्त कुलपर्वतानिव। एकेन एकवारप्रहितेन इषुणा बाणेन। अग्रोन्नतान् अग्रेण शिरोभागेन[1]। उन्नतान् उत्तुङ्गान्। सप्ततालान् तालवृक्षान्। क्षत्वा उच्छिद्य। तालानुकृत् तालानुकारिणी अभिधा नाम यस्य तत्। तालसदृशनामकमिति[2] भावः। पातालमपि। आशु शीघ्रं अद्यत् अखण्डयद् व्यदारयदित्यर्थः। अर्थान्तरेण प्रागुक्तं समर्थयते—अतुलेन अनुपमेन महसा तेजसा रोचिष्णूनाम् आभासुराणां (जनानां) किं किल असाध्यं न साधयितुं शक्यमस्ति ? न किमपीति भावः॥३८॥

अर्थ—और वीर राम ने एक ही बाण से सात ताल के पेड़ों को यों उखाड़ दिया, जैसे इन्द्र ने एक ही वज्र के प्रहार से शिखरों से प्रकाशमान सप्त कुल पर्वतों को ध्वस्त कर दिया था। ताल के समान नाम वाले पाताल को भी शीघ्र ही खण्डित कर दिया। असल में अतुलित तेजस्वी वीर क्या नहीं कर सकते ? उनके लिए असाध्य कोई कार्य नहीं॥३८॥

यन्त्राधीनीकृत इव वृथै-

वाशुगाख्याभिमानी

त्रिष्वप्येतुं प्रभुरपि जगत्-

स्वाशुगाद् राघवीयात्।

णप्राप्त्याऽप्युन्नतसमभिधो-

ऽपीरणार्थः समीर-

स्तान् दृष्ट्वाऽस्ताँल्लयममधृता-

ऽपारितोन्मूलनार्थः॥३९॥

तदानींतनं पवनस्य स्तब्धीभावमुत्प्रेक्षते-यन्त्रेति। यन्त्रं तन्त्रोक्तं देवाद्यधिष्ठानम् तेन अधीनीकृतो वशीकृत इव। वृथैव मुधैव। आशुगः आशु शीघ्रं गच्छतीत्येवंभूतः, आख्या नाम तयाऽभिमानी। त्रिष्वपि पूर्णतया त्रिसंख्या केषु जगत्सु। एतुं गन्तुम्। प्रभुः समर्थोऽपि। णस्य णकारस्य प्राप्त्या लाभेन उन्नता संवृद्धा समभिधा नाम यस्य स तथोक्तोऽपि। समीरस्य सतोऽपि पुनः समीरणत्वेन स्वनाम्नि णकारवृद्धिं प्राप्तोऽपीति भावः। अत एव ईरणार्थः प्रक्षेपणकार्यकर्ताऽपीत्यर्थः। किन्तु अपारितः न कर्तुं शक्तः उन्मूलनार्थः तालवृक्षोन्मूलनकार्यं येन सः तथाभूतः। समीरः पवनः। तान् तालान् अस्तान् क्षिप्तान् उन्मूलितानित्यर्थः। दृष्ट्वा राघवीयाद् रामसंबन्धिनः आशुगाद् बाणात् "आशुगौ बाणविशिखौ" इत्यमरः। लयनं निलयनम् अधृत धारितवान्। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥३९॥

अर्थ—राम के बाण सचमुच आशुग (शीघ्रगामी) हैं हवा तो उस समय एक दम रुक गई। जैसे तन्त्रोक्त वायु हो, जिसका चलना ही न हो। हवा का एक नाम समीर है, जो कि णकार की प्राप्ति से समीरण हो गया है, अतः उसमें ईरण अर्थ होना चाहिए अर्थात् प्रक्षेपण कार्यकर्ता भी उन तालवृक्षों का उन्मूलन नहीं कर सका पर राम के तेज बाण की गति से उन्मूलित उन सात तालवृक्षों को देखकर हवा का वेग रुक गया। अब तो राम के बाण का नाम ही 'आशुग' हो गया, हवा रुक गई स्तब्ध हो गई॥३९॥

---

१. "शिरोऽग्रं शिखरं वा ना" इत्यमरः।

२. तालवृक्षमुद्दिश्य विदारणेन तालानुकारि-पातालस्यापि विदारणं प्रतीयमानत्वेनोत्प्रेक्षितम्।

यन्मत्पुत्रप्रभुशर इति-

स्मैष हर्षप्रकर्षा-

दृच्छत्यात्मोदयमिह, जगत्-

प्राणभावान्न किन्तु।

छत्रीभूते त्रिभुवनपतौ-

नाम लोकत्रयस्य

यायात् क्वात्म-ह्नुतिमशरणः,

किं पुनर्वारतर्की ॥४०॥

तर्हि एवं स्तब्धो वायुः पुनः कथं वातुमारेभे इत्यत आह-यदिति। यद् यस्मात् कारणात्। (अयं) मम पुत्रस्य (वायुपुत्रस्य) हनूमतः प्रभोः स्वामिनः श्रीरामस्य शरः इति कारणात्। एतत्तु मत्पुत्रहनूमत्प्रभोः श्रीरामस्य शरस्यैव चेष्टितमिति ज्ञात्वेति भावः। एष समीरः। हर्षप्रकर्षात् स्वपुत्रप्रभुशरचेष्टितजन्यात् प्रमोदोत्कर्षात्। इह जगति आत्मोदयं स्वस्य प्रादुर्भावम्। ऋच्छति[1] स्म प्राप्नोति स्म। किन्तु जगत्प्राणभावात् जगज्जीवनत्वेन न आत्मोदयम् ऋच्छति स्मेत्यपह्नुतिरलंकारः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-त्रिभुवनपतौ श्रीरामे लोकत्रस्य च्छत्रीभूते सति। अशरणः आश्रयरहितः (जनः) क्व कुत्र नामेति संभावनायाम्। आत्मह्नुतिं स्वगुप्तिं यायात् प्राप्नुयात् ? न क्वापीत्यर्थः। किं पुनः। (सः) वारतर्की द्वारान्वेषी[2] अवसरान्वेषी च "वारः सूर्यादिवासरे। द्वारे हरे कुब्ज-वृक्षे वृन्दावसरयोः क्षणे।" इति मेदिनी। अवसरान्वेषी तु अवसरमन्विष्य आमिलेदेवेति भावः ॥४०॥

अर्थ—पुनः जगत्प्राण हवा क्यों चलने लगी? इसके लिए उत्प्रेक्षा है—बाद में हवा ने विचारा कि मेरा पुत्र हनुमान् है और उसके स्वामी राम का यह बाण है, उसका ही यह कार्य है। इस कारण से प्रमोद के उत्कर्ष से उसने अपना प्रादुर्भाव प्राप्त किया; जगत्प्राणभाव से नहीं। श्रीराम के तीनों लोकों के छत्रभूत होने पर आश्रय रहित मनुष्य कहाँ पर अपने को छिपाये, फिर अवसर को खोजने वाला तो उससे मिलता ही है। उनका बाण यदि 'आशुग' हो तो मेरे लिए शर्म की बात नहीं—आनन्द का उत्कर्ष करने वाली बात हैं इसलिए हवा पूर्णरूप से बहने लगी ॥४०॥

सुग्रीवेण रामस्य किष्किन्धागुहाऽऽ-नयनमाह—

तत् कौसल्यासुतबलमलं

वीक्ष्य सुग्रीव आप-

तोषं, यद्वद् बलपति-बलं-

प्राप्य राजाऽल्पवीर्यः।

दग्धेन स्त्रीविरहशिखिना-

प्रेरितोऽथो हृदैव

ध्वानं मुञ्चन्ननयत गुहां-

तं स किष्किन्धिकीयाम् ॥४१॥

सुग्रीवः तत्। कौसल्यासुतस्य रामस्य। अलं पर्याप्तं बलं पराक्रमं वीक्ष्य। तोषं सन्तोषम् आप लेभे। यद्वद् यथा अल्पवीर्यः स्वल्पपराक्रमः राजा। बलपतेः सेनापतेः। बलं पराक्रमं प्राप्य लब्ध्वा आश्रित्येति यावत्। (तोषम् आप्नोति) तद्वदित्यर्थः। अथो अनन्तरम्। स्त्रीविरह एव शिखी अग्निः तेन। दग्धेन हृदा मनसा एव प्रेरितः। ध्वानं शब्दम् मुञ्चन् उत्सृजन्। स सुग्रीवः। तं रामम्। किष्किन्धिकीयां किष्किन्धा-सम्बन्धिनीं गुहाम् अनयत नीतवान् ॥४१॥

---

१. 'ऋ गतौ' इत्यस्य भौवादिकस्य 'प्राघ्राध्मे' ति ऋच्छादेशे, तौदादिकस्य वा ऋच्छे रूपमिदम्।

२. द्वारान्वेषीति वायुपक्षे।

पुण्यं यत् त्वां घटयितुमना

ऋष्यमूको जपत्यों-

रीं ह्रीं बीजाक्षरितमनुने-

वोच्चझिल्लीरवेण।

राम त्वं तत् सफलय पदा-

ब्जार्पणात् साश्रितं तं,

वन्द्या ह्येकोपकृतिविधिना

क्लृप्तसर्वोपकाराः ॥११॥

यत् पुण्यं पुण्यवन्तम्। अर्श आदित्वादच्। त्वां घटयितुमनाः संबन्धयितुकामः। त्वया सह संगन्तुकाम इति भावः। ऋष्यमूकः ओं रीं ह्रीं इति बीजाक्षरैः संपुटितेन[1] मनुना मन्त्रेणेव। "मनुर्मन्त्रे चादिराजे" इति विश्वः। उच्चेन झिल्लीरवेण चीरीशब्देन जपति जपमुच्चारयति। 'जप व्यक्तायां वाचि' इत्यस्य रूपं विवक्षितं न तु 'जप मानसे' इत्यस्य। अस्य जपस्य मानसिकत्वासंभवात्। हे राम ! तत् त्वं पदाब्जयोः चरणकमलयोः अर्पणात् साश्रितम् आश्रितैः ऋष्यमूकमधिष्ठितैः सुग्रीवादिभिः सहितं तम् ऋष्यमूकं सफलय सफलीकुरु। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः। वन्द्याः पूज्याः। एकस्य उपकृतिविधिना। उपकारपात्रीकरणेन क्लृप्तः सर्वेषाम् उपकारो यैस्ते तथोक्ताः। भवन्तीति शेषः। एकस्योपकारेण सर्वोपकारं पूज्याः कुर्वन्तीत्यर्थः ॥११॥

अर्थ—यह ऋष्यमूक पर्वत झिल्ली के झंकार के बहाने कब से बीजाक्षरमंत्र (ओं, रीं, ह्रीं)का जाप कर रहा है; आप वहाँ पधार कर उसको सफल करें। आपके पदार्पण से वह अकेला ही साफल्य प्राप्त नहीं करेगा; अनेकों की अभीष्ट सिद्धि होगी।

वन्दनीय पुरुषों की उपकारविधि एक का ही नहीं, अपितु सर्वोपकार करने वाली होती है।

आपके ऋष्यमूक पर पधारने से विविध प्रकार से लोकमंगल होगा ॥११॥

श्रीरामस्य हनूमतोऽभिनन्दनमाह—

णस्यासन्नः श्रमणसुमणेः

सुश्रमो वा स रामः

पार्श्वप्राप्तार्थ इव विकस-

च्चेष्टितोऽभूत्तदानीम्।

लिल्ये वातात्मजदृढहृदी-

वाथ संश्लेषदम्भात्

तां तस्योक्तिं तमपि च चिरा-

याऽभ्यनन्दीदनन्दीत् ॥१२॥

णस्य ज्ञानस्य आसन्नः समीपवर्ती। ज्ञानसीमायाः समीपीकारयितेत्यर्थः। श्रमणसुमणेः परिव्राजकरत्नस्य सुश्रमो वा शोभनः परिश्रम इव। स रामः पार्श्वप्राप्तार्थः समीपीभूतकार्यसिद्धिरिव तदानीं हनुमद्वचनसमकाले विकसच्चेष्टितः (फलदानाय) विकसत् फुल्लत् कार्योन्मुखीभवदित्यर्थः। चेष्टितं चेष्टा यस्य स तथोक्तः। कार्यसाधनाय चेष्टोन्मुख इति भावः। अभूत्। 'सुश्रम' शब्दोऽपि ण-प्राप्तावेव सुश्रमणः शब्दो भवति तथा सुश्रमः (जनोऽपि) ण (ज्ञान) प्राप्तावेव सुश्रमणो भवतीति द्योतितम्। अथेत्यनन्तरम्। संश्लेषदम्भात् आलिङ्गनमिषात् वातात्मजस्य हनूमतः दृढहृदि गाढहृदये इव लिल्ये लीनः। तां तस्य उक्तिं वचनं, तमपि हनूमन्तं च चिराय बहुकालम् अभ्यनन्दीत् अश्लाघत। च पुनः। अनन्दीत् प्रमोदते स्म ॥१२॥

अर्थ—जिस प्रकार सुश्रम-साधारण जन 'ण' यानी ज्ञान को पाकर सुश्रमण-श्रमणशिरोमणि हो जाता है; उसी प्रकार हनुमान् को पाकर राम अत्यन्त विकासोन्मुख यानी कार्य करने को अग्रसर हो गये। राम ने हनुमान् का प्रगाढ़ आलिंगन किया। इस आलिंगन के

१. 'तदस्य संजातं०' इत्यत्रोक्तं संजातार्थं प्रकटयितुम् एतदुक्तम्।

मधुर स्पर्श से वे पूर्ण रूप से आनन्दलीन हो गये और वे प्रंशसा करते हुए अपने मोद की व्यंजना करते रहे॥१२॥

हनूमतो रामलक्ष्मणयोः स्कन्धारोपणमाह—

दक्षोऽवादीत् पुनरनिलजो
वां पदोः सौकुमार्यं
दर्शं दर्शं नमति धरणी
कर्कशा, नो गुरुत्वात्।
शस्ता स्कन्धे स्थितिरिति ममे-
त्याग्रहात् सानुजं तं
सीतानाथं द्विप इव करे-
णास्य तत्र प्रतस्थे॥१३॥

दक्षः चतुरः अनिलजो हनूमान् पुनः अवादीत्- कर्कशा कठोरा धरणी भूमिः। वां युवयोः। पदोः चरणयोः। सौकुमार्यं कोमलताम्। दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा। नमति नीचैर्भवति। गुरुत्वात् शरीरविक्रमजन्याद् गौरवात्। नो न नमतीत्यर्थः। अपह्नुतिरलङ्कारः। इतिकारणात् मम स्कन्धे स्थितिः आरोहणम्। वां युवयोरित्याकृष्यते। शस्ता समीचीना। अस्तीति शेषः। इति एवम्। आग्रहात् विशेषानुरोधात्। सः हनूमान् सानुजं सलक्ष्मणं तं सीतानाथं रामं। द्विपो गज इव। करेण हस्तेन। शुण्डयेति द्विपपक्षे। स्कन्धे तत्र आस्य उपवेश्य प्रतस्थे अचलत्॥१३॥

अर्थ—हनुमान् ने दोनों भाईयों को अपने कन्धे पर चढ़ाया–इसका वर्णन–चतुर हनुमान् ने कहा– आप दोनों सुकुमार हैं, आपके कोमल चरणों को पाकर यह धरती नीचे झुकी जा रही है–यह बता रही है कि मैं कठोरा धरती कहाँ और कहाँ आप के सुकुमार चरण; इसलिए अपनी व्यथा को मैं प्रकट करती हूँ।

इस कारण-आप मेरे कन्धों पर चढ़ने की कृपा करें। यही सही हैं।

इस प्रकार आग्रह कर हनुमान ने अपने हाथ से दोनों को अपने कन्धे पर चढ़ाकर चल पड़े-जैसे किसी हाथी ने अपनी सूंड से पकड़ कर अपने पर चढ़ाया हो।

विशेष– यहाँ कवि ने 'कर' में श्लेष को काम में लिया है। हनुमान् के पक्ष में कर का अर्थ हाथ है तो हाथी के पक्ष में 'कर' का अर्थ सूंड है॥१३॥

अथ त्रिभिः आरूढरामलक्ष्मणं हनुमन्तं वर्णयति—

तां तेनोर्वीशसुतयुगली-
मुह्यमानां निरीक्ष्य
ध्यायन्ति स्माद्भुतवशहृदो-
ऽतीव वैमानिकाः खे।
यन्तारौ किं करिणि, करयो-
र्नाङ्कुशः, किन्तु धन्व,
तीक्ष्णांश्विन्दू उदय उदितौ
वाऽथ, किं संभवीति॥१४॥

तेन हनूमता उह्यमानां नीयमानां ताम् उर्वीशसुतयुगलीं राजपुत्रद्वयीं निरीक्ष्य खे आकाशे अद्भुतवशहृदः आश्चर्याकृष्टचेतसः वैमानिकाः विमानचारिणः ध्यायन्ति स्म विचारयन्ति स्म तर्कयन्ति स्मेत्यर्थः। किं करिणि हस्तिनि तत्पृष्ठे इत्यर्थः। यन्तारौ हस्तिपकौ ? "यन्ता हस्तिपके सूते" इत्यमरः। करयोः हस्तयोः अङ्कुशः न, किन्तु धन्व धनुः[1]। अत एतत्तु न संभवतीति भावः। अथवा उदये पूर्वपर्वते तीक्ष्णांश्विन्दू सूर्याचन्द्रमसौ उदितौ ? इति इत्थं सूर्यचन्द्रयोः समकालिकम् उदयपर्वतोदयनमिति भावः। किं संभवि[2] संभवतीत्यर्थः। नैवेति भावः। इत्थमन्तेऽपि निश्चयाभावाद् अनिश्चयगर्भ एवायं संदेहालङ्कारः॥१४॥

---

१. धनुषस्तदानींतनं करवर्तित्वं विवक्षितं न तु स्कन्धवर्तित्वं सुविधा-विशेषात्।

२. संभवोऽस्याऽस्तीति संभवि।

अर्थ—तीन श्लोकों में हनुमान् के कन्धों पर आरूढ़ राम-लक्ष्मण का वर्णन—इन तीनों को देखकर आकाश में विमानचारी विचार कर रहे हैं—यह क्या हाथी है ? जिस पर दो महावत चढ़े हैं। ना, ऐसा तो नहीं, क्योंकि महावत के हाथ में अंकुश होता है, जबकि इनके हाथ में धनुष हैं।

क्या उदय गिरि पर एक साथ सूरज-चाँद उग आये हैं—पर ऐसा भी नहीं, क्योंकि दोनों का एक साथ उदयाचल पर उदित होना सम्भव नहीं॥१४॥

विशेष—यहाँ कवि ने अनिश्चयगर्भ सन्देहअलङ्कार को प्रदर्शित किया है॥१४॥

मध्येऽङ्गं तत्सुघटितमिथः
पत्प्रसारोऽतिदूरः
शोभामाधादिति धृतमिव
ब्रह्मसूत्रं निवीतम्।
कल्प्येतैतत्-त्रिमुखमहिभृद्-
दृक्त्रयी वा त्रयी त्रि-
वर्णैः सान्ध्याभ्ररुगिव गुण-
त्रय्यथो भूत्रयी वा॥१५॥

मध्येऽङ्गं शरीरस्य मध्ये। प्रकृतत्वाद् हनूमत इति भावः। अतिदूरः अतिदूरवर्ती तयो रामलक्ष्मणयोः यः सुघटितः (अन्ते) संयोजितः मिथः पत्प्रसारः परस्परस्य पादप्रसारः[1] इति इत्थं शोभाम् आधात् उत्पादयति स्म। निवीतं कण्ठलम्बितं ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं धृतमिव। अथच- "मध्येऽङ्गं तत्सुघटितमिथः पत्प्रसारः स्म सूते शोभां गङ्गारवितनययोः शैलमध्यैक्यभाजोः।" इति पाठान्तरे तु अयमर्थः- शैलमध्ये पर्वतस्य मध्यभागे ऐक्यभाजोः एकरूपताम् आपन्नयोः गङ्गायमुनयोः शोभां सूते स्म जनयति स्म। अन्यत् प्राग्वत्। वर्णसादृश्यादेषा कल्पना। प्रथमायां तु कल्पनायां वर्णसादृश्यं न विवक्षितमिति। अथोत्तरार्धे तेषां मुखत्रयं तर्कयति-त्रिवर्णैः श्यामगौरारुणैः सान्ध्यस्य सन्ध्यासमयभवस्य अभ्रस्य मेघस्य रुक् कान्तिरिव। अथो अथवा। गुणत्रयी तमस्सत्त्वरजांसीति गुणत्रयम् इवेति पुनराकृष्यते। एतेषां रामलक्ष्मणहनूमतां त्रिमुखं मुखत्रयं कल्प्येत तर्क्येत उच्यमानप्रकारेणेति भावः- अहिभृतः शिवस्य दृक्त्रयी नेत्रत्रयम्। वा अथवा। त्रयी वेदत्रयम्। वा अथवा। भूत्रयी भूर्भुवःस्वरिति भुवां त्रयी त्रितयी॥१५॥

अर्थ—हनुमान् के शरीर के दोनों ओर कन्धों पर आरूढ़ राम-लक्ष्मण के पैर शोभित हैं। ऐसा लगता है—कण्ठ में लम्बित यज्ञोपवीत शोभित हैं। या शैल के बीच में गङ्गा व यमुना की धाराएँ हैं।

इन तीनों के मुख मण्डल ऐसे लगते हैं—जैसे सन्ध्यासमय के बादलों की कान्ति हो। श्याम, गौर, अरुण वर्ण का यहाँ सादृश्य कथन है। अथवा ये तीनों—सत्त्व, रजः व तमः गुण एकत्र हैं। या शिव के तीन नेत्र सूर्य, चन्द्र एवं वैश्वानर रूप से एकत्र है अथवा ये वेदत्रयी हैं या भूः भुवः स्वः तीनों भुवन एक साथ हैं॥१५॥

विशेष—इस प्रकार यहाँ सन्देह-अलङ्कार की छटा दर्शाई है॥१५॥

निर्वर्ण्यैनं रघुवरयुगे-
नाधिरूढं गिरिस्थाः
काले गौरेऽत्युदयति[2] गुणे-
ऽधोगतं वाऽरुणत्वम्।

---

1. एकैकस्य पादस्य प्रसारः उभयोर्द्वितीयस्य पादस्य पृष्ठवर्तित्वात्।
2. 'इट खिट कटी इ गतौ' इत्यत्र स्थस्य इधातोः रूपमिदम्, शत्रन्तत्वात्।

गच्छन्तोऽलं मुदमुदयितां

स्तम्भशित्यर्धयुग्मात्

तां ह्यस्मार्षुः सुजनसुखदां

श्रीनृसिंहस्य मूर्तिम् ॥१६॥

काले श्यामे गौरे च गुणे वर्णे अत्युदयति उत्कर्षं गच्छति सति अधोगतम् अपकर्षं गतम् अरुणत्वं वा अव्यक्तरागं रक्तवर्णमिव। रघुवरयुगेन श्रीरामलक्ष्मणद्वयेन अधिरूढम् आरूढम् एनं हनूमन्तं निर्वर्ण्य दृष्ट्वा। अलम् अत्यर्थम्। एनं हनूमन्तं निर्वर्ण्य दृष्ट्वा। अलम् अत्यर्थम्। मुदं हर्षं गच्छन्तः प्राप्नुवन्तः। गिरिस्थाः ऋष्यमूकवासिनः सुग्रीवादयः। स्तम्भस्य ये शितिनी[1] शुक्लश्यामे अर्धे[2] समानौ अंशौ तयोर्युग्मात् उदयिताम् आविर्भूतां सुजनसुखदां सुजनानां प्रह्लादादीनां सुखदायिनीं तां प्रसिद्धां श्रीनृसिंहस्य मूर्तिं हि अस्मार्षुः स्मृतवन्तः। रामलक्ष्मणरूपौ श्यामशुक्लौ स्तम्भखण्डौ पृथक्कृत्य प्रादुर्भूतं नृसिंहमिव हनूमन्तं मेनिरे इति भावः ॥१६॥

अर्थ—हनुमान् के कन्धों पर चढ़े हुए राम-लक्ष्मण को देखकर ऋष्यमूकपर्वत पर रहने वालों को लगा—जैसे श्यामल एवं धवल कान्ति ऊपर छिटक रही है—नीचे अरुण कान्ति है। जैसे स्तम्भ को चीर कर दो फटे हुए खण्डों के मध्य साक्षात् नृसिंह ही प्रकट हुए हैं। इस दृश्य को देखकर गिरि निवासी अत्यन्त हर्षित हुए।

यहाँ राम और लक्ष्मण को चिरे हुए स्तम्भों को दिखाया है और हनुमान् ऐसे लग रहे हैं जैसे साक्षात् नृसिंह हों।

यह सुजनों के लिये अत्यन्त आनन्दप्रद दृश्य है ॥१६॥

---

१. "शिती धवलमेचकौ" इत्यमरः। शुक्लमर्धं लक्ष्मणस्थानीयं श्यामं चाथ श्रीरामस्थानीयम्।

२. क्लीबत्वेन समांशवाची अर्धशब्दोऽयं ज्ञेयः। 'अर्धं नपुंसकम्' इति क्लीबत्वम्।

हनुमत्कृतं रामसुग्रीवयोर्मैत्रीविधानमाह—

निष्णातोऽथार्पितपरिचयं

वातजातः स जात-

वेदः साक्ष्येऽद्रढयततरां

रामसुग्रीवसख्यम्।

दत्तान्योन्यान्तरितहृदया-

र्थाविमौ सङ्गतं चाऽ-

यित्वाऽजर्यं त्रिनयनधने-

शाविवाप्तौ प्रमोदम् ॥१७॥

अथ ऋष्यमूकप्राप्त्यनन्तरम्। निष्णातः चतुरः। "निनदीभ्यां स्नातेः कौशले" इति षत्वम्। स वातजातः हनूमान्। अर्पितः दत्तः परिचयः जातवेदःसाक्ष्ये अग्निं साक्षात्कृत्येत्यर्थः। रामसुग्रीवयोः पारस्परिकः परिचयो यत्र कर्मणि तत्तथा। रामसुग्रीवयोः सख्यं मैत्रीम् अद्रढयततरां प्रकर्षेण दृढीकृतवान्। दत्तः अर्पितः स्फुटीकृत इत्यर्थः। अन्योन्यस्य परस्परस्य अन्तरितः अन्तर्गतो हृदयार्थः गुप्तं वस्तु याभ्यां तौ इमौ राम-सुग्रीवौ। अजर्यं अविनाशि सङ्गतं सङ्गम् "अजर्यं सङ्गतम्" इति साधुः। अयित्वा प्राप्य त्रिनयनधनेशौ इव शिवकुबेराविव प्रमोदम् आप्तौ ॥१७॥

अर्थ—हनुमान् द्वारा राम-सुग्रीव के मध्य मैत्री-स्थापना कार्य—ऋष्यमूकपर्वत पर पहुँचने के बाद चतुर हनुमान् ने दोनों का परिचय कराया और अग्नि को साक्षी बनाकर दोनों में दृढ़ मैत्री-भाव की स्थापना की। दोनों ने एक-दूसरे को अपना हृदय ही मानों प्रदान कर दिया, दोनों को ऐसा आनन्द हुआ जैसे भगवान् शिव और कुबेर मिले हैं ॥१७॥

सुग्रीवस्य रामं प्रति विनीतवचनमाह—

'त्वादृक्षो मे सुहृदुपहृतो-

ऽभीष्टदिष्टेन दिष्ट्या

भिन्नो मूर्त्यैव न तु मनसा,

धन्यधन्योऽस्म्यतोऽहम्।

ज्ञात्वा मां स्वं कृपय' तमिति

प्रोच्य रामं रुमेशो

नंनन्ति स्मोज्ज्वलपदयुगं,

किं दधौ राज्यमौलिम् ॥१८॥

(हे रघुवर !) दिष्ट्या अभीष्टेन अनुकूलेन दिष्टेन भाग्येन मे मह्यं त्वादृक्षः त्वादृक् मूर्त्या शरीरेण एव भिन्नः, नतु मनसा भिन्नः। सुहृद् मित्रम् उपहृतः उपहारीकृतः। अतोऽहं धन्येषु धन्यः अर्थात् अतिधन्योऽस्मि। मां स्वं स्वकीयं ज्ञात्वा कृपय अनुगृहाण। इति रुमेशः रुमायाः तन्नाम्न्या वानर्या ईशः स्वामी सुग्रीवः। तं रामं प्रोच्य उक्त्वा। उज्ज्वलं देदीप्यमानं नखकान्त्येति भावः। पदयुगं चरणयुगलं रामस्येति भावः। नंनन्ति स्म पुनः पुनरतिशयेन वा नमति स्म। अत्रोत्प्रेक्षते-किं राज्यमौलिं राज्यमुकुटं दधौ दधार? ॥१८॥

अर्थ—सुग्रीव का राम के प्रति विनीतकथन—'हे रघुवर' मेरे सौभाग्य से आप जैसा परम मित्र जो शरीर से भिन्न है—पर, मन से अभिन्न है—प्राप्त हुआ है इसलिए मैं धन्यों में भी अति धन्य हूँ।

आप मुझे अपना ही जानकर कृपा करें—इस प्रकार रुमा के पति सुग्रीव ने कहा।

इस प्रकार बार-बार राम के चरणों में अपने मस्तक को झुकाया। जैसे उसे राजमुकुट ही मिल गया हो ॥१८॥

श्रीरामस्य सुग्रीवं प्रति विनीत-वचनमाह—

'प्रज्ञोत्तिष्ठ स्वसममिति मा

मा स्तुवीहि स्तुही' ति

वृत्तिं व्यञ्जन् विदितविनयां

सादरं राम ऊचे।

तिं सुं भ्वादि-प्रकृतिरितरं

प्रत्ययं वा यथर्ते

विज्ञेयार्था भवति न तथा

नाऽर्थभूस्त्वां विनाहम् ॥१९॥

"प्रज्ञ सदसद्विवेकशालिन् ! उत्तिष्ठ मा मदीय-प्रणामश्रमं कुरु इति भावः। इति इत्थम्। स्वसमम् आत्मसदृशं मामिति शेषः। मा स्तुवीहि मा स्तुहि। मैवं प्रशंसेत्यर्थः।" "तुरुस्तु०" इत्यादिना वा ईट्। रूपद्वयं दर्शितम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। इति विदितविनयां ज्ञातनम्रीभावां वृत्तिं व्यवहारं व्यञ्जन् प्रकटयन् रामः सादरम् ऊचे-यथा भ्वादि भूधातुः भूशब्दश्च आदिर्यस्याः सा तथोक्ता प्रकृतिः। भ्वादयो धातवो भ्वादयश्च शब्दा इत्यर्थः। यथासंख्यं तिं सुम् इतरम् अन्यं वा प्रत्ययं तसादिकम् औणादिकं चेत्यर्थः। ऋते विना। विज्ञेयार्था ज्ञातव्याभिधेया अर्थवतीत्यर्थः। न भवति। प्रकृतिर्हि विना प्रत्ययं नार्थवती भवति। तथा त्वां विना अहम् अर्थभूः प्रयोजनस्थानं सार्थकः कार्यवान् वा नास्मीत्यर्थः। 'भवति' तथा 'अर्थभूः' इति रूपद्वयदर्शनेन प्रस्तुतस्योपमानविषयस्योदाहरणमपि दर्शितम् ॥१९॥

अर्थ—राम की सुग्रीव के प्रति विनम्रवाणी—राम ने कहा—हे प्राज्ञ ! उठ। हम दोनों बराबर हैं। अब इस प्रकार स्तुति के वचन मत कहो।

जैसे भू आदि धातु तथा भू आदि शब्द बिना प्रत्यय के कोई अर्थ नहीं देते—यानी प्रकृति प्रत्यय मिल कर ही सार्थक होते हैं—तुम्हारे मिलने से मैं अब पूर्ण हूँ, सार्थक हूँ—नहीं तो अधूरा था ॥१९॥

सुग्रीवस्य सीता - प्रक्षिप्तभूषणप्रदर्शन-माह—

निष्पन्नेऽस्मिन्निति सुविधिना
शिष्टसख्योपचारे
वेलाप्राप्तं वचनमवदत्
साश्रु रामं रुमेशः।
घ्नन्ती धैर्यं जनकतनया
रावणेनौण्यमाना
चक्षुर्नीरैरिह सममिमा-
न्यक्षिपद् भूषणानि ॥२०॥

इति एवम्। शिष्टानां सुशिक्षितानां यत् सख्यं मैत्री तस्योपचारः व्यवहारः तस्मिन् निष्पन्ने सिद्धे सति। रुमेशः सुग्रीवः रामं वेलाप्राप्तं समयोपस्थितं साश्रु अश्रुमोचनपूर्वकमित्यर्थः। वचनमवदत्-रावणेन ओण्यमाना अपनीयमाना। अत एव धैर्यं स्वधीरतां घ्नन्ती खण्डयन्ती दूरीकुर्वती। यद्वा अन्येषां दर्शकानां धैर्यं घ्नन्तीति व्याख्येयम्। जनकतनया सीता। इह अत्र स्थाने। चक्षुर्नीरैः अश्रुभिः। समं सह। इमानि प्रदर्श्यमानानि भूषणानि स्वाभरणानि। अक्षिपत् अपातयत्॥ सहोक्तिरलङ्कारः ॥२०॥

अर्थ—सुग्रीव द्वारा राम को सीताजी के द्वारा डाले गए आभूषणों को दिखाना—सुसंस्कृत व्यक्तियों के इस मैत्री व्यवहार के सम्पन्न होने पर मौका पाकर सुग्रीव ने आँसू बहाते हुए यह कहा—

'रावण के द्वारा ले जाती हुई अपमानिता सीता ने अपने धीरज को रखते हुए आँसूओं के साथ इन गहनों को यहाँ गिराया था ॥२०॥

राघवस्य सीताविरहशोकोज्जागरेण धैर्यत्यागमाह—

स प्रेक्ष्यामून्युदयितमहा-
मन्युरुन्मुच्य धैर्य-
मारोदीत् तच्छिखरिवसतीन्
रोदयन्नृक्षकीशान्।
श्वासानुच्चैर्जहदथ समा-
श्वासितः स्वेन सख्या
स्यन्नास्राम्बुर्दशरथसुतो
गद्गदेनेत्यगादीत् ॥२१॥

स दशरथसुतो रामः अमूनि भूषणानि प्रेक्ष्य दृष्ट्वा। उदयितमहामन्युः नवोद्गीर्ण-(सीताहरण) महाशोकः। धैर्यम् उन्मुच्य त्यक्त्वा। तच्छिखरिवसतीन् तत्पर्वतवासिनः। ऋक्षकीशान् ऋक्षवानरान्। रोदयन् आरोदीत् रुरोद। अथ स्वेन आत्मीयेन सख्या मित्रेण सुग्रीवेण। समाश्वासितः सान्त्वितः। उच्चैः श्वासान् उच्छ्वासान् जहत् त्यजन् सन्। स्यन्नास्राम्बुः स्रुताश्रुजलः। गद्गदेन गद्गदवचसा। इति इत्थम्। अगादीत् उवाच ॥२१॥

अर्थ—आभूषणों को देखकर सीताविरह शोक से व्याकुल राम के धैर्य-त्याग का वर्णन—इन गहनों को देखकर राम का सीताविरहजन्यमहाशोक जाग पड़ा, ये धैर्य को त्याग कर, ऋष्यमूक वासियों के सम्मुख रो पड़े। फिर मित्र सुग्रीव के धीरज बँधाने पर उन्होंने अपने को संभाला। उच्छ्वास त्यागे। फिर गद्गद वाणी से कहा ॥२१॥

चक्षुर्द्वय्युज्झति ममं जला-
न्याधिना म्लाप्यमाना
वैदेहीवाभरणपटला-
न्यस्रपेणार्द्यमाना।

देवे तुष्टे सति ननु कदा

सङ्गहर्षाऽऽहृतानि

ही म्लानिं ते सह पुनरुभे

प्रोज्झ्य तान्यादधाते ॥२२॥

अस्रपेण राक्षसेन रावणेनेत्यर्थः। अर्द्यमाना पीड्यमाना वैदेही सीता। आभरणपटलानि भूषणसमूहानिव। आधिना मनोव्यथया म्लाप्यमाना म्लानिं नीयमाना। मम चक्षुर्द्वयी नेत्रयुगली। जलानि स्वकीयानि नीराणि अश्रूणीत्यर्थः। उज्झति त्यजति। नन्विति प्रश्ने। ही इति खेदे देवे ईश्वरे। "देवः परात्मनि सुरे नृपेऽब्दे देवमिन्द्रिये।" इति मङ्खः। तुष्टे प्रसन्ने सति। ते उभे मम चक्षुर्द्वयी सीता च। पुनः सह सार्धं म्लानिं ग्लानिम्। प्रोज्झ्य त्यक्त्वा सङ्गहर्षेण आवयोर्दंपत्योः समागमप्रमोदेन। आहृतानि उपनतानि। तानि अश्रूणि आभरणपटलानि च। यथासंख्यं चक्षुर्द्वयी हर्षाश्रूणि, सीता च आभरणपटलानीति भावः। कदा आदधाते आधास्यतः धारयिष्यतः इत्यर्थः। "विभाषा कदाकर्ह्योः" इति वा लट्। कदा मे नेत्रद्वयी सङ्गमहर्षोपनतान्यश्रूणि धरिष्यति कदा च सीता सङ्गमहर्षोपनतानि आभरणानि धरिष्यतीति भावः॥२२॥

अर्थ—राक्षस द्वारा पीड़ित सीता ने जिस प्रकार अपने आभरण-समूह को त्यागा उसी प्रकार व्यथा से म्लानि को प्राप्त मेरे नेत्र आँसूओं को त्याग रहे हैं। वह दिन कब आयेगा जब मेरे दोनों नेत्र सीता के सङ्गमरूपी हर्ष के आँसू धारण करेंगे ? और सीता मेरे सङ्गम के हर्ष से अपने आभरण धारण करेगी ?॥२२॥

सौमित्रिसुग्रीवादिकृतं रामस्य समाश्वासनमाह—

मन्दाक्रान्ता[1] अपि सपदि त-

च्छोकतीव्राग्निनाऽन्त-

र्दत्तालम्बैर्हनुमदुपदे-

शौषधैः शान्तिमाप्ताः।

याथातथ्योक्तनलदमय-

न्त्यादिदृष्टान्तवाचा

मार्गं धृत्या रघुपमनयन्

भ्रातृमित्रादयस्ते ॥२३॥

सपदि सद्यः। तस्य रामस्य शोक एव तीव्रः प्रखरोऽग्निस्तेन अन्तः मनसि। मन्दम् आक्रान्ताः कृताक्रमणा अपि। दत्तालम्बैः अर्पितावलम्बनैः। हनुमतः उपदेशा एव औषधानि तैः। शान्तिम् आप्ताः ते भ्रातृमित्रादयः लक्ष्मणसुग्रीवादयः। याथातथ्येन[2] यथा भवितुमुचितं तथा, तस्य भावस्तेन। उक्ता या नलदमयन्त्यादीनां दृष्टान्तवाक् दृष्टान्तस्वरूपा वाणी तया। नलदमयन्त्याविव भवन्तावपि विपदं तीर्त्वाऽचिरेणैव संगंस्येते इत्यादिवचनैरिति भावः रघुपं रामम्। धृत्या धैर्यस्य। मार्गम् अनयन् अधीरयन्नित्यर्थः॥२३॥

अर्थ—राम के हृदय में शोक की तीव्र अग्नि सुलग रही थी, वह बीमारी हनुमान् के उपदेश रूपी औषध से दूर हो गयी। लक्ष्मण व सुग्रीव ने उन्हें यथोचित उदाहरण देकर बतलाया कि जैसे नल को आखिरकार दयमन्ती प्राप्त हुई, वैसे ही भगवती सीता भी अवश्य प्राप्त होगी॥२३॥

अथ चतुर्भिर्हनूमतश्चिन्तापनोदपूर्वकं स्वकर्तव्यसाधनासूचनमाह—

स व्याहार्षीत् पुनरनिलजो

राम सुग्रीव वां द्राक्

तोषो भावीति हि निरणयं

यत् प्रभूक्तानुसारम्।

---

१. एतेन पदेन वृत्तमपि सूचितम्।

२. अव्ययीभावः।

रम्यो मुक्तः कृतिविफलता-

सिंहिकापुत्रभीत्यै-

णम्मन्यानां शरणमिह न-

श्चन्द्रचूडास्यचन्द्रः ॥२४॥

सः अनिलजः हनुमान्। पुनः व्याहार्षीत् उवाच-भो राम ! हे सुग्रीव ! वां युवयोः। तोषः आनन्दः स्रीसंयोग-जन्य इति भावः। द्राक्शीघ्रम्। भावी भविष्यतीत्यर्थः। इति एवं हि अहं निरणयं निश्चितवान्। अत्र हेतुमाह-यद् यस्माद् हेतोः। प्रभूक्तानुसारम् श्रीरामवचनानुसारेणेत्यर्थः। आश्वासने हि आश्वासनीयस्यैव जनस्य वचनेन प्रस्तुतस्य समर्थनमुचितं भवतीति प्रभूक्तानुसारमाह। इह लोके एणं मन्यानाम् आत्मानं हरिणं मन्यमानानां नः अस्माकम्। कृतिविफलता कार्याऽसिद्धिः सैव सिंहिकापुत्रः राहुः सिंहश्च तस्माद् भीत्या भयेन मुक्तः रहितः। रम्यो मनोहरः। चन्द्रचूडः शिवः तस्य आस्यं मुखमेव चन्द्रः यद्वा मुखस्य चन्द्रः। शरणं रक्षकः। अस्तीति शेषः। अयं भावः-राहुर्यथा शिवमुखस्थं चन्द्रं कदापि न ग्रसितुं शक्तस्तथा कार्यवैफल्यमपि तं ग्रसितुं न शक्तः। अतः कार्यवैफल्यदोषमुक्तस्य तस्याश्रयेणैव अस्माकं कार्यसाफल्यम्। एणानां च सिंहिकापुत्र (सिंह) भयमुक्तस्य चन्द्रस्याश्रयेणैव सिद्धिरिति। मर्यादापुरुषोत्तमस्य च भक्तिविनयशालिनस्तथा कथनमुचितमेव। अथच-नोऽस्माकं अर्थाद् रामसुग्रीवहनूमतां 'चन्द्रचूडास्यचन्द्राः' शरणमिति वचनविपरिणामेन श्रीरामस्य चन्द्रचूडः शिवः, सुग्रीवस्य, चन्द्रचूडः शिव आस्ये मुखे तन्नामजपनाद् यस्य स तथोक्तो रामः, तथा हनूमतः, चन्द्रचूडास्यो रामः चन्द्रः (तापहारित्वेन हर्षकारित्वेन च) यस्य सः तथोक्तः सुग्रीवः शरणमित्यर्थोऽपि ध्वन्यते। अपिच-स्वनिर्णयनस्य पुष्ट्ये हनूमतो वाक्यम्-यत् प्रभुवचनानुसारम् एणं मन्यानां नः अर्थात् मे अस्मदो द्वयोश्चेति सिद्धिः। चन्द्रचूडास्यचन्द्रः चन्द्रचूडस्य आस्यानि मुखानि पञ्च तेषां चन्द्रः एकः। अर्थात् मे अस्मदो द्वयोश्चेति सिद्धिः। अर्थात् पञ्चदेवानां हरिहरगणेशदेवीभानूनां यः एक ऐक्यरूपेण निश्चितः परात्मा श्रीरामचन्द्रः। स एव शरणम्। अत एव मे एवं रूपेण निर्णयने शक्तिरिति हनुमद्हृदयाभिप्रेतोऽर्थोऽपि ध्वन्यते ॥२४॥

अर्थ—हनुमान् द्वारा चिन्ता दूर करने के लिये उपायों का वर्णन निम्न चार श्लोकों में—हनुमान् ने राम व सुग्रीव से कहा—आप दोनों की मनोकामना शीघ्र ही पूर्ण होगी। यह मेरा निर्णय हैं।

राहु से भयभीत चन्द्र जब शिव की शरण में चला गया तो क्या राहु उसे ग्रस कर के भी क्या खा सका ? नहीं, वह मुक्त होकर रहा। इसी प्रकार सुग्रीव जब राम की शरण चला गया है तो उसकी अभीष्ट सिद्धि होकर ही रहेगी ॥२४॥

पञ्चेषुं वा धृतधनुरिषुं

शम्भुदृष्टिस्तृतीया

चाङ्गं चिन्ता प्रदहति वपुः

स्वस्थपञ्चाक्षचित्तम्।

सेव्यं धैर्यं विपदि विदुषा-

ऽतो हि तद्रक्षणार्थं

नाशः सर्वांशत इह किलो-

पेक्षणं स्वस्थतायाः ॥२५॥

तृतीया शम्भुदृष्टिः। धृतं धनुः इषवः शराः (पञ्च) च येन स तथोक्तस्तम्। धनुर्बाणसहितमित्यर्थः। पञ्चेषुं वा काममिव। चिन्ता। स्वस्थानि वैकल्यरहितानि अक्षाणि इन्द्रियाणि (पञ्च) चित्तं च यत्र तत्। तत् चाङ्गम् अविकलं वपुः शरीरम्। प्रदहति। अतो हि अस्मात् कारणात् तस्य शरीरस्य रक्षणार्थं

अर्थ—सुग्रीव द्वारा राम किष्किन्धा-गुहा में ले जाये गये—कौशल्या पुत्र राम के अतुल बल को देखकर सुग्रीव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। जैसे कोई कमजोर राजा बलवान् सेनापति को पाकर सन्तोष प्राप्त करता है।

स्त्री के वियोग की आग से जिसका हृदय जल रहा है, वह उस पीड़ा के कारण आहें भरता हुआ राम को किष्किन्धा-गुहा के पास ले गया॥४१॥

वालिनो निर्गमनमाह—

पुत्रो जिष्णोरपि सुशयित-
स्तस्य नादेन चीरी-
रींकारेणाऽजगरक इवो-
ज्जागरामास सद्यः।
लङ्घित्वा स्त्रीगिरमपि हितां
मृत्यवे निर्ययौ स
कामान्धाः स्त्रीं सुरत-समये-
ह्याद्रियन्तेऽन्यदा नो॥४२॥

चीरीरींकारेण झिल्लिकाशब्देन अजगरकः[1] अल्पोऽजगर इव। सुशयितः सुखेन निद्राणः। जिष्णोः इन्द्रस्य सुतः वाली अपि। तस्य सुग्रीवस्य नादेन शब्देन सद्यः तत्कालम् उज्जागरामास जागरणं प्राप। "उषविद०" इत्याम्। स वाली। हिताम् इदानींतनं प्राग् भीतद्रुतस्य सुगीवस्य आह्वानं कारणविशेषाश्रितमिति पथ्यामपि। स्त्रीगिरं स्त्रियाः पत्न्याः ताराया वाणीं लङ्घित्वा अनादृत्य। मृत्यवे मरणाय। निर्ययौ निर्गतः। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-हि यतः। कामेन अन्धा जनाः। स्त्रीं पत्नीम्। सुरतसमये मैथुनकाले। आद्रियन्ते संमानयन्ति। अन्यदा अन्यस्मिन् काले न (आद्रियन्ते)॥४२॥

अर्थ—सुग्रीव की ललकार को सुनकर सुख से सोया हुआ वाली इस प्रकार जागा-जैसे झिल्ली की झंकार से अजगर जागा हो।

वाली की स्त्री तारा ने उसको बहुत मना किया; पर, वह नहीं माना। स्त्री की वाणी का अनादर कर वह यों निकला जैसे मरने जा रहा है।

क्योंकि कामान्ध सुरत-समय में तो नारी का आदर करता है; पर अन्य समय में नहीं करता॥४२॥

वालिनो हननमाह—

मृत्युं ह्याकारयत इति तं
मन्यमानो रवैः स
तेनाऽयुद्धाश्व इव मघवा-
श्वेन तत्त्वं ह्यपश्यन्।
सीतानाथः स्वसखमनुयां-
श्चेषुणा तं जघान,
तां तारोक्तिं स्मरति स सुधा-
वत् स्म या विष्यभूत् प्राक्॥४३॥

रवैः सुग्रीवकृतहुंकारैः। अयं सुग्रीवो हि मृत्युम् आकारयते आह्वयति। इति एवम्। तं सुग्रीवं मन्यमानः। स वाली। तत्त्वं वास्तविकतां (रामसहचरत्वं) अपश्यन् सन् हि तेन सुग्रीवेण (सह) अयुद्ध युयुधे। अत्रोपमिमीते-अश्वःघोटकः मघवाश्वेन इन्द्राश्वेन उच्चैः-श्रवसा[2] इव। सोऽपि यथा इन्द्रसंबन्धित्वं तस्याऽज्ञात्वा युध्यते तथा वाल्यपि तस्य रामसंबन्धित्वम् अज्ञात्वा युयुधे इति भावः। च पुनः। सीतानाथो रामः। स्वसखं निजमित्रं सुग्रीवम् अनुयान् अनुसरन् सन्। इषुणा बाणेन तं वालिनं जघान हतवान्। स वाली तां तारोक्तिं स्वपत्नीवाणीं सुधावत् अमृतवत् स्मरति स्म। या

---

१. अल्पार्थे कन्। अजगरस्याल्पत्वं तु शीघ्रजागरणाद् विवक्षितम्।

२. सर्गनामोपलक्षणमुच्चैः श्रवः शब्दप्रयोगः।

(तारोक्तिः) प्राक् पूर्वं प्रयाणसमये। विष्यभूत् (स्वमतेन) गरलीभवति स्म। प्राग् यां तारोक्तिं गरलं मन्यते स्म, तां स तदा सुधावद् मेने इति भावः ॥४३॥

अर्थ—वाली ने विचारा 'यह सुग्रीव मुझे ललकार कर मृत्यु को पुकार रहा है।' इसलिए सुग्रीव से भिड़ गया। यह नहीं विचारा कि सुग्रीव के पीछे कौन सी अजेय शक्ति है।

वह घोड़ा ही समझ पाया, यह नहीं जान सका कि यह घोड़ा नहीं, इन्द्र का उच्चैः श्रवा हैं राम ने सुग्रीव के पीछे होकर बाण से वाली को गिरा दिया। मरणासन्न वाली अब तारा की उस उक्ति को याद कर रहा है, जो उस समय विषवत् मालूम हुई थी; पर अब अमृत की तरह लग रही है ॥४३॥

तदवस्थस्य वालिनस्तारां प्रति वचनमाह—

चञ्चद्-रामेन्द्रशरपविना-
ऽऽपत्य वाल्यद्रिराजो
मैनाकं वाऽङ्गदमथ वधूं
'मेनकां वाऽभिपश्यन्।
थिरॄथिरॄशब्दानुकरण-चलद्-
रोमपक्षो हितोक्त्याऽऽ-
लीम्मत्वा तामवददबले
ते बलं पुत्र एषः ॥४४॥

चञ्चन् शोभमानः राम एव इन्द्रः तस्य यः शर एव पविर्वज्रस्तेन। थिरॄथिरॄशब्दानुकरणेन चलन्तः कम्पमानाः रोमाणि एव पक्षा यस्य स तथोक्तः। वाली एव अद्रिराजः हिमालयः आपत्य आ समन्तात् पतित्वा। मैनाकं वा हिमालयपुत्रमिव। अङ्गदम् अथच मेनकां वा हिमाद्रिपत्नीमिव वधूं ताराम्। अभिपश्यन् संमुख आलोकयन् सन्। हितोक्त्या प्राक्तनेन हितवचनेन तां वधूम् आलीं सखीं मत्वा अवदत् अबले हे विगतबले ! एष पुत्रोऽङ्गदः ते बलम्। अस्तीति शेषः। एतद्बलमुपजीव्य त्वयावशिष्टं जीवनं समापनीयमिति भावः ॥४४॥

अर्थ—उस अवस्था में बाली ने तारा से कहा—राम के बाणरूपी वज्र से थर-थर कम्पायमान वालीरूपी पर्वतराज ने तारा के पुत्र अंगद को दिखाकर कहा; जैसे इन्द्र के वज्र से आहत पर्वतराज हिमालय सामने मेनाक पुत्र को दिखा कर अपनी पत्नी मेनका से कह रहा हो।

"हे अबले ! तुम्हारा बल अब अंगद है। इसके सहारे तुम्हें अपना शेष जीवन बिताना है ॥४४॥

वालिकृतं रामोपालम्भमाह—

रामं स आसन्नमृतिर्जगाद 'मा-
माहन् रुमेशान्तरितः कुतो भवान्?।
यथा च सम्बन्धनिबन्धनादयं
प्रियस्तथाऽहं न कुतस्तदुच्यताम् ॥४५॥

आसन्नमृतिः समीपस्थितमरणः। स वाली। रामं जगाद उवाच-रुमेशान्तरितः सुग्रीवपृष्ठगतः। भवान्। मां कुतः कारणात्। आहन् हतवान् ? चं पुनः यथा येन प्रकारेण दशरथमित्रस्य ऋक्षरजसः पुत्रत्वेन अत एव संबन्धनिबन्धनात् भ्रातृत्वकारणात् अयं प्रियः, तथा अहं न कुतः ? तत् उच्यतां कथ्यताम्। इतः परं परिवर्त्यमानेषु वृत्तेष्विदमुपजातिः ॥४५॥

अर्थ—वाली द्वारा राम को उपालम्भ देना—मौत के करीब आये हुए वाली ने राम से कहा—आपने मुझे सुग्रीव की ओट में होकर किस कारण से मारा। दशरथ के मित्र ऋक्षराज के पुत्र हम दोनों (यानी सुग्रीव और मैं) भाई हैं; अतः आपके बन्धुवत् दोनों हुए ? और मैं बैरी और सुग्रीव आपको प्रिय किस प्रकार हुआ? ॥४५॥

श्रीरामस्त्रिभिः क्रमशस्तदुत्तरं प्रददाति—

यत्नाद् वदन्तमिति राघव उक्तवांस्त-

मासन्नमृत्युरधुनाऽऽत्थ रुमेशमेनम्।

ख्यातो रुमेश इति वस्तुत आद्य तु त्वं,

तुम्पामि तद् भरताडनुसार्यहं त्वाम् ॥४६॥

इति एवम्। यत्नात् प्राणहरबाणविद्धत्वेन यथाकथंचिद् वदन्तं तं वालिनं राघवः उक्तवान् प्रत्युक्तवानित्यर्थः। आसन्नमृत्युः संनिहितमरणः त्वम् एनं सुग्रीवम्। अधुना इदानीम्। रुमेशं रुमा-वल्लभम् आत्थ ब्रूषे। ''ब्रुवः पञ्चाना'' मित्यादिना णलादिभिः सह आहादेशे ''आहस्थः'' इति हस्य थः। आद्य आ अद्य इति च्छेदः। अद्य यावत्तु। वस्तुतः तत्त्वेन रुमेशः रुमोपभोक्तृत्वेन त्वं रुमा-वल्लभः ख्यातः प्रसिद्धः। असीति भावः। प्रकृतदार्ढ्यार्थाय रुमेशपदस्य पुनरावृत्त्या न पुनरुक्तिः। तत् तस्मात्कारणात्। भरताडनुसारी भरत-नृपकर्तव्यानुपाली अहं त्वां तुम्पामि अवधिषम्। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्। अत ईदृशेऽनाचारे समुपस्थिते इक्ष्वाकुभिर्दण्डनीयत्वात् त्वं मारित इति भावः ॥४६॥

अर्थ—राम का निम्न श्लोकों में वाली को उत्तर—इस समय तू जब मरणासन्न है, सुग्रीव को रुमेश (रुमा का वल्लभ) कहकर पुकारता है; जबकि रुमा को तो तू भोग रहा है। हम रघुवंशी भरत राजा के कर्तव्य का अनुपालन करने वाले इस तरह के व्यक्ति को दण्डनीय समझते हैं, इसलिए तुम्हें मारने में औचित्य है।

दूसरे की पत्नी का हरण करना महान् अपराध है, ऐसा अपराधी बध्य हैं यही एक कारण है—तुम्हारी मौत का ॥४६॥

पुत्रौ स्थ ऋक्षरजसः, सदृशौ युवां मे,

न त्वं सदध्वनिरतः, पुनरीक्षितोऽयम्।

राजेदृशो हितकृता द्रुतमेव दण्ड्यो

यान् मा स्म दुर्गतिमितोऽप्यधिकैनसेति ॥४७॥

युवाम् ऋक्षरजसः तदाख्यस्य वानरराजस्य पुत्रौ स्थः। युवां मे मदर्थं मदर्थं सदृशौ समौ (स्थः) समसम्बन्धित्वादिति भावः (किन्तु) त्वं सदध्वनिरतः सन्मार्गपरः न (ईक्षितः)। अनुजवधूगामित्वादिति भावः। अयं पुनः सुग्रीवस्तु (सदध्वनिरतः) ईक्षितः दृष्टः। ईदृशः कदध्वनिरतो राजा हितकृता (राजप्रजा) हितैषिणा राजा राज्ञा तदधीश्वरेणेत्यर्थः। अत्र 'राजा' इति पदं प्रथमान्तं तृतीयान्तं च देहलीदीपकन्यायेन द्विरन्वीयते। इतोऽपि अस्मादपि अधिकेन विशिष्टतरेण। एनसा पापेन। दुर्गतिं नरकं दुर्दशां वा। मा स्म यात् मा प्राप्नोतु। इति कारणाद्। द्रुतं शीघ्रमेव। दण्ड्यः दण्डयितुं योग्यः ॥४७॥

अर्थ—ऋक्षराज वानर के सम्बन्ध से आप दोनों मेरे लिये समान हैं। पर सुग्रीव सन्मार्गगामी है और तू अनुजवधू का वल्लभ बनने के कारण कुमार्ग पर है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि ऐसे को शीघ्रदण्ड दे तुम इससे अधिक पाप से दुर्गति को प्राप्त नहीं होवो इस कारण मैंने तुम्हें दण्ड दिया है ॥४७॥

मद्दर्शनाच्छरणमापतितस्तु रक्ष्यो

हा हन्तुमित्थमनलं हरिमाल्यतोऽपि।

कष्टायमानमनसामिति दैविकोऽन्तोऽ-

पिः संध्रियेत, न नृपः स्फुटकामचारः ॥४८॥

रुमेशान्तरितत्वे प्रतिवचनमाह-मद्दर्शनात् मम दर्शनात् शरणम् आपतितः आगतस्तु (त्वं) रक्ष्यः रक्षणीयः। यदि त्वं मामद्रक्ष्यस्तर्हि शरणमापतिष्यः

ततश्च मया त्वं रक्ष्य एवाऽभविष्यः इति भावः। इत्थम् अनेन प्रकारेण। अपि पुनः। हरिमाल्यतः इन्द्रप्रसादीकृतमालाप्रभावादित्यर्थः। हा इति कष्टम्। हन्तुं मारयितुं त्वामिति शेषः। अनलम् असमर्थः। अभविष्यमिति शेषः। मारणं च हिताचरणाय मया अभीप्सितमेवासीत्, अतो दैववशान्मम रुमेशान्तरितत्वं घुणाक्षरन्यायेन संजातमिति प्रकटयितुमाह-कष्टेति। कष्टायमानं कष्टाय क्रममाणं पापं कर्तुमुत्सहमानं मनो येषां ते तथोक्तानां जनानाम् "कष्टाय क्रमणे" इति क्यङ्। इति इत्थंरूपेण। दैविकः दैवम् अधिकृत्य जातः। अन्तः नाशो भवतीति शेषः। अन्यथा इन्द्रप्रदत्तमालाप्रभावाद् महापापमाचरतोऽपि कदापि नाशो न स्यादिति भावः। तदेव पुनः स्फुटीकरोतिअपिरिति। स्फुटः प्रकटः कामचारः[1] (अर्थः) येन सः अपिः अपिशब्दः। संध्रियेत अवतिष्ठेत। (किन्तु) स्फुटकामचारः प्रकटस्वैरवृत्तिः। नृपो राजा। न संध्रियेत जीवेत्। स तु कथमपि दैववशान्नाशं गच्छेदेवेति भावः ॥४८॥

अर्थ—यह सुग्रीव मेरे दर्शन के साथ मेरी शरण आ गया, अतः शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है।

इसकी ध्वनि यह है कि यदि तू भी शरणागत होता तो तू भी मेरे से रक्षा प्राप्त कर सकता था।

इन्द्र की माला पहने हुए को मारना कठिन है, पर मैंने तुम्हें हित कामना से मारने का निश्चय किया है—जिससे तू नारकीय पीड़ा से बचे। क्योंकि कामाचार करने वाला राजा जीवन को धारण नहीं कर सकता है। तेरा अपराध प्रकट है; अतः तू वध्य है ॥४८॥

वालिनः श्रीरामं प्रति अन्तिमं प्रार्थनमाह—

सोऽख्याद् राममिदं निशम्य कपिराड्
दैवी गतिर्जित्वरी
भिन्नं केवलमङ्गतोऽङ्गजमिमं
त्वङ्गी कुरुष्वाऽङ्गदम्।
गम्यो दूरमयं न नाथ हृदयाद्-
दोषं श्रितोऽप्याः परै-
म्यन्तर्यन्तरहं तु हन्तु मदघं-
दृष्ट्या दया-सार्द्रया ॥४९॥

स कपिराड् वाली। इदं निशम्य रामम् अख्याद् उवाच-हे अन्तर्यन्तः अन्तर्यामिन् नाथ ! दैवी देवस्य भवत इयं दैवी। यद्वा दैवसंबन्धिनी गतिः चेष्टा जित्वरी सर्वातिशायिनी। अस्तीति शेषः। केवलम् अङ्गतः शरीराद्। भिन्नं पृथग्भूतं नत्वात्मनो ममेति भावः। इमम् अङ्गजं पुत्रम् अङ्गदं तु अङ्गीकुरुष्व स्वकीयं कुर्वित्यर्थः। दोषं दूषणं श्रितो गतोऽपि अयम् अङ्गदः हृदयाद् दूरं न गम्यः यापनीयः। अङ्गदं भुजभूषणं मत्वा दोषं बाहुं स्व-भरणायाऽऽरोपितमपि हृदयान्न गमयेः इत्यपि ध्वन्यते। तेन सांसारिकपालनपोषण-भार एव न धार्यः। किन्तु एष हार्दिको भक्तः क्रियतामिति वालिन आशयः। आः इत्यव्ययप्रयोगेण प्राणोत्सर्ग-कष्टस्य सूचनम्। अहं तु परैमि म्रिये। भवान् दयासार्द्रया कृपार्द्रया दृष्ट्या मदघं मत्पापं यत्किञ्चिज्जातं तदिति भावः। हन्तु नाशयतु ॥४९॥

अर्थ—वाली की राम से अन्तिम प्रार्थना—यह सुनकर कपिराज उस बाली ने राम से कहा—दैवी गति सर्वातिशायिनी है, (बढ़ कर है)। मेरे अंग से उत्पन्न मेरे अंग से पृथक् हुआ हैं, न कि आत्मा से पृथक् हुआ है, वह जोकि मेरा पुत्र अंगद आप द्वारा रक्षणीय है इसे अपनावें, अपनी शरण में लें। दोष (बाहु) का

---

१. अपिशब्दस्य कामचारार्थकत्वे कोशप्रमाणं मृग्यं व्याख्यातृभिः।

आश्रय लिया हुआ, और दोष (अपराध) से युक्त हुआ भी यह अंगद आपके द्वारा अपने हृदय में स्थान पाने का अधिकारी है। जैसे अंगद (भुजबन्द) दोष (बाहु) में पहना जाकर-हृदय के पास रहता है–इसी प्रकार यह भी आपके हृदय में रहना चाहिये।

इसको अपना भक्त बनावें। हे अन्तर्यामिन् ! दया से आर्द्र अपनी दृष्टि से मेरे पाप नष्ट करें ॥४९॥

श्रीरामेण समाश्वासितस्य वालिनः परमपदप्रयाणमाह—

मन्दानन्दथुरास्रुताश्रुरवदद्-
रामोऽपि, धन्योऽसि भो,
हात्माऽऽर्तोऽस्ति तवेति मेऽपि, युवराड्
भावी प्रियो मेऽङ्गदः।
मा शोच त्वमितः परं परपदं
याहीति शृण्वन् सुखी
नंनम्यां मनसा गिरा च कलयन्-
वाली ययौ तत्पदम् ॥५०॥

मन्दानन्दथुः मन्दीभूत - स्वाभाविकहर्षः। आस्रुताश्रुः ईषत्क्षरितबाष्पजलः। तत्करुणोक्त्येति भावः। रामोऽपि अवदत्-भोः ! त्वं धन्योऽसि। एतदवस्थस्य परमपदगमनेनेति भावः। हा कष्टम्। तव आत्मा मनः आर्त्तः दुःखितोऽस्ति। इति कारणाद्। मे ममापि आत्माआर्त्तोऽस्तीत्यर्थः। मे मम प्रियः भक्तीकृतत्वेन वल्लभः। अङ्गदः युवराड् युवराजः राज्योत्तराधिकारी भावी भविष्यतीति तस्य ऐहलौकिकपारलौकिकहितसाधनमङ्गीकृतम्। इतः परं त्वं मा शोच। परपदं परमपदं मोक्षम्। याहि गच्छ। इति एवम्। शृण्वन् सुखी मनसा गिरा वाण्या च नंनम्याम् अतिशयितं मुहुः प्रणामं कलयन् कुर्वन् वाली तत् पदं परमपदं ययौ ॥५०॥

अर्थ—राम द्वारा आश्वासन देना और वाली का परम पद पाना—राम के मन में स्वाभाविक हर्ष कुछ मन्द हुआ। और उस (वाली) की करुण उक्ति से थोड़े प्रेमाश्रु झलके। वे करुणा से भर गये। कहने लगे– तू धन्य है। तू दुःखी है, इससे मैं भी पीड़ित हूँ। अंगद मुझे प्रिय है और भावी युवराज हैं। इससे अधिक तुम शोक मत करो, और परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करो।

यह सुनकर वाली बहुत सुखी हुआ। मन व वाणी से बार-बार प्रणाम का भाव प्रकट करते हुए वह परमपद को प्राप्त हो गया ॥५०॥

वालिनोऽन्त्यक्रियान्ते रामस्य सुग्रीवाय राज्यदानमाह—

कृत्वाऽन्त्यां प्रणतिं विलेपुरनुज-
स्तस्यात्मजश्च प्रिया
त्वामेव ह्युपजीव्य जीवनमुदे-
प्राभूम कुत्रैषि भोः?
रामोऽसान्त्वयदौर्ध्वदैहिकविधिं
चाकारयत्, तत्पद-
मंशोः पुत्रमवाप्तजानिमनयत्,
तद्यौवराज्येऽङ्गदम् ॥५१॥

तस्य वालिनः अनुजः सुग्रीवः, आत्मजोऽङ्गदः, प्रिया तारा च अन्त्याम् अन्तिमां प्रणतिं कृत्वा विलेपुः–भोः ! त्वामेव हि वयम् उपजीव्य आश्रित्य जीवनमुदे जीवनानंदमनुभवितुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य०" इत्यादिना चतुर्थी। प्राभूम समर्था भवेम। कुत्र क्व एषि गच्छसि ? रामः असान्त्वयत् तानिति शेषः। और्ध्वदैहिकविधिं च अकारयत् तैरित्यर्थः[1]। तत्पदं तस्य वालिनः पदं

१. और्ध्वदैहिकक्रियाकरणेऽङ्गदस्यैव प्राधान्येऽपि तयोस्तत्कर्मव्यवस्था-पकत्वाद्बहुत्वं प्रयुक्तम्।

राज्यासनम् अवाप्तजानिं प्राप्तस्त्रीकम् अंशोः[१]। सूर्यस्य पुत्रं सुग्रीवम् अनयत् आरोपयदित्यर्थः। तद्यौवराज्ये च अङ्गदम् अनयत् आरोपयत्। 'यौवराज्ये' इत्यत्राधिकरणं विवक्षितम्॥५१॥

अर्थ—वाली की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न होने के बाद सुग्रीव को राज्य-दान—वाली के भाई सुग्रीव, पुत्र अंगद व प्रिया तारा ने वाली को अन्तिम प्रणामकिया। विलाप करते हुए राम से कहा–अब हम आपके सहारे पर हैं। वाली के और्ध्व दैहिक (अन्तिम संस्कार) के बाद सुग्रीव को राजा बनाया और अंगद को युवराज पद पर अधिष्ठित किया॥५१॥

सुग्रीवस्य सीतोपलब्ध्यै वानराणां प्रस्थापनं हनूमतो विशिष्टसूचनां चाह—

प्रस्थाप्येतरदिक्षु वानरगणान्

सीतोपलब्ध्यै ततो

दक्षो दक्षिणदिश्यथाङ्गदहनू-

मज्जाम्बवन्मुख्यकान्।

क्षिप्रार्थान् प्रजिघीषुराह रघुपं

सुग्रीव उच्चैर्मुदै-

णम्मन्यः प्रभुपादरुक्-तृणचये

ऽयं मारुतिः स्यात् कृती॥५२॥

ततः तदनन्तरम्। दक्षो निपुणः। सुग्रीवः सीतोपलब्ध्यै सीतान्वेषणाय इतरासु दक्षिणेतरासु तिसृषु दिक्षु। वानरगणान् प्रस्थाप्य। अथ दक्षिणदिशि क्षिप्रार्थान् शीघ्रकारिणः अङ्गद-हनूमज्जाम्बव-द्मुख्यकान् तन्नामकादीन् (वानर-गणान्) प्रजिघीषुः प्रहेतुमिच्छुः सन्। मुदा हर्षेण। रघुपं श्रीरामम् उच्चैः आह उवाच-प्रभोः स्वामिनः तवेत्यर्थः। पादरुचः चरणकान्तय एव तृणानि तेषां चये राशौ एणंमन्यः आत्मानं मृगं मन्यमानः अयं मारुतिर्हनूमान्। कृती कृतमनेनेति कृती कृतकृत्य इत्यर्थः। "इष्टादिभ्यश्च" इति इनिः। स्याद् भवितुं शक्नोति। शकि लिङ्। चरणभक्तत्वात् श्रद्धालुत्वेन कार्यसाधनशक्तिर्ज्ञायते इति भावः॥५२॥

अर्थ—सुग्रीव का सीताप्राप्ति के लिए बन्दरों को चारों ओर भेजने की व्यवस्था करते हुए हनुमान् से विशेष कथन—सीता की तलाश में दक्षिण दिशा को छोड़कर पहले तीन दिशाओं में वानरों को सुग्रीव ने भेजा। दक्षिण दिशा के लिए चतुर अंगद व हनुमान् व जाम्बवान् को प्रधान बनाते हुए, सुग्रीव ने ऊँचे स्वर से भगवान् राम से कहा–यह मारुति हनुमान् जो आपके चरणों का सेवक है, यही इस कार्य को सफल करने में समर्थ है॥५२॥

विशेष—यहाँ राम के चरणों की कान्ति को तृणचय बताया है और हनुमान् को हरिण अतः रूपकअलङ्कार है॥५२॥

श्रीरामस्य हनूमदाशंसनमाह—

न्यस्तोत्तमाङ्गमथ तं रघुराट् पदाब्जे

वेगाऽस्तचित्तमवलोक्य सहाशिषैव।

दत्त्वोर्मिकां जनकजाप्तिमिव स्वभिज्ञां

यत्नं प्रसाधितुमिवाह च साधयेति॥५३॥

अथ एतत्सुग्रीवकथनान्तरम्। रघुराड् रामः पदाब्जे स्वचरणकमले न्यस्तोत्तमाङ्गं स्थापितशिरस्कम्। वेगेन स्वकीयेन जवेन अस्तम् अस्तीकृतं चित्तं मनो येन स तं मनोवेगादपि अधिकवेगशालिनमित्यर्थः। तं मारुतिम् अवलोक्य आशिषा स्वस्तिवादेन सहैव जनकजाप्तिं सीताप्राप्तिमिव स्वभिज्ञां सुशोभनम् अभिज्ञानम् ऊर्मिकाम् अङ्गुलीयकं दत्त्वा। यत्नं सीतान्वेषणोद्यमम्। प्रसाधितुं सफलीकर्तुमिव। साधय

१. "अंशुरर्कप्रभोस्रेषु" इति प्रागुक्तम्।

गच्छ (यत्नं) सिद्धीकुरु इति च गम्यते। इति आह च। कार्यार्थगमने प्रयुज्यते''प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेःस्थाने प्रयुज्यते इति दर्पणोक्तेः। रूपकसहोक्त्युपमाफलोत्प्रेक्षालङ्काराः ॥५३॥

अर्थ—राम द्वारा हनुमान् की प्रशंसा करते हुए कथन—यह सुनकर हनुमान् ने अपना मस्तक राम के चरणकमलों में रख दिया। हनुमान् ऐसे वैभवशाली हैं-जिनके सामने मन का वेग भी कुछ नहीं है। ऐसे हनुमान् को शुभाशीर्वाद देकर और पहचान (अभिज्ञान) के रूप में अपनी अंगूठी प्रदान की। कहा–जाओ, सिद्धि प्राप्त करो ॥५३॥

निष्फलेषु वानरेषु संपातिना सीतास्थानप्रदर्शनमाह—

दक्षैर्दिक्षु समासु ऋक्षकपिभिः
सर्वैः समस्तं ततो
मेदिन्या उदरं विलोडितमहो
प्राप्ता न भौमी परम्।
याम्यां त्वङ्गदजाम्बवत्प्रभृतय-
स्तस्थुर्दिशि व्याकुला-
त्मानस्तान् स्व-जटायुषं स्मरयतः
संपातिरूचे स्थितिम् ॥५४॥

ततस्तदनन्तरम्। सर्वैः दक्षैः चतुरैः। ऋक्षकपिभिः भल्लूकवानरैः। समासु सर्वासु। दिक्षु समस्तं सर्वं मेदिन्या भूम्या उदरं मध्यभागः विलोडितं परिक्रान्तमित्यर्थः। परं किन्तु अहो इत्याश्चर्ये। भौमी भूमेरपत्यं स्त्री सीता न प्राप्ता। भूम्युदरपरिक्रमणेऽपि भौम्या अप्राप्तिराश्चर्यकारिणी स्यादेव। याम्यां यमदेवताकायां ''साऽस्य देवता'' इत्यण्। दिशि तु व्याकुलात्मानः सीतानुपलब्धेः विमनसः अङ्गदजाम्ववत्प्रभृतयः (ऋक्षकपयः) तस्थुः। स्वं बान्धवं जटायुषं तदाख्यं गृध्रं स्मरयतः उत्कण्ठापूर्वकं प्रासङ्गिकेन तत्तत्पूर्वचेष्टितकथनेन स्मृतिपथं नीतवतः तान् अङ्गदप्रभृतीन्। संपातिः जटायुरग्रजः स्थितिं स्थानं सीताया इत्यर्थः। ऊचे कथयांचकार ॥५४॥

अर्थ—सीता की तलाश में निष्फलता मिलने पर वानरों को संपाति द्वारा सीता के स्थान को दिखलाना—चतुर सब वानरों ने चारों ओर सीता को खोजा। पृथ्वी के मध्य भाग को देख डाला। पर कहीं सीता का पता न चला। इसलिए अंगद, जाम्बवान् आदि सभी व्याकुल हो गये। फिर जटायु के बड़े भाई संपाति से मिलना हुआ। संपाति ने जटायु के बलिदान की बात जानकर अपनी गिद्ध दृष्टि से सीता के स्थान का निर्देश दिया ॥५४॥

अथ दुर्लङ्घ्यसमुद्रदर्शनेन कपीनां पुनर्विषादं हनुमत्स्तवनं चाह—

दृष्ट्वाऽब्धिं समुदोऽपि दुःखजलधौ
मग्ना अमग्ना अपी-
ष्टार्थं साधितुमक्षमाश्च तरितुं
स्वं स्वं बलं चोचिरे।
सीमानं पयसो न लंघितुमलं
तच्छक्ति-सीमा, तदा
तेऽनाशा अपि नाश एव निरताः
स्तुत्वाऽवदन् मारुतिम् ॥५५॥

समुदः सीताऽऽप्तिस्थानश्रवणात् सहर्षा अपि। अब्धिं समुद्रं दृष्ट्वा अमग्ना अपि इष्टार्थम् अभिमतकार्यं साधितुमक्षमाः सन्तः ते अङ्गदादयः दुःखरूपे जलधौ समुद्रे मग्नाः। अपिशब्दौ अत्र विरोधमाभासयतः। परिहारश्च सुगम एव। तरितुं लङ्घितुं च स्वं स्वं बलम् ऊचिरे। तच्छक्तिः सीमा तेषामङ्गदादीनां शक्तेर्बलस्य

सीमा पयसः समुद्रजलस्य सीमानं लङ्घितुम् अलं समर्था न अभूदिति शेषः। तदा तस्मिन् काले ते अङ्गदादयः अनाशा आशारहिताः नाशे स्वमरणे एव निरताः तत्पराः सन्तः अयमपि अपिशब्दो विरोधमाभासयति—अनाशाः नाशरहिता अपि नाश एव निरता इत्यर्थेन। मारुतिं हनुमन्तं स्तुत्वा अवदन्॥५५॥

अर्थ—दुर्लङ्घ्य सागर को देखकर सारे वानरों द्वारा विषाद पूर्वक हनुमान् से कथन—प्रसन्न होकर समुद्र तट पर गये। अलंघ्य सागर को देखकर उसमें मग्न न होकर भी दुःख के सागर में मग्न हो गये। अपने अपने बल को संभालकर सागर को पार करने में, अपनी शक्ति को असमर्थ जानकर, आशा रहित होकर अपना नाश ही समझ रहे थे।

इसलिए हनुमान् की प्रशंसा करते हुए कहने लगे। यहाँ विरोधाभास का चमत्कार हैं सागर में डूबे नहीं—पर न डूबकर भी शोक-सागर में डूब रहे थे। अनाशा होते हुये भी नाश में निरत हुये। परिहार-अनाशा (आशा रहित)॥५५॥

अङ्गदादिकृतं हनूमतः प्रोत्साहनं तस्य च कार्यायोद्यमनमाह—

तिष्ठस्याशुगपुत्र किं न्वितरवत्

तूष्णीं स्थिते दुःस्थिते,

तत्त्वं चिन्तय तत्त्ववित्त्वमसि भो

आत्मानमादर्शय।

त्वत्तः सिद्धिरिदं निशम्य स नमन्

रामं शिलापट्टतोऽ-

तः प्लुत्वैधत विन्ध्यवत् पुनरवग्,

मा शोचतैष त्वरे॥५६॥

इति कविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते श्रीरामचरिताब्धिरत्ने रामाङ्के महाकाव्ये वालिवधो नाम (उच्चैःश्रवा) एकादशः सर्गः समाप्तः॥११॥

भो आशुगस्य पवनस्य पुत्र हनुमन्! दुःस्थिते वैषम्ये स्थिते उपस्थिते सति इतरवत् प्राकृत इव किंनु तूष्णीं मौनेन तिष्ठसि? त्वं तत्त्वविद् असि, तत्त्वं याथार्थ्यं चिन्तय विचारय। आत्मानं स्वरूपम् आदर्शय आदर्श-रूपेण दर्शय। त्वत्तः त्वत्सकाशादेवेति भावः। सिद्धिः साफल्यमस्तीति शेषः। स आशुगपुत्रः इदं निशम्य। रामं नमन्। अतः अस्मात्। शिलापट्टतः शिलापट्टात्। प्लुत्वा उच्छल्य। विन्ध्यवत् विन्ध्य इव। यथा पुरा विन्ध्याद्रिर्ववृधे तथेत्यर्थः। ऐधत ववृधे। पुनः पश्चाद् अवक् अवदत्। यूयं मा शोचत। एषोऽहं त्वरे शीघ्रतामाचरामि। कार्यायेति भावः॥५६॥

इति श्रीविद्याभूषणपण्डितभगवतीलालशर्मरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्य-व्याख्यायामेकादशः सर्गः समाप्तः॥११॥

अर्थ—अंगदादि से उत्साहित होकर हनुमान् का कार्य सिद्धि के लिये तैयार होना—'हे पवन पुत्र! आप यों चुप कैसे बैठे हो? साधारण आदमी की तरह बैठे रहना क्या आपके लिये उचित है? जरा विचारों। अपने रूप को पहचान कर आदर्श रूप से प्रकट करो। यह सुनते ही पवन पुत्र हनुमान् राम को नमस्कार करते हुये शिलापट्ट से ऊपर उछले और विन्ध्याचल की तरह बढ़ने लगे॥५६॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में 'श्रीरामचरिताब्धिरत्न' महाकाव्य का 'उच्चैःश्रवा' नामक एकादश सर्ग समाप्त।

अथ द्वादशः सर्गः

अथाष्टभिर्हनूमतः समुद्रोल्लङ्घनं वर्णयति—

तस्मिन् क्षणेऽसमरुतो मरुतोऽङ्गजातोऽ-
तः संप्लुतः सहचरेषु विलोकयत्सु।
सुस्थापितोन्नमितदोरधिरोहिणीको
ग्रीवां प्रसार्य दिवि संकुचिताङ्घ्रिराभात्॥१॥

तस्मिन् क्षणे। असमम् अतुल्यं रुतं हुंकारनादो यस्य स तथोक्तः। सहचरेषु अङ्गदादिषु विलोकयत्सु सत्सु। अतः अस्मात् स्थानात् संप्लुत उच्छलितः ! मरुतः पवनस्य। अङ्गजातः पुत्रः हनूमानित्यर्थः। सुस्थापिता सुतरां सज्जीकृता उन्नमितयोः ऊर्ध्वीकृतयोः दोषोः भुजयोः अधिरोहिणी निश्रेणिर्येन स तथोक्तः सन्। निश्रेणीकृतबाहुरिति भावः। ग्रीवां प्रसार्य आयतीकृत्य। दिवि आकाशे। संकुचिताङ्घ्रिः संकुचितपादः आभाद् विरेजे अस्मिन् सर्गे वसन्ततिलकं वृत्तम्॥१॥

अर्थ—आठ श्लोकों में हनुमान् के समुद्रलंघन का वर्णन—हनुमान् ने अंगदादि को देखकर तुमुलहुंकार किया और वे इस स्थान से ऊपर को उछले। दोनों बाहुओं को फैलाया फिर मिलाया गर्दन को फैलाकर पैरों को समेट कर आकाशगामी वे बहुत शोभित हुये॥१॥

वर्धिष्णुसाहसरसः सरसः समानं
स ज्ञातवानिव समुद्रममुद्रितौजाः।
हित्वा तमाशु विततं किल मेघमार्ग-
तोयेश्वरं क्षणमतिक्रमितुं प्रवृत्तः॥२॥

समुद्रलङ्घन-प्रसक्तमाकाशलङ्घनमुत्प्रेक्षते-.वर्धिष्णिवति। वर्धिष्णुः वर्धनशीलः साहसस्य रसो यस्य सः। अमुद्रितम् अर्थात् प्रकटितम् ओंजस्तेजो येन सः। स हनूमान्। समुद्रं सरसः तडागस्य समानं ज्ञातवानिव ज्ञात्वेवेत्यर्थः। आशु शीघ्रम्। तं समुद्रं हित्वा त्यक्त्वा किलेति संभावनायाम्। विततं समुद्रापेक्षया विस्तीर्णं मेघमार्गः आकाश एव तोयेश्वरः समुद्रस्तम्। क्षणं क्षणमात्रम्। अतिक्रमितुम् उल्लङ्घितुं प्रवृत्त आरब्धः॥२॥

अर्थ—हनुमान् का साहस बढ़ा हुआ था। छिपा हुआ तेज प्रकट हो रहा था, उन्होंने समुद्र को तालाब के समान माना। अतः उसको छोडकर समुद्र की अपेक्षा विस्तीर्ण आकाशरूपी समुद्र को क्षणमात्र में उल्लङ्घन करने हेतु वे प्रवृत्त हुये॥२॥

गच्छन्तमद्भुतभृतो नुनुवुः सुरास्तं
त्वादृक् कपीन्द्र भुवने नहि कोऽप्यपूर्वः।
तीर्त्वा नदेशमधिनाथमहानिदेशं
रंहोभरात् तरति याति च योऽन्यदेशम्॥३॥

अद्भुतभृतः तत्साहसदर्शनेन आश्चर्यान्विताः। सुरा देवाः। गच्छन्तं तं हनुमन्तं नुनुवुः। तुष्टुवुः। हे कपीन्द्र भुवने लोके त्वादृक् भवादृशः। कोऽपि अपूर्वः लोकोत्तरः नहि नास्तीत्यर्थः। यः नदेशं नदानाम् अकृत्रिमाणां जलस्रोतसाम् ईशं समुद्रं तीर्त्वा पारयित्वा। अधिनाथस्य अधीश्वरस्य श्रीरामस्य महानिदेशं महतीमाज्ञां रंहोभरात् वेगातिशयात् तरति पारयति। अन्यदेशं विदेशं च याति गच्छति। अत्र नदेश- (समुद्र) तरणापेक्षयाऽपि अधिनाथनिदेशस्य तरणमतिशयित्वेन वर्णितम्। अथच-तीर्त्वा न देशमधिनाथमहानि देशं' इति व्यस्तीकृत्य, देशं न तीर्त्वा, अधिनाथम् अधिकृतनाथम्, अहानि हानिरहितं यथा स्यात्तथा, देशं तरति, अन्यदेशं च यातीति व्याख्यानेनं विरोधाभाससंबन्धिन्यां वैचित्र्यां स्फुरितायाम् अपूर्वताया उद्योतनं गम्यते॥३॥

अर्थ—हनुमान् के इस सागरलंघन को देखकर देवस्तुति का वर्णन—इस अद्भुत साहस

(पराक्रम) को देखकर देवता चकित होकर कहने लगे– हे कपीन्द्र ! आप जैसा लोकोत्तर कोई नहीं। नदियों के स्वामी सागर को पार करने की अपेक्षा तो आप अपने स्वामी की आज्ञा को पूरा कर रहे हैं॥३॥

विशेष—यहाँ नदेश (समुद्र) अधिनाथमहा-निदेश (राम की बड़ी आज्ञा) अन्यदेश (विदेश) शब्दों का चमत्कार है॥४॥

मन्यामहेऽतिमहसैति शिखी, कपिर्नो,

होमाय होमचरुचोरिनिशाचराणाम्।

दग्धुं य इन्धनमयस्य वियोगिचित्ता-

धेः संहतिं प्रयततेऽयततेजसा द्राक् ॥४॥

वयं (सुराः) अतिमहसा अतिशयिततेजसा मन्यामहे-होमनिमित्तको यश्चरुर्हव्यपाकः तच्चोरिणां तदपहारिणां निशाचराणां राक्षसानां होमाय हवनाय तान् भस्मीकर्तुमित्यर्थः। शिखी अग्निरेति गच्छति। कपिः वानरः नो नहीत्यपह्नुतिः। राक्षसैश्चरोश्चोरितत्वेन 'तद्वञ्चितानां सुराणामीदृशं कल्पनमुचितमेव। यः शिखी अयतेन अनुपरतेन तेजसा। इन्धनमयंस्य समिधातुल्यस्येत्यर्थः। वियोगिचित्तस्य आधेः दुःखस्य संहतिं सञ्चयं दग्धुं भस्मीकर्तुं द्राक् त्वरया प्रयतते उद्योगं कुरुते। एतदन्तैव सुरप्रशंसा॥४॥

अर्थ—हम (देवता) तो यह मानते हैं कि यज्ञ की चरु को चुराने वाले यज्ञविध्वंसी राक्षसों को भस्म करने के लिये यह अग्नि ही जा रहा है। कोई वानर नहीं। वियोगी के मानसदुःख को भस्मसात् करने के लिये यह ईंधनयुक्त कोई तेजस्वी अग्नि है॥४॥

सन्तर्क्य वाऽऽक्रममतिक्रमणं स्ववेला-

मुद्रां विमुद्रयितुमुद्रसिकः समुद्रः।

रंहस्विता-बृहदगाध-गभीरताभिः

क्षोभं दधाविव पुरः पवमानसूनोः ॥५॥

समुद्रः अतिक्रमणं पवमानसूनुकृतं स्वोल्लङ्घनम् आक्रमं वा आक्रमणमिव संतर्क्य। स्ववेला एव मुद्रा प्रत्ययकारिणी (मोहर) इति प्रसिद्धा तां विमुद्रयितुं विघटयितुम् उद्रसिकः उत्कृष्टतया उद्यतः सन् इत्यर्थः। पवमानसूनो हनूमतः पुरोऽग्रे रंहस्वितया वेगवत्तया तथा बृहत्तया[१] महत्त्वेन, अगाधतया गाधरहितत्वेन, गभीर-तया च अर्थात्तस्यैतान् गुणान् स्वाधिकान् वीक्ष्य। क्षोभं संचालं दधौ दधारेव॥५॥

अर्थ—समुद्र ने देखा कि इस पवनपुत्र ने मेरी वेला जो मेरे स्वरूप को दिखाने वाली मुद्रा (मोहर) है, उसकी अवहेलना की है। इससे समुद्र उस मुद्राविघटित करने के लिये उद्यत हुये हनुमान् के आगे अपने वेगपने से, अपनी महत्ता से और अपनी अगाधता से अपने को हीन समझा और हनुमान् के गुणों को अधिक देखकर सागर क्षोभ को प्राप्त हो गया॥५॥

भर्तुः सुतं शिखरिणां स्थितमब्धिमध्ये

यादस्तिमिंगिलगिलं विमृशन् मृशंश्च।

मान्यं सुमान्य च सुमानित एष तेन

सम्यक् समुद्रपथमारभताऽतिगन्तुम् ॥६॥

एष हनूमान्। अब्धिमध्ये समुद्रमध्ये। स्थितं शिखरिणां भर्तुः हिमाद्रेः सुतं पुत्रं मैनाकम्। तिमिङ्गिलगिलं, गिलति (जन्तून्) इति गिलः। मूल विभुजादित्वात्कः। 'अचि विभाषा' इति लत्वम्। गिलानां गिलः गिलगिलः। तिमीनां मत्स्यविशेषाणां गिलगिलस्तम्। "गिलगिले च" इति मुम्। अतिमहाकायं यादः जलजन्तुविशेषं विमृशन् विचारयन्। कपिस्वभावेन च तं मृशन् स्पृशन्। तेन सुमानितः सुसत्कृतः सन् तं (मैनाकं) मान्यं स्वपित्रा वायुना, पुरोपकृतत्वात् माननीयं सुमान्य धन्यवादादिना प्रतिपूज्य। सम्यक् सुतरां समुद्रपथम् अतिगन्तुम् उल्लङ्घितुम् आरभत॥६॥

---

१. बृहदादीनां कर्मधारये कृते तलन्तं ज्ञेयम्।

अर्थ—समुद्र के बीच में स्थित हिमालय के पुत्र मैनाक को तिमिनामक मत्स्य विशेष को निगलने वाला, महाकाय जलजन्तुविशेष समझ कर उसे वानर स्वभाव से स्पर्श किया। इस स्पर्श द्वारा हनुमान् ने अपने पूज्य पिता वायु के द्वारा प्रथम उपकार करने से माननीय उस मैनाक का सम्मान किया। मैनाक भी हर्षित हुआ और उसने भी धन्यवाद देकर हनुमान् का सम्मान किया, फिर समुद्र का उल्लंघनं प्रारम्भ किया॥६॥

शङ्का कृतेति गगनेऽमुमुदीक्ष्य सिद्धै-
रैरावतोऽब्धिमभियाति किमुच्चघोषम्।
रामेरितो विशिख एत्यनु रावणं वा
दिष्टप्रकोप उत कीशवपुः प्रयाति?॥७॥

गगने आकाशे सिद्धैः देवविशेषैः अमुं हनूमन्तम् उदीक्ष्य इति इत्थं शङ्का कृता-किम् ऐरावतः उच्चघोषं कल्लोलास्फालनेन उच्चैः कृतशब्दम् अब्धिं समुद्रम् अभियाति अभिद्रवति ? स्वशब्दप्रतिस्पर्धित्वादिति भावः। वा अथवा। रामेरितः राघवप्रहितः। विशिखो बाणः। रावणम् अनु लक्षीकृत्य। 'लक्षणेत्थंभूताख्यान०' इत्यादिना द्वितीया। इति गच्छति उत अथवा। कीशवपुः कपिशरीरः दिष्टप्रकोपः दैवप्रकोपः (अनु रावणं) प्रयाति?॥७॥

अर्थ—आकाशगामी सिद्धों ने विचारा कि क्या यह ऐरावत हाथी है—जो समुद्र की गर्जन को न सह कर, उसे पराजित करने के लिये भयंकर नाद करता हुआ जा रहा है ? या यह राम का बाण है जो रावण को मारने के लिये छोड़ा गया है। या यह बन्दर के शरीर को धारण कर रावण का दुर्भाग्य ही रावण का पीछा कर रहा है॥७॥

त्यक्ता हितेति सुरसा सुर-सार्थ-नुन्ना
संपेषिताऽरिरिति तेन च सिंहिका सा।
नित्यं कपिः स सुकृती कपिऋक्षराजो
भैः किं जगत्यगणितैर्द्विजऋक्षराजः॥८॥

तेन हनुमता सुरसार्थेन देवगणेन (स्वपरीक्षार्थं) नुन्ना प्रेरिता। सुरसा तदाख्या नागमाता। हिता अस्माकं मित्रवर्गीया इति कारणात् त्यक्ता (स्वचातुरीचमत्कारं दर्शयित्वा) मुक्ता सा प्रसिद्धा सिंहिका तदाख्या राक्षसी च। अरिः शत्रुभूता इति हेतोः। संपेषिता नाशिता। हिंसार्थानां स्वार्थण्यन्तत्वेन इड्गुणौ। कपिऋक्षाणां वानरभल्लानां राजः राज्ञः सुग्रीवस्य स कपिर्वानरो हनूमान् नित्यम् अनवरतम्। सुकृती सुष्ठु कृतकृत्यो धन्यो वाऽस्तीति शेषः। जगति द्विजऋक्षाणां ब्राह्मणनक्षत्राणां राजः राज्ञः चन्द्रस्य अगणितैः असंख्यातैः भैः नक्षत्रैः किं प्रयोजनमित्यर्थः ? न किमपीत्यर्थः। यथा सुग्रीवस्य एकेनापि कपिना हनूमता हिता सुरसा त्यक्ता, अहिता सिंहिका च पेषिता, तथा सर्वैर्नक्षत्रैर्मिलित्वापि चन्द्रग्रासक-पुत्रस्य (राहोः) उत्पादिका सिंहिका न पेष्टुं शक्ता। किन्तु सुरसा सु शोभना रसा पृथ्वी च न त्यक्ता किन्तु सा तैः (नक्षत्रैः) अनुवेष्ट्यत एवेति भावः॥८॥

अर्थ—हनुमान् ने देवताओं द्वारा प्रेरित सुरसा (नागमाता) को अपने मित्रपक्ष का जानकर अपना बल व चतुराई दिखाकर छोड़ दिया और राहुमाता सिंहिका को शत्रुपक्ष का जानकर उसे पीसडाला। इस प्रकार वानर और ऋक्षों के राजा सुग्रीव के इस वानर ने अकेले ही अनेक कार्य किये। अतः वह सुकृती (धन्य) है। संसार में ब्राह्मण और नक्षत्रों के राजा (चन्द्र) के असंख्य नक्षत्रों से क्या प्रयोजन ?॥८॥

विशेष—सुग्रीव के एक ही वानर (हनुमान्) के द्वारा हित करने वाली सुरसा छोड़ी गई, और अहित करने वाली सिंहिका नष्ट कर दी गई, परन्तु सारे नक्षत्रों ने भी मिलकर चन्द्र को ग्रसने वाले राहु की माता सिंहिका को नहीं मारा। अतः हनुमान् ही श्रेष्ठ है॥८॥

त्रिभिर्हनूमतः पारतीर-प्राप्तिं वर्णयति—

दर्पेण पारतटमुत्पततोऽस्य वातेः

शक्तिं विषोढुमसहा चलिताऽचलाऽपि।

याऽहो हिमाद्रिसदृशामपि पर्वताना-

माक्रान्तिभारवहनादपि नो अचालीत् ॥९॥

दर्पेण दुःसाध्यसमुद्रतरणजन्येनाभिमानेन। पारतटम् उत्पततः उत्प्लवनेन प्राप्नुवतः। अस्य वातेः हनूमतः। शक्तिं पराक्रमम्। विषोढुं सहितुम् असहा अक्षमा। अचला भूमिरपि चलिता कम्पितवती। अचला-पदमत्र साकूतम्। अहो इत्याश्चर्ये। या अचला हिमाद्रिसदृशां हिमालयतुल्यानामपि पर्वतानाम् आक्रान्तिभारस्य आक्रमणभारस्य वहनाद् धारणादपि नो अचालीत् न चकम्पे। एतेन हिमालयादेरपि हनूमच्छरीरस्य गुरुतरत्वं व्यक्तम् ॥९॥

अर्थ—तीन श्लोकों में हनुमान् का उस पार जाने का वर्णन-अलंघ्य समुद्र को लांघ कर हनुमान् गर्व के साथ उस पार पहुँचे। हनुमान् जैसे ही सागर के उस किनारे पर उछल कर पहुँचे तो यह अचला पृथ्वी चलायमान हो गई। हिमालय के समान अचलों (पर्वतों) के आक्रमण के भार को धारण करने से जो पृथ्वी चलायमान नहीं होती, वह हनुमान् के कूदने के भार से कांप उठी।

यहाँ हनुमान् के शरीर का हिमालय से भी गुरुतरत्व दिखाया गया है ॥९॥

स प्राप्यमाप्य खलु पारतटं ननन्द

चात्यं सुचातक इवाम्बुदवारिबिन्दुम्।

मानं मनस्यमनुतोरु च नाभिमानं

नंनम्यते स्म च रघूत्तममुत्तरस्याम् ॥१०॥

सुचातकः शोभनो वप्पीहः। चात्यं चतितुं याचितुं योग्यम् अम्बुदस्य वारिबिन्दुमिव। स हनूमान् खलु प्राप्यं प्राप्तुं योग्यं पारतटम् आप्य ननन्द जहर्ष। मनसि मानं चित्तसमुन्नतिं च उरु महत् यथा स्यात्तथा। अमनुत मेने। अभिमानम् अहंकारं न (अमनुत)। उत्तरस्यां दिशि। रघूत्तमं श्रीरामं नंनम्यते स्म च। तत्कृपा-कृतज्ञतां प्रकटयितुमिति भावः ॥१०॥

अर्थ—उस पार पहुँच कर हनुमान् परम प्रसन्न हुए, जैसे चातक मेघजल की बूंद पाकर प्रसन्न होता है। चित्त उनका परम आह्लादित हुआ; पर इस हर्ष में गर्व का नाम नहीं था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उत्तर दिशा की ओर देखकर उस दिशा में स्थित भगवान् राम के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लिये बार-बार नमस्कार किया।

विशेष— हनुमान् जी यही मानते हैं कि यह भगवान् राम की कृपा का ही प्रसाद है ॥१०॥

स स्वर्घ्यपाद्यमभिपाद्य वनश्रियाऽऽद्य-

मुद्वेगहीनहृदयोऽप्युरुवेगशाली।

रस्यानि चाश्य कदलीफल-नारिकेल-

सत्पूगदेवकुसुमानि सुमानितोऽगात् ॥११॥

स उद्वेगेन दुःखेन हीनं हृदयं यस्य सोऽपि। उरुवेगशाली महाजवधारी हनूमान्। उत्कृष्टेन वेगेन हीनहृदयोऽपि उरुवेगशालीति अपिशब्दोऽत्र विरोधमपि आभासयति। वनश्रिया (कर्त्री) आद्यम् आदिभवं पारतटप्राप्तिसमकालप्रसक्त-जलसेवनादिजन्यमित्यर्थः। सुशोभनम् अर्घ्य-पाद्यम् अर्घ्यपाद्ययोः समाहारम् अभिपाद्य अङ्गीकार्य। रस्यानि रसयितुम् आस्वादयितुं योग्यानि कदलीफलानि नारिकेलानि; सन्ति शोभनानि पूगानि क्रमुकफलानि (सुपारी), देवकुसुमान्[१] लवङ्गानि च आश्य। आ आश्य इति च्छेदः। आशयित्वा आस्वाद्य। सुमानितः सुसत्कृतः सन् अगाद् ययौ। अग्रे इति भावः ॥११॥

---

१. "लवङ्गं देवकुसुमम्" इत्यमरः।

अर्थ—महावेगधारी हनुमान् जी ने प्रसन्नचित्त से वनश्री के द्वारा अर्पित अर्घ्यपाद्य ग्रहण किया हाथ-मुँह धोकर, (स्वच्छ होकर) जलपान किया। फिर कदली, नारिकेल का सेवन कर सुपारी, लोंग आदि ग्रहण कर आगे चल पड़े ॥११॥

हनूमतो लङ्काप्रवेशमाह—

रिष्टिप्रहारिरजनीचररक्षिता या
तां निर्भयो निशि कपिः प्रविवेश लङ्काम्।
पद्मेशभक्तिकवचाधिकलब्धदेहो-
तिः किं ततस्त्रसतु वज्रकलेवरोऽयम् ॥१२॥

या रिष्टिप्रहारैः खड्गायुधै रजनीचरैः रक्षिता आसीदिति शेषः। तां लङ्कां तदाख्यां पुरीं कपिर्हनूमान् निर्भयः सन् निशि रात्रौ प्रविवेश। रात्रौ आरक्षिणामधिकसावधानत्वे सत्यपि प्रवेशेन निर्भयाधिक्यं द्योत्यते। निर्भयत्वे हेतुमाह-पद्मेशः श्रीपतिः (श्रीरामः) तस्य भक्तिरेव कवचः तेन अधिकं लब्धा प्राप्ता देहस्य ऊतिः रक्षा येन सः। "ऊतियूतिजूति०" इत्यादिना क्तिन्नन्तो निपातः। वज्रवत् कलेवरं शरीरं यस्य स तथोक्तः। वज्राङ्गत्वेऽपि कवचशालीत्यर्थः। अयं कपिः ततः तेभ्यो रिष्टिप्रहारिभ्यो राक्षसेभ्यः इत्यर्थः। त्रसतु त्रासं गच्छतु किम् ? न कदापीत्यर्थः। 'त्रसतु' इह "वा भ्रमुक्रमुक्लमु०" इत्यादिना श्यनः पाक्षिकत्वे शप् ॥१२॥

अर्थ—हनुमान् का लंका में प्रवेश—खड्गायुध धारी राक्षसों से रक्षित लंका में निर्भय होकर हनुमान् ने प्रवेश किया।

जिसके शरीर पर भगवान् की भक्ति का कवच है और जो स्वयं वज्रांग है, वह क्या खड्ग आदि के प्रहार से डर सकेगा ?

विशेष— निर्भयता के दो कारण-भगवान् की कृपा का अभेद्य कवच और वज्रांगता ॥१२॥

हनूमता लङ्काराक्षस्याश्चपेटनमाह—

स ब्रह्मचार्यपि कृतेऽर्थितकामभङ्गे
मुक्तोत्तलां प्रतलतः प्रजहार लङ्काम्।
द्रष्टुं गता इव रतीश-शरास्तदास्ये
वक्रं कटाक्षशरमङ्गुलयोऽस्य रेजुः ॥१३॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यपालनपरः स हनूमान् अर्थितस्य प्रार्थितस्य (लङ्कयेति भावः) कामस्य मैथुनेच्छाया भङ्गे निषेधेऽपि अर्थात् निषेधमात्रे कृते सति (हनूमतेति भावः)। अथ च अर्थितस्य प्रार्थितस्य (हनूमतेति भावः) कामस्य नगरीदर्शनेच्छारूपस्य भङ्गे निषेधे कृते (लङ्कयेति भावः) सत्यपि। इत्यर्थद्वयं संघटनीयम्। ब्रह्मचारित्वेन हनूमता तन्मैथुनेच्छापूर्तिनिषेधे कृते, लङ्कया च तत्-पुरदर्शनेच्छानिषेधे कृते सतीति भावः। मुक्तोत्तलां मुक्तम् उन्मुक्तम् उत्तलम् उत्कृष्टं तलं चपेटः यया सा ताम्। "तलं स्वरूपाधरयोः खड्गमुष्टिचपेटयोः।" इति विश्वः। प्रतलतः[1] प्रतलेन चपेटेनेत्यर्थः। लङ्कां तन्नाम्नीं गोपुररक्षिणीं राक्षसीं प्रजहार प्रहतवान्। अथ हनूमच्चपेटेन लङ्कामुख (कपोल)-चिह्निताः तदङ्गुलय उत्प्रेक्ष्यन्ते-तदास्ये तस्या लङ्काया आस्ये मुखे कपोले इत्यर्थः। अस्य हनूमतः अङ्गुलयः। वक्रं कुटिलं कटाक्षशरं तदीयं कटाक्षरूपं बाणं द्रष्टुं गताः रतीशशराः कामबाणा इव। सदृशपञ्चसंख्याकत्वेनेति भावः। रेजुः शुशुभिरे। ॥१३॥

अर्थ—हनुमान् का लंकिनी को थप्पड़ मारना—ब्रह्मचारी हनुमान् लंका नाम की पुररक्षिका की भोगेच्छा का तिरस्कार कर, लंका प्रवेश की कामना में बाधा डालने वाली लंका के एक कडाके का चपेटा (चांटा, थप्पड़) मारकर-उसे मार डाला।

हनुमान जी की पाँचों अंगुलियाँ लंका के गालों पर ऐसी दिख रही थीं-जैसे कामदेव के पाँच बाण उसके कटाक्षरूपी बाण को देखने गये हों ॥१३॥

---

1. तसेः सार्वविभक्तिकत्वादत्र करणं विवक्षितम्।

विशेष—यहाँ उत्प्रेक्षा-अलङ्कार का चमत्कार है॥१३॥

द्वाभ्यां लङ्कापुरीं वर्णयति—

चञ्चन्महाविपणयः पुरि राजवीथ्योऽ-

नाच्छन्नपण्यनिचयाश्च बभुर्विपण्यः।

चैलानि रत्ननिवहोऽग्र्यमभूच्च पण्यं

वर्योरुमूल्यमशुभच्च सुचैलरत्नम्॥१४॥

पुरि नगर्याम्। राजवीथ्यः राजमार्गाः। चञ्चन्त्यः शोभमाना महत्यो विपणयः पण्यवीथिका यत्र तथोक्ता आसन्निति शेषः। विपण्यः पण्यवीथ्यश्च अनाच्छन्नाः न आच्छादिताः पण्यानां विक्रेयवस्तूनां निचया समूहा यत्र तास्तथोक्ताः। बभुः शुशुभिरे। चैलानि वस्त्राणि रत्ननिवहो मणिगणश्च अग्र्यं प्रधानं पण्यम् अभूत्। सुचैलानां शोभनवस्त्राणां रत्नानां च समाहारः। वर्योरुमूल्यं प्रधानमहामूल्यम्। अशुभत् अराजत्। एकावलिरलंकारः॥१४॥

अर्थ—दो श्लोकों में लंका पुरी का वर्णन—लंका नगरी के राजमार्ग पर बाजार सुशोभित थें। वस्त्रमणि आदि विक्रयपदार्थों से दुकानें सजी हुई थीं। सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से और बहुमूल्य रत्नों की कान्ति से वहाँ के बाजार जगमगा रहे थें॥१४॥

नश्यन्ति यत्र मणिहेम-निशान्त-कान्ताऽ-

लंकारकान्तिभिरभि स्म तमीतमांसि।

सेव्ये तनौ वपुषि तत्र निषेव्यमाणे

तुच्छोतुरेष ददृशे सदृशद्विपार्श्वः॥१५॥

यत्र पुरि। मणिहेम्नां रत्नजटितसुवर्णानां यानि निशान्तानि गृहाणि कान्तालंकाराश्च स्त्रीभूषणानि च तेषां कान्तिभिः। तमीतमांसि निशान्धकाराः। अभि समन्ताद्। नश्यन्ति स्म। तत्र (पुरि) सेव्ये राक्षसवञ्चनाय सेवितुं धर्तुं योग्ये। तनौ कृशे। वपुषि शरीरे। निषेव्यमाणे ध्रियमाणे सति। एष हनूमान्। सदृशे द्वे उभे पार्श्वे पार्श्वभागौ यस्य स तथोक्तः। तुच्छोतुः तुच्छः लघुः ओतुः बिडालः ददृशे दृष्टः। यथा 'तुच्छो-तु'-शब्दोऽपि सदृशाभ्यां द्वयोः पार्श्वयोर्वर्तमानाभ्यां 'तु' वर्णाभ्यां दृश्यते, तथा सोऽपि समन्ततो रात्रितमसि रत्नस्वर्ण-गृह-स्त्रीभूषणैर्नाश्यमाने सति सदृशोभयपार्श्व एव ददृशे इति भावः। तनौ 'वपुषि' इति समपर्याययोः शब्दयोः प्रयोगे आभासितत्वेन पुनरुक्तवदाभासोऽप्य-लंकारोऽत्र ज्ञेयः॥१५॥

अर्थ—रात्रि का घना अन्धेरा वहाँ रत्नों की कान्ति से और भवनों में निवास करने वाली नारियों के भूषणों की कान्ति से दूर हो रहा था। उस लङ्का नगरी में राक्षसों को ठगने के लिये हनुमान् ने अपने शरीर को छोटे रूप में धारण किया तो समान पार्श्वभाग वाले विलाव की तरह दिखाई दिये॥१५॥

अथाष्टभी राजान्तःपुरं वर्णयति—

मत्वेति यद् युवतयो युवतीषु लभ्याः

कान्तावरोधनमभीरुरगात् स वातिः।

रक्षिव्रजैरवहितैः परिरक्ष्यमाणं

यत् संत्रसन्निव विशत्यनिलोऽपि जालैः॥१६॥

यद् युवतयः स्त्रियः युवतीषु स्त्रीषु लभ्याः लब्धुं शक्याः। अत्र "यूनस्तिः" इति त्यन्तं अपिच युधातोः शत्रन्ताद् "उगितश्च" इति ङीप्प्रत्ययान्तं चेति रूपद्वयमुदाहृतम्। इति एवम्। मत्वा ज्ञात्वा। सोऽभीरुः अत्रस्तः। वातिर्वातस्यापत्यं हनूमान्। कान्तानां स्त्रीणाम्। अवरोधनम् अन्तःपुरम् अगात् अगमत्। "शुद्धान्तः स्यादन्तःपुरमवरोधोऽवरोधनम्" इति हैमः। अवहितैः सावधानै रक्षिव्रजैः आरक्षकगणैः परिरक्ष्यमाणं यत् (अवरोधनम्) अनिलः पवनोऽपि। सन्त्रसन् भीतः सन्निव। जालैः गवाक्षैः। विशति प्रविशति। "जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः।" इति मेदिनी। यत्र अनिलस्यापि ईदृशी भीति-दशा तत्र तत्पुत्रस्य निर्भयत्वमिति भावः। तेनात्र वातिपदं साकूतम्॥१६॥

अर्थ—आठ श्लोकों में अन्तःपुर का वर्णन—हनुमान् ने विचारा–आखिर सीता मिलेगी तो कहीं अन्तःपुर में ही क्योंकि स्त्रियाँ स्त्रियों में ही प्राप्त करने योग्य होती हैं, अतः पवनपुत्र बेखटके (निर्भय) महलों में गये। जिन महलों के जाली झरोखों से हवा भी डर कर ही प्रवेश करती है। वहाँ वायुपुत्र हनुमान् ने निर्भय होकर प्रवेश किया ॥१६॥

तेजोनिधानकिरणप्रकरप्रसूतं

नक्षत्रनायककरोत्करनिर्गतं च।

गत्वा स यौवनमुदैक्षत यौवनस्थं

त्वाष्ट्रप्रणीत्यवधिषूज्ज्वलमञ्चकेषु ॥१७॥

स हनूमान् गत्वा। त्वष्टुः[1] विश्वकर्मण इयं त्वाष्ट्री या प्रणीतिः रचना तस्या अवधिषु सीमाभूतेषु। उज्ज्वलेषु रत्नैः दीप्तेषु। मञ्चकेषु पल्यङ्केषु। तेजोनिधानस्य सूर्यस्य किरणप्रकरात् रश्मिजालात् प्रसूतं जातम्। च पुनः। नक्षत्रनायकस्य चन्द्रस्य करोत्करात् किरणसमूहान्निर्गतम् उत्पन्नम् यौवनस्थं यौवनदशामात्रस्थितम्[2]। यौवनं युवतीनां स्त्रीणां समूहम् उदैक्षत ददर्श। "प्रमदा चेति विज्ञेया युवतिस्तु तथा स्मृता।" इति भागुरिकोशप्रमाणात् स्त्रीसामान्येऽत्र युवतिशब्दप्रयोगः। अत एव 'यौवनस्थम्' इति पृथङ्-निर्देशः "यूनस्तिः" इति तिप्रत्ययान्ताद् युवतिशब्दात् "तस्य समूहः" इत्यणि "भस्याढे तद्धिते" इति पुंवद्भावे "अन्" इति प्रकृतिभावे च "यौवनम्" इति रूपम्। एतदादिश्लोकसप्तके अन्तःपुरवर्णनात्मके किंचित्प्रकारकं यमकं द्रष्टव्यम् ॥१७॥

अर्थ—हनुमान् ने वहाँ जाकर देवशिल्पी त्वष्टा की कला की चरम अवधि वाले पलंगों पर स्थित सूर्य की किरणों के समूह से उत्पन्न और फिर चन्द्र की किरणों से निर्गत केवल यौवन दशा में स्थित युवतियों के समूह को देखा ॥१७॥

पुष्पस्थलीषु विनिलीय भयान्न झिल्ली

रींकारमप्यकुरुतात्र रतान्तरायम्।

लङ्केश्वरस्तदिति भिन्नमनःप्रवृत्तिं

कां संततिं निजनयाज्जनयाञ्चकार ॥१८॥

अत्रान्तःपुरे। पुष्पस्थलीषु अन्तःपुरीयासु पुष्पवाटीषु। झिल्ली भृङ्गारी। विनिलीय गुप्तीभूय। भयात् लङ्केशजन्यादिति भावः। रतान्तरायं रतस्य मैथुनस्य अन्तरायं विघ्नभूतम्, मनएकाग्रताखण्डनादिति भावः। रींकारं स्वशब्दमपि नाऽकुरुत। तदिति कारणात्। लङ्केश्वरो रावणः। निजनयात् तामसप्रधानात् स्वनीतिव्यवहारात्। भिन्ना पृथग्भूता मनःप्रवृत्तिः चेतोवृत्तिः यस्याः सा ताम्। कां संततिं कं सन्तानम्। जनयाञ्चकार उत्पादयामास ? अपितु सर्वा अपि सन्ततीः स्वनीतिव्यवहारानुसारिमनोवृत्तिका एव जनयामास आवश्यकस्य सुरत-कालिकस्य मनःस्थैर्यस्य विघ्नाभावात् ॥१८॥

अर्थ—इस अन्तःपुर में पुष्पस्थली (अन्तःपुर की पुष्पवाटिका) में छिपकर भृङ्गारी ने (झिल्ली) रावण के डर से मैथुन के विघ्नभूत अपने रींकार शब्द को नहीं किया, इसी कारण रावण ने अपनी तामसप्रधान नीति के व्यवहार से भिन्न चित्तवृत्ति वाली किस सन्तति को जन्म दिया ? अर्थात् उसकी सभी सन्तान उस जैसी ही उत्पन्न हुई क्योंकि सुरत-कालिक मन की स्थिरता में किसी प्रकार का विघ्न नहीं था ॥१८॥

हर्षात्सुगन्धिसुमनःशयने प्रसुप्तां

त्वाचं च नासमुभयं सुखमाददानाम्।

रामां स कामपि सकामपिशङ्गनेत्रां

वस्त्रावृतोरुमुदलोकत लोकतर्षीम् ॥१९॥

---

१. "त्वष्टा पुमान् देवशिल्पितक्ष्णोरादित्यभिद्यपि।" इति मेदिनी।

२. यौवनमात्रावस्थानां च तादृशीनां स्त्रियस्त्रीणां प्रसिद्धम्।

स हनुमान्। सुगन्धिसुमनःशयने सुरभिपुष्पशय्यायाम्। हर्षात् सुप्ताम् अत एव त्वाचं त्वगिन्द्रियसंबन्धि नासं घ्राणेन्द्रियसंबन्धिचोभयं सुखमाददानाम् अनुभवन्तीम् सकामे साभिलाषे सकन्दर्पे वा तथाभूते इव दृश्यमाने इत्यर्थः। अत एव पिशङ्गे मदेन किञ्चित् पीततापन्ने नेत्रे यस्याः सा ताम्। वस्त्रेण आवृते आच्छादिते ऊरू अर्थात् ऊरुमात्रे यया सा ताम्। इत्यनेन निर्वस्त्रशेषाङ्गीमिति भावः। अत एव लोकान् तर्षयति मोहयति तां लोकतर्षीम्। यद्वा लोकं जनं वल्लभमिति भावः। तृष्यति कामयते ताम्। कामपि रामां रमणीं उदलोकत अपश्यत्। इत्यनेनाऽस्याः कामज्वराक्रान्तत्वं गम्यते॥१९॥

अर्थ—सुगन्धित पुष्पों की शय्या पर हर्ष से सोती हुई, इसीलिये सुगन्ध से घ्राणेन्द्रियसम्बन्धि, तथा पुष्पों से त्वग् इन्द्रिय सम्बन्धी सुख को प्राप्त करती हुई, काममद से पिशङ्ग (पीले) नेत्रों वाली, वस्त्र से जिसके केवल ऊरुमात्र आच्छादित है और शेष अङ्ग निर्वस्त्र (नंगे) हैं, जो लोक (जन, वल्लभ) को मोहित कर रही है, ऐसी किसी रमणी को हनुमान् जी ने देखा॥१९॥

णञ्चारु वर्णमिव संत्रुटितैकयष्टि-
माबिभ्रतीं द्विसरहारमुरःस्थलेऽन्याम्।
हर्यग्र्य आरतरतश्रमिणीं विकीर्ण-
वेषां स्फुरन्नखरदक्षतिमालुलोकत्॥२०॥

हर्यग्र्यः वानरश्रेष्ठः। उरःस्थले वक्षसि। संत्रुटितैकयष्टिं संभोगजन्यबलात्कारादिना विच्छिन्नैकसरम्। अत एव चारु मनोहरम्। णं वर्णम् इव णकाराक्षरमिव। द्विसरं द्वियष्टिं हारम् आबिभ्रतीं धारयन्तीम्। संत्रुटितैकसरो हारो हि णकार इव दृश्यते। आरतेन सद्यो विरतेन रतेन श्रमिणीं श्रमवतीम्। विकीर्णवेषाम् उचितस्थानच्युतवेशाम्। स्फुरन्त्यः शोभमानाः नखरदानां नखरदन्तानां क्षतयः क्षतानि यस्याः सा ताम्। अन्यां कामपि आलुलोकत् ददर्श। अस्याः सद्यः संभुक्तत्वं गम्यते॥२०॥

अर्थ—वानर श्रेष्ठ हनुमान् जी ने वक्षःस्थल पर सम्भोगजन्य बलात्कार से जिसकी एक लडी टूट गई है अतः सुन्दर ण वर्ण की तरह दो लडी के हार को धारण करती हुई, उसी समय सुरत के समाप्त होने से श्रम से युक्त, विकीर्ण केशों वाली, शोभमान है नखक्षत और दन्त-क्षत जिसके, ऐसी दूसरी किसी कामिनी को देखा॥२०॥

विशेष—टूटी हुई एक लडी का हार ण वर्ण की तरह शोभित था। यह नायिका सद्यः सम्भुक्ता थी॥२०॥

राजीवचक्षुषमशेषहिमांशुवक्त्रा-
मस्त्रीकृतप्रखरवक्रकटाक्षपाताम्।
सीमन्तपुष्पमधुपैर्नवकेशवेशां
ताङ् काञ्चनद्युतिमुदैक्षत कांचन स्त्रीम्॥२१॥

हर्यग्र्य इति कर्ता पूर्वत आकृष्यते। राजीवचक्षुषं कमलनेत्राम्। अशेषहिमांशुवक्त्रां पूर्णचन्द्रमुखीम्। अस्त्रीकृतः कामिहृदयवेधनाय प्रहरणीकृतः प्रखरः तीक्ष्णः कटाक्षपातो यया सा ताम्। सीमन्तः केशवेशस्तस्य यानि पुष्पाणि प्रसाधितानि कुसुमानि तेषाम् अर्थात् तत्र स्थिता ये मधुपाः भ्रमराः तैः। नवकेशवेशां नवीनसीमन्तशालिनीमिवेति प्रतीयमानो-त्प्रेक्षा। काञ्चनद्युतिं स्वर्णकान्तिं तां कांचन कामपि स्त्रीम् उदैक्षत ददर्श। एभिर्लक्षणैरेषा मन्दोदरीति प्रतीयते॥२१॥

अर्थ—कोई कमलनयना, चन्द्रमुखी, कामियों को नेत्रकटाक्षों को अस्त्र बनाये हुये अपनी ओर खींच रही थी जिसके केश विन्यास में पुष्प हैं जो भौरों के समान दिखाई दे रहे हैं, ऐसी किसी स्वर्ण कान्ति वाली रमणी को हनुमान् जी ने देखा॥२१॥

मत्ता मदेन समदेन च मन्मथेन
नुन्ना निगद्य च निजाननतो नकारान्।

प्राप्तापि पूर्णपरिरम्भमुदक्तरोमाऽ-

प्यर्धोरुकं प्रियत ऐक्षि हरन्त्यथाऽन्या ॥२२॥

अथेत्यनन्तरम्। समदेन मदिरामदसहितेन मदेन (यौवन) गर्वेण मत्ता। मन्मथेन कामेन च नुन्ना प्रेरिता। निजाननतः स्वमुखात् नकारान् न-नेति बहुवारं निषेधम् निगद्य कथयित्वा। पूर्णं गाढं परिरम्भं प्रियालिङ्गनं प्राप्तापि। अत एव उदक्तरोमा उत्थितरोमाञ्चाऽपि। प्रियतः वल्लभसकाशात्। तत्करहृतमित्यर्थः। अर्धोरुकं चण्डातकं 'लहँगा' इति ख्यातम्। अधोवसनम् हरन्ती आकर्षन्ती अन्या कापि ऐक्षि ददृशे। हनूमतेति शेषः। एषा संभुज्यमाना ॥२२॥

अर्थ—कोई मद से यौवन से व काम से मतवाली भीतर कामेच्छा के होते हुए भी 'ना' करती हुई प्रगाढ़ आलिंगन पाकर रोमांचित थी और जिसका लहंगा शिथिल था। ऐसी किसी दूसरी रमणी को हनुमान् ने देखा ॥२२॥

पर्यङ्कतो द्रुतवती प्रियमाव्रजेती-

रांचक्रुषी पृथुभुजा च विकीर्णकेशी।

व्रीडाविधेरविदुषी विदुषी च धाष्टर्ये

डाकिन्यवाप्ततुलना क्वचिदैक्षि काऽपि ॥२३॥

पर्यङ्कतो मञ्चकाद्। द्रुतवती धावितवती सती। प्रियं वल्लभम् आव्रज आगच्छ इति ईरांचक्रुषी कथितवती। पृथुभुजा आयतबाहुः। विकीर्णकेशी विस्रस्तशिरोरुहा "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्०" इत्यादिना ङीष्। पृथुभुजेत्यत्र तु क्रोडादित्वान्न। एवमत्र प्रकरणे[1] स्त्रीप्रत्ययविषयो विचार्यः। व्रीडाविधेः लज्जाविधानस्य अविदुषी[2] अपण्डिता धाष्टर्यं धृष्टतां च विदुषी जानती। अत एव डाकिन्या अवाप्ता तुलना सादृश्यं यया सा तथोक्ता। क्वचित् कुत्राऽपि कापि स्त्री। ऐक्षि दृष्टा। एषा कापि राक्षसजातीया वर्णिता ॥२३॥

अर्थ—कोई राक्षसजातीया डाकिनी थी। पलंग से उठकर तेज दौड़ती हुई भुजाओं को फैलाकर प्यारे को कह रही थी—'आओ' बाल बिखरे थे। लज्जा से दूर निर्लज्जता में पण्डित थी ॥२३॥

अथ हनूमतोऽशोकवनिकागमनमाह—

मुक्तेव नो जनकजाऽत्र तु काच-गुञ्जा-

पाथोजबीजक-वराटकदामनीव।

गच्छाम्यतोऽसफलतार्त्यवशोऽपरत्र

मत्वेत्यशोकवनिकामविशद्धनूमान् ॥२४॥

काचाः काचखण्डानि, गुञ्जा गुञ्जाफलानि, पाथोजबीजकानि पद्मबीजानि, वराटकाः कपर्दकाश्च तेषां दामनि मालायामिव। अत्र अन्तःपुरे तु। मुक्ता मौक्तिकमिव जनकजा सीता न। अस्तीति शेषः। अतः अस्माद्धेतोः। असफलता कार्याऽसिद्धिः तस्या या आर्तिः दुःखं तस्या अवशः अवशीभूतः। अहम् अपरत्र अन्यत्र गच्छामि, कार्यं साधयितुमिति भावः। इति मत्वा ज्ञात्वा। हनूमान् अशोकवनिकाम् अशोकवृक्षप्रधानां वाटिकाम् अविशत् प्रविवेश ॥२४॥

अर्थ—हनुमान् जी का अशोक वाटिका में आगमन—हनुमान् जी ने विचारा—मैं यहाँ कहाँ मोतियों की माला रूपा सीता को ढूढ़ता रहूँ। यहाँ तो हैं—काँच के टुकड़े, गुंजाफल, कमल के बीज और हैं—कोड़ियाँ। अब और कहीं जाना चाहिये यह विचार कर अशोकवाटिका में प्रवेश किया ॥२४॥

युग्मेन सीता-दर्शनमाह—

तापेन भर्तृ-विरहप्रभवेण तप्तां

मुग्धामदृष्टविदितश्रुतपूर्वरूपाम्।

वाचामगोचरगुणामुपमामिवाऽऽप्त-

चक्रोपलब्धतरभूर्यूपमाऽवशिष्टाम् ॥२५॥

---

१. अन्तःपुरवर्णने।

२. "विद्वान् ज्ञात्मविदोः प्राज्ञे" इति हैमकोशात् प्राज्ञवाच्ययं विद्वच्छब्दः। अत एव शेषे षष्ठी। उत्तरस्तु विद्वच्छब्दो ज्ञतामात्रवाची तत्र 'नलोके'ति षष्ठी न। अत एव न यमकत्वहानिः।

तत्र स्थितां जनकजां परिचित्य नुत्वा

तोषात्स नाथमनुचिन्त्य चिचिन्त चाऽन्तः।

रामोऽग्रराड् दिविषदां स यथाऽक्षराणा-

मः स्त्रीयमी स्फुरिततन्मुकुटा तथाऽस्ति ॥२६॥

स हनुमान्। तत्राऽशोकवनिकायां स्थिताम्। भर्तृविरहप्रभावेण पतिवियोगजेन तापेन दुःखेन तप्तां दुःखिताम्। मुग्धां सुन्दरीम्। "मुग्धस्तु सुन्दरे मूढे" इति मेदिनी। अदृष्टपूर्वम् अविदितपूर्वम् अश्रुतपूर्वं च रूपं लावण्यं प्रकारश्च यस्याः सा ताम्। अत एव, आप्तानां यथार्थवाचां जनानां वाल्मीकिव्यासादीनां चक्रेण समूहेन उपलब्धतरा सीतोपमानाय सातिशयं प्राप्ता या उपमाः सादृश्यानि ताभ्यः अवशिष्टाम् उर्वरिताम् उपमामिव कामपि लोकोत्तरां तुलामिवेत्यर्थः। जनकजां सीतां परिचिन्त्य उपर्युक्तलक्षणैरुपलक्ष्य। अन्तर्मनसि नुत्वा स्तुत्वा[1] च तादृग्गुणविशिष्टत्वेनेति भावः। तोषाद् हर्षात् नाथं स्वस्वामिनं रामम् अनुचिन्त्य स्मृत्वा च। तद्दत्ताशीःसाफल्योपलब्धेरिति भावः। चिचिन्त विचारयामास। यथा यद्वत् अक्षराणाम्। अग्रं प्रथमं राजतीति अग्रराट् प्रथमः अः अकारः स रामः दिविषदां देवानाम् अग्रराट् प्रथमः। तथा इयं स्त्री तद्वधूः सीतेत्यर्थः। स्फुरिततन्मुकुटा स्फुरितः शोभितः स राम एव मुकुटं यस्याः सा ई। अस्य[2] विष्णोः स्त्री ई[3] लक्ष्मीरित्यर्थः। अस्ति। साऽपि दिविषदां देवीनाम् अग्रराट् प्रथमैव। अथ च ईः इत्यक्षरमपि अक्षरेषु अकारस्य स्त्रीत्व-विवक्षायां प्रथमैव। तत्पक्षे ईकारोत्तरवर्ति-विसर्गस्य खर्परे शरि लोपो ज्ञेयः। ईकारस्य चोपरिवर्ति दीर्घचिह्नं पतिरूपमुकुटत्वेन उत्प्रेक्ष्यमाणं प्रतीयते ॥२५-२६॥

१. स्तुतिस्तु परिशिष्टे द्रष्टव्या।
२. "अकारो वासुदेवः स्यात्।
३. "लक्ष्मीरीकार उच्यते" इत्येकाक्षर।

अर्थ—निम्न युग्म पद्यों में (दो श्लोकों में) सीता के दर्शन का वर्णन—स्वामी के विरह से तप्त उस अश्रुत पूर्व लावण्यवती सीता को देखकर उन्हें वाल्मीकि आदि आप्त पुरुषों द्वारा वर्णित सभी उपमाओं से विशिष्ट (लोकोत्तर) उपमा से युक्त सीता को देखकर विचारा, यही सीता है। आनन्दप्रफुल्ल हो राम को याद किया और सफलता प्राप्त की जैसे अक्षरों में सम्राट् की तरह शोभित अकार है, इसी प्रकार देवों में प्रथम राम हैं। वही राम इसके मुकुट हैं, और यह ईकार स्वरूप लक्ष्मी है ॥२५-२६॥

अथ चतुर्भिः, सीतादर्शनेन हनूमतो विचारणामाह—

पश्याऽरसेव कविता दिगिवाऽप्रकाशा

रुक्मोर्मिकेव विमणिर्दृगिवाऽविलोका।

षट्कर्ममुग् द्विजदशेव धवाऽयुतेय-

ञ्जम्पत्यवस्थितिरिवाऽप्रणया न भाति ॥२७॥

पश्येति अन्तरात्मानमेव आमन्त्र्य चिन्तयति। तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमपि केऽपि मन्यन्ते। धवायुता पति-वियुक्ता इयं सीता। अरसा रसविहीना कविता इव। अप्रकाशा प्रकाशरहिता दिग् दिशेव। विमणिः रत्न-रहिता रुक्मोर्मिका सुवर्णाङ्गुलीयमिव। अविलोका दर्शनशक्तिरहिता। दृग् दृष्टिरिव। षण्णां कर्मणां यागादीनां समाहारं मुञ्चतीति अर्थात् तद्विहीना द्विजदशा ब्राह्मणपरिस्थितिरिव। अप्रणया प्रेमरहिता जम्पत्योः दम्पत्योः अवस्थितिः जीवनचर्येव। न भाति नो शोभते। विनोक्तिरलङ्कारः। "विनोक्तिश्चेद् विना किंचित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते।" इति लक्षणात्। मालोपमापि ॥२७॥

अर्थ—चार श्लोकों में सीता के दर्शन से हनुमान् के विचारों का वर्णन—पति से वियुक्त ये ऐसी लग रही हैं, जैसे रसहीन कविता हो; प्रकाश रहित दिशा

हो, रत्न रहित स्वर्ण की अंगूठी हो, दर्शनशक्ति से रहित दृष्टि हो और षट् कर्म (पढना पढ़ाना, दान, लेना और देना, यज्ञ करना, कराना) से रहित ब्राह्मण दशा हो, प्रेमरहित दम्पत्ति की जीवनचर्या हो ॥२७॥

नश्यन्त्यपीशहृदयाऽसुयुतेव मूर्तिः

संज्ञान्विता रघुपपाणिगृहीत्युदाशा।

सत्याकृतेव मणिरेककरग्रहार्हा

दिष्ट्याऽभिजीवति च रक्षति शीलमेषा ॥२८॥

दिष्ट्या इति हर्षे। एषा इयं सत्याकृता सत्यार्पिता सत्यतया स्वाधीनीकृतेत्यर्थः। मणिः रत्नम् इव। कौस्तुभमणिरित्यर्थः[१]। एकस्य रामस्य (विष्णोः) एव करग्रहं विवाहोचितं स्वीकारोचितं च हस्तग्रहणम् अर्हति तथोक्ता। रघुपस्य रामस्य पाणिगृहीती भार्या। "पाणिगृहीती भार्यायाम्" इति निपातः। सीतेत्यर्थः। नश्यन्ती म्रियमाणाऽपि असुयुता प्राणावशेषा मूर्तिः तनूरिव। ईशहृदया ईशःपतिः (रामः) हृदये यस्याः सा तथोक्ता। सभर्तृकहृदयत्वेनेति भावः। उदाशा उद्गता आशा यस्याः सा। आशापूर्णतयेति भावः। संज्ञान्विता चेतनायुक्ता अभिजीवति प्राणान् धारयति। शीलं सच्चरित्रं च रक्षति पालयति। दृश्यमान-दशा-दर्शनादिति भावः ॥२८॥

अर्थ—यह सीता साक्षात् कौस्तुभ मणि की तरह हैं, जो भगवान् राम के धारण करने योग्य हैं। उन्हीं की पाणिगृहीता है। यह म्रियमाण होती हुई भी प्राणयुक्त मूर्ति सी हैं। मिलन की आशा से प्राण धारण किये हैं। और शील की (अपने चरित्र की) रक्षा करती है ॥२८॥

अस्याः प्रलोभनवितर्जनतत्पराश्चा-

मृष्यन्त्य एतदुदितं प्रभुनाम चेट्यः।

यत्तैकदृष्टय उदुक्तकटूक्तयोऽमू-

मावेष्टयन्ति सुशुकीमिव दुष्करट्यः ॥२९॥

च पुनः। अस्याः सीतायाः। प्रलोभनं रावणानुरागाय लोभदर्शनम्। वितर्जनं निर्भर्त्सनं च तत्र तत्पराः। एतदुदितम् एतयोच्चारितम्। प्रभुनाम रामनाम। अमृष्यन्त्यः असहमानाः। यत्तैकदृष्टयः अवहितैक-दर्शनाः। उदुक्तकटूक्तयः उच्चारितपरुषवचनाः। चेट्यः राक्षसराजकिंकर्यः। दुष्करट्यः कुत्सिताः काक्यः सुशुकीं शोभनां शुकीमिव। अमूं सीताम् आवेष्टयन्ति परिवारयन्ति ॥२९॥

अर्थ—इसको रावण से अनुराग करने के लिये तरह-तरह के प्रलोभ दिये जा रहे हैं; पर भगवान् राम का उच्चारण करके यह इन्हें मिटा देती हैं। कुत्सित-काकस्त्रियों से घिरी हुई शुकी की तरह यह (सीता) भी कठोर भाषण करने वाली राक्षसराज-रावण की चेटियों (दासियों) से घिरी हुई हैं, जिस पर इनकी कटूक्तियों का कोई असर नहीं हैं ॥२९॥

णाकारशोभि दधती निशितं त्रिशूलं

साऽन्या कृपाणमपरा त्वसिधेनुकां च।

सीतां प्रविध्यति कटूक्तिभिराश्रितेयं

ता ध्वाङ्क्षिकण्टकिलता इव कल्पवल्ली ॥३०॥

सा दूरवर्तिनीत्यर्थः। णाकारशोभि णकाररूप-शोभितं रेखात्रयाकारशूलत्रययुक्तमिति भावः। निशितं तीक्ष्णं त्रिशूलं दधती धरन्ती। अन्या कापि कृपाणं खड्गं दधती अपरा अन्या तु असिधेनुकां छुरिकां च दधती। कटूक्तिभिः सीतां प्रविध्यति विद्धां करोति। इयं सीता ताः पूर्वोक्ताः राक्षसीः आश्रिता तदाश्रयं प्राप्तेत्यर्थः। अत्रोपमिमीते-कल्पवल्ली कल्पलताः, ध्वाङ्क्षिण्यः काकवत्यो वा काकशब्दवत्यो याः कण्टकिलताः ता इव। ध्वांक्षि घोरवासिते' इति धातोः पचाद्यचि[२] घञि

---

१. एतत्सर्गनामोपलक्षणं (कौस्तुभ-) मणिपदप्रयागः।

२. काकवाचित्वे पचाद्यच्। काकशब्दवाचित्वे तु घञ्।

वा ध्वाङ्क्षशब्दस्य सिद्धेः तत्कटूक्तिस्थानीयो ध्वाङ्क्ष इति ज्ञेयम्॥३०॥

अर्थ—किसी राक्षसी के पास 'ए' कार के आकार का त्रिशूल है। किसी के हाथ में कृपाण, तो कोई छुरी लिये है–ये सब तरह-तरह की कटूक्तियों से सीता को बेध रही हैं। पर सीता यों लग रही हैं–जैसे कल्पलता चारों ओर से काक-स्त्रियों की काँव-काँव से युक्त कंटीली झाड़ियों से घिरी हों। कल्पलता अपने स्वरूप में अप्रभावित रूप से स्थित है॥३०॥

अथ सप्तभिः रावणस्य सीतापार्श्वे आगमनं तयोः संवादं चाह—

विभ्रान्तहृत् समुदितेऽत्र विधावशेषे
वेलातिगोऽब्धिरिव मत्त इराप्रभावात्।
शय्यागतो जनकजास्मृतिमाप्य काम-
ज्वर्यन्तरो दशमुखोऽत्र तदा समागात्॥३१॥

अत्र अस्मिन् अशेषे पूर्णे विधौ दैवे समुदिते समुदायरूपेणोपस्थिते सति। हरण-तर्जनादीनां स्वकर्तृकतया रावणस्य, स्वकर्मकतया सीतायाश्च पूर्णतया (प्रतिकूले) भाग्ये समुदायस्वरूपेण उपस्थिते सतीति भावः। अब्धि-पक्षे तु अशेषे पूर्णे विधौ चन्द्रे समुदिते उदयं प्राप्ते सतीत्यर्थः। वेलातिगः[1] तीरातिक्रमी अब्धिः। समुद्र इव इराप्रभावात् मदिरा-(पान-) प्रभावात् जल-(समुज्जृम्भण-) प्रभावाच्च। "इरा भूवाक्सुरा-ऽप्सु स्यात्" इत्यमरः। मत्तः मदं मदिराजन्यविकारं गर्वं च प्राप्तः सन्। विभ्रान्तहृत् भ्रान्तचित्तः। अब्धिपक्षे तु विशेषेण भ्रान्तान् भ्रमणं भ्रमं वाऽऽपन्नान् (प्राणिनः) हरतीत्यर्थो ज्ञेयः। शय्यागतः शयनस्थः। जनकजायाः सीतायाः स्मृतिं स्मरणम् आप्य। कामज्वर्यन्तरः कामज्वराक्रान्तचेताः। तदा तस्मिन् काले। अत्र स्थाने समागात् आजगाम। अब्धिपक्षेऽपि शय्यागतः शेषशय्याशायिनो विष्णोः शय्यां गतः। जनकजास्मृतिं विष्णुचरणरूपाज्जनकाज्जाताया गङ्गायाः स्मृतिम् आप्य कामज्वर्यन्तरः तां गङ्गां सङ्गत इत्यर्थो ध्वन्यते। विधि-विधुशब्दयोः सप्तम्येकवचनं सारूप्येण श्लिष्टार्थतया विभक्तिश्लेषोऽप्यत्र॥३१॥

अर्थ—सात श्लोकों में रावण का सीता के पास आना व उनका संवाद वर्णन—जैसे चन्द्र के पूर्ण उदय से सागर में ज्वार आ जाता है और वह वेला को लाँघता है; फिर उसके भीतर हलचल मच जातीहै, पर वह सागर शेषशायी विष्णु के पास शान्त हो जाता है–उसी प्रकार रावण मदिरा के प्रभाव से उन्मत्त हो गया और कामातुर होकर सीता के पास पहुँचा–पर वहाँ जाकर विफल मनोरथ होने से क्षुब्ध हो गया॥३१॥

लक्ष्मीरिवाऽधनमुपैक्षत जानकी तं,
नंनम्यते स्म स पदे शिरसा, तथापि।
स व्याजहार च चटूनि कटूनि चान्ते
तीक्ष्णांशुशक्रजयि वर्णितवान् स्वमोजः॥३२॥

स दशमुखः शिरसा पदे चरणौ जानक्या इति भावः। नंनम्यते स्म। तथापि जानकी तं, लक्ष्मीः संपद् अधनं दरिद्रमिव उपैक्षत उपेक्षितवती। स दशमुखः चटूनि मिथ्याप्रशंसावचनानि कटूनि च व्याजहार उक्तवान्। स्वकार्यसाधनाय सामदण्डौ उपायौ प्रयुक्तवानिति भावः। अन्ते अवसाने। तीक्ष्णांशुः सूर्यः शक्र इन्द्रश्च तज्जयि तदतिशायि स्वं स्वकीयम् ओजः तेजो बलं च। "ओजो दीप्तावववष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि।" इति मेदिनी। तत्र तीक्ष्णांशुजयि तेजः, शक्रजयि बलं च ज्ञेयम्। वर्णितवान्। आत्मप्रशंसां कृतवानित्यर्थः॥३२॥

अर्थ—यद्यपि रावण सीता के चरणों में झुका; पर सीता ने उस की उपेक्षा की, जैसे लक्ष्मी

---

१. रावणोऽपि वेलातिगमनात् प्रागपेक्षया समय-व्यवधापनाद् वेलातिग एव।

धनहीन की उपेक्षा करती है। पहले रावण ने सीता के प्रति चापलूसी भरी बातें कही, बाद में वह कड़वी बातें कहने लगा। वह साम, दण्ड जैसी राजनीति को काम में लाता हुआ कहने लगा कि मेरा ओज (तेज) सूर्य से बढ़ कर है, मैं बल में इन्द्र से बढ़कर ही हूँ। पर भगवती सीता पर इन सब का कोई प्रभाव नहीं पड़ा॥३२॥

तप्तः स आह कुपितोऽथ, न मे शृणोषी-

तोऽग्नौ विश प्रपत वा परिखाम्बुराशौ।

निच्छिद्य वा तव शरीरमदन्तु भोज्य-

वस्तूकृतं कृतनिरीक्षणिकाः क्षपाट्यः॥३३॥

अथ स दशमुखः। तप्तः तदस्वीकारेण दुःखितः कुपितश्च आह उवाच। त्वं मे न शृणोषि मत्प्रार्थितं न मन्यसे इति भावः। एषा हि वाग्धारा। इतः कारणात् अग्नौ[१] विश। वा अथवा। परिखाभूते अम्बुराशौ समुद्रे प्रपत। वा अथवा कृतं निरीक्षणम् आरक्षणोपयुक्तम्। अवेक्षणं याभिस्ताः। क्षपाट्यः राक्षस्यः। तव शरीरं निच्छिद्य छित्त्वा कृपाणादिनेति भावः। भोज्यवस्तूकृतं खाद्यसामग्रीत्वेन साधितं (तव शरीरं) अदन्तु भक्षयन्तु॥३३॥

अर्थ—सीताजी के अस्वीकार करने पर वह बौखला उठा कहने लगा–'तू मेरी बात सुनती नहीं है' मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करती है। इस कारण अब तू आग में जल, परिखाभूत सागर में डूब, तुझे ये राक्षसियाँ छुरी से काट-काट कर भून कर खा जावें॥३३॥

चक्षुर्निमील्य तृणमन्तरतः प्रकृत्याऽ-

नात्तैतदीयमुखदर्शनदूषणा सा।

सीता स्वहृत्फलकचित्रितरामचित्रा

तां संनिशम्य गिरमाख्यदसोढरोषा॥३४॥

तां गिरं वाणीं संनिशम्य श्रुत्वा। असोढरोषा अक्षान्तक्रोधा। स्वे हृत्फलके हृदयपट्टे चित्रितम् आलिखितं रामस्य चित्रं यया सा हृद्गतं तं साक्षीकृत्येत्यर्थः। चक्षुर्नेत्रद्वयं[२] निमील्य। तृणम् अन्तरतः मध्ये प्रकृत्य। स्व-रावणयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः। सत्याः परपुरुषसंभाषणदूषणापहारायेत्यर्थः। न आत्तं गृहीतम् एतदीयस्य अर्थाद् रावणसंबन्धिनो मुखस्य दर्शनदूषणं यया सा असंमुखनेत्रा। व्यवधानप्रयुक्तवचना चेति भावः। सा सीता आख्यत् उवाच॥३४॥

अर्थ—रावण की ऊलजलूल बातें सुनकर सीता जी रोष में भर गई। उन्होंने दोनों आँखें मूंद ली। अपने हृदय में चित्रित राम के चित्र को साक्षी बनाया। तिनके की ओट ली, क्योंकि परपुरुष से संभाषण सीधा न हो–इस आशय से मुँह फेर कर सीता ने रावण से कहा॥३४॥

ज्ञातं बलं तव तदैव यदा हृताऽस्मि

त्वाम्पश्यतोहरजनोऽपि जयत्यभीरुः।

विख्यातशक्तिरसि चेदधुनाऽपि रामं

गत्वा पुनर्जय समर्जय मां च कीर्तिम्॥३५॥

तव बलं तदा एव ज्ञातम्। मयेति शेषः। यदा अहं हृता अस्मि। अभीरुः निर्भयः पश्यतोहरजनः पश्यन्तमनादृत्य हरतीति पश्यतोहरः[३] जनः स्वर्णकारसौचिकादिश्चौरलोकोऽपि। "वाक्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु" इति षष्ठ्या अलुक्। त्वां जयति अतिशेते। विजनप्रदेशाद् मम हरणेन तव भीरुत्वज्ञापनादिति भावः। चेद् यदि। विख्यातशक्तिः असि, (तर्हि) अधुनापि पुनः गत्वा रामं जय। मां कीर्तिं च समर्जय उपार्जय॥३५॥

अर्थ—तेरे बल का तो तभी पता चल गया था, जब तू चोरी-चोरी मुझ अकेली को हरण कर यहाँ

---

१. अधिकरणं विवक्षितम्।

२. जातावेकत्वम्।

३. "षष्ठी चानादरे" इति पाक्षिकी षष्ठी।

पर लाया। हिम्मत थी तो मेरे प्रिय के सामने आता। अभी भी तुझ में ताकत है तो रघुवीर से जाकर भिड़। राम को जीत। इस प्रकार मुझे व यश को प्राप्त कर॥३५॥

तच्चेन्न शक्यमनलं विश वा समुद्रं

कल्पाग्नितेजसि न चेज्ज्वल तच्छराग्नौ।

मन्यूद्धुरे रघुवरे कुतुकेक्षिणां चै-

षाम् प्राक्प्रहासपटुतामहमीक्षिताहे॥३६॥

तत् रामजयनं चेद् न शक्यं नो कर्तुं शक्यमिति भावः। (तर्हि) त्वम् अनलम् अग्निं वा समुद्रं विश। न चेत् अन्यथा कल्पाग्नेरिव तेजो यस्य स तस्मिन्। तस्य रामस्य शराग्नौ बाणरूपे वह्नौ ज्वल भस्मीभव। स्वतर्जनप्रयुक्तै रावणपरुषवचनैः प्रहसतो जनानुद्दिश्य कथयति–अहं रघुवरे मन्युना क्रोधेन उद्धुरे उद्गाढे दुर्विषहे इत्यर्थः। सति। एषां पुरोवर्तिनां कुतुकेक्षिणां कौतुकदर्शिनां जनानां प्राक् पूर्वकालिकीं प्रहासपटुताम् उपहासचातुरीम् ईक्षिताहे द्रक्ष्यामि। एतैरपि स्वप्रहासफलं भोग्यमेवेति भावः॥३६॥

अर्थ—यदि राम को नहीं जीत सकता है तो तू आग में जल या समुद्र में डूब मर। अथवा प्रलयाग्नि के समान तेज वाले भगवान् राम के बाण की आग से जलकर तू खाक हो जा, तू जो बक रहा है, उसका कुफल-इन सबके सामने अवश्य पायेगा। और मैं इन परिहास करने वाले और कौतुक देखने वालों को जो दण्ड मिलेगा, उसे मैं देखूंगी॥३६॥

कर्त्यं प्रदाह्यमथवा वपुरस्थिरं मे,

मर्तव्यधर्ममयताममरोऽयमात्मा।

णादिश्च धातुरिह णादिरियात् प्रयोगं

तेजोऽर्क उज्झतु, परत्र रमे न रामात्॥३७॥

मे मम। अस्थिरं विनश्वरम्। वपुः शरीरम्। कर्त्यं छेद्यम्। हिंसार्थानां स्वार्थण्यन्तत्वेऽपि दर्शनादचो यत्। अथवा प्रदाह्यं दग्धव्यम्। ननु अस्थिरस्य वपुषः कर्तनाद्दहनाद्वा का नाम हानिरित्यसंतोषश्चेद् अमरोऽयमात्मा मार्यः इत्यांह-अमरोऽयम् आत्मा मर्तव्यधर्मं मरणस्वभावम्। "धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ। अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे॥" इति मेदिनी। अयतां प्राप्नोतु। इह लोके णादिः णकारादिः धातुः णादिः सन् प्रयोगम् इयाद् गच्छेत्। अर्कः सूर्यः तेजः उज्झतु त्यजतु। एतत्सर्वमसंभवमपि संभवतु इति भावः। (परम्) रामात् परत्र परस्मिन् जने न रमे नो निरता भवामि॥३७॥

अर्थ—यह शरीर नाशवान् है। इसे चाहे काट डाल या भून डाल। मैं तो अविनाशी आत्मा हूँ। चाहे इस संसार में 'ण' कारादिधातु व्याकरण के नियम के अनुसार नकारादि होकर प्रयुक्त हो जावे, पर प्र के योग से पुनः णकारादि होती है। सूर्य अपना तेज छोड़ दें; पर मैं तो रांम को छोड़कर अन्य कहीं रमण करने से रही॥३७॥

विशेष—व्याकरण से धातु के णकार को नकार होता है, पर प्रयोग के कारण पुनः ण हो जाता है। जैसे नमति, प्रणमति॥३७॥

रावणस्य सीतावधायोद्यमनं पत्न्या गृहं प्रति नयनं चाह—

नग्नीकृतं दधदसिं कुपितो दशास्यो

मन्युः क्षमामिव निहन्तुममूं प्रयेते।

हन्त क्षितिर्दुहितृमृत्युभिया चकम्पे

तावत् प्रबोध्य स निशान्तमनायि पत्न्या॥३८॥

कुपितः दशास्यः रावणः। नग्नीकृतं कोषाद् बहिः कृतम् असिं खड्गं दधद् धारयन्। मन्युः क्रोधः क्षमां क्षान्तिमिव। अमूं सीतां निहन्तुं प्रयेते यत्नं

कृतवान्। हन्तेति दुःखे। दुहितुः पुत्र्याः सीतायाः मृत्युभिया मरणभयेन क्षितिः भूमिः चकम्पे। महानर्थाचरणसंभवे पृथ्वीकम्पने एषा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। तावत् तत्रान्तरे। पत्न्या भार्यया मन्दोदर्या धान्यमालिन्या वा। स रावणः प्रबोध्य सदसद्विचारं कारयित्वा। निशान्तं सदनम्। अनायि नीतः ॥३८॥

अर्थ—रावण ने क्रोध में आकर सीता को मारने के लिये तलवार को म्यान से निकाला। जैसे क्रोध क्षमा को नष्ट करने को तैयार हो रहा है। अपनी पुत्री सीता की मृत्यु से डरी हुई पृथ्वी उस समय अचानक काँप गई। भूकम्प सा झटका लगा। इस अनर्थ को देखकर मन्दोदरी रावण को समझा बुझाकर महलों में ले आई ॥३८॥

अतिदुःखार्तायाः सीताया मरणव्यवसायमाह—

त्रैलोक्यनाटकनटस्य सखी नटी साऽऽ-
लोक्याऽत्वरां मिमिलिषुः परभूमिकायाम्।
यं साऽध आश्रयदुपर्यपि तस्य दूतः
सम्बध्य मर्तुमयतिष्ट नटागमं तम् ॥३९॥

त्रैलोक्यमेव नाटकं तस्य नटः तत्कार्यसंचालकः सूत्रधारः श्रीराम इति भावः। तस्य सखी सहाया सहचरी सा सीतेत्यर्थः। "सखा सहाये मित्रे च" इति हैमः। (त्रैलोक्यनाटकनटस्य) अत्वरां विलम्बम् आलोक्य दृष्ट्वा। परभूमिकायाम् अन्यवेशपरिग्रहे अन्यजन्मनीति भावः। "भूमिका रचनायां स्याद् वेशान्तरपरिग्रहे।" इति मेदिनी। मिमिलिषुः मेलितुमिच्छुः। यं सा सीता। अधः नीचैः। आश्रयत् अध्यास्त। अपि च उपरि तस्य श्रीरामस्य दूतो हनुमान् आश्रयत्। तं नटाऽगमं नटतरुम् अशोकम्। "अथ कङ्केल्लिर्नटः कान्तांघ्रिदोहदः। अशोकः" इति त्रिकाण्डशेषः। सम्बध्य सम्यक् गले पाशयित्वा। मर्तुम् अयतिष्ट प्रयेते। नटी च यम् अधः रङ्गस्य नीचैः नटागमं नटानाम् आगमं शास्त्रम् आश्रयति, उपरि रङ्गस्थलस्योपरिभागे च सूत्रधारस्य दूतः यं नटाऽऽगमम् आश्रयति, तं सम्बध्य अनुसृत्य सा मरणमभिनयत्येव ॥३९॥

अर्थ—दुःखार्ता सीता के द्वारा मरण की इच्छा करना—तीनों लोकों के नाटक के नट भगवान् राम की नटी स्वरूपा सीता नट को आते न देखकर, विलम्ब के कारण अब नया पार्ट करने के लिये वेश बदलने को आतुर है-यानी इस शरीर को छोड़कर नया धारण करने के लिये उतावली हो रही है, इसलिये उसने नटतरु (अशोक वृक्ष) का सहारा लेकर गले में फांसी लगाने की तैयारी की इसी समय नट के दूत ने यानी हनुमान् ने इसमें बाधा डाल दी, यानी सीता जी की मरण इच्छा पूरी नहीं हुई ॥३९॥

हनूमतः तत्पतेरङ्गुलीयपातनपूर्वकं कुशलकथनमाह—

'चक्षुःसुधामुपरि वर्षय रामदूते
रामः सुखी शमयि ! पृच्छति सानुजस्ते।'
चक्षुर्मनोहृतमिमां कपिरुक्तिमुक्त्वाऽ-
रम् पातयन् पुनरुवाच तदूर्मिकेयम् ॥४०॥

'अयि'[1] भोः ! उपरि रामदूते चक्षुःसुधां दृष्टिपातामृतमित्यर्थः। वर्षय, सुखी सानुजः सकनिष्ठो रामः। ते तव। शं कुशलं पृच्छति।' इति कपिर्हनूमान्। चक्षुर्मनोहृतं नेत्रहृदयाकर्षिणीम्। तदा हि मरणसमये तस्या नेत्रहृदयाकर्षणमुचितमेव। उक्तिं वाणीम् उक्त्वा। अरं शीघ्रम् पातयन् तदूर्मिकामिति भावः। पुनः उवाच-इयं तदूर्मिका तस्य रामस्य ऊर्मिका अङ्गुलीयम्। अभिज्ञानभूतमिति भावः। अस्तीति शेषः ॥४०॥

अर्थ—हनुमान् जी द्वारा रामनाम अंकित अंगूठी डालकर राम-लक्ष्मण के कुशलसंवाद का

---

१. "अयि प्रश्नानुनययोस्तथा संबोधनेऽपि च।" इति मेदिनी।

कथन—'अयि अरे !' सम्बोधन को सुनते ही सीता ने ऊपर देखा तो हनुमान् ने कहा- मुझ रामदूत पर अपने नेत्रामृत की वर्षा कर, 'छोटे भाई लक्ष्मण के सहित राम आपकी कुशल पूछ रहे हैं।' यों कहकर नीचे अंगूठी गिराई और कहा 'भगवान् राम ने इसे आपके लिये अभिज्ञान (पहचान) के रूप में मुझ दूत के द्वारा भेजा है॥४०॥

तेन सीतायाः प्रमोदमाह—

सन्तर्पिणस्तदुदितामृतपूरपाना-

देवाऽशमज्जनकजाऽन्तरतर्षदाहः।

वर्षेण दाव इव तेन शशाम शोकः

षिङ्गेन नार्यभिसृतेव पुफुल्ल चाशा॥४१॥

संतर्पिणः प्रमोदकात् तृप्तिकारकाच्च। तस्य हनूमतः यत् उदितं कथनं तदेव अमृतपूरः तस्य पानात् एव नतु ऊर्मिकाग्रहणादिति भावः। जनकजायाः अन्तरस्य अन्तरात्मनः यः तर्षः इच्छा पिपासा च स एव दाहः। अशमत् शान्तः। तेन वचनामृतपूरपानेन, वर्षेण जलवृष्ट्या दावः दवाग्निरिव। शोकः जनकजाया इति भावः। शशाम। तेन च आशा पुफुल्ल विकस्वरी बभूव। अत्रोपमिमीते—षिङ्गेन जारेण। अभिसृता कामुकार्थिनी संकेतस्थानं स्वयं गता। नारी स्त्रीव॥४१॥

अर्थ—तृप्तिकारक अमृतमयी हनुमान् जी की वाणी का पान कर, और अंगूठी को पाकर सीता पूर्ण तृप्त हुई। इस अमृत वर्षा से सीता का अन्तर दाह शान्त हो गया।

उसी प्रकार इस वचनामृत पान से सीता का शोक समाप्त हो गया, जैसे वर्षा से दावाग्नि बुझ जाती है और आशा का नया अंकुर निकल आया॥४१॥

हनूमत्-सीतयोः प्रणामकुशलप्रश्नावाह—

गत्वा कपिर्जनकजाऽङ्घ्रियुगं स पर्या-

णंनम्यते स्म तमसौ बहु मन्यते स्म।

तुष्ट्याऽऽस्त चोपसृतयोः 'कुशली'ति शब्द-

ष्टंकार आमिलितयोरिव चापकोट्योः॥४२॥

स कपिर्हनुमान्। जनकजायाः अंघ्रियुगं पर्याणंनम्यते स्म 'परितः मुहुरतिशयेन वा आनमति स्म। बहुमानेन योजयति स्म। च पुनः। तुष्ट्या आनन्देन उपसृतयोः मिथः समीपं गतयोः (तयोः) 'कुशली' इति शब्दः आस्त अभूदित्यर्थः। तत्र सीतयोच्चारितः 'कुशली' ति शब्दो भिन्नकण्ठध्वनिना 'कुशली ?' अर्थात् किं त्वं कुशली ? असि इत्यर्थं द्योतयति स्म। हनुमतोच्चारितस्तु 'कुशली' ति शब्दः 'अहं कुशली अस्मि' इत्यर्थं प्रकटयति स्म। तयोरुपसृतयोरेकः शब्दः कुशलीति कथमुत्थित इत्युपमानमाह-आमिलितयोः (धनुरारोपणे) ईषद् मिलितयोः चापकोट्योः धनुष्कोटि-भागयोः टंकार इव। तयोरप्यामिलितयोरेक एव टंकारो भवति तद्वत् सोऽपीति भावः॥४२॥

अर्थ—हनुमान् व सीता का वार्तालाप—हनुमान् ने सीता जी के चरण-युगल में प्रणाम किया और पास जाकर पूछा—'कुशल है ?' यानी राम-लक्ष्मण आपकी कुशलता पूछ रहे हैं ? सीता—'हाँ, मैं कुशल हूँ।' और तुम कुशल हो? हनुमान् ने कहा- हाँ. मैं कुशल हूँ और राम भी लक्ष्मण के साथ कुशल है। इस प्रकार दोनों ओर से उच्चरित कुशलशब्द धनुष के आरोपण के समय कुछ मिले हुये धनुष के दोनों अग्रभाग से सम्मिलित टंकार की ध्वनि के समान प्रतीत हुआ॥४२॥

अथ द्वाभ्यां हनूमन्तं प्रति सीता-वचनमाह—

रामप्रियाऽऽह तमिदं, सुदिनाहमद्य

घट्यस्त्यसौ शुभतरा, यदुदीक्षितस्त्वम्।

वक्त्रेन्दुतश्च 'रघुराट् कुशली' ति वाचं

स्यन्नां सुधामिव पिबामि चकोरिकेव ॥४३॥

रामप्रिया सीता तं हनुमन्तमिदम् आह उवाच—अद्य सुदिनाहम् सुदिनं प्रशस्तम् अहर्दिनम्। सुदिनशब्दोऽत्र प्रशस्तमात्रवाची "सुदिनासु सभासु कार्यमेतत् प्रतिचिन्वीत विशेषतः स्वयं च।" इत्यादिप्रयोगात्। "राजाहः" इति टच्। 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वे प्राप्तेऽपि "पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा' इति क्लीबत्वम्। असौ इयं घटी दिनस्य षष्टितमो भागः शुभतरा अतिशयेन शुभा अस्ति। यद् यतः कारणात् त्वम् उदीक्षितो दृष्टः। च पुनः। अहं चकोरिका इव वक्त्रेन्दुतः मुखचन्द्रात्। तवेति शेषः। 'रघुराट् रामः कुशली' इति स्यन्नां वृष्टां सुधामिव वाचं वाणीं पिबामि आस्वादयामि॥४३॥

अर्थ—रामप्रिया सीता ने हनुमान् से कहा। आज का दिन सुदिन है। और यह घड़ी तो और भी शुभ है जिसके कारण तुम्हारा दर्शन हुआ। तुमने जो अपने मुख चन्द्र से अमृत जैसी मीठी वाणी सुनाई। 'राम कुशल हैं' इसी सुधा का मैं चकोरी की तरह पान कर प्रसन्न हूँ॥४३॥

मर्तव्यमेव मनसीति मतैकमत्या

हात्मा त्वयाऽऽवि मम दत्तधवोर्मिकेण।

मन्ये रघूद्वहसुखश्रवणात् पुराणै-

नःसंहतिर्ह्रसितुमारभते मदीया॥४४॥

दत्ता धवस्य पत्युः ऊर्मिका अङ्गुलीयं येन स तेन त्वया। हा कष्टम्। मर्तव्यमेव। मयेति शेषः। इति मतैकमत्याः निश्चितैकबुद्धेर्मम आत्मा शरीरम् आवि रक्षितः। अहं मन्ये जाने। रघूद्वहस्य रामस्य सुखश्रवणाद् मदीया पुराणा प्राचीना एनःसंहतिः पापसमूहः ह्रसितुम् अल्पीभवितुम् आरभते। इदानीं पापक्षयात् तज्जन्यदुःखक्षयोऽपि भावीति भावः॥४४॥

अर्थ—मैंने मरने का पक्का निश्चय किया था; पर हनुमान् तुमने पतिदेव की पहचान के रूप में अंगूठी देकर मुझे बचा लिया रघुद्वय-कुशल पूर्वक है; यह सुनकर मेरे सारे पाप का क्षय हो गया है, मैं स्वस्थ सी हो रही हूँ॥४४॥

त्रिभिर्हनूमतः सीतां प्रति समाश्वासनं प्रतिवचनमाह—

बद्धाञ्जलिः कथितवृत्त उवाच वीरो

भौमि प्रियस्तव वियोग-कुरोगरुग्णः।

रामस्त्वयेक्षितनिषेवितमित्युदाश-

मस्या दिशो जलफलानिलमाप्य जीवन्॥४५॥

बद्धाञ्जलिर्विनीतत्वेन संयुक्तकरयुगलः। कथितं वृत्तम् अतीतवार्ता[१]-संदेशरूपो वृत्तान्तो येन स तथोक्तः सन्। वीरो हनुमानुवाच—भौमि! सीते! वियोग एव कुरोगस्तेन रुग्णः तव प्रियो रामः। त्वया ईक्षितं दृष्टं च तत् निषेवितं व्यवहृतम् इति कारणात्। उदाशम् उद्गता आशा पुनः संगमनप्रत्याशा यत्र कर्मणि तत्तथा। अस्या दिशः दशिणस्या इत्यर्थः। जलं, फलानि अनिलः पवनश्चेति समाहृताः तत् आप्य निषेव्य जीवन् प्राणान् धारयन् अस्तीति शेषः। मम पत्न्यापि दाक्षिणात्या जलफलानिला इदानीं सेव्यन्ते तदेषां सेवनेन प्राणयात्रामाचरन्नहं कदापि तया सङ्गंस्ये इत्याशयेति भावः॥४५॥

अर्थ—तीन श्लोकों में सीता के प्रति हनुमान् का आश्वासन कथन—हनुमान् ने दोनों हाथ जोड़कर

१. सीताहरणादित्वप्रेषणान्तमतीता वार्ता। संदेशस्तु श्रीरामकथितः।

कहा–हे सीते ! राम वियोग के रोग से ग्रस्त हैं। तुमसे मिलने की आशा से दक्षिण-दिशा के जल, हवा व फल ग्रहण कर किसी तरह से जीवन धारण किये हैं–इस दक्षिण दिशा में तुम भी जल, हवा व फलों के सहारे किसी तरह जी रही हो यह जानकर जीने का बल मिलेगा ॥४५॥

संप्रत्यदर्शमहमत्र कदर्थनां ते

प्रत्यर्पयामि सति ! तत्फलमेष यामि।

हत्यास्त्वरेरसुहृतिं फलमार्प्य लब्धे-

ष्टः स्राक् त्वयैष्यति समं रघुराडयोध्याम् ॥४६॥

हे सति पतिव्रते ! साकूतमिदम्। अहं संप्रत्य-धुना ते तव। कदर्थनां रावणेन कृतां कारितां चाऽयोग्यां पीडनाम्। अदर्शं दृष्टवान्। घटनादर्शनस्याऽद्यतनत्वा-त्सामान्यभूते लुङ्। एष यामि। तस्याः कदर्थनायाः फलं प्रत्यर्पयामि। राक्षसानां हननेनेति भावः। अरेः शत्रो रावणस्य हत्याः त्वदीयस्य हरणस्य तु (फलं) रघुराट् रामः (अरेः) असु-हृतिं प्राणहरणं फलं स्राक् शीघ्रम् आर्प्य दत्त्वा। लब्धेष्टःप्राप्तवाञ्छितार्थः सन् त्वया समं सह अयोध्याम् एष्यति गमिष्यति ॥४६॥

अर्थ—मैंने रावण के दुष्टव्यवहार को आँखों से देख लिया है। इसका दण्ड तो मिलेगा ही और शीघ्र ही भगवान् राम आवेंगे, रावण को मार कर, आपको अयोध्या ले जावेंगे–इसे सत्य मानो, अब देर का नाम नहीं। यह विश्वास कीजिए ॥४६॥

पूर्णां करिष्यति कृतामिति स प्रतिज्ञां,

जित्वैव नो, ननु निहत्य रिपुं स तर्प्ता।

तस्माच्छुचं त्यज च मामनुशाधि, यातुं

सर्वं भविष्यति शुभं रघुराट्प्रभावात् ॥४७॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण (रिपुं रावणं) जित्वा वशीकृत्यैव कृतां प्रतिज्ञां पूर्णां नो करिष्यति। ननु निश्चयेन स रामः रिपुं निहत्य मारयित्वा तर्प्ता तृप्तिं प्राप्स्यति। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्ये' ति वाऽमागमः। रधादित्वाद् वेट् च। तस्मात् कारणात् शुचं शोकं त्यज मुञ्च। मां यातुं गन्तुम् अनुशाधि अनुमन्यस्व। रघुराट्-प्रभावात् सर्वं शुभं भविष्यति ॥४७॥

अर्थ—भगवान् राम अपने द्वारा की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करेंगे। रावण को जीतकर ही नहीं, किन्तु राक्षस कुल का संहार कर तृप्त होंगे। इसलिये आप शोक करना बन्द करें। मुझे जाने की आज्ञा दें। भगवान् राम के प्रभाव से सब शुभ होगा ॥४७॥

द्वाभ्यां स्वचूडामणि-प्रदानपूर्वकं सीताया हनूमन्तं प्रति प्रियसंदेशोक्तिमाह—

वन्दारवे निजशिरोमणिमार्प्य तस्मै

दैवीं कृपामिव ततः निजगाद सीता।

वस्तु प्रियं प्रियतमाय ददाम्यदो यत्

तैः स्वैर्जनैः स्मरयिता सममेव मां तम् ॥४८॥

सीता तस्मै वन्दारवे वन्दनशीलाय हनूमते। दैवीं देव-(ईश्वर) संबन्धिनीं कृपामिव। निजशिरोमणिं स्वचूडारत्नम्। आर्प्य दत्त्वा। ततस्तदनन्तरम्। सीता निजगाद उवाच। प्रियतमाय श्रीरामाय तं प्रत्यभिज्ञा-पयितुमित्यर्थः। क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी। अद एत-त्प्रियं वस्तु ददामि। यत् (शिरोमणिरूपं वस्तु) तं प्रिय-तमं (प्रयोज्यकर्म) स्वैः जनैः जनकादिभिः बन्धुजनैः (सह) मां स्मरयिता उत्कण्ठापूर्वकं स्मरणं नेता। इन्द्रप्र-सादीकृतस्य चूडामणेर्जनकेन विवाहसमये समर्पितत्वा-दन्यैश्च सर्वैर्बन्धुभिस्तदाऽनुमोदितत्वादिति भावः ॥४८॥

अर्थ—सीताजी ने अपनी चूड़ामणि दी और हनुमान् को विनम्र सन्देश पहुँचाने के लिये कहा—सीता ने वन्दनशील हनुमान् को चूड़ामणि दी और कहा–'यह चूड़ामणि भगवान् को देना, जिससे उन्हें पुरानी सारी बातें याद आ जावें। किस प्रकार इन्द्र द्वारा

भेंट की हुई यह चूड़ामणि जनक जी ने मुझे विवाह के समय दी थी—इससे सारी स्मृतियाँ उन्हें प्रेरित करेंगी ॥४८॥

अन्ताय तं निजरिपोस्त्वरय द्विमासे

भिन्नस्थितिर्निरवधिं तु स मां निहन्ता।

षिङ्गस्य कर्म विशदीक्रियतां समं चो-

च्यन्तां च भद्र कुशलानि शिवोऽस्तु तेऽध्वा ॥४९॥

हे भद्र सुभग ! त्वं तं रामं द्विमासे द्विमासाभ्यन्तरे निजरिपोः रावणस्य अन्ताय नाशाय त्वरय त्वरां कारय। भिन्ना नाशिता स्थितिर्मर्यादा येन सः स रावणः। निरवधिम् अवधेः (द्विमासात्मकात्) निष्क्रान्तां तु मां निहन्ता मारयिष्यति। समं सहैव च षिङ्गस्य कामुकस्य (तस्य) च कर्म मामुद्दिश्य तादृशमत्याचाररूपं कार्यं विशदीक्रियतां स्फुटीक्रियताम्। कुशलानि च उच्यन्ताम्। ते अध्वा पन्थाः शिवः सुखकारी अस्तु। अत्र भद्रादिपदानां समपर्यायतया पुनरुक्तवदाभासः ॥४९॥

अर्थ—मेरे प्रियतम को शीघ्र यहाँ आकर रावण को मारकर, मेरा उद्धार करने के लिये प्रेरणा देना। रावण द्वारा दी गई दो मास की अवधि के भीतर-भीतर सारे कार्य सम्पन्न हों। यहाँ के सारे समाचार कहना तुम्हारा मार्ग सुखकर हो—यह मेरी कामना है ॥४९॥

हनूमतः ततः प्रस्थानं वनीभञ्जनं चाह—

चक्षुर्जलैः स्नपित आस्नपयंस्तदङ्घ्री

लङ्केशमार्मिकपरिस्थितिमाबुभुत्सुः।

कापेय-कौशलकलां कलयन् कपीन्द्रो

यां चाविशन्निरविशद्, व्यभनग् वनीं ताम् ॥५०॥

तस्याः सीताया अङ्घ्री पादौ चक्षुर्जलैः स्वाश्रुभिः आ समन्तात् स्नपयन् स्नानं कारयन् (चक्षुर्जलैः सीताया इति भावः) स्नपितः सन्। मिथोवियोगसमये प्रगमतो हनुमतः सस्नेहं पश्यन्त्याश्च सीताया अश्रुपात उचित एव। लङ्केशस्य मार्मिकीम् अभ्यन्तरीयां राक्षसबलादिरूपां परिस्थितिं वर्तमानदशाम् आबुभुत्सुः आबोद्धुमिच्छुः। कापेयं कपेः कर्म। 'कपिज्ञात्योर्ढक्' इति ढक्। तस्य कौशलं चातुरी सैव कला शिल्पविशेषः तां कलयन् कुर्वन्। कपीन्द्रो हनुमान्। यां (वनीम्) अविशत् प्राक् प्राविशत्। च पुनः। निरविशत् फलादिभक्षणेन उपभुक्तवान्। तां वनीम् अशोकवनिकां व्यभनक् भग्नवान्। स्वेनाश्रितस्योपभुक्तस्य च भञ्जनं कपेः स्वाभाविकमेव ॥५०॥

अर्थ—हनुमान् का प्रस्थान और अशोकवाटिका के ध्वंस की इच्छा—हनुमान् की आँखों से आंसुओं की धारा बह चली, इन आंसुओं से सीता के दोनों चरण भीग गये। सीता की आँखों से आंसू ढरके जिनसे उन्होंने ने स्नान किया।

वानर स्वभाव से हनुमान् वाटिका में घुसे फल खाये, पेड़ों को उखाड़ा और जो राक्षस रोकने आये उन्हें मार पीट कर भगा दिया ॥५०॥

हनूमताऽक्षादीनां हननमाह—

रामं स्तुवंश्च निजिघृक्षुमथो जिघृक्षुं

क्षप्यं क्षपाटगणमक्षपयत् तथाऽक्षम्।

सेन्द्रारि-रात्रिचरतो द्रुहिणास्त्रबन्धं

रंरम्यमाणहृदवाप नृपं दिदृक्षुः ॥५१॥

निजिघृक्षुं निग्रहं कर्तुमिच्छुम् अथो पुनः जिघृक्षुं ग्रहीतुमिच्छुम्। क्षप्यं क्षपयितुं नाशयितुं योग्यं क्षपाट-गणं राक्षसगणम् अक्षपयत् अमारयत् तथा अक्षं तन्नामानं रावणपुत्रम् (अक्षपयत्)। च पुनः! नृपं राजानं रावणं दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः। हनुमान् सेन्द्रारिभ्य इन्द्रारिणा इन्द्रजिता सह वर्तमानेभ्यः रात्रिचरेभ्यः राक्षसेभ्यः। द्रुहिणास्त्रेण इन्द्रजित्प्रयुक्तेन अभिमन्त्रितेन ब्रह्मास्त्रेण यो रात्रिचरकृतो बन्धःतम्। रंरम्यमाणहृत्। ब्रह्मवरप्राप्त्या प्रमुदितमनाः सन् अवाप प्राप ॥५१॥

अर्थ—हनुमान् द्वारा अक्षकुमार आदि का वध—हनुमान् ने राम का जय जयकार किया। राक्षसों को मारना शुरु किया। रावण के पुत्र अक्षकुमार को मार डाला, इन्द्रजित् (मेघनाद) हनुमान् को पकड़ने आया, रावण के दर्शन करने की इच्छा से इन्द्रजित् के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र से हनुमान् वश में हो गये। और वे रावण के पास ले जाये गये।।५१।।

द्वाभ्यां हनूमतो रावणदर्शनं वर्णयति—

विभ्राजमानमिव भानुमधृष्यधाम्ना

भीमं ददर्श स दशास्यमनल्पशक्तिम्।

षड्वक्त्र उग्रतरशक्तिरपीक्षयैवै-

णम्मन्य आमनुत सिंहमिवाहवे यम्।।५२।।

स हनुमान्। अधृष्येन अदम्येन असह्येन वा। धाम्ना तेजसा। विभ्राजमानं प्रदीप्यमानम्। भानुं सूर्यमिव। भीमं घोरम् अनल्पशक्तिं प्रचण्डबलं दशास्यं रावणं ददर्श। यं (दशास्यम्) उग्रतरशक्तिः उग्रतरा घोरतरा शक्तिः अस्त्रविशेषः बलं च यस्य स तथोक्तोऽपि। षड्वक्त्रः कार्त्तिकेयः। ईक्षया दर्शनेनैव एणंमन्यः आत्मानं हरिणं मन्यमानः सन्। आहवे युद्धे, देवदानवानामिति भावः, कार्त्तिकेयस्य देवसेनापतित्वात्। सिंहमिव आमनुत मेने। कार्तिकेयोऽपि रावणसंमुखे सिंहसंमुखे हरिण इव संजात इति भावः।।५२।।

अर्थ—निम्न दो श्लोकों में हनुमान् का रावण के दरबार में जाने का वर्णन—हनुमान् ने रावण को प्रचण्ड तेज से भरा हुआ देखा। सूर्य की तरह तेज बिखर रहा था। इसी रावण ने देवसेनापति कार्तिकेय को-देव-दानव युद्ध में पराजित कर दिया था—जैसे सिंह के सामने हरिण हो।।५२।।

कृतं मनसि वातिने-

त्यहह रावणस्योर्जितं

तपत्यति न भानुमान्,

न बहु वाति वातो भयात्।

कृपादृशमभीप्सवो

दधति लोकपालाः स्थितिं

त्यजन्ति जलमम्बुदाः

सुफलिनी च पृथ्वी सदा।।५३।।

वातिना हनुमता। मनसि इति एवं कृतं विचारितम्-अहह आश्चर्ये। रावणस्य ऊर्जितं विभूतिः। अस्तीति शेषः। भयादिति सर्वत्र योजनीयम्। भानुमान् सूर्यः अति अतिशयेन न तपति। वातो वायुः बहु भूरि न वाति। कृपादृशं कृपादृष्टिम् अभीप्सव इच्छवः लोकपालाः स्थितिं दधति तिष्ठन्ति। अम्बुदा मेघा जलं त्यजन्ति वर्षन्ति। पृथ्वी च सदा सुफलिनी धान्यादिफलवती। अस्तीति शेषः। पृथ्वी-पदेन पृथ्वी-वृत्तस्य सूचनाद् मुद्रालंकारः। वृत्तलक्षणं तु ''जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।'' इति।।५३।।

अर्थ—हनुमान् ने मन ही मन में विचारा। देखो यह प्रतापी रावण है। यहाँ सूर्य इसके भय से तप नहीं पाता है। हवा भी डर के मारे धीमे-धीमे बहती है। लोकपाल खड़े-खड़े कृपा दृष्टि के लिये तरसते हैं। बादलों को समयानुसार पानी बरसाना पड़ता है और यह पृथ्वी हमेशा यहाँ सुफलिनी (धान्यादिफल से युक्त) रहती है।।५३।।

रावण-हनूमतोरुक्तिप्रयुक्ती आह—

स्तम्भस्थायमथ स्थितं दशमुखो-

ऽपृच्छत् कपिं कोऽसि रे ?,

दासोऽहं परिपूर्णचन्द्रयशसो-

रामस्य, कीशोऽब्रवीत्।

रामोऽसौ कतरः, स्वमातृवधतः

ख्यातः, परिव्राड्डुत,

मोहेनेति वदन्तमस्रपपतिं-

क्रुद्धोऽवदद् मारुतिः ॥५४॥

अथानन्तरम्। दशमुखो रावणः। स्तम्भस्थायं स्थितं स्तम्भमिव स्थितम्। कर्तर्युपमाने णमुल्। कपिम् अपृच्छत्। रे अरे ! त्वं कोऽसि। कीशः कपिरब्रवीत्— अहं परिपूर्णः चन्द्र इव यशो यस्य स तस्य रामस्य। दासः भृत्यः दूत इत्यर्थः। अस्मीति शेषः। ततो रावणप्रश्नमाह-असौ त्वया व्यपदिश्यमानः रामः कतरः द्वयोर्मध्ये कः। "किंयत्तदो निर्धारणे" इति डतरच्। स्वमातुर्यो वधो मारणं तस्मात् (हेतोः) ख्यातः प्रसिद्धः। परशुराम इति भावः। उत अथवा परिव्राट् प्रव्रज्यां प्राप्तः। दाशरथिरिति भावः। इति मोहेन अज्ञानेन वदन्तं ब्रुवन्तम् अस्रपपतिं राक्षसेश्वरम् क्रुद्धः स्वामिनोऽपकृष्ट-व्यपदेशनेनेति भावः। मारुतिः अवदत् ॥५४॥

अर्थ—रावण और हनुमान् का संवाद— रावण ने स्तम्भ की तरह स्थित हनुमान् से पूछा–'अरे ! तू कौन हैं ?' हनुमान्–मैं परिपूर्ण चन्द्रवत् राम का दास हूँ। रावण–'राम, कौन राम ?' जिसने अपनी मां को मारा वह राम (पशुराम) अथवा जिसे निकाल दिया गया है–वह जो तपस्वी की तरह है ? मोहग्रस्त राक्षसेन्द्र रावण द्वारा राम के प्रति अवज्ञा पूर्वक कहने पर हनुमान् ने क्रुद्ध होकर मुँह तोड़ उत्तर दिया ॥५४॥

अथ त्रिभिर्हनूमतो रावणं प्रति तत्प्रति-वचनमाह—

विष्वग् यः खरदूषणत्रिशिरसः-

सानल्पसेनान् क्रुधाऽऽ-

ज्वल्याऽन्ताग्निरिव स्वबाणशिखया-

ऽधाक्षीत् पतङ्गानिव।

रः प्रागित्यभिधीयमानमपि य-

न्नामाऽऽद्यवर्णं भयं

प्रत्यक्षं तव मातुलं तमनयद्,

रामः स किं नो श्रुतः ॥५५॥

यः (रामः) क्रुधा कोपेन अन्ताग्निः अन्तस्य प्रलयस्य अग्निरिव। आज्वल्य आ समन्तात् उद्दीप्य स्वबाण एव शिखा ज्वाला तया पतङ्गान् शलभानिव। अनल्पया बह्व्या सेनया सह वर्तमानान्। खरदूषणत्रि-शिरसः तत्तन्नाम्नो राक्षसान् विष्वक् समन्तात् अधाक्षीत् भस्मीचकार। तथा र इति प्राक् पूर्वम् अभिधीयमानमु-च्चार्यमाणं यस्य नाम्नः आद्यं प्रथमं वर्णम् अक्षरमपि (कर्तृ)। तव प्रत्यक्षं[1]। तं (तव) मातुलं मारीचं भयम् अनयत् भीतम् अकरोदित्यर्थः। स रामः किं नु श्रुतः ? अपितु अवश्यमेव श्रुतः स्यात् ॥५५॥

अर्थ—निम्न तीन श्लोकों में हनुमान् का जवाब—'जिसका क्रोध प्रलयाग्नि की तरह है, जिसमें खर-दूषण-त्रिशिरा अपनी विशाल सेना के साथ जल कर राख हो गयें। जिनके बाणों की अग्नि में ये सब पतंगे की तरह भस्म हो गयें। जिसके नाम के आदि में 'र' है और जिससे डरकर तू अपने मामा मारीच को ले गया था–उस राम का नाम नहीं सुना है क्या ? अपितु अवश्य सुना है ॥५५॥

मुष्णन् यद्भयतो रहो जनकजां

त्वं कांदिशीक्यं गतो

मोहादेव करालकालकवली-

भूष्णुं स्वमावेत्सि नो।

दर्पी येन हतो हतानुजगृहो

वाली स एकेषुणा

हर्यृक्षेशपदं तथा प्रियसखः

सुग्रीव आरोपितः ॥५६॥

---

१. रावणप्रत्यक्षघटनावर्णनं तु प्रागुक्तदशमसर्गीय ४४ तमपद्यानुसारम्।

यद्भयतो यस्माद् रामाद् भयात्। रहो विजने। जनकजां सीताम्। मुष्णन् चोरयन् त्वं कान्दिशीक्यं कान्दिशीकतां भयात्पलायनमित्यर्थः "कांदिशीको भयद्रुतः" इत्यमरः। कांदिशं यामीति आह कांदिशीकः। "माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्" इति ठकि पृषोदरादित्वात्साधुः। तथा त्वं मोहात् अज्ञानादेव करालस्य कालस्य मृत्योः कवलीभूष्णुं ग्रासीभवितारं[1] स्वम् आत्मानं नो आवेत्सि जानासि। येन (रामेण) एकेषुणा एकेन शरेण। दर्पी गर्वी। हृतानुजगृहो हृतम् अनुजस्य सुग्रीवस्य गृहं कलत्रं येन सः। "गृहं गृहाश्च पुंभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि।" इति मेदिनी। स प्रसिद्धः त्वया तत्कक्षाक्रान्तत्वेन ज्ञात इति भावः। वाली हतो मारितः। तथा प्रियसखः सुग्रीवः हर्यृक्षाणां वानरभल्लूकानाम् ईशस्य स्वामिनो राज्ञ इति भावः। पदम् आसनं राज्यसिंहासनमित्यर्थः। आरोपितः अधिष्ठापितः ॥५६॥

अर्थ—जिसके डर के मारे तू अकेले में सीता को चुराकर भाग आया। मोह से मृत्यु के करालमुख में ग्रास होने वाला है, इसको नहीं जानता है ? जिस राम ने एक ही बाण से उस घमण्डी वाली को जिसने छोटे भाई का राज्य व पत्नी को छीन लिया था और जिसकी काख में तू दबकर छटपटाया था, मार दिया था। जिसने सुग्रीव को वानर भालुओं का राजा बनाया है—क्या तू उस राम को नहीं जानता ? अवश्य जानता होगा ॥५६॥

देवीं तस्य वधूं विचेतुमवनौ-

कीशाः परस्कोटयो

वर्गीभूय चरन्त्यहं तु हनुमा-

न्नामात्र तामाप्नवम्।

ताभ्यः सा तु परा, वसन्ति दिवि या,

भर्ताऽपि तस्याः परो

योऽसौ राम, इतो जिजीविषसि चेत्,

स श्रीयतां साऽर्प्यताम् ॥५७॥

तस्य रामस्य वधूं पत्नीं देवीम् अवनौ भूमौ। विचेतुम् अन्वेषयितुम्। परस्कोटयः कोटेः परे 'पञ्चमी' ति योगविभागात्समासः। राजदन्तादित्वात्परस्य पूर्वनिपातः। पारस्करादित्वात् सुट्च। कीशाः कपयः। वर्गीभूय समुदायीभूय। चरन्ति पर्यटन्ति। अहं तु हनुमान्नाम कीश इत्यर्थः। अत्र लङ्कायां ताम् आप्नवम्। देवीत्वेन तां परिचाययति—सा तु (देवी) ताभ्यः परा (उत्कृष्टतमाऽस्ति)। याः देव्यः दिवि स्वर्गे वसन्ति। रावणेन स्वर्गस्यातिपरिचितत्वादेतत्कथनमुचितम्। यः असौ वर्णितपूर्वः रामः (स) तस्या भर्ताऽपि परः उत्कृष्टतमो (ऽस्ति)। इतः कारणात्। चेद् यदि। त्वं जिजीविषसि ज़ीवितुमिच्छसि। (तर्हि) स श्रीरामः श्रीयताम् आश्रीयताम्। सा सीता अर्प्यतां प्रदीयताम् ॥५७॥

अर्थ—उस राम की पत्नी की तलाश में निकले बन्दरों में से मैं भी एक वानर हूँ, जो यहाँ आया हूँ। यह देवी स्वर्ग में रहने वाली देवियों से बढ़कर है। उसका पति राम भी परम पूजनीय है। अब यदि तू जीने की इच्छा करता है तो राम की शरण जा और सीता को सौंप कर कुशली हो ॥५७॥

रावणस्य हनूमद्वधाज्ञापने विभीषणसंमतिमाह—

वह्निस्तीव्र इवाऽज्वलद्दशमुखः

श्रुत्वा तदुक्तिं क्रुधा,

रंहस्तोऽपि च तस्य मारणमशा-

दुत्पातमुत्तर्कयन्।

प्राग् नत्वाऽथ विभीषणः पुनरवग्,

दूतः कृतोपद्रवोऽ-

प्यर्हेन्नो वधमुत्तमक्षितिभुजां,

संदूष्य निष्कास्यताम् ॥५८॥

[1] मूलपदस्थं शीलार्थं स्नुं शीलार्थतृन्नन्तपदेन बोधयति।

दशमुखो रावणः। तदुक्तिं हनुमद्वचनं श्रुत्वा क्रुधा क्रोधेन। तीव्रः प्रगाढः अग्निरिव अज्वलत् प्रादीप्यत। अपिच तस्य हनूमतः उत्पातम् अशोकवनिकाभञ्जनाऽक्षादिवधरूपं महोपद्रवम् उत्तर्कयन् सन्। रंहस्तो वेगात् (तस्य) मारणम् अशात् आज्ञप्तवान्। अथेत्यनन्तरम्। विभीषणः प्राक् पूर्वं नत्वा दशमुखमिति भावः। पुनः अवक् उवाच-कृतोपद्रवोऽपि दूतः उत्तमानां क्षितिभुजां राज्ञाम्। "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्तरि षष्ठी। तेन उत्तमराज-कृतमित्यर्थः। वधं मारणं न अर्हेत्। उत्तमै राजभिर्दूतो न मारणीय इत्यर्थः। संदूष्य सम्यक् प्रकारेण दूषयित्वा अङ्गविकारादिना दोषं नीत्वेत्यर्थः। निष्कास्यतां निःसार्यताम्। दूत इति कर्मपदं पुनराकृष्यते ॥५८॥

अर्थ—रावण द्वारा हनुमान् को मारने की आज्ञा देने के सम्बन्ध में विभीषण से सलाह लेना— हनुमान् की बात सुनकर रावण क्रोध में आग बबूला हो गया तथा हनुमान् के द्वारा अशोकवाटिका को उजाडने की बात याद कर कहा–इसको जल्दी ही मार डालों।' पर इतने में ही विभीषण ने कहा–राजन् ! किसी राजदूत को मारना राजनीति की दृष्टि से अनुचित है। अतः अंगभंग करके इसे निकाल दिया जाय, यही दण्ड उचित है ॥५८॥

रावणेन विभीषणवाक्ये स्वीकृते राक्षसानां हनूमत्पुच्छप्रज्वालनमाह—

सम्यक् तद्वचनं तथाऽस्त्विति तदा
जग्राह राड् रक्षसा-
मुत्थायाऽनुचराश्च पुच्छमयुजन्
वल्कैः शणैश्चानिलेः।
थाथय्येतिमृदङ्गवादनपरा-
श्चायोज्य तैलाग्निनाऽ-
प्यन्तर्वीथि मसीं विलिप्य वदने
बाला इवाऽचारयन् ॥५९॥

तदा तस्मिन् काले। राक्षसां राक्षसानां राड् राजा रावणः। सम्यक् संगतम्। तस्य विभीषणस्य वचनम्। 'तथा संदूष्य निष्कासनम् अस्तु' इति एवं जग्राह स्वीकृतवान्। च पुनः। अनुचराः रावणानुगामिनो राक्षसा उत्थाय वल्कैः वल्कलैः शणैः शणकाण्डनिः सृतैस्तन्तुविशेषैश्च। आनिलेः हनूमतः। पुच्छम् अयुजन् अवेष्टयन्नित्यर्थः। थाथय्या इत्यनुकारिमृदङ्गवादने पराः निरताश्च तेऽनुचराः। बालाः सकौतुकोत्साहवत्त्वेन बालका इव। तैलाग्निना तैलाग्निसमाहारेण। आयोज्य युक्तीकृत्य। पुच्छमिति कर्माऽनुकृष्यते। वदने मुखे आनिलेः (हनूमतः) इति भावः। मसीं लेखनद्रव्यं विलिप्य। अन्तर्वीथि वीथिषु रथ्यासु इति अन्तर्वीथि। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अचारयन्। आनिलिं (हनूमन्तम्) इति भावः ॥५९॥

अर्थ—रावण ने विभीषण की यह सहमति मान ली और कहा कि इसकी पूंछ जला दी जाये। विभीषण की इस उचित सलाह को रावण ने मान लिया और राक्षसों को आज्ञा दी कि इस के घास फूंस सन आदि लपेट कर आग लगा दो।

यह सुनते ही राक्षस नगारे बजाकर कुतूहल करने लगे। बालकों की भीड़ लग गई। पूँछ के तेल लगाकर आग लगा दी। मुँह को काला कर गलियों में घुमाने लगें ॥५९॥

हनूमता मसीलेपनमग्निज्वालनं चातिबल-वताऽपि तैः कथं कारितमित्युत्प्रेक्षते—

चङ्गाऽहोरात्रशब्द-प्रथमचरम-स-
द्वर्णलोपेऽपि होरे-
वाऽस्तीयं रामसीता-प्रथमचरम-स-
द्वर्णलोपे मसीति।

नन्वग्निस्तातवायोः सुहृदिति च विदं-

स्तौ निषेव्यैष वाति-

रान्दोल्येद्धाऽग्नि पुच्छं पुरमदहदनु-

ध्यातखर्जूरदावम् ॥६०॥

अहो-रात्रशब्दस्य प्रथमवर्णस्य अकारस्य, सतो विद्यमानस्य चरमवर्णस्य 'त्र' इत्यस्य च लोपेऽपि 'होरा' इत्येवं यथाऽवशिष्यते सा इव। "होरेत्यहोरात्र-विकल्पमेके वाञ्छन्ति पूर्वान्तिमवर्णलोपात्।" इति बृहज्जातके। 'राम-सीता' शब्दस्य प्रथमवर्णस्य 'रा' इत्यस्य सतः चरमवर्णस्य च 'ता' इत्यस्य लोपेऽपि इयं 'मसी' इति चञ्ञा शोभनाऽस्ति। मदिष्टदेवतयोः राम-सीतयोरेव रूपत्वेनेति भावः। "होरा तु लग्ने राश्यर्धे रेखा शास्त्रभिदोरपि" इति मेदिनीकोशप्रमाणात् होराया अहोरात्ररूपतासिद्धेर्यथा होराऽपि। प्रथमचरमाक्षर-लोपेऽपि[1] अहोरात्रस्वरूपैव तथा मसी अपि प्रथमचरण-वर्णलोपे मसीति शोभनैवेति भाव;। ननु इति सम्यग्-वादे। "ननु प्रश्ने च दुष्टोक्तौ सम्यग्वादे स्तुतावपि।" इति हैमः। अग्निः तातस्य मत्पितुः वायोः सुहृत् मित्रम्। अग्नेर्वायुसखत्वादिति भावः। इति एवं विदन् जानन् एष वातिर्हनुमान्। तौ मस्यग्नी निषेव्य गृहीत्वा। इद्धाग्नि इद्धः प्रज्वालितोऽग्निर्यत्र तत् पुच्छम्। आन्दोल्य आ-आन्दोल्य इति च्छेदः। भ्रमयित्वेत्यर्थः। अनुध्यातः स्मृतः खर्जूरस्य वृक्षविशेषस्य दावः दवाग्निर्यत्र कर्मणि तत्तथा। यद्वा एतत्पुच्छविशेषणं व्याख्येयम्। इद्धाग्नेः पुच्छस्य खर्जूरदावतुल्यत्वात्। पुरं लङ्कानगरीम् अदहत् ददाह स्रग्धरावृत्तम् ॥६०॥

अर्थ— जैसे अहोरात्र में प्रारम्भ के अकार और अन्त के 'त्र' के लोप से 'होरा' शेष रह जाता है; उसी प्रकार हनुमान् के जो 'मसी' स्याही शरीर पर लेप दी गई थी, उसे हनुमान् ने यों समझा जैसे 'राम' के 'म' व सीता के 'सी' से मिलकर यह 'मसी' है—स्वामी स्वामिनी से ओत-प्रोत अपने को समझा। पूंछ की आग को हनुमान् जी के पिता वायु ने अपनी मैत्री के कारण भड़का दी। हनुमान् अपनी जलती हुई पूंछ को चारों ओर वेग से घूमा कर उछल-उछल कर लंका में आग लगा दी। जैसे खजूर के पेड़ में आग लग गई हो जिससे चारों ओर अग्नि दाह हो रहा हो ॥६०॥

विशेष—यहाँ पर हनुमान् की पूंछ की आग को कवि ने खजूर की दावाग्नि बताया है, क्योंकि खजूर के अग्रभाग में ही आग लगती है ॥६०॥

द्वाभ्यां लङ्कादाहं वर्णयति—

अग्निद्रावितहेमभित्ति-निपत-

द्वैदूर्यवातायनो

योध्याऽयोध्यविचारवञ्चितहृदः

सेनापतीन् द्रावयन्।

यां वीथिं विचचार तामतिरुद-

त्स्त्रीबालवृद्धाकुलां

प्रव्यञ्जन्नभिरञ्जयन्निजमनः

प्राभञ्जनिः प्राध्वनत् ॥६१॥

अग्निना द्राविता द्रवीभावं नीता या हेमभित्तयः ताभ्यो निपतद् वैदूर्यस्य मणिविशेषस्य वातायनं गवाक्षः येन (कारणेन) सः। योध्यस्य योधयितव्यस्य अयोध्यस्य अयोधयितव्यस्य (सैनिकस्य) विचाराद् वञ्चितं हृद् हृदयं येषां ते तान्। सैनिकानां यथाव-न्नियोजनं कर्तुमशक्नुवत इति भावः। सेनापतीन् द्रावयन् पलाययन्। यां वीथिं रथ्यां विचचार। ताम् अतिरुदद्भिः स्त्रीबालवृद्धैः आकुलां पूर्णां प्रव्यञ्जन् प्रकटयन् निजमनः अभिरञ्जयन् विनोदयन् प्राभञ्जनिः प्रभञ्जनस्य वायोरपत्यं हनुमान्। प्राध्वनत् शब्दायते स्म ॥६१॥

१. पृषोदरादित्वात् सिद्धिः।

अर्थ—अग्निदाह के कारण सोने की लंका की सोने की दीवारें पिघल कर बहने लगी और उसमें वैदूर्य मणि से निर्मित झरोखे भी बहते दिखाई दिये। इस रूप में सैनिकों ने समझ लिया कि जिसको हम युद्ध के लिये सरल योद्धा समझ रहे थे—यह अयोध्या का सचमुच अयोध्य है—यानी वह युद्ध में जीता नहीं जा सकता। यह सोचकर सैनिक गलियों में भागते नजर आयें। गलियाँ आबलवृद्धवनिता से भरी थीं। वे सब असहाय से चीख रहे थे। बीच-बीच में पवनपुत्र हनुमान् की हुंकारे दिल दहला रही थीं ॥६१॥

स्थित्वाऽनेन विदग्धता प्रकटिता
प्राग् राट्-सभायामिति
तोषात्तेन तदा विभीषणगृहं
नाऽहो विदग्धीकृतम्।
रामो भक्तसुरक्षको विजयता-
मित्येष उद्घोष्य चौ-
म:शब्दस्य मुहुः प्रयोगमकरोद्
हुंकारदम्भात्कपिः ॥६२॥

अनेन विभीषणेन। प्राक् पूर्वं राट्सभायां राजसभायाम्। स्थित्वा। विदग्धता चातुरी। मद्रक्षणसंमतिप्रदानेनेति भावः। विदग्धता विशेषेण दग्धत्वं दाहश्च। प्रकटिता। इति तोषात्प्रमोदात् तेन हनूमता। अहो इत्याश्चर्ये। विभीषणगृहं न विदग्धीकृतम् न दग्धमित्यर्थः। राजसभायां विदग्धता चातुरी-(दाह) प्रकटनेन स्वसाहाय्यकरणादिति भावः। भक्तानां सुरक्षकः रामो विजयताम्। इति एवम्। एष कपिः। उद्घोष्य उच्चैः शब्दायित्वा। हुंकारदम्भात् स्वहुंकरणमिषेण। ओमः शब्दस्य 'ओम्' इत्यस्य। मुहुः पुनः पुनः। प्रयोगम् अकरोत्। "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मे" ति वाक्यात्परब्रह्मरूपस्य रामस्य अवतीत्योम् इति रूपेण प्रागुक्तं भक्तसुरक्षकत्वं तस्य समर्थितवानिति भावः। 'अवतेष्टिलोपश्च" इति मन् तस्य च टिलोपः। 'ज्वरत्वरे' ति ऊठौ तयोर्दीर्घे कृते गुणः। अव्ययस्याप्यस्यानुकरणत्वविवक्षायां षष्ठी ॥६२॥

अर्थ—राजसभा में विभीषण ने विदग्धता यानी चतुराई प्रकट की थी, इसी से प्रभावित होकर पवन पुत्र ने विभीषण के भवन को विदग्ध नहीं किया यानी नहीं जलाया। या प्रभु कृपा से नहीं जला। राम की जय हो 'भक्त वत्सल राम की जय हो' इस प्रकार ध्वनि नाद करते हुए श्री हनुमान् ओंकार का उच्चारण करते हुए—राम का ईश्वरत्व प्रकट कर रहे थे ॥६२॥

विशेष—यहाँ पर हनुमान् ने अपने हुंकार शब्द के बहाने ही 'ओं' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है ॥६२॥

हनूमतः स्वपुच्छाग्निशमनपूर्वकं लङ्कातः प्रस्थानमाह—

पुष्पस्रग्भूय भूयोऽदहदपि दहनो-
नाशुगिं यत्प्रभावात्
पश्चात्तां किं स दग्धुं प्रभवतु भवनं
शीलवह्नेरितीष्टाम्।
केलीकौतूहलोक्तिं स दिवि दिविषदां
हृष्ट आकर्ण्य पर्या-
णम्याऽथो रामपत्नीं कपिरचलदितः
सिन्धुनिर्वापिताग्निः ॥६३॥

यत्प्रभावात् यस्याः सीतायाः प्रभावात्। दहनोऽग्निरपि। साकूतमिदम्। भूयो बाहुल्येन। पुष्पस्रग्भूय पुष्पमालीभूय। च्व्यन्तमिदम्। आशुगिम् आशुगस्य वायोरपत्यं हनुमन्तं न अदहत्। पश्चात् स दहनः शीलवह्नेः सच्चरितागनेः। भवनं गृहं तां सीतां दग्धुं भस्मीकर्तुं किं प्रभवतु समर्थो भवेत् नैवेति भावः।

अग्निभवनोपरि अग्नेरशक्तत्वादिति भावः। इति एवम् दिवि आकाशे। दिविषदां देवानाम् केलीकौतूहलोक्तिं क्रीडाकौतुकप्रसक्तां वाणीम्। कपिः आकर्ण्य हृष्टः सन्। पूर्वं सीता-दहनशङ्काकुलतयेति भावः। अथो अनन्तरं रामपत्नीं सीतां पर्याणम्य परिसमीपे प्रणम्य सिन्धौ समुद्रे निर्वापितः शमितोऽग्निर्येन तथोक्तः सन्। इतो लङ्कातः। अचलत् प्रतस्थे ॥६३॥

अर्थ—श्री हनुमान् जी का पूंछ की अग्नि बुझाकर, लंका से प्रस्थान करने का वर्णन—आकाश में देवगण भगवती सीता के शील की महिमा बखान करते हुए गा रहे थे-

जिसके प्रभाव से अग्नि पुष्पों की माला के सदृश हनुमान् के लिये हो गई; उस भगवती सीता को अग्नि कैसे जला सकता था ? यह सुनकर पवनपुत्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने सीता को प्रणाम किया। अपनी पूंछ समुद्र में बुझाई और लंका से वेग से प्रस्थान किया ॥६३॥

एकेन सुन्दरकाण्डीयमवशिष्टं वृत्तमुपसंहरति—

सुप्राप्तिं स्मरतां स्वकीय सुहृदां
सीताप्ति-सद्वृत्ततो
हृद् मोदं परमापयन् मधुवनं
निर्वेशयन् वानरान्।
वृत्तान्तं प्रभवे निवेद्य सकलं
चूडामणिं स्वर्प्य चाऽ-
तः प्रस्थापय सैन्यमित्यकथयद्-
रामोपगूढः कपिः ॥६४॥

इति श्री कविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते श्रीरामचरिताब्धिरत्ने रामाङ्के महाकाव्ये सीतोपलब्धिर्नामा (कौस्तुभमणिः) द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥१२॥

कपिर्हनूमान्। सुप्राप्तिं सुखेन आगमनं स्वस्य (हनूमतः) इति भावः। स्मरतां चिन्तयतां प्रतीक्षमाणानामित्यर्थः स्वकीयसुहृदाम् अङ्गदादीनां हृद् हृदयम्। सीताऽऽप्तेः सद्वृत्ततः प्रशस्तवृत्तकथनेनेत्यर्थः। परमुत्कृष्टं मोदम् आपयन् नयन्। वानरान् सर्वाननुगामिनः कपीन्। मधुवनं दधिमुखसंरक्षितमिति भावः। निर्वेशयन् उपभोजयन्। प्रभवे श्रीरामाय चूडामणिं सीतादत्तामिति भावः। स्वर्प्य दत्त्वा सकलं सर्वं वृत्तान्तं सीतोक्तं संदेशम्, दृष्टम् आचरितं च सर्वं वृत्तं निवेद्य। रामोपगूढः रामेण उपगूढः आलिङ्गितः सन् अतोऽस्मात् स्थानात्। सैन्यं वानरर्क्षसेनां प्रस्थापय प्रयापयेति अकथयत् ॥६४॥

इति श्रीविद्याभूषणपण्डितभगवतीलालशर्मरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरितमहाकाव्यव्याख्यायां द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥१२॥

अर्थ—सुन्दरकाण्ड के बचे हुए घटना क्रम का उपसंहार इस श्लोक में है—हनुमान् का सुखपूर्वक आना, प्रतीक्षा करने वाले अंगदादि को सारा समाचार सुनाना, वहाँ से प्रस्थान कर मोदपूर्वक मधुवन में आना, सारा सुखान्त वृतान्त सुनाना, भगवान् राम को सीता द्वारा दी गई पहचान (चूड़ामणि) को देना, राम द्वारा हनुमान् का आलिंगन कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करना ॥६४॥

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित, पं. मोहनलालशर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में श्रीरामचरिताब्धिरत्न महाकाव्य का **'कौस्तुभमणि'** नामक द्वादश सर्ग समाप्त।

अथ त्रयोदशः सर्गः

अथः त्रिभिः सेनाप्रयाणं वर्णयति—

भल्लूकासितमेघमन्तरशुभत्-

सौमित्रिसुग्रीवक-

रम्योद्यद्गुरुशुक्रमायुधतडि-

न्निः संख्यकीशोडुकम्।

द्वास्थाष्टाङ्गदजाम्बवत्प्रभृति-सत्-

सप्तर्षि-युक्तध्रुवं

जाग्रद्-राम-विधु व्यराजत चमू-

प्रावृट-प्रदोषाम्बरम्॥१॥

सेनायां वर्षाकालिकप्रदोषाऽऽकाशमारोपयति- भल्लूकेति। भल्लूका ऋक्षा एव असिताः श्यामा मेघा यत्र तत् अन्तरे मध्ये शुभन्तौ शोभमानौ सौमित्रि-सुग्रीवौ एव रम्यौ उद्यन्तौ प्रकाशमानौ गुरुशुक्रौ गुरुशुक्रतारके यत्र तत्। आयुधं शस्त्रमेव तडिद् विद्युद् यत्र तत्। निः- संख्या अगणिताः कीशाः वानरा एव उडूनि- 'तारा' यत्र तत्। द्वास्था सेनायामष्टदिक्षु रक्षकत्वेन नियुक्ता द्वारपालाः। खर्परे शरि विसर्गस्यात्र लोपः। ये अङ्गदजाम्बवत्प्रभृतयः अङ्गदजाम्बवद्हनूमद्द्विवि- दादयः अष्टौ सेनाध्यक्षाः ते एव सन् प्रशस्तः सप्तर्षियुक्तो ध्रुवो यत्र तत्। ध्रुवयुक्ता हि सप्तर्षयोऽष्टौ भवन्ति। जाग्रत् प्रकाशमानो राम एव विधुश्चन्द्रो यत्र तत् विधुर्विष्णुरित्यपि ध्वन्यते। चमूः सेना एव प्रावृषो वर्षाकालस्य, यः प्रदोषः रजनीमुखं तत्सम्बन्धि अम्बरम् आकाशः व्यराजत शुशुभे। शार्दूलविक्रीडितप्रायोऽयं सर्गः॥१॥

निम्न तीन श्लोकों में सेना-प्रयाण का वर्णन ।

अर्थ— भगवान् राम की सेना को यहाँ वर्षाकालीन सांध्यगगन से उपमित किया गया है। पूरा सांग रूपक है। ये भालू आदि मेघ हैं। सौमित्र (लक्ष्मण) व सुग्रीव प्रकाशमान - वे शुक्र व वृहस्पति नक्षत्र हैं, शस्त्र ही तडित् है, सारी वानर सेना तारों की तरह हैं। आठों दिशाओं में द्वारपाल की तरह जाम्बवान् प्रभृति सेनापति ही सप्तर्षियों से युक्त ध्रुव (मिलाकर आठ) नक्षत्र हैं। जाग्रत्(प्रकाशमान) रहने वाले राम चन्द्रवत् देदीप्यमान है। सेना ही वर्षा काल के प्रदोष (रात्रि का प्रारम्भ) से सम्बन्धित आकाश है। इस प्रकार की सेना लंकाविजय के लिये चल पड़ी ॥१॥

श्रद्धातः प्रथमं हि सव्यसुभगे-

स्कन्धे वहँल्लक्ष्मण-

मंसद्वय्यधिरोपितप्रभुवरं-

प्रोचेऽङ्गदो मारुतिम्।

गम्भीरोऽसि तथा वहंस्त्रिभुवना-

धीशं ततोऽख्यात् स तं

त्वादृग् नास्ति स, लोकभृद्-भृतमिहै-

कांऽसेन यो धारयेत्॥२॥

प्रथमं हि पूर्वमेव। हिरत्रावधारणे। श्रद्धातः आदरात्। 'श्रद्धाऽऽदरे च काङ्क्षायाम्' इति मेदिनी। सव्ये दक्षिणे तथा सुभगे लक्ष्मणस्थापनेन सौभाग्यवति इत्यर्थः। स्कन्धे लक्ष्मणं वहन्। पूज्यत्वाद्दक्षिणे स्कन्धे बिभ्राण इति भावः। अङ्गदः। अंसद्वय्यां स्कन्धयुगले अधिरोपितः प्रभुवरः श्रीरामो येन स तम्। मारुतिं हनूमन्तम्। अङ्गदेन दक्षिणे स्कन्धे लक्ष्मणमारोपितं दृष्ट्वा हनुमता श्रीरामः स्कन्धद्वयेन ऊढः। वामस्य स्कन्धस्य तदयोग्यत्वेन दक्षिणस्कन्धस्य च मिथो वैमुख्यसंभवाद् वार्तालापादिभङ्गसंभावनया स्कन्धद्वयेन श्रीरामस्य हनूमता वहनं तन्नैपुण्यातिशयपरिचायकम्। एवं सति उभयोश्चरणयोः सामुख्येन दर्शनं, श्रीरामस्य सेनाभिमुख्यं, पार्श्ववर्तिभ्यामनु सुहृद्भ्यां च वार्तालापसुविधा सुतरां संभवति। अत एव तन्नैपुण्यं

प्रकटयितुमङ्गद ऊचे- तथा तेन प्रकारेण संमुखपादद्वयप्रसारणपुरःसरेण स्कन्धाधिरोपणेनेत्यर्थः। त्रिभुवनाधीशं श्रीरामं वहन् त्वं गम्भीरोऽसि एतच्चातुर्यप्राचुर्यप्रदर्शनेन गभीराशयोऽसि । ततः एतद्वाक्यानन्तरं सः हनुमान् तम् अङ्गदम् अख्यात् ऊचे- स गम्भीरः त्वादृक् भवादृशः नाऽस्ति। स्वशक्त्यतिशयद्योतनादिति भावः। य इह लोके। लोकभृद् लोकान् बिभर्त्तीति विष्णुः । तं (लोक-भृतं) बिभर्तीति लोकभृद्-भृद् शेषः (लक्ष्मणः) तम् एकेन अंसेन स्कन्धेन धारयेद् वहेत्। अहं (हनुमान्)यः त्रिभुवनाधीशं स्कन्धद्वयेन धारयेयमिति का नाम मात्रा? यः त्रिभुवनाधीशम् अपि बिभर्ति तस्य शेषस्य (लक्ष्मणस्य) विग्रहम्! एकेन स्कन्धेन यो भवान् धरति। अतः त्वादृक्कोऽपि नेति भावः। एतत्प्रतिवचनेनापि श्रीहनूमतो नैपुण्योत्कर्षं प्रत्युत्पन्नमतित्वं दर्शितवान् कविः ॥२॥

अर्थ— श्रद्धा पूर्वक अंगद ने लक्ष्मण को अपने दाहिने कन्धे पर चढ़ाया- जिससे उनके चरण सदा सामने रहे तथा किसी से बातचीत करने में मुँह के सामने होने से सुविधा रहे।

यह देखकर अंगद ने हनुमान् की महिमा प्रकट करते हुए कहा कि हे हनुमान् आप के बराबर कौन हो सकता है। आपने तो जगत् को धारण करने वाले विष्णुस्वरूप भगवान् राम को उठा कर दोनों कन्धों पर बैठाया है।

इस पर श्री हनुमान् जी ने प्रत्युत्पन्नमतिस्वर (हाजिर जवाबी) का परिचय देते हुए कहा - इसमें मेरी क्या बड़ाई! बड़ाई तो आपकी है कि आपने शेषावतार लक्ष्मण जो सबको धारण करने वाले हैं, उनको एक कंधे पर उठाया है, जबकि मैंने तो दो कन्धों का सहारा लिया है ॥२॥

रामश्रीपति-लक्ष्मणाऽहिपयुतं
सुग्रीव-मन्थाचल-
मस्त्रौर्वं हनुमत्तिमिंगिलगिलं
चक्रेशनक्रेश्वरम्।
सङ्ख्यातीतभटाऽऽप्-चरं त्वभिमिलन्
सैन्याब्धि-बन्धुं मुदा
त्यक्त्वेव स्वगभीरतां जलधिरु-
द्वेलोऽतिवेलं बभौ ॥३॥

स जलधिः समुद्रः। राम एव श्रीपतिः विष्णुः तथा लक्ष्मण एव अहिपः शेषः ताभ्यां युतम्। सुग्रीव एव मन्थाचलो मन्दराद्रिर्यत्र स तम् । अस्त्रमेव और्वः वाडवाग्निर्यत्र स तम्। हनुमानेव तिमिंगिलगिलो बृहत्तरो जलजन्तुविशेषो यत्र स तम्। चक्रस्य[१] सेनाया ईशाः पतयो जाम्बवदादय एव नक्रेश्वराः महानक्रा यत्र स तम्। सङ्ख्यातीता अगणिता भटा योधाः वानरर्क्षा एव अप्-चरा जलचरा यत्र स तम्। सैन्यं सेनैव। सादृश्येन अब्धिबन्धुः तम्। तु मुदा समागमहर्षेण अभिमिलन् संगच्छन्। स्वगभीरतां त्यक्त्वा इव। अतिवेलं भृशम् उद्वेलः वेलामुद्गतोऽतिक्रान्तः सन् बभौ शुशुभे। सैन्यक्षोभणेन जायमानं समुद्रस्योद्वेलत्वमित्थमुत्प्रेक्षितम् ॥३॥

अर्थ— राम की सेना समुद्र की तरह है, यह समुद्र की ओर जा रही है। यह जानकर समुद्र ही जैसे नये प्रकार के समुद्र का स्वागत करने के लिये मर्यादा को लांघ कर अपनी वेला को डुबोकर, आगे बढ़ चला है।

---

१. "चक्रः कोके पुमान् क्लीबं व्रजे सैन्यरथाङ्गयोः। राष्ट्रे दम्भान्तरे कुम्भकारोपकरणास्त्रयोः॥ जलावर्तेपि" इति मेदिनी॥

यहां राम की चमू के कारण समुद्र में खलबली मच गई है- यह भी ध्वनित है।

राम तो विष्णु हैं। लक्ष्मण शेषनाग हैं। सुग्रीव मन्दराचल है। सारे अस्त्र वाडवाग्नि हैं। हनुमान् तिमिंगिल नामक मत्स्य हैं। सेना के पति जाम्बवान् आदि मगरमच्छ हैं। अगणित सेना जलचर जन्तु हैं। समुद्र के इस सादृश्य के कारण ही सागर उसके स्वागत के लिए तटों को लाघंकर आगे बढ़ चला है॥३॥

विशेष— सेना के कारण सागर के उद्वेलन का यह वर्णन उत्प्रेक्षा का मंजुल उदाहरण है।

समुद्रं वर्णयति—

पर्यन्तोद्यदसंख्यशङ्खविलसद्-
वेला-स्रजं बिभ्रतं
राज्यं चारु चिकीर्षुमम्मयमिवा-
ऽखण्डेऽपि भूमण्डले।
क्रन्दत्क्रूरकुलीरकच्छपकुलं
दृष्ट्वोग्रमब्धिं ह्रदौ-
मः संबध्य पुरः प्रयोगमजपद्
मन्त्रं प्रभुर्वारुणम्॥४॥

प्रभुः श्रीरामः पर्यन्ते अन्तभागे उद्यन्त उच्छलन्तो ये असङ्ख्या अगण्याः शङ्खाः[1] तैः विलसन्ती शोभमाना या वेला तीरभूमिः सैव श्वेतत्वेन स्रक् पुष्पमाला तां बिभ्रतं धरन्तम्। अखण्डे सर्वत्रापि भूमण्डले अम्मयं जलमयं राज्यम् इव चारु सुतरां चिकीर्षुं कर्तुमिच्छुम् क्रन्दत् शब्दायमानं क्रूराणां कठोराणां कुलीराणां कर्कटकानां कच्छपानां च कुलं यत्र स तम्। उग्रं घोरम् अब्धिं समुद्रं दृष्ट्वा पुरः प्राक्। ओमः ओम् इति पदस्य प्रयोगं संबध्य योजयित्वा। वारुणं वरुणदेवताकं मन्त्रम् अजपत्। तत्तरणसाधनायेति भावः॥४॥

अर्थ— श्री राम ने अन्तभाग में उछलते हुये असंख्य शंखों से शोभित तीरभूमिरूपी पुष्पमाला को धारण करते हुये, सम्पूर्ण भूमण्डल पर मानों जलमय राज्य की स्थापना करने की ईच्छा रखने वाले, और जिसके अन्दर शब्द करते हुये कठोर कैंकडें और कछुओं का कुल शोभित है, ऐसे उग्र समुद्र को देखकर, उसे तैरने (पार करने) के लिये ओं पूर्वक वरुण देवता के मन्त्र का जप किया॥४॥

हनुमद्गमनानन्तरं लङ्कावृत्तमाह—

भङ्क्त्वाऽऽदह्य पुरीं हनूमति गते
ज्ञीप्सुः स्वकृत्यां क्रियां
रक्षोराट् स विभीषणादिसचिवान्
पप्रच्छ किं स्यादिति।
तत्रोवाच विभीषणो जनकजा
स्त्रीकर्तुमिष्टा कुल-
स्यान्तायैव हि कल्पिता तदधुना-
प्याश्रित्य तं साऽर्प्यताम्॥५॥

पुरीं लङ्कां भङ्क्त्वा उच्छिद्य तथा आदह्य समन्ताद् दग्ध्वा। हनूमति गते सति। स्वेन आत्मना कृत्यां कर्तव्यां क्रियां कार्यं ज्ञीप्सुः ज्ञातुमिच्छुः विवक्षितज्ञानार्थाज्ज्ञपेः 'आपूज्ञप्यृधामीत्' इतीत्व-मभ्यासलोपश्च। स रक्षोराड् रावणः विभीषणादीन् सचिवान् 'किं स्याद् भवेत् किमिदानीं भवितुमर्हतीति भावः' इति पप्रच्छ। तत्र विभीषण उवाच-हि यतः। स्त्रीकर्तुम् अस्त्रीं स्त्रीं कर्तुम् इष्टा अभिलषिता जनकजा सीता। जनकात्पितुर्जाता जनकजा भगिनीति च ध्वन्यते। कुलस्य वंशस्य अन्ताय नाशाय एव हि कल्पिता भविष्यति। ऊदित्त्वाद् वेट्कोऽयम्। 'क्लृपि

१. एतत्पदं सर्वनामोपलक्षणम्।

संपद्यमाने च' इति चतुर्थी 'अन्ताय' इत्यत्र। तत् ततः अधुनाऽपि तं श्रीरामम् आश्रित्य सा जनकजा अर्प्यतां प्रतिप्रदीयताम्॥५॥

हनुमान् के लंका प्रस्थान करने के बाद लंका का वर्णन —

अर्थ— हनुमान् जब लंका को भग्नकर तथा जला कर चले गये तो अपने कृत्यों की आलोचना करने के लिये तथा आगे क्या करणीय है इस पर विचार करने के लिये राक्षसराज रावण ने मंत्रिमण्डल की बैठक बुलाई। वहां पर विभीषण ने कहा - यह जनक की पुत्री सीता हमारे लिये जनक (पिता) द्वारा उत्पन्न बहिन की तरह है इसे पत्नी बनाने का मतलब है - लंका का [illegible], अतः मेरी सम्मति है कि हमें इस समय इसे राम को सौंप देनी चाहिये। और राम का आश्रय ले लेना चाहिये॥५॥

तिग्माभीशुरिवोत्तपन्निति वचः
श्रुत्वा क्रुधा सोऽब्रवीत्,
के कुर्वन्त्यकृतं कृतं कृतधियो
यत् स्यात् कृतं, तत् कृतम्।
रामं चेद् बहु मन्यसे, पुर इतो
निर्गच्छ गच्छाऽधम,
मोहेनेत्यवमन्यमानमनुजो
ज्येष्ठं प्रणम्याऽचलत्॥६॥

क्रुधा क्रोधेन। तिग्माभीशुः सूर्य इव। "अभीशुः प्रग्रहे रश्मौ" इत्यमरः। उत्तपन् प्रज्वलन् स रावणः अब्रवीत्-के कृतधियः पण्डिताः कृतं (स्वयं) सम्पादितं कर्म अकृतम् असंपादितं कुर्वन्ति? न[1] केऽपीत्यर्थः। तदेव स्पष्टयति-यत् कृतं स्यात्, तत् कृतम्। हे अधम नीच ! चेद् यदि रामं बहु मन्यसे आद्रियसे, (तर्हि) इतः अस्याः पुरः नगरीतः निर्गच्छ तथा गच्छ। इति एवं मोहेन अज्ञानेन अवमन्यमानं स्वं अपमानयन्तं ज्येष्ठं रावणम् अनुजो विभीषणः प्रणम्य अचलत् प्रस्थितः॥६॥

अर्थ— यह सुनते ही रावण आग बबूला हो गया - सूर्यवत् क्रोध में जल उठा। कहने लगा- अधम तू जानता नहीं। बुद्धिमान् जो कर लेते हैं - उसे बदलते हैं क्या? जो किया सो किया। तू यदि राम को बहुत बड़ा मानता है तो निकल यहां से। मोहग्रस्त रावण के द्वारा अपमानित विभीषण उसे (रावण को) प्रणाम कर चल पड़ा॥६॥

हर्षात्तत्सचिवाश्चतुष्परिमिताः
सामाद्युपाया इव
नूतं न्यायिभिरङ्गधारिणमिव
न्यायं तमन्वागमन्।
मन्त्रं च त्रिदिनं प्रजप्य विरतं
यं लक्ष्मणोऽसेवत,
तं रामं स विभीषणोऽपि शरणं
प्राप्तः शरण्यं तदा॥७॥

सामादय उपाया इव। चतुष्परिमिताः चत्वारः तस्य विभीषणस्य सचिवा मन्त्रिणः। न्यायिभिः नीतिज्ञैः नूतं प्रशस्तम् अङ्गधारिणं मूर्तिमन्तं न्यायं नीतिमिव। 'न्यायः समञ्जसे नीतौ गौतमोक्ते च दर्शने।' इति मङ्खः। तं विभीषणम् अन्वागमन् अन्वसरन्। च पुनः। तदा स विभीषणोऽपि तं शरण्यं शरणे साधुं रामं शरणं प्राप्तः। त्रिदिनं दिनत्रयपर्यन्तं 'कालाध्वनोः' इति द्वितीया। मन्त्रं वरुणमन्त्रं प्रजप्य जपित्वा विरतं विश्रान्तं यं रामं लक्ष्मणः असेवत सेवमान आसीत्॥७॥

---

1. अर्थात् स्वयंकृतात् कर्मणः कदापि न निवर्तन्ते इति भावः।

अर्थ— साम, दाम,दण्ड,भेद,इन चार उपायों की तरह मंत्री भी विभीषण के पीछे चल पड़े। उनको लगा यह विभीषण नितिज्ञों के द्वारा प्रशस्त मूर्तिमान् न्याय है।

इधर राम समुद्र के तट पर तीन दिन तक वरुण को मनाने के लिए वरुणमन्त्र को जपने के बाद विश्राम कर रहे हैं, और लक्ष्मण उनकी सेवा में रत थे।

विभीषण भी शरणागतवत्सल राम की शरण में आये॥७॥

त्रिभिर्विभीषणागमने श्रीरामस्य मन्त्रणं वर्णयति—

व्यञ्जन् किञ्चन कार्यमन्तरतमा-
नाहूय बाह्यांस्तथा
सर्वान् कर्मनियोजनेन विसृजन्
मन्त्रं प्रभुः पृष्टवान् ।
जल्पन्ति स्म विभीषणाऽपगमनं
सुग्रीवमुख्यास्तदा
यत् प्रत्यर्थि-चिराश्रितः स सहसा
विश्वासमर्हेत् कथम्? ॥८॥

किञ्चन कार्यं व्यञ्जन् प्रकटयन्। अन्तरतमान् अतिशयितान् आत्मीयान् सौमित्रिसुग्रीवजाम्बवदादीन् आहूय। तथा सर्वान् बाह्यान् अन्तरतमेतरान् प्राकृतान् ऋक्षवानरान्। कर्म्यनियोजनेन कार्यव्यापारणेन। विसृजन् दूरीकुर्वन्। प्रभू रामः। मन्त्रं विभीषणस्वीकरणे स्वं स्वं विचारं पृष्टवान्। तदा सुग्रीवमुख्याः सुग्रीवादयः विभीषणस्य अपगमनम् अपसारणं जल्पन्ति स्म अकथयन्। तत्र हेतुमाह-यद् यतः। प्रत्यर्थिनं शत्रुं रावणं चिरं बहुकालम् आश्रितः स (जनः) सहसा अकस्मात्। कथं विश्वासम् अर्हेत् युज्येत। न कदापीति भावः॥८॥

विभीषण को शरण देने के प्रश्न पर श्री राम का सुग्रीवादि से मन्त्रणा (परामर्श) करना —

कोई जरूरी काम है, यह कहकर साधारण वानर तथा भालुओं को तो बाहर काम के बहाने भेज दिया और अतिशय आत्मीय लक्ष्मण सुग्रीव आदि को पास बुलाया और कहा- विभीषण शरणागत हुआ है, इस विषय में आप सम्मति दे कि इसे शरण में लिया जाय या नहीं?

सुग्रीव ने स्पष्ट कहा कि यह बहुत वर्षों तक रावण के आश्रित रहा है, अतः इस पर सहसा विश्वास करना किसी भी प्रकार उचित नहीं॥८॥

पुत्रो गन्धवहस्य सस्मितसुधा—

वृष्टीक्षितः स्वामिना
नम्रोऽब्रूत स, ईर्हि लोपमयते
यद्वद् बहोरीयसः।
राम भ्रातृवरो द्विषोऽप्यपगत-
स्तद्वद् बलाद् भूयसः,
ख्यातं प्रत्ययकाऽङ्क्षहीनमिति तद्
निर्मुक्तमत्यर्थतः॥९॥
यिड् यद्वद् बहुपूर्वमिष्ठमुपग-
म्याऽत्यर्थमर्थं दिशेत्,
कां सिद्धिं न ददातु सोऽप्युपगत-
स्तद्वद् बलं प्राग् बहु।
जल्पामीति सुभूयसोऽप्यरिबलाद्
भूयिष्ठतां नोऽधुनाऽऽ-
पन्नं तद्-द्विषदेतदागमवशा-
ज्जेता बलं तद्बलम्॥१०॥ युग्मम्।

स्वामिना श्रीरामेण सस्मितसुधावृष्टि मन्दहासामृतवर्षणपूर्वकं (यथा स्यात्तथा) ईक्षितः दृष्टः नम्रः स गन्धवहस्य पवनस्य पुत्रो हनूमान् अब्रूत उवाच- भो राम यद्वद् यथा हि। बहोः बहुशब्दात्परस्य ईयसः ईयस्-प्रत्ययस्य ईः ईकारः लोपम् अयते लुप्यते। 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति सूत्रोक्तेरिति भावः। तद्वत् तथा। भूयसो बहुतरात् बलात् सैन्यात् द्विषः शत्रोः रावणस्यापि भ्रातृवरो[१] विभीषणः अपगतः अपसृतः। इति कारणात् तद् वैरिबलं प्रत्ययकस्य विश्वासस्य निश्चयस्य वा अङ्गेन हीनं सत् अत्यर्थतः अतिशयार्थाद् निर्मुक्तं हीनं ख्यातं प्रथितम्।[२] ईयस ईलोपे भूयश्शब्दोऽपि प्रत्ययाङ्गविकल एव भवति। स चातिशायनार्थविकल एव भवति। 'प्रत्ययो ज्ञानरन्ध्रयोः। विश्वासे शपथे हेतावाचारप्रथितत्वयोः। अधीने निश्चये स्वादौ' इति हैमः॥९॥ यद्वत् यथा। यिट् यिडागमः बहुपूर्वं बहुशब्दः पूर्वः आदिः यस्य स तम्। इष्ठम् इष्ठप्रत्ययम् उपगम्य आगमरूपेण प्राप्य 'इष्ठस्य यिट् च' इति सूत्रोक्तेः। अत्यर्थम् अतिशायनम् अर्थं वाच्यं दिशेद् दद्याद्। तद्वत् प्राक्[३] पूर्वतो बहु भूरि बलं सैन्यम् उपगतः आगतः स विभीषणोऽपि कां सिद्धिं सफलतां जयरूपामिति भावः। न ददातु नहि दद्यात्। अपित्ववश्यं ददातु इति भावः। फलितार्थमाह- इति हेतोः अहं जल्पामि कथयामि। सुभूयसः बहुतरादपि भूयः स्वरूपादिति च ध्वन्यते। अरिबलात् शत्रुसैन्याऽपेक्षयेत्यर्थः। अपेक्षार्थे 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। तस्य अरे रावणस्य यो द्विषन् शत्रुभूतः एष विभीषणः तस्य आगमवशात् आगमनवशात् अधुना भूयिष्ठतां बहुतमतां भूयिष्ठस्वरूपमिति च ध्वन्यते। आपन्नं प्राप्तम्। नोऽस्माकं बलं सैन्यं (कर्तृ) तद्बलं तस्य अरे रावणस्य सैन्यं (कर्म) जेता जेष्यति। ननु 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इत्यनुवृत्तेः 'इष्ठस्य यिट् च' अत्र इष्ठेति- प्रत्ययस्य इकारलोपे जायमाने उपमेयभूतस्य राघवसैन्यस्यापि प्रत्ययाङ्ग-हीनता आपद्यते, तर्हि कथं सगच्छेत एषा उपमेति चेच्छृणु- पूर्वसूत्रानुवृत्तावपि लोपापवाद इटोरित्त्वाद् यकारमात्रागम इत्यस्याऽपि पक्षस्य महाभाष्यसंमतत्वान्न कोऽप्यत्र दोषलेशः। इत्यनेन कविना श्रीहनूमतो वैयाकरणत्वस्य परा काष्ठा दर्शिता॥१०॥

अर्थ— स्वामी श्रीराम के द्वारा मन्दहास के सहित अमृतवर्षणपूर्वक देखे गये विजयशील हनुमान् ने कहा - जिस प्रकार 'भूयान्' शब्द की सिद्धि में बहु के स्थान पर भू-आदेश और ईयसुन् प्रत्यय के ईकार का लोप होता है, उसी प्रकार शत्रु रावण का भाई विभीषण भी उसकी (भूयसः) बहुतर सेना से अपगत हुआ है इस कारण वह वैरी का बल (सेना) प्रत्यय के अंग की विकलता की तरह प्रत्यय (विश्वास) अथवा निश्चय के अङ्ग से हीन होता हुआ, अतिशय अर्थ से हीन प्रतीत होता है, जैसे व्याकरण में ईयसुन् प्रत्यय के ई का लोप होने पर भूयः शब्द भी प्रत्ययाङ्ग से विकल होता हुआ अतिशय अर्थ में विकल (हीन) होता है। जिस प्रकार भूयिष्ठ शब्द की सिद्धि में बहु को भू आदेश और इष्ठन् प्रत्यय करने पर यिट् का आगम होता है, और वह शब्द अतिशय अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार रावण की सेना से अतिशय हमारी सेना में प्रत्यय के आगम की तरह (मित्र की तरह) आया हुआ यह विभीषण भी किस विजयरूपी सफलता को नहीं देगा? अपितु अवश्य ही हमारी सहायता करेगा॥ ९-१०॥

विशेष— यहाँ कविने 'कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति' से व्याकरण ज्ञान की पराकाष्ठा और उपमा का वैलक्षण्य प्रदर्शित किया है।॥९-१०

---

१. वरशब्देन विभीषणस्य सौजन्यं द्योत्यते।
२. सुप्रतिबादावित्यर्थः।
३. 'बहुपूर्वम् इष्ठम्' इति प्रागुपमानांशकथितं विषयं संगमयितुमुच्यते प्राग् बहु बलम्' इति।

हनूमत्प्रशंसनपूर्वकं राघवेण विभीषणस्य मित्री-करणमाह—

सुप्रीता रघुनन्दनप्रभृतयः

श्रुत्वाऽऽमनन्तो मना-

ग्रीत्या व्याकरणाभ्युदाहृतिभृता

पुष्टं तदीयं वचः।

वन्दारोरपि तस्य तां नवनवो-

न्मेषां शशंसुर्मतिं

सम्यक्-स्वागततो विभीषणमथो

मित्रीचकार प्रभुः ॥११॥

व्याकरणस्य ये अभ्युदाहृती उदाहरणे भूयो-भूयिष्ठरूपे ते बिभर्ति तया रीत्या प्रकारेण पुष्टं समर्थितं तदीयं हनुमत्संबन्धि वचो वचनं श्रुत्वा। सुप्रीताः संतुष्टाः। रघुनन्दनप्रभृतयः श्रीरामलक्ष्मणसुग्रीवादयः। मनाक् ईषद्। आमनन्तः तदेव मनसि आवर्तयन्तः सन्तः। वन्दारोः अभिवादनशीलस्यापि तस्य हनूमतः। तां नवनवोन्मेषां प्रतिभास्वरूपां मतिं बुद्धिं शशंसुः श्लाघितवन्तः। अथो अनन्तरम्। प्रभू रामः। विभीषणं सम्यक्-स्वागततः समीचीनस्वागतविधानपूर्वकं मित्री-चकार सखायं कृतवान्॥११॥

श्री हनुमान् की प्रशंसा कर राम के द्वारा विभीषण से मित्रता करना ।

अर्थ— हनुमान् की व्याकरण के उदाहरण के द्वारा विदग्धतापूर्वक विभीषण से मैत्री-स्थापना की सम्मति का लक्ष्मण सुग्रीवादि ने अनुमोदन किया। श्रीराम ने भी हनुमान् की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की प्रशंसा की।

इसके बाद श्रीराम ने विभीषण का सम्यक् प्रकार से स्वागत किया और उसके साथ मित्रभाव स्थापित किया।।११।

विभीषणस्य श्रीरामं प्रति विनीतभा-वमाह—

हित्वा ग्रन्थिमथान्तरं धनमिव

व्यानञ्ज मर्माखिलं

तत्तच्चारु विभीषणः स्वसुहृदे-

ऽन्तेऽब्रूत नम्रस्तथा।

स्तन्यं तर्णक ऊध इच्छुरिव गो-

स्त्वत्-पद्-युगल्या अहं

दास्यं कामयमान एव भगवन्

मैत्रीं लभेऽनुग्रहात् ॥१२॥

अथ विभीषणः आन्तरम् अन्तरङ्गगतं ग्रन्थिं संदेहच्छलादिकल्पनां बन्धं च। हित्वा मुक्त्वा। धनमिव तत् तत् अखिलं सर्वं मर्म रावणाऽवस्थितिरहस्यम्। चारु सुतराम् व्यानञ्ज प्रकटयांचकार। तथा अन्ते तत्तत्प्रकाशनान्ते। नम्रः सन् अब्रूत उवाच। भो भगवन्! गोः धेनोः ऊधः आपीनम् इच्छुः अन्वेषयितेत्यर्थः। तर्णकः सद्योजातो वत्सः स्तन्यं दुग्धमिव । तव पद्युगल्याः चरणद्वितय्याः दास्यं सेवकत्वं कामयमान इच्छन्नेव। अनुग्रहात् कृपया तवेति शेषः। मैत्रीं मित्रतां लभे प्राप्तवानस्मि। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्। अत्र वांछिताद् दास्यप्राप्तिरूपादर्थात् अधिकाया मैत्रीप्राप्त्याः सम्यक् सिद्धेः प्रहर्षणालंकारः। तल्लक्षणं तु 'वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिस्तु प्रहर्षणम्' इति॥१२॥

विभीषण का राम के प्रति विनीत भाव —

अर्थ— विभीषण के मन की गांठ खुल गई। गांठ के खुलने से जैसे धन प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार विभीषण ने अपने हृदय का भाव खुलकर प्रकट किया।

जैसे गाय का बछड़ा गाय के पास जाकर उसके थन से दूध पाता है, उसी प्रकार मैं तो आपके

चरणों में दास्य-भाव से आया था, पर आपने मुझे सखिभाव प्रदान कर मेरी अभिलाषा से अधिक प्रदान करने की अनुकम्पा की है।

विशेष—यहाँ प्रहर्षण-अलंकार है।

जिसका लक्षण है- वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिस्तु प्रहर्षणम्॥१२॥

त्रिभिः श्रीरामस्य समुद्र-विनयनमाह—

पुष्टोपायमुपासितोऽपि जलधी
रूपं यदा नैक्षयत्
पश्यन् कोपदृशाऽऽह राम उदसं-
श्चापं सपत्राचिकीः।
कं दर्पं धरसे, जलाकृतिरसि
ह्युग्रो नदीनन्द्यसि,
तत् स्वं दर्शय वार्यधीश परथा
कुर्वे यथाभीप्सितम्॥१३॥

पुष्टः उपायो जपादिरूपो यत्र कर्मणि तत्तथा। उपासितोऽपि जलधिः समुद्रो डलयोरैक्याज्जडधी-र्मूढबुद्धिश्चेति ध्वन्यते। यदा रूपम् आकारं न ऐक्षयत् अदर्शयत्। (तदा) कोपदृशा पश्यन्। सपत्राचिकीः सपुङ्खशरप्रवेशनेन सपत्रं (तं) कर्तुमिच्छुः। 'सपत्रनि-ष्पत्रादतिव्यथने' इति डाच्। चापं धनुः उदसन् उच्चैः असन्[1] आददानः राम आह उवाच- कंदर्पं गर्वं धरसे? न गर्व-धारणक्षमोऽसीति भावः। कं दर्पं धरसे इति प्रश्ने च कं जलम् (एव) दर्पं धरसे इति उत्तर-संगतेः प्रश्नोत्तरम्। अत एव जलाकृतिः जलरुपतयेति भावः। उग्रः भयंकरोऽसि। नान्यो विशेष उग्रत्वे हेतुरिति भावः। नदीनन्दी नदीभिः नन्दति रमते इति तथोक्तोऽसि। नदी-रतत्वेन अस्मद्वचनमुपेक्षसे इति भावः। अथ च त्वं जलाकृतिः अष्टमूर्तिषु जलमूर्तिः। उग्रः शिवोऽसि। तथाऽपि कामित्वेन नदी- (कामिनी) भिः नन्दी रमणशीलोऽसीति कन्दर्पं कामं धरसे? इति काक्वा किमिति प्रश्नो द्योत्यते। उग्रस्य शिवस्य कामारेः कामधरणं नोचितमिति भावः। इति कोपोद्भासनेऽपि शिवस्य जलाकृतेः स्मरणेन द्व्यर्थकं वाक्यं प्रयुङ्क्ते- नदीनन्द्यसीति। न दीनं द्यसि। त्वं दीनं शरणागतं दुःखितं न द्यसि खण्डयसि निष्फलीकरोषीति। फलितार्थमाह- हे वार्यधीश अपांपते! तथा वा+आर्य-धीश= हे धीश धियां प्रेरणाद् धीश्वर आर्य पूज्य शिव इत्यपि ध्वन्यते। तत् तस्मात् कारणात् स्वम् आत्मानं दर्शय। परथा अन्यथा यथाभीप्सितं यथेष्टं कुर्वे करोमि॥१३॥

निम्न तीन श्लोकों में राम का समुद्र के प्रति विनय-भाव —

अर्थ— समुद्र के तट पर राम उसे राजी करने के लिये जप करते है, पर वह जडबुद्धि समुद्र इसे समझ न पाया। जब सामने नहीं आया तो मुख वाले बाण को तरकस से निकाल कर धनुष पर चढ़ाया और कहा - कैसा दर्प है तुम्हें? तुम शिव की अष्ट मूर्तियों में से एक जलरूप हो, कंदर्प (कामदेव) के शिकार कैसे - जबकि शिव तो कन्दर्प का दलन करने वाले थे।

शिव तो काम जयी थे और तू नदियों का पति बनकर विलास करता है। तू प्रकट होकर सामने आ नहीं तो मैं मन चाही करूंगा॥१३॥

स श्रुत्वा सवपुः समैत् सलिलधि-
स्तं साञ्जलिः स्माह च,
मामारक्ष, पितासि, यत् सगरजैः
पुष्टोऽस्मि ते पूर्वजैः।
रुग्णं दीनमिवेति वादिनममुं
रामोऽपि 'मा मा स्तुवी-
ह्यस्मान् वा स्तुहि' ना बिभीहि बिभिहि
त्वं मेति चाश्वासयत्॥१४॥

---

१. 'अस- गतिदीप्त्यादानेषु' इत्यस्य रूपम्।

स सलिलधिः समुद्रः श्रुत्वा श्रीरामवचनमिति शेषः। सवपुः सशरीरः समैत् समागच्छत्। साञ्जलिश्च तम् आह स्म उवाच-माम् आरक्ष। पिता असि त्वमिति शेषः। यद् यतः कारणात् ते पूर्वजैः सगरजैः सगरसुतैः अहं पुष्टो रक्षितोऽस्मि। पोषकस्य वंश्योऽप्यपचारेण पितैव। रामोऽपि रुग्णं रोगयुक्तं दीनमिव इति एवं वादिनं कथनपरम् अमुं समुद्रम्। 'अस्मान् मामित्यर्थः। 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुत्वम्। त्वं मा मा स्तुवीहि, , मा स्तुहि। स्तुतिं मा कुर्वित्यर्थः। च पुनः त्वं मा बिभीहि मा बिभिहि। भयं मा गच्छेत्यर्थः। 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति इत्वं वा। वीप्सायामुभयत्रापि द्वित्वम्। रूपद्वयं दर्शितम्।' इति आश्वासयत् समाश्वस्तं कृतवान्॥१४॥

अर्थ— यह सुनते ही जलपति सागर हाथ जोड़कर सामने आ खड़ा हुआ। कहने लगा- मेरी रक्षा करें। आप मेरे पिता तुल्य हैं। मैं पहले आपके पूर्वज सगर के पुत्रों के द्वारा रक्षित रहा हूँ। राम ने जब उसकी दीन वाणी सुनी तो कहने लगे- तू अब ऐसी दीनता भरी वाणी न सुना और हमारी स्तुति मत कर । तू अब डर मत। डर मत। इस प्रकार उसे राम ने धीरज बँधाया॥१४॥

नन्दन् नन्दथुनाऽथ नाथ-नव-दृक्—

पीयूषवर्षोद्भुवा

दिष्ट्याऽहं पुनरेव जीवित इति

व्याख्यान् समुद्रोऽब्रवीत्।

ग्रावाणोऽप्सु तरन्तु मातृ-वरतो,

बध्नातु सेतुं नलो,

मंस्येऽधीश कृतज्ञतां यदि भवान्

म्लैच्छ्यां भुवीषुं क्षिपेत्॥१५॥

अथानन्तरम्। नाथस्य श्रीरामस्य नवा नवीना या दृक्पीयूषवर्षा दृष्टिसुधावृष्टिः तदुद्भवा तज्जातेन नन्दथुना हर्षेण। 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्। नन्दन् तुष्यन्। दिष्ट्या हन्त। अहं पुनरेव जीवितः प्राणान् धारित इत्येवं व्याख्यान् कीर्तयन् समुद्रोऽब्रवीत्- नलः तन्नामा कपिः सेतुं बध्नातु। मातृवरतः विश्वकर्मणा नल-पित्रा नलमातरं प्रति प्रदत्तस्य वरस्य प्रभावादिति भावः ग्रावाणः पाषाणाः अप्सु जले तरन्तु। भो अधीश स्वामिन्! यदि भवान् म्लैच्छ्यां म्लेच्छसंबन्धिन्याम् अभीरप्रमुखदस्युविचरितायामिति भावः भुवि भूम्याम्। इषुम् आरोपितममोघं बाणं क्षिपेत् पातयेत् (तर्हि) अहं कृतज्ञतां कृतोपकारमानित्वंमन्ये स्वीकरिष्ये। एष सर्वोऽपि व्यतिकरो वा. रा. युद्धकाण्डस्य द्वाविंशे सर्गे द्रष्टव्यः॥१५॥

अर्थ— राम की प्रेम पूर्ण आंखों से जो अमृत वर्षा हो रही थी, उससे नव जल पाकर समुद्र हर्षित हो गद्गद् गिरा से कहने लगा- आप नल से मुझ पर पुल बंधवा दे। विश्वकर्मा नल के पिता हैं उन्होंने नल की माता को वरदान दिया है। उनसे शिक्षा पाया हुआ नल माता के वरदान से पत्थरों को भी जल पर तैरा सकता है। आप के द्वारा चढ़ाया हुआ बाण अमोघ होता है तो यही लोक मंगलकारी उपाय है कि मेरे तट पर रहने वाले म्लेच्छों की भूमि पर उस बाण को छोड दीजिये। इस कृतज्ञता को मैं हमेशा मानूंगा॥१५॥

द्वाभ्यां सेतुबन्धनं वर्णयति—

यत्नात्तेन तथा कृतं रघुभृताऽ-

बन्धाच्च सेतुं नलो

यौधं कर्म तितांसवश्च कपयः-

साहाय्यमातेनिरे।

तत्त्वज्ञा भववारिधाविव जले

तेरुस्तरां प्रस्तरा

दासीभूय शिवं प्रभुः प्रणुतवा-

ञ्श्रीसेतुबन्धेश्वरम्॥१६॥

तेन रघुभृता श्रीरामेण यत्नात् तथा समुद्रोक्तं कृतम्। नलः सेतुम् अबन्धात्। योधस्य भटस्य इदं तत् कर्म तितांसवः विस्तारयितुमिच्छवश्च कपयः साहाय्यं (नलस्य) सहायताम् आतेनिरे चक्रुः। भववारिधौ संसारसमुद्रे तत्त्वज्ञा ब्रह्मवेदिन इव प्रस्तराः पाषाणाः तेरुस्तराम् अतिशयेन तेरुः। 'द्विवचन०' इति तरपि 'किमेत्तिङव्य०' इत्याम्। प्रभुः श्रीरामः दासीभूय अदासो दासो भूत्वा श्रीसेतुबन्धेश्वरं सेतुबन्धनाधिष्ठातृदेवं शिवं महादेवं प्रणुतवान् स्तुतवान्[१]॥१६॥

दो श्लोकों में सेतु-बन्धन का वर्णन—

अर्थ— राम के निर्देशानुसार नल ने सागर के कहने के अनुसार सागर पर सेतु बनाया। इस कर्म के विस्तार में वानर दल ने सहायता दी। जैसे तत्त्वज्ञ संसार सागर के पार हो जाते हैं, उसी तरह से जल में पत्थर भी तैरने लगे, पार होने के लिये सेतु का निर्माण हो गया। भगवान् राम ने दासभाव प्रकट करते हुए सेतुबंधेश्वर शिव के प्रति स्तुति निवेदन की॥१६॥

नन्दन्ती प्रचकासती प्रहरणैः

कोलाहलं बिभ्रती

दिष्टं घ्नन्त्युपचिन्वती प्रयतनं,

पुच्छं धुवन्ती मुहुः॥

ग्राव्णो वारिणि रुन्धती कपिचमूः

संस्कुर्वती पद्धती-

मेवं सेतु-विबन्धनं विवृणती-

शं कीर्तयन्ती ययौ॥१७॥

१. नन्दन्ती प्रमोदमाना। प्रहरणैः आयुधैः, २.प्रचकासती प्रदीप्यमाना। कोलाहलं कलकलं, ३.बिभ्रती धारयन्ती। दिष्टं भाग्यं, ४.घ्नती खण्डयन्ती। अपि च प्रयतनम् उद्योगम्, ५.उपचिन्वती वर्धयन्ती समर्थयमानेत्यर्थः। मुहुः पुनः पुनः पुच्छं, ६.धुवन्ती कम्पयन्ती। ग्राव्णः प्रस्तरान् वारिणि जले, ७.रुन्धती रोधं कुर्वती। पद्धतीं पद्गमनोचितां सरणिम्। 'हिमकाषिहतिषु च' इति पद्भावः। बह्वादित्वात्पाक्षिको ङीष् चानुप्रासभङ्गभयाद् विवक्षितः। ८.संस्कुर्वती प्रसाधयन्ती। 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुट्। एवं सेतुविबन्धनं ९.विवृणती प्रकटयन्ती। ईशं स्वामिनं श्रीरामं सेतुबन्धेश्वरं शिवं वा १०.कीर्तयन्ती स्तुवती कपि-चमूर्वानरसेना ययौ लङ्कामिति शेषः। अत्र क्रमशो दशगणीयधातुतः शत्रन्ताद् ङीपि रूपमेकैकमुदाहृतम्॥१७॥

अर्थ— १-आनन्द मनाती हुई, २- अस्त्रों से सजी हुई, ३- कोलाहल (कलकल शब्द) को धारण करती हुई, ४- रावण के भाग्य को खण्डित करती हुई, ५- उद्योग को बढ़ाती हुई, ६- बार बार अपनी पूंछ को कँपाती हुई, ७- पत्थरों को जल में रोकती हुई, ८-मार्ग का संशोधन करती हुई, ९- सेतु बन्धन को प्रकट करती हुई, १०-और ईश (श्रीराम, अथवा सेतु-बन्धेश्वर शिव) की स्तुति करती हुई वानर-सेना लङ्का की तरफ चल पड़ी॥१७॥

विशेष — यहाँ क्रमशः दस गणीय धातु से शत्रन्त स्त्रीलिङ्ग के एक एक रूप का प्रयोग किया गया है।

अथ कपिसेनाया लङ्कायाश्च दुर्जयतां वर्णयति—

जय्यामेव समर्थयन्नुपगतां

दृष्ट्वा च लङ्कां चमू

टांकारध्वनिमातनोत् स्वधनुषो

रामस्तथा रावणः।

१. एषा स्तुतिस्तु परिशिष्टे द्रष्टव्या।

हित्वा धैर्यमधीशमूचुरुभये

योधास्तदाकर्ण्य तं,

त्वादृग् दुर्जय दुर्जयामपि जये-

देनां न कोऽपीतरः ॥१८॥

उपगतां प्राप्तां, लङ्कां चमूं वानर-सेवां च दृष्ट्वा जय्यां जेतुं शक्यामेव समर्थयन्[१] रामः तथा रावणः स्वधनुषः टांकारं टंकारसंबन्धिनं ध्वनिम् आतनोद्। अत्र यथासंख्यं ज्ञेयम्। रामो लङ्कां दृष्ट्वा रावणश्च (वानर) चमूं दृष्ट्वेत्यर्थः। उभये योधाः रामपक्षीयाः रावणपक्षीयाश्चेत्यर्थः धैर्यं हित्वा त्यक्त्वा। तद्दर्शनेनेति भावः तदा तस्मिन् काले तं टंकारध्वनिमाकर्ण्य श्रुत्वाअधीशं स्वस्वामिनम् ऊचुः। यद्वा टंकारध्वनिमाकर्ण्य धैर्यं तद्दर्शनात् प्राग् नष्टां-धीरतां हित्वा धृत्वेति व्याख्येयम्। भो दुर्जय दुःखेन जेतुं शक्य ! हे राम! तथा हे रावण ! त्वादृग् भवादृशः। दुर्जयां दुःखेन जेतुं शक्यां एनां लङ्कां वानर-चमूंश्च जयेत्-जेतुं शक्नुयात् शकि लिङ् । इतरः अन्यः कोऽपि न जयेदित्यर्थः ॥१८॥

कपि सेना व लंका दोनों ही परस्पर दुर्जय प्रतीत हुई —

अर्थ— राम को लंका दुर्जय लगी तो रावण को वानर सेना दुर्जय लगी। दोनों ओर के वीरों के धैर्य जाते रहे। धनुष्टंकार सुनकर दोनों ओर की सेना एक जैसे स्वर में बोलने लगी। 'हेराम! लंका दुंर्जय सी है।' हे रावण! वानर सेना दुर्जय सी है। फिर भी हे राम! आप लंका को जीत लेंगे, और हे रावण! आप वानर सेना को जीत लेंगे, आपके अलावा और कोई दूसरा नहीं जीत सकता॥१८॥

श्रीरामसेनायाः रावणहृदये जातं प्रभावं दर्शयति-

भ्राताऽर्थे सति कुम्भकर्ण उचितं

ह्यद्यैव जागर्यतां

तृड्दाहे सति सत्किलामृतमपि

प्राप्तं न चेत् तद् वृथा ।

भिस्सा- भूम्नि भृतेऽपि तेन यदि नो

क्षीणा क्षुधा तन्मुधा,

सभ्यानादिशदित्यहो दशमुखो

दृष्ट्वा प्रभावं प्रभोः ॥१९॥

अहो इत्याश्चर्ये। दशमुखो रावणः प्रभोः श्रीरामस्य प्रभावं सेनोत्कर्षजन्यं प्रतापं दृष्ट्वा। सभ्यान् सभा-जनान् इति इत्थम् आदिशत् आदिदेश- उचितं हि एतद्धि युक्तमस्तीत्यर्थः। अर्थे प्रयोजने सति विद्यमाने भ्राता कुम्भकर्णः अद्यैव जागर्यतां प्रबोध्यताम्। 'जाग्रोऽविचिण्०' इत्यादिना गुणः। अत्र दृष्टान्तद्वय-मुपन्यस्यति-तृड्दाहे पिपासा-जन्ये दाहे सति समुपस्थिते, चेद् यदि किल सत् विद्यमानम् अमृतमपि न प्राप्तम्, तद् वृथा मुधा। व्यर्थमेव तदमृतमपीति भावः। भिस्साभूम्नि अन्न-बाहुल्ये भृते परिपूर्णेऽपि तेन भिस्साभूम्ना यदि क्षुधा नो क्षीणा। तद् मुधा वृथा॥१९॥

राम सेना का रावण के हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन —

अर्थ— दशमुख रावण श्री राम के प्रभाव को देखकर ही इतना आतंकित हो गया कि वह सभा के मध्य कहने लगा- 'भाई कुम्भकर्ण को शीघ्र जगाओ। यदि प्यास के मारे प्राण निकल जावें तो बाद में मिला अमृत व्यर्थ है। यदि भूख के मारे प्राण चले जावें और बाद में यदि अन्न से परिपूर्ण भी भूमि मिल जावे तो किस काम की॥१९॥

१. समर्थशब्दात्तत्करोतीति णिच्।

रावणस्य श्रीरामहृदये जातं प्रभावं दर्शयति—

हिक्कोद्गाह-मनाक्-क्षव-क्षवथुभि-

र्यस्याप्तकर्णज्वरं

तोयं तूर्णतरं त्यजन्ति तृषिता,

बालाश्च मातुः स्तनम्।

न क्षय्यः स दशाननो मघवता-

ऽऽप्याः स्वैरचाराऽर्जिताऽ-

घः स्यान्नो यदि, चेतसीत्यकृत त-

द्वीर्यं विचार्य प्रभुः ॥२०॥

यस्य दशाननस्य। हिक्का (हिचकीति प्रसिद्धा) वातादिजन्यविकारविशेषः । उद्ग्राहः अन्नपचनादिना उद्ग्रहणम् 'डकार' इति प्रसिद्धम्' उदि ग्रहः' इति घञ्। मनाक् ईषद् यः क्षवः छिक्का। क्षवथुः कासश्च। तैः आप्तः कर्णयोः ज्वरः सन्तापो यत्र कर्मणि तत्तथा। तृषिताः पिपासिताः (जनाः) तूर्णतरम् अतिशीघ्रं तोयं जलं त्यजन्ति मुञ्चन्ति। बालाश्च मातुः स्तनं त्यजन्ति। मुञ्चन्ति। । तस्य हिक्कनादिमात्रत एवेति भावः। स दशाननो रावणः मघवता इन्द्रेणापि न क्षय्यः क्षेतुं नाशयितुं शक्यः । आः इति कोपे। यदि स्वैरचारेण कामचारेण अर्जितानि सञ्चितानि अघानि पर-स्त्रीहरणादीनि पापानि येन स तथोक्तः। नो स्यात् नहि भवेत्। इति एवं तस्य रावणस्य वीर्यं प्रभावं विचार्य प्रभुः श्रीरामः चेतसि मनसि अकृत तर्कितवानित्यर्थः ॥२०॥

रावण का राम के हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ा- इसका वर्णन —

अर्थ— इस रावण की हिचकी, डकार, छींक और खांसी से जिनको कर्ण ज्वर प्राप्त होता है वे मनुष्य प्यासे होते हुये भी अतिशीघ्र पानी पीना छोड देते हैं, बच्चे अपनी माता के स्तन-पान छोड देते हैं। यदि यहं रावण अपने कामचार से परस्त्रीहरण जैसे पाप अर्जित नहीं करे तो इन्द्र से भी नष्ट नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रीराम ने अपने मन में विचार किया ॥२०॥

विशेष — रावण अजेय है - वह अपने पाप के द्वारा ही मारा जायेगा- ऐसा लगता है।

विभीषणप्रार्थितेन रामेणाङ्गदस्य दूत्येन प्रेषणमाह—

रामं प्रार्थितवान् विभीषण इति

प्रीत्योपलङ्केश्वर-

मस्त्राऽऽदानत आदितः पुनरितो-

दूतोऽङ्गदः प्रेष्यताम्।

सीतेशं प्रणिपत्य सोऽपि च तदा-

ज्ञप्तोऽगमत् तत्सभां,

तावन्योन्यविलोकनोत्तरमिति

प्रश्नोत्तरं चक्रतुः ॥२१॥

विभीषणः प्रीत्या रावणस्य भ्रातृस्नेहकारणेन। यदि रावणः कथंचित् सीता-प्रत्यर्पणम् अधुनापि स्वीकुर्याद्, मा भवतु कुलक्षय इति स्नेहबुद्ध्येति भावः। रामम् इति एवं प्रार्थितवान्- अस्त्रादानतः शस्त्रग्रहणात् आदितः पूर्वम् उपलङ्केश्वरं रावण-समीपं पुनः इतोऽस्मत्सेनानिवेशात् अङ्गदः दूतः प्रेष्यताम् । च पुनः। सोऽपि अङ्गदोऽपि सीतेशं रामं प्रणिपत्य प्रणम्य तदाज्ञप्तः तेन रामेण आज्ञप्तः तत्सभां लङ्केश्वरसभाम् अगमत्। अन्योन्यस्य परस्परस्य विलोकनोत्तरं दर्शनोत्तरं तौ रावणाङ्गदौ इति वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रश्नोत्तरं प्रश्नः रावणकृतः। उत्तरमङ्गदप्रदत्तम्। अनयोः समाहारं चक्रतुः ॥२१॥

अर्थ— विभीषण के निवेदन करने पर राम द्वारा अंग को दूत बनाकर रावण के पास भेजना-

विभीषण ने भ्रातृस्नेह के कारण राम से निवेदन किया कि युद्ध के पहले अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजिये। वह समझता था कि रावण अब भी मान जाय और सीता का सौंपना स्वीकार कर ले तो कुल नाश बच सकता है।

राम की आज्ञा पाकर अंगद ने राम के चरणों में प्रणाम किया और रावण की सभा में गया। वहां दोनों में प्रश्नोत्तर हुए॥२१॥

त्रिभी रावणाङ्गदसंवादं दर्शयति—

मल्लंमन्य न मन्यसेऽन्यमधिकं,
कोऽसि स्थितः स्थाणुवद्,
नुन्नो नास्मि हृदीश्वरेण नतये-
ऽहं मल्ल एवास्मि भोः!।
प्राप्तस्त्वं कथमत्र,वाञ्छसि च किं,
द्वाः स्थाञ्जयन्नागतो,
यच्छ त्वं प्रतिमल्लमेवं, यदि भो-
मद्- वाञ्छितं दित्ससि॥२२॥

हे मल्लंमन्य! आत्मानं मल्लं मन्यमान! अन्यम् अपरं अन्यम् अधिकम् आत्मन उत्कृष्टतरं न मन्यसे। प्रणमनाभावादिति भावः। स्थाणुवत् अप्रणमनेन स्तम्भ इव स्थितः कोऽसि? इति रावणप्रश्नः। अहम् हृदीश्वरेण अन्तर्यामिणा प्रभुणा नतये त्वत्प्रणामाय न नुन्नः प्रेरितोऽस्मि। मदन्तरात्मा नेच्छति त्वां प्रणन्तुमिति भावः। भोः। अहं मल्ल एव अस्मि। नतु मल्लंमन्य इति भावः। इत्यङ्गदस्योत्तरम्। अत्र त्वं कथं प्राप्तः आगतः? किं च वाञ्छसि इच्छसि? इति रा०. प्रा०। द्वाःस्थान् द्वारपालान् जयन् वशीकुर्वन् आगत ः। भोः! यदि मद्वाञ्छितं दित्ससि दातुमिच्छसि (तर्हि) त्वं प्रतिमल्लं प्रतिस्पर्धिनं मल्लमेव यच्छ प्रदेहि। इत्यङ्गदोत्तरम्॥२२॥

तीन श्लोकों में रावण-अंगद संवाद का वर्णन —

अर्थ— रावण - अपने को मल्ल मानने वाले ठूंठवत् खड़े होने वाले, तू कौन है? अंगद - मैं अन्तर्यामी प्रभु के द्वारा तुझे प्रणाम करने के लिये प्रेरित नहीं हूँ। अतः तुमको झुककर प्रणाम न करने के कारण तू मुझे झूंठा मल्ल न समझ, मैं सचमुच मल्ल हूँ।

रावण - तू किसलिये आया है?

अंगद - मैं द्वारपालों को वश में कर उनको हरा कर आया हूँ। यदि तू मेरा मन चाहा करना चाहता है तो मुझे मेरी जोड़ का कोई मल्ल (पहलवान) देकर, दोनों को भिड़ाकर मौका दे॥२२॥

राज्ये मे मलमल्लकाम्बरधरा
मल्ला बहु त्वादृशा,
यं श्रेष्ठं च बलिष्ठमुत्कटतमं
वेत्सि त्वमेवाऽर्पय।
पुत्रः कस्य, वदाशु, नो यदि, यमं
मल्लं त्वया दर्शये,
नम्रं त्वाऽधृत यः स्वकक्षकुहरे-
ऽहं तस्य वालेः सुतः॥२३॥

मे मम राज्ये मलमल्लकाम्बरधराः कौपीनवस्त्रधरिणः। 'कौपीनं मलमल्लकम्' इति वैजयन्ती। त्वादृशा मल्ला बहु भूरि सन्तीति शेषः। 'बहु' इति क्रियाविशेषणत्वेन विवक्षितम्। इति रावणवचनम्। यं श्रेष्ठं प्रशस्यतमं बलिष्ठं बलवत्तमम् उत्कटतमं मत्ततमं वेत्सि मन्यसे। त्वमेव अर्पय देहि तमिति शेषः। इत्यङ्गदवाक्यम्। कस्य पुत्रः आशु वद शीघ्रं कथय। यदि नो नोचेत्। त्वया त्वां यमं कृतान्तं मल्लं दर्शये दर्शयामि। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदे 'दृशश्च' इत्यण्यन्तकर्तुः कर्मणि प्राप्तेऽपि 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति वचनात् 'त्वया' इत्यत्र

पाक्षिकं करणम्। इत्यनेन लोकपालानां रावण-सान्निध्यं दर्शितम्। तद्द्वारा मृत्युपथं नयामीति च व्यक्तम्। इति रावणवाक्यम्। यः त्वा त्वां स्वकक्षे एव कुहरे बिले अधृत धृतवान् अहं तस्य वालेः वालिनः सुतोऽस्मीत्यर्थः। 'वालिश्च वालिना तुल्यो जटायुश्च जटायुषा' इति वालिशब्दस्य द्वैरूप्यम्। इत्यङ्गदोक्तिः॥२३॥

अर्थ— रावण - मेरे राज्य में बहुत पहलवान है।

अंगद - तो जो सबसे बढ़कर हो, वह मेरे से भिड़ने आवे। रावण- तू किसका लड़का है? शीघ्र बता, नहीं तो यमराज का मेहमान बना दिया जायेगा।

अंगद - जिसकी कोख के बिल में तू रहा है, उस वाली का मैं पुत्र हूँ॥२३॥

रज्यस्येव पितुर्गुणैः, स तु हतः
केनापि रे भिक्षुणाऽ-
वाप्स्यत्येव वधं भवानपि ततः,
सीता न चेद् दीयते।
तच्छौर्यं मम, यद्धृताऽह्नि सति सा,
प्रत्यर्प्यतेऽद्यापि नो,
वान्तं श्वेव बुभुक्षसे, शिवधनु-
र्भङ्गे भवान् क्व स्थितः? ॥२४॥

पितुरेव गुणैः (नतु स्वगुणैः) रज्यसि प्रसीदसीत्यर्थः। रे अरे! स तव पिता तु केनापि भिक्षुणा। राममुद्दिश्येति कथनम्। हतः मारितः। इति रावणोक्तिः। चेद् यदि सीता न दीयते (तर्हि) भवानपि तत एव वधं नाशम् अवाप्स्यति एव। आदरसूचको भवच्छब्दः काकूक्तिं व्यनक्ति। एवमुत्तरत्रापि। इत्यङ्गदस्य प्रत्युक्तिः। तद् मम शौर्यं वीरता अस्ति। यत् सा सीता अह्नि दिवसे सति विद्यमाने मया धृता गृहीता। 'हृतेति' उच्यमानमपि संधियोगाद् 'धृते' ति सिद्धं रूपं वाचोयुक्त्या वदति। तत्रापि 'शून्ये' इत्यवदन् 'अह्नि सति' इति कथनेन शूरतां व्यनक्ति। अद्यापि नो (मया) प्रत्यर्प्यते। इति रावणवचनम्। श्वा कुक्कुर इव त्वं वान्तं भुक्तं वस्तु कथमपि वमनद्वारा निर्गतमित्यर्थः। प्रकृते रामोपभुक्तं रामलक्ष्मणापवाहनप्रसक्तेन दैवेन लब्धं कलत्ररत्नं बुभुक्षसे उपभोक्तुमिच्छसि इत्यनेन च्छलापहारः प्रकटितः। तदेव समर्थयते शिवधनुर्भङ्गे पिनाकभञ्जनकाले भवान् क्व कुत्र स्थितः? यदि दैनिकेन हरणेन शूरतां प्रकटयसि तर्हि सा शूरता तदा कुतो न दर्शितेति भावः। इत्यङ्गदप्रतिवचनम् ॥२४॥

अर्थ— रावण - अरे! तू उस वाली का पुत्र है, जिसे किसी भिक्षुक (तापस वेषधारी राम) ने मार डाला है।

अंगद- हाँ, तू ने भी यदि सीता न दी तो उसी तापस के हाथों मारा जायेगा।

रावण - यह मेरी वीरता ही है कि मैं सीता को दिन में हरकर लाया हूँ।

अंगद - तूं कुत्ते की तरह ले आया है- जो कुत्ता वमन को स्वाद से खाता है, जब शिवधनुष तोड़ा गया था, तुम्हारी शूरता वहां कहां गई थी? ॥२४॥

अङ्गदवचनेनाऽतिक्रुद्धस्य रावणस्य वधाज्ञापनमाह—

प्रक्रुद्धोऽहिरिवांऽघ्रिपीडित इति
श्रुत्वाऽऽह भृत्यान्नृपो
हृष्टाः पश्यथ किं न साकममुना
मत्तो वधं लिप्सवः।
टङ्केनेव महोपलः परशुना
कृत्वैष भोः खण्डशो
मुच्येताशु यतः शरार्हगरुत-
स्तृप्यन्तु कङ्काश्चिरम्॥ २५॥

इति एवं श्रुत्वा अङ्घ्रिणा पादेन पीडितः प्रक्षुण्णः। अहिः सर्प इव। प्रक्रुद्धः अतिकुपितः नृपो रावणः। भृत्यान् अनुचरानाह- किं नु अमुना अनेन साकं सह मत्तः मत्सकाशाद् वधं नाशं लिप्सवः लब्धुमिच्छवः। हृष्टाः मिथः संवादकौतुकदर्शनेन प्रमुदिताः यूयं पश्यथ? भोः! टङ्केन पाषाणदारणेन महोपलः बृहत्पाषाण इव एषः वालिपुत्रः परशुना कुठारेण खण्डशः खण्डं खण्डं कृत्वा। आशु शीघ्रं मुच्येत क्षिप्येत। यतो यस्मात् कारणात्। शरार्हा (मदीय-) बाणयोग्या गरुतः पक्षा येषां ते तथोक्ताः। कङ्काः पक्षिविशेषाः। चिरं बहुकालं तृप्यन्तु तृप्तीभवन्तु॥२५॥

अर्थ— अंगद के वचन को सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर रावण के द्वारा अंगद के वध की आज्ञा देना —

यह सुनकर रावण पैरों से कुचले गये सांप की तरह क्रुद्ध हो गया। वह अपने सेवकों से कहने लगा- तुम क्या कर रहे हो? इसके साथ क्या तुम सब मुझ से मारे जाने के इच्छुक हो? हमारी बातचीत का मजा लूटने में लगे हो। इसके परशु से टुकडे-टुकडे कर डालो जैसे टांकी से पाषाण के टुकडे-टुकडे किये जाते हैं इसके मांस के लोथड़ों को खाकर कङ्कपक्षी (गीध, चील आदि) तृप्त होवें॥२५॥

अङ्गदस्योड्डयनपूर्वकं रामाश्रयणमाह—

दिव्येनेव नृपस्य तेन वचसा
भृत्याः प्रहृष्टाः कपिं
तोत्राऽऽलानविधोचितं गजमिवा-
ऽऽदित्सन्त बन्धेच्छया॥
लोकस्याऽभ्यनुपश्यतः परमसा-
वुड्डीय रामं श्रितः
कस्तावत् प्रभुमाश्रितः स्वमनसा
मुच्येत नो बन्धनात्॥ २६॥

दिव्येन आकाशजातेनेव तेन नृपस्य वचसा वचनेन प्रहृष्टा भृत्याः। बन्धेच्छया तक्षणसौकर्याय बन्धनकाम्यया। तोत्रं गजतोदनदण्डः। आलानं गज-बन्धनस्तम्भः। तयोर्विधा विधानं तदुचितं तदर्हं गजं करिणमिव। कपिम् अङ्गदम् आदित्सन्त आदातुं ग्रहीतुमैच्छन् परं किन्तु। असौ अङ्गदः अभ्यनुपश्यतः अभि संमुखम् अनु पश्चाच्च पश्यतः। लोकस्य। तमनादृत्येत्यर्थः। अनादरे षष्ठी। उड्डीय रामं श्रितः प्राप्तः। अर्थान्तरं न्यस्यति-स्वमनसा प्रभुम् ईश्वरम् आश्रितः कः (जनः) तावत् पूर्णतया बन्धनाद् नो मुच्येत। अपितु मुच्येतैव॥ २६॥

अर्थ— रावण की बातों को सुनकर सेवकों ने अंगद को पकड़कर बांधने का प्रयत्न किया। जैसे हाथी को पकड़ने व उसके पैरों में जंजीर डालना और आलान (थंबे) से बांधने का प्रयत्न किया गया था। पर, अंगद आकाश मार्ग से उड़ चला और श्रीराम के आश्रम में पहुँच गया। क्योंकि अपने सच्चे मन से प्रभुका आश्रय लेने वाला कौन व्यक्ति पूर्णरूप से बन्धन से मुक्त नहीं होता? अपितु होता ही है॥२६॥

सुग्रीवस्य सहसाकारितां रामस्मृत्या विपन्मुक्तिं चाह —

तुच्छात्मैष मयाद्य वध्य इति यत्
तूर्णीं रुमेशः कृते-
ष्टः सन् प्राप्य दशाननाक्रमदशां
रामं स्मरन्नागतः।
पुत्रस्तत् पवनस्य लक्षितगतिः
स्माहेति तं सद् यथे-
ष्टः प्राप्तस्त्वमिमं श्रमं प्रथमतो-
ऽप्रक्ष्यः प्रभुं चेत्तु नो॥ २७॥

एष तुच्छात्मा क्षुद्रस्वभावो रावणः। मया अद्य वध्यः विनाशनीय इति यत् तूर्ष्णीं मौनं श्रीरामानुमतिग्रहणादिना अकृतप्रकाशमिति भावः। कृतेष्टः कृतेच्छः सन्। भावे क्तः। दशाननस्य रावणस्य आक्रमदशां तत्कृताक्रमणगतिं प्राप्य अनुभूय। रामं स्मरन्। हा! मया श्रीरामस्यानुमतिरत्र विषये न गृहीता, तत्फलमेवानुभवामीति रामस्मरण-प्रभावादित्यर्थः। आगतः आकस्मिकोड्डयनयुक्त्या प्रतिनिवृत्तः। तत् लक्षितगतिः सुप्रतीतदृशः पवनस्य पुत्रः हनुमान्। तं सुग्रीवम् इति आह स्म उवाच सत् विद्यमानं यथेष्टं स्वैरचारो यस्य स तथोक्तस्त्वम्। इमं श्रमं रावणकृताक्रमणक्लेशं प्राप्तः अनुभूतवान्। चेद् यदि प्रथमतः पूर्वतः। प्रभुं श्रीरामम् अप्रक्ष्यः तदनुमतिम् अग्रहीष्यः। तु तर्हि नो श्रमं प्राप्स्यः इत्यर्थः। रामाज्ञाप्रातिकूल्येन किमपि न भवतीति हनूमत आशयः॥ २७॥

सुग्रीव के उतावलेपन पर हनुमान् का विरोध—

अर्थ— यह तुच्छस्वभाववाला रावण मेरे द्वारा आज अवश्य ही मारने योग्य है, ऐसा विचार कर सुग्रीव चुपचाप (राम की अनुमति के बिना) लङ्का में गया परन्तु रावण के आक्रमण की गति को प्राप्त कर श्रीराम का स्मरण करता हुआ आकस्मिक उछलने की युक्ति से वापिस आ गया। उसकी इस दशा को देखकर पवनपुत्र (हनुमान्) ने सुग्रीव से कहा - तुमने अपनी इच्छा से वहाँ जाकर रावण के आक्रमण की पीड़ा को प्राप्त की है। यदि पहले ही राम की अनुमति लेते तो यह पीड़ा प्राप्त नहीं करते। राम की आज्ञा के बिना कोई कार्य सफल नहीं होता है॥२७॥

श्रीरामकृतं धर्मयुद्धाऽऽदेशमाह —

सुज्ञाताङ्गददूत्यभूतविषयो

रामश्चमूमादिशद्

धार्मिक्यैव समक्षमृक्षकपिभि-

र्मर्यादया युध्यताम्॥

मित्राणां विजयः पराजय इतः

प्रत्यर्थिनां चास्तु नः,

कः प्रत्येतु न, धर्म एव विजय-

श्चाधर्म एवाऽजयः॥ २८॥

दूत्यं दूतस्य भावः कर्म वा। 'दूतवणिग्भ्यां च' इति यः। सु सम्यग् ज्ञातं बुद्धम् अङ्गदस्य दूत्ये दूत-कर्मणि भूतः संजातो विषयो व्यतिकरो येन स तथाभूतः। रामः चमूं सेनाम् आदिशत् आज्ञापयत्। ऋक्षैः भल्लूकैः कपिभिश्च धार्मिक्या एव मर्यादया समक्षं शत्रु-संमुखम्। न तु पृष्ठतो गत्वेत्यर्थः युध्यतां युद्धं क्रियताम्। तत्परिणाममाह-इतः अस्माद् धार्मिक-युद्धकारणात् नोऽस्माकं मित्राणाम् अस्मत्पक्षीयाणां विजयः प्रत्यर्थिनां प्रतिपक्षिणां च पराजयोऽस्तु। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति-को जनः न प्रत्येतु नो विश्वस्यात्। अपितु सर्व एव प्रत्येतु धर्मे एव विजयः, अधर्मे एव च अजयः पराजयः भवतीति शेषः॥२८॥

राम द्वारा धर्म युद्ध का आदेश —

अर्थ— अंगद के दूत कर्म करने के बाद राम ने सेना को धर्म युद्ध करने की आज्ञा दी। बानर भालू मर्यादापूर्वक युद्ध करें। शत्रु के सामने युद्ध करें। - पीठ पीछे नहीं। हमारा पक्ष धार्मिक है, अतः हमारे मित्रों की जय होगी। प्रतिपक्षी अधार्मिक है, अतः उनकी पराजय निश्चित है।

क्योंकि नीति है -धर्म की जय, अधर्म की हार।

अथ द्वाभ्यां योधानामायोधनप्रकारं वर्णयति—

निश्शङ्काहतिपात्यमानबहल-

क्षोणीरुहक्षोणिभृद्-

राशिक्षुण्णविपक्षविग्रहवहद्-

रक्तौघ-रक्तीकृताः।

मन्यूज्जृम्भितसिंहनादसुबृह

ध्दुं कार धिक्कारका

योधाः शत्रुमृगाक्रमे विदधिरे

शार्दूलविक्रीडितम्॥ २९॥

निःशङ्का या आहतयः प्रहारा तेषु पात्यमानाः क्षिप्यमाणा ये बहलाः बहवः क्षोणीरुहा वृक्षाः तथा क्षोणिभृतः पर्वताः तेषां राशिना समूहेन क्षुण्णाः चूर्णिता ये विपक्षाः शत्रवः तेषां विग्रहेभ्यः शरीरेभ्यो वहन् यो रक्तौघः रुधिरप्रवाहः तेन रक्तीकृता आलोहितीकृताः। मन्युना क्रोधेन उज्जृम्भिताः प्रवर्धिता ये सिंहनादाः शौटीर्यशब्दाः तथा सुबृहन्तः सुमहान्तो हुंकाराः धिक्काराश्च यैस्ते तथोक्ताः। योधाः भटाः। शत्रूणामेव मृगाणां हरिणानाम् आक्रमे आक्रमणे। शार्दूलानां व्याघ्राणां विक्रीडितं खेलनं विदधिरे। शार्दूलविक्रीडितपदेन वृत्तसूचनाद् मुद्रालंकारः॥२९॥

अर्थ— दोनों सेनाएं भिड गई। पेड़ों को उखाड़कर, पहाड़ों (पत्थरों) को एक-दूसरे पर फेंक कर युद्ध कर रहे हैं। उनके खून के पनाले बह रहे थे। चारों ओर रणहुंकार, धिक्कार की गर्जना थी। लगता था शार्दूल हरिण-समूह पर आक्रमण कर रहे थे॥२९॥

ह्यस्तन्यद्यतनी न युत् किमु पर -

श्वस्तन्यथ श्वस्तनी

रोषेणेति भुजोर्जितं नवनवं

वीराः स्फुटीचक्रिरे।

गण्यन्तेऽप्युरसि स्म युद्धरसिकै-

र्हाराः प्रहारा असे-

श्चक्रे तैः परमः श्रमश्च विशदी-

चक्रे स्वचक्रेऽद्भुतम्॥३०॥

अद्यतनी अद्य-भवा युद् युद्धं युद्ध-प्रकार इत्यर्थः ह्यस्तनी ह्योभवा न। अर्थान्नवीनैव जातेति भावः। श्वस्तनी आगामिदिनभाविनी। अथ पुनः परश्वस्तनी तदुत्तरदिनभाविनी किमु किं स्यात्? अर्थात् सा तु ह्यस्तनी नैव भवेत्। इति कारणात् वीरा रोषेण नवनवं नवीनं नवीनं भुजोर्जितं बाहुबलं स्फुटीचक्रिरे प्रकटीचक्रुः। अपिच। युद्ध-रसिकैः उरसि वक्षसि असेः खड्गस्य प्रहाराः हारा मुक्तादामानि गण्यन्ते स्म तैर्युद्धरसिकैर्वीरैः परमः श्रमः परिश्रमः चक्रे। च पुनः। स्वचक्रे निजसेनायाम् अद्भुतम् आश्चर्यम्। स्ववीरतादर्शनेनेति भावः। विशदीचक्रे प्रकटीचक्रे। 'रसि,' 'हारा,' 'चक्रे' इत्येषां द्विरावृत्त्या यमकमपि॥३०॥

अर्थ— वीर नये नये जोश से लड़ रहे थे। आज का युद्ध तो आज का ही है- न यह कल था और न आने वाले कल तक रहेगा, परसों का सवाल ही नहीं इसलिए युद्ध में रस लेने वाले आज अपने बाहुबल से ऐसा प्रहार कर रहे थे, जो नया हो, अद्भुत हो। वे अपनी वीरता को खुलकर प्रकट कर रहे थे॥ ३०॥

भीताहतस्य स्वपक्षस्य सुखोपचारमाह—

दुरपायमप्यरिपुरेऽत्र निन्यतु-

र्भिषगुत्तमौ निशि किलाऽश्विनन्दनौ।

क्षतमप्यहो क्षतमरं तथा भयं

भयमीशवागभयमञ्जुभाषिणी॥३१॥

किलेति ख्याते। अत्र अरिपुरे शत्रुनगरे। निशि रात्रौ। भिषगुत्तमौ वैद्यश्रेष्ठौ अश्विनन्दनौ अश्विनीकुमार-कुमारौ मैन्दद्विविदौ। अहो इत्याश्चर्ये। क्षतं खड्गहारादिजन्यं व्रणम् क्षतं नाशं निन्यतुः प्रापयांचक्रतुः। क्षतशोधनं चक्रतुरिति भावः। क्षतस्य क्षतभावापादनेन विरोधाभासः। तथा अभयं अभयमस्तु इति मञ्जु मञ्जुलं भाषते तच्छीला ईदृशी ईशवाक्

श्रीरामवाणी। भयमपि भयम्। अरं शीघ्रम्। निनायेति वचनविपरिणामेन योजना। भयं सर्वांशेन नाशयामासेति भावः। मञ्जुभाषिणीवृत्तम्। 'सजसाजगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' इति ॥ ३१ ॥

अर्थ— शत्रुनगरी लंका में घायलों का उपचार करने वैद्यश्रेष्ठ अश्विनीकुमार के नन्दन मैन्द और द्विविद आये, वे तलवारों के गहरे प्रहारों को देखकर चकित थे। उन्होंने घावों को ठीक किया। इधर भगवान् राम की भयहारिणी मधुरवाणी सुनकर-भय को भी भय लग रहा था यानी सारे वीर अभय हो युद्धरत थे॥ ३१॥

रावणकुम्भकर्णेन्द्रजितामभिषेणने राघवयोर्धनुस्सज्जतामाह —

यत् सौर्यङ्गदजाम्बवद्धनुमदा-
द्या राजकौटुम्बिक-
वर्गं वर्गवृता विनाशमनयं-
स्तस्मादकस्माद् रुषा।
जिष्णू रावण-कुम्भकर्ण-सुभटौ
चोपेत इन्द्राहितोऽ-
तः सज्जेत्यवदत् करो रघुपयोः
कर्णे धनुर्ज्याश्रितः ॥३२॥

यद् यस्मात्कारणात्। वर्गेण स्वस्वयूथेन वृताः परिवृताः। सूरस्य सूर्यस्यापत्यं सौरिः सुग्रीवः, अङ्गदो, जाम्बवान्, हनुमांश्च तदाद्याः तत्प्रभृतयः। योधा इति भावः। राज्ञो रावणस्य कौटुम्बिकवर्गं कुटुम्बजनसमूहम्। विनाशम् अनयन्। तस्मात् कारणात्। अकस्मात् सहसा। रुषा क्रोधेन। जिष्णू जित्वरौ रावणकुम्भकर्णसुभटौ। च पुनः। जिष्णुः जित्वरः इन्द्राऽहितः शक्रवैरी इन्द्रजिदित्यर्थः। उपेतः आगतः रणभूमिमिति शेषः। अत्र 'जिष्णू' इति पदं 'रा०कु० सुभटौ' इत्यस्य तथा 'ढ्लोपे०' इति दीर्घत्वेन 'इन्द्राहितः' इत्यस्येत्युभयोर्विशेषणं संभवति। एवमेव 'उपेतः' इति लटः प्रथमपुरुषद्विवचनान्तं सदपि क्तान्तत्वे एकवचनान्तं संभवति। इत्येकद्विवचनान्तयोः पदयोः विशेषणस्य क्रियायाश्च सारूप्यदर्शनात्कवे-श्चमत्कार-चारुता चित्रणचातुरी चकास्ति। अतः सज्ज सज्जो भवेति रघुपयोः रामलक्ष्मणयोः। धनुर्ज्याश्रितः चापगुणाऽधिरूढः। करः पाणिः। कर्णे, तयोः श्रवणे। अवदत् कथितवान्। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥ ३२॥

रावण, कुभकर्ण, मेघनाद के साथ राम-लक्ष्मण के युद्ध का वर्णन—

अर्थ—जब अपने अपने यूथ से परिवृत सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान्, और हनुमान् आदि योद्धाओं ने रावण के कुटुम्बियों का नाश करदिया, तब अकस्मात् क्रोध से युक्त रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद रणभूमि में आये। अतः राम-लक्ष्मण भी अपने धनुष की प्रत्यञ्चा तानकर बाण चढ़ाये तैयार हो गये॥३२॥

भूकम्प-दिक्कालुष्याभ्यां शत्रूणामपशकुनं वर्णयति —

ननु क्षितिर्दशमुखभारजां प्रभोः
पुरो व्यथां प्रकटयितुं व्यकम्पत।
त्रपां गताः स्वपतिबलापकर्षजा-
मभुर्दिशः किमरुचिरा रजोभरैः॥३३॥

नन्वित्याशङ्कते। क्षितिः भूमिः। प्रभोः श्रीरामस्य। पुराऽग्रे। दशमुखभारजां रावणपापभारोद्भवाम्। व्यथां पीडां प्रकटयितुं व्यकम्पत चकम्पे। किमिति उत्प्रेक्षां सूचयति। स्वपतीनां दिक्पालानां यो बलापकर्षः तादृग्वीरापेक्षया बल-न्यूनता तज्जां तदुद्भूतां त्रपां लज्जां गताः। दिशः रजोभरैः धूलिपटलैः। अरुचिराः अशोभनाः कलुषा इत्यर्थः। अभुः शुशुभिरे। रुचिरावृत्तम्। तच्च तत्पदेन सूचितम्। तल्लक्षणं तु 'चतुर्ग्रहैरिह रुचिरा जभौ सजगा' इति॥३३॥

भूकम्प व दिशाओं के अंधकाराच्छन्न होने के रूप में शत्रुओं के लिये अपशकुन—

अर्थ— राम के सामने रावण के पाप भार से दबी हुई पृथ्वी ने कांपते हुए अपनी व्यथा निवेदित की ओर अपने रक्षक दिक्पालों की असमर्थता को प्रकट करने के लिये चारों ओर दिशाएं धूलि पटल से ढकी दिखाई दीं ॥३३॥

अथ प्रधानयुद्धारम्भे श्रीरामविजयार्थ-प्रार्थनामाह —

रक्षोरक्षात्! प्रक्षेत्यभिदधुरमराः

सत्सपर्याः, स पर्या-

णंनन्ति स्माऽमरेशो मनसि तदुदिता-

ऽभीप्सितार्थेप्सयेव।

केचिन्मन्त्रान् प्रजेपू रघुवरविजय-

प्राप्तये, योगिनस्तु

चिद्-रूपं स्म स्मरन्ति, स्मरारिपुमपरे,

भानुमन्ये, परेऽम्बाम् ॥ ३४॥

संती शोभना सपर्या पूजा येषां ते अमराः। 'रक्षोरक्षात् राक्षसपालकाद् रावणात् प्रक्ष पालय' इति अभिदधुः ऊचुः। राममिति शेषः। स प्रसिद्धः अमरेश इन्द्रः। तैरमरैः उदितस्य उक्तस्य अभीप्सितस्य अर्थस्य कार्यस्य ईप्सया प्राप्तुमिच्छयेव। मनसि पर्याणंनन्ति स्म परि समन्तात् पुनः पुनः आनमति स्म। केचित् रघुवर-विजय-प्राप्तये मन्त्रान् प्रजेपुः। योगिनस्तु चिद्रूपं परब्रह्म स्मरन्ति ध्यायन्ति स्म। अपरे केऽपि स्मरारिपुं शिवम्, अन्ये भानुं सूर्यम्, परे अन्ये अम्बां देवीम्। स्मरन्ति स्मेति सैव क्रियाऽन्वीयते। स्रग्धरावृत्तम् ॥३४॥

प्रधान युद्ध के प्रारंभ में राम की विजय के लिये प्रार्थना —

अर्थ— कितने ही देवता राम की प्रार्थना कर रहे थे - हे प्रभो! राक्षसों के स्वामी रावण से हमारी रक्षा करना। कई बार बार राम की जीत के लिए जप कर रहे थे। योगी चिद्रूप परब्रह्म का ध्यान लगाये थे। कोई शिव की, कोई सूर्य की और कोई जगदम्बा की याद कर राम की विजय के लिये प्रार्थना कर रहे थे ॥३४॥

द्वाभ्यां रामस्य कुम्भकर्णेन सह संग्रामं तद्वधं च निर्दिशति—

द्रक्ष्यन्तो घटकर्ण-काय-नगरं

कीशा मुखद्वारतो

यन्तोऽन्तःस्थित-हृन्निधीक्षणपरा

वक्षोऽग्रहट्टं गताः।

तिर्यग्बाहु-विपण्युपात्तधमनी-

पण्याः प्रवेशावृतेः।

पुण्याद् रामशरक्षताङ्गपथतः

कर्णान्नसश्चागमन् ॥ ३५॥

घटकर्णः . कुम्भकर्णः तस्य काय एव अतिविशालत्वेन नगरं तद्। द्रक्ष्यन्तः दर्शनं करिष्यन्तः। कीशाः कपयः। मुखद्वारतः मुखद्वारा। यन्तः गच्छन्तः। अन्तर्मध्ये स्थितस्य हृदः हृदयस्य एव निधेः निधानस्य ईक्षणे दर्शने पराः रताः सन्तः। वक्षः उरस्थलम् एव अग्रहट्टं प्रधानक्रयविक्रयस्थानं गताः। तिर्यक् तिरश्चीनौ यौ बाहू तौ एव विपणी पण्यवीथ्यौ ततः उपात्तानि गृहीतानि धमन्य एव पण्यानि क्रय्यवस्तूनि यैस्ते तथाभूताः। प्रवेशस्य प्रवेशद्वारस्य मुखस्येत्यर्थः। आवृतेः कुम्भकर्णकृताऽवरणकारणात्। पुण्यात् पुण्ययोगात्। रामस्य शरैः क्षतानि क्रित्तानि यानि अङ्गानि तानि एव पन्थानस्तेभ्यः। कर्णात् श्रवणद्वाराद्। नसः नासाद्वाराच्च सर्वत्राऽपायेऽपादानं विवक्षितम्। आगमन् निरगमन्नित्यर्थः ॥ ३५॥

दो श्लोकों में राम-कुंभकर्ण के युद्ध का वर्णन व कुंभकर्ण का वध —

अर्थ— कुंभकर्ण एक पूरे नगर की तरह था। वानर उसके मुख द्वार से घुस रहे थे। हृदय ही मानों उसका प्रधान स्थान था, उरस्थल इस नगरी का बाजार था। जहाँ, क्रय-विक्रय हो रहा था दो भुजाएं बाजार की गलियां थीं। वहाँ से वानरों ने धमनियों को ग्रहण किया, जैसे क्रय पदार्थ हो।

राम के बाणों से कुंभकर्ण के शरीर में जगह जगह घाव हो गये थे- नये नये द्वार बन गये थे-जिनसे बन्दर बाहर आ रहे थे॥३५॥

रुष्टोऽतीव स कुम्भकर्ण इषुभिः,
शैलः शिलौघैरिवे-
षाः, श्रीराम-पतत्कलम्बवितती-
श्चक्रेतरां खण्डशः।
क्व क्षुद्रा विशिखाः क्व चाद्रिगुरु वा
वर्ष्मेति मत्येशिता-
चित्-सङ्गेन विमोहजं तम इवै.
न्द्रास्त्रेण तं ध्वस्तवान्॥ ३६॥

अतीव रुष्टः रामशरप्रहारैः कुपितः स कुम्भकर्णः। इषुभिर्बाणैः। श्रीरामस्य ये पतन्तः कलम्बाः शराः तेषां वितती: पङ्क्तीः खण्डशः कृतवान् खण्डितवान्। अत्रोपमिमीते —शैलः पर्वतः शिलौघैः प्रस्तरसमूहैः ईषाः हलदण्डानिव क्षुद्राः कुम्भकर्णशरीर-लक्ष्मीकरणे क्षुद्रतां गताः विशिखा (मदीयाः) बाणाः क्व? अद्रिगुरु पर्वतविशालं वर्ष्म (एतदीयं शरीरं) च क्व? नैतच्छरीरयोग्या एते विशिखा इति भावः। अत्र विरूपयोः संघटनाद् विषमम्। इति एवम्। ईशिता प्रभुः श्रीरामो मत्वा ज्ञात्वा। चित्-सङ्गेन चित्स्वरूपज्ञानयोगेन विमोहजं तमः मोहान्धकारमिव। ऐन्द्रेण इन्द्रदेवताकेन अस्त्रेण। तं कुम्भकर्णम्। ध्वस्तवान् नाशितवान्। अद्रितुल्यशरीरनाशाय ऐन्द्रास्त्रप्रयोगस्य औचित्यं दर्शितम्॥३६॥

अर्थ— राम के बाणों के प्रहार से रुष्ट होकर कुंभकर्ण आगे बढ़ा राम के बाण पत्थर की तरह थे और कुंभकर्ण पहाड़ की तरह था जिससे टकराकर वे बाण चूर चूर होकर गिर पड़े। अर्थात् राम के बाणों से कुंभकर्ण का कुछ नहीं बिगड़ा। ऐसा लगा जैसे पहाड़ से टकराकर पत्थर खण्ड-खण्ड हो गये हैं। फिर राम ने विचार कर इन्द्र द्वारा प्रदत्त ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग कर कुंभकर्ण का वध किया। - जैसे चित्-ज्ञान के द्वारा मोह का घना अंधेरा मिटा हो॥३६॥

अथ चतुर्भिर्लक्ष्मणेन्द्रजितो युद्धं वर्णयति —

नागान् सिंह इव द्युसद्-बलपतीन्
विद्राव्य, दिध्वंसिषु-
र्यश्शक्रं प्रतिसिंहमुत्कटमिवा-
ऽऽक्षिप्यद् रणारण्यतः।
चापं संघटयञ्शरेण मृगया-
सङ्गीव तं लक्ष्मणो
विक्रम्येन्द्रजितं क्रमाक्रमपटुः
प्रागल्भत ध्वंसितुम्॥३७॥

यः (इन्द्रजित्)। सिंहः नागान् गजानिव, द्युसदां देवानां बलपतीन् सेनापतीन्। विद्राव्य पलायनं कारयित्वा। उत्कटं मत्तं प्रतिसिंहं प्रतिस्पर्धिनं सिंहमिव शक्रम् इन्द्रं दिध्वंसिषुः ध्वंसितुमिच्छुः (तं) रणारण्यतः युद्धरूपवनात्। आक्षिप्यत् आक्षिप्तवान्। अपमान-पूर्वकम् अपासारयदित्यर्थः। तम् इन्द्रजितं- शरेण चापं संघटयन् योजयन्। मृगयासङ्गी आखेटरसिक इव। क्रमेण य आक्रम आक्रमणं तत्र पटुश्चतुरः लक्ष्मणः। विक्रम्य युद्धोचितं विक्रमणं दर्शयित्वेत्यर्थः।। ध्वंसितुं मारयितुं प्रागल्भत प्रागल्भ्योऽभूत्॥३७॥

चार श्लोकों में लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध का वर्णन —

अर्थ—जिस (इन्द्रजित्) ने सिंह की तरह देवतारूपी हाथियों को भगा दिया था और सिंह तुल्य इन्द्र को भी युद्ध के वन से खदेड़कर इन्द्रजित् की उपाधि धारण की थी- ऐसे मेघनाद पर लक्ष्मण ने बाण का संन्धान किया - जैसे किसी शिकार के रसिक ने वन्य जीवों पर आक्रमण किया हो। इन्द्रजित् इस आक्रमण की प्रचण्डता से कांप गया। इससे लक्ष्मण का रण-कौशल प्रकट हुआ॥ ३७॥

धन्यो धन्विधुरन्धरोऽयमिह नो
विश्राम्यति, श्राम्यति
वाणाग्निप्रतिवर्षणैर्न किमपी-
ति ज्ञातवानिन्द्रजित्।
नित्यासह्यविषाऽहि-पाशनिगडे-
नोत्पाशयामास तं,
यं सेसेवति वासुकिप्रभृतयो,
दैवी विचित्रा गतिः॥३८॥

धन्विषु धनुर्धरेषु धुरन्धरः। अत एव धन्यः। अयं लक्ष्मणः नो विश्राम्यति विश्रामं न प्राप्नोति।वाणा एवाऽग्नयः तेषां प्रतिवर्षणैः किमपि किंचित् न श्राम्यति नो श्रमं प्राप्नोति। इति ज्ञातवान् विदितवान् इन्द्रजित्। तं लक्ष्मणम्। नित्यं न सोढुं शक्यः विषः येषां ते तथोक्ता ये अहयः सर्पाः तेषां पाशः स एव निगडो बन्धनशृङ्खला तेन उत्पाशयामास उद्‌बबन्ध। ये (लक्ष्मणम्) वासुकिप्रभृतयः सर्पराजादयः सेसेवति पुनः पुनरतिशयेन वा सेवन्ते । अनेन लक्ष्मणस्य शेषावतारत्वं ज्ञापितम् अत एवोक्तमर्थम् अर्थान्तरेण समर्थयते- दैवी गतिः विचित्राऽस्तीति शेषः॥३८॥

अर्थ— लक्ष्मण धनुर्धरों में श्रेष्ठ है, अतः धन्य है। वह अविश्रान्त भाव से शर प्रहार कर रहा है बाणाग्नि की वर्षा करता हुआ लक्ष्मण जरा भी थक नहीं रहा है। मेघनाद ने सांपों के पाश से लक्ष्मण को बांध दिया इससे लक्ष्मण का शेषावतार ध्वनित है। जिस लक्ष्मण की वासुकि आदि नागराज सेवा करते हैं वही लक्ष्मण आज नागपाश से बंध गये यह दैव गति बडी विचित्र है, इसके आगे किसी का वश नहीं चलता॥३८॥

भक्तोऽयं निजभक्तहृत्-सुरनगा-
ऽऽरामस्य रामस्य वा
विष्णोः संततसेवयाऽतुलकृपा-
पात्रीति गत्वाऽहिभुक्।
यन्त्री यन्त्रिततूलबन्ध- निगडं
संदंशकेनेव तं
तिर्यक्-चञ्चुपुटेन मङ्क्षु निशिते-
नैकेकशश्छातवान्॥३९॥

निजभक्तानां हृदः मनांसि सुरनगाः कल्पवृक्षाः तेषाम् आरामस्य उद्यानभूतस्य रामस्य लक्ष्मणत्वेनेति भावः। वा अथवा। विष्णोः विष्णुस्वरूपस्य भगवतः। शेषत्वेनेति भावः अतुलकृपापात्री असदृशानुग्रहभाजनं भक्तोऽयं लक्ष्मणः। इति हेतोः। अहिभुक् गरुडः गत्वा। "केकिताक्ष्यावहिभुजौ" इत्यमरः। तम् अहि-पाशनिगडम्। निशितेन तीक्ष्णेन चञ्चुपुटेन। मङ्क्षु शीघ्रम् एकैकशः एकमेकम् इत्यनेन मुख्यस्य लक्ष्मणस्य अन्येषां च तदनुगामिनां सैन्यानां पाशमिति व्यक्तम्। छातवान् छिन्नवान् "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इति वेत्त्वम्। "निशितेन," "छातवान्" इत्युभयथोभयोर्धात्वोरुदाहरणं दर्शितम्। अत्रोपमिमीते- यन्त्री यन्त्रं कार्य-सौकर्य-साधनं (मशीन) इति प्रसिद्धमस्यास्तीति सः जनः। यन्त्रितो यन्त्रद्वारा बद्धो यः तूलबन्धनिगडः पिचुपाशबन्धः तं संदंशकेन संदंशनोपकरणेन इव॥३९॥

अर्थ— श्री लक्ष्मण राम के परम भक्त हैं। ये राम के हृदयरूपी नन्दनवन में कल्पतरु की तरह सदा बसे हुए हैं और शेषनाग -स्वरूप होने से भगवान् विष्णु के भी अनुपम-अनुग्रह के पात्र है। यह जानकर गरुड जी ने वहाँ जाकर अपनी चोंच से नाग पाश को छिन्न-भिन्न कर दिया। जैसे कोई मशीन का ज्ञाता कहीं लोहे की बेड़ी जड़ी हुई हो तो उसे काट देता है - उसी प्रकार लक्ष्मण पाशमुक्त हुए ॥३९॥

पश्चादानम्य सुप्तोत्थित इव रघुपं

तेन चाशासितो द्राक्

तिष्ठन्नाह्वास्त युद्धे बलभिदिव बलं

लक्ष्मणो रावणिं तम्।

व्रक्ष्यंस्तद्बाणवृष्टीरयमपि युयुधे

कोटिभिश्चाशुगानां

ताः सौमित्रिस्त्वमृष्यन्ननयत निधनं

शक्रशस्त्रेण शत्रुम् ॥४०॥

पश्चात् तदनन्तरम्। सुप्तोत्थितः पूर्वं सुप्तः पश्चादुत्थितः स इव। लक्ष्मणः। रघुपं श्रीरामम् आनम्य अभिवाद्य। तेन रघुपेण चाशासितः आशिषा योजितः। द्राक् शीघ्रं युद्धे रणक्षेत्रे तिष्ठन् सन् बलभिद् इन्द्रः बलं तदाख्यं दैत्यमिव। तं रावणिम् इन्द्रजितम् आह्वास्त सस्पर्धम् आहूतवान्। स्पर्धायां तङ् । अयं रावणिरपि। तस्य लक्ष्मणस्य बाणवृष्टीः आशुगानां बाणानां कोटिभिः। व्रक्ष्यन् छेत्स्यन्। आशुगानां वायूनां कोट्या उत्कर्षेण च वृष्टिश्छिद्यत एव। "आशुगौ वायुविशिखौ," कोट्युत्कर्षाटनीसंख्याऽस्रिषु" इति च कोशः। सौमित्रिर्लक्ष्मणस्तु ताः आशुगकोटीः। अमृष्यन् असहमानः सन् शक्रशस्त्रेण इन्द्रास्त्रेण शत्रुम् इन्द्रजितम् निधनं नाशम्। अनयत नीतवान्॥ ४०॥

अर्थ— लक्ष्मण सोते से उठे। उन्होंने राम को प्रणाम किया। राम की आशिष पाकर वे इन्द्रजित् से युद्ध करने शीघ्र ही चल पड़े। लक्ष्मण ने बाणों की वर्षा की। मेघनाद ने अपने बाणों से उन्हें काट दिया। अंत में लक्ष्मण ने इन्द्रास्त्र का प्रयोग कर मेघनाद को युद्धभूमि में मार दिया॥ ४०॥

इन्द्रजिति मृते रावणमन्दोदर्योश्चतुर्भिः संवादमाह—

नष्टं पुत्रमवेत्य राक्षसपति-

र्वाष्पाणि गाढं मुमो-

चाग्निं मन्युसमुद्भवं प्रकटयन्

मित्रेष्वमित्रेष्वपि।

नित्यं शुभ्रदती चिखेद रुदती

मन्दोदरीतस्तदा,

जंजन्ये त्वसुता भवेयमथ ना-

ऽवीरेति साऽऽह प्रियम् ॥४१॥

राक्षसपती रावणः पुत्रमिन्द्रजितं नष्टम् अवेत्य ज्ञात्वा। मित्रेषु सुहृत्सु अपि च अमित्रेषु शत्रुषु। मन्युसमुद्भवं शोकसंभवं क्रोधसंभवं च। अग्निं प्रकटयन् गाढं वाष्पाणि अश्रूणि मुमोच। मित्रेषु शोकाग्निम् अमित्रेषु च क्रोधाग्निं प्रकटयन् अश्रूणि मुमोचेति भावः। शोकक्रोधयोरश्रुपात उचित एव। अत्र 'हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता'' इति तुल्ययोगिता-लङ्कारः। इतः कारणात्। तदा रुदती शुभ्रदती श्वेतदन्ती 'अग्रान्तशुद्धशुभ्र०'' इत्यादिना दन्तस्य दतृ। मन्दोदरी नित्यम् अविरतं चिखेद दुःख्यति स्म। असुता निष्पुत्रा तु जंजन्ये पुनः पुनर्जाये। अथ पुनः। अवीरा निष्पतिसुता न भवेयं नहि स्याम्। इति कारणात्। सा मन्दोदरी प्रियं वल्लभं रावणम् आह ऊचे॥४१॥

अर्थ— अपने पुत्र की मृत्यु को सुनकर रावण क्रोध व शोक से भर गया। उसके नेत्रों से शत्रुओं के लिये क्रोध के आँसू और मित्रों के लिये शोकाश्रु एक

साथ गिरे। मन्दोदरी बहुत व्याकुल होकर रोने लगी। मन्दोदरी रावण से अंत में कहने लगी- मैं सारे पुत्रों से वंचित हो जाऊं तो पुनः उत्पन्न कर सकती हूँ, परन्तु पतिरहित नहीं होऊँ ॥४१॥

भर्तर्मां बिभृया व्यथाब्धिपतितां,

भार्याऽस्मि, भर्ताऽसि यद्

यं ह्युद्दिश्य सुतं मिथो बहुमतौ

संबोधयावो, न सः।

किं शुश्रूषस एव मां चटुविधौ,

पथ्यं न शुश्रूषसे,

चिन्मात्रामिव चिन्मयाय, दिश तां

रामाय रामप्रियाम् ॥४२॥

हे भर्तः प्रिय! व्यथा पुत्रमरणजन्या पीडा सैव अब्धिः समुद्रस्तत्र पतितां मग्नां मां विभृयाः पुषाण रक्षेत्यर्थः। यद् यतः। त्वं भर्ता पतिः भरणशीलोसि। अहं भार्या पत्नी भर्तुं योग्याऽस्मि। यं हि सुतं पुत्रम् इन्द्रजितम् उद्दिश्य निमित्तीकृत्य तन्नामव्यपदेशेनेति भावः। बहु-मतौ इन्द्रजित्- मातापितृत्वेन बहुमानं प्राप्तौ आवाम्। मिथः परस्परं संबोधयावः आमन्त्रयावः। भो इन्द्रजित्पितः! अयि इन्द्रजिन्मातः। इत्येवंरूपेणेति भावः। स इन्द्रजित् न नो विद्यते इत्यर्थः। किं मां चटुविधौ प्रेम्णा मिथ्या-प्रशंसन एव शुश्रुषसे सेवसे पथ्यं हितं न शुश्रूषसे नो श्रोतुमिच्छसि। चिन्मयाय चित्स्वरूपाय ब्रह्मणे चिन्मात्रामिव चित् संपत्तिमिव। रामाय तां रामप्रियां सीतां दिश प्रत्यर्पय। येन त्वज्जीवन- संभवात् दुःखाब्धितो मम भरणम् (उद्धरणं) संभवेदिति भावः ॥४२॥

अर्थ— हे पतिदेव ! मैं पुत्र की मृत्यु के कारण शोक-सागर में डूब रही हूँ। मेरी रक्षा करें। आप भर्ता हैं-भरण पोषण कर्ता हैं। मैं भार्या हूँ, भरणयोग्य हूँ। यह मेघनाद हम दोनों को गौरव प्रदान करने वाला था। मैं इन्द्रजिन्माता और आप इन्द्रजित्पिता रूप से ख्यात थे। अब मेरी प्रिय वाणी के साथ हितवाणी भी सुनियें।

जैसे जित्स्वरूप ब्रह्म के पास चित् हमेशा रहती है, उसी प्रकार राम के पास नित्य रहने वाली सीता को सौंप दीजिए। इसी में हमारा कल्याण है,॥४२॥

नाप्तुं पारयति द्युतिं द्युतिनिधेः

प्रज्ञामिव ज्ञानिनः,

सुप्रीतोऽस्तु हृदा हृतेति कथयन्,

भोक्तुं तु शक्नोति नो।

मज्जेद् दुर्गतिवारि मज्जितजनो

दुष्कर्णधारो यथा

जन्मापार्थकतां दधत् परतरु-

ण्यासक्त इन्द्रोऽपि सन् ॥४३॥

सीता-हरणं भ्रममात्रमेव भोक्तुमशक्यत्वादिति दृष्टान्तपूर्वकं ज्ञापयति-हृता (मया सीता) अपहृता इति कथयन् भवानिति शेषः। हृदा हृदयेन सुप्रीतः संतुष्टोऽस्तु । तु परन्तु भोक्तुं तु न शक्नोति। प्रकृतिरूपायाः सीताया आप्तुमशक्यत्वादिति भावः। अत्रोपमापूर्वकं दृष्टान्तवाक्यमाह- ज्ञानिनः मोक्षविषयकबुद्धि-शालिनः प्रज्ञां मोक्षविषयां बुद्धिमिव। द्युतिनिधेः सूर्यस्य द्युतिं कान्तिम् आप्तुम् अधीनीकर्तुं न पारयति नो शक्नोति । जन्मनः अपार्थकता निष्फलता तां दधद् धारयन्। पर-तरुण्यां परस्त्रियाम् आसक्तः इन्द्रोऽपि सन् भवन्। मज्जितजनः व्रीडिताऽऽश्रितलोकः आश्रित-जननिमज्जनपूर्वकमिति भावः। दुर्गतिः नरकः सैव वार्जलं तत्र मज्जेत मग्नो भवेत्। अत्रोपमिमीते- यथा दुष्कर्णधारः कुनाविकः। सोऽपि उकारमात्राच्युतकेन परतरण्यासक्तः संलग्नः सन् आश्रितजनमज्जनपूर्वकं दुर्गतिः दुष्टा गतिः दशा यत्र कर्मणि तत्तथा वारि जले मज्जत्येव ॥४३॥

अर्थ— 'सीता का हरण हुआ है' यह भ्रम मात्र है।' आप चाहे अपने को धोखा देकर इस भ्रम को बनाये रखें। आप उसे भोग नहीं सकेंगे। प्रकृतिरूपा सीता हमेशा परम पुरुषरूपी राम के पास नित्य ही है।

जैसे सूर्य से उसकी प्रभा, ज्ञानी से उसकी प्रज्ञा दूर नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सीता राम से दूर नहीं की जा सकती है। जैसे कोई कितना ही कुशल कर्णधार हो, अपनी नौका पर बैठकर दूसरी नौका पर ध्यान रखता है तो वह अवश्य डूब जाता है। वह कर्णधार इस रूप में दुष्कर्णधार हैं इसी प्रकार जो दूसरे की स्त्री में आसक्त है, वह नरकगामी है। चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो ॥४३॥

तिष्ठेत् को मम संमुखे रण-मुखे,
यात्याशु मृत्योर्मुखे,
जन्माद्यावधि तादृगाप दिवि नो,
किं वानरा वा नराः।
तत्तुल्यांस्तनयान् पुनर्जनयिवः
शक्तोऽस्मि, ते किं प्रियेऽ-
वः सोऽहं जगतामिति प्रलपति
स्मासन्नमृत्युः पतिः ॥४४॥

अर्थ— रणमुखे युद्धोपाये। "मुखं निस्सरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि। संध्यन्तरे नाटकादेः शब्देऽपि च नपुंसकम् ॥" इति मेदिनी। मम संमुखे कः तिष्ठेत् स्थातुं शक्नुयात्? न कोऽपीति भावः। शकि लिङ्। आशु शीघ्रम्। मृत्योः मुखे वदने याति गच्छति। अधिकरणविवक्षायां सप्तमी। तादृक् । तादृशः यो मम संमुखे रणमुखे तिष्ठेत् स इत्यर्थः। अद्यावधि दिवि स्वर्गे नो जन्म आप जात इत्यर्थः। वानरा कपयः वा अथवा नराः मनुजाः किम्? तेषां तु का नाम कथेत्यर्थः। तत्तुल्यान् तस्य इन्द्रजितः तुल्यान् सदृशान् तनयान् पुत्रान् पुनः जनयितुम् उत्पादयितुं शक्तः समर्थोऽस्मि। हे प्रिये मन्दोदरि! ते तव किम् अवः रक्षकः। 'त्वं मे भर्तासि' इत्यस्योत्तरमिदम्। सोऽहं रावणः जगतां लोकानाम् अवो रक्षकोस्मीति शेषः। इति एवम्। आसन्नमृत्युः प्रत्यासन्नमरणः पतिः मन्दोदर्या इति भावः। रावणः प्रलपति स्म अनर्थकं वक्ति स्म ॥४४॥

रावण यह सुनकर गर्वित हो अपनी प्रशंसा करता हुआ और मन्दोदरी को आश्वासन देता हुआ कहने लगा -

मेरे सामने रण-भूमि में कौन ठहर सकता है? वह तो शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। आज तक स्वर्ग के देवता भी भयभीत है, फिर बेचारे ये नर या वानर किस खेत की मूली हैं। और मैं इन्द्रजित् के समान पुत्रों को फिर भी पैदा कर सकता हूँ। ऐसा मैं रावण हे प्रिये! तेरा रक्षक नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोकों का रक्षक हूँ। मन्दोदरी समझ गई-यह आसन्नमृत्यु पति का प्रलाप है॥ ४४॥

अथ चतुर्भिर्लक्ष्मणरावणयोर्युद्धमाह—

नष्टो मे पुत्र एतद्धत इति सरुषा
लक्ष्मणो रावणेन
वाणाङ्गारान् विकीर्णाञ् शरकरकसृजा-
ऽनेष्ट निर्वाणतां द्राक्।
तस्मिञ् शक्तिं स्वशक्तिं सतनुमिव समु-
ज्जृम्भि-संरम्भ-दम्भो
जम्भारौ वृत्र - दैत्योत्तम इव तरसा-
ऽक्षिप्त रक्षोऽधिराजः ॥४५॥

एतेन लक्ष्मणेन हतो मे पुत्र इन्द्रजिद् नष्ट इति कारणात्। सरुषा सक्रोधेन। रावणेन विकीर्णान् प्रक्षिप्तान् बाणानेव अङ्गारान्। लक्ष्मणः शरा एव करका वर्षोपलाः। 'वर्षोपले तु करका करकोऽपि च दृश्यते' इत्युक्तेः पुंस्यपि। तेषां सृजा वर्षणेन। भावे क्विप्। द्राक् शीघ्रम्। निर्वाणतां शान्तिम् अनेष्ट। अशमयदित्यर्थः।

बाणश्च निर्वाणतां बाणराहित्यम् अनेष्टेत्यपि ध्वनितम्। 'निर्वाणोऽवाते' इति तस्य नत्वम्। समुज्जृम्भी वर्धिष्णुः सरम्भः क्रोधः दम्भः कपटं च यस्य स तथोक्तो रक्षोऽधिराजः रावणः। तस्मिन् लक्ष्मणे। जम्भारौ इन्द्रे वृत्रः दैत्योत्तमः असुरवर इव। तरसा शीघ्रम्। सतनुं शरीरधारिणीं स्वशक्तिम् आत्मीयसामर्थ्यमिव शक्तिम् अस्त्रविशेषम्। अक्षिप्त अक्षिपत्। वृत्तं स्रग्धरा ॥४५॥

चार श्लोकों में लक्ष्मण-रावण युद्ध का वर्णन —

अर्थ— इस लक्ष्मण ने ही मेघनाद का वध किया है यह जानकर क्रोध में भरकर रावण ने बाणों के रूप में अग्निवर्षा की, पर लक्ष्मण के बाण करकों (ओलों) की तरह थें- जिन की मार से वे चिनगारियां बुझ गई। यानी इनका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

इससे बहुत क्रुद्ध होकर रावण ने लक्ष्मण पर अपनी पूरी शक्ति लगाकर शक्ति का प्रहार किया जैसे इन्द्र पर वृत्रासुर ने शक्ति का प्रहार किया था ॥४५॥

भग्नाशस्तस्य मूर्च्छां रघुकुलतिलको
वीक्ष्य गाढं व्यलापीद्
यं लब्ध्वाऽरण्यवासेऽस्मरमहमहहा-
ऽहो न कस्यापि बन्धोः।
किं वक्ष्येऽहं सुमित्रां मिमिलिषुमनुना
हारयित्वा तमेनं,
चिन्वन्तु द्राक् चितां भोः! कुविधि कुविधिना
सूचितां सूचितां मे ॥४६॥

तस्य लक्ष्मणस्य मूर्च्छा शक्तिप्रहारजनितामिति भावः। वीक्ष्य दृष्ट्वा भग्नाशः तज्जीवनाशा-रहितः रघुकुलतिलको रामो गाढं निर्भरं व्यलापीत् विललाप- अहह इति दुःखे। अहो इत्याश्चर्ये। यं (लक्ष्मणं) लब्ध्वा प्राप्य। अरण्यवासे वनप्रवासे अहं कस्यापि बन्धोर्बान्धवस्य न अस्मरम्। 'अधीगार्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी। अहं तम् एनं लक्ष्मणम् हारयित्वा व्यपगमय्य। अमुनां अनेन (सह) मिमिलिषुं मेलितुमिच्छुं सुमित्रां किं वक्ष्ये कथयिष्यामि। भोः! हे वानरा इति शेषः। कुविधिना दुर्दैवेन कुविधि दुर्विधानं, यथा स्यात् तथा। सूचितां ज्ञापितां सुचितां सु-युक्ताम्। मे मदर्थम्। तादर्थ्ये चतुर्थी। द्राक् शीघ्रम्। चितां चिन्वन्तु रचयन्तु ॥४६॥

अर्थ— शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये यह देखकर राम हताश हो गये और गहरा विलाप करते हुए कहने लगे- हे वानरों! वनवास के समय जो मेरे साथ रहा, ऐसे भाई लक्ष्मण को खोकर मैं किस मुँह से अयोध्या जाऊंगा। वहां मिलने के लिये इच्छुक सुमित्रा को मैं क्या उत्तर दूंगा। दुर्दैव की यह लीला। अब मेरे लिए चिता बनाओ ॥४६॥

नाथं तं विलपन्तमाश्विव नय—

न्नाशां सुषेणोऽब्रवीत्,
पिण्डेऽसाध्य इहामयो न, हनुमान्
शैलौषधीरानयेत्।
ज्वल्यासुस्तव शत्रवः सह शुचा
शीघ्रं चितायां प्रभो,
रक्ष्याल्लक्ष्मणमक्षता तव कृपा
श्रेयःसुधावर्षिणी ॥४७॥

विलपन्तं तं नाथं रामम् आशु शीघ्रम्। आशां नयन् प्रापयन्निव। सुषेणः तदाख्यो वानरो वैद्यवरोऽब्रवीत्-इह अस्मिन्। पिण्डे शरीरे। लक्ष्मणस्येति शेषः। 'पिण्डो बोले बले सान्द्रे देहागारैकदेशयोः। देहमात्रे निवापे च गोलसिह्लकयोरपि॥' इत्यादि मेदिनी। आमयः शक्तिप्रहारजन्यो रोगः। असाध्यः चिकित्सितुमशक्यः, न। किन्तु साध्य एवेति भावः। तदुपायदिग्दर्शनमाह-हनुमान् शैलौषधीः पर्वतीया ओषधीः

आनयेत् आनेतुं शक्नोति। अत उपचारोऽपि साध्य एवेति भावः। उत्तरार्धेन आशासयति-हे प्रभो! तव शत्रवः शुचा (अनेन) शोकेन सह।[1] चितायां शीघ्रं ज्वल्यासुः दाहं प्राप्नुवन्तु। श्रेयः कल्याणमेव सुधाऽमृतं तद्वर्षिणी। मृतप्रायेऽमृतवर्षणमुचितमेव। अक्षता अखण्डिता तव कृपा लक्ष्मणं रक्ष्यात् पालयतात्॥४७॥

अर्थ— विलाप करते हुए राम के पास शीघ्र ही वैद्यप्रवर सुषेण लाये गये। वे कहने लगे- 'इसके शरीर में शक्ति के प्रहार से उत्पन्न रोग है। यह रोग असाध्य है ऐसा नहीं, साध्य है। इसका उपाय है - हनुमान् पहाड़ से ओषधि लाने में समर्थ हैं। भगवान् को आश्वासन देते हुए कहा - प्रभो! आपके शत्रु इस प्रकार चिता बनाकर भस्म हो, आप नहीं। आपकी अमृत वर्षा (कृपा) से लक्ष्मण तो अक्षत होकर - जी उठेगा॥४७॥

कृत्वा रामपदाभिवादनमगाद्
वातिर्गरुत्मानिव
तं चानेष्ट समस्तमोषधिगिरिं
वायुर्यथा वारिदम्।
तञ्चेष्टौषधि-सेवनान्तमकरोत्
स्वस्थं सुषेणोऽञ्जसाऽ-
थाऽसावुत्थितवान् समं सखिमुदा
ज्येष्ठं तथाऽवन्दत॥४८॥

रामपदाभिवादनं कृत्वा वातिर्हनुमान् गरुत्मान् गरुड इव अगात् अगमत्। च पुनः। तं समस्तं परिपूर्णम् ओषधिगिरिं तन्निर्दिष्टम् ओषधिशैलम्। यथा वायुः वारिदं मेघम्। तथा आनेष्ट आनीतवान् सुषेणश्च तं लक्ष्मणम् ओषधिसेवनान्तम् ओषधिग्रहणोत्तरमित्यर्थः। अञ्जसा शीघ्रम्। स्वस्थं नीरोगमकरोत्। अथानन्तरम् असौ लक्ष्मणः सखिमुदा मित्रहर्षेण समं सह उत्थितवान् उदतिष्ठत। तथा ज्येष्ठं राममवन्दत प्राणमत्॥४८॥

अर्थ— राम के चरणों में प्रणाम कर हनुमान् गरुड के समान वेग से उड़ चले। बताये गए ओषधिगिरि पर पहुंचे। पहाड़ ही उठा लाये। जैसे हवा बादलों को ले आती है। उस ओषधि के सेवन से लक्ष्मण जी निरोग हो गये। मित्रों के हर्ष के साथ लक्ष्मण उठ खड़े हुए। राम के चरणों में प्रणाम किया॥४८॥

अथ सप्तभी रामरावणयोर्युद्धमाह—

नद्धाऽबद्ध-निजोद्धुरोद्धुरकटिः
क्रुद्धोऽन्त्ययुद्धेच्छया
चापे संदधदाशुगं त्रिगुणितं
सारक्तदृग्-भ्रूश्रिया।
पिप्पल्या इव पल्लवं स्वमधरं
बिभ्रच्चलं राघवः
क्षुद्-व्यात्तातिकरालवक्त्रकुहरः
कालोऽभ्यदीपीव सः॥४९॥

अन्त्ययुद्धेच्छया अन्तिमसंग्रामकामनया। युद्धनिर्णयायेत्यर्थः। नद्धा बद्धा अबद्धा अबद्ध पूर्वेत्यर्थः। निजा उद्धुरोद्धुरा सुदृढेत्यर्थः। कटि परिकरो येन सः। क्रुद्धः प्रकुपितः। सारक्तदृशौ ये भ्रुवौ तयोः श्रिया शोभया। चापे धनुषि। आशुगं बाणम्। त्रिगुणितं बाणस्थानीयेन दृग्-युगेनसहितस्य धनुःस्थानीयस्य भ्रूयुगलस्य श्रिया सह प्रकृत-धनुर्बाणायोजनया त्रिगुणात्मकं यथा स्यात् तथा संदधद् आयोजयन्। सारक्तदृग्भ्रूश्रिया बाणसहितधनुर्द्वयस्य विद्यमानत्वेऽपि तृतीयं धनुर्बाणसंधानं प्रकुर्वन्निति भावः। पिप्पल्याः वृक्षविशेषस्य पल्लवं किसलयमिव स्वमधरम् अधरोष्ठं चलं कम्पमानं बिभ्रत्। स राघवः। क्षुधा राक्षस-भक्षणबुभुक्षया व्यात्तं विस्फारितम् अतिकरालं वक्त्रकुहरं येन स कालो यम इव अभ्यदीपि सम्मुखे[2]

---

१. सहोक्तिः।

२. सावयवोपमेति भावः।

राजते स्मः। 'दीपजन-' इति चलेश्चिणि 'चिणो लुक्' इति तलोपः। श्रीरामस्य आततज्यं धनुः कालस्य क्षुधा व्यात्तं मुखमिवासीदिति भावः। रौद्रो रसः॥४९॥

सात श्लोकों में राम-रावण युद्ध का वर्णन —

अर्थ— राम ने अपनी कमर मजबूती से कसी। यह अंतिम युद्ध था, निर्णायक युद्ध था। राम ने अपने धनुष को दुगुना खींच कर बाण चढ़ाया। इधर उनकी भौंहे तन गई और रोष युक्त आंखे लाल हो रही थी। लगता है - यह धनुष त्रिगुणित हैं। दो प्रत्यंचा की डोरी और एक तनी हुई भौंहे। इधर राम के पिप्पल के नये पत्ते की तरह अधर पल्लव फड़क रहे हैं। राम इस प्रकार देदीप्यमान हो रहे थे, जैसे रावण को खाने के लिए साक्षात् यमराज ने अपना मुँह फाड़ा हो॥४९॥

भग्नाशो निजयत्ननिष्फलतया

क्रुद्धोऽन्त्ययुद्धेच्छया

यन्तारं त्वरयन् रथाभिघटने

कोदण्डमुद्दण्डयन्।

तन्वन्नात्मगुणस्तुतिं दशमुखः

प्रापत् प्रभोः संमुखं,

त्रस्ता प्रार्थयत त्रिलोकजनता

रामं तदैकस्वरम्॥५०॥

निजयत्नस्य शक्तिग्रहणरूपस्य निष्फलतया भग्नाशः आशारहितः क्रुद्धश्च। अन्त्ययुद्धेच्छया रथस्य अभिघटने संमुखीकरणे[१] यन्तारं सारथिम्। "यन्ता हस्तिपके सूते" इत्यमरः। त्वरयन्। कोदण्डं धनुः उद्दण्डयन् सज्जीकुर्वन्नित्यर्थः। आत्मनः स्वस्य गुणस्तुतिं प्रशंसां तन्वन् कुर्वन्। दशमुखो रावणः प्रभोः श्रीरामस्य संमुखं प्रापत्। तदा तस्मिन् समये त्रस्ता भीता रावणादिति भावः। त्रिलोकस्य जनता जनानां समूहः। रामम् एकस्वरम् एकोऽभिन्नः स्वरो वर्णाद्युच्चारण-ध्वनिविशेषः अकारमात्रस्वरश्च यत्र कर्मणि तत्तथा। प्रार्थयत् प्रार्थितवती। वक्ष्यमाणप्रकारेणेति भावः॥५०॥

अर्थ— इधर रावण भी अपनी शक्तिप्रहार के असफल होने से और अधिक क्रुद्ध होकर निर्णायक युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसने सारथी से कहा-रथ वेग से चलाओ। धनुष पर बाण चढ़ाकर वह चल पड़ा। अपनी प्रशंसा के पुल बांधता हुआ वह राम के सम्मुख युद्ध करने आया।

रावण को देखकर तीनों लोकों का जनसमूह एक स्वर से राम से प्रार्थना करने लगा।

विशेष —प्रार्थना में एक स्वर का ही प्रयोग है। यह एक स्वर का चित्र कवि की शक्ति का द्योतक है। अगले छन्द में सब जगह अकार (स्वर) का प्रयोग है।

नन्वयममलव्रतसदमत्रं

तस्करवदहरदपरकलत्रम्।

कथं न दण्ड्यः प्रतपनसत्रं?

रक्ष त्वं भगवन् यच्छत्रम्॥५१॥

एकस्वरचित्रम्।

ननु निश्चयेन। अयं रावणः। तस्करवत् चौर इव। अमलस्य निर्मलस्य व्रतस्य पातिव्रत्यस्वरूपस्य नियमस्य सत् सत्यं प्रशस्तं वा अमत्रं पात्रम्। 'पात्रामत्रं च भाजनम्' इत्यमरः। अपरस्य अन्यस्य (भवतः) कलत्रं पत्नीम् अहरत् अपानयत्। (तत) प्रतपनस्य पीडनस्य सत्रं सदादानम्। 'सत्रं यज्ञ सदादानच्छादना-रण्यकेतवे।' इति मेदिनी। अयमित्याकृष्यते। कथं न दण्ड्यः दण्डयितुं योग्यः। अपितुवश्यमेवेति भावः। भो भगवन्! श्रीराम! त्वं रक्ष पालय। अस्माद् रावणाद् अस्मानिति शेषः। यद् यस्मात् कारणात्। त्वं छत्रं रक्षकत्वेन च्छत्रभूतोऽसीति भावः। अन्त्यानुप्रासः। वृत्तं

[१]. रामस्येति भावः।

तु मात्रासमकप्रकरणान्तर्गतमूह्यम्। एकस्यैव अकार-मात्रस्य स्वरस्य प्रयोगविधानवशाच्चित्रं च। तच्च प्रागुक्तपद्यानुसारेण सहेतुकं ज्ञेयम् ॥५१॥

अर्थ— भगवन् ! यह रावण चोर की तरह दूसरे की स्त्री (सीता) को चुरा कर लाया है। सीता जी पतिव्रता-व्रत के कारण सत्य का पात्र है। हे राम! आप हमारी रक्षा करें इस दुष्ट से। आप छत्र हैं-रक्षक हैं। और रावण सदा ही दूसरों को पीडा देने वाला सदावर्त है। अतः क्यों नहीं दण्ड दिया जावे, अवश्य ही आप इसे दण्ड दीजिये। आपसे हमारी एक स्वर से यही प्रार्थना है। इससे हमारी रक्षा करो ॥५१॥

भल्लाभल्लि भुजाभुजि प्रयुयुधे

वृक्षापगारं क्वचिद्,

यन्त्रायन्त्रि च कुत्रचिद् भटवरै-

र्वक्षोविदारं क्वचित्।

तत्र प्रासिक-पार्शुकैर्न विरतं

शाक्तीक-धानुष्कतोऽ-

थाऽभूद् रोम-विहर्षणः किल रणः

सीतेशलङ्केशयोः ॥५२॥

क्वचित् कुत्रापि। भटवरैः योधश्रेष्ठैः। भल्लाः शस्त्रविशेषाः। 'भल्लः स्यात् पुंसि भल्लूके शस्त्रभेदे पुनर्द्वयोः।' इति मेदिनी। भल्लैर्भल्लैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं भल्लाभल्लि। 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति समासः। 'इच् कर्मव्यतिहारे' इतीच्। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदान्तस्य दीर्घः। तिष्ठद्गुप्रभृतिषु इच्पाठादव्ययी-भावत्वमव्ययं च। (क्वचित्) भुजयोर्भुजयोर्गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तमिति भुजाभुजि। (क्वचित्) वृक्षमपगूर्य उद्यम्य युध्यते तद् वृक्षापगारम्। 'द्वितीयायां च' इति णमुलि 'अपगुरो णमुलि' इति पाक्षिकमात्त्वम्। च पुनः। कुत्रचित् यन्त्रायन्त्रि यन्त्रं शस्त्रप्रक्षेपणसाधनविशेषः। तैस्तैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं यन्त्रायन्त्रि क्वचित्। वक्षोविदारं वक्षोविदारं कृत्स्नं वक्षोविदारयद्भिरित्यर्थः। 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्। प्रयुयुधे अयोधि। तत्र युद्धस्थले। प्रासाः कुन्ताःपर्शवः कुठाराश्च प्रहरणानि एषां ते तथोक्तैः। 'प्रहरणम्' इति ठक्। शक्तिः प्रहरणम् एषां ते शाक्तीकाः। 'शक्तियष्ट्योरीकक्' इतीकक्। धनुः प्रहरणमेषां ते धानुष्काः। ठकि इसुसुक्तान्तात्कः। तेभ्यः। न विरतं नहि विश्रान्तम्। किन्तु प्रासिकपार्शुकाः शाक्तीकधानुष्कैः सह युध्यमाना एवासन्नित्यर्थः। अथानन्तरम्। किलेति ऐतिह्ये सीतेश-लङ्केशयोः श्रीरामरावणयोः रोमविहर्षणः रोमाञ्चोदञ्चकः रणः संग्रामः। द्वन्द्वयुद्धमित्यर्थः। अभूत् ॥५२॥

अर्थ— कहीं भाले भालों से टकराये। कहीं भुजाएं भुजाओं से भिड़ी । कहीं वीर पेड़ों को उखाडकर-परस्पर लड़ रहे थे। वहाँ पर कुन्तधारी और परशुधारी योद्धा शक्ति और धनुषधारी योद्धाओं से लडते हुये विश्राम नहीं ले रहे थे और कही पर यन्त्रों से शस्त्र प्रक्षेप करने वालों के साथ यन्त्रधारी युद्ध कर रहे थे। राम और रावण का यह युद्ध रोमांचक था ॥५२॥

नह्यर्हत्यभियोद्धुमेष रथिनं

शत्रुं पदाभ्यामिति

गत्वा मातलिरिन्द्रनुत्त उचितं

नाथं रथेऽस्थापयत्।

रामो रावणमभ्यपातयदिषू-

न्क्षिप्त तत्रापि सोऽ-

णिष्ठं स्थानमपि व्यलोकि न जनै'

रिक्तं तदा रोदसोः ॥५३॥

एष रामः। रथिनं शत्रुं रावणम् पदाभ्याम् अभियोद्धुं नहि अर्हति युज्यते। इति कारणात् इन्द्रेण नुत्तः प्रेरितः मातलिरिन्द्रसारथिः गत्वा नाथं स्वामिनं रामं

रथे अस्थापयत् (इति) उचितं युक्तम्। रामो रावणम् अभि रावणमुद्दिश्येत्यर्थः। इषून् बाणान् अपातयत् अक्षिपत्। अपि पुनः। स रावणस्तत्र अक्षिप्त अपानयत्। इषूनित्याकृष्यते। तदा तस्मिन् काले। जनैः रोदसोः द्यावापृथिव्योः अणिष्ठं अल्पतममपि स्थानं रिक्तं शून्यं न व्यलोकि दृष्टम्। रामरावणकृतया शरवृष्ट्या उभयोराच्छादितत्वादिति भावः ॥५३॥

अर्थ— रावण रथ पर सवार है, राम पैदल युद्धरत हैं। यह देखकर इन्द्र ने मातली को रथ देकर राम के पास भेजा, उसने राम को रथ पर सवार होकर युद्ध करने को प्रेरित किया।राम रथारूढ हो गये। राम रावण पर रावण राम पर बाणों की बौछार कर रहे थे। धरती व आसमान में कहीं खाली जगह नहीं बची। चारों ओर बाणों के कारण दिशायें ढक गई ॥५३॥

चक्षुर्दिक्पतयो निमील्य ससृपु-
र्द्राक् कम्पितायां भुवि
राष्ट्राणि व्यथितानि, कन्दुककथां
प्राप्ताः कुलक्ष्माभृतः।
रामो रावणमद्वितीयमबुध-
त्तं सोऽपि घोराहवेऽ-
णिष्ठं चादधतुर्न विश्रममहो
तौ युध्यमानौ तदा ॥५४॥

भुवि भूमौ कम्पितायां सत्याम् दिक्पतय इन्द्राद्या दिक्पालाः। चक्षुर्नेत्रं निमील्य। लज्जयेति भावः। द्राक् शीघ्रम्। ससृपुः स्वस्वस्थाना-दपसस्रुरित्यर्थः। राष्ट्राणि जनपदाः व्यथितानि खिन्नानि। कुलक्ष्माभृतः कुलपर्वताः कन्दुककथां प्राप्ताः कन्दुका इव अचलन्नित्यर्थः। घोराऽऽहवे तस्मिन् भीषणे रणे रामः रावणम् अद्वितीयम् अनुपमम् अबुधत् अमन्यत्। अपि पुनः। स रावणः तं रामम् (अद्वितीयमबुधत्)। अहो आश्चर्ये। तदा युध्यमानौ तौ तौ रामरावणौ अणिष्ठम् अल्पतममपि च विश्रमं विरामं न आदधतुः चक्रतुः। अविरतं युध्यमानावेव आस्तामित्यर्थः ॥५४॥

अर्थ— पृथिवी काँपने लगी। भय से दिक्पालों ने आँखें मूंद ली। इस प्रकार अपनी असमर्थता दिखाकर लज्जा का अनुभव किया। सारे जनपद थर्रा उठे। रक्षा करने वाले कुल पर्वत गेंद की तरह उछलने लगे। राम ने रावण को, और रावण ने राम को अद्वितीय योद्धा माना, राम रावण का यह युद्ध अद्वितीय था - ऐसा कभी नहीं हुआ। इन दोनों ने पल भर विश्राम नहीं किया - लडते ही रहे ॥५४॥

धन्वैकाम्बुरथोऽर्कवंश्यतिलको
रामोऽरिनाशाम्बुधिं
न प्राभूत्तरितुं न, धर्मकुलयोः
किन्तु स्थितिं रक्षितुम्।
धाम्नां राशिमुपास्य तेन मुदिते-
नाज्ञापितः कार्मुके
न्यस्योद्भासि पितामहास्त्रमसृज-
च्चाध्वंसयद् रावणम् ॥५५॥

धन्व धनुरेव एकः अनन्यः अम्बुरथः पोतो यस्य सः। 'तरणो मेलके वारिरथो नौस्तरिकः प्लवः।' त्रिकाण्डशेषः। अर्कवंश्यतिलकः सूर्यवंशीयराज-शिरोमणिः। साकूतमिदं पदम्। रामः अरिः। शत्रू रावणस्तस्य यो नाशः स एव दुष्पारत्वादम्बुधिः समुद्रस्तम् तरितुं पारयितुं न प्राभूत् नो समर्थोऽभूत्, (इति) न। किन्तु तं तरितुं प्राभूदेव। किन्तु धर्मकुलयोः स्थितिं मर्यादां रक्षितुम् धाम्नां राशिं सूर्यमुपास्य स्तुत्वा।[1] तेन धाम्नां राशिना मुदितेन तुष्टेन आज्ञापितः

---

१. एषा स्तुतिस्तु परिशिष्टे द्रष्टव्या।

सन्। कार्मुके धनुषि। पितामहास्त्रं ब्रह्मास्त्रं न्यस्य आरोप्य असृजत् अक्षिपत्।च पुनः रावणम् अध्वंसयत्॥५५॥

अर्थ— सूर्यवंशशिरोमणि भगवान् राम के पास धनुष है - वही मानों नौका है, रावण का नाश ही मानों समुद्र है, राम उसे पार करने में समर्थ नहीं हुये, ऐसा नहीं, किन्तु उसे पार करने में समर्थ हुये किन्तु अपने धर्म और कुल की स्थिति की रक्षा करने के लिये राम ने अपने वंश के पूज्य सूर्य की वन्दना की, उनकी आज्ञा से अपने धनुष पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर उससे रावण को मार गिराया॥५५।

प्रेतानां शवान्तर्भ्रमणमाह—

युक्तं कीटककोटिभिः सरुधिरं
मांसं समेदः सहृत्-
तालु स्नायुशिरोपदंशमसकृद्
भुक्त्वाऽस्थि चर्वंश्चिरम्।
निर्यद्-दूषितगन्ध-पूय-पिटकः
सिङ्घाण-संघात-लिट्
चक्षुर्दर्शितदूषिकं चपलयन्
प्रेतः शवेष्वभ्रमत्॥५६॥

कीटकानां क्षुद्रकीटानां कोटिभिर्युक्तम्॥ ह्रस्वार्थे कन्। सरुधिरं समेदः वसासहितं सहृत्- तालु अग्रमांसतालुसहितं मांसम्। स्नायुः अङ्गप्रत्यङ्गसंधि-बन्धनरूपा। शिरा नाडी। ताभिः उपदंशम् उपदंशन-पूर्वकमित्यर्थः। 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इति णमुल्। 'तृतीया-प्रभृतीन्यन्यतरस्याम् इति पाक्षिकः समासः। असकृद् अनेकवारम्। भुक्त्वा खादित्वा। चिरं बहुकालम्। अस्थि चर्वन् चर्वणविषयीकुर्वन् सन्। निर्यत् निर्गच्छत् दूषितगन्धं पूयं व्रणादिनिर्गतो रुधिरविकारविशेषः यस्मात् तथोक्तः पिटकः स्फोटः यस्य स तथोक्तः। सिङ्घाणं नासामलं तस्य संघातं समूहं लेढीति तथोक्तः। दर्शिता दूषिका नेत्रमलं यत्र तत् चक्षुर्नेत्रं चपलयन् चञ्चलयन्। प्रेतः पिशाचविशेषः। जात्यैकत्वम्। शवेषु मृतशरीरेषु अभ्रमत्। स्वभा-वोक्तिः। बीभत्सो रसः॥५६॥

अर्थ— करोडों कीडो से युक्त, खून और चर्बी से युक्त, हृदय के अग्रभाग में स्थित मांस (कलेजी) और तालु से युक्त मृतशरीरों के मांस को स्नायु, और नाडियों को उपदंश (चबेना) के रूप में खाकर और बहुत समय तक हड्डियों को चबाते हुये, जिनके घावों से मवाद वह रही है, नाक के मल को चाटने वाले, नेत्रों के मल को मसलते हुये प्रेत-गण मृतशरीरों पर घूम रहे थे॥५६॥

श्रीरामस्य कृपालुतापरिचयं दर्शयति—

नित्याक्रन्दपरं द्विषां परिकरं
स्वालम्बदानेन सोऽ-
त्यंहोनाशनपूर्वकोत्तमपद-
प्रत्यर्पणेनाऽथ तान्।
प्रत्यानेष्ट विभीषणं सफलतां
राज्यप्रदानेन च
मुक्त्याऽऽगस्कृतमप्यहो दशमुखं
रामः कृपा-सागरः॥५७॥

स कृपा-सागरः रामः। नित्ये अनवरते आक्रन्दे स्वस्वनाथनाशजन्ये रोदने परं तत्परम्। द्विषां कुम्भकर्णादीनां शत्रूणां परिकरं परिवारम्। स्वस्य आत्मन आलम्बदानेन आश्रय-समर्पणेन। सफलतां प्रत्यानेष्टेति सर्वत्रान्वयेन संबन्धः। अथ पुनः। तान्

द्विषः। अत्यंहसां घोरपापानां यन्नाशनं तत्पूर्वकेण उत्तमपदस्य प्रत्यर्पणेन। विभीषणं च राज्यप्रदानेन। अहो इत्याश्चर्ये। आगस्कृतम् अपराधकारिणमपि। 'अतः कृकमि०' इति विसर्गस्य सः। दशमुखं रावणम् मुक्त्या मोक्षदानेन सफलतां प्रत्यानेष्ट सफलीचकार॥५७॥

श्रीराम की कृपालुता का परिचय—

अर्थ— रावण के मरण से चारों ओर उनके परिवारवालों का क्रन्दन मच गया। रोते हुये उस परिवार को अपने आश्रय से, घोर पापियों को भी अपने उत्तमपद प्रदान से विभीषण को राज्यप्रदान से, तथा घोर अपराधी रावण को मोक्षदान से राम ने सफल कर दिया। इस प्रकार अपनी दयालुता का परिचय दिया॥५७॥

राक्षसीनां सीताभिनन्दनमाह—

दिष्ट्या वर्धस ईश्वरि प्रिय-समा-
गत्येति सीतां तदा
ताः क्रव्यात्-सुदृशोऽभ्यनन्दिषुरहो
यास्तांपुराऽनिन्दिषुः।
सर्वा अस्नपयन् पपुः पद-पयो-
ऽहंपूर्विका- पूर्विका
वेषं चारचयन् सुवृत्तकथन-
श्रेयः श्रिते मारुतौ॥५८॥

तदा मारुतौ हनूमति सुवृत्तस्य श्रीरामोक्तस्य रावणादिविध्वंसरूपस्य सुवृत्तस्य शुभसमाचारस्य यत् कथनं श्रावणं तस्य श्रेयः शुभं पुण्यं वा श्रिते उपार्जिते सति। हनूमता शुभवृत्तश्रवणानन्तरमित्यर्थः। भो ईश्वरि स्वामिनि! प्रियस्य श्रीरामस्य समागत्या अत्यासन्नेन संमेलेन दिष्ट्या वर्धसे इति अहो इत्याश्चर्ये। सीतां ताः क्रव्यात्-सुदृशः। राक्षसाङ्गना अभ्यनन्दिषुः अभिनन्दन्ति स्म। याः तां सीतां पुरा पूर्वम् अनिन्दिषुः गालीदानभर्त्सनादिभिः अयोजयन्नित्यर्थः। सर्वाश्च ताः अस्नपन् स्नपितवत्यः। अहंपूर्विकापूर्विकाः अहंपूर्वमहं-पूर्वमितिक्रिया-पुरोगाः (ताः) पदपयः चरणनिर्णेजन-जलं पपुः पीतवत्यः। वेषं च अरचयन् प्रसाधयन्ति स्म॥५८॥

राक्षसियों द्वारा सीता का अभिनन्दन —

अर्थ— हनुमान् जी ने जाकर सीता को रावण के मारे जाने का सुसंवाद दिया और राम के पास जाने की प्रार्थना की। यह जानकर राक्षसियों ने सीता के चरणों में गिर कर-अपने अपराधों के लिये क्षमायाचना की। सीताजी को स्नान कराया। उनके चरण-कमलों का उदक पान किया। सुन्दर वेश से सज्जित किया।

सीताया अग्निपरिशुद्धिमाह—

यत्नात् पादतलं गतां शिबिकया-
ऽपश्यत् प्रियां राघवोऽ-
थाऽनिन्दत् स सभान्तरे परगृहा-
वासेन दुष्टेति ताम्।
कृत्वा सापि दृढव्रता प्रणमनं
शीघ्रं चितां प्राविशत्,
तच्छीलाग्निवशाद्धिमोऽग्निरभवद्
व्यानञ्ज शुद्धां च ताम् ॥५९॥

राघवः शिबिकया चतुरस्रयानेन पादतलं गतां प्राप्तां प्रियां सीतां यत्नात् सावधानतयाऽपश्यत्। अथ स राघवः सभाया अन्तरे मध्ये परगृहावासेन दुष्टा दूषिता इति तां प्रियाम् अनिन्दत् दृढव्रता सुदृढपातिव्रत्या सा तत्प्रियाऽपि प्रणमनं रामस्य वह्नेर्वा अभिवादनं कृत्वा शीघ्रं चितां प्राविशत्। तस्याः सीतायाः यच्छीलं

सच्चरितं तदेव दीप्रत्वेन अग्निः तस्य वशात् तदाक्रमणयोगादिति भावः।अग्निः हिमः शीतोऽभवत्। च पुनः। तां सीतां शुद्धां व्यानञ्ज प्रकटयाञ्चकार॥५९॥

सीताजी की अग्निपरीक्षा व शुद्धि —

अर्थ— पालकी में सवार सीताजी राम के पास पहुँची। जैसे ही सीता ने पालकी से उतर कर धरती पर पैर रखा-सभा के मध्य में स्थित राम ने यह (सीता) परगृहवास से दूषित है, इस प्रकार सीता की निन्दा की, तब पतिव्रता सीता ने चिता में प्रवेश किया। (साक्षी का आयोजन हुआ) सीता ने जैसे ही अग्नि में प्रवेश किया उसी समय उसके सच्चरितरूपी अग्नि से वह चिता की अग्नि हिमवत् शीतल हो गई।

और उसने सीता के चरित्र की दिव्यता प्रकट करदी॥५९॥

श्रीरामस्येन्द्रादि-संमेलनमयोध्यां प्रति प्रस्थानं चाह—

युक्तं शुद्धातिशुद्धेत्यभिदधत इह
प्रापुरिन्द्रादिदेवा
गेयैः स्तोत्रैश्च रामं विजयिनमभिव-
न्द्याभ्यनन्दन्ननन्दन्।
तद्वाचोज्जीव्य सेनां समर उपरतां
तन्नताः प्रत्यगुश्चाऽ-
थाऽतः प्रीतः प्रतस्थे स ससखिपृतनः
पुष्पकेणान्वयोध्याम्॥ ६०॥

इति श्रीकविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्द-शास्त्रिणा विरचितं रामाङ्के श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्ये शङ्खनामा त्रयोदशः सर्गः समाप्तः॥१३॥

अग्नि-प्रोक्तस्य शुद्धेति पदस्य समर्थनमुच्यते- युक्तमिति। युक्तमुचितं शुद्धा अतिशुद्धा इति अभिदधतः कथयन्त इन्द्रादिदेवा इह प्रापुः। आदिशब्देन देवभूमिं गतो दशरथोऽपीति ज्ञेयम्। च पुनः गेयैः गातुं योग्यैः स्तोत्रैः विजयिनं रामम् अभिवाद्य स्तुत्वाऽभ्यनन्दन्[1] अभिनन्दितवन्तः। अनन्दन् प्राहृष्यंश्च। च पुनः तस्य श्रीरामस्य वाचा वचनेन। समरे युद्धे। उपरतां गतप्राणाम् सेनां वानरचमूम् उज्जीव्य जीवयित्वा। तेन रामेण नताः प्रणताः। प्रत्यगुर्निववृतिरे। अथानन्तरम् प्रीतः सखिभ्यां सुग्रीवविभीषणाभ्यां पृतनया वानरसेनया च सह वर्तमानः स रामः। पुष्पकेण विमानेन । अयोध्याम् अनूद्दिश्य प्रतस्थे॥६०॥

इति श्रीपण्डितभगवतीलाल-विद्याभूषणेन विरचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्न-महाकाव्य-व्याख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः॥१३॥

राम का अयोध्या की ओर प्रस्थान —

अर्थ— इन्द्रादि देवों ने कहा-सीता शुद्ध ही नहीं अति शुद्ध है। राम के विजय की स्तुति की जाने लगी। राम ने वानर भालुओं की मृत सेना को पुनर्जीवित किया। वे पुष्पकविमान पर बैठकर सुग्रीवविभीषण-आदि को लेकर सीता व लक्ष्मण सहित अयोध्या की ओर चल पड़े।

जयपुरवास्तव्य, राष्ट्रपति-सम्मानित पं. मोहनलाल शर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में 'श्रीरामचरिताब्धिरत्न' महाकाव्य का 'शङ्ख' नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त॥१३॥

---

१. अग्रस्था ब्रह्मकृता शिवकृताश्च स्तुतिः परिशिष्टे द्रष्टव्या।

अथ चतुर्दशः सर्गः

अथ द्वाभ्यां श्रीरामजानक्योः पथि संलापमाह—

अद्याहो वनवसनावधिः समाप्तः

श्वस्तूत्को भरत उदीक्षणीय एव।

मेघं मां सरुचि शिखी प्रतीक्षते स

धर्मात्माऽवददिति गां प्रहर्षिणीं स्त्रीम् ॥१॥

अहो इति वितर्के अद्य वनवसनस्य अरण्यवासस्य अवधिः चतुर्दशवर्षात्मक इत्यर्थः। समाप्तः पूर्णः। श्व आगामिनि दिने तु उत्क उन्मनाः भरत उदीक्षणीयः द्रष्टव्य एव। स शिखी मयूररूपः मां मेघं मेघरूपं सरुचि साभिलाषं प्रतीक्षते। इति एवम्। धर्मात्मा श्रीरामः। स्त्रीं सीतां प्रहर्षिणीं प्रमोददायिनीम्। गां वाणीम्। अवदत्। प्रहर्षिणीति शब्देन स्त्री अपि विशेष्टुं शक्यते। प्रहर्षिणीवृत्तप्रधानोऽयं सर्ग इत्युचितम्। मुद्रालंकारोऽपि ॥१॥

अर्थ— अहा! लगता है, हमारे वनवास के दिन समाप्त हो गये हैं। भरत हमारी प्रतीक्षा में है अतः कल उसे देखना चाहिए, वह मुझे मेघ समझकर मयूर की तरह उत्सुक है, इस प्रकार राम ने प्रहर्ष देने वाली सीता को प्रमोददायिनी वाणी से कहा ॥१॥

शब्दैरित्यसकृदुदीरितैः प्रियस्य

तैर्हृष्टा स्मितवदना तमाह सीता।

रिष्ट्वाऽरीनिति वदतोऽद्य तीर्णसंधा-

वाक्-सिन्धोस्तव सुवचः शृणोमि दिष्ट्या ॥२॥

इति एवम्। असकृत् अनेकवारम् उदीरितैः कथितैः। प्रियस्य श्रीरामस्य। तैः शब्दैः वर्णात्मकैः। हृष्टा प्रमुदिता। स्मितवदना स्मेरमुखी सीता तं प्रियम् आह उवाच। अरीन् रावणादीन् शत्रून् रिष्ट्वा हत्वा इति एवं वदतः कथयतः। अत एव तीर्णः पारितः सन्धावाक् प्रतिज्ञावचनमेव सिन्धुः समुद्रो येन स तस्य तव। दिष्ट्या इति हर्षे। सुवचः शुभवचनम् अहं शृणोमि ॥२॥

अर्थ— अनेक बार कहे हुए राम के इन वचनों को सुनकर स्मितवदना सीता ने कहा कि आपने शत्रुओं को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है। इसी कारण मैं भाग्य से आपके शुभवचन सुन रही हूँ ॥२॥

किष्किन्धातः सुग्रीवादिवधूनां सहनयनमाह—

तत्तत्संलपितकृतप्रियाविनोदोऽ-

थाऽवाप्नोत् पथि कपिराजराजधानीम्।

बद्धाशाः सममनयत् ततो वधूः स

हुङ्कार-स्फुटितमुदां सहानुगानाम् ॥३॥

अथ पथि मार्गे। तैः तैः संलपितैः मिथोभाषणैः। भावे क्तः। कृतः प्रियायाः सीताया विनोदो मनोरञ्जनं येन स तथोक्तः स श्रीरामः। कपिराजस्य सुग्रीवस्य राजधानीं किष्किन्धाम् अवाप्नोत् प्राप्तः। ततः तस्या किष्किन्धातः। हुंकारेण हुङ्करणेन स्फुटिता प्रकटिता मुद् हर्षो यैस्ते तेषाम्। सहानुगानां सहगानां सुग्रीवादीनां सहचराणाम् अनुगानाम् अङ्गदादीनां च बद्धाशाः आशान्विताः। वधूः पत्नीः। समं सह। अनयत् नीतवान् ॥३॥

अर्थ— किष्किन्धा से सुग्रीव आदि की वधूओं को साथ लेना- राम व सीता मार्ग में विनोदवार्ता करते हुए किष्किंधा पहुँचे। यह कपिराज सुग्रीव की राजधानी थी। वहाँ उनका हर्षसूचक शब्दों से स्वागत किया गया। सुग्रीव के अनुयायी अंगद आदि की पत्नियाँ भी साथ ले ली गई। ॥३॥

भरद्वाजदर्शनमाह—

सुन्यासः प्रवरमुनिः प्रयागवासी

वर्णाग्र्यः स हितपरस्त्रिवर्गपूरः।

णस्साक्षादिव खलु वर्ण उत्तमाङ्गच्य:

कैः पुण्याद् रघुपति-सङ्गजान्न दृष्टः? ॥४॥

खलु इति वाक्यालङ्कारे। साक्षात् प्रत्यक्षम्। णः वर्णः णकाराक्षरमिव प्रयागवासी स प्रसिद्धः प्रवरमुनिः भरद्वाजः रघुपतिसङ्गजात् श्रीरामसहगमन-सम्भवात् पुण्यात् (हेतोः) कैः (जनैः) न दृष्ट अपि तु सर्वैरेव दृष्टः। तं श्लिष्टत्वेन विशिनष्टि - सु शोभनो न्यासः संन्यासो यस्य सः अपरत्र सु सुखेन 'न्यासो विन्यासः (लिपिस्थापना) यस्य सः। णकारो हि अन्यवर्णापेक्षया सुखेन लिख्यते। 'न्यासो विन्यास-संन्यास-निक्षेपेषु प्रकीर्तितः' इति सौभरिः। वर्णाग्र्यः ब्राह्मणादिवर्णेषु मुख्यः। अन्यत्र वर्णेषु अक्षरेषु मुख्यः। मूर्धन्यनासिक्यत्वेनोभयस्थानीयत्वादिति भावः। त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गं पूरयति समापयति साधयति च तथोक्तः। समापितत्रिवर्गसाधनः। लोकानां त्रिवर्गसाधको वा। अथ, च परः एषां त्रयाणां परवर्ती मोक्षः हितः पथ्यः यस्य सः। मुक्तिसाधने प्रवर्तमान इति भावः। आहिताग्न्यादित्वात् परस्य पर-निपातः। यद्वा हितः धृतः परःमोक्षो येन सः। लक्षणया धृतमोक्षसाधन इत्यर्थः। अन्यत्र त्रिवर्गाः कवर्ग-चवर्ग-टवर्गास्तेषां पूरकः समापकः। अथ च हि इति विच्छिद्य त-परः तः तकारः परो यस्य स इति वर्ण-समाम्नायक्रमेण द्रष्टव्यम्। उत्तमाङ्ग मूर्धानम् अर्हतीति तथोक्तः शिरसा वन्द्य इत्यर्थः। अन्यत्र मूर्धस्थानीयः। इत्येषा श्लिष्टोपमा ॥४॥

अर्थ— भरद्वाज का दर्शन

भरद्वाज ऋषि 'णकार' वर्ण की तरह है, राम के मिलने से ये 'पुण्य' स्वरूप हो रहे थे। यह 'ण' वर्णों में सुन्दर है, लिखने में सुगम है और जिसका उच्चारण मूर्धा तथा नासिका स्थान से होता है। इसी प्रकार महर्षि भरद्वाज चारों वर्गों में श्रेष्ठ है, सुन्यास यानी संन्यासी हैं और ये त्रिवर्ग साधक हैं और त्रिवर्ग के परे मोक्ष के साधक भी! णकार कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग का पूरक है और तवर्ग उससे परे है, वह मोक्ष स्थानीय है। ॥४॥

निजागमनसूचनाय रामस्य भरतं प्रति हनुमत्प्रेषणमाह—

गच्छ त्वं भरतमितीश्वरेण भक्त्याऽ-

वाङ्मुख्यप्यकथि गणेऽनिलप्रजैव।

कोट्यामप्यतिरुचिदीपिनां मणीनां

यस्स्यात् तत्स्थिति-सुघटो गवेष्यते सः ॥५॥

भरतं त्वं गच्छ । इति ईश्वरेण प्रभुणा रामेण। गणे (कपि) समूहे भक्त्या (कारणेन) अवाङ्मुखी नम्रीकृताननाऽपि। अनिलप्रजा हनुमानेव । अकथि उक्ता। अत्र दृष्टान्तयति-अतिरुच्या बहु-कान्त्या दीपिनां भासुराणां मणीनां रत्नानां कोट्यां शतलक्षेऽपि। यः मणिः तस्यां स्थितौ स्थाने सुघटः सुयोजनीयः स्यात्। स मणिः गवेष्यते अन्वेष्यते। नान्य इति भावः। तच्छ्रेयोऽधिकारित्वात् स एव तत्र कार्ये नियुक्त इति भावः ॥५॥

अर्थ— राम द्वारा अपने आगमन की सूचना देने के लिये हनुमान् को भरत के पास भेजना –

राम ने भक्तिभाव से विनम्र पवन पुत्र हनुमान् से कहा - तू जा और भरत को हमारे आगमन की सूचना दे। चाहे करोडों रत्नों की आभा जगमगाती हो, पर जो रत्न सबसे भास्कर होगा- उसी की हमें तलाश रहेगी। इसी तरह राम ने हनुमान् में विशेष गुण परख कर उसे ही भरत जी के पास जाने की आज्ञा दी। ॥५॥

द्वाभ्यां भरतहनूमतोः समागमं वर्णयति—

युद्धैकव्रतमिव बोधकृज्जयोक्त्या

तं गत्वाऽमदयदयं तदागमोक्त्या।

दत्त्वा किं सममनृणीबुभूषुरङ्ग!

त्वाम्प्रीणाम्यहमितिसोऽतिसंचुकोच ॥६॥

बोधकृत्वैतालिकः युद्धैकव्रतं संग्राम-क्रियैकनिरतं जयोक्त्या विजयसंवादेन इव। अयं हनुमान् तं भरतं गत्वा तस्य श्रीरामस्य आगमोक्त्या आगमन-संवादेन। अमदयत् प्रमोदयति स्म। अङ्ग हे! (हनुमन्) अनृणीवुभूषुः त्वत्तः अनृणतामिच्छन् अहम् समम् एतत्तुल्यं किं (वस्तु) दत्त्वा त्वां प्रीणामि प्रमोदयामि इति स भरतः अतिसंचुकोच अतीव संकोचं प्राप्तः ॥६॥

अर्थ— दो श्लोकों में हनुमान् द्वारा भरत जी को राम के आगमन की सूचना वर्णित है। हनुमान् जी ने एक वैतालिक की तरह कहा भगवान् राम विजयी होकर आ रहे हैं। यह सुनकर भरत जी बहुत प्रमुदित हुए और संकोच में भर कर ही कहने लगे -

'इस शुभ संवाद के लिए मेरे पास देने के लिए कुछ नहीं,जिसको देकर मैं अऋणी हो सकूँ और तुम्हें प्रसन्न करूँ, यों कहकर भरत संकोच में पड गये। ॥६॥

विद्वांस्तं स विनयतोऽवदत्, सदा नोऽ-

वद्भ्यः किं न्वनुचर आददे भवद्भ्यः।

योग्यत्वाद् यदकरवं स्वकार्यमेव

विन्देऽत्तोऽपि भरत दर्शनं परं ते ॥७॥

स विद्वान् विज्ञो हनुमान्। तं भरतम्। विनयतः नम्रतयाऽवदत्। भो भरत! अहम् अनुचरः किंकरः। सदा सर्वदा नः अस्मान् अवद्भ्यः रक्षद्भ्यः भवद्भ्यः युष्मत्। किष्किन्धाराज्यस्य इक्ष्वाकुराज्यान्तर्गत-त्वादिति भावः। किंनु आददे गृह्णामि। यद् यतः। योग्यत्वात् औचित्येन अनिवार्यत्वादिति भावः। स्वकार्यं स्वकर्तव्यमेव अकरवम् अपालयम्। रक्षकाणां स्वामिनाम् आज्ञप्तकार्यानुष्ठानं कर्मकरस्य कर्तव्यमेवेति भावः। तत्राधिकतामाह-अतोऽपि परम् अत्युत्कृष्टं वा अधिकमित्यर्थः। ते तव दर्शनं विन्दे प्राप्नोमि ॥७॥

अर्थ— विद्वान् हनुमान ने कहा- हे भरत! मैं तो सेवक हूँ स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य है। इसमें ऋण कैसा! आप के दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिल रहा है यही क्या कम है! ॥७॥

अयोध्यावासिनः प्रति शत्रुघ्नद्वारा श्रीरामागमवृत्तसूचनमाह—

धित्सुं तं चिरत उदन्त-सन्मरन्दं

पूर्लोकं रघुपतिपादपद्मभृङ्गम्।

वर्धिष्णुस्तदनुज आशयन्नतर्पीत्,

कं प्रीणात्यभिमतवृत्तसूचना नो? ॥८॥

वर्धिष्णुः वक्ष्यमाणादिशुभकर्माचरणेन वर्धन-शीलः। तदनुजः तस्य भरतस्य अनुजः कनिष्ठः शत्रुघ्न इत्यर्थः। तं पूर्वोक्तं श्रीरामागमनरूपम्। उदन्तः वृत्तान्त एव सन् शोभनः मरन्दः मकरन्दः तम्। चिरतः बहुकालात्। धित्सुं पिपासुम्। पानार्थाद् धेटः सन उः। 'सनि मीमाघु०' इतीस अभ्यासलोपश्च। रघुपतेः श्रीरामस्य यौ पादपद्मौ तत्र भृङ्गं भ्रमरभूतम्। पूर्लोकं पुरो नगर्या अयोध्याया लोकं जनम्। आशयन् भोजयन्। पानमिच्छते पुष्कलतया भोजन-प्रदानं तदाधिक्यव्य-क्तीकरणाय दर्शितम्। गतिबुद्धीति द्विकर्मकता। अतर्पीत् तृप्तीचक्रे। रधादीनां वेट्त्वेन स्पृशमृशादीनां वासिच्त्वेन च इट्-सिच्-दशायामिदं रूपम्। अत्रार्था-न्तरन्यासमाह—अभिमतस्य अभीष्टस्य वृत्तस्य वृत्तान्तस्य सूचना। कं जनं नो प्रीणाति? अपितु सर्वमपीत्यर्थः ॥८॥

अर्थ— 'श्री शत्रुघ्न द्वारा अयोध्यावासियों को राम-आगमन का संवाद सुनाना। भरत जी के अंनुज शत्रुघ्न ने अयोध्यावासियों से कहा- 'आप लोग भगवान् राम के चरण-कमल के भृंग बने हुए हैं- वे स्वयं आ रहे हैं।' यह संवाद क्या है, जैसे रसिक भौंरे को मकरन्द पान का सुअवसर मिले, कौन ऐसा होगा,

जो अपनी मनचाही चीज को पाकर, आनन्दित नहीं होगा? इस संवाद से सारी प्रजा आनन्द मग्न हो गई॥८॥

अयोध्यायाः श्रीरामं प्रति प्रत्युद्गमनमाह—

अद्याऽहो स्ववशविहार इष्टशब्दः

संहृष्टोऽसितवपुरेष रामभद्रः।

ख्येयः किं, मधुपमिवाशु पुष्पकस्थं

यं मुक्ताऽभिसरति पद्मिनी ह्ययोध्या॥९॥

अहो इति प्रशंसायाम्। अद्य स्ववशविहारः स्वतन्त्रलीलः स्वेच्छाचारी च। 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये।' इति मेदिनी। इष्टः प्रियः शब्दो वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च यस्य सः। संहृष्टः प्रमुदितः। असितवपुः श्यामलशरीरश्चेति उभयमुभयत्र समम्। एष रामभद्रः श्रीरामः। किं ख्येयः वर्ण्यः। न कदापीत्यर्थः। अत्र हेतुमाहयं हि मधुपं भ्रमरमिव पुष्पकस्थं पुष्पकनामविमानारूढम्। अन्यत्र कुसुमस्थि-तम्। मुक्ता त्यक्ता। तेनैव प्राक् श्रीरामेण भ्रमरेण चेति भावः। अयोध्या तन्नाम्नी नगरी एव पद्मिनी कमलिनी। अथ च पद्मं कमलाकारेण सेनाभिनिवेशनरूपो व्यूहविशेषः, सोऽस्या अस्तीति सा 'पद्मोऽस्त्री पद्मके व्यूहनिधिसंख्यान्तरेऽम्बुजे।' इत्यादि मेदिनी। इत्यनेन तादृशसेनाभिनिवेशनरूपेण अयोध्या प्रत्युद्गता तदर्ह-संमानप्रतिपादनायेति व्यक्तम्। अयोध्याशब्देन तद्वासिजनो लक्ष्यत इत्यपि ज्ञेयम्। आशु शीघ्रम्। अभिसरति संमुखीभवति। अत्र परित्यक्ताया अयोध्यारूपायाः पद्मिन्या उत्तमस्त्रियाः स्वपतिं श्रीरामं प्रति स्वयमभिसरणम् अलौकिकानुरागाभिव्यञ्जकमिति ज्ञेयम्। मुक्ता मुक्तिं गता च ब्रह्मस्वरूपं राममभिगच्छेदेव॥९॥

अर्थ— राम पुष्पक विमान से स्वयं अयोध्या की ओर आ रहे हैं ऐसा लगा जैसे कोई भ्रमर पद्मिनी की ओर मिलने आ रहा है। यह जानकर अयोध्यारूपी पद्मिनी स्वयं अपने प्रिय भ्रमर से मिलने के लिए उमड पडी है। यानी अयोध्या निवासी इस सुसंवाद से अत्यन्त प्रमुदित हुए और राम की अगवानी के लिये तैयारियाँ करने लगे॥९॥

पौराणां श्रीरामदर्शनोत्सुक्यं वर्णयति—

धन्या येऽक्षजयरताश्चतुर्दशाऽब्दा-

नंशान् वाऽसहिषत काल्पिकाञ्जनास्ते।

दत्ताक्षाः प्रति पतिवाहनं कदाऽऽया-

त्वासन्ने न इति न सेहिरे क्षणांशम्॥१०॥

ये धन्याः सुकृतिनः। अक्षाणाम् इन्द्रियाणां जये रताः सन्तः। काल्पिकान् कल्प-कालसम्बन्धिनः अंशान् वा भागानिव। चतुर्दश अब्दान् वर्षान् असहिषत सहन्ते स्म। यापयितुमिति भावः। ते जनाः अयोध्या-लोकाः पतिवाहनं श्रीरामविमानं प्रति दत्ताक्षाः दत्तदृष्टयः 'कदा नः अस्माकम् आसन्ने समीपे आयातु आगच्छतु' इत्येवं क्षणस्य अंशं भागम् (अपि) न सेहिरे न सोढुं शक्ता इत्यर्थः। दर्शनोत्कण्ठातिशयादिति भावः। विजितेन्द्रियाणां बहुकालिकदुःखसहनशक्तिः तथा वाहयतीति वाहनं मन इत्यर्थः। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः मनः प्रग्रहमेव च' इत्युक्तेः इन्द्रियाश्वानां प्रग्रहभूतस्य मनसो वाहकत्वात्। मनश्च इन्द्रियाणां राजा कथ्यते। ततः पतिश्च तद्वाहनं चेति पतिवाहनं तद्मनः प्रति दत्ताक्षाः समर्पितेन्द्रियाः कथं क्षणांशसहनशक्तिमन्तः स्युरित्यर्थोऽपि गम्यते॥१०॥

अर्थ— नगरवासियों की राम के दर्शन के लिए उत्सुकता का वर्णन- अयोध्यावासी चौदह वर्षों से राम के दर्शन के लिये- प्यासे थे। जैसे इन्द्रियाँ अभीतक रुकी हुई थी- उनके सामने अपना प्रिय पास

में आ जावे तो क्षणभर भी दर्शन से वंचित होना असह्य हो जाना है। अयोध्यावासी भी आंखे फाडकर आकाश में विमान के दर्शन के लिये टक-टकी लगाए थे ॥१०॥

पौराणां विमानदर्शनं वर्णयति—

ब्राह्मः किं सितगरुदह्यरिर्हरेर्वा

मन्वानैरिति सुजनैर्विमानमन्ते।

णेऽभ्यासं दधिभिरिवात्मरूपमैक्षि

यो यस्मै यतत, इयात् स तत्, स्खलन् वा ॥११॥

किं ब्राह्मः चतुर्मुख-संबन्धी सितगरुद् हंसः? इति सुदूरवर्तिनि विमाने संदेहः। वा अथवा। हरेः विष्णोः। अह्यरिः सर्परिपुर्गरुड इत्यर्थः। इति मन्वानैर्मन्यमानैः सुजनैः। अन्ते विमानम् ऐक्षि दृष्टम्। अत्रोपमिमीते-णे ज्ञाने तत्त्वज्ञानविषये इत्यर्थः अभ्यासं दधिभिः ज्ञानविषयकाभ्यास-धारणशीलैरित्यर्थः। 'भाषायां धाञ्कृसृगमिजनिनमिभ्यः' इति किः। न लोकेति षष्ठी-निषेधः। आत्मरूपमिव परमात्म-स्वरूपमिव। ज्ञानाभ्यासपथपथिकैरपि मध्ये संदेह-कक्षाऽनुभूयते, अन्ते च ज्ञेयज्ञानं भवत्येव। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति—यः (जनः) यस्मै यदर्थं, तादर्थ्ये चतुर्थी। यतते प्रयत्नं करोति, स तद् (वस्तु), स्खलन् प्रमाद्यन् सन् वा इयात् प्राप्नुयात्। मध्ये स्खलन्नपि प्रयतमानस्तत् प्राप्नोत्येवेति भावः ॥११॥

अर्थ— नगरवासियों का विमान-दर्शन करना—

नगरनिवासी सुजनों ने आकाश में पुष्पकविमान को देखकर विचारा- यह क्या ब्रह्मा का हंस है ? थोडी देर बाद थोडा स्पष्ट सा हुआ - विचारा यह क्या विष्णु का गरुड है? फिर स्पष्ट दीख पडा- यह तो पुष्पक है। इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के पथ पर चलने वाले पथिकों को बीच-बीच में संदेह होता है - अन्त में ज्ञेय का बोध हो जाता है, जो मनुष्य जिस वस्तु के लिये यत्न करता है, वह मध्य में स्खलित होता हुआ भी उस वस्तु को प्राप्त कर लेता है ॥११॥

यहाँ अर्थान्तरन्यास का विन्यास है, पहले विशेष कहा गया है और फिर सामान्य से समर्थन है।

श्रीरामस्य भरतेन प्रजाभिश्च मेलनमाह—

मत्प्रत्युद्गति-सुखितोऽनुजः सपौरो

हा क्षामोऽलमिति दृगश्रु राम उज्झन्।

यत्नात्तं कृतनतिमालिलिङ्ग, बद्धाऽऽ

शाः प्राश्वासयदुपयान् प्रजाश्च नम्राः ॥१२॥

मम प्रत्युद्गत्या प्रत्युद्गमनेन सुखितः। सपौरः नागरिकसहितः अनुजः भरतः। हा इति खेदे। अलमत्यर्थम्। क्षामः कृशः। 'क्षायो मः' इति निष्ठातस्य मत्वम्। इति कारणाद्। दृगश्रु नेत्रवाष्पम् उज्झन् मुञ्चन् रामः। यत्नात् कृतनतिं प्रणतवन्तं तं भरतम् आलिलिङ्ग। च पुनः बद्धाशाः आशान्विताः नम्रा प्रजाः उपयान् समीपं गच्छन् सन् प्राश्वासयत् प्रकृष्टम् आश्वासितवान् ॥१२॥

अर्थ— श्रीराम का भरत व प्रजाजन से मिलना—

'मेरे आने से छोटा भाई भरत व प्रजाजन अत्यन्त आनंदित है। परन्तु यह (भरत) अत्यन्त कृश हो गया है, यह देखकर राम के प्रेमाश्रु गिरने लगे, और प्रणाम करते हुए भरत का राम ने आलिंगन किया तत्पश्चात् आशा से भरी हुई विनम्र प्रजा के पास जाकर राम ने सबको आश्वासन दिया ॥१२॥

रामस्य पूज्यानामभिवादनं तत्कृतं तदाशासनं चाह—

रामो वः पदकृपयाऽद्य तीर्णसंधो

जल्पन्नित्यनमदृषींश्च स स्वमातॄः।

वंशं नो, जगदपि, भो! भवान्, न कोऽपी-

शाश्चक्रे शुचयितुमित्यकत्थि तैःसः ॥१३॥

अथ वो युष्माकं पदकृपया चरणानुग्रहेण रामः (अहं) तीर्णसंधः पालितप्रतिज्ञः। अस्तीति शेषः। इति जल्पन् कथयन् सन्। स रामः। ऋषीन् वशिष्ठादीन्। स्वमातृः कौशल्याप्रभृतीश्च अनमत् अवन्दत। पदकृपयेति पादग्रहणस्याभिव्यक्त्वात्पादाभिवादनमेवाऽत्र ज्ञेयम्। भो राम! वंशं नो अर्थात् केवलं कुलमेव नो, किन्तु जगदपि शुचयितुं रावणादिरिपुहननजन्ययशसा शुचीकर्तुम् उज्ज्वलयितुमिति यावत्। भवान् त्वम् (एव) ईशांचक्रे अशक्नोत्। कोऽपि न, त्वदन्यः कश्चिदपि एवं जगदुज्ज्वलयितुं नो ईशाश्चके इति भावः। इति एवम्। तै ऋषिभिः मातृभिश्च। स रामः। अकत्थि प्रशस्तः। अभिनन्दित इति भावः ॥१३॥

अर्थ— राम के द्वारा पूज्यों का अभिवादन करना—

राम ने वशिष्ठादि ऋषियों का कौशल्यादि माताओं का पदवन्दन करते हुए कहा-आपके चरण-कमलों की कृपा से मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है।' उत्तर में उन्होंने कहा -

हे राम ! तुमने केवल वंश का मुख ही उज्ज्वल नहीं किया, किन्तु रावणादि के वध द्वारा जगत् को भी निर्मलता प्रदान की है।'

इस प्रकार ऋषियों और माताओं ने उनका अभिनन्दन किया ॥१३॥

भरतशत्रुघ्नाभिनन्दनपूर्वकं रामस्यायोध्यां प्रति गमनमाह —

शत्रुघ्नं स सनतिमग्रजैकभक्तं

तज्ज्येष्ठं पुनरभिनन्द्य तन्निवासे।

गुर्वाज्ञाऽपहृतजटोऽचरद् रथेनै-

णान्वीतं पुरपथमाशितंगवीनम् ॥१४॥

स रामः। सनतिं प्रणामसहितं प्रणमन्तमित्यर्थः। अग्रजस्य ज्येष्ठस्य प्रकृतत्वाद् भरतस्य एकं मुख्यं भक्तं शत्रुघ्नम् पुनः तज्ज्येष्ठं भरतं तन्निवासे तस्य भरतस्य निवासस्थाने नन्दिग्रामे। अभिनन्द्य शत्रुघ्नं भरतैकसेवया भरतं च तादृग्रूपेण राज्यसंचालनकर्मणा वर्धयित्वेत्यर्थः। गुरूणां वशिष्ठादीनाम् आज्ञया अपहृता दूरीकृता जटा येन स तथोक्तः सन्। रथेन रथवाहनद्वारा। एणैः मृगैः अन्वीतम् अनुगतम्। भ्वादौ 'कटी' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य, दैवादिकस्य 'ईङ्' धातोर्वेदं रूपम्। आशितंगवीनम् आशिताभोजिता गावो यत्र स तम्। 'अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः।' इति स्वार्थे खः। पूर्वस्य मुम् तु निपातनात्। पुरपथम् अयोध्यानगरमार्गम्। अचरत् गाहते स्म ॥१४॥

अर्थ— भरत और शत्रुघ्न का अभिनन्दन और राम का अयोध्या के प्रति प्रस्थान—

श्रीराम ने भरत की सेवा करने के कारण शत्रुघ्न का, तथा नन्दिग्राम में रहते हुये राज्य-सञ्चालन करने वाले भरत का अभिनन्दन कर वशिष्ठादि गुरुओं की आज्ञा से जटाजूट उतरवा कर रथ से हरिणों से युक्त, और जहाँ गायों को तृण आदि के द्वारा भोजन करा दिया गया है, उस नगर पथ पर प्रस्थान किया ॥१४॥

द्वाभ्यां श्रीरामसंमुखस्थामयोध्यां वर्णयति—

स्थाने पताकाङ्गुलिभिर्ह्वयन्त्यथो

पश्यन्त्ययोध्या स्वगवाक्षलोचनैः।

यियासुमुत्तोरणवन्दनस्रजै-

ष्यतीति तं द्रागभिमुख्युपैदिव ॥१५॥

अथो अनन्तरम्। 'स्थाने इति युक्ते। 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः। पताका एव अङ्गुलयस्ताभिः ह्वयन्ती आह्वयन्तीवेत्यर्थः। स्वैः गवाक्षैः सौधस्थितगवाक्षैः एव लोचनैः नेत्रैः पश्यन्ती विलोकयन्ती-

वेत्यर्थः। अयोध्या यियासुं यातुमिच्छुं तं श्रीरामम् एष्यति आगमिष्यति इति हेतोः इत्यनेन औत्सुक्यं दर्शितम्। द्राक् शीघ्रं अभिमुखी संमुखीभूता सती। उद् उदूर्ध्वं यत्तोरणं बहिर्द्वारं तस्य वन्दनस्रजा वन्दनमालया उपलक्षिता। उपलक्षणे तृतीया। उपैत् इव समीपमिवागच्छत्। सत्वरप्राप्तौ उत्प्रेक्षेयम्।।१५।।

अर्थ— संमुखस्थ अयोध्या का वर्णन—

अयोध्या राम दर्शन के लिये उत्सुक थी। फहराती पताकाएं रूपी अंगुलियों से मानों उन्हें अपने पास आने के लिए इशारा कर रही थी और खुले गवाक्ष रूपी नेत्रों को फाडकर दर्शन के लिये समुत्सुक दीखती थी। और तोरण द्वार पर वन्दन माला से आने वाले राम के स्वागत के लिये मानों पास में ही आगई। ।।१५।।

तिष्ठत्युपान्तेऽप्युपशल्यपद्धते

रामेऽत्र साकेतपुरी-क्षितिः क्षणात् ।

घनिष्ठमुत्सेकमितेत्युदूहयाऽ-

वः सर्वभूनामपि माऽनुरज्यति ।।१६।।

अत्र अस्मिन् रामे उपशल्यपद्धतेः पुरसीमान्तमार्गस्य उपान्तेऽपि केवलं समीपे तिष्ठति सति एवेत्यर्थः। साकेतपुरीक्षितिः अयोध्याभूमिः। क्षणात् क्षणमात्रेण। घनिष्ठम् सान्द्रतमं बहुतमं च उत्सेकं जलप्रसेचनं गर्वं च इता प्राप्ता। 'उत्सेको गर्व उद्रेके जलाद्यैश्च प्रसेचने।' इत्युत्पलः। अत्र प्रतीयमानत्वेनोत्प्रेक्षते- सर्वासां भूनां भूमीनाम् एतल्लोकगतानां स्वर्गादीनां वा लोकानामिति भावः। अपि। अवः रक्षकः। श्रीरामः। मा माम् अयोध्याभूमिमित्यर्थः। अनुरज्यति स्निह्यति। इति एवम् ऊहया तर्केण। सर्वासां भूमीनां पालकोऽपि निवासानुग्रहेण मामेव अनुरज्यतीति तर्कयित्वेव उत्सेकं गतेति भावः।।१६।।

अर्थ— अयोध्या के मार्गों पर पानी का सिंचन हुआ। राम पुर के सीमान्त भाग में स्थित है, अतः अयोध्या फूली नहीं समा रही थी। उसे इस बात का गर्व था कि राम स्वर्गादि सब लोकों के रक्षक हैं फिर भी मुझसे ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं।।।१६।।

द्वाभ्यां पौरीकृतं श्रीरामदर्शनं वर्णयति-

चापाङ्कतो विविदुषीति 'रथे स नेभे-

तुर्याद् द्रुता भवनखण्डतलाद् द्वितीयम्।

वर्ण्यं प्रभुं निरववर्णत वर्णिनी तं

यं लोकयन्त्यहह

सप्तमभूमिकास्थाः।।१७।।

स रामः रथे, इभे गजे न। रथारूढोऽस्ति नतु गजारूढ इति भावः। इति एवं चापाङ्कतः धनुश्चिह्नात् विविदुषी ज्ञातवती। तुर्याच्चतुर्थाद् भवनस्य खण्डतलाद् भूमिकातः द्वितीयं भवनखण्डतलं द्रुता शीघ्रगत्या गता सतीत्यर्थः। पूर्वं श्रीरामस्य शत्रुञ्जयगजारोहणं प्रबद्धं प्रबन्धकैः किन्तु प्रीतिमता श्रीराघवेण स्वस्य कृते सुसज्जिते तत्र प्रियसुहृत्सुग्रीव आरोपितः। अत एव रथारूढस्य दर्शनसौकर्याय भवनस्य चतुर्थभूमिकां पूर्वम् आरूढा काऽपि चापचिह्नाद्दूरतोऽपि रामं रथारूढं ज्ञात्वा शीघ्रं द्वितीयां भूमिकामागतेति भावः। वर्णिनी काचित् सुन्दरी। 'वर्णिनी महिलाऽबला' इति हैमः। तं वर्ण्यं वर्णयितुं योग्यं प्रभुं श्रीरामम् निरववर्णत दृष्टवती। अहह इत्यद्भुते। यं (प्रभुं) सप्तमभूमिकायां तुर्यगायां तिष्ठन्ति तथोक्ताः लोकयन्ति पश्यन्ति। सप्तमभूमिकास्थैर्द्रष्टुं शक्यं प्रभुं द्वितीयभूमिकागतैव ददर्शेत्युद्भुतम् अयोध्यावासिनां धन्यत्वं दर्शितम्।।१७।।

अर्थ— दो श्लोकों में प्रजाजन के द्वारा दर्शन करना—

दूर से धनुष के चिह्न से रथ पर बैठे राम को जानकर चौथे तल्ले में स्थित लोगों ने पहले विचारा था

कि राम तो गजारूढ होकर आवेंगे। राजाराम गज पर नहीं, रथ पर चढे थे। अतः दूसरे तल्ले पर आ गये गज पर तो उन्होंने सुग्रीव आदि को बैठाया था। आश्चर्य है- जिस राम को साततल्ले पर स्थित लोग देख सकते हैं, उसी राम को किसी सुन्दरी ने दूसरे तल्ले से देखा॥१७॥

चक्षुष्यमञ्जनमपास्य निरञ्जनं चाऽऽ-

लोक्याञ्जनं शिति दधाविव हृद्दृशोऽन्या।

केलीकलाभवनगा ददृशुर्न तं चाऽ-

स्मिन्नेव ये बुबुधिरे सफलत्वमर्थे॥१८॥

अन्या काऽपि सुन्दरी। चक्षुष्यं चक्षुषे हितम्अञ्जनं कज्जलमपास्य त्यक्त्वा। सद्यःसमागतस्य प्रभोर्दर्शनसंभ्रमातिशयादिति भावः। च पुनः च पुनः। निरञ्जनम् अञ्जनं तमो मलिनस्वभावत्वात्, तस्मान्निर्गतं निरञ्जनं परब्रह्म। 'निरञ्जनं साम्यमुपैति दिव्यम्' इति श्रुतिः। तद्रूपं रामम् आलोक्य दृष्ट्वा हृद्दृशः मनोरूपदृष्टेः। शिति श्यामम् अञ्जनं कज्जलमिव। मनोमलपरिशोधकमिति भावः। दधौ धृतवती। यद्वा हृच्च दृक् चानयोः समाहारः तस्य। अर्थात् हृदो मनसो दृशश्च वैफल्यरूपमलशोकमित्यर्थो ज्ञेयः। च पुनः। तं रामं केलीकलाभवनगाः विहारकलागृहाऽन्तःप्रविष्टा जना न ददृशुः। ये अस्मिन् एव अर्थे व्यापारे केलीकलोपभोगरूपे इत्यर्थः। सफलत्वं निजसफलतां बुबुधिरे मेनिरे। विषयसुखनिमग्नानां भगवद्दर्शनात्मकनित्यानन्दानुभवो दुर्लभ एवेति भावः। अत्र अलीकः अप्रियोऽनृतो यो लाभः विषयसुखानुभवस्वरूपः तदेव शून्यतया वनं तद्गाः के (जनाः) तं रामं न ददृशुः? इति प्रश्ने तदेवोत्तरं-केलीकलाभवनगा इति। अतः प्रश्नोत्तरमपि॥१८॥

अर्थ— किसी सुन्दरी ने, जो आँखो में अंजन आँज रही थी, हडबडाहट में अंजन लगाना छोडकर-निरंजन के दर्शन के लिये उतावली हुई। इधर निरंजन ब्रह्मस्वरूप श्यामल राम अंजनवत् थे, उन्हें निहारकर कोई सुन्दरी अपने मनरूपी दृष्टि को निर्मल कर रही थी। जिन लोगों ने रतिक्रीडा को ही अपने जीवन की सफलता माना, वे केलिकलाभवन में चले गये, अतः राम का दर्शन नहीं कर सके।॥१८॥

भरतेन कारितां धनवृष्टिमाह —

स्वे दीयमाने यतमानसेन

स्वे दीयमाने यतमानसेनः।

धर्मी चमूपो भरतेन शिष्टो

मेघो मघोनेव समन्तवृष्ट्यै॥१९॥

दीयमाने रक्ष्यमाणे स्वे आत्मीये स्वे धने यतमानसेन संयतचित्तेन। इत्यनेन रामागमावसरोचितधनवृष्ट्यर्थं भरतेन मनःसंयमपूर्वकं स्वकीयं धनं सुरक्षितमासीदिति व्यक्तम्। भरतेन-दीयमाने दाने प्रयुज्यमाने सति-समन्तवृष्ट्यै सर्वतोवर्षणार्थम्। यतमाना प्रयत्नं कुर्वती सेना यस्य स तथोक्तः। धर्मी धार्मिको नतु दाम्भिक इति भावः। चमूपः सेनापतिः शिष्टः आज्ञप्तः। अत्रोपमामाह-मघोना इन्द्रेण मेघ इव। इन्द्रो यथा समन्तवृष्ट्यै मेघं शास्ति, तथा भरतः मनःसंयमनपूर्वकसुरक्षितस्वकीयधनस्य सर्वत्र वर्षणार्थं प्रयत्नपर-सेनान्वितं धर्मात्मानं सेनापतिमादिदेशेति तात्पर्यम्। आद्यद्वितीयपादगतं यमकम्॥१९॥

अर्थ— भरत ने धनवृष्टि करवाई —

भरत ने रामागमन अवसर पर उचित धनवर्षा करने के लिये अपना (स्वयं का) धन सुरक्षित किया था, क्योंकि राजकोष का धन लुटाना उसके लिये अनधिकृत चेष्टा थी, अतः उसने सब तरफ धनवर्षा करने के लिये योग्य, धार्मिक सेनापति को आज्ञा दी, जिस प्रकार इन्द्र सब जगह वर्षा करने के लिये मेघ को आदेश देता है॥१९॥

रामाभिषेकस्य निर्विघ्नसिद्ध्यर्थं वशिष्ठस्य गणेशानुकूलनमाह—

नितान्तनिर्विघ्नतयैव रामं

योक्ष्यन् वसिष्ठस्त्वधुनाऽभिषिक्त्या।

यत्नादनौत् प्रीतमपि द्विपास्यं

तिर्यङ्ङपि प्राक्-स्खलितोऽवधत्ते॥२०॥

अधुना इदानीं तु। नितान्तया अतिशयितया निर्विघ्नतया एव रामम् अभिषिक्त्या राज्याभिषेकेण योक्ष्यन् युक्तीकरिष्यन् वशिष्ठः। प्रीतं (पूर्वतः) संतुष्टमपि द्विपास्यं गणेशम् यत्नात् अनौत् स्तुतवान्। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति प्राक्स्खलितः पूर्वं स्वलक्ष्यतश्च्युत इत्यर्थः। तिर्यङ् पशुः पक्षी वाऽपि अवधत्ते सावधानो भवति॥२०॥

अर्थ— राम के राज्याभिषेक को निर्विघ्न कराने की भावना से वशिष्ठ द्वारा गणेश वन्दन —

राम का राज्याभिषेक पूर्ण रूप से निर्विघ्न सम्पन्न हो, इसलिए वशिष्ठ ने प्रारम्भ में ही प्रसन्न गणेश की स्तुति की। और तो और पशु पक्षी भी एक बार गल्ती करने पर दुबारा संभल कर व्यवहार करते हैं, फिर मनुष्य सावधान हो यह तो उचित ही है। ॥२०॥

वैतालिकमुखेन श्रीरामं प्रति राज्यश्रीस्वीकारं सूचयति—

दशवक्त्रजयर्त्वनागतेः

शतकृत्वोऽप्युदितोऽत्यजो हि याम्।

वरराडिव नग्निकां नृप-

र्षभ, तां वृणवधुना नृपश्रियम्॥२१॥

हे नृपर्षभ राजश्रेष्ठ श्रीराम! वराणां कन्यावरयितॄणां राट् वरराट्। उत्तमश्रेणीयो वर इत्यर्थः। नग्निकाम् अनागतार्तवामिव। 'नग्निकाऽनागतार्तवा' इत्यमरः। यथा ऋतुधर्ममप्राप्तां भार्यां विचार्य उत्तमो वर उपभोगाद् विरमति तथेत्यर्थः शतकृत्वः शतवारम्। 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'। इति कृत्वसुच्। उदित उक्तोऽपि त्वम्। दशवक्त्रस्य रावणस्य यो जयः स एव ऋतुः स्त्रीधर्मः तस्य अनागतेः अप्राप्तेः। (कारणात्) यां हि (नृपश्रियम्) अत्यजः त्यक्तवान्। उपभोगानर्हां मत्वा वर्जितवानिति भावः। तां नृपश्रियं राजलक्ष्मीम् अधुना दशवक्त्रजयरूपऋतुधर्मे प्राप्ते सतीत्यर्थः। वृणु स्वीकुरु। अत्र वैतालिकोक्तौ स्थाने कविना वैतालीयं वृत्तं प्रयुक्तम्। 'षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तरा न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः। इति तल्लक्षणात्॥२१॥

अर्थ— वैतालिक के मुख से राम द्वारा राज्य श्री को स्वीकार करने का वर्णन—

हे राम! पहले आपने श्रेष्ठवर की तरह यह राजलक्ष्मी जो ऋतुधर्म रहित थी, अतः उपभोग योग्य नहीं थी, पर अब रावण के वध के कारण यह ऋतु धर्म प्राप्त है अतः इस राजलक्ष्मी को वरण कीजिये- इसे स्वीकार कीजिए॥२१॥

सहेति वैतालिकभारतीरिता

हरन्त्यशेषस्य जनस्य मानसम्।

स्राक्काम्ययेवाऽपरवक्त्रमाश्रिताऽ-

णिष्ठं स्वरूपं परिवर्त्य निर्ययौ॥२२॥

इति इत्थम् सह योगपद्येन ईरिता उच्चारिता। अशेषस्य सकलस्य जनस्य मानसं मनो हरन्ती। तदभिप्रेतत्वादिति भावः। वैतालिकस्य बोधकरस्य। भारती वाणी। स्राक्काम्यया शीघ्रताकामनयेव। अपरस्य तदन्यस्य वैतालिकस्य वक्त्रं मुखमाश्रिता आरूढा सती। अपि च अपरवक्त्रनामकं छन्दः समाश्रिता सती। अणिष्ठम् अल्पतमं स्वरूपप्रकारं परिवर्त्य

किंचिद्भावपरिवर्तनेन किंचिच्छन्दोगतनियम-परिवर्तनेन चेति भावः। निर्ययौ निर्गता प्रादुर्भूतेति भावः ॥२२॥

अर्थ— वैतालिक के मुख से उच्चरित यह वाणी-सारे लोगों के मन का हरण कर रही थी। दूसरे वैतालिक के मुख का आश्रय लेकर यही वाणी कुछ स्वरूप का परिवर्तन कर प्रकट हुई ॥२२॥

किंचित्प्रकारपरिवर्तनेनापरस्य वैतालिकस्य कथनमाह—

दशमुख-विजयर्तुनाऽऽप्लुता
शमितमदं भरताशयाऽङ्किता।
वत परिरभतां रघूद्वह-
र्षभमधुना नृपसंपदञ्जसा ॥२३॥

वतेति हर्षे। 'वत खेदेऽनुकम्पायां हर्षे संबोधनेऽद्भुते।' इति दन्तोष्ठ्यादावजयः[1]। दशमुखविजय एव ऋतुः स्त्रीधर्मः तेन हेतुना आप्लुता स्नाता। 'आप्लावः आप्लवः स्नानम्' इत्यमरः। भरतस्य आशयेन आशया वा अङ्किता चिह्निता। भरतोऽपीदम् अभिप्रैति आशास्ते वा यद् राममेषा नृपसंपत् परिरभतामितीति भावः। नृपसंपद् राजलक्ष्मीः। शमितो दूरीकृतः परित्यक्तो मदो गर्वो येन स तम्। इत्यनेन रावणविजयेनाऽपि राघवस्यागर्वितत्वं सूचितम्। त्यक्तयौवनमदस्य शान्तस्वभावस्य च ऋतुस्नातया स्त्रिया कृतमालिङ्गनं युक्तमेव। उद्वहति बिभर्तीति उद्वहः, रघूणामुद्वहः ऋषभ इव। 'उपमितं व्याघ्रा०' इति समासः। रघूत्तमः राम इत्यर्थः, तम्। अधुना अञ्जसा शीघ्रम्। परिरभताम् आलिङ्गतु। इति पूर्ववैतालिकोक्तं कर्तृकर्मविपरिणामेना-ऽयमपरो वैतालिको भरताशयाङ्कितत्वेन समर्थयमानश्चोक्तवानिति ज्ञेयम्। अथ च दशानां जनानां यानि मुखानि। लक्षणया तदुच्चारितानि 'अरे! कथमियं पतिं स्वयमालिङ्गितुं प्रवृत्ता' इत्येवंरूपाणि अपवादवचनानि तेषां, विजयते इति विजयो जेता य ऋतुः स्त्रीधर्मः, तेन आप्लुता स्नाता। तथा 'शमितम्' इति राघवविशेषणं विच्छिद्य-अदम्भेन निष्कपटेन रताशयेन मैथुनाभिप्रायेण रतस्य आशया वा अङ्किता। शमितं शं सुखम् इतं प्राप्तम्। रघूद्वहर्षभम्। उद्वहति परिणयतीति उद्वहः परिणेता वरः, तदृषभः वरोत्तम इत्यर्थः ततो रलयोरैक्यात् लघुः प्रियो य उद्वहर्षभः वरोत्तमस्तम्। स्वयं परिरभत एवेति बोध्यम्। अपरवक्त्रं वृत्तम् ॥२३॥

अर्थ— दशमुख रावण की विजय-रूपी ऋतुधर्म (स्त्री का मासिक धर्म) के कारण स्नान की हुई, और भरत के आशय से (मनोभावों से) चिह्नित, यह राज-लक्ष्मी रावण को मारने पर भी जिनको गर्व नहीं है, ऐसे रघूत्तम राम को शीघ्र ही आलिङ्गन करें। भरत भी यही चाहता है कि राज-लक्ष्मी राम का वरण करें ॥२३॥

श्रीरामराज्याभिषेकसंभारं वर्णयति —

शस्तन्यस्तसमस्त-वस्तुकगणं
प्रोद्गीर्णवीणाक्वणं
तालोत्तालितनर्तकीय-चरणं
गान्धर्वगानोल्बणम्।
निर्यद्गन्ध-सुधूपनाभिघुसृणं
पिष्टातपृक्ताङ्गणं
चक्रेऽग्रे स्फुटयन् विधिः स्वमनृणं
रामाभिषेकक्षणम् ॥२४॥

शस्ताय मङ्गलाय न्यस्तानां स्थापितानां समस्तवस्तूनां[2] गणो यत्र स तम्। प्रोद्गीर्ण उच्चैश्शब्दितो वीणायाः क्वणः शब्दो यत्र स सम्। तालेन

---

१. भानुजिदीक्षितेनाऽपि दन्तोष्ठ्यादिभ्यां वपि-वनि-म्यामेवैतत् साधितम्। ओष्ठ्यादित्वमपि अस्य प्रचरितं दृश्यते।

२. स्वार्थिकस्य मूलप्रयुक्तस्य कन्प्रत्ययस्य व्याख्यातं-प्रायत्वान्न दर्शितः सः।

कालक्रियामानेन उत्तालितं त्वरितं नर्तकीयं नर्तकी-संबन्धि नर्तकसंबन्धि वा चरणं पादः यत्र स तम्। गान्धर्वेण दिव्यगायनसंबन्धिना गानेन उल्वणं स्पष्टी-भूतम्। निर्यद्गन्धानि निस्सरत्सौरभाणि सुधूपनाभि-घुसृणानि[1] प्रशस्तधूप-कस्तूरीकुङ्कुमानि यत्र स तम्। पिष्टातैः पटवासकचूर्णैः पृक्तानि संगतानि अङ्गणानि यत्र स तम्। एवंभूतस्य रामाभिषेकस्य क्षणम् अवसरम् उत्सवं वा विधिः दैवं (कर्ता) स्वम् आत्मानम् अनृणम् ऋणोन्मुक्तं स्फुटयन्। प्रकटयन् (इव[2]) अग्रे चक्रे संमुखीकृतवान्। पूर्वं मुहुः प्रातिकूल्यदर्शनेन ऋणवान् विधिः अद्य लोकानामनृणतां दर्शयन् एतादृशं रामराज्याभिषेकोत्सवं प्रकटितवानिति भावः। यत्यन्तानुप्रासोऽपि ॥२४॥

अर्थ— श्रीराम के अभिषेक का वर्णन —

राम के राज्याभिषेक का महोत्सव है। मंगल ध्वनि हो रही है। वीणा की मधुर झंकार है। नर्तकियों के पदचाप में नूपुरों का रणन है। गन्धर्व बृन्द का गायन गुंजित हैं। चन्दन कस्तूरी सुगन्ध से युक्त धूप आदि की सुगन्ध फैल रही है।॥२४॥

श्रीरामस्य राज्यासनारोहणमाह—

रामो गुरूक्ति-मुकुटं शिरसा दधौ प्राग्

मोदात्, प्रभुत्वमुकुटं तु तदन्वधित्सत्।

राज्यासनं च सह वल्लभयाऽऽरुरोह

यद्वद् हरिः शचिकया सह रत्नसानुम् ॥२५॥

प्राक् पूर्वम् रामः मोदाद् हर्षेण शिरसा गुरूक्तिं वशिष्ठाज्ञां यद्वा गुरूणां पूज्यानां वशिष्ठादीनां मातॄणां च उक्तिमाज्ञामेव मुकुटं दधौ धृतवान्। प्रभुत्वस्य राज्यस्वामित्वस्य मुकुटं तु तदनु गुर्वाज्ञाधारणानन्तरम्। अधित्सत् धातुं धर्तुमैच्छत्। अनेन श्रीरामस्य विनीतभावातिशयो दर्शितः। च पुनः वल्लभया सीतया सह राज्यासनम् आरुरोह। अत्रोपमिमीते यद्वद् यथा हरिः इन्द्रः शचिकया इन्द्राण्या सह रत्नसानुं सुमेरुम्। (आरोहति) ॥२५॥

अर्थ— श्रीराम का राज्य-सिहांसन पर चढने का वर्णन—

सबसे पहले रामने हर्ष से शिर से पूज्य वशिष्ठ आदि गुरुओं और माताओं की उक्ति (आज्ञा) को मुकुट मानकर धारण किया, और उसके पश्चात् राज्यस्वामित्व के मुकुट को धारण करने की इच्छा की, और सीता के साथ उस प्रकार राज-सिहांसन पर चढे जिस प्रकार इन्द्र शची (इन्द्राणी) के साथ सुमेरु पर्वत पर चढता है। ॥२५॥

श्रीरामस्य राज्यतिलकमाह—

मुञ्चत्सु विप्रवनितानिवहेषु सूक्त-

पाठान् व्यधात् सतिलकं मुकुटं वशिष्ठः।

सिद्धं न इष्टमभिवर्धस ईश दिष्ट्या

त्वामीक्षते यदधिपं जन इत्यनौत् तम् ॥२६॥

विप्राणां ब्राह्मणानां वनितानां स्त्रीणां च निवहेषु समूहेषु। सूक्तपाठान् (विप्रपक्षे) तद्विषय-कवेदमन्त्रसमूहपाठान् (स्त्रीपक्षे तु) मङ्गलगीतपाठान्। 'सूक्तं सुभाषिते वेदैकार्थ[3]-मन्त्रकदम्बके' इति वाचस्पतिः। मुञ्चत्सु उच्चारयत्सु सत्सु। वशिष्ठः सतिलकं राज्यतिलकविधानपूर्वकमित्यर्थः। मुकुटं राज्यमुकुटं व्यधात् तत्परिधानविधानं कृतवानित्यर्थः। रामस्येति शेषः। भो ईश स्वामिन् नोऽस्माकम् इष्टं समीहितं सिद्धम्। दिष्ट्या अभिवर्धसे। यत् जनः लोकः प्रजा इत्यर्थः। त्वाम् अधिपं स्वामिनम् ईक्षते पश्यति। इति इत्थं (वसिष्ठः) तं रामम् अनौत्

---

१. 'नाभिः-स्त्रियां कस्तूरिकामदे।' इति मेदिनी।

२. प्रतीयमानोत्प्रेक्षेयम्।

३. एकविषयकमन्त्रसमुदाये, यथा पुरुषसूक्तश्रीसूक्तादि।

स्तुतवान्। चिरात्प्रतीक्षमाणानां प्रजानामभीष्टसाधनेन त्वं दिष्ट्या वर्धसे इत्यभिनन्दितवानिति भावः ॥२६॥

अर्थ— श्रीराम के राज्यतिलक का वर्णन—

ब्राह्मणों ने राज्य-तिलक सम्बन्धी वेद-मन्त्रों का पाठ किया, पतिव्रता स्त्रियों ने माङ्गलिकगीत गाये। वशिष्ठ ने राज्यतिलक विधान के अनुसार पहले तिलक लगाकर राज्यमुकुट को पहनाया। हे ईश! स्वामिन् राम! आज हमारा अभीष्ट सिद्ध हुआ, भाग्य से आप बढ रहे हैं, और सम्पूर्ण प्रजा स्वामी के रूप में आपको देख रही है, इस प्रकार वशिष्ठ ने श्रीराम की स्तुति की॥२६॥

त्रिभी रामराज्याभिषेकोत्सवं वर्णयति —

ब्रह्मा मङ्क्षु गिरा समं सितगरुद्-
यानेन तत्रागतोऽ-
मर्त्या इन्द्रपुरोगमा अपि पुरः
प्राप्ताश्च वैमानिकाः।
लोकित्वैव जरद्गवेन चिरितं
शङ्काकरं शङ्करं,
कं नार्थं गणराड् व्यधात् तव सुतः
प्राक् प्राप्त इत्यस्तुवन् ॥२७॥

तत्र अयोध्यायां गिरा सरस्वत्या समं सह। 'गीः स्याद् भाषा-सरस्वत्योः' इति मेदिनी। सितगरुद्-यानेन हंसवाहनद्वारा मङ्क्षु शीघ्रम् आगतः सन् ब्रह्मा। अपि पुनः। पुरः पूर्वं प्राप्ता आगताश्च इन्द्रपुरोगमाः शक्रादयो वैमानिका विमानचारिणः अमर्त्या देवाः। जरद्गवेन वृद्धोक्षेण स्ववाहनेन। चिरितं कृतविलम्बम्। जरद्गवस्य मन्दगतिकत्वादिति भावः। अत एव शङ्काकरम्। अहो त्रिलोकाधीश्वरस्य राज्याभिषेक-सभाधिवेशनेऽहमेव विलम्बितवानस्मीति किं नाम तर्कयिष्यन्ति सभ्यां इति शङ्कान्वितं शङ्करम् लोकित्वा दृष्ट्वा एव। 'प्राक् पूर्वं प्राप्तः समागतः तव भवतः सुतः पुत्रो गणराड् गणेशः कम् अर्थं कार्यं न व्यधात् साधितवान्' इति अस्तुवन् प्रशंसन्ति स्म। इत्यनेन प्रशंसनेन शङ्करस्य शङ्कां ब्रह्मादयो दूरीचक्रुरिति भावः ॥२७॥

अर्थ— तीन श्लोकों में राम के राज्याभिषेक-महोत्सव का वर्णन —

राम के राज्याभिषेक के समय अयोध्या में सरस्वती के साथ हंस पर चढ कर ब्रह्मा जी आये, और विमानों पर चढ कर इन्द्रादि देवगण पधारे, बूढे बैल पर चढकर शिवजी विलम्ब से आये और शङ्का करने लगे कि मैं ही यहाँ विलम्ब से आया हूँ, तब ब्रह्मादि देवों ने कहा कि आपसे पहले आपके पुत्र (गणेश)यहाँ आकर सब कार्यों को सिद्ध (सफल) कर दिया है, अतः आप किसी प्रकार की शङ्का न करें, हम आपको प्रणाम करते हैं।॥२७॥

कयाचिदप्सरसा नृत्यविशेषप्रार्थनेऽस्वीकृते तत्संपादनार्थं कस्यचित् कौतुकोपहासनिपुणस्य देवयुवकस्य युक्तिं दर्शयन्नाह —

प्रत्याख्यातविनर्तना गणपतिं
यूनाऽप्सरा नामिता
यास्तौत्, तत्-कवरीं विदन् फणधरीं
तद्वाहनाखुर्द्रुतः।
यत् पस्पर्श तदीयनाभिकुहरं
तत् सोत्प्लुता संभ्रमात्
तिर्यक्-संमुख-पार्श्व-पृष्ठग-भुंजो-
त्क्षेपैर्व्यनर्तीत् स्वयम् ॥२८॥

प्रत्येति। प्रत्याख्यातं विनर्तनम् आत्मनो विशिष्टं विविधं वा नर्तनं यया सा तथोक्ता। यूना केनचिद् देवयुवकेन नामिता प्रणामं कारिता सती या

अप्सरा[1] गणपतिमूअस्तौत् स्तुतवती। विशेषनर्तनस्य निषेधेन नृत्योपसंहारावसरीयोऽयम् अप्सरसः स्वाभीष्टदेवगणेशप्रणामो[2] व्यज्यते। तत्कबरीं तस्या अप्सरसः प्रणमन्त्या इत्यर्थः। कबरीं केश-विन्यासम्। जानपदेत्यादिना ङीप्। फणधरीं सर्पिणीं विदन् मन्यमानः। कबरीविषये सर्पिणीभ्रमं कुर्वन्नित्यर्थः। तद्वाहनाखुः तस्य गणपतेः वाहनाखुः वाहमूषकः द्रुतः (भयात्) पलायितः सन्। यत् (यस्मात्) तदीयम् अप्सरःसबन्धि नाभिकुहरं नाभिविवरं पस्पर्श आत्मगोपनाशयेन स्पृष्टवान्। तत् तस्मात् सा अप्सराः संभ्रमात् साध्वसात् उत्प्लुता उत्कूर्दिता सती। तिर्यक् तिरश्चीनं, संमुखं, पार्श्वं, पृष्ठं च तानि। तद्वैः। मूषकेण तत्तदङ्गानामाक्रान्ततया तत्र तत्र गतैः भुजोत्क्षेपैः मूषकापसारणाशयेन कृतैः बाहूत्क्षे-पणैरित्यर्थः। स्वयम् आत्मना, नंतु केनापि प्रेरिता, व्यनर्तीत् विविधं विशष्टं वा नृत्यं चकार। मानवशाद् यूना प्रार्थितं विनर्तनम् अचिकीर्षन्त्यपि तत्स्वयं चकारेति भावः ॥२८॥

अर्थ— अप्सरा के नृत्य विशेष का वर्णन —

कौतुक-उपहास करने में निपुण किसी देवयुवक ने अप्सरा से प्रणामपूर्वक विशेष-नृत्य करने हेतु निवेदन किया परन्तु उसने नृत्य करने से मना कर दिया और गणपति की स्तुति करने लगी, तब उसकी वेणी (चोटी) को सर्पिणी समझ कर गणेश का वाहन चूहा अपनी रक्षा करने के लिये उसकी नाभि को ही बिल समझकर उसमें प्रवेश करने की इच्छा से तैयार हुआ, इस दशा में उस (अप्सरा) ने हाथों से उसे हटाना चाहा, इस पर वह चूहा कभी मुखपर, कभी पार्श्वभाग में, तो कभी पृष्ठ पर उछलने लगा, फिर उस अप्सरा ने उसे हटाने के लिये भुजाओं को उन-उन स्थानों पर चलाने के बहाने स्वयं ही नृत्य करने लगी ॥२८॥

विशेष— यहाँ हास्य-रस की पुष्टि हुई है।

इत्यादित्रिदशप्रहासकुतुकैः
श्रीकोशलाधीश्वर-
दंपत्योः स्मितमादितो द्विगुणितं
पौरैस्तदानींतनम्।
पत्पद्मप्रणतिप्रहर्षि-हनुमद्-
व्याकस्मिकोत्पुच्छन-
विष्वग्-विद्रुतकामिनी-किलकिला-
कोलाहलैः कल्पितम् ॥२९॥

इत्यादिभिः प्राङ्निर्दिष्टस्वरूपादिभिः त्रिदशानां देवानां प्रहासकुतुकैः परीहासकौतूहलैः आदितः प्रथमतः पूर्वापेक्षयेत्यर्थः। द्विगुणीकृतम्। तदानींतनं तत्समयभवं श्रीकोशलाधीश्वरदंपत्योः सीतारामयोः स्मितं मन्दहासः (कर्म)। पौरैः पुरवासिभिः (कर्तृभिः)। पत्पद्मयोः श्रीरामपादारविन्दयोः या प्रणतिः प्रणामः तेन प्रहर्षी प्रकृष्टहर्षप्राप्तो यो हनुमान् तस्य यद् व्याकस्मिकम् अकस्माद् भूतं यद् उत्पुच्छनं पुच्छस्योच्चैः क्षेपणम् 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' इति णिङन्तमेतत्। तेन विष्वक् समन्तांद् विद्रुता संबाधाच्चकितीभूय धाविता याः कामिन्यः स्त्रियः तासां ये किलकिलायाः हर्षस्वनस्य कोलाहलाः किलकलाः। 'हर्षस्वनः किलकिला' इति शब्दार्णवः तैः (द्विगुणितं) कल्पितं तर्कितम्। देवदर्शिताया

---

१. 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यत्र बहुष्विति प्रायोवादः। 'अनचि च' इति सूत्रे 'अप्सरा' इति महाभाष्यप्रयोगात्। 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि।' इति शब्दार्णवः। 'अप्सरःस्वप्सराः प्रोक्ता सुमनाः सुमनःसु च।' इति द्विरूपकोशश्च। 'एकाऽप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः इति रघुः।

२. वेश्यानां गणेशोऽभीष्टदेव इति प्रसिद्धिः। अत एव कार्यस्यारम्भसमाप्त्योस्तासां तत्प्रणाम उचितः।

उत्सवविभूतेर्ज्ञातुम-शक्तत्वात् पौरैः स्व-नेत्रकर्णगोचरीभूतैः हनूमत आकस्मिकोत्पुच्छनेन विद्रुतानां स्त्रीणां कोलाहलैः द्विगुणीकृतं सीताराम-स्मितमिति तर्कितमिति भावः। अत्र 'विष्वग्विद्रुत-संकटीकृदबलोलूलुत्थमेवोहितम्' इति पाठान्तरे तु-उत्पुच्छनेन विष्वग्विद्रुतानां संकटीकृतां संबाधहेतु-भूतानाम् अबलानां स्त्रीणां य उलूलुः[१] वृद्धि-माङ्गल्या-दिसूचको ध्वनिविशेषः। तदुत्थं तेन जातमेव द्विगुणितं स्मितम् ऊहितं तर्कितमित्यर्थो ज्ञेयः ॥२९॥

अर्थ— यह कौतुक देखकर सारे देवता हंसने लगे। उनका आनन्द दुगना हो गया। राम सीता भी मंद मंद मुस्कराते रहे। पुरवासियों ने भी आनन्द का अनुभव किया। हनुमान् जी ने श्रीराम के चरण-कमलों में नमस्कार किया, उस समय प्रहर्ष से अपनी पूंछ को उन्होंने ऊँची कर चारों ओर लहराया, इससे स्त्रियां हड़बडाकर इधर-उधर भागने लगी। वहाँ कामिनियों ने किलकिला ध्वनि कर अपने हर्ष को प्रकट किया, इस समय नारियाँ आनन्द सागर में मग्न थी। इस के द्वारा उन्होंने राम-सीता की मुस्कान को दुगनी कर दी। ऐसी मंगल बेला पर स्त्रियां 'उलूलु ध्वनि' करने लगी। यह मांगल्य-ध्वनि है ॥२९॥

भरतस्य यौवराज्यापादनमाह—

त्रंशानुयातमिव तीयमधीश आद्य-
पाश्चात्त्यचिन्तनयुतं सहजं तृतीयम्।
पश्यन्, द्वियुक्तमिव तीयमथ द्वितीयं
घ्नं चापदां शमिनमित्यकरोद् युवेशम् ॥३०॥

अधीशः अधिक ईशः स्वामी महाराजो राम इत्यर्थः। त्रंशानुयातं 'तृ' इत्यंशेन त्रिस्वरूपप्रकृति-विकारभागेन अनुयातम् अनुगतं तीयं तीयप्रत्ययमिव। आद्यात् प्रथमाद् रामात् पाश्चात्त्यः पश्चाद् भवः भरतः तत्पाश्चात्य अहं (लक्ष्मणः) तस्य। यद्वा आद्यस्य पाश्चात्यस्य च यच्चिन्तनं विचारणं तेन युक्तम्। अहं हि रामाद् द्वितीयो न, किन्तु तृतीयस्तर्हि कथमहं यौवराज्यमर्हेयमिति त्रयाणां भ्रातॄणां क्रमचिन्तन-तत्परतया यौवराज्यमनिच्छन्तमिति भावः। तृतीयं स्वापेक्षया त्रिसंख्यापूरणं सहजं भ्रातरं लक्ष्मणमित्यर्थः। समानवीर्यजत्वेन भ्रातृसामान्यवाची सहजशब्दोऽत्र ज्ञेयः। 'भ्राता तु स्यात् सहोदरः समानोदर्य-सोदर्यसगर्भसहजा अपि। सोदरश्च'' इति नाममाला। पश्यन् सन्। अथ अनन्तरम्। द्वियुक्तं 'द्वि' इति प्रकृत्यंशेन युक्तं तीयं तीयप्रत्ययमिव। शमिनं शान्तम्। च पुनः। आपदां प्रजाविपदां घ्नं नाशकम्। मूलविभुजादित्वात्कः। इति एतद्गुणद्वययुक्तमित्यर्थः। द्वितीयं स्वापेक्षया द्विसंख्यापूरणं भरतं पश्यन् इत्याकृष्यते। युवेशं युवा चासौ ईशः इति तम्। युवराजमित्यर्थः। (तं भरतम्) अकरोत् कृतवान्। अधीशस्य युवेश उचित एव ॥३०॥

अर्थ— भरत की युवराज पद पर प्रतिष्ठा —

महाराज श्रीराम ने 'तृ' इस प्रकृति के अंश से अनुगत 'तीय' प्रत्यय की तरह आद्य और पाश्चात्य के चिन्तन से युक्त अर्थात् मैं राम से द्वितीय (दूसरा) नहीं हूँ किन्तु तृतीय हूँ अतः किस प्रकार यौवराज्य के योग्य हूँ इस प्रकार तीन भाईयों के क्रम-चिन्तन की तत्परता से युवराज-पद की इच्छा नहीं करने वाले और अपनी अपेक्षा से त्रि संख्या को पूरण करने वाले (तृतीय) भाई लक्ष्मण को देखते हुये राम ने 'द्वि' इस प्रकृति के अंश से युक्त तीय प्रत्यय की तरह शान्त और प्रजा की विपत्तियों के नाशक अर्थात् द्विसंख्या को पूर्ण करने वाले (द्वितीय) भाई भरत को युवराज बनाया ॥३०॥

द्वाभ्यां श्रीरामस्य मङ्गलमाशंसति—

पुण्यौषध्यभिवर्धिदर्शनसुधं
सीतोल्लसश्चन्द्रिकं

१. 'उच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार' इति नैषधम्।

यं राज्यासन-पूर्वगिर्युदयितं

पादाऽऽमिलन्मारुतम्।

वेगात् सातपरक्षणं प्रददृशुः

सन्तश्चकोराः, स्फुर-

दैश्वर्याऽखिलसत्कलः स हरतु

श्रीरामचन्द्रस्तमः ॥३१॥

पुण्यानि एव ओषधयस्तदभिवर्धिनी दर्शनसुधा[1] दर्शनाऽमृतं यस्य स तम्। सीता एव उल्लसन्ती चन्द्रिका यस्य स तम्। राज्यासनमेव पूर्वगिरिः उदयपर्वतः तत्र उदयितम् उदयं प्राप्तम्। पादयोश्चरणयोः आमिलन् मारुतः मरुतोऽपत्यं हनूमान् यस्य स तम्। अन्यत्र पादेषु[2] किरणेषु आमिलन् मारुतःपवनो यस्य स तम्। आतपरक्षणेन च्छत्रेण सह वर्तमानम् अन्यत्र सातपम् आतपविकारक्लिष्टं (जनं) रक्षतीति तम्। यं (श्रीरामचन्द्रं) सन्त चकोरा अर्थात् साधुरूपाः चकोराः वेगात् प्रददृशुः दृष्टवन्तः। स्फुरन्त्यो विराजमानाः ऐश्वर्याणि विभूतय एव अखिलाः सत्कला-शोभनाः (षोडशः) कला यस्य स तथोक्तः। स श्रीराम एव चन्द्रः। तमः शोकम्। सांसारिकमिति भावः। तमोऽन्धकारं च हरतु शमयतु ॥३१॥

अर्थ— दो श्लोकों में भगवान् रामचन्द्र की प्रशंसा—

भगवान् राम सिंहासन पर ऐसे शोभित हैं- जैसे पूर्ण चन्द्र हों, सीताजी चाँदनी की तरह थी। पवन पुत्र हनुमान् जी चरणों में थे। मानों किरणों में मिलता हुआ पवन हो। रामचन्द्र जी छत्र धारण किये थे - जो छत्र प्रजा के लिये छाया कर रहा था जिससे अब आतप (पीड़ा) न रहे। सारे साधु चकोर की तरह राम का दर्शन कर आनन्दित थे। राज्यसिंहासन पर विराजमान, यह राम उदयगिरि पर उदित चन्द्र की तरह हमेशा प्रजा के अंधकार को दूर करते रहें। इन का दर्शन पुण्य-रूपी ओषधियों की वृद्धि के लिये अमृत के समान है ॥३१॥

चराऽगच्छत्रमुद्भासं

संसक्तरमणीरुचम्।

मित्ररक्षं श्रये तातं

तं रामं द्विष्टिमच्छमि ॥३२॥

छत्रवन्ध चित्रम्।
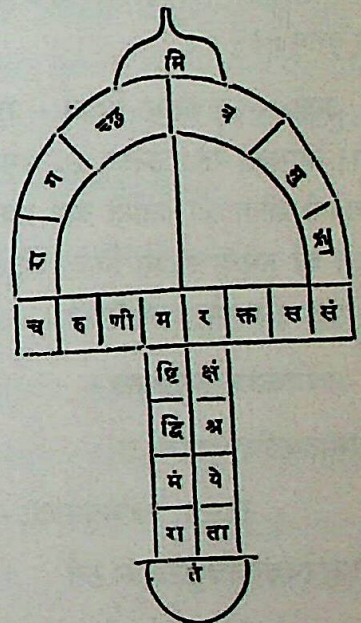
अहम् द्विष्टिमतो द्वेषिणः शमयतीति तत्[3] तथोक्तम्। चराणाम् अगानां शैलवृक्षाणां स्थावराणां च रक्षकत्वेन च्छत्रं छत्ररूपम्। उद् उत्कृष्टा भाः

१. सुधापदमेतत्सर्गनामोपलक्षणम्।

२. 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः।

३. छत्रस्य विधेयभूतस्येदं विशेषणम्। तदपि आश्रितानां द्वेषिण आतपादीन् शमयत्येव। रामपक्षे तु राक्षसादीन् द्वेषिण इति ज्ञेयम्।

कान्तिर्यस्य स तम्। उद्भासते[1] इति उद्भासस्तमिति वा। संसक्ता संगता रमण्याः सीताया रुक् कान्तिर्येन (करणेन) स तम्। अपिच- संसजति संमिलतीति संसक् संसक्करा अतिशयेन संमिलिता मणीनां रुचा[2] कान्तिर्यत्र तदिति च्छत्रस्याऽपि विशेषणं च्छत्रबन्धचित्रे निरनुस्वारतया सानुस्वारतया च यथापेक्षितं पठ्यते। 'नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ।' इति वचनात् मित्राणि सुहृदो रक्षतीति तम्। अपिच मित्रात् सूर्यात् रक्षतीति आतपवारणत्वेन-च्छत्रमपि। तं तातं पितरं जगतामिति शेषः। रामं श्रये शरणीकरोमि। छत्रबन्धचित्रमिदम्। राज्यच्छत्रालंकृतस्यश्रीरामस्य मङ्गलाशंसने छत्रारोपणं छत्रबन्धचित्ररचनं च स्थाने कविना दर्शितम्। छत्रचित्ररचना गतस्य 'च्छत्र' इति वर्णद्वयस्य चोचितस्थाननिवेशनरूपश्चमत्कारो दर्शितः। अनुष्टुब् वृत्तम्॥३२॥

अर्थ— छत्रबन्ध-चित्रम् – राम में हमारा मन लगे। आसक्त रहे। उनका छत्रं हमेशा चमकता रहे। भगवती सीता की कान्ति वहां प्रकाश फैलाती रहे। मित्रों को हमेशा सहारा मिले। शत्रुओं का सदा नाश हो। ऐसा राम हमेशा वंदनीय है॥३२॥

राज्यच्छत्रं वर्णयन्नाह-

यः श्रीरामातपत्रोत्तननहृतदृशः
सुभ्रुवः स्वर्णकुम्भोऽ-
पप्तत् सोपानपङ्क्तावकुरुत स रुतं
'ठं ठठं ठं ठठं ठः'।
ठेनाकृष्टो युवोचे पततु ननु कर-
स्थो, न तूरःस्थ, एत-
द्राज्यच्छत्रस्य साम्यं त्वधिपतिकृपयै-
वैतु वैकुण्ठलोके॥३३॥

श्रीरामस्य यदातपत्रं राज्यच्छत्रं तस्य यत् उत्तननम् उत्प्रसारणं तेन हृते आकृष्टे दृशौ नेत्रे यस्याः सा तस्याः। उत्तानीकृतस्य च्छत्रस्य दर्शनेन स्वकुचादप्युन्नमनातिशयस्य संस्मरणात्तरुण्या नेत्राकर्षणं तत्कृतं युक्तमेव। तच्छत्रदर्शनव्यग्रनेत्राया इति भावः। सुभ्रुवः कस्याश्चन स्त्रियाः यः स्वर्णकुम्भ राज्याभिषेकावसरे पाणौ करे गृहीतः सुवर्णकुम्भः इत्यर्थः। सोपानपङ्क्तौ आरोहणपथे। अपप्तत् पतितः। पादस्खलनसंभवादिति भावः "पतः पुम्" इति पुम्। स (स्वर्णकुम्भः) ठं ठठं ठं ठठं ठः इत्येवंरूपं रुतं शब्दम् अकुरुत। ठेन अन्तिमेन बृहच्छब्देन 'बृहद्-ध्वनौ च ठः प्रोक्तः' इत्येकाक्षरः। आकृष्टः ध्यानान्तरादाकर्षणेन उद्बोधितः सन्निति भावः। युवा कोऽपि तरुण ऊचे। ननु इति तां युवतिं प्रति कोमलामन्त्रणे। करस्थः पाणिस्थितः स्वर्णकुम्भ इत्यर्थः। पततु पतेन्नाम। न काप्यस्य पतनेन हानिरिति भावः। न तु उरस्थः वक्षःस्थलस्थः स्वर्णकुम्भः स्तनरूपः पततु। उरःस्थकुम्भस्य स्तन-रूपस्य पतनेन तु महाहानिरिति स न पततु इति भावः। स्तनयोर्द्वित्वेऽप्यत्र जातित्वादेकत्वम्। यत्त्वं चिन्तयसि यदुत एतद्राज्यच्छत्रमिव मदीयः कुचकुम्भोऽपि शाश्वतम् एतादृशमुत्तानं प्राप्नोतु इत्येतत् समाधत्ते-एतदिति। एतस्य राज्यच्छत्रस्य साम्यं सादृश्यं (कर्म) तु। शाश्वतोन्नतिकतयेति भावः। अधिपतेः श्रीरामस्य कृपया एव वैकुण्ठलोके एतु प्राप्नोतु। उरःस्थकुम्भः इति कर्तृपदं पूर्वत आकृष्यते। भगवत्कृपया वैकुण्ठलोके प्राप्ते सत्येव तत्रत्येन शाश्वतेन यौवनेन शाश्वतोत्तानस्ते कुचकुम्भो रामराज्यच्छत्रसाम्यं प्राप्नोतु नान्यथेति भावः॥ अत्र वैचित्र्यातिशयप्रदर्शनवशाद् 'रामाभिषेके मद-विह्वलायाः कराच्च्युतो हेमघटस्तरुण्याः। सोपानमार्गे स चकार शब्दं ठठं ठठंठं ठठठं ठठं ठः॥' इत्येतत्परकीयकल्पनोपादानं न दोषाय कल्पते॥३३॥

---

१. एतच्छत्रविशेषणमपि भवितुमर्हति।
२. भागुरिमतेन आवन्तम्।

अर्थ— राम के राज्याभिषेक के समय अनेक सुन्दरियाँ स्वर्णकलश लिये खड़ी थीं। एक स्त्री ने जब राम के उन्नत छत्र को देखना (उचककर) शुरु किया तो उसके हाथ से फिसल कर स्वर्णकुंभ सोपान की पंक्तियों पर ठं ठं ठं शब्द करता हुआ गिरपड़ा-उससे कोई क्षति नहीं। यह देखकर एक युवक ने कहा-स्वर्ण-कलश गिर गया तो गिर गया, उससे कोई हानि नहीं, किन्तु युवतियों के कुच-स्वर्णकलश हमेशा ऊँचे रहें यानि उनका तारुण्य शाश्वत रहे और बैंकुठ की ओर जावे। यानी राम के राज्य में सभी तरुण रहें और चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करें॥३३॥

श्रीरामपूजार्थिनां श्रीसरयूस्नानगमनमाह —

मत्वाऽन्तराढ्यंकरणीं वगाहन-
चमत्कृतिं स्वाम्बु विमुच्य सद्-घनाः
रिरंसया नाऽपितु तद्-बुभूर्षया
तं सारवं वार्धमिवाश्रयंस्तटम्॥३४॥

सद्-घनाः सन्तः साधव एव घना मेघाः। वगाहनस्य स्नानस्य अन्तः प्रवेशस्य च। सरयूविषयकस्येति भावः। चमत्कृतिं चमत्कारम् आढ्यंकरणीम् अनाढ्यः आढ्य क्रियतेऽनया ताम् निर्धनानां धनदात्रीमित्यर्थः। 'आढ्यसुभग' इति ख्युन्। 'नञ्स्नञीकक्०' इति ङीप्। अन्तः मनसि मत्वा ज्ञात्वा। अत एव स्वं धनमेव अम्बु जलं विमुच्य वर्षित्वेत्यर्थः। धनजलं हि सरय्वा अवगाहनेन पुनर्लभ्यमिति विचारणापूर्वकं धनजलं दानरूपेण वर्षित्वेति भावः। रिरंसया जलविहारेच्छया न। अपितु किन्तु तद्बुभूर्षया तस्य स्वाम्बुनः श्रीरामपूजार्थकस्य धनस्वरूपस्य जलस्य बुभूर्षया भर्तुमिच्छया। 'सनीवन्तर्ध०' इति इड्वा। तेषां सज्जनमेघानां सा जलविहारेच्छा नासीत्, किन्तु श्रीरामपूजार्थक-जलधनस्य जिघृक्षा आसीदित्यपह्नुतिः वार्धं वार्धेरिदं वार्धम् समुद्रसम्बन्धीव अर्थात्समुद्रतटमिव। सारवं सरय्वां भवम्। 'तत्र भवः' इत्यण्। 'देविकाशिंशपा०' इत्यचामादेरात्वम्। 'दाण्डियानहास्तिनायन०' इति य्वादेर्वो निपात्यते। तटं तीरम्। आश्रयन् अगच्छन् मेघा यथा जलं वर्षित्वा रिक्ताः सन्तः पुनर्जलपूरणाय समुद्रतटं गच्छन्ति तथा ते सज्जना अपि पूजार्थकजलधन-प्राप्तिप्रत्याशया स्वकीयं धनं वर्षित्वा तत्पूरणेच्छया सरयूतटमगच्छन्निति तात्पर्यम्॥३४॥

अर्थ— राम की पूजा करने वालों का सरयू में स्नान करने का वर्णन—

जैसे बादल बरस कर खाली हो जाते हैं और फिर समुद्र के पास जाते हैं, उसी प्रकार प्रजा ने राम के राज्यमहोत्सव के उपलक्ष्य में धनवर्षा की और फिर सरयू में स्नान करने गये। ताकि निर्मल होकर राम की पूजा कर सकें और पुनः धनसम्पदा से पूर्ण हो सकें॥३४॥

द्वाभ्यां सरयूं वर्णयति—

सर्वैरदर्शि सरयूः किल यत्र साऽधो-
वस्त्राऽम्बुनाऽपि बहिरिद्धमुखीव वेश्या।
पाथोजिनीशकुलजैः समितप्रतीर-
पैः सेव्यतेऽन्तरनिशं मधुपैर्बहिश्च॥३५॥

सर्वैः जनैः किल सरयूः अदर्शि दृष्टा यत्र वेश्या इव अम्बुनां जलेन (हेतुना) जलान्तरिततयेति भावः। साधोवस्त्राअधोवसनधरिण्यपि बहिः इद्धमुखी प्रकटमुखी पाथोजिनी कमलिनी (कर्म)। समिताः संगताः प्रतीरस्य तटस्य आपो जलानि यैस्ते तैः। इत्यनेन पाथोजिन्या अपि तीरोपान्तवर्तित्वं व्यज्यते। शकुलजैः (कर्तृभिः) शकुलो मत्स्यविशेषः तज्जैः तच्छावकैरित्यर्थः। अन्तर्मध्ये। अनिशमनवरतं सेव्यते स्पृश्यते इत्यर्थः। बहिश्च मधुपैर्भ्रमरैः सेव्यते उपभुज्यते। वेश्याऽपि अन्तः गृहमध्ये इत्यर्थः। समिताः संगताः

प्रति-इरापाः[१] प्रत्येकमद्यपाः यैः ते तैः। ईशकुलजैः ईशस्य स्वामिनः कुलजैः वंशजातैः सेव्यते उपभुज्यते। बहिःप्रकाशरूपेण च मधुपैः मद्यपैः सेव्यते उपभुज्यते॥३५॥

अर्थ— दो श्लोकों में सरयू का वर्णन—

सबने सरयू को देखा। नीचे जलरूपी वस्त्र धारण किये हैं और बाहर कमलिनी के रूप में मुख दिखा रही है। भीतर शकुल नाम की मछलियों के शावक जो जल के अन्दर उसका स्पर्श कर रहें हैं और बाहर मधुप (मधु को पीने वाले भौरें) मँडरा रहें हैं, अर्थात् उसका उपभोग कर रहे हैं।

यह वेश्या की तरह भी लग रही हैं क्योंकि घर के अन्दर धनाढ्य कुल में उत्पन्न कामुक उस (वेश्या) का उपभोग करते हैं और बाहर शराबी (मधुप) उसका सेवन करते हैं

इस प्रकार कवि ने इधर सरयू का वर्णन किया है और दूसरी ओर इन्ही शब्दों की ध्वनि से वेश्यालय का भी दृश्य उपस्थित किया है ॥३५॥

विशेष— यहाँ शब्दों के चमत्कार से दृश्य की पवित्रता खंडित हुई है।

प्रह्वात्मनामपि कृषत्यघमाश्रिताना

मुच्चैः शुभं च दिशती सशुभाऽमला या।

यज्ञाशिसिन्धुरिव बिम्बिततटयगैस्तु

तेजोनिधेरिव सुता सरयूर्बभौ सा॥३६॥

प्रह्वात्मनां नम्रात्मनाम् आश्रितानां शरणागतानां जनानाम् अघं पापं कृषती हरन्ती अपि। अमला निष्पापा। पापस्य कर्षणेन, ग्रहणेन स्वयं कथं निष्पापा भवेदिति विरोधाभासः। पापहारिणी अमला स्वच्छा चेति तत्परिहारः। च पुनः। उच्चैरत्यन्तं शुभं कल्याणं दिशती ददती अपि। सशुभा सकल्याणेति विरोधे आभास्यमाने-कल्याणदायिनी अपि स्वयं स्वभावतः कल्याणसहितेति तत्परिहारः। या (सरयूः) यज्ञाशिनां सिन्धुर्नदी गङ्गेवाऽस्तीति शेषः। बिम्बितैः[२] प्रतिबिम्बितैः तटयगैः तीरवृक्षैस्तु। तेजोनिधेः सूर्यस्य सुता पुत्री यमुनेव। तीरवृक्षाणां प्रतिबिम्बवशेन श्यामलत्वेन दृश्यमानत्वादिति भावः। अस्तीति शेषः। सा सरयूः बभौ रराज॥३६॥

अर्थ— यह सरयू आश्रितों का (शरणागतों का) पाप हरण करती है। फिर भी (पाप-कर्षण करते हुए भी) स्वयं अमल स्वच्छ यानी निष्पाप है। यह सबको शुभ प्रदान करती हुई भी - स्वयं शुभ से रिक्त नहीं होती-स्वयं सशुभा है। वैसे यह सरयू देवनदी गंगा की तरह है। फिर भी किनारे के वृक्षों की छाया के कारण श्यामल-(सांवली) हो रही है, तब लगता है यह गंगा की तरह उजली होकर भी श्यामलता के कारण सूर्यपुत्री यमुना की तरह लग रही है।॥३६॥

विशेष— यहाँ महाकवि ने विरोधाभासों के द्वारा सरयूनदी की पवित्रता को स्फुट किया है।

त्रिभिर्जलक्रीडां वर्णयति—

एका प्रियाऽऽत्तकुचतुम्बयुगा ततार,

तन्मेऽपि तुम्बबलमित्यपतज्जलेऽन्या

दाक्ष्यात् तथैव स हरिः कुमिवाऽऽकृषत् तां

ख्यातं वृथानुकरणं ह्युपहासबीजम्॥३७॥

एका कापि स्त्री। प्रियेण वल्लभेन आत्तं गृहीतं कुचतुम्बयोः युगं युगलं यस्याः सा तथोक्ता सती। ततार तरणक्रीडामकरोत्। तत् कुचरूपं तुम्बबलं मे ममाऽपि (अस्ति)। तुम्बशब्दः पुंस्यपि वर्तते। 'अलाबूस्तुम्बकः प्रोक्तः' इति चन्द्रः। इति हेतोः अन्या काऽपि

१. 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इति प्राग् व्याख्यातम्।

२. 'बिम्बस्तु प्रतिबिम्बे स्यान्मण्डले पुंनपुंसकम्' इति मेदिनी।

स्त्री जलेऽपतत्। प्रियकृतस्य कुचतुम्बग्रहणस्य जलान्तरितत्वात् कुचतुम्बमात्रालम्बनेनैव एषा तरतीति भ्रान्ततयाऽन्या जलेऽपतदिति भावः। हरि विष्णुः वराहरूप इति भावः। कुं पृथ्वीमिव। स पूर्वोक्तायाः प्रियः। तथैव कुचतुम्बग्रहणप्रकारेणैव। दाक्ष्याच्चातुर्येण ताम् अनन्तरोक्तां जलपतितां स्त्रीम् आकृषत् उद्धरति स्म। अत्रार्थान्तरं न्यस्यति वृथा व्यर्थम् पूर्णसाधनं विनेत्यर्थः। अनुकरणं हि उपहासस्य लोकोपहासस्य बीजं कारणं भवतीति शेषः ॥३७॥

अर्थ— तीन श्लोकों में जलक्रिडा का वर्णन —

जिसकी कुचरूपी दो तुम्बियों को प्रिय ने पकड रखा है ऐसी कोई स्त्री सरयू में तैरने लगी। यह देखकर दूसरी स्त्री ने विचारा कि दो कुचरूपी तुम्बियाँ तो मेरे पास भी है, अतः विना प्रिय के सहारे वह सरयू के जल में गिर पडी परन्तु वह डूबने लगी। कुचों की उपमा मात्र तुम्बी से है, पर - ये कोई सचमुच की तुम्बी नहीं हैं। अनुकरण मात्र उपहास जनक हैं। किसी ने जल में गिरी हुई स्त्री को यों निकाला जैसे पानी में डूबी हुई पृथ्वी को विष्णु ने वराह बन कर निकाला था। अनुकरण उपहास का कारण है ॥३७॥

विशेष— यहाँ कवि ने अर्थान्तरन्यास के द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन किया है।

नन्विच्छेत् का प्रियतमसेवालाप-
मानन्दं नो इह सरयूतीरान्ते?।
युक्तं मीनाङ्कघनरसेऽर्थं साध्नो-
ष्यंशैः सर्वैर्न सखि जलश्रीः ख्याता ॥३८॥

अत्र सख्योर्मिथ उक्तिप्रत्युक्ती। तत्र एका अन्यां वदति- ननु इति कोमलामन्त्रणे। इह सरयूतीरान्ते का स्त्री। प्रियतमम् अतिशयितं प्रियं मनोरमं सेवालं शैवलो यत्र ताः या प्रियतमसेवालाः आपो जलानि यत्र तथोक्तस्तम्। आनन्दं जलक्रीडाजन्यं प्रमोदमित्यर्थः। सेवालशब्दो दन्त्यादिरपि दृश्यते। अत एव 'सेवाल-सेवाऽलसहंसमम्भः' इति यमकमुदाहृतं वाग्भटेन। अथच-प्रियतमस्य वल्लभस्य सेवास्वरूपो य आलापः तमेव आनन्दम्। कान्तगोष्ठीसुखमित्यर्थः। नो इच्छेत् न वाञ्छेत्? अपितु सर्वोऽपि स्त्रीजन इच्छेदिति भावः। अथ उत्तरोक्तमर्थमाश्रित्य अन्या वदति- मीनाङ्के मत्स्यचिह्निते घनरसे जले। मीनविलासाङ्किते हि जले दम्पत्योर्मिथः करस्पर्शादि न विभाव्यते इति भावः। अथच- मीनाङ्केन कामेन घने पूर्णे रसे रतिमये। रसे इति ध्वन्यते सर्वैः अविकलैः अंशैःभागैः। पूर्णतयेति भावः। अर्थं स्वप्रयोजनं त्वं साध्नोषि साधयसि इति युक्तं उचितम्। ततः प्रथमा। अपह्नवपूर्वकं प्रतिवक्ति- हे सखि! न। एतत्त्वदुक्तं नैवेति अपह्नुत्य पूर्वोक्तार्थानुसारं स्वाभिप्रायं प्रकटयति- जलश्रीः सलिलशोभा ख्याता वर्णिता। अपह्नुतिर-लङ्कारः। जलधरमाला वृत्तम् ॥३८॥

अर्थ— दो सखियों का वार्तालाप—

एक सखी ने दूसरी से कहा—

सरयू के किनारे कौन है? जो प्रियजन से प्रेमालाप कर आनन्द नहीं चाहती और मछली के विलास से चिह्नित जल में कौन प्रिय के साथ केवल कर स्पर्शमात्र नहीं अपितु पूर्ण आनन्द लेने की इच्छुक होती है? दूसरी ने कहा - क्या सब प्रेमिकाएँ इस प्रकार प्रेम रस की इच्छुक होती हैं? दूसरी ने बात टालते हुए इन्कार करते हुए कहा 'नहीं सखी! मैं तो सरयू नदी के जल की शोभा का वर्णन कर रही हूँ सेवाल का अर्थ है - जहाँ शैवाल है, (छिपाया हुआ अर्थ है-) 'स इव आलाप' अर्थात् जहाँ आलाप प्रेमालाप मात्र है। मीनाङ्क का एक अर्थ है - जहाँ मछलियों से चिह्नित है, दूसरा अर्थ है कामदेव। यह 'कहकर मुकरी'। (अपह्नुति-अलङ्कार) कला का एक विदग्ध उदाहरण है॥३८॥

पत्या विहरसि रसिके

ठक्कुरपूजार्थकं च ते स्नानम्।

त्रा सहचरितेव स्त्री

मानात्थ पुनः सशङ्कं किम्? ॥३९॥

'जलश्रीः ख्याता' इत्यपह्नवपूर्वकं वदन्तीं तां प्रथमां सखीं द्वितीया प्रतिवक्ति-पत्येति। हे रसिके! अनुरागिणि! साकूतमेतदामन्त्रणम्। पत्या परिणेत्रा (सह) विहरसि क्रीडसि। नतूपपतिना सहेति भावः। च पुनः। ते तव स्नानं ठक्कुरस्य भगवतः श्रीरामस्य। ठक्कुरशब्दः[1] पूज्यदेवमात्रे रूढः। पूजार्थकं पूजानिमित्तकमस्तीति शेषः। पुनः एतादृशे व्यतिकरे सत्यपीति भावः। त्रा (केनापि) पुरुषेण सहचरिता सहोषिता (कापि) स्त्रीव मां सशङ्कं शङ्कापूर्वकं 'न सखि,जलश्रीः ख्याते' ति रूपेणेति भावः। किं कुतः। आत्थ ब्रवीषि? 'आहः स्थः'। इति थादेशः। इत्थं शङ्कनस्य न कोऽपि हेतुर्दृश्यत इति भावः। आर्या वृत्तम्। 'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥' इति लक्षणात्[2] ॥३९॥

अर्थ— दूसरी सखी कहती है - हे रसिके! तू तो अपने प्रिय के साथ स्नान कर रही है। और वह भी ठाकुर भगवान् राम की पूजा के लिए, फिर तू क्यों संकोच में पड रही है। यहाँ शंका का कोई हेतु नजर ही नहीं आता। तो फिर क्यों प्रिय के स्थान पर 'जल श्री' का वर्णन कहकर - अपने को छिपा रही है ॥३९॥

सरयूघट्टं वर्णयञ्जनानामुद्यानगमनमाह—

यत्रेत्यादिक-नर्मसूक्तिसुधया

वाग्-जन्यमप्यञ्जसौ-

णन् क्लेशं तनुचित्तयोः शमयिता

ऽऽसीत् तीर्थ-घट्टो महान्।

नत्वाऽन्ते सरयू-प्रदेशमथ तं

स्वर्दम्पति-प्राक्कृतो-

रःसंश्लेशविशीर्णहारमगम-

न्नुद्यानमुत्का जनाः॥४०॥

यत्र (सरयूप्रदेशे) तनुचित्तयोः शरीरमनसोः क्लेशं श्रमं शमयिता नाशयिता स्नानद्वारेति भावः। शीलार्थे तृन्। अत एव 'न लोक०' इति षष्ठी-निषेधः। महान् तीर्थस्य श्रीरामपदसेवितस्य[3] जलस्य घट्टः स्नानावतरणस्थानम्। इत्यादिका प्रागुक्तप्रकारा या नर्मणः परीहासस्य सूक्तिः (जनैर्मिथः कृतः) प्रियालापः सैव सुधा अमृतं तया। वाग्जन्यं वचनसंभवमपि क्लेशम् अञ्जसा शीघ्रं ओणन् अपनयन् आसीत्। मनोवाक्कायजस्य त्रिविधस्यापि क्लेशस्य हर्ता आसीदिति भावः। अथ अन्ते जलक्रीडापूर्वक-स्नानान्ते इति भावः। तं सरयूप्रदेशं नत्वा। उत्का उन्मनसः जनाः। स्वर्दम्पतिभ्यां स्वर्गीयजायापतिभ्यां प्राक् पूर्वं कृतो य उरः संश्लेषः वक्षःस्थलालिङ्गनं तेन विशीर्णाः त्रुटिता हारा यत्र तत्। उद्यानम् अगमन्। पूजार्थकपुष्पावचयार्थमिति शेषः ॥४०॥

अर्थ— सरयू के घाट का वर्णन तथा लोगों का उद्यान की ओर गमन—

सरयू में स्नान करने से शरीर व मन की थकान दूर हो गई है भगवान् राम के स्नान करने के घाट पर लोग आ गये हैं। परिहास के अमृत से (पहले के वचन से) वाणी का क्लेश भी शीघ्र ही दूर हो गया है। पति-पत्नी ने सरयू को प्रणाम किया है। स्नान करते

---

१. अत्र वाचस्पत्यं द्रष्टव्यम्।

२. एतल्लक्षणं श्रुतवोधोक्तम्। मौलिकवर्णचतुष्टयस्य प्रकटनाय पादचतुष्टयात्मिकाया एव आर्याया अत्र विवक्षितत्वात् पूर्वार्धोत्तरार्धमात्रदर्शकं रत्नाकरोक्तं लक्षणं नाऽत्रोद्धृतम्।

३. 'अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु' इति मेदिनी-वचनमनुसृतम्।

समय प्रगाढ आलिंगन से जिनके हार टूट गये हैं।- ऐसे दम्पती उद्यान में पूजा के पुष्प एकत्र करने के लिए (चुनने के लिए) आ पहुँचे हैं। ॥४०॥

अथ चतुर्भिः पुष्पावचयं वर्णयति-

सच्छाखिनां विकच-सौरभवन्ति पूर्वं

पुष्पाणि चिन्म इति पुप्लुविरे प्लवङ्गाः।

त्रस्ता अपि क्षणमतः पतितानि तानि

पौरस्त्रियोऽलुरुपहस्य कुसाहसेऽस्मिन् ॥४१॥

वयं सच्छाखिनां प्रशस्तवृक्षाणां विकचानि च तानि सौरभवन्ति विकचसौरभवन्ति विकसितसुगन्धीनि पुष्पाणि पूर्वं प्रथमं पौरीणामवचयात्प्रागेवेति भावः। चिन्मः त्रोटयाम इति हेतोः। प्लवङ्गाः वानराः। पुप्लुविरे उच्छलन्ति स्म। तेषु सच्छाखिषु इति भावः। क्षणं किंचित्कालं त्रस्ताः प्लवङ्गप्लवनाद् भीता अपि। पौरस्त्रियः पौराङ्गनाः। अस्मिन् कुसाहसे वानरैः अन्यवञ्चनाय कृते दुस्साहसे उपहास्य उपहासं दर्शयित्वा। अतः प्लवनवशात् पतितानि अधः क्षरितानि तानि पुष्पाणि अलुः अगृह्णन्। अन्यवञ्चनासक्ता वानराः स्वचेष्टितेन स्वयमेव वञ्चिता इति तात्पर्यम् ॥४१॥

अर्थ—चार श्लोकों में फूल चुनने का वर्णन-

उद्यान में वानर उछल-कूद मचा रहे हैं। सुन्दर वृक्षों पर सुगन्धित फूल खिल रहे हैं, उन्हें चयन करने के लिए वानर उछल रहे हैं- ताकि पौर नारियों द्वारा पुष्पचयन हो, उसके पहले ही इन फूलों को तोड लिया जाय पर होता यह है कि वे एक डाली से दूसरी डाली पर उछलते हैं तो उनके वेग से हिलती हुई डालियों से फूल नीचे झर जाते हैं। जिन्हें पौर नारियाँ चुन रही हैं। इस प्रकार दूसरों को वंचित करने की भावना से, अपनी ही करतूत से वानर स्वयं ही ठगे जाते हैं ॥४१॥

त्रस्तो दर्शनमात्रतस्तत इतो

धावन् प्रतिप्रेरितः

सर्वैः सर्वत उच्छलन् किमपि किं-

कर्तव्यसंमोहितः।

गत्वा पुष्पचयैकतान-गणिको-

ल्लोलांऽशुकं बालकै-

णः कश्चित् कुतुकप्रहासपटुभिः

प्रावेशि धूर्तैर्विटैः ॥४२॥

दर्शनमात्रतः जनानामवलोकनमात्रादेव। त्रस्तः चकितः। अत एव इतस्ततो धावन् सन्। सर्वैः जनैः सर्वतः समन्तात् प्रतिप्रेरितः प्रतिनिवर्तितः। किमपि किंचित् उच्छलन् उत्कूर्दमानः किंकर्तव्येन मया इदानीं किं कर्तव्यमिति रूपेण तर्केण संमोहितः विमोहितः। कश्चित् कोऽपि बालकैणः मृगशिशुः (कर्म)। कुतुकप्रहासपटुभिः कौतुक-परिहासनिपुणैः। धूर्तैः विटैः जारैः (कर्तृभिः)। गत्वा स्वस्थानादपसृत्य। पुष्पाणां चये अवचये एकताना एकाग्रा या गणिका वेश्या तस्या यत् उल्लोलं पवनवेगवशात् उच्चलं यत् अंशुकं वसनं तत्। प्रावेशि प्रवेशितः। स्वभावोक्तिः॥४२॥

अर्थ— उद्यान में परिहास करने में निपुण किन्हीं विटों (जार, धूर्त) ने मनुष्यों के देखने मात्र से चकित और सब के द्वारा अपने पास से हटाये हुये, मुझे अब क्या करना चाहिये इस तर्क से विमोहित, कुछ देर तक कूदते हुये किसी हरिण के बच्चे को पुष्प चुनती हुई वेश्या के पवन-वेग से चञ्चल वस्त्र में प्रवेश करा दिया ॥४२॥

प्रेष्ठं राघव-सीतयोः किमिति सत्

कुन्दं प्रियङ्ग्वादिकं

त्यक्त्वा माधविकां च पाटलमथो

यूथीं स्थलाब्जं तथा।

स्वर्गीयाणि सुमानि चान्त उचितं

तत्पाद-तद्वक्त्रवद्

गेहिन्या स्वपतीङ्गितेन जगृहे

नीलाम्बुजं चाम्बुजम् ॥४३॥

राघवसीतयोः श्रीरामजानक्योः। धर्मादित्वान्नलद्मयन्तीवदस्य साधुत्वम् किं (पुष्पं) प्रेष्ठं प्रियतमम्? इति हेतोः। सत् प्रादुर्भवदित्यर्थः। कुन्दं कुन्दपुष्पम्। हेमन्तोपलक्षणम्। प्रियङ्ग्वादिकं प्रियङ्गुपुष्पादिकम्। शिशिरोपलक्षणम्। माधविकां वासन्तीपुष्पम्। वसन्तोपलक्षणम्। पाटलं पाटलापुष्पम्। 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति बाहुल्येन प्रत्ययलुपि पाटला पाटलं च 'पुष्पे क्लीबेऽपि पाटला' इत्यमरः। ग्रीष्मोपलणम्। अथो पुनः। यूथीं यूथिकापुष्पम्। वर्षोपलक्षणम्। तथा स्थलाब्जं स्थलकमलम्। शरदुपलक्षणम्। स्वर्गीयाणि दिव्यानि सुमानि पुष्पाणि च। त्यक्त्वा विहाय। इत्यनेन श्रीरामप्रभावजन्यस्वर्गीयसमकालिकसर्वर्तुसंपदतिशयो दर्शितः। अन्ते अवसानसमये। गेहिन्या गृहिण्या स्वपतेः स्वभर्तुः इङ्गितेन स्वाभिप्रायव्यञ्जकचेष्टया[1] तत्पादः यथासंख्योक्त्या श्रीरामचरणः तद्वक्त्रं सीतामुखं तद्वत् तत्समानम्। उचितं योग्यं नीलाम्बुजं (रामपादवत्) अम्बुजं पाटलवर्णं कमलं (सीतामुखवत्) जगृहे गृहीतम्। पूजार्थमिति भावः। श्रीरामपादतुल्येन नीलकमलेन सीता प्रीता स्यात्, सीतामुखसदृशेन अम्बुजेन च श्रीरामः प्रीतो भवेदिति ते एव गृहीते इत्याशयः ॥४३॥

१. यथां त्वम् अहं च केन प्रसीदावः? तथैव राघवसीते अपि मिथ इत्यभिप्रायेणेति भावः।

अर्थ— उद्यान में सभी ऋतुओं के पुष्प खिल रहें हैं। यह भगवान् राम की अलौकिक लीला का प्रभाव हैं। एक ओर कुन्द पुष्प हैं- जो हेमन्त में खिलते हैं, प्रियंगु आदि शिशिर में; माधविका वसन्त में पाटल (गुलाब) ग्रीष्म में, यूथिका वर्षा में तथा स्थलकमलिनी शरद् में खिलती हैं। ये सब तरह के पुष्प खिल रहें हैं। प्रश्न है- भगवान् राम व भगवती सीता को कौन से पुंष्प प्रिय हैं- जिनसे उनकी पूजा की जाये। इस पर प्रिया ने प्रिय को इंगित से समझाया कि नीलकमल व लालरंग का कमल पूजा के लिये लिया जायें। नीलकमल से श्रीराम की पूजा की जाये' जिससे अपने प्रिय राम के नील चरणों की स्मृति हो, और लाल कमल से सीता की पूजा की जावे, जिससे श्रीराम को भगवती सीता के मुख कमल की स्मृति हो ॥४३॥

मत्वाधिकानि वनिताकरपल्लवानि

हीनाञ्जहुःसुमनसः किल पल्लवान् स्वान्।

यद्राम-पूजन-गताः प्रसवा इतीव

ते तैर्नगैः सह न चेलुरपित्वनृत्यन् ॥४४॥

किलेत्यत्र संभावनायाम्। सुमनसः पुष्पाणि वनितानां स्त्रीणां करपल्लवानि पाणिकिसलयानि। अधिकानि स्वकीयपल्लवापेक्षयेति भावः। मत्वा ज्ञात्वा हीनान् न्यूनान् स्वान् आत्मीयान् सहोत्पत्त्या बन्धुभूतान् वा पल्लवान् किसलयानि। जहुः तत्यजुः। अथच सुमनसः स्त्रीभूताः। स्त्रीलिङ्गवशात् स्त्रीत्वारोपः। पल्लवानि नपुंसकभूतान्यपि अधिकानि मत्वा। स्वकीयेन सुमनस्त्वेन (शुद्धमनस्कत्वेन) इति भावः। हीनान् पतितान् स्वान् पल्लवान् षिङ्गान् (जारान्) जहुस्तत्यजुः। नीचजारसङ्गापेक्षया क्लीबसङ्गएव प्रशस्यतर इत्याशयेनेति भावः। 'पल्लवः किसलये बले। विटपे विस्तरेऽलक्तरागे शृङ्गारषिङ्गयोः।' इति हैमः। तेनाऽत्र समासोक्तिरपि। 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरस्य 'पुंसि क्लीबे च पल्लवः' इति व्याडेश्च वचनमनुसृत्योभयलिङ्गत्वं पल्लवस्योदाहृतम्। गुप्पा-वचयने

पल्लवानां तरूणां च चलनं नर्तनेनाऽपह्नुते-यदिति। यद् यतः। रामपूजनाय गता रामपूजनगताः प्रसवाः पुष्पाणि अपत्यानि च। इति हेतोरिव। ते पल्लवाः तैः नगैस्तरुभिः सह। चेलुश्चकम्पिरे न। अपितु किन्तु अनृत्यन्। अस्माकं प्रसवाः श्रीरामपूजोपयुक्ता भविष्यन्तीति मोदवशान्नृत्यमकुर्वन्। अपत्यानां भक्तिपरत्वेन बान्धवाः पितरश्च मोदन्त एव॥४४॥

अर्थ— पौधों के फूलों का चयन राम-सीता के पूजन के लिये हो रहा है; यह जांनकर कर (हाथ) उपमा वाले किसलय अपने को हीन समझ रहें हैं पर यह विचार कर वे कांप नहीं रहें है; नाच रहे हैं क्योंकि उन्हीं के भाई-(लता के पुष्प)- भगवान् की पूजा के लिये समर्पित होने जा रहें हैं॥४४॥

जनैः कृतां सीतारामपूजामाह—

पर्जन्यं सशचीकमृत्विज इव
स्वाहान्वितं वाऽनलं
ठन्देवीसहितं गणा इव ततो
रामं ससीतं जनाः।
द्विष्टानप्यभयैः करप्रसरणैः
सच्चन्द्रकान्तानिव
जोषं द्रावितवन्तमिन्दुमिव स-
ज्योत्स्नं द्विजा, आर्चयन्॥४५॥

ततः स्नानपुष्पावचयनानन्तरम्। ऋत्विजः याजकाः सशचीकम् इन्द्राणीसहितं पर्जन्यम् इन्द्रमिव। 'पर्जन्यो गर्जदम्बुदे। वासवे मेघशब्दे च' इति हैमः। वा अथवा। (ऋत्विजः) स्वाहान्वितं स्वाहाख्य-तत्प्रियायुक्तम् अनलं वह्निमिव। गणाः प्रमथगणाः देवीसहितं दुर्गायुतं ठं महेशमिव। 'ठो महेशः समाख्यातः' इत्येकाक्षरः। द्विजा ब्राह्मणाः। सच्चन्द्र-कान्तानिव सतः शोभनान् चन्द्रकान्तमणीनिव द्विष्टान् द्वेषिणोऽपि अभयैः भयाभावप्रदर्शकैः करप्रसरणैः हस्तप्रसारैः किरणप्रसारैश्च। जोषं तूष्णीम्, नतु वचन-द्वारेत्यर्थः। द्रावितवन्तं द्रवीभूतान् कृतवन्तम् सज्योत्स्नं चन्द्रिकासहितम् इन्दुं चन्द्रमिव। तदा जनाः ससीतं रामम् आर्चयन् अपूजयन्। मालोपमा॥४५॥

अर्थ— नरनारियों द्वारा राम-सीता का पूजन -

नर-नारी राम- सीता की पूजा करते हुए यों शोभित हो रहें हैं जैसे ऋत्विग् इन्द्र व शची की, जैसे स्वाहा के सहित शोभित अनल की, गण पूजा कर रहें हैं- शिव-पार्वती की।

राम व सीता यों शोभित हैं- जैसे चन्द्रकान्तमणि अपनी कान्ति के (किरणों के) साथ हैं। ये किरणें ही कर हैं- जो सबको अभय होने का सन्देश दे रहें हैं। इसीलिये द्विज (ब्राह्मण) ज्योत्स्ना (चाँदनी) सहित चन्द्रमा की पूजा कर रहे हैं॥४५॥

तदानीन्तनं श्रीरामस्य भाषणमाह—

वार्नेतार इवाश्रमा निजनिजां
रक्षन्तु वेलां सदा,
गृह्णन्तो नियतं करं स्त्रियमिवा-
वन्तु क्षितीशाः क्षितिम्।
षट्कर्मादय ईशतां निजकृते-
वर्णा अमात्या इव
भद्रं धर्म इवैधतामिति वदन्
रामो व्यमुञ्चत् सभाम्॥४६॥

वार्नेतारः समुद्रा इव। आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयश्चत्वारः। सदा सर्वदा निजनिजां स्वस्वां वेलां समयं तीरं च रक्षन्तु पालयन्तु। स्वस्वसमय-नियममनुसरन्त्विति भावः। नियतं नियमेन दर्शितं करं षष्ठांशरूपं भागधेयं पाणिं च गृह्णन्तः। क्षितीशा राजानः। स्त्रियमिव। क्षितिं भूमिम्। अवन्तु पालयन्तु। षट्कर्मादयो ब्राह्मणादयो वर्णाः। अमात्या मन्त्रिण[1]

१. वर्णवत् प्राधान्येन अमात्या अपि चत्वार एव भवन्ति।

इव। निजकृतेः स्वस्वकर्मणः ईशताम् अधिकारिणो भवन्त्वित्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी। धर्म इव भद्रं कल्याणम्। एधतां वर्धताम्। प्रागुक्ताचरणेन यथा यथा धर्मो वर्धतां तथा तथा भद्रमपीत्याशयः। इति एवम् वदन् भाषमाणो रामः। सभां व्यमुञ्चत् व्यसर्जयत् ॥४६॥

अर्थ— उस समय राम का भाषण-

समुद्र जैसे मर्यादा का पालन करता है, उसी प्रकार सभी आश्रम वाले अपनी मर्यादा में रहें। राजा लोग नियत किये हुए षष्ठांश (उपज का छठा अंश) ग्रहण करते हुए प्रजा की रक्षा करें ब्राह्मण आदि षट् कर्म- पढना-पढाना, दान लेना-दान देना, यज्ञ कराना और करना करते रहें। अमात्य भी अपना कर्तव्य कर्म करें। धर्म ही कल्याण है, उसकी वृद्धि होती रहें। इस प्रकार भाषण देकर भगवान् राम मौन हो गये और बाद में सभा विसर्जित हो गई ॥४६॥

सुहृदां निवासार्थं रामस्य स्वप्रासाद-प्रदर्शनमाह-

त्वङ्गत्तुङ्गतुरंगमं सदतिथि-
स्थैर्योक्तयेऽजंगमं
मीलन्नेत्रमितंगमं कृतमणी-
दीप्ति-प्रिया-संगमम्।
यात्वा तद्हृदयंगमं स्वसदनं
स्वाम्याह साकंगमं
स्यात् स्थित्यायिदमङ्ग मञ्जु सुहृदां
स्वर्भूतिपारंगमम् ॥४७॥

स्वामी श्रीरामः। त्वङ्गन्तः चञ्चन्तः तुङ्गाः प्रोन्नताः तुरङ्गमा अश्वा यत्र तथोक्तं तत्। 'गमश्च' इति खच्। सताम् अतिथीनां स्थैर्यस्य स्थिरताया उक्तये स्थितिं ज्ञापयितुमिवेत्यर्थः। अजंगमं स्थिरीभूतम्। मीलन्नेत्रा निमिषन्नयना मितंगमा-गजा यत्रसत्। 'गमेः सुपि वाच्यः' इति खच्। एवमग्रेऽपि असंज्ञायामनेन खच्। कृतः मणीदीप्तिरूपायाः प्रियायाः संगमो येन तत्। मणिदीप्तैर्दीप्तमित्यर्थः। तत् प्रसिद्धं हृदयंगमं मनोहरं स्वसदनं निजप्रासादम्। यात्वा गत्वा। साकंगमं सहचरं लक्ष्मणमाह उवाच। अङ्ग इति कोमलामन्त्रणे। मञ्जु सुन्दरम् स्वर्भूतेः स्वर्गसंपदः पारंगमं पारगामि तदतिशायीति भावः। इदं सदनम् सुहृदां सुग्रीवादीनां मित्राणां स्थित्यै निवासाय स्यात् भवेत् ॥४७॥

अर्थ— सुहृदों के निवास के लिये राम के द्वारा अपने प्रासाद को दिखाना-चंचल घोडे अपने स्थानों पर बांध दिये गयें। नेत्रों को मीचकर हाथी भी अपनी जगह शान्त हो खडे हो गये हैं। भगवान् राम अपने सहचर लक्ष्मण के साथ स्वर्ग से भी सुन्दर अपनें महल में आये और लक्ष्मण से कहा-प्रिय! इस महल में सब प्रियजनों को ठहराने की व्यवस्था करो ॥४७॥

द्वाभ्यां दम्पतिसंलापमाह—

क्षन्तव्यः किल मेऽपराधगरिमा
मासीव सर्वायुषि
त्रिश्यामा इव यच्चतुर्दश समा-
स्त्यक्ताऽसि कान्ते मया।
योऽयं सोऽस्ति ममापि, तद् विधि-बलं,
यद्धयार्तवेलोचितं,
भून्मैवं पुनरित्युपांशुवदतो-
र्यूनोर्विलासोऽवृधत् ॥४८॥

दंपत्योरुक्तिप्रत्युक्तयोः कान्त आह-हे कान्ते प्रिये! यद् मासि मासे इव सर्वायुषि सर्वस्मिन् जीवनकाले त्रिश्यामाः तिस्रो रात्रीरिव चतुर्दशसमाः रामवनवास-नियमिताः मया त्यक्ताऽसि। यथा मासे रजोदर्शनेन तिस्रो रात्रीस्त्वं त्यज्यसे तथा जीवनकाले

चतुर्दशाब्दान् त्यक्तेति भावः। तावत्कालपर्यन्तं नियमपालनवशा-त्सङ्गस्य वर्जितत्वेनेति तात्पर्यम्। किलेत्यनुनये, (इति) मे मम अपराधस्य गरिमा बाहुल्यं क्षन्तव्यः क्षम्यतामित्यर्थः। ततः प्रिया प्रतिवक्ति-योऽयम् अपराधगरिमा स ममापि अस्ति, न केवलं त्वयैव किन्तु मयाऽपि तस्य नियमस्याचरितत्वादिति भावः। तत् सर्वं विधेर्दैवस्य बलम्। यद् हि आर्तवेलोचितम् आर्तवेला विपत्तिसमयस्तदुचितं तद्योग्यम्। आर्तवे रजोदर्शनसमये च लोचितं दृष्टं तद्विधिबलमेवेत्यपि गम्यते। त्रिश्यामा इवेति प्रागुक्त-त्वात् पुनः एवम् इत्थं विपत्प्रकारः। मा भूत् न भवतु। एवं रजोदर्शनान्तरायश्च मा भूत्, अद्यैव गर्भाधान-वशादिति भावः। इत्यपि गम्यते। इति उपांशु रहसि। वदतोः संलपतोः यूनोः तरुणदंपत्योः विलासः विहारः अवृधत् वृद्धिं गतः ॥४८॥

अर्थ— दो श्लोकों में सह-संलाप-

राम ने कहा- जैसे रजोदर्शन के बाद तीन रात्रि तक प्रिय से वियुक्त रहना होता है; उसी प्रकार चौदह वर्षों तक हम लोग वनवास में रहे- इसे तुम क्षमा करना।

सीता- वह रजोदर्शन फिर कभी न आवे- यानी अब आगे रजोध्वनि न हो।' इसकी ध्वनि है कि अब मेरे गर्भवती होने का सुसमय हो। इस प्रकार एकान्त में संलाप करने वाले तरुण दम्पती का विहारसुख बढता रहा। यह संवाद-सीता-राम का है॥४८॥

मित्रस्यैव कृपाबलेन मिलिता
कान्ते, रवेः किं, नहि,
पत्युः, कान्त तवैव, नो अधिपतेः,
किं वालिनो, नो प्रिये ।
तिष्ठस्याप्तरतोत्सवा सह मया
यद्राजधान्यामिह
त्वन्तस्य त्रिजगत्पतेरिति रुमा-
सुग्रीवयोर्गोष्ठ्यभूत् ॥४९॥

अत्र रुमासुग्रीवयोरुक्तिप्रत्युक्ती। तत्र सुग्रीव आह- कान्ते प्रिये! मित्रस्य रामस्य कृपाबलेनैव त्वं मिलिता प्राप्ता। किं मित्रस्य रवेः कृपाबलेन अहं मिलिता-इति तं प्रति रुमाप्रश्नः। ततः सुग्रीवः-नहि। पत्युः स्वामिनः (श्रीरामस्य)। रुमा-कान्त! पत्युः (प्रियस्य) तवैव। कृपाबलेनेति सर्वत्र ज्ञेयम्। सुग्रीवः-नो अधिपतेः अधिकस्य पत्युः स्वामिनः महास्वामिन इति भावः। रुमा-अधिपतेः (महास्वामिनः) किं वालिनः? यतो राज्यस्य अधिपतिः (महास्वामी) स एवासीत् सुग्रीवः-प्रिये। नो, इह अस्यां यद्राजधान्यां यस्य रामस्य राजधान्याम् अयोध्यायाम्। मया सह। आप्तरतोत्सवा लब्धमैथुनोत्सवा त्वं तिष्ठसि। तस्य त्रिजगत्पतेः श्रीरामस्य। कृपाबलेन मिलितेति भावः। इति रुमायाः सुग्रीवस्य च। गोष्ठी संलापः अभूत्। 'गोष्ठी सभा-संलापयोः स्त्रियाम्।' इति मेदिनी। अत्र मित्रादिपदानां श्लिष्टतयाऽपरार्थप्रकल्पनेन वक्रोक्ति-रलङ्कारः। 'वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रक-ल्पनम्।' इति तल्लक्षणात् ॥४९॥

अर्थ— सुग्रीव-रुमा का प्रेमालाप-

सुग्रीव- 'मित्र राम की कृपा से तू मुझे मिली है। रुमा ने मित्र का अर्थ सूर्य लेकर कहा- 'क्या मैं मित्र (सूर्य) की कृपा से आपको मिली हूँ।' सुग्रीव- 'नहीं, सूर्य नहीं, पति (स्वामी) की कृपा से। 'रुमा (अभिप्राय के विरूद्ध) क्या प्रिय की इच्छा से।' सुग्रीव 'नहीं- अधिपति की कृपा से।' 'रुमा- 'ओ! अधिपति- बडे स्वामी बाली की कृपा से।' 'सुग्रीव- 'नहीं, जिनके विजय-उत्सव के समय यहाँ अयोध्या नगरी में हम हैं, उन तीनों लोकों के प्रभु राम की कृपा से तुम मुझे प्राप्त हुई हों।' इस प्रकार रुमा व सुग्रीव का मधुरालाप हो रहा हैं॥४९॥

वानराणां वंदि-वचसा गृहस्मृतिं दर्शयति—

मीनाक्षीसंगतानामिति नरवपुषां

वानराणां सुखेनाऽ-

यात् कालो भूरिरप्यंश इव, स रभसः

को वदेद्, यातयामः।

वन्दी ब्राह्मे कदाचित्, क्षण इदमगदीत्

स्वापयोगेन पर्या-

णिग्ध्वं भोः! श्रान्ति-किट्टं, रघुपतिमधुना-

ऽऽर्च्याऽऽशुगार्हा भवेत ॥५०॥

इति इत्थम्। मीनाक्षीसंगतानां स्त्रीसंगतानाम्। नरवपुषां मनुजशरीराणां वानराणाम्। सुखेन (हेतुना) भूरिः बहुरपि कालः अंशः राशेस्त्रिंशो भाग इव अयात् अगच्छत्। कः जनः वदेत् वदितुं शक्नुयात्? स रभसः हर्षः। रामराज्याभिषेकोत्तरोत्सवजन्य इति भावः। "रभसो वेगहर्षयोः" इति मेदिनी। यातयामः परिभुक्तो जीर्णो वा। "जीर्णे च परिभुक्तं च यातयाममिदं द्वयम्।" इत्यमरः। न कोऽप्येतद्वदितुमशक्नोदिति भावः। नित्याभिनव एव स हर्ष आसीदिति तात्पर्यम्। अथच-सरभसः सवेगः को वदेत्- यात यूयं गच्छत। यामः वयं गच्छाम इति। गमनाशयं प्रकटयतां रामदर्शितोत्सवसुखाद् वञ्चितत्वं हीनरुचिकत्वं चापतेत्, आगन्तुश्च को नाम गमनाय कथयेत्, इति भावः। कदाचित् वन्दी मागधविशेषः। ब्राह्मे क्षणे मुहूर्ते। इदम् अगदीत् अवदत् - भोः! यूयं स्वाप-योगेन निद्रा-वशात्। श्रान्तिकिट्टं श्रममलम्। पर्याणिग्ध्वं प्रक्षालितवन्तः। युष्माकं निद्रया श्रमो व्यपगत इति भावः। अथच स्वा आत्मीया आपो जलानि यत्र स यो योगः संबन्धः तेन। किट्टं मलं प्रक्षाल्यत एव। अधुना रघुपतिं श्रीरामम् आर्च्य स्मरणद्वारा पूजयित्वेत्यर्थः। यद्वा ऋच स्तुतौ इत्यस्य आ+ऋच्य स्तुत्वेत्यर्थः। 'सुप्तोत्थितः स्मरेन्नित्यमीश्वरं स्थिरचेतसा। इत्यादि-वचनादीश्वरस्मरणं योग्यमेव। आशुगार्हाः आशुगं वायुम् अर्हन्ति ते तथोक्ता भवेत। वायुसेवनं कर्तुमर्हथेति भावः। मलशोधनं वायुसेवनं च स्वास्थ्याय कल्पत एव। इति वन्दिनाभिप्रेतोऽर्थः। आगन्तुभिर्गृहीतोऽर्थस्तु- रघुपतिम् आर्च्य वचनद्वारा मानयित्वाआशु शीघ्रं गार्हा गृह-निवासिनो भवेतेति। 'सोऽस्य निवासः' इत्यण् ॥५०॥

अर्थ— बन्दीजन के द्वारा उन वानरों का वर्णन- जिनको घर की याद आ रही हैं-

नरवपुधारी आगन्तुक मनुष्यों ने और वानरों ने मीनाक्षियों के साहचर्य में यहाँ (अयोध्या में) बहुत दिन बितायें। एक दिन सुबह होने को आ.था बन्दीजनों ने गाकर सुनाया-

अरे वानरों! उठों थकान के मल को मिटाने के लिये स्नान आदि प्रातः कर्म करके तरो ताजा हो जाओं। जाकर राम के दर्शन करों और अपने घर की सुध लो ॥५०॥

अङ्गदहनूमत्संलापद्वारा भक्तिस्वरूपं निरूपयति-

जम्पत्युल्लसितं न हन्त विधिना

दत्तं हनूमंस्तवै-

नःसंबन्धभिदा सदा-सुभगया-

ऽहं रामभक्त्या रमे।

पण्यस्त्रीव विभाति सा बहु-रता,

सा श्रीरिवेदृश्यपि

यत्नात्तैकपतिः परेति हनुमान्

प्रातर्जहासाऽङ्गदम् ॥५१॥

अत्र प्रातः सुप्तोत्थितयोरङ्गदहनूमतोरुक्तिप्रत्युक्ती। तत्राङ्गद आह- हन्तेति प्रकाशे विषादं स्वागते तु हर्षं द्योतयति। भो हनूमन्! विधिना तव जम्पत्योः जायापत्योः उल्लसितम् आनन्दः। न दत्तं नो समर्पितम्। 'तव' अत्र संप्रदानाभावान्न चतुर्थी। दानं त्वपुनर्ग्रहणाय स्वस्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्। विधिः खलु मनुजस्य दाम्पत्यसुखं, मनुष्यो रजकस्य वस्त्रमिव पुनर्ग्रहणाय ददाति। अत एव हनूमदुत्तरे उच्यते- एनः संबन्धभिदा पापयोगनाशिन्या। पापाभावाच्च सदासुभगया सनातनसौभाग्यवत्या। दंपत्योर्हि दौर्भाग्यं पापयोगादेव भवति। जीर्णदेह-त्यागेऽपि आत्म-संगत्या भक्तेः सदा-सौभाग्यमेवेति भावः। रामभक्त्या (सह) अहं रमे विहरामि। ततोऽङ्गद आह- सा रामभक्तिः पण्यस्त्री वेश्येव बहुषु रता विभाति शोभते। अतो बहुरतया सह रमणमनुचितमिति भावः। ततो हनुमान् प्रतिवक्ति- सा भक्तिः श्रीर्लक्ष्मीरिव। ईदृशी बहुरताऽपि मायोपाधिवशाद् बहुत्वेन दृश्यमानेषु जीवात्मसु रममाणाऽपि यत्नात्तैकपतिः यत्नाद् यत्नपूर्वकम् आत्तो गृहीत एकः मुख्यः परमात्मरूपः (रामः) पतिभर्ता[1] यया सा तथोक्ता परा सर्वोत्कृष्टा। अस्तीति शेषः। इति हनुमान्। प्रातः प्रभाते अङ्गदं जहास विजयद्वारा मन्दीचकारेत्यर्थः इत्यनेन भक्तिस्वरूपं दर्शितम्॥५१॥

अर्थ— अंगद-हनुमान् के संवाद द्वारा भक्ति का निरूपण-

सुबह उठनें पर अंगद व हनुमान् द्वारा वार्तालाप हुआ।

अंगद-'सुबह हो गया है। अँधेरा मिट गया हैं। हर्ष छा रहा है। तुम कितने अभागी हो कि तुम पत्नी-सुख से वंचित हों, हनुमान्-' यहाँ पत्नीसुख तो नश्वर है, शरीर के जीर्ण होने पर कहाँ! पर मैं भक्ति के आनन्द में सदा मग्न हूँ। अंगद- 'भक्ति तो पण्यस्त्री वेश्यावत् है, पता नहीं कब-कब किस-किस के पास रहीं है। हनुमान्-'भक्ति तो सदा एक निष्ठ है।' इस प्रकार हनुमान् ने अंगद को अपनी भावभरी उक्तियों से परास्त कर दिया॥५१॥

श्रीरामस्य रात्रियापनं वर्णयति—

फलिताधुना तव कामवल्ली,
नाथ पविता मां कदा?
ललिताकलित-हरिगीतिकाऽ-
योध्या तृपेदहमपि यदा।
त्वमपीह निवसेरिति दिवा
ऽऽलपतो हरेः स्वप्ने निशा
मीनेक्षणासुखसङ्ग-सुखतर-
शायिनोऽगात् पति-दिशा॥५२॥

अत्र स्वर्ग-रामयोः स्वप्न उक्तिप्रत्युक्ती-तत्र द्यौर्वदति- भो नाथ! अधुना तव। काम इच्छा एव वल्ली लता फलिता। रावणादिवधादिति भावः। भवान् मां कदा पविता पवित्रीकरिष्यति? स्वपादार्पणेनेति भावः ततो रामः प्रतिवक्ति- यदा। ललितं यथा स्यात्तथा आकलिता गृहीता हरिगीतिका हरिगुणगानं यया सा। हरिगीतिका-पदेन च्छन्दोनामापि दर्शितम्। अयोध्या तृपेत् तृप्तिं गच्छेत्। अपि च अहं तृपेयमित्यर्थः। तदा त्वां पवितास्मीति भावः। धैर्याभावे तु एतत्कार्यमित्याह- इह अयोध्यायां त्वमपि निवसेः वासं कुरु। इति स्वप्ने स्वप्नावस्थायाम्। दिवा स्वर्गेण (सह) आलपतः वार्तयतः। मीनेक्षणायाः प्रियायाः सीतायाः सुखसङ्गेन सुखतरशायिनः अतिशयितसुखेन निद्राणस्य। हरेः अनादरे षष्ठी। निशा रात्रिः। पतिदिशा पत्युश्चन्द्रस्य दिशा। तेन सहैवेति भावः। अगात् अगमत्। स्त्रीसाहचर्यनिरते रामे निशाया अपि निशापतिना सहचरणं योग्यम्॥५२॥

---

१. रामभक्त्या रामभर्तृकत्वं स्वस्या विसंवादेन सिद्धमेव।

अर्थ— राम के रात्रि-यापन का वर्णन-

रात्रि के समय स्वप्न में आकर स्वर्ग ने राम से कहा - 'प्रिय! आपकी कामना की वल्ली फलीभूत हो गई है। यानी दुष्ट रावण के संहार से मानव जाति भयमुक्त है। अब आप कब तक मुझे वंचित रखेंगे। स्वर्गलोक में पधारें। 'राम ने कहा- 'अभी तो काम पूरा नहीं हुआ हैं अयोध्या को तृप्त करना है।' तब तक तुम स्वयं अयोध्या में रहकर इसे स्वर्गवत् बनाने के लिए रुको। मीनाक्षी सीता के साथ सुख-शयन करते हुए राम के स्वप्न में वह निशा निशापति चन्द्र के साथ ही विचरण कर बीत गई। ॥५२॥

प्रातः सभायां सीतानुगतस्य रामस्य मागधकृतमभिनन्दनमाह—

यात्येषा रामभद्रं ह्यनु सुहल-विनि-
ष्पादिता सीतिका य-
ज्जन्मक्षेत्रेऽर्थबीजेऽर्पित इह विधिने-
न्द्रे च वृष्टे फलीदम्।
नत्वोक्तां मागधेनेत्युषसि सदसि गां
राम आकर्ण्य तुष्ट-
श्चक्रुः सुग्रीव-वातात्मज-भरतकनि-
ष्ठा-ऽस्रपेशाः प्रणामम् ॥५३॥

सुहलेन क्षेत्रे सञ्चाल्यमानेन प्रशस्तलाङ्गलेन विनिष्पादिता उत्पादिता "उत्थिता मेदिनीं भित्त्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते। पद्मरेणुनिभैः कीर्णा शुभैः केदार-पांसुभिः।" इति वाल्मीकिवचनात्। एषा इयं हि सीतिका सीता रामभद्रं श्रीराघवम् अनुयाति अनुगच्छति। अत्र 'सु-ह-ल-वि-निष्पादिता' इति पदे प्रथमवर्णचतुष्टयेन अन्तर्लापिकावशात् सुग्रीव-हनुमल्लक्ष्मण-विभीषणानां बोधो भवति, तेनैतैश्चतुर्भिः सहायकभूतैः विनिष्पादिता साधिता सीतेत्यपि ध्वन्यते। इत्यनेन सीता (प्रकृतिः) श्रीरामं (पुरुषम्) अनुसरतीति गम्यते। यद् यतः कारणाद्। विधिना ब्रह्मणा। इह अस्मिन् जन्मक्षेत्रे भगवज्जन्मक्षेत्रे भारतवर्षे इति भावः। अर्थस्य रावणादीनां विनाशरूपस्य प्रयोजनस्य बीजे कारणे अर्पिते प्रदर्शिते सतीत्यर्थः। इन्द्रे च वृष्टे अर्थाद् ब्रह्मवचन-समर्थन-तत्परीभूते सति। इदं जन्मक्षेत्रं (भारतवर्षं) फलि सफलमस्तीति शेषः। रावणादिवधार्थे भारतवर्षे जन्मग्रहणाय ब्रह्मणा विष्णौ अभ्यर्थिते सति इन्द्रेण च तत्प्रार्थने समर्थिते सति इदं तद् भारतवर्षमद्य कृतार्थं जातमिति भावः। अथच-सीता लाङ्गलपद्धतिः रामं सुन्दरं भद्रं कृषिकारणं बलीवर्दमनुयाति अनुसरत्येव। यद् यतः। विधिना विधानेन जन्मनः धान्यनिष्पत्तेः क्षेत्रे बीजे अर्पिते उप्ते सति, इन्द्रे पर्जन्ये च वृष्टे सतीदं धान्यनिष्पत्तिक्षेत्रं फलि फलवद् भवत्येवेति ध्वन्यते। इति इत्थम् उषसि प्रभाते। नत्वा प्रणामपूर्वकम्। मागधेन उक्तां गां वाणीमाकर्ण्य श्रुत्वा तुष्टः। तादृशयुक्तियुक्तवचनरचनयेति भावः। 'सुहलवि' इति तत्तन्नामादिवर्णसङ्केतनपूर्वकप्रशंसनेन च सुग्रीवो, वातात्मजो हनूमान्, भरतकनिष्ठो लक्ष्मणः, अस्रपेशो (राक्षसपतिः) विभीषणश्च[1] प्रणामं चक्रुः। रामायेति शेषः। न वयं सीतासाधनसहायाः किन्तु केवलं निमित्तभूता एव। सर्वं कार्यजातं तु भगवत्प्रेरणयैव सिद्धमिति भगवन्तमेव प्रणेमुरिति तात्पर्यम् ॥५३॥

---

१. 'सुहलवि' इत्युक्तानुसारं यथासंख्यं प्रयुक्तत्वेनाऽत्र द्वन्द्वेऽभ्यर्हितस्य पर-निपातो न दुष्यति।

अर्थ— प्रातः समय मागध द्वारा राम व सीता का वर्णन-

जैसे प्रकृति पुरुष की अनुयायिनी होती है, उसी प्रकार राम सीता से युक्त थें और 'सुहलवि से यानी सु (सुग्रीव), ह (हनुमान्), ल (लक्ष्मण) वि (विभीषण) के भी सहित थें।

मागध के इन वचनों को सुनकर इन चारों ने राम को प्रणाम किया और कहा-विजय के लिए हम तो निमित्त मात्र हैं। विजय तो भगवत् प्रेरणा से प्राप्त हुई हैं। सुहल से सञ्चाल्यमान क्षेत्र में उत्पन्न हुई यह सीता श्रीराम का अनुसरण कर रही है। इस आपके जन्मक्षेत्र (भारतवर्ष) में ब्रह्मा ने रावणादि के विनाश रूपी प्रयोजन का बीज बोया है, और इन्द्र ने वृष्टि (समर्थन) कर उस प्रयोजन को सफल बनाया है॥५३॥

रामस्य दानं सर्वेषां प्रस्थानं चाह—

शूरो दाने ददौ प्रागगणितसुमणीन्

मागधाय प्रहृष्य-

द्रोमा रामोऽथ तेभ्यः, सरुचि हनुमते-

ऽदत्त हारं च सीता।

पित्रोः पुत्रे प्रसादो मयि सुबहु हरे

रेष हारो यदित्थं

मत्वाऽसौ हृद्यधात्तं, प्रणतिधृतवराः

प्रस्थितास्ते च सर्वे॥५४॥

दाने शूरो वीरः। अत एव प्रहृष्यद्रोमा सञ्जातरोमहर्षणः रामः। प्राक् पूर्वम्। मागधाय अगणितान् असंख्यातान् सुमणीन् शोभनरत्नानि ददौ। अथानन्तरम्। तेभ्यः सुग्रीवादिभ्यः अगणितसुमणीन् ददावित्यनुकृष्यते च पुनः सीता सरुचि साभिलाषं हनुमते हारम् अदत्त। असौ हनुमान्। पित्रोः (जगतः) मातापित्रोः सीतारामयोरित्यर्थः। मयि पुत्रे (हनुमति) प्रसादः प्रसन्नता। सुबुहु अस्तीति शेषः। यद् यतः। हरेः विष्णोः हरिपत्न्याः सीतायाश्च एषः हारः। तस्येदमित्यण्। इत्थमिति। मत्वा ज्ञात्वा तं हारम्। हृदि हृदये अधाद् धृतवान्। तदीयप्रसादत्वान्नतु लोभेनेति भावः। च पुनः। प्रणत्या सीतारामयोः प्रणामेन धृतो वरः तद्दत्तामोघाऽऽशीर्विशेषः यैस्ते तथोक्ताः प्रणामं कृत्वा तत्फलं वरं च लब्ध्वेति भावः। ते सर्वे सुग्रीवादय आगन्तव इत्यर्थः। प्रस्थिताः॥५४॥

अर्थ— राम द्वारा दान और सब का प्रस्थान-

दानवीर राम ने अगणित रत्नों का दान दिया। मागध (स्तुति पाठक) सुग्रीव आदि को मणि- रत्न देते देखकर सीताजी ने भी हनुमान् को अपना हार दिया। हनुमान् को ऐसा लगा- जैसे जगत् के माता-पिता राम-सीता ने पुत्र के लिए हारस्वरूप प्रसाद दिया हैं। ऐसा मानकर हनुमान् ने वह हार अपने हृदय पर धारण किया, सबने राम सीता के चरणों में प्रणाम किया और वहाँ से प्रस्थान किया॥५४॥

अन्ते श्रीरामचरितस्वरूपं निरूपयन् प्रकृतमुपसंहरति—

हत्वा मोहं यथात्मा सुमतिहृतमभि-

भ्राजते शुद्धरूपे,

त्वन्नित्यानन्द हत्वा युवतिहृतमरिं

भासि साकेतकेऽस्मिन्।

मीलन्नेत्रैरितीष्टैर्मुनिभिरभिनुतो

राम ऋद्धस्वराज्योऽ-

यात् संमोदं ससीतो ददुदितमहा-

भक्तये मुक्तिमत्त्वम्।।५५ ।।

इति श्रीयोधपुरमहाराजाश्रितेन दाधीच (दाधिमथ) कासल्योपाख्येन श्रीमाधव-कवीन्द्रतनु-जनुषा व्यासश्रीवैद्यनाथ-नन्दनेन कविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा विरचिते श्रीरामचरिताब्धिरत्ने महाकाव्ये सुधानामा चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ।।१४।।

श्रीरामार्पणमस्तु

यथा हि आत्मा जीवात्मा। सुमतिः आत्मस्वरूपबोधसाधनं ज्ञानं तद् हृतं तदपहारिणं मोहं संसारहेतुम् अविद्यास्वरूपम्। "अथ मोहो नृलिङ्गः स्यादविद्यायां च मूर्च्छने।" इति मेदिनी। हृत्वा दूरीकृत्य। शुद्धरूपे परमात्मनि। अभिभ्राजते अनुरमते तल्लीनो भवतीत्यर्थः। तथैव भो नित्यानन्द अविनश्वरप्रमोद! श्रीराम! त्वं युवतिहृतं सीतापहारिणम्। अरिं शत्रुं रावणम्। हृत्वा नाशयित्वा। अस्मिन् साकेतके अयोध्यायाम्। भासि शोभसे। इति इत्थम् मीलन्नेत्रैः ध्यानवशान्निमिषल्लोचनैः इष्टैः प्रियैः। मुनिभिः अभिनुतः स्तुतः। ऋद्धं समृद्धं स्वं राज्यं यस्य स तथोक्तः। उदिता आविर्भूता महती भक्तिर्यत्र स तथोक्तस्तस्मै जनाय। सद्भक्तायेत्यर्थः। मुक्तिमत्वं मोक्षमित्यर्थः। ददत् अर्पयन्। ससीतः सीतासहितः। रामः संमोदं परमानन्दम्। अयात् प्राप्नोत्। भक्तिवशान्मोहनाशेन परमात्मानुरतत्वं मोक्षं ददिति प्रागुक्तस्य स्फुटीकरणं ज्ञेयम्। उपमितेन च प्रथमवाक्येन रामचरितस्य स्वरूपं निरूपितम्। 'नित्यानन्द' इति कविताऽन्ते स्वनामाऽभिव्यक्तम् 'ददुदित' इति पदन्यासे दवर्णचतुष्टयस्य सततप्रयोगदर्शनेन ब्राह्मणा-दिवर्णचतुष्टयाय चतुर्विधां मुक्तिं ददिदित्यभिव्यज्यते। मुक्तेश्चातुर्विध्यं तु अस्य महाकाव्यस्य आद्येन 'तनूयुजाम्' अन्तिमेन च 'मुक्तिमत्त्वम्' इति पदेन द्योत्यते। तथाहि - 'तनूयुजां मुक्तिमत्त्वम्' इति सालोक्यमुक्तिः। तत उभयोः पदयोर्यथासंख्यम्। अन्तिमस्य आद्यस्य च एकैकवर्णस्य च्युत्या अनन्तरं मुक्तेस्त्रैविध्यं ज्ञेयम्। तथाहि- 'तनूयुक्तिमत्त्वम्' इति सारूप्यमुक्तिः। 'तनूमत्त्वम्' इति सामीप्य-मुक्तिः। 'तत्त्वम्' इति सायुज्यमुक्तिश्च 'तत्त्वमसी' ति श्रुतिवचनादध्याहार्येति शम्।।५५।।

इति श्रीमाधवकवीन्द्रनन्दनेन दाधीच-(दाधिमथ) कासल्योपाख्येन पण्डितश्रीभगवतीलालशर्मणा विद्याभूषणेन रचितायां शाणाख्यायां श्रीरामचरितमहाकाव्यव्याख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ।। १४।।

श्रीरामार्पणमस्तु

अर्थ— प्रकृत (कथा-वस्तु) का उपसंहार-

जैसे जीवात्मा ज्ञान के बल पर मोह का नाश कर परमानन्द में रमण करता है, उसी प्रकार राम सीता को हरण करने वाले रावण का नाशकर- अयोध्या में रमण करते हुए शोभित हैं।

ध्यानलीन मुनियों द्वारा स्तुति किये जाने वाले राम-सीता ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करते रहें, भक्ति व मुक्ति का दान करते रहें ।।५५।।

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपतिसम्मानित पं. मोहनलाल शर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में 'श्रीरामचरिताब्धिरत्न' महाकाव्य का 'सुधा' नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त।।१४।।

।। अंतिमं निवेदनम् ।।

भूरिभ्रान्तितमोभृतात् परितुदत्-

कामादिनिर्भर्त्सकात्

सन्मोह-प्रभुशासनाच्च सदसत्-

पाटच्चरद्यौतिकात्।

सद्-यन्त्रात् तिलयन्त्रयन्त्रणरुजः

संसारकारागृहात्

प्राप्ते राज्यमहोत्सवे रघुप ते

वन्दी न मुच्येत किम्? ।।

हे रघुप! श्रीराम! ते तव। राज्यमहोत्सवे राज्याभिषेकोत्सवे। प्राप्ते उपस्थिते सति। भूरिर्बहुः या भ्रान्तिर्मिथ्यामतिः सैव तमोऽन्धकारस्तेन भृतात् आपूर्णात्। परिसमन्तात् तुदन्तो व्यथयन्तः ये कामादयः कामक्रोधादय आभ्यन्तरिका रिपवस्ते एव निर्भर्त्सकाः तर्जका राजपुरुषविशेषा यत्र तत् तस्मात्। सद् विद्यमानं मोहस्य एव प्रभोः स्वामिनो राज्ञ इत्यर्थः। शासनं यत्र तत् तस्मात् सन्तो विद्यमाना असन्तो दुर्जना एव पाटच्चराश्चौराः द्यौतिकाः द्यूतक्रीडापराश्च (जना) यत्र तत् तस्मात्। सद् विद्यमानं यन्त्रं तालकयन्त्रं बन्धनस्वरूपं यत्र तत्तस्मात्। तिलयन्त्रं तैलनिष्कासनयन्त्रं तस्य यद् यन्त्रणं निष्पीडनं तस्येव रुक् पीडा यत्र तत्तस्मात्। संसारकारागृहात् संसार एव कारागृहं तस्मात्। किं वन्दी कैदीति प्रसिद्धः। न मुच्येत मुक्तिं न प्राप्नुयात्? अपित्ववश्यमेव मुच्येतेति भावः। राज्ञां हि राज्यमहोत्सवे वन्दिनो मुच्यन्त एव। किं पुनस्त्रिलोकाधिपतेः। मूलरामायणीयवर्णबद्धत्वेन कविना स्वस्य संसारकारागृहबद्धत्वं स्थाने दर्शितम्। अनेन राज्याभिषेकोत्सवविषये संप्राप्ते किमहं न मुच्येय? अवश्यमेव भवत्प्रसादेन मुक्तो भविष्यामीति कवेरन्तिमं प्रार्थनमिति शम्।।

अर्थ— हे श्रीराम! आपके राज्याभिषेक-उत्सव के प्राप्त होने पर अत्यधिक मिथ्यामतिरूपी अन्धकारसे परिपूर्ण, और जहाँ पर पीडा देते हुये कामक्रोधादि आभ्यन्तर शत्रु ही राजपुरुष विशेष की तरह भर्त्सना (तर्जना) देने वाले हैं, और जहाँ पर मोहरूपी राजा का शासन है,उसकी आज्ञा से दुर्जन पुरुष ही चौरी और द्यूतक्रीडा में संलग्न है, और जहाँ पर तालकयन्त्र बन्धन स्वरूप है, और जहाँ पर तैल निकालने के यन्त्र की तरह पीडा विद्यमान है,ऐसे संसार रूपी कारागृह (जेल) से क्या कैदी (बन्दी) नहीं छोड दिये जावें, अपितु वे अवश्य ही छोड देने चाहिए। राजाओं के राज्य-महोत्सव पर ही कैदी छोड दिये जाते हैं, फिर आप तो त्रिलोकाधिपति हैं अतः आपके राज्याभिषेक-महोत्सव के अवसर पर क्या मैं मुक्त नहीं होऊँगा? अवश्य ही आपके प्रसाद से मुक्त हो जाऊँगा। यह कवि की मूलरामायण के अनुसार अन्तिम प्रार्थना है।।

अथ परिशिष्टांशः

चतुर्मुखमुखसंपादितं

ब्रह्म-(श्रीराम) स्तवरत्नम्।

(१)

प्रागेकेन ब्रह्मस्वरूपं निरूपयन् स्तौति—

तत् पूर्णमेकमनुपाधि च चित्स्वरूपं

सद् ब्रह्म निर्मलममध्यमनाद्यनन्तम्।

विज्ञानराशिमविनाशि-सुख-प्रकाशि

तुर्यां दशामधिगतैर्विदितं स्मरामि ॥१॥

अहं पूर्णं सर्वविधैश्वर्याणां किंचित्प्रकारिकयाऽपि त्रुट्या विहीनम्। एकं केवलम्। अनुपाधि अणुत्वमहत्त्वाद्युपाधिरहितम्। चित्स्वरूपं चेतनात्मकम्। निर्मलं निर्दोषम्। अमध्यम् अनादि अनन्तमित्यनेन सर्वव्यापकमित्यर्थः। विज्ञानस्य विशिष्टज्ञानस्य राशिमाकरम्। अविनाशिनः नित्यस्य सुखस्य यः प्रकाशः तद्वत्। यद्वा अविनाशि सुखं यस्य तत्। तथा प्रकाशि स्वयं प्रकाशते इति, अन्यत् प्रकाशयतीति च प्रकाशि। ततः कर्मधारयः। अविनाशि सुखं च तत् प्रकाशि च तत्। तुर्यां चतुर्थीं दशाम् अवस्थां समाधिमित्यर्थः। अधिगतैः प्राप्तैः विदितं ज्ञातं तत् सद् असत्ता-रहितम्। ब्रह्म स्मरामि ध्यायामि ॥१॥

अर्थ—सर्वप्रथम प्रथम पद्य में श्रीराम के ब्रह्मस्वरूप का निरूपण—मैं सर्वविध-ऐश्वर्यों की किसी भी प्रकार की त्रुटि से रहित, (पूर्ण) (एक) केवलस्वरूप, अणुत्व-महत्त्व-आदि उपाधियों से रहित (अनुपाधि) चेतनात्मक (चित्स्वरूप) निर्दोष (निर्मल) सर्वव्यापक (अनादि, अमध्यम, अनन्त) विशिष्ट ज्ञान के आकर (खान) (विज्ञानराशि) नित्य सुख के प्रकाश की तरह स्वयं प्रकाशमान (अविनाशि-सुख-प्रकाशि) चतुर्थी अवस्था (समाधि) को प्राप्त पुरुषों के द्वारा ज्ञात (तुर्यां दशामधिगतैर्विदितम्) उस सत्ता सहित अर्थात् सदा विद्यमान (तत् सत्) ब्रह्म को स्मरण करता हूँ ॥१॥

अथ परमेश्वरस्वरूपं निर्दिशन्नाह—

वन्दे सुरोरगनरादितनुं परेशं

रेण्वश्म-रत्न कनकादिमयं यथाद्रिम्।

णिच् प्रत्ययो य इव कारयते करोति

यं व्याकृतिप्रकटितं प्रविदन्ति विज्ञाः ॥२॥

अहं सुरोरगनरादितनुं देव-नाग-मनुज-आदिस्वरूपं परेशं परमेश्वरं वन्दे। इत्यनेनोपादानकारणत्वात् परमात्मनो विश्वरूपत्वं दर्शितम्। अत्रोपमामाह-यथा रेणुः धूलिः। अश्मानः पाषाणाः। रत्नानि मणयः। कनकं स्वर्णम्। तन्मयम् अद्रिं पर्वतम्। इत्यनेनोत्कृष्टापकृष्टाकारधारित्वमात्मनो दर्शितम्। तत् किं स कर्ता वा कारयितेत्यपेक्षायामाह-यः परमेश्वर इव णिच्प्रत्ययः प्रेरणार्थकः। कारयते अन्यं करणाय प्रेरयति। करोति स्वयमपि च करोति। क्रियायां स्वातन्त्र्येण प्रेरणार्थकत्वेन चेति भावः। परमेश्वरपक्षे तु प्रकृतिजनकत्वेन तस्य करणं कारणं च सिद्धमेव। यं णिच्-प्रत्ययं परमेश्वरं चेति भावः। व्याकृतौ व्याकरणे प्रकटितं प्रकाशितम्। परमेश्वरपक्षे तु-विगता आकृतिराकारो यस्य स तथोक्तोऽपि रामाद्यवताराणां शरीरधारित्वेन प्रकटित इति कर्मधारयो ज्ञेयः। तम्। विज्ञाः विशेषज्ञानशालिनः प्रविदन्ति बुध्यन्ते ॥२॥

अर्थ—इस पद्य में श्रीराम के परमेश्वरस्वरूप का निरूपण किया गया है—जिस प्रकार धूल-पत्थर-रत्न-स्वर्णमय पर्वत होता है, उसी प्रकार परमेश्वर भगवान् श्रीराम देव-नाग-मनुष्यादिस्वरूप में विद्यमान है, जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में प्रदर्शित धातु से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय कर्ता और कारयिता का बोध कराता है (जैसे कथयति का अर्थ—कहता है तथा कहलवाता है)

उसी प्रकार परमेश्वर प्रकृति-जनक होने से करण और कारण दोनों ही रूप में विद्यमान (सिद्ध) है क्योंकि वह व्याकृति = विशेष आकार से रहित होने पर भी राम-कृष्ण-नृसिंहादि अवतारों में शरीर धारण कर प्रकट होता है। इस प्रकार के स्वरूप को केवल विशेषज्ञानशाली ही जानते हैं, अत: उन परमेश्वर (श्रीराम) की मैं वन्दना करता हूँ॥२॥

तदेव ब्रह्मादिस्वरूपेण विवेचयन्नाह—

भर्गस्त्वमेव च चतुर्वदनस्त्वमेव

गोविन्दनाम कलयन् रघुराट् त्वमेव।

देवाधिदेव जगतां त्रितयं त्वमेव

वन्दे कृतिस्थितिहृतिप्रथितं भवन्तम्॥३॥

भो देवाधिदेव ! त्वमेव भर्ग: शिव:। त्वमेव चतुर्वदनो ब्रह्मा। गोविन्दस्य विष्णोर्नाम कलयन् धारयन् त्वमेव रघुराड् राम:। त्वमेव जगतां त्रितयम् असीति शेष:। कृति: सर्जनम्। स्थिति: पालनम्। हृति: संहरणम्। ताभ्य: प्रथितं पृथक्कृतात्मानम्। भवन्तं वन्दे॥३॥

अर्थ—भगवान् श्रीराम का ब्रह्मादिस्वरूप से विवेचन–हे देवाधिदेव ! आप ही भर्ग (शिव) हैं, आप ही चतुर्वदन ब्रह्मा हैं, गोविन्द (विष्णु) के नाम को धारण करते हुये आप ही रघुराट् श्रीराम हैं, आप ही त्रिलोक-स्वरूप हैं, आप ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहृति करने से प्रथित हैं, अत: आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥३॥

अथ द्वाभ्यां प्रकृतं रामस्वरूपं स्तौति—

स्यन्नस्मितामृतरसाननपूर्णचन्द्रं

धीसिन्धु-मारुतिसमाश्रितपादपद्मम्।

मन्दस्मितास्यमिथिलेशसुतासमेतं

हित्वा भवन्तमयि राम कमाश्रयेऽन्यम्॥४॥

अयि राम ! स्यन्न: स्रुत: स्मितं मन्दहास एव अमृतरसो यस्मात् स तथोक्त: आननमेव पूर्णचन्द्रो यस्य स तम्। धीसिन्धुना बुद्धिसागरेण मारुतिना श्रीहनूमता समाश्रितौ पादपद्मौ यस्य स तम्। मन्दस्मितास्या स्मेरमुखी या मिथिलेशसुता सीता तया समेतम्। भवन्तं त्वाम्। हित्वा त्यक्त्वा। अहम् अन्यं कम् आश्रये शरणीकरोमि ? नान्यं कमपीति भाव:॥४॥

अर्थ—प्रकृत राम के स्वरूप का स्तवन– आपका मुख पूर्णचन्द्र है जिससे (स्मित) मुस्कराहट रूपी अमृत-रस झर रहा है, बुद्धि के सागर श्रीहनुमान् जी आपके चरणारविन्द की सतत सेवा करते रहते हैं, और आप मन्दहास करनेवाली मिथिलेशसुता सीता से युक्त हैं, आपको छोड़कर मैं अन्य किस देव का आश्रय लूँ ? अर्थात् आपके अतिरिक्त मेरा कोई आश्रय दाता नहीं है, अत: मैं तो आपकी ही शरण चाहता हूँ॥४॥

धिष्ण्यं श्रियां सुखसमृद्धियुतं स्वराज्यं

योऽपास्य भक्तजनदु:खविनाशनाय।

योग्याममन्यत वनस्थितिमप्यसौख्यां

न: कोऽस्ति ते शरणदस्तमृतेऽत्र रामम्॥५॥

य: (श्रीराम:) भक्तजनस्य। यद् दु:खं रावणादिराक्षसकृतं तस्य नाशनाय। श्रियां संपदां धिष्ण्यं स्थानम्। सुखसमृद्धियुतं स्वराज्यम् अपास्य त्यक्त्वा। असौख्यां कष्टप्रदामित्यर्थ:। वनस्थितिम् अरण्यवासम् योग्याम् उचितामन्यत। हे न: मनुष्य ! अत्र लोके तं रामम्। ऋते विना। ते तव। शरणद: आश्रयदाता। कोऽस्ति ? न कोऽपीति भाव:। तत्तमेवाश्रयेत्याशय:॥५॥

अर्थ—जिस श्रीराम ने भक्तजन के दु:ख (रावणादिराक्षसों द्वारा दिया हुआ) का नाश करने के लिये सुखसमृद्धि से युक्त अपने राज्य को छोड़कर अत्यधिक कष्ट देने वाले अरण्यवास को ही उचित माना। हे मनुष्य ! इस लोक में उन श्रीराम के बिना तुझे

शरण देने वाला अन्य कौन है ? अर्थात् अन्य कोई तुझे आश्रय देने वाला नहीं है, अत: तू उस श्रीराम का ही आश्रय ग्रहण कर ॥५॥

अन्ते निष्कर्षकथनेनोक्तमुपसंहरति—

प्रत्यक्षं किल यत्र तत्र लसति
ब्रह्मेत्यनाकारकं
चोक्षं यश्चतुराननः स्वयमभूद्
ब्रह्मेति साकारकः।
दक्षैर्यत्र विलोक्यतेऽपि च रमा-
रामस्थवर्णद्वयं
यात्येवैष जनोऽपि तत्पदममुं
ब्रह्मेति रामं विदन् ॥६॥

किलेति प्रसिद्धौ। यत्र तत्र यत्र यत्र स्थाने तत्र तत्रेत्यर्थः। प्रत्यक्षं समक्षम्। अनाकारकं निराकारम्। ब्रह्म लसति वर्तते इत्यर्थः। यः ब्रह्मा इति साकारकः आकारवान् चोक्षं सुतरां यथा स्यात्तथा। चतुराननः चतुर्मुखः स्वयम् आत्मना अभूत्। इत्यनेन स्वयंभूत्वं तस्य दर्शितम्। अथ च 'ब्रह्म' तथा 'ब्रह्मा' इत्यनयोः क्रमेण निराकारत्वम् आ-रहितत्वं, साकारत्वम् आ-सहितत्वं च दृश्यत एव। अत एव स्वस्य निराकारता साकारता च तेन स्वयं ज्ञाप्यत इति भावः। अपि च पुनः यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि दक्षैः निपुणैः। रमा लक्ष्मीः (सीता) रामः विष्णुश्च तत्स्थं वर्णद्वयं द्विधा वर्णनमित्यर्थः। "वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाऽक्षरे।" इत्यमरः। विलोक्यते दृश्यते। अथ च 'ब्रह्म' इति शब्देऽपि व्यस्ततया 'रमा'-'राम' स्थितं वर्णद्वयं 'रम' इति तत्तत्स्वरसहितम् अक्षरद्वयं दृश्यत एव। आकारस्य अकारजातावन्तर्भूतत्वात्। अमुं तम्। रामं राघवं ब्रह्म इति विदन् ज्ञानविषयीकुर्वन् न तु मनुजतया विदन्निति भावः। एष दृश्यमानो जनो लोकोऽपि तत्पदं ब्रह्मपदं याति प्राप्नोत्येव। फलश्रुतिस्तु–"चतुर्मुखमुखाम्भोज-रतैषा रामषट्पदी। रमते यस्य हृत्पद्मे स स्नायाद् ब्रह्म-नीरधौ।" इति ॥६॥

अर्थ—अन्त में निष्कर्ष-कथन के रूप में उपसंहार—यत्र तत्र सर्वत्र ब्रह्म निराकार रूप में विद्यमान है, जो ब्रंह्मा साकार रूप में भी शोभित है क्योंकि वह स्वयम्भू (आत्मा से उत्पन्न) कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मा क्रमशः निराकार और साकाररूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण वह अपनी निराकारता और साकारता स्वयं ज्ञापित करता है। फिर निपुण-जन उस ब्रह्म तथा ब्रह्मा में रमा = लक्ष्मी (सीता) राम (विष्णु) पद में स्थित 'रम' इन दो वर्णों को तत् तत् स्वरसहित देखते हैं क्योंकि आकार का अकारजाति में अन्तर्भाव होता है। इस कारण रघुपति श्रीराम को 'ब्रह्म' ऐसा जानता हुआ यह दृश्यमान लोक भी उसके पद (ब्रह्मपद) को प्राप्त करता ही है ॥६॥

कवि के द्वारा इस श्रीराम-स्तुति की फलश्रुति निम्न प्रकार से कही गई है—

"चतुर्मुखमुखाम्भोज-रतैषा रामषट्पदी।
रमते यस्य हृत्पद्मे स स्नायाद् ब्रह्मनीरधौ ॥"

अर्थात् चारमुखवाले ब्रह्मा के मुखारविन्द से की गई यह श्रीरामषट्पदी (६पद्यों में वर्णित) जिस भक्त के हृदय-कमल में रमण करती है, वह भक्त ब्रह्म-समुद्र में स्नान कर अपने आपको पवित्र करता है।

अथ शिवमुख-संपादितं

श्रीरामस्तवरत्नम्।

(२)

आदित्यभासुरनखौ विपदा-समूह-
पर्यायदावदहने दवचित्रभानू।
दासप्रियौ तव पदौ रघुनाथ धीमन्
मञ्जुश्रियौ शरणयामि सुमङ्गलाय ॥१॥

भो धीमन् रघुनाथ ! अहं सुमङ्गलाय शोभनाय कल्याणाय मुक्तये इत्यर्थः। आदित्यवद् भासुरा देदीप्यमाना नखा ययोस्तौ तथोक्तौ तौ। विपदासमूहस्य यः पर्यायोऽनुक्रमः स एव दावो वनं तस्य दहने दवचित्रभानू दावाग्निरूपौ। विपद्विदारिणावित्यर्थः। मञ्जुश्रियौ मनोज्ञशोभौ। दासप्रियौ तव पदौ चरणौ शरणयामि आश्रयामि ॥१॥

अर्थ—शिव जी के द्वारा की हुई श्रीराम की स्तुति—हे ज्ञानसागर ! श्रीरघुनाथ ! (श्रीराम !) मैं शोभन कल्याण के लिये (मुक्ति के लिये) सूर्य के समान देदीप्यमान नखों से युक्त, विपद्-समूह रूपी दाव (वन) को जलाने में समर्थ दावाग्नि (वन-वह्नि) स्वरूप, (अर्थात् आपत्तियों को विदारण करने वाले) सुन्दर शोभा से युक्त, भक्तों (दासों) को प्रिय आपके चरणों का आश्रय लेता हूँ॥१॥

पश्यत्-प्रिया तव तनू रघुवंशरत्न
हर्त्री रुजां सपदि दर्शित-हर्ष-सीमा।
तापच्छिदिन्दुरुगिव क्षणदा सुखस्था
रंरम्यतां मनसि मेऽत्र तमोऽपनीय ॥२॥

भो रघुवंशरत्न श्रीराम ! इन्दुरुक् चन्द्रकान्तिरिव पश्यतां (जनानां) प्रिया। रुजां रोगाणां हर्त्री। सपदि सद्यः। दर्शिता हर्षस्य सीमा यया सा। तापानां त्रिविधदुःखानां तापस्य दैनिकसंतापस्य च छिद् नाशिनी। क्षणदा उत्सवप्रदा। सुखस्था स्वास्थ्यवती। चन्द्रपक्षे तु क्षणदासु रात्रिषु खे आकाशे तिष्ठति तथोक्ता। दैनिकचन्द्रकान्तेस्तु वर्णयिष्यमाणतमोऽपनयनस्वभावाभावात्तथा वर्णितम्। एतादृशी तव तनू मूर्तिः। अत्र मे मनसि। तमोऽज्ञानजन्यमन्धकारम्। अपनीय दूरीकृत्य। रंरम्यताम् अतिशयेन पुनः पुनर्वा रमताम्। श्लिष्टोपमा ॥२॥

अर्थ—हे रघुवंशरत्न ! श्रीराम ! चन्द्रमा की कान्ति की तरह देखने वालों को प्रिय, रोगों को हरण करने वाली, देखने के साथ ही हर्ष की सीमा तक पहुँचाने वाली, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप तथा दैनिक-सन्ताप को नष्ट करने वाली, उत्सव देने वाली, स्वास्थ्य से सम्पन्न आपकी मूर्ति मेरे अज्ञान-जन्य-अन्धकार को नष्ट कर मेरे मन में अतिशय रूप से अथवा पुनः पुनः रमण करे ॥२॥

विशेष—इस पद्य में श्लिष्टोपमा है। सम्पूर्ण विशेषण चन्द्रमूर्ति और राममूर्ति में समान अर्थ के द्योतक हैं केवल चन्द्रपक्ष में क्षणदा सुखस्था इन दो पदों को "क्षणदासु खस्था" इस प्रकार परिवर्तन करने पर रात्रियों में आकाश में स्थित होने वाली चन्द्रमूर्ति, यह अर्थ प्रतीत होगा ॥२॥

दाहापहारिशुभदृक्प्रसरोदबिन्दु-
तानप्रवर्षपरिधर्षित-तर्षि-दुःख।
रंरंहि दर्शनपथे कृतलोक-रक्ष
सर्वप्रियोऽब्द इव राम जगत्-सुखाय ॥३॥

दाहः संतापजनको रोगविशेषः। स चात्र विरहजन्यो ज्ञेयः। तदपहारी यः शुभदृक्प्रसरः शुभदृष्टिपातः स एव उदबिन्दुतानः जलबिन्दुप्रकरः तस्य प्रवर्षेण परिधर्षितं नाशितं तर्षिणाम् आशावतां पिपासि-

तानां च दुःखं येन सः तत्संबुद्धौ। हे कृतलोकरक्ष राम ! अब्दः मेघ इव सर्वप्रियस्त्वं जगत्सुखाय दर्शनपथे रंरंहि अतिशयेन क्रीड ॥३॥

अर्थ—हे श्रीराम ! आप मेघ की तरह सर्वप्रिय हैं, क्योंकि आप विरहजन्य (सन्तापजनकं) रोग विशेष को नष्ट करने वाली शुभदृष्टिपात रूपी जलबिन्दुओं की वर्षाकर आशावान् पिपासित-जनों का दुःख दूर करते हैं, और लोकरक्षा करने में समर्थ हैं। अतः जगत्-कल्याण के लिये आप मेरे दर्शन-पथ में अतिशय रूप से रमण (विहार) करें ॥३॥

वन्द्येऽर्कवंश उपजन्य भवांस्त्रिलोक-

संकल्पमात्र-परिकल्पन-कर्मकारो।

पत्न्याऽनुजैश्च गुरुभिर्घटितोऽब्जनाभ

दाम्पत्य-हार्द-गुरुभक्तिगुरुर्बभूव ॥४॥

त्रिलोकस्य संकल्पमात्रेण यत् परिकल्पनं परितो निर्माणं तत्कर्मणि कारो शिल्पिन् ! हे अब्जनाभ विष्णो (श्रीराम !)। "अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्०" इत्यत्र अजिति योगविभागात् समासान्तोऽच्। गड्वादित्वात्पर-निपातः। भवान् त्वं वन्द्ये प्रशंसनीये। अर्कवंशे सूर्यकुले। उपजन्य उत्पद्य। पत्न्या सीतया। अनुजैर्भर-तादिभिः। गुरुभिः कौशल्यादशरथादिभिः पित्रादिभिः। घटितः संबद्धः सन्। यथासंख्यं दाम्पत्यस्य जायापति-व्यवहारस्येत्यर्थः। हार्दस्य भ्रात्रादि- स्नेहस्य गुरुभक्तेः पूज्यभक्तेश्च गुरुः शिक्षको बभूव। जायापत्योः प्रेमा, भ्रातृ-स्नेहः, पूज्य-भक्तिश्चेति सर्वं स्वकीयेन तत्तत्स-म्बन्धेन त्वयैवादर्शभूतेन मर्यादापुरुषोत्तमेन शिक्षित-मिति भावः ॥४॥

अर्थ—हे अब्जनाभ-विष्णुरूपी ! श्रीराम ! आप चतुर-शिल्पी की तरह संकल्प मात्र से त्रिलोक के निर्माण-कर्म में समर्थ हैं। आपने प्रशंसनीय सूर्य-वंश में जन्म लेकर पत्नी-सीता के साथ, भरतादिभाईयों के साथ कौशल्यादशरथादि माता-पिता के साथ उचित सम्बन्ध रखते हुये लोगों के लिये आदर्श जायापतिव्यवहार, भ्रातृ-प्रेम, गुरु-भक्ति, मातृपितृ-भक्ति की उचित शिक्षा प्रदान की। हे मर्यादापुरुषोत्तम ! आप ही आदर्शभूत उन सम्बन्धों से सम्पूर्ण जगत् के गुरु (शिक्षक) हैं ॥४॥

लोके शुभाय भवता भवताऽवता स

काकोदरः फणभृतां रिपुणेव तात।

भिन्दन् स्थितिं रजनिचारिपतिः प्रमेथे,

राम प्रशासक इतीह भवान् हि भाति ॥५॥

हे तात जगत्पिता राम ! लोके जगति। शुभाय शुभकर्मणे। भवता जायमानेन। अवता रक्षता रक्षणहेतवे इत्यर्थः। "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः। भवता त्वया। स प्रसिद्धः। स्थितिं मर्यादां भिन्दन् नाशयन्। रजनिचारिपतिः रावणः। प्रमेथे नाशितः। अत्रोपमामाह-फणभृतां रिपुणा गरुडेन काकोदरः सर्प इव। हि यतः। इह लोके भवान् प्रशासकः शासनकर्ता इति भाति शोभते। अतः शासनं कार्यमेवेति भावः ॥५॥

अर्थ—हे तात ! (जगत्पिता) श्रीराम ! जिस प्रकार लोकरक्षा के लिये सर्प-शत्रु गरुड यथासमय सर्पों का विनाश करता है, उसी प्रकार आपने भी शुभकर्म के लिये और जगत् की रक्षा के लिये, मर्यादा को नष्ट करने वाले (दुराचार-द्वारा) उस प्रसिद्ध रजनीचरपति रावण का नाश किया क्योंकि आप इस लोक में मर्यादा-पालक शासन-कर्ता के रूप में शोभित हैं, दुष्टों का दमन करते हुये शासन करना ही चाहिये ॥५॥

मंमन्यमानमनिशं मुनिभिः प्रदीप्र-

श्रीवायुसूनुनतमौलि-मिलत्-सुकान्ति।

रामस्य तत् पदयुगं मुकुटं सुराज्ञा-

मंहोविनाशि विनमामि सदा शुभाय ॥६॥

मुनिभिः ध्यानपरैरित्यर्थः। अनिशं सततम्। मंमन्यमानं मुहुर्मुहुर्मननगोचरीक्रियमाणम्। इति ब्रह्मस्व-रूपम्। प्रदीप्रो भासुरो यः श्रीवायुसूनोः श्रीहनूमतो नतो

नम्रो मौलिः मुकुटं तेन मिलन्ती सुकान्तिः यस्य तत्। इति रामावतारस्वरूपम्। सुराज्ञां शोभनानां राज्ञाम्। "न पूजनात्" इति टजभावः। मुकुटं प्रणम्यमानत्वादिति भावः। इति राजाधिराजस्वरूपम्। अंहोविनाशि पापहरम्। रामस्य तत् पदयुगं सदा शुभाय विनमामि॥६॥

अर्थ—जिन चरणों का ध्यान में संलग्न मुनिवृन्द सतत मनन किया करते हैं, और प्रणाम करते हुये श्रीहनुमान् जी के मुकुट की भासुर कान्ति से जिनकी (चरणों की) कान्ति बढ़ जाती है, और जो चरणाविन्द समस्त राजाओं के लिये मुकुट के समान है, क्योंकि श्रीराम राजाधिराज है अतः सम्पूर्ण राजाओं के मुकुट उनको प्रणाम करते हैं। जो समस्त भक्तों के पाप हरण करते हैं उन श्रीराम के चरणारविन्दों को मैं सर्वदा कल्याण के लिये नमस्कार करता हूँ॥६॥

भूषा सतीषु दयिता बत यस्य वामा

योग्यं त्ववाम इति लक्ष्मणकोऽस्ति चारु।

भूत्वा च संमुखमवाञ्चति वायुसूतिर्

योज्यात् स वः प्रभुरनिन्द्यधियाऽतिशोभी॥७॥

अत्र 'बते' ति विस्मयसूचकम्। सतीषु पतिव्रतासु भूषा भूषणस्वरूपा। यस्य दयिता प्रिया। वामा प्रतिकूलेति विरोधे वामा वामपार्श्ववर्तिनीति तत्परिहारः। लक्ष्मणको लक्ष्मणः। अवामः अप्रतिकूलो दक्षिणपार्श्ववर्ती च। इति तु चारु योग्यमस्तीति भावः। च पुनः। वायुः सूतिः प्रभवस्थानं यस्य स तथोक्तो हनुमान् संमुखं भूत्वा अवाञ्चति अवनतमुखोऽस्तीत्यर्थः। अति परमं शोभते इति अतिशोभी स प्रभू रामः। वः युष्मान्। अनिन्द्यया धिया बुद्ध्या। योज्याद् योजयतु॥७॥

अर्थ—अत्यन्त आश्चर्य है कि पतिव्रताओं में भूषणस्वरूप जिन भगवान् श्रीराम की दयिता (प्रिया) वामा (प्रतिकूला) है ऐसा विरोध होने पर वामा अर्थात् वामपार्श्व में विद्यमान है इस प्रकार अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है, तथा लक्ष्मण अवाम (अप्रतिकूल) अर्थात् दक्षिणपार्श्व में सुन्दर लग रहा है, फिर वायुनन्दन हनुमान् संमुख स्थित होकर भी अवनत मुख है ऐसे अत्यन्त शोभा से सम्पन्न श्रीराम आप सबको निर्दोष बुद्धि से युक्त करें॥७॥

अन्ते स्वाभीष्टं प्रार्थयते—

नम्रं कृतार्थयसि लक्ष्मण चेदवाम

माम्पासि चेत् त्वमपि जानकि हेऽम्ब देवि।

यद्यातनोषि हनुमन् करुणामवक्र

हंसायतां मम हि मानसमेत्य रामः॥८॥

हे अवाम अनुकूल लक्ष्मण! चेद् यदि। मां नम्रं भक्तं कृतार्थयसि सफलयसि। हे अम्ब मातः जानकि सीते देवि! चेत् त्वमपि मां पासि रक्षसि। हे अवक्र सरल अनुकूलेत्यर्थः। हे हनुमन्! यदि त्वं करुणाम् आतनोषि। (तर्हि) रामो हि मम मानसं मनः मानससरश्च। एत्य आगत्य। हंसायतां हंस इवाचरतु। मम मानसे खेलतु इति भावः। फलश्रुतिस्तु—"शिवाननाब्जजातोऽयं रामस्तवमरन्दकः। पीतः स्ताद् विपदां हर्ता संपत्कर्ता च दुःखहृत्॥" इति॥८॥

अर्थ—हे अवाम (अनुकूल) लक्ष्मण! यदि आप मुझ नम्र भक्त को कृतार्थ करना चाहते हैं, हे माता जानकी अगर आप भी मेरी रक्षा करना चाहती हैं, तथा हे अवक्र (सरल, अनुकूल) हनुमान् जी यदि आप मुझ पर करुणा करना चाहते हैं तो श्रीराम मेरे मानस-सरोवर में आकर हंस की तरह आचरण करें अर्थात् मेरे मन में क्रीडा करें। फलश्रुति—शिवाननाब्जजातोऽयं रामस्तवमरन्दकः। पीतः स्ताद् विपदां हर्ता सम्पत्कर्ता च दुःखहृत्॥

अर्थात्—शंकर के मुखारविन्द से उत्पन्न यह रामस्तवरूपी पुष्परस यदि पान किया जाय तो विपत्तियों का हरण करने वाला, सम्पत्तियों का करने वाला और दुःखों का हरण करने वाला है॥८॥

अथहनुमन्मुखसंपादिता

श्रीरामस्तुतिः

(३)

राम त्वदीयपदकल्पतरोः परः को

मामत्र रक्षितुमलं भवतापतप्तम्।

यश्छायया सुखयति, प्रददाति चान्त-

राचिन्तितानि सुफलानि निजाश्रितेभ्यः ॥१॥

भो राम ! अत्र जगति। त्वदीयात् पदाच्चरणादेव कल्पतरोः। परः अन्यः कः भवस्य संसारस्य तापेन दुःखेन सन्तापेन च तप्तं दुःखितम्। तापतप्तं च मां रक्षितुम् अलं समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः। यः (पदकल्पतरुः) छायया कान्त्या अनातपेन च। सुखयति सुखीकरोति। च पुनः। निजेभ्यः आश्रितेभ्यः। अन्तः अन्तःकरणे आचिन्तितानि सुशोभनानि फलानि धर्मार्थकाममोक्षरूपाणि प्रददाति। कल्पतरुश्च मनोऽभीष्टानि फलानि दत्त एव ॥१॥

अर्थ—हे श्रीराम ! इस संसार में आपके चरणरूपी कल्पवृक्ष के अतिरिक्त अन्य कौन व्यक्ति संसार के सन्ताप से तप्त मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं ? अर्थात् कोई नहीं। जो पदकल्पतरु अपनी कान्ति से और छाया (अनातप) से सुखी करता है, और आश्रित जनों के लिये अन्तःकरण में चिन्तित धर्मार्थकाममोक्षरूपी शोभन फलों को प्रदान करता है ॥१॥

मत्वा हि सूर्यकुलसूर्यमहं भवन्तं

भक्त्या जगज्जनक पद्म इवाश्रयामि।

द्राघिष्ठमोहरजनीपरिषुप्तमाशु

यत्नात् प्रबोधयति यो जडजन्तुसार्थम् ॥२॥

भो जगज्जनक ! अहं हि यतः भवन्तं सूर्यकुलस्य सूर्यम् उद्द्योतकत्वेनेत्यर्थः। मत्वा भक्त्या पद्म इव आश्रयामि। यः (सूर्यभूतो भवान्) द्राघिष्ठा दीर्घतमा या मोहरूपा रजनी रात्री तस्यां परिषुप्तं गाढनिद्राणम्। जडजन्तूनां मूढशरीरिणाम् सार्थं संघम्। यत्नात्। आशु शीघ्रम्। प्रबोधयति जागरयति। आत्मज्ञानद्वारा सावधानं करोतीति भावः। सूर्यश्च (डलयोरैक्यात्) जलजं तु सार्थं (कमलं सफलं) करोत्येव ॥२॥

अर्थ—हे जगज्जनक ! मैं आपको सूर्यकुल का सूर्य मानकर भक्ति से कमल की तरह आपका आश्रय लेता हूँ। सूर्यभूत आप दीर्घतम मोहरूपी रात्रि में प्रगाढ निद्रा में सोते हुये मूर्खों के संघ को यत्न से शीघ्र ही जगा देते हैं अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा सावधान करते हैं ॥२॥

राम त्वदीयवदनं वद नन्दयेत् क-

मह्नाय नो असुभृतं सुभृतं सुभक्त्या।

चन्द्रो यथा वितनुतेऽतनुतेजसा यद्

द्रागन्तरङ्गमतमो मतमोदजातम् ॥३॥

भो राम ! वद कथय। त्वदीयं वदनं मुखं सुभक्त्या सुभृतं पूर्णं कम् असुभृतं प्राणिनम्। अह्नाय शीघ्रम्। नो नन्दयेत् प्रहर्षयेत् ? अपितु सर्वानपि नन्दयेदित्यर्थः। यद् (वदनं) चन्द्रो यथा। अतनुना अनल्पेन तेजसा प्रभावेण ओजसा च। अन्तरङ्गं मनः अतमः अन्धकाररहितम्। अत एव मतं ज्ञातम् अनुभूतं मोद-जातं हर्षप्रसरो येन तद्। वितनुते करोति ॥३॥

अर्थ—हे श्रीराम ! आपका मुखारविन्द अच्छी भक्ति से परिपूर्ण किस प्राणी को शीघ्र ही हर्षित नहीं करता ? अपितु सबको ही आनन्दित करता है। आपका मुखचन्द्र अत्यधिक प्रभाव से और ओज से भक्तों के मन को अन्धकाररहित अर्थात् अज्ञानरहित और अनुभूत हर्ष से युक्त कर देता है ॥३॥

युग्मेन नामस्मरणप्रभावं दर्शयति—

यन्नामसंस्मरणमात्रत एव विघ्ना

वेगाद् द्रवन्ति हरिणा इव सिंहनादात्।

धन्यो यतो नलकपिः स्मृतरामनामा

सेतोर्विधौ पयसि तारितवाञ्शिलौघान् ॥४॥

यस्य नाम्नः। संस्मरणमात्रतः स्मरणादेव। विघ्नाः वेगाद्, हरिणाः सिंहनादात् इव, द्रवन्ति अपगच्छन्ति। यतः स्मृतं रामनाम येन सः। अत एव धन्यः। नलनामा कपिः। सेतोः सागरमध्यगतस्य सेतोः। विधौ विधाने। पयसि जले। शिलौघान् पाषाणसमूहान् तारितवान् अतारयत् ॥४॥

अर्थ—दो श्लोकों के द्वारा रामनाम-स्मरण का प्रभाव प्रदर्शित किया जाता है—हे श्रीराम ! जिस प्रकार सिंहनाद से हरिण-समूह दूर भाग जाता है, उसी प्रकार आपके नाम के स्मरणमात्र से भक्तों के सारे विघ्न वेग से दूर भाग जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आपके नाम का स्मरण करने वाला नलनामक कपि (वानर) धन्य है, जिसने सागर के मध्य सेतु का निर्माण करते समय जल में ही पाषाण-समूह को तैरा दिया था ॥४॥

प्राग् यच्छब्दवर्णितम् इहस्थेन तच्छब्द-वर्णितेन सह संबन्धयति—

रक्षोघ्न तस्य भवतो भवतोभि नाम

घुष्टं स्मृतं च जपितं लपितं श्रुतं वा।

नात्रैव केवलमभीष्टफलं प्रदत्तेऽ-

थान्ते विमानमिव संनयतीष्टलोकम् ॥५॥

भो रक्षोघ्न राक्षसविनाशिन् राम ! मूलविभुजादित्वात् साधुः। तस्य भवतः तव। भवतोभि भवं संसारं तोभते नाशयतीति तत् नाम। घुष्टम् उच्चैरावृत्तम्। स्मृतं स्मरणविषयीकृतम् जपितं जपविषयीकृतम्। लपितमुच्चारितम्। वा अथवा। श्रुतं श्रवणगोचरीकृतम्। केवलम् अत्रैव लोके अभीष्टं फलं न प्रदत्ते। अथ किन्तु । अन्ते मरणसमये। विमानमिव इष्टम् अभिवाञ्छितं लोकं वैकुण्ठलोकमित्यर्थः। संनयति प्रापयति ॥५॥

अर्थ—हे राक्षसविनाशिन् श्रीराम ! संसार के सन्ताप को नष्ट करने वाला आपका नाम उच्चस्वर से बार-बार उच्चारण किया गया, स्मरण किया गया, जपा गया, सुना गया केवल इसी लोक में अभीष्ट-फल प्रदान नहीं करता, अपितु अन्तसमय में भी विमान की तरह इष्टलोक (वैकुण्ठलोक) को पहुँचा देता है ॥५॥

यत्नात् कथंचिदपि ते चरणारविन्दं

नाहं क्षमे गुणयितुं जनकादिजुष्टम्।

थाकारमागत इवोत्पर ईश सः स्थो

यत्सेवको भवगतोऽपि भवत्यलिप्तः ॥६॥

भो ईश प्रभो ! अहं जनकादिभिः संसारेऽलिप्तैरित्यर्थः। जुष्टं सेवितं ते तव चरणारविन्दं कथंचिद् यत्नादपि गुणयितुं वर्णयितुं न क्षमे नहि शक्नोमि। यस्य (चरणारविन्दस्य) सेवकः भवगतः संसारस्थितोऽपि अलिप्तः अविद्ययाऽनाकृष्टः भवति। क इवेत्यपेक्षायां व्याकरणविषयिणीमुपमामाह—थाकारं थस्वरूपम् आगतः प्राप्तः उत्परः उदः परः स्थः स्थाधातोः सः सकार इव। उद्×स्थानम्। इत्यत्र "उदः स्थातम्भोः–" इति पूर्वसवर्णे कृते सकारस्य थकारादेशे कृतेऽपि। तस्य झरोझरीति लोपप्रसङ्गे पाक्षिके च रूपे चर्त्वं प्रति थकारस्याऽसिद्धत्वात् यथा तकारो न भवति तथा स संसारगतोऽपि संसारलिप्तो न भवति, देहमेव वा मुञ्चेदिति भावः ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो श्रीराम ! मैं संसार में अलिप्त जनकादि राजाओं के द्वारा सेवित आपके चरणारविन्दों का यत्नपूर्वक भी वर्णन करने में असमर्थ हूँ। आपके चरणारविन्दों का सेवक संसार में स्थित होता हुआ भी अविद्या से अनाकृष्ट रहता है। यहाँ पर व्याकरण-विषयिणी उपमा दी जाती है—जिस प्रकार (उद् + स्थानम्) यहाँ पर उद् से परे स्था धातु के सकार को थकार आदेश होता है, और उसका पाक्षिक लोप प्राप्त होने पर चर्त्व के प्रति थकार के असिद्ध होने से तकार को प्राप्त नहीं होता, चाहे अपने स्वरूप को ही छोड़ देता है, उसी प्रकार संसार में स्थित भी मानव संसार में लिप्त नहीं होता, चाहे शरीर का त्याग ही करना पड़े ॥६॥

सीतारामयोर्दांपत्ये सहधर्मं कीर्तयति—

सीतेश युक्तरुचिरस्ति भवांश्च सीता,

तादृक् तदाचरति सेच्छसि यद्धि यादृक्।

याः सुस्त्रियो जगति ता दधतेऽत एव,

पथ्यः पतिश्च किल सत्य इति प्रसिद्धिम्॥७॥

भोः सीतेश ! राम ! भवान्। च पुनः। सीता युक्तरुचिः अस्ति। भवांस्तु युक्ता न्याय्या रुचिः इच्छा यस्य स तथोक्तः। न्यायनिष्ठ इति भावः। "युक्तमौपयिकं न्याय्यम्" इत्यमरः। सा सीता च। युक्ता संमिलिता रुचिः इच्छा यस्याः सा। त्वदिच्छानुसारिणीत्यर्थः। यथा यो यादृक् कर्म करोति तादृक् तस्य फलं न्यायपर ईश्वरः (प्रकृत्या) दापयति। सीता (प्रकृतिश्च)यथा स इच्छति तथा कुरुते इति भावः। दंपती च मिथो युक्तरुची संमिलिताशयौ भवत एव। तदेव स्फुटीकरोति—त्वं यद्धि कार्यं यादृक् इच्छसि, सा सीता तत् (कार्यं) तादृक् आचरति। तदेवोत्तरार्धेन समर्थयते—अत एव किल जगति याः सुस्त्रियः शोभनाः स्त्रियः पतिव्रता इत्यर्थः। ताः। पथ्यः सन्मार्गचारी पतिश्च सत्य इति प्रसिद्धिं दधते। अत्र 'सत्यः'[१] इति सुबन्तं 'दधते'[२] इति तिङन्तं च पदं बहुवचनमेकवचनं च सत् उभयोरप्यर्थं तुल्ययोगित्वेन संघटयति। पतीच्छानुसारिण्यौ हि सत्य इति कथ्यन्ते। सन्मार्गचारी च पतिः 'सत्य' इति कथ्यते। एतत्सर्वं मूलभूतयोः सीतारामयोरेव परिणतिस्वरूपमित्याशयः॥७॥

अर्थ—सीता-राम के दाम्पत्य में सहधर्म का वर्णन—हे सीतेश ! राम ! आप सीता जी से न्यायनिष्ठ रुचि रखने वाले हैं। सीताजी भी आपकी इच्छा का अनुसरण करने वाली है। आप जिस कार्य को जैसा चाहते हैं, सीताजी उस कार्य के लिये वैसा ही आचरण करती है। इसीलिये जगत् में पतिव्रता स्त्रियाँ, और सन्मार्गचारी पति सत्य ही प्रसिद्धि को प्राप्त करते हैं॥७॥

१. 'सती' शब्दस्य बहुवचनं 'सत्य' शब्दस्य चैकवचनम्।
२. धात्रो बहुवचनम्, 'दध धारणे' इत्यस्य चैकवचनम्।

भगवतो ब्रह्मस्वरूपं परमेश्वरत्वं कीर्तयन्नुपसंहरति—

तत्त्वं विकाररहितं यदनन्तमेकं

येनारचि त्रिभुवनं भ्रियते च हर्ता।

नम्योऽर्यमेव महसामिह योऽक्षराणा-

मः सर्वगः स हृदि राजतु रामचन्द्रः॥८॥

यद् विकाररहितम् अनन्तम् अविनाशि एकं तत्त्वं परब्रह्मेत्यर्थः। अस्तीति शेषः। येन त्रिभुवनम् अरचि सृष्टम्। भ्रियते पाल्यते। च पुनः हर्ता हरिष्यते। वक्तुर्जीवनकालस्यापेक्षया महाप्रलयस्य जनिष्यमाणत्वाद् भविष्यति रूपम्। इह जगति। महसां तेजसाम् अर्यमा सूर्य इव, यः अक्षराणां वर्णानाम् अः अकारः। नम्यः पूज्यः सर्वगः सर्वव्यापी चाऽस्ति। स रामचन्द्रः। हृदि मनसि। राजतु दीप्यतामिति शम्। फलश्रुतिस्तु— "श्रीरामस्तुतिमुक्तां यो हनुमन्मुखशुक्तिजाम्। हृद्धेमाभरणे धत्ते तं भक्तिर्वृणुयाद् ध्रुवम्"॥८॥

अर्थ—भगवान् श्रीराम का ब्रह्मस्वरूप और परमेश्वरत्व वर्णन—श्री राम ही विकार रहित अनन्त (अविनाशि) एक तत्त्व अर्थात् परब्रह्म है। जिन्होंने त्रिभुवन को रचा, पालन किया, और पुनः हरण करेंगे। इस संसार में सम्पूर्ण तेजों में सूर्य की तरह अक्षरों (वर्णों) में अकार की तरह जो श्रीराम पूज्य और सर्वव्यापी हैं, वे श्रीरामचन्द्र मेरे मन में सदा विराजमान रहें।

कवि के द्वारा इस राम-स्तुति की फल-श्रुति निम्न प्रकार से कही गई है—

"श्रीरामस्तुतिमुक्तां यो हनुमन्मुखशुक्तिजाम्।

हृद्धेमाभरणे धत्ते तं भक्तिर्वृणुयाद् ध्रुवम्॥"

अर्थात् जो मानव हनुमान् जी के मुखरूपी शुक्ति (सींप) से निःसृत श्रीरामस्तुतिरूपी मुक्ता (मोती) को अपने हृदयरूपी स्वर्णाभरण में धारण करता है, भक्ति निश्चय ही उस मानव का वरण करती है॥८॥

अथ हनुमन्मुखसम्पादितो

लक्ष्मी-(सीता) स्तवः।

(४)

तामङ्घ्रिपङ्कजगतां जगतां पितुः स्त्रीं

मातेतिसंस्तविपदां विपदां निहन्त्रीम्।

वत्सेति नोऽभिदधतीं दधतीं च लोकान्

हन्ताश्रयस्व हृदये! हृदयेन लक्ष्मीम्॥१॥

हन्तेति हर्षे। अये हृद् हृदय! जगतां पितुः विष्णोः अङ्घ्रिपङ्कजगतां चरणकमलवासिनीं (जगतां पितुः) स्त्रीं पत्नीम्। अत एव माता इति संस्तवि[1] परिचायकं पदं शब्दो यस्याः सा ताम्। अत एव विपदां निहन्त्रीम्। 'वत्स' इति एवंरूपेण शब्देनेति भावः। नोऽस्मान् लोकान् अभिदधतीं कथयन्तीम् आमन्त्रयन्तीमित्यर्थः। च पुनः। दधतीं पोषयन्तीम्। लक्ष्मीं हृदयेन अन्तःकरणेन आश्रयस्व शरणीकुरु॥१॥

अर्थ—हनुमान् जी के मुख से की गई सीता जी की स्तुति—अरे हृदय! परम हर्ष के साथ जगत्-पिता विष्णु (राम) के चरण-कमल में निवास करने वाली, माता शब्द ही है परिचायक जिसका अतएव विपत्तियों का नाश करने वाली, 'वत्स' (बेटा) शब्द से हमको आमन्त्रण करने वाली, और हमारा पोषण करने वाली लक्ष्मी (सीता) का तू हृदय से आश्रय प्राप्त कर अर्थात् उनकी शरण प्राप्त कर॥१॥

जाग्रद्-रुचिं रुगुत शक्तिरुदक्तशक्तिं

तच्छायिकेव पुरुषं प्रकृतिस्त्वमन्वक्।

वेदप्रसूस्त्वमसि तस्य विदूषणस्य

दोषोज्झिता भुवनमोहिनि चासि माया॥२॥

भो लक्ष्मीरिति प्रकरणवशादत्र अध्याहार्यम्। त्वं जाग्रती उत्तिष्ठन्ती रुचिः इच्छा दीप्तिर्वा यस्य स तम्। (पुरुषं परमात्मानम् अन्वक्[2] अनुसारिणी) रुक् इच्छा दीप्तिर्वा। "रुचिः स्त्री दीप्तौ शोभायामभिष्वङ्गाभिलाषयोः"—"रुक् स्त्री शोभाद्युतीच्छासु" इति मेदिनी। उत अथवा उदक्ता उत्थिता प्रकटीभूतेत्यर्थः। शक्तिः सामर्थ्यं यस्य स तम्। (पुरुषं) त्वं शक्तिः। त्वं प्रकृतिः मूलप्रकृतिः पुरुषम् ईश्वरं तच्छायिका तस्य च्छायेव अन्वक् अनुसारिणी। असीति शेषः। त्वं वेदप्रसूः वेदमाता गायत्री असि। हे भुवनमोहिनि! विदूषणस्य दोषरहितस्य तस्य पुरुषस्य माया मोहिनी शक्तिश्च त्वमसि॥२॥

अर्थ—हे लक्ष्मी (सीते)! आप जागरूक इच्छा अथवा दीप्ति वाले परमपुरुष परमात्मा (श्रीराम) का अनुसरण करने वाली इच्छा अथवा दीप्ति हो। अथवा प्रकटीभूत सामर्थ्य वाले पुरुष (श्रीराम) का अनुसरण करने वाली शक्ति हो, आप मूलप्रकृति के रूप में ईश्वर (श्रीराम) की छाया का अनुसरण करने वाली हो। आप ही वेदमाता गायत्री हैं। हे भुवनमोहिनि! आप ही दोषरहित उस परमपुरुष (राम) की माया (मोहिनी) और शक्ति हैं॥२॥

लक्ष्मीर्हिरण्यवरमाप्य मुखामृतांशुं

मीनेक्षणं तव मुरारिपदौ प्रणामे।

---

१. "संस्तवः स्यात् परिचयः" इत्यमरः।

२. अव्ययमिदम् "अन्वग् ययौ मध्यमभूमिपालः" इति रघुः।

मन्ये नखच्छविभृतो बिभृतो दशेन्दून्

नव्यं सुवर्णमथ मीनपदं सुधां च ॥३॥

हे लक्ष्मीः ! मुरारे विष्णोः पदौ चरणौ प्रणामे वन्दन-समये। हिरण्यवरं सुवर्णमनोहरं मीनेक्षणं मीनसमनेत्रं तव मुखामृतांशुं वदनचन्द्रम्। आप्य लब्ध्वा। नखच्छविभृतः नखशोभाधारकान् नखत्वेन शोभमानानित्यर्थः। दश इन्दून् चन्द्रान्। नव्यं नवीनं सुवर्णं शोभनं वर्णम्। अथ पुनः। मीनपदं मीनचिह्नम्। एतत्पुरुषोत्तमतासूचकं सामुद्रिकतो ज्ञेयम्। च पुनः। सुधां गङ्गाम्। "सुधा गङ्गेष्टकास्नुह्योर्मूर्वालेपामृतेषु च।" इति हैमः। विभृतः धरतः। इत्यहं मन्ये। चन्द्रसंसर्गाद्दशचन्द्रोपलब्धिः, हिरण्येन वरस्य सङ्गात्सुवर्ण-प्राप्तिः, मीनेक्षणयोगाच्च मीनपदस्य मीनाङ्कस्य कामस्य धारणम् अमृतांशुयोगाच्च सुधाधारणं स्वाभाविकं ध्वनितमत्र ॥३॥

अर्थ—हे लक्ष्मी ! मैं जब विष्णु भगवान् के चरणों में नमस्कार करता हूँ उस समय आपके सुवर्ण के समान मनोहर रूप को, मछली के समान नेत्रों को और मुखचन्द्र को प्राप्त कर मैं मानता हूँ कि सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार विष्णु के दोनों चरण नखशोभा को धारण करने वाले दश चन्द्रमाओं को, मीन-चिह्न को, शोभन वर्ण को और गङ्गा को धारण करते हैं ॥३॥

पत्येकदैवतमतिष्वबलासु सीतां

गामीश्वरेण सह साह्यकृतेऽवतीर्णाम्।

मिश्रां च प्रत्ययधृतापरमूर्तिमाख्या-

नीम्भावयामि भवतीं भवतीर्थनौकाम् ॥४॥

पतिः एव एकं दैवतम् इति मतिः बुद्धिः यासां तास्तासु अबलासु। ईश्वरेण स्वामिना परमेश्वरेण च सह साह्यकृते सहायतार्थं गां भूमिमवतीर्णाम्। सीताम् आख्यान् वर्णयन्नहं भवतीं त्वाम्। मिश्राम् ईश्वरे संसक्ताम्। च पुनः। प्रत्ययाय लोकावबोधार्थं धृता अपरा ईश्वराद् भिन्ना मूर्तिः यया सा ताम्। भवः संसार एव तीर्थं पुण्यजलं तत्र नौकां नौरूपाम् अस्य विष्णोः स्त्रीम् ईं लक्ष्मीं भावयामि मन्ये। अशब्दात् ङीष ईकारे 'यस्येति च' इति अकारलोपे प्रत्ययमात्रे ईकारेऽवशिष्टे ईशब्दसिद्धिः। ततश्च साऽपि प्रत्ययमात्रेण धृता अपरा मूर्तिः रूपं यया सेति सिध्यत्येव। "प्रह्वे वा" इति वचनाच्चकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य लघुत्वमेवात्र ज्ञेयम् ॥४॥

अर्थ—हे लक्ष्मी ! स्वामी (राम) के साथ सहायतार्थ भूमि पर अवतीर्ण, संसार में पतिव्रता स्त्रियों में श्रेष्ठ सीता जी का वर्णन करता हुआ मैं आपको ईश्वर (स्वामी) में संसक्त मानता हूँ, फिर लोकों के अवबोधनार्थ ईश्वर से भिन्न मूर्ति तथा संसाररूपी तीर्थ (पुण्यजल) की नौकारूप, विष्णु की स्त्री ई (लक्ष्मी) रूप में मानकर प्रणाम करता हूँ ॥४॥

विशेष— यहाँ पर व्याकरण का विशिष्ट ज्ञान दर्शाया गया है—अ शब्द से ङीष् प्रत्यय करने पर, अनुबन्ध करने पर ईकार अवशिष्ट रहता है, अतः (अ + ई) इस अवस्था में "यस्येति च" इस सूत्र से अकार का लोप होता है और प्रत्यय मात्र ईकार के अवशिष्ट रहने पर ई शब्द की सिद्धि कवि के द्वारा दर्शायी गई है ॥४॥

यस्या बलाद् भवति संसृतिगेह-नाट्यं

यां भां विभेश इव भासयते विभुः सः।

हित्वा स यां भुवन एकक एव, शून्या-

रण्ये विहाय गृहिणीमिव भिक्षुरस्ति ॥५॥

यस्याः 'प्रकृतिरूपाया लक्ष्म्या बलात् प्रभावात्। संसृतिः संसार एव गेहं तस्य नाट्यं नाटकं भवति प्रचलति। यां प्रकृतिरूपां लक्ष्मीं स विभुः परमेश्वरः, विभेशः सूर्यो भां कान्तिमिव, भासयते प्रकाशयति। स विभुः। यां हित्वा त्यक्त्वा। भुवने एकक एकाकी ब्रह्मरूपः अस्ति। अत्रोपमामाह–इव यथा गृहिणीं गेहिनीं विहाय शून्यारण्ये भिक्षुरस्ति ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकृति रूपा लक्ष्मी के प्रभाव से इस संसाररूपी गृह का नाटक चलता रहता है, जिस प्रकार सूर्य कान्ति को भासित करते हैं उसी प्रकार विभु (परमेश्वर) उस प्रकृतिरूपा लक्ष्मी को प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार भिक्षु (संन्यासी) अपनी गेहिनी (गृहिणी) का त्यागकर शून्यारण्य में एकाकी विचरण करता है, उसी प्रकार वह विभु (परमेश्वर) भी उस प्रकृति रूपी लक्ष्मी को छोड़कर भुवन में अकेला ही ब्रह्मरूप में स्थित रहता है ॥५॥

यं त्वं सुदृष्ट्युदयया दयया पुनीषे

विन्देदहो स जगदीश-प्रदाप्तिसिद्धिम्।

देही स भो भुवनमातरकिञ्चनः स्याद्

यं मुञ्चसीति शरणं चरणं तवैमि ॥६॥

भो भुवनमातः श्रीः ! त्वं यं जनम् सुदृष्टेः शुभदृष्टेः उदयो यस्यां सा तया दयया कृपया पुनीषे पवित्रयसि सफलयसीत्यर्थः। स अहो इत्याश्चर्ये। जगदीशस्य यद् पदं शब्दः संज्ञेत्यर्थः। तस्य आप्तिः प्राप्तिः तस्याः सिद्धिं विन्देत् प्राप्नुयात्। प्रकृतिभूताया लक्ष्म्याः साहाय्येनैव जगदीशस्य जगदीशत्वोपचारो नान्यथेति भावः अथवा जगदीशस्य ये पदे चरणौ तयोः प्राप्तिसिद्धिं विन्देत्। त्वत्कृपयैव भगवच्चरणभक्तिरुत्पद्यते इति भावः। अथवा जगदीशस्य यत् पदं स्थानं वैकुण्ठलोकः तदाप्तिसिद्धिं विन्देत्। व्यतिरेकेणाह–त्वं यं मुञ्चसि त्यजसि। अर्थाद् यस्त्वत्कृपया वञ्चितः स्यात् सः। अकिञ्चनः नास्ति किञ्चन यस्य सः। मयूरव्यंसकादित्वात्साधुः। भिक्षुरित्यर्थः। स्यात् भवेत्। इत्यनन्तरोक्तपद्यमेवात्र प्रकारान्तरेण विशदीकृतम्। इति कारणात् अहं तव चरणं शरणमेमि आश्रये ॥६॥

अर्थ—हे भुवनमातः श्रीः ! आप जिस मानव को अपनी दया दृष्टि से सफल करती हैं, वह मानव जगदीश पद (शब्द) की प्राप्ति की सिद्धि प्राप्त कर लेता है, अथवा जगदीश (परब्रह्म) के चरणारविन्दों की प्राप्ति की सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् आपकी कृपा से ही भगवच्चरणों में भक्ति उत्पन्न होती है। आप जिस व्यक्ति का त्याग कर देती हैं वह तो अकिञ्चन (भिक्षु) ही होता है, इस कारण से मैं आपके चरणों की शरण प्राप्त करता हूँ, अर्थात् आपका ही आश्रय लेता हूँ ॥६॥

गाधेतरं हरति या जगदीशचित्त-

मश्वं यथा सुकविका, जगतः कथा का?।

वंशीधरस्य वृषभानुसुता विदेह-

पुत्री प्रिया रघुपतेश्च रमाऽवतात् सा ॥७॥

या (रमा) गाधेतरम् अगाधं जगदीशस्य विष्णोः चित्तं हरति वशीकरोति। अत्रोपमामाह–यथा सुकविका शोभनः खलीनः अश्वं (वशीकरोति)। (ततः) जगतः का कथा ? जगद्वशीकरणं तु अर्थापत्त्यैव सिद्धमिति भावः। माया हि जगन्मोहिनी भवत्येवेत्याशयः। वंशीधरस्य कृष्णस्य प्रिया वृषभानुसुता राधा। रघुपतेः श्रीरामस्य च प्रिया विदेहस्य जनकस्य पुत्री

सीता। सा रमा लक्ष्मीः अवताद् रक्षतु। ये हि कृष्णस्य प्रियां रुक्मिणीं लक्ष्मीत्वेन मन्यन्ते–तन्मते तु एषोऽर्थः– वृषेण धर्मेण भातीति वृषभो भीष्मकः, तस्य अनुजाता सुता अनुसुता कनिष्ठपुत्री रुक्मिणीत्यर्थः। हनुमन्मुख-संपादितायां स्तुतौ कृष्णस्यार्वाचीनत्वेन काल-विरुद्ध-दोषापहाराय हनुमतो भक्तशिरोमणेस्त्रिकालदर्शित्व-मुन्नेयम्। यद्वा आत्मनो वंशमिच्छन्तीति वंश्यः। तेषां धरस्य रघुपतेः, वृषभौ क्षेत्रकर्षणप्रवृत्तौ बलीवर्दौ अनु सुता प्रसूता जाता हलमुखक्षतरेखासंभवादिति भावः। इति सीताविशेषणं तर्क्यम्॥७॥

अर्थ—हे लक्ष्मी ! जिस प्रकार अच्छी लगाम घोड़े को वश में करती है, उसी प्रकार लक्ष्मी विष्णु भगवान् के अगाध चित्त को वश में करती है, संसार की तो कथा ही क्या ? अतः वंशीधर (कृष्ण) की प्रिया वृषभानुसुता (राधा) और श्रीरामचन्द्र की प्रिया विदेहपुत्री (जनकनन्दिनी) सीता, और विष्णु की प्रिया रमा हमारी रक्षा करें॥७॥

सरस्वत्यादयस्तवैव रूपाणीति निरूपय-न्नुपसंहरति—

रुच्या स्तुवन्ति कतिचित्तु सरस्वतीं त्वां

षाण्मातुरस्य जननीमथ, केऽपि कांचित्।

नन्वेवमादिविधयाऽऽकलयन्तु नामाऽ-

हम्भावयामि भवतीं श्रियमेव सीते॥८॥

ननु सीते ! कतिचित्तु त्वां रुच्या स्वरुचितया इच्छया सरस्वतीं स्तुवन्ति। अथ पुनः। षाण्मातुरस्य कार्तिकेयस्य जननीं मातरं गौरीमित्यर्थः। केऽपि जनाः कांचिद् महाकाल्यादिनाम्नीमिति भावः। स्तुवन्ति। ते एवमादिविधया इत्यादिप्रकारेण आकलयन्तु मन्यन्तां नाम। अहं भवतीं श्रियं लक्ष्मीमेव भावयामि भावना-गोचरीकरोमि। फलश्रुतिस्तु–"श्रीसीतास्तुतिमुक्तां यो हनुमन्मुखशुक्तिजाम्। हृद्धेमाभरणे धत्ते तस्मै लक्ष्मीः प्रसीदति॥८॥"

अर्थ—हे सीते ! कुछ व्यक्ति तो आपकी अपनी रुचि के अनुसार सरस्वती के रूप में स्तुति करते हैं, और कुछ व्यक्ति कार्तिकेय की माता गौरी (पार्वती) के रूप में, और कुछ मानव महाकाल्यादि के रूप में आपकी स्तुति करते हैं, वे इस प्रकार से आपको मानें, परन्तु मैं तो आपको लक्ष्मी के रूप में ही भावना का विषय बनाता हूँ॥८॥

कवि के द्वारा इस सीता-स्तुति की फल-श्रुति निम्न प्रकार से वर्णित की गई है—

"श्रीसीतास्तुतिमुक्तां यो हनुमन्मुखशुक्तिजाम्।

हृद्धेमाभरणे धत्ते तस्मै लक्ष्मीः प्रसीदति॥"

अर्थात्—जो मानव हनुमान् जी के मुखरूपी शुक्ति (सींप) से निःसृत श्रीसीतास्तुति रूपी मुक्ता (मोती) को अपने हृदयरूपी स्वर्णाभूषण में धारण करता है, उस व्यक्ति पर भगवती लक्ष्मी (सीता) सदा प्रसन्न रहती है॥८॥

श्री राममुखसंपादितः

शिवस्तवः।

(५)

त्र्यक्षीभवंस्त्रिभुवनं सममीक्षितुं कि-

म्बन्ध्यामिव स्फुटयितुं भियमूढसर्पः।

कं गाङ्गमर्च्यमिव सूचयितुं स्वमूर्ध्ना

यत्नाद् दधत् स गिरिशो गिरि शोभतां नः॥१॥

किं त्रिभुवनं समं सहैव यौगपद्येनेत्यर्थः। ईक्षितुं नेत्रविषयीकर्तुं त्र्यक्षीभवन् त्रिनेत्रीभवन् ? भियं भयं बन्ध्यां निष्फलां स्फुटयितुं प्रकटयितुमिव। ऊढसर्पः ऊढा धारिताः सर्पा येन स तथोक्तः। गाङ्गं गङ्गासंबन्धि कं जलम् अर्च्यं पूज्यं सूचयितुमिव। स्वमूर्ध्ना स्वशिरसा। दधद् धारयन् स गिरिशः शिवः। नोऽस्माकम्। गिरि वाचि। शोभताम्॥१॥

अर्थ—जिस भगवान् शङ्कर ने एक साथ त्रिभुवन को देखने की इच्छा से मानों तीन नेत्रों को धारण किया, भय को निष्फल प्रकट करने की इच्छा से ही मानों सर्पों को धारण किया, गङ्गा का जल पूज्य है, ऐसा सूचित करने के लिये ही मानों गङ्गा जी को अपने शिर पर धारण किया, वह गिरिश (शिव) हमारी वाणी में निवास कर शोभित होवें॥१॥

जाज्वल्यमान इह मङ्क्षु तृतीयनेत्राऽ-

मन्दानले मदनवत् प्रदहामि युष्मान्।

हे व्याधयः ! कुरुत मा स्म मदं य एवं

सुख्याति गन्धिमुखपद्मगतालिशब्दैः॥२॥

यः शिवः। गन्धि सुगन्धि यद् मुखपद्मं तद् गताः उपसृता ये अलयो भ्रमरास्तेषां शब्दैः एवम् इत्थं सुख्याति सुतरां कथयति[1]—हे व्याधयो रोगाः ! यूयं मदं गर्वं मा स्म कुरुत। इह अस्मिन् जाज्वल्यमाने देदीप्यमाने तृतीयनेत्र एव अमन्दे प्रखरे अनले अग्नौ। युष्मान् मदनवत् काममिव प्रदहामि भस्मीकरोमि॥२॥

अर्थ—जो भगवान् शङ्कर अपने सुगन्धित मुख-कमल के चारों ओर भ्रमण करने वाले भ्रमरों के शब्दों (गुंजन) से ही मानों इस प्रकार कह रहे हैं कि हे रोगों ! तुम गर्व (मद) मत करो, क्योंकि मैं इस देदीप्यमान त्रिनेत्ररूपी प्रखर अग्नि से तुमको कामदेव की तरह भस्म कर दूँगा॥२॥

गन्धोऽपि मा स्पृशतु वः सुजनानितीवाऽऽ-

धिं व्याधिमर्थविघटं च तथाऽन्तरायम्।

पुष्टात् त्रिशूलधरणात्त्रयते भयं य-

ष्टिप्पन्यपीह भव ! सागरसेतुबन्धः॥३॥

भो भव शिव ! यः (भवान्) पुष्टात् दृढात् त्रिशूलस्य शूलत्रयोपलक्षितस्य शस्त्रस्य धरणात्। 'वःयुष्मान् सुजनान् गन्धोऽपि एतेषां त्रयाणामिति भावः। मा स्पृशतु न स्पृशेत्।' इतीव इति कारणादिव। आधिं मनोव्यथाम्। व्याधिं रोगम्। तथा च अर्थान् प्रयोजनानि विघटयतीति तम् अन्तरायं विघ्नमिति त्रयं भयं नयते त्रासयतीत्यर्थः। त्रिशूलस्य दृढधारणम् एतत्त्रय-भय-जननप्रयोजनकमित्युत्प्रेक्षा। इह एतस्मिन् पूर्वोक्ते विषये इत्यर्थः। टिप्पनी व्याख्यानरूपा वृत्तिः।

---

१. कथयतीवेति इवानुपादानात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

सागरस्य समुद्रस्य सेतुबन्धः। अस्तीति शेषः। एवं पूर्वोक्तं विषयं सागरसेतुबन्ध एव स्पष्टीकरोतीत्याशयः। यदा लङ्कागमनान्तरायभूतः समुद्र आसादितस्तदा आधिप्रभृतीनां त्रयाणामपि उत्थानं संजातं किन्तु भवत्प्रसादलब्धेन सागरसेतुबन्धेन तेषां नाशोऽपि सहैव जात इति भावः। भवान् भवसागरसेतुबन्धः संसारसागरसेतुबन्धरूप एव इत्यपि ध्वन्यते॥३॥

अर्थ—हे शिव ! आपने दृढतर त्रिशूल-शस्त्र को मानों इसी कारण से धारण किया है कि मेरे भक्तों को त्रिशूल (तीन-कष्ट) की गन्ध भी स्पर्श नहीं करे। आपका त्रिशूल (१) आधि (मनोव्यथा), (२) व्याधि (रोग), (३) प्रयोजनों को नष्ट करने वाले विघ्न, इन तीनों भयों को डराता है। टिप्पणी के रूप में सागर-सेतु-बन्ध प्रस्तुत है, अर्थात् जब लङ्का-गमन में अन्तराय (विघ्न) भूत समुद्र प्राप्त हुआ तब आधि-आदि तीनों का ही उत्थान हुआ, परन्तु आपकी दया से सागर-सेतु-बन्धन के द्वारा उनका नाश भी हो गया, क्योंकि आप स्वयं संसार-सागर-सेतुबन्ध हैं॥३॥

हरिहरात्मकस्वरूपं स्तौति—

वन्दे सुरूपमभिरूपकलेवरस्याऽ-

र्धस्थानमापितवतो हरिमीश्वरस्य।

नंनम्यते त्रिदशसिन्धुधियैकतो भा

उर्वी यमस्वसृधिया परतश्च यत्र॥४॥

अहम्। हरिं विष्णुम् अभिरूपस्य मनोहरस्य[1] कलेवरस्य शरीरस्य अर्धस्थानम् अर्धभागम् आपितवतः आरोपितवतः ईश्वरस्य शिवस्य सुरूपं शोभनमाकारं हरिहरात्मकमित्यर्थः। वन्दे प्रणमामि। यत्र सुरूपे। एकतः एकस्मिन् अर्धभागे इत्यर्थः। उर्वी महती भाः कान्तिः शुभ्रा शाम्भवीत्यर्थः। त्रिदशसिन्धुः गङ्गा तद्धिया तद्-बुद्ध्या नंनम्यते अतिशयेन नम्यते। परतः अन्यतश्च श्यामा वैष्णवी भाः। यमस्वसृधिया यमुनाबुद्ध्या नंनम्यते॥४॥

अर्थ—हरिहरात्मकस्वरूप का स्तवन—मैं शिव भगवान् के उस स्वरूप को प्रणाम करता हूँ, जिसने अपने अर्ध-भाग में श्री विष्णुभगवान् के मनोहर शरीर के अर्धभाग को धारण किया है, अर्थात् जो हरिहरात्मक-स्वरूप है। जिस स्वरूप के एक अर्धभाग में शुभ्र कान्ति गङ्गाजी के समान प्रतीत होती है, और दूसरे भाग में विष्णु भगवान् की कृष्ण (श्याम) कान्ति यमुना जी के समान प्रतीत होती है, अतः गङ्गा-यमुना-सङ्गमस्वरूप उस हरिहरात्मक शिव को बार-बार प्रणाम करता हूँ॥४॥

अर्धनारीश्वरस्वरूपं स्तौति—

वामार्धसंस्फुरदुमा-शुचिहारमुक्ता-

रुक्पङ्क्तिपृक्त-विसरद्विषकालकान्तिम्।

कण्ठंप्रयागमिव यस्य वगाह्य हृद्‌मे

मिथ्यामलं त्यजति सोऽर्धशिवः शिवोऽव्यात्॥५॥

वामे अर्धे अर्धभागे संस्फुरन्ती शोभमाना या उमा गौरी तस्या यः शुचिः श्वेतो हारस्तस्य या मुक्तारुचां मौक्तिककान्तीनां पङ्क्तिः तया पृक्ता मिश्रिता विसरन्ती

[1] "प्राप्तरूपस्वरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोः" इत्यमरः।

प्रसरन्ती विषस्य गरलस्य काला श्यामला कान्तिर्यत्र स तम्। यस्य (शिवस्य) प्रयागं गङ्गायमुनासंगममिव कण्ठं वगाह्य अवगाह्य मग्नीभूयेत्यर्थः। मे मम हृद् मनः। मिथ्यामलम् अविद्याजन्यं किट्टं त्यजति। प्रयागस्नानेन मलक्षय उचित एव। स अर्धा शिवा पार्वती यत्र स तथोक्तः शिवः अव्याद् रक्षतु॥५॥

अर्थ—अर्धनारीश्वरस्वरूप की स्तुति—भगवान् शङ्कर के कण्ठ में स्थित गरल (विष) की श्यामल कान्ति, जो कि वाम अर्धभाग में विराजमान पार्वती जी के हृदय पर स्थित श्वेतहार के मोतियों की कान्ति से मिश्रित हो गई है, अतः गङ्गा-यमुना-सङ्गम स्वरूप प्रयाग की तरह शोभित भगवान् शङ्कर के कण्ठ में निमग्न होकर (डुबकी लगाकर) मेरा मन अविद्याजन्य मल का त्याग करता है। प्रयाग-स्नान से मल का क्षय उचित ही है॥५॥

वन्द्येन भोः शुभवता भवता प्रभो नाऽ-

बन्धीत्यदाहि मदनो मदनोदिना द्राक्।

धन्वी कृतोऽयमनितो, मनितोऽथ, तत् त्वां

नान्वेतु कः स्वयममायममात्रमायम्॥६॥

भोः प्रभो शिव ! वन्द्येन शुभवता मङ्गलशालिना मदनोदिना गर्वापहारिणा भवता त्वया मदनः कामः। अबन्धि बद्ध इति न। किन्तु अदाहि दग्धः। अथ च। अयं धन्वी धनुर्धरः मदनः अनितः जीवितः कृतः। अथेति पुनराकृष्यते। पुनः। मनितः मन्यते स्म। आदृत इत्यर्थः। तानादिकस्य 'मनु' धातोरिदं रूपम्। "यस्य विभाषा" इति निषेधस्यानित्यत्वादिट्। तदनित्यत्वे च 'कृती छेदने' इत्यस्य ईदित्करणं लिङ्गम्, अन्यथा 'सेऽसिची'ति वेट्कत्वात् सिद्धेः,कि तेन ? यद्वा 'मन च' इति भ्वादिः। 'मनिम्'—वोपदेवः पठति। स सेट्। अत एव "बुद्धं बुधितं मनितं प्रतिपन्नमवसितावगते" इत्यमरः। तत् तस्मात् कारणात् दहनोज्जीवनरूपविचित्रमायादर्शनादिति भावः। अमायं मायया मिथ्याबुद्ध्या शाम्बर्या वा अलिप्तं शुद्धमित्यर्थः। अथ अमात्रा सुबहुः माया यस्य स तमिति विरोधे आभासमाने अमात्रमायं बहुकृपाशालिनमित्यर्थे तत्परिहारः। "माया शाम्बरी कृपा। दम्भो बुद्धिश्च" इति हैमः। त्वां भवन्तं कः (जनः) स्वयमात्मना। न अन्वेतु आश्रयतु ? अपितु सर्वोऽपीति भावः॥६॥

अर्थ—हे प्रभो शिव ! वन्दनीय, मङ्गल करने वाले, गर्व का हरण करने वाले आपके द्वारा कामदेव केवल बद्ध नहीं किया गया, किन्तु भस्म कर दिया गया। फिर वह धनुर्धर कामदेव जीवित भी किया गया, और आदृत भी किया गया, अतः आपकी दहन-उज्जीवनरूप विचित्र माया देखने पर भी माया (शाम्बरी) से अलिप्त, तथा बहुकृपाशाली आपको कौन व्यक्ति आश्रय नहीं लेवे ? अपितु सब ही आश्रय ग्रहण करें॥६॥

मृत्युञ्जयस्त्वमसि दोषरुजोश्च भीती-

त्योर्नाशनाय सुतरां प्रभविष्णुरीश।

मुक्तिर्मृतेर्भवति मन्त्रजपेन यस्य

क्षीयेत तत् स्मृतित एव रुजा त्ववश्यम्॥७॥

भो ईश शिव ! मृत्युं जयतीति मृत्युंजयः "संज्ञायां भृतृवृजि" इति खच्। असि। दोषरुजोः दोषः

काणत्वादिरङ्गविकारः रुक् उपतापश्च तयोः। च पुनः भीतिर्भयं च ईतिः अतिवृष्ट्यादिः षड्विधा च तयोः। नाशनाय सुतरां सम्यक्प्रकारेण। प्रभविष्णुः समर्थोऽसीत्यर्थः। यस्य मन्त्रस्य ''त्र्यम्बकं यजामहे'' इत्यादिरूपस्य जपेन मृतेः (अकालिक) मरणाद् मुक्तिः। भवति तत् तस्मात् कारणात्। रुजा रोगस्तु। स्मृतितः स्मरणादेव अवश्यं निस्संशयं क्षीयेत नश्येत् ॥७॥

अर्थ—हे शिव ! आप मृत्युञ्जय हैं, दोष (काणत्वादि-अङ्गविकार) और उपताप तथा भीति (भय) और अतिवृष्टि-आदि ईतियों के नाश करने के लिये सम्यक् प्रकार से समर्थ हैं। ''त्र्यम्बकं यजामहे०'' इस मन्त्र के जप से अकालिक मरण से मुक्ति होती है, इस कारण रोग तो आपके स्मरणमात्र से निश्चय ही नष्ट होते हैं, अतः आपको प्रणाम ॥७॥

यस्तिग्मगुर्हिमगुरम्ब्वपि निर्जराध्वा

मान्योऽनिलः स्फुटमिला हुतभुक् च यष्टा।

मृत्युञ्जयोऽष्टतनुरेवमनष्टवर्ष्मा

तात्कालिकीं धियमयं यमयन्त्रकोऽर्प्यात् ॥८॥

यः मान्यः पूज्यः। अपिशब्दोऽत्र सर्वत्र विरोधमाभासयति। तिग्मगुः उष्णकरः १। हिमगुः शीतकरश्च २। सूर्यश्चन्द्रश्चेति तत्परिहारः। अम्बु जलम् ३। निर्जराध्वा रलयोरैक्यान्निर्जलमार्गः। निर्जराणाम् अध्वा आकाशश्च ४। स्फुटं स्पष्टम्। इला भूमिः ५। अनिलः न विद्यते इला भूमिर्यत्र सः। अनिलः पवनश्च ६। हुतं भुङ्क्ते हुतभुक् अग्निश्च ७। च पुनः। यष्टा यजमानः ८। एवम् इति अष्टतनुः अष्टमूर्तिः (अपि) अनष्टवर्ष्मा न अष्टौ वर्ष्माणि मूर्तयो यस्य सः। अक्षीणशरीरश्च। अयं सः। यमं कृतान्तं यन्त्रयति स्तब्धीकरोत्यसौ यमयन्त्रको मृत्युञ्जयः शिवः। तात्कालिकीं धियं प्रतिभाम् अर्प्यात् देयात्। फलश्रुतिस्तु—''रामचन्द्रमुखचन्द्रवर्षितां यः शिवस्तुतिसुधामिमां पिबेत्। सोऽमृताशनवदत्र मोदते, स्यात् परत्र च ततोऽमरो ध्रुवम् ॥८॥''

अर्थ—जो मान्य शङ्कर सूर्य, चन्द्रमा, जल, आकाश, भूमि, पवन, अग्नि और यजमान इन अष्टमूर्तियों में विद्यमान रहता हुआ भी अक्षीण शरीर है, और यम का नियन्त्रक होता हुआ मृत्युञ्जय है, वह भगवान् शिव हमको तात्कालिक प्रतिभा अर्पण करे ॥८॥

विशेष—कवि के द्वारा इस शिव-स्तुत की फल-श्रुति निम्न प्रकार से वर्णित की गई है—

''रामचन्द्रमुखचन्द्रवर्षितां यः शिवस्तुतिसुधामिमां पिबेत्।

सोऽमृताशनवदत्र मोदते, स्यात् परत्र च ततोऽमरो ध्रुवम् ॥''

अर्थात्—जो मानव रामचन्द्र जी के मुखचन्द्र से वर्षाई गई इस शिव-स्तुतिरूपी सुधा (अमृत) का पान करता है वह मानव इस संसार में देवों की तरह हर्ष को प्राप्त करता है, और परलोक में निश्चय ही देवत्व को प्राप्त करता है ॥८॥

अथ श्रीराममुखसंपादितः

सूर्यस्तवः।

(६)

ओंरूपमस्ततपनं तपनं स्तवीम

आयु:प्रदानकुशलं कुशलं ददानम्।

कृत्स्नं यथा विभु वनं भुवनं प्रदीप्तो-

ष्णेनातपेन दधतं दधतं करेऽब्जम्॥१॥

अस्ततपनं निरस्ततापम्। आयुषः प्रदाने कुशलं निपुणम्। नैरोग्यापादनादिति भावः। अत एव कुशलं क्षेमं ददानम्। प्रदीप्तं च तदुष्णं च तथाभूतेनाऽऽतपेन प्रकाशेन। यथा यद्वत् विभु व्यापकं वनम् अरण्यं तथा कृत्स्नं सकलं भुवनं जगद्। दधतं पुष्णन्तम्। करे पाणौ। अब्जं पद्मं दधतं धारयन्तम्। ओंरूपम् अवतीति ओम् रक्षकस्वरूपमित्यर्थः। तपनं सूर्यं स्तवीमः स्तुमः। अत्र सर्वत्र यमकं प्राधान्येन ज्ञेयम्॥१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द से की गई सूर्य-स्तुति–जो समस्त तापों (रोगों, कष्टों) को नष्ट करते हैं, आयुष्य को प्रदान करने में कुशल हैं, और कुशल (क्षेम) प्रदान करने वाले हैं, अपने प्रदीप्त उष्ण प्रकाश से व्यापक, वन तथा सम्पूर्ण जगत् को पुष्ट करते हैं, सदा कमल को धारण करते हैं, उन ओङ्कारस्वरूप (रक्षकरूप) तपन (सूर्य) की हम स्तुति करते हैं॥१॥

नक्षत्रवीरविसरं विसरन्तमोजो-

रम्यं नयन्नुपरमं परमण्डलाग्रः।

जन्तुप्रबोधनपरोऽनपरोऽस्यतस्त्वं

साक्षाद् रवे शुभिहितोऽभिहितो हि शूरः॥२॥

हे रवे सूर्य ! परं श्रेष्ठं मण्डलस्य बिम्बस्य अग्रम् अग्रभागो यस्य सः। अन्यत्र परः श्रेष्ठो मण्डलाग्रः खड्गो यस्य सः। जन्तूनां प्राणिनां प्रबोधने जागरणे, अन्यत्र सावधानीकरणे परो निरतः। ओजसा तेजसा रम्यं मनोहरम्। विसरन्तं प्रसरन्तम् नक्षत्राणि एव वीरास्तेषां विसरं समूहम्। उपरमं शान्तिं मन्दतामित्यर्थः। नयन् प्रापयन् सन्। असीति शेषः। अतो हि शुभिनां भद्रजनानां हितस्त्वम् साक्षात् प्रत्यक्षम् अनपरः अनन्यः। शूर सूर्यो वीरश्च। शूरश्चारभटे सूर्ये" इति हैमः। अभिहितः कथितोऽसि॥२॥

अर्थ—हे सूर्य ! आपके मण्डल का अग्रभाग श्रेष्ठ है, आप शूरवीर हैं, क्योंकि आपका मण्डलाग्र (खड्ग) श्रेष्ठ है, आप प्राणियों के प्रबोधन (जागरण) में तथा सावधान करने में निरत हैं, आप अपने तेज से मनोहर, फैलते हुये नक्षत्र रूपी वीरों के समूह को मन्दता प्राप्त कराते हैं, इसी कारण से आप भद्रजनों के हितकारक साक्षात् अद्वितीय शूर (सूर्य, वीर) कहे जाते हैं, आपको हमारा प्रणाम॥२॥

वर्धामहे यमुदितं मुदितं निरीक्ष्य

तन्मस्तथा वयमहो यमहोमपाठान्।

मानैकहेतुरजनी रजनीहरः स

नो मङ्गलं दिनकरो न करोति लोके॥३॥

अहो इति प्रशंसायाम्। वयं यं (दिनकरम्) उदितं प्राप्तोदयं मुदितम् आनन्दितम्। क्रियाविशेषण-तया वा इदं व्याख्येयम्। निरीक्ष्य दृष्ट्वा वर्धामहे वृद्धिं गच्छामः। दिवसपूरणेनेति भावः। तथा च। यमः

सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म, होमो हवनम्, पाठो वेदपठनं च तान्। तन्मः कुर्मः। मानस्य समयपरिमाणस्य एको हेतुः। अजनिः अजन्मा। ईश्वरतयेति भावः। स रजनीहरो रात्रिनाशको दिनकरो रविः। लोके जगति। मङ्गलं न करोतीति नो। अपितु करोत्येव। प्रकृतदार्ढ्यार्थं निषेधार्थकस्य द्विः प्रयोगः॥३॥

अर्थ—हम प्रशंसनीय, प्राप्तोदय तथा आनन्दित दिनकर (सूर्य) भगवान् को देखकर (दर्शन-कर) वृद्धि को प्राप्त करते हैं, तथा सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म, हवन, वेद-पठन (स्वाध्याय) करते हैं। समय-परिमाण के एकमात्र कारणभूत, अजन्मा (ईश्वरत्व से) वह रात्रि-नाशक दिनकर (सूर्य) भगवान् जगत् में क्या सबका मङ्गल नहीं करते हैं ? अपितु करते ही हैं, अतः उनको हमारा प्रणाम॥३॥

नित्यावगाढपथिका पथिकावलीह
वेश्माश्रया नियमिनो यमिनोऽपि नम्राः।
शय्यासमाधिपटवोऽपटवोऽपि सिद्ध्यै
यन्नंनमत्युदयितं दयितं स देयात्॥४॥

इह जगति। यम् उदयितम् उदितं सूर्यम्। नित्यम् अनवरतम् अवगाढः उल्लङ्घितः पन्था मार्गो यया सा समासान्ताऽबन्तात् स्वार्थे कन्। पथिकानाम् अध्वगानाम् आवली पङ्क्तिः। नियमिनः वेश्माश्रयाः गृहस्थाः। अपि च। यमिनः संध्योपासनानित्यकर्मकारिणः अपि च। शय्या शयनम् एव समाधिस्तत्र पटवो निपुणाः। अपटवो रोगिणः। "विकृतो व्याधितोऽपटुः" इत्यमरः। नम्राः सन्तः सिद्ध्यै, स्वस्ववाञ्छितसफलातार्थं नंनमति अतिशयेन प्रणमन्ति। स प्रकृतः सूर्यः। दयितं प्रियं देयात्॥४॥

अर्थ—इस संसार में उदित हुये जिन सूर्य भगवान् को निरन्तर मार्ग में चलने वाला पथिक-समूह, नियम का आचरण करने वाले गृहस्थ, और संन्ध्योपासनादि नित्यकर्म करने वाले ऋषि-मुनि-गण, और शय्यारूपी समाधि में निपुण विलासि-जन, तथा रोगीजन नम्र होते हुये अपनी वाञ्छित सफलता के लिये बार-बार प्रणाम करते हैं, वे सूर्य भगवान् हम सबको अपना अभीष्ट प्रदान करें॥४॥

नक्तं-दुतां कमलिनीमलिनीञ्च पाति
मृत्योरिवाधिकबले कवले गतां यः।
तं दुःखसिन्धुपतितोऽपतितोषिणं को
मर्त्यो न याति शरणं शरणं सुखानाम्॥५॥

यः सूर्यः। मृत्योः मरणस्येव। अधिकबले परमशक्तिसंपन्ने कवले ग्रासे गतां पतिताम्। क्रीडासक्तगजोन्मूलनादिभयादिति भावः। नक्तं रात्र्यां दुतां[1] कदर्थितां कमलिनीम् अनिलीं भ्रमरीं च पाति रक्षति। स्वदर्शनप्रदानादिति भावः। अपतितोषिणम् अनाथानाम् आनन्ददायिनम्। सुखानां शरणम् गृहरूपम्। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। तं सूर्यम्। दुःखसिन्धौ दुःखसमुद्रे[2] पतितः मग्नः। को मर्त्यो मनुष्यः शरणं न याति ? अपितु कमलिन्याद्यपेक्षया ज्ञानशालित्वेन सर्वोऽपि मनुष्यः शरणं यातीति भावः॥५॥

अर्थ—जो सूर्य भगवान् रात्रि के समय में परमशक्ति सम्पन्न हस्ति-समूह के द्वारा उन्मूलन के भय से मानों मृत्यु का ग्रास बनी हुई कमलिनी और भ्रमरी

---

१. 'टुदु उपतापे' इत्यस्य रूपम्। 'दुग्वोर्दीर्घश्च' अत्र तु गत्यर्थस्य 'दु' धातोर्ग्रहणं निरनुबन्धकत्वात्। अत एव 'मृदुतया दुतया' इति माघेन साधु यमकितम्।

२. कमलिन्याद्याश्रयभूतात्तडागादेरपेक्षया सिन्धोर्दुस्तरत्वेन तत्र पतितस्तु अवश्यमेव शरणं गच्छेदिति भावः।

की प्रात:काल अपने दर्शन से रक्षा करते हैं। ऐसे अनाथों के नाथ, सुखप्रदान करने वाले सूर्यभगवान् की शरण में कौन दु:खरूपी समुद्र में निमग्न व्यक्ति नहीं जाता ? अपितु कमलिनी आदि की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् होने से सभी मनुष्य शरण को प्राप्त करते हैं ॥५॥

त्यक्त्वा त्रयीतनुमहो नु महोनिधिं य-

च्चक्षुर्भुवां प्रभविता भवि-तारणे कः।

हित्वा सुरद्रुमवनीमवनीस्थवृक्षा-

रण्यं रुचिं निदिशते दिशते किमर्थम् ? ॥६॥

अहो इति प्रशंसायाम्। त्रय्या वेदत्रयस्य तनुं शरीररूपम्। यद्वा त्रयी एव तनुर्यस्य सः तम्। भुवां जगतां चक्षुः नेत्ररूपम्। यं महोनिधिं सूर्यम्। ''त्रयीतनुर्जगच्चक्षुः'' इति हैमः। त्यक्त्वा विहाय। भविनां संसारिणां तारणे। को नु प्रभविता समर्थः ? न कोऽप्यस्तीति भावः। अत्र दृष्टान्तयति-सुरद्रुमाणां कल्पवृक्षाणां वनीं हित्वा त्यक्त्वा। अवनीस्थवृक्षाणां भूलोकवर्तितरूणाम् अरण्यं वनम्। रुचिम् इच्छां निदिशते प्रकटयते जनाय। किम् अर्थं वाञ्छितं वस्तु इत्यर्थः। दिशते ददाति ? न कदापीत्यर्थः ॥६॥

अर्थ—वेद-त्रयी जिसका शरीर हैं, अथवा वेद-त्रय का जो शरीर रूप है, सम्पूर्ण लोकों का चक्षुःस्वरूप है, जो तेजोनिधान है, उस सूर्य भगवान् को छोड़कर संसारियों को भव-सागर से तैराने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं। यहाँ दृष्टान्त के द्वारा उक्त कथन की पुष्टि की जाती है—कल्पवृक्षों की वनी को छोड़कर भूलोक में विद्यमान वृक्षों का अरण्य अपनी इच्छा प्रकट करने वाले मनुष्य को क्या वाञ्छित वस्तु प्रदान करता है ? अर्थात् कदापि नहीं ॥६॥

यस्सर्वविष्टपरतः परतः परो यो

येनावभात्यजगता जगतान्त्रयीयम्।

नम्रीभवन् स्वयमिनं यमिनं हि रामः

सम्यग् जयार्थमनुवद् मनुवद् नमोऽस्मै ॥७॥

प्रथमचरणेन परमेश्वरस्याऽभिन्नात्मतया सूर्यं स्तौति—यः सर्वविष्टपरतः सर्वलोकमयः। यः परतः परः परात् परोऽस्तीति शेषः। अथ द्वितीयेन भिन्नात्मतया स्तौति—येन सूर्येण अजगता विष्णौ स्थिता इयं जगतां त्रयी अवभाति प्रकाशते। यम् इनं प्रभुम्, इनं सूर्यं हि नम्रीभवन् रामो दाशरथिः स्वयम् आत्मना मनुवद् वैवस्वतमनुरिव जयार्थं विजयकाम्यया सम्यक् अनुवत् अस्तौत्। अतीते खरादीनां हननसमये इति भावः। अस्मै (सूर्याय) नमः ॥७॥

अर्थ—जो सूर्य भगवान् सर्व-लोकों में निरत परात्पर है, अर्थात् परमेश्वर से अभिन्न-रूप में विद्यमान है, जिस सूर्य भगवान् के द्वारा विष्णुभगवान् में स्थित यह जगत्-त्रयी प्रकाशित होती है, अर्थात् वह सूर्य परमेश्वर से भिन्न आत्मा में भी अवस्थित है। जिस सूर्य भगवान् की वैवस्वत मनु की तरह नम्र होकर श्रीरामचन्द्र ने खरदूषणादि के हनन-समय में स्तुति की, उस सूर्य भगवान् को हमारा बार-बार नमस्कार ॥७॥

विष्णोः पदे सुरमते रमते भवान् यत्

तापाद्यपच्छविपदं विपदं च हन्ति।

रत्याऽऽयते रसमये समये च मित्रोत्-

थेयादतोऽविभविनां भविनां हिताय ॥८॥

हे मित्र सूर्य सुहृच्चेति द्व्यर्थतया श्लिष्टमिदं पद्यम्। यद् यतो भवान् सुरैः देवैः मते ज्ञाते स्वीकृते च

विष्णोः पदे आकाशे श्रीपतिचरणे च रमते रमणं करोति। च पुनः। तापादीनां दुःखादीनां या अपच्छविः कुशोभा तस्याः पदं स्थानम्। विपदम् आपत्तिं हन्ति दूरीकरोति। सूर्यः सन्मित्रं च विपदं हन्त्येव। रसमये मकरन्दस्रुतिबहुले समये प्रभाते इत्यर्थः। अन्यत्र अनुरागबहुले समये (भवान्) रत्या प्रीत्या आयते उदेति उपागच्छति च। अतः अविभविनां निर्धनानां भविनां संसारिणां हिताय। उत्थेयात् उदयम् उन्नतिं च प्राप्याः। सूर्यः सन्मित्रं च निर्धनाय धनं ददात्येव ॥८॥

अर्थ—हे मित्र सूर्य ! आप देवों द्वारा स्वीकृत आकाश और श्रीपति के चरणों में रमण करते हैं, आप ही दुःखों को प्रदान करने वाली आपत्ति को नष्ट करते हैं, आप रसमय प्रभातकाल में प्रेम से उदय को प्राप्त करते हैं, अतः सदा ही निर्धन संसारियों के हित के लिये आप उदय को प्राप्त करें। यहाँ मित्र पद से सुहृत् पक्ष में भी अर्थ घटित होता है–जैसे मित्र विष्णु भगवान् के पद में रमण करता है, अपने मित्र की विपत्ति को दूर करता है, अनुराग-बहुल समय में मित्र के पास आता है, निर्धन मित्र के लिये धन देकर उसका हित करता है, अतः वह मित्र उदय (उन्नति) को प्राप्त करे ॥८॥

नासां त्वचं दृशमये ! शमयेश्च कर्णं

देह्यारतिं च रसने रसनेन्द्रियस्य।

वोचश्च माऽनृतमनन्तमनन्दि, हेम्नि

याया मनोऽर्यमणि मे मणिमेलवत् त्वम् ॥९॥

अये मे मनः ! नासां घ्राणेन्द्रियं, त्वचं त्वगिन्द्रियं, दृशं चक्षुरिन्द्रियं, कर्णं श्रवणेन्द्रियं च शमये शान्तिं नय। रसनेन्द्रियस्य च रसने आस्वादनविषये आरतिं विरामं देहि। रसनेन्द्रियजन्यमनृतभाषणमपि वर्जयेति आह–अनन्तम् असीम यथा स्यात्तथा अनन्दि अहर्षि दुःखदायीत्यर्थः। मा वोचः न ब्रूहि। पञ्चेन्द्रियाणां दुरुपयोगं त्यक्त्वा शान्तिं सेवस्वेति भावः। त्वम् अर्यमणि सूर्यरूपे हेम्नि सुवर्णे। मणिमेलवत् रत्नयोग इव यायाः गच्छतात्। सूर्यसुवर्णे जटितीभवेति भावः ॥९॥

अर्थ—अरे मेरे मन ! तुम घ्राणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय को वश में करो, और रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को भी आस्वादन-विषय में विराम दो और उसके द्वारा अनृत-भाषण का भी त्याग करो, अर्थात् अहर्ष देने वाले मर्यादा को उल्लंघन करने वाले कठोर वचन मत बोलो, तथा पञ्चेन्द्रियों के दुरुपयोग को छोड़कर शान्ति प्राप्त करो। तुम सूर्यरूपी स्वर्णभूषण में रत्नयोग को प्राप्त करो ॥९॥

तिथ्यादि-कालकलकं कलकण्ठकण्ठी

भुक्त्यै यमार्त्यनुतपाऽऽनुत पाण्डुपत्नी।

वन्दे भवाब्धितरिणं तरणिं गुणेन

नाम्ना च तिग्ममहसं महसङ्गदं तम् ॥१०॥

कलकण्ठस्य कोकिलस्येव कण्ठः ध्वनिः यस्याः सा। "कण्ठो गले संनिधाने ध्वनौ मदनपादपे।" इति मेदिनी। आर्त्या कामजन्यपीडया अनुतप्यते तथोक्ता कामशरार्तेति भावः अनेन तस्या अपरिणीतत्वं व्यक्तम्। पाण्डुपत्नी कुन्ती। भुक्त्यै भोगकाम्यया तिथ्यादिः तिथिमासवर्षादिर्यः कालः समयस्तस्य कलकं जनकम्। यं (सूर्यम्) आनुत अस्तौत्। "आङिनुपृच्छ्योः" इत्यात्मनेपदम्। राममुख-संपाद्यमानस्य स्तवस्य कुन्ती-सत्तापेक्षया पुरातनत्वेन कालविरोध-दोषनिराकरणाय पाण्डुः पतिवियोगदुःखेन शुक्लीभूता

पत्नी सीता यं सूर्यं कर्मसाक्षित्वेन आनुतेत्यर्थः कल्पनीयः। तं भवाब्धेः संसारसागरस्य तरणिं नौकारूपम्। अत एव गुणेन संसारतारणेन नाम्ना च तरणिम्[1]। महसङ्गदम् उत्सवयोगप्रदायिनम्। तिग्ममहसं सूर्यं वन्दे॥१०॥

अर्थ—कोकिल के समान मधुर भाषण करने वाली, कामजन्य पीडा से संतप्त पाण्डुपत्नी कुन्ती ने अविवाहित अवस्था में भोग-कामना से तिथि-मास-वर्षादि-काल के जनक जिस सूर्य की स्तुति की। यहाँ पर राम के वियोग से पाण्डु (शुक्लीभूता) पत्नी (सीता) ने जिस सूर्यकी कर्म-साक्षि-रूप में स्तुति की, यह अर्थ भी कालदोषनिवारण के लिये ग्रहण करना चाहिये। उस संसार-सागर की नौका स्वरूप, गुण से और संसार-सागर-तारक इस नाम से तरणि, उत्सव-योग को प्रदान करने वाले, तिग्म-तेज सूर्य को नमस्कार करता हूँ॥१०॥

नित्यज्य सुप्रतिसरोऽतिसरोगतो यं
पद्मावभासनपरो न परोऽस्ति हंसः।
श्यन्नन्धमम्बरमणी रमणीयमेष
ओंरूपमिष्टसविता सविता प्रदर्श्यात्॥११॥

यं (सूर्यं) नित्यज्य त्यक्त्वा। सुप्रतिसरः सद्भूषणभूतः। जगतः सरोवरस्य चेति भावः। "प्रतिसरश्चमूपृष्ठे नियोज्यकरसूत्रयोः। मन्त्रभेदे व्रणशुद्धावारक्षे मण्डने स्रजि। कङ्कणेऽथ" इति हैमः। सरोगतां रुग्णत्वम् अतिक्रान्तः। अति सरोगतं तडागगमनं यस्य स तथोक्त इति मरालपक्षे। पद्मानां कमलानाम् अवभासने विकासने शोभाधाने च परः तत्परः। परः अन्यः हंसः सूर्यो मरालश्च नास्ति। एषः स अन्धम् अन्धकारम् अविद्यान्धकारं चेति ध्वन्यते। श्यन् तनूकुर्वन्नाशयन्नित्यर्थः। अम्बरमणिर्गगनरत्नम् इष्टस्य मनोरथस्य सविता उत्पादकः। सविता सूर्यः। रमणीयम् ओंरूपं परब्रह्मस्वरूपम्। प्रदर्श्याद् दर्शयतु। फलश्रुतिस्तु— "स्तवं पादाद्युक्तमन्त्र-वर्णकं वर्णकं रवेः। पठेद् रामाङ्कितं व्यक्त-यमकं यमकम्पकम्॥११॥"

अर्थ—जिस सूर्य भगवान् को छोड़कर जगत्-सरोवर का सद्भूषण-भूत, (कङ्कण-स्वरूप) रुणत्व को अतिक्रान्त, कमलों के विकास करने में तत्पर और कोई दूसरा हंस (सूर्य) नहीं है। यहाँ पर हंस (मराल) के पक्ष में अर्थ इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये—सरोवर का भूषण, बहुत ज्यादा तडाग में विचरण करने वाला, और कमलों की शोभा बढ़ाने वाला हंस ही है और दूसरा जलचर नहीं। अन्धकार को तथा अविद्यान्धकार को दूर करता हुआ, गगन का रत्न, मनोरथों को पूर्ण करने वाला यह सविता (सूर्य) रमणीय ओंरूप (परब्रह्म-स्वरूप) को हमें दिखावे॥११॥

विशेष—कवि के द्वारा इस सूर्य-स्तुति की फल-श्रुति निम्न प्रकार से वर्णित की गई है—

"स्तवं पादाद्युक्तमन्त्र-वर्णकं वर्णकं रवेः।
पठेद् रामाङ्कितं व्यक्त-यमकं यमकम्पकम्॥"

अर्थात्—"आकृष्णेन रजसा०" इस मन्त्र का प्रत्येक अक्षर पद्यों के आदि चरण में विद्यमान है, और जिन पद्यों में यमकालङ्कार व्यक्त है, और जो यमराज को भी कम्पित करने वाला है, ऐसे श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द से प्रोक्त, सूर्य भगवान् के वर्णन से युक्त इस सूर्य-स्तुति को प्रत्येक मानव पढ़े॥११॥

१. तरन्त्येनन् संसारं स तरणिः "अर्तिसृधृ० उ० २-१०२" इत्यनिः।

अथ वशिष्ठमुखसंपादितो

गणपतिस्तवः ।

(७)

श्रीगणेशस्य अङ्गवर्णनमयीं स्तुतिं करोति—

गताभिशङ्कोऽङ्घ्रियुगं न यस्यै-

णाङ्कोऽपि रूपाणि दश प्रणीय ।

नामाश्रयत्येष नखच्छलात् त-

न्त्वामानमामो गणनाथ नित्यम् ॥१॥

नु इति वितर्के। यस्य (गणनाथस्य) अङ्घ्रियुगं पादयुगलम्। एषः अयम्। एणाङ्कः चन्द्रोऽपि। गताभिशङ्कः राहुग्रासादिविघ्नहारित्वेन निःशङ्कः सन् नखानां छलात् मिषात् दश रूपाणि प्रणीय कृत्वा आश्रयति नाम। नामेति संभावनायाम्। हे गणनाथ ! तं त्वां वयं नित्यम् आनमामः ॥१॥

वशिष्ठ जी के मुखारविन्द से की गई गणपति-स्तुति—

अर्थ—श्रीगणेशाजी की अङ्गवर्णनमयी स्तुति की जा रही है—जिस गणनाथ (गणेश) के पादयुगल को यह चन्द्रमा भी निःशङ्क होकर (राहुग्रासादिविघ्न-हरण से) गणेश जी के चरणों के नाखूनों में प्रतिबिम्बित होने से (प्रणाम के समय) अपने दश रूपों को धारण कर आश्रय लेता है। हे गणनाथ ! हम आपको नित्य (प्रतिदिन) नमस्कार करते हैं॥१॥

गणेशितुस्तस्य समस्तपापौ-

णनाय जङ्घाद्वितयं तदस्तु ।

परप्रथिष्ठाऽङ्गनिकेतनस्यो-

तिं यद् ददत् स्तम्भयुगं विभाति ॥२॥

तस्य गणेशितुः गणपतेः तज्जङ्घाद्वितयं समस्तानां पापानाम् ओणनाय अपनयनाय अस्तु। यत् (जङ्घाद्वितयं) परस्य श्रेष्ठस्य प्रथिष्ठस्य विशालतमस्य अङ्गनिकेतनस्य शरीरभवनस्य। ऊतिं रक्षाम्। ददत् प्रत्यर्पयत्। स्तम्भयुगं विभाति ॥२॥

अर्थ—उस गणेश जी की वे दोनों जङ्घायें समस्त पापों को नष्ट करने के लिये समर्थ होवें, जो जंघाद्वय श्रेष्ठ और विशालतम शरीरभवन की रक्षा करता हुआ स्तम्भद्वय (दो खम्भे) के रूप में शोभित हो रहा है॥२॥

हरत्वघं तद् गणपस्य रक्त-

वासोविभाभूषितमूरुयुग्मम् ।

मनोज्ञसंध्याम्बुदवेष्ट्यमान-

हेमाद्रिशृङ्गद्युतिमश्नुते यत् ॥३॥

गणपस्य गणपतेः तद् रक्तवाससो रक्तवस्त्रस्य विभया शोभया भूषितम् ऊरुयुग्मम् अघं पापं हरतु। यद् (ऊरुयुग्मम्) मनोज्ञेन मनोहरेण संध्याम्बुदेन सायंकालिकेन अम्बुदेन मेघेन रक्तवर्णेनेत्यर्थः। वेष्ट्यमानं यद् हेमाद्रेः सुमेरोः शृङ्गे शिखरद्वयं तयोः द्युतिं शोभाम् अश्नुते प्राप्नोति ॥३॥

अर्थ—श्री गणेशाजी का रक्त वस्त्र की शोभा से विभूषित वह ऊरुयुग्म (दो जाँघें) पाप का हरण करे, जो (ऊरुयुग्म) मनोहर सायंकालिक रक्तवर्ण वाले मेघ से वेष्टित सुमेरु-पर्वत के दो शिखरों की शोभा को प्राप्त करता है॥३॥

प्रिया दृशां यत्कटिरुत्कटत्व-

याने मणीशृङ्खलकेन याति ।

णादिर्यथा धातुरु नादिभाव-

न्त्वामाश्रये तं गणराज सिद्ध्यै ॥४॥

दृशां नेत्राणां प्रिया अभिरुचिता यत्कटिः यस्य गणराजस्य कटिः। उत्कटत्वयाने उत्कटतापूर्वकगमनसमये इत्यर्थः। मणीशृङ्खलकेन रत्नमयकटिभूषणेन हेतुना। ''पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिषु'' इत्यमरः। नादिभावं शब्दवत्तां याति प्राप्नोति शब्दायते इत्यर्थः। किमिवेत्युपमामाह यथा णादिः णकारादिः धातु नादिभावं नकारादित्वमिति श्लिष्टैषा। उ इति पादपूरणे। हे गणराज ! तं त्वाम् अहं सिद्ध्यै आश्रये ॥४॥

अर्थ—नेत्रों को प्रिय लगने वाली जिस गणराज (गणेश) की कटि उत्कटतापूर्वक गमन के समय रत्नजटित कटिभूषण (करधनी) से नादिभाव (शब्दवत्ता) को प्राप्त करती है अर्थात् झन-झन शब्द करती है, किस की तरह, यहाँ उपमा दी जा रही है—जैसे णकारादि धातु नादिभाव (नकारादिभाव) तथा नाद करने के भाव को प्राप्त करती है हे गणराज ! मैं आपका अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये आश्रय लेता हूँ ॥४॥

प्रियोदराद्रौ सति नाभि-कूपे

यस्योपवीतं ह्यरघट्टमाला।

परिस्रवत्येव ततो महोऽम्बू-

तिं विघ्नराजः स सतां करोतु ॥५॥

यस्य (विघ्नराजस्य)। प्रियं यदुदरं तदेवोन्नतत्वेन अद्रिः पर्वतः तस्मिन्। सति शोभने नाभौ एव कूपे। उपवीतं यज्ञोपवीतं हि अरघट्टमाला जलोद्घाटनघटीमाला। अस्तीति शेषः। ततः तस्मात् कारणादेव। महोऽम्बु महो ब्रह्मतेज एव अम्बु जलं परिस्रवति परितः प्रसरति। स विघ्नराजः सतां साधूनाम् ऊतिं रक्षां करोतु ॥५॥

अर्थ—जिन विघ्नराज (गणेश) के उन्नत उदररूपी पर्वत पर विद्यमान शोभित नाभिरूपी कूप (कुआ) पर उपवीत (यज्ञोपवीत) ही जल निकालने हेतु घटीमाला (अरहट) की तरह शोभित है। उस कारण से ही ब्रह्मतेजरूपी जल चारों तरफ फैल रहा है। वह विघ्नराज सज्जनों की सदा रक्षा करें ॥५॥

हसन्मणीहारमणिस्थबिम्ब-

वासर्द्धिसिद्धिप्रविवीज्यमानः।

महान् हि हृद्राज उरःस्थले ते

हेरम्ब यो राजति स भ्रियान्माम् ॥६॥

हे हेरम्ब गणपते ! ते तव उरःस्थले वक्षः-प्रदेशे हसन् दीप्यमान इत्यर्थः। यो मणीहारः रत्नहारस्तस्य या मणयः तत्रस्थो बिम्बवासः प्रतिबिम्बनिवासो ययोः ते ये ऋद्धिसिद्धी ताभ्यां प्रविवीज्यमानः चामरेण सेव्यमानः। यथा गणेश ऋद्धिसिद्धिभ्यां चामरेण वीज्यमानास्तथा रत्नहाररत्नप्रतिबिम्बितत्वेन हृदयराजोऽपीति भावः। यो हि महान् उदारः। हृद् हृदयमेव राजा। राजति शोभते। स मां भ्रियात् पोष्यात्। तत्ते उदारं हृदयं मां तुच्छाशयमपि भ्रियाद् ध्रियादित्यपि ध्वन्यते ॥६॥

अर्थ—हे हेरम्ब गणपते ! आपके वक्षःस्थल पर देदीप्यमान रत्न-जटित हार की मणियों में जिनका प्रतिबिम्ब झलक रहा है उन ऋद्धि-सिद्धि के द्वारा आपका हृदय-राज भी चामरों द्वारा वीजित किया जा रहा है। अतः आपका उदार हृदय मुझ तुच्छाशय की भी रक्षा करे ॥६॥

नित्यं चतुर्दोषमहो गणेश

धीरास्त्रिदोषघ्नतया स्तुवन्ति।

नागास्यमात्ताङ्कुशपाशकादि-

त्वामीभिदं पाशहरं तथाहुः ॥७॥

अहो इत्याश्चर्ये। हे गणेश ! चतुर्दोषं चतुर्भुजं त्वाम्। त्रिदोषघ्नतया वातपित्तकफानां रोगमूलानां त्रयाणां दोषाणां निवारकत्वेन स्तुवन्ति। चतुर्दोषं दोषचतुष्टयवन्तं च त्रिदोषघ्नतया स्तुवन्तीत्याश्चर्यम्। तथा आत्तः गृहीतः अङ्कुशः पाशकादिश्च येन स तम्। नागास्यं गजमुखं त्वां भीभिदं भयहरं पाशस्य बन्धनादेश्च हरं नाशकम् आहुः कथयन्ति। अत्राप्याश्चर्यमेव यत् पाशाङ्कुशादिधरः नागास्यः सर्पमुखश्च कथं पाशहरश्च स्यादिति ॥७॥

अर्थ—हे गणेश ! वात, पित्त, कफ इन तीनों (रोग के मूल कारण) दोषों के निवारक होने से चार दोष (भुजा) से युक्त आपकी सभी लोग स्तुति करते हैं। यही आश्चर्य है क्योंकि चतुर्दोष (चार भुजा) को त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) नाशक वर्णित किया है यहाँ कवि का शब्दचमत्कार द्रष्टव्य है। तंथा अङ्कुश-पाशादि धारक, नागास्य (गजमुख) आपको भय-हर्ता और पाश (बन्धनादि का) नाशक कहते हैं यह भी आश्चर्य हैं, क्योंकि पाशाङ्कुशादिधारक नागास्य (सर्प-मुख) किस प्रकार पाशहर हो सकता है ? यहाँ भी शब्द-चमत्कार अवलोकनीय है ॥७॥

निभाच्चतुर्बाहु-पदोपरिस्थे
धिन्वत्यथाक्षीणि यदंसपीठे।
परो महान् कम्बुरहो गलोऽस्ती-
तिं हन्तु दन्तीन्द्रमुखः स लोके ॥८॥

अहो इति प्रशंसायाम्। निभान्ति शोभमानानि यानि चत्वारि बाहव एव पदानि आश्रयभूताः पादाः तदुपरिस्थे। अथ च। अक्षीणि नेत्राणि धिन्वति प्रीणयति। यस्य (गणेशस्य) अंसे स्कन्धे एव पीठे काष्ठासने। गलः कण्ठः। परो महान् महत्तम इत्यर्थः। कम्बुः शङ्खोऽस्ति। स दन्तीन्द्रमुखो गजाननः। लोके जगति। ईतिम्। अतिवृष्ट्यादिकां षड्विधां हन्तु नाशयतु ॥८॥

अर्थ—जिस भगवान् गणेश के स्कन्धरूपी पीठ (काष्ठासन) के चार भुजा रूपी चार पाद (पाये) हैं, जो कि उस पीठ के आश्रयभूत हैं, इसके अनन्तर महान् कण्ठ और कम्बु (शंख) है जो कि नेत्रों को प्रसन्न कर रहे हैं, वह दन्तीन्द्रमुख (गजानन) अतिवृष्टि आदि षड्विध ईतियों का नाश करें ॥८॥

हस्त्याननस्याननचन्द्रमाः स
वार्यान्ममाऽन्तःकरणान्धकारम्।
महःक्षयं प्राप्य नवेन्दुरेधा-
हेतोर्यमापद्यत दन्तदम्भात् ॥९॥

हस्त्याननस्य गणेशस्य। स आननचन्द्रमाः मुखचन्द्रः। मम अन्तःकरणस्य अन्धकारं मोहरूपम् वार्यात् नाश्यात्। दन्तदम्भाद्दन्तस्य मिषात् नवेन्दुः नवीनचन्द्रः। महःक्षयं कृष्णपक्षजातं तेजःक्षयं प्राप्य अनुभूय। यम् (आननचन्द्रमसम्) एधाहेतोः वृद्धिहेतोः। महस इति भावः। आपद्यत आश्रयत् ॥९॥

अर्थ—गणेश भगवान् का मुखचन्द्र मेरे मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करे, जिनके मुख-दन्त के दम्भ से (अर्थात् प्रतिपदा का चन्द्र गज-दन्त के मिष से) नवीन-चन्द्र कहलाता है वह कृष्णपक्ष में उत्पन्न अपने तेज के क्षय को प्राप्त कर, पुनः वृद्धि के लिये गणेश जी के मुखचन्द्र का आश्रय लेता है, और अपने तेज की वृद्धि करता है ॥९॥

वरेभतुण्डस्य वरण्डशुण्डा
सोपैति तुण्डस्य सुमण्डनत्वम्।
महीव या पुण्यमहीव साक्षाद्
महीयसी मोदकपुष्कराऽस्ति ॥१०॥

वरेभतुण्डस्य गजवरमुखस्य सा वरण्डा स्थूला। "स्याद् वरण्डोऽन्तरावेद्यां मुखरोगे गणे पृथौ।" इति मङ्खः। शुण्डा। तुण्डस्य मुखस्य सुमण्डनत्वं भूषणत्वम् उपैति प्राप्नोति। मुखस्य गजमुखाकारत्वेनेति भावः। या (शुण्डा) साक्षाद् महीव पृथ्वीव। यद्वा मही[1] नदीव। पुण्यमही आर्यावर्तभूमीव महीयसी अतिमहती। मोदकपुष्करा मोदकं 'लड्डू' इति प्रसिद्धं पुष्करे अग्रभागे यस्याः सा तथोक्ताऽस्ति। मही (भूमि) पक्षे-मोदयतीति मोदकः आनन्ददायी पुष्करः तन्नामा द्वीपो यत्र सेति। मही (नदी) पक्षे-महीया उत्सवसंबन्धिनी सीमा येषां तानि तथोक्तानि उदकानि जलानि पुष्कराणि कमलानि च यस्यां सेति। पुण्यमही-पक्षे तु महीया उत्सवसम्बन्धिनी सीमा महीयसीमा उदकं जलं यत्र तत्तथोक्तं पुष्करं तीर्थविशेषो यत्र सेति ज्ञेयम्॥१०॥

अर्थ—गजवरमुख (गणेश) की वह स्थूल शूण्ड उनके मुख का आभूषण बनती है; जो (शूण्ड) साक्षात् पृथ्वी की तरह आनन्ददायिनी है और पुष्कर द्वीप से युक्त है, अथवा उत्सव-संबन्धि जल से युक्त और कमलों से युक्त नदी की तरह है, अथवा विशाल सीमा से युक्त, पवित्र जल वाले पुष्कर-तीर्थ से शोभित आर्यावर्त की भूमि की तरह है, शूण्ड के पक्ष में मोदकपुष्करा अर्थात् जिसके पुष्कर (अग्रभाग) में मोदक (लड्डू) शोभित है। यहाँ पर "महीयसी मोदकपुष्कराऽस्ति" इस चरण के भङ्गश्लेष तथा अभग्न-श्लेष द्वारा चार अर्थों की प्रतीति होती है॥१०॥

आदित्यवत् तिग्मरुगुद्यतेऽरौ
हरन्मनश्चन्द्र इव स्वभक्ते।
मनोज्ञनिर्याणपथप्रदर्शि
जाग्रद् गणेशाक्षियुगं तदव्यात्॥११॥

उद्यते सन्नद्धे अरौ शत्रुविषये आदित्यवत् सूर्य इव तिग्मरुक् चण्डकान्ति। स्वभक्ते च चन्द्र इव मनो हरत्। शीतलकान्तीत्यर्थः। निर्याणं गजाऽपाङ्गं तस्य यो मनोज्ञः पन्थाः तेन प्रपश्यतीति तथोक्तम्। शत्रुविषये कोपकटाक्षदृष्टं, भक्तविषये च कृपाकटाक्षदृष्टमिति भावः। मनोज्ञो यो निर्याणस्य मोक्षस्य पन्थास्तं प्रदर्शयति तथोक्तमित्यपि ध्वन्यते। "निर्याणं वारणापाङ्गदेशे मोक्षेऽध्वनिर्गमे।" इति मेदिनी। जाग्रत् जाग्रदवस्थायां दीप्यमानं तत् गणेशस्य अक्षियुगं नेत्रद्वयम् अव्यात्॥११॥

अर्थ—जाग्रत् अवस्था में देदीप्यमान गणेश भगवान् के नेत्रद्वय हमारी रक्षा करें, जो सन्नद्ध-शत्रु के विषय में सूर्य की तरह प्रचण्ड-कान्ति से युक्त है, और अपने भक्तों के लिये चन्द्रमा की तरह मनोहर शीतल-कान्ति से युक्त है, तथा कटाक्ष के सुन्दर मार्ग से देखने वाला है, और मनोज्ञ निर्याण (मोक्ष) के मार्ग को दिखाने वाला है, वह हमारी रक्षा करे॥११॥

निहन्त्वघं कुण्डलमण्ड्यमान-
गर्भं गजास्यश्रवणद्वयं तत्।
भव्यैः प्रकारैः स्वझलञ्झलानां
धन्यात्म यन्नर्तयते कटाऽलीन्॥१२॥

कुण्डलेन मण्ड्यमानो भूष्यमाणो गर्भो मध्य-भागो यस्य तत्। तद् गजास्यस्य गणपतेः श्रवणद्वयं कर्णयुगम् अघं पापं निहन्तु नाशयात्। यद् धन्यात्म धन्यस्वरूपं श्रवणद्वयम्। स्वानां झलञ्झलानाम्[2] आ-स्फालनचेष्टानां भव्यैः शुभैः प्रकारैः कटाऽलीन्[3] गण्डस्थलगतान् भ्रमरान् नर्तयते चालयति। मदजल-

१. "मही नद्यन्तरे भूमौ" इति मेदिनी।

२. "कर्णास्फाले झलञ्झला" इति त्रिकाण्डशेषः।
३. "गण्डः कटः।"

वशाद् गण्डस्थलोपविष्टान् भ्रमरान् यस्य (कर्णद्वयस्य) आस्फालनेन चालयतीति भावः। नर्तकानां नर्तनेन च धन्यात्मता सिद्धैव। चलनार्थस्य नृतेः "निगरण... न-नार्थेभ्यश्च" इति प्राप्तस्य परस्मैपदस्य "न पादम्य... ङ्यम०" इति निषेधः ॥१२॥

अर्थ—कुण्डलों से विभूषित, गणपति का वह कर्णयुगल हमारे पापों को नष्ट करे, जो धन्यस्वरूप (श्रवणयुगल) अपने आस्फालन की भव्य चेष्टाओं से गण्डस्थल पर विद्यमान भ्रमर-गण को नचाता है अर्थात् मदजल को प्राप्त करने लिये गण्डस्थल पर बैठे हुये भ्रमरों को कर्णद्वय के आस्फालन से चलाता है (उडाता है) नर्तकों के नर्तन से धन्यात्मता सिद्ध होती है ॥१२॥

मामेकदन्त प्रियतात पायात्

त्वद्भालपट्टः स हि यत्र भान्तम्।

मत्वेश दाक्षायणिकेशमिन्दुं

जाने धुनीषे श्रुतिचामराभ्याम् ॥१३॥

हे प्रियतात प्रियपितृक ! साकूतमिदं विशेषणम्। एकदन्त गणेश ! स हि त्वद्भालपट्टः ललाटपट्टः मां पायात्। हे ईश स्वामिन् ! यत्र भान्तं शोभमानम् इन्दुं चन्द्रं दाक्षायणिकेशं दाक्षायणीनाम् अश्विन्यादिताराणाम् ईशं नाथं दाक्षायण्या गिरिजाया ईशं स्वामिनं महादेवं (स्वपितरं) च। "दाक्षायणी त्वपर्णाद्यामश्विन्याद्युडुषु स्त्रियाम्।" इति मेदिनी। मत्वा। त्वं श्रुती कर्णावेव सञ्चालसाम्याच्चामरे ताभ्यां धुनीषे वीजयसि इति जाने मन्ये ॥१३॥

अर्थ—हे प्रियपितृक ! वह आपका ललाट-पट्ट मेरी रक्षा करे, हे ईश ! जिस भाल-पट्ट पर शोभमान चन्द्र को "दाक्षायणिकेश" अश्विनी आदि ताराओं का नाथ, और दाक्षायणी (गिरिजा) का ईश (स्वामी) महादेव को अपना पिता मानकर आप अपने कर्णरूपी चामरों से पंखा झलते है, इस प्रकार मैं उत्प्रेक्षा करता हूँ ॥१३॥

सिद्धिप्रदौ सिद्धिद रोमदूर्वा-

गर्भौ सुकुम्भौ तव हेम-कुम्भौ।

भव्या शिखा तेऽग्निशिखा च याऽघै-

धम्पूर्वमादह्य करोति रक्षाम् ॥१४॥

हे सिद्धिद गणपते ! रोमाण्येव दूर्वाः गर्भे (उपरितने) मध्यभागे ययोस्तौ तव सुकुम्भौ शोभनौ शिरःपिण्डौ। सिद्धिप्रदौ हेमकुम्भौ स्वर्णकलशौ। स्त इति शेषः। च पुनः। ते तव भव्या शोभना शिखा शिरोऽग्रभागः। अग्निशिखा वह्निज्वालाऽस्तीति शेषः। या पूर्वं प्राक् अघं पापमेव एधं काष्ठम् आदह्य आ समन्ताद् दग्ध्वा। रक्षां पालनां करोति। काष्ठदाहे च रक्षा भस्म भवत्येवेति गणेशमङ्गलेन प्रारब्धमिदं काव्यं गणेशमङ्गलेनैव समापितवानिति शम्। फलश्रुतिस्तु– "श्रीवशिष्ठमुखाम्भोजसंभूतं रससंभृतम्। श्रीगणेशस्तवमधु पीत्वा निर्विघ्नरुग् भवेत्।" इति ॥१४॥

अर्थ—हे सिद्धिद गणपते ! रोम रूपी दूर्वा से शोभित है मध्य भाग जिनका, ऐसे आपके दो शिर के पिण्ड सिद्धि देने वाले दो स्वर्ण कुम्भ हैं, और आपका भव्य शिरोऽग्रभाग अग्निज्वाला है जो प्रथम अवसर पर ही पापरूपी काष्ठ को अच्छी तरह जला कर भक्तों की रक्षा (पालना) करती है। गणेश-मङ्गल से प्रारम्भ किया गया यह काव्य गणेश-मङ्गल से ही समाप्त किया गया है, अतः कल्याणकारी होवे ॥१४॥

विशेष—कवि के द्वारा वशिष्ठ-मुख से की गई गणेश-स्तुति की फल-श्रुति निम्न प्रकार से वर्णित की गई है—

''श्रीवशिष्ठमुखाम्भोजसंभूतं रससंभृतम्।
श्रीगणेशस्तवमधु पीत्वा निर्विघ्नरुग् भवेत्॥''

अर्थात्–श्री वशिष्ठजी के मुखारविन्द से उत्पन्न, रस से भरे हुये इस श्रीगणेशस्तवरूपी मधु (अमृत) को पीकर मानव विघ्नरहित कान्ति वाला होवे॥१४॥

उपसंहरति—

नित्यानन्दमनःसुमन्दिररतब्रह्मेशवातात्मज-
श्रीरामार्यवशिष्ठवक्त्रकुहराम्भोराशितो निर्गतम्।
रामाभिख्यरमेशमैथिलसुतालक्ष्मीशिव-द्योमणि-
हेरम्बस्तवरत्नसप्तकमिदं भूयात् सतां सिद्धिदम्॥

इति श्रीकविराजाशुकविना श्रीनित्यानन्दशास्त्रिणा
विरचितं स्तवरत्नसप्तकं नाम
श्रीरामचरिताब्धिरत्नमहाकाव्यपरिशिष्टं समाप्तम्।
श्रीरामार्पणमस्तु॥

ननु कविनिर्मितानीमानि स्तोत्राणि कथं ब्रह्मादिमुखनिर्गतानीति शङ्कापनोदपुरस्सरं संकलितां फलश्रुतिमाह–नित्येति। नित्यानन्दस्य मन एव सुमन्दिरं तत्र रतो यो ब्रह्मा, ईशः शिवः, वातात्मजो हनुमान्, श्रीरामः, आर्यवशिष्ठस्य तेषां यानि वक्त्र- (मुख) कुहराणि तानि एव अम्भोराशयः समुद्राः[४] (सप्त) तेभ्यो निर्गतम्। रामाभिख्यो रामनामा यो रमेशो विष्णुः, मैथिलसुता सीता लक्ष्मीः, शिवो महादेवः, द्योमणिः सूर्यः, हेरम्बः गणेशश्चेति रामाख्यपरब्रह्मरूपान्तरविराजितानां पञ्चदेवतानाम् इमानि सप्त[५] स्तवरत्नानि सतां सिद्धिदानि भूयासुरिति शम्॥

इति श्रीपण्डितभगवतीलाल-विद्याभूषणेन विरचितायां
शाणाख्यायां श्रीरामचरिताब्धिरत्न-महाकाव्य-
व्याख्यायां तत्परिशिष्टव्याख्यानं समाप्तम्।
श्रीरामार्पणमस्तु।

उपसंहार–कवि निर्मित ये स्तोत्र ब्रह्मादि के मुख से कैसे निःसृत हुये इस शङ्का के निवारण हेतु सङ्कलित फल-श्रुति कही जा रही है—नित्यानन्द (कवि) जी के मनरूपी मन्दिर में रत ब्रह्मा, शिव, हनुमान्, श्रीराम, आर्य वशिष्ठ के मुखरूपी कुहर ही सात समुद्र हैं, उनसे ही ये स्तोत्र निर्गत हुये हैं। रामनागा रमेश विष्णु; मैथिलसुता सीता लक्ष्मी, शिव (महादेव) सूर्य, गणेश जिन रामाख्य परमेश्वर के हृदय में विराजित हैं, उन पञ्चदेवताओं के ये सात स्तव-रत्न सज्जनों को सिद्धि देने वाले होवें।

विशेष— (१) ब्रह्म- (श्रीराम) स्तव, (२)श्रीरामस्तव, (३) श्रीरामस्तुति (४) लक्ष्मी- (सीता) स्तव (५) शिवस्तव (६) सूर्यस्तव (७) गणपतिस्तव, इस प्रकार सात स्तवरत्न कवि के द्वारा कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति से रचे गये हैं।

जयपुर-वास्तव्य, राष्ट्रपति- सम्मानित पं. मोहनलाल शर्मा 'पाण्डेय' द्वारा विरचित 'रत्नप्रभा' नामक हिन्दी व्याख्या में 'श्रीरामचरिताब्धिरत्न' महाकाव्य का 'स्तवरत्न-सप्तक' परिशिष्ट समाप्त॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

१. वातात्मजेन रामस्य सीतायाश्चेति द्वौ स्तवौ। श्रीरामेण च शिवस्य सूर्यस्य चेति द्वौ स्तवौ संपादिताविति सप्तस्तवरत्नप्रभवभूत-सप्तमुख-कुहरेषु सप्तसमुद्रारोपः।
२. श्रीरामस्य (विष्णोः) स्तवद्वयस्याधिक्यात् सप्तत्वम्।

अथ कविवंशप्रशस्तिः ।

दाधीचेऽस्मिन् दाधिमथाख्याभृति विप्र-
वंशे कासल्येति मता यास्त्युपशाखा ।
तस्यां जैत्रारण्यपुरे योधपुरीये
नत्थू-पुत्रोऽभूत् किल दामोदरनामा ॥१॥
तद्-गोत्रे हरजीपुत्रौ कान्ह-वीरमनामकौ ।
कान्हस्य च च्छज्जुरामस्तस्य चामरचन्द्रकः ॥२॥
तस्य पुत्रौ रामवक्ष- सुखदेवौ बभूवतुः ।
रामवक्षस्य पुत्रेषु पाण्डवेष्विव पञ्चसु ॥३॥
ज्येष्ठो युधिष्ठिर इव धर्मात्मा माधवः कविः ।
यत्कृता मुक्तिलहरी लहरीवास्ति मानसे ॥४॥
जयदेवो[1] रामदयालुर्धनश्याम[2] इत्यमी ।
हरिनारायणश्चास्य कनिष्ठा भ्रातरोऽभवन् ॥५॥
श्रीमाधव-कवीन्द्रस्य विद्याभूषण इत्ययम् ।
ज्येष्ठः पुत्रो भगवतीलालो[3] व्याख्यामिमां व्यधात् ॥६॥
कनिष्ठः पुनरेषोऽहं नित्यानन्दोऽस्मि[4] मन्दधीः ।
श्रीराघवकृपानावा काव्याब्धिमिममातरम् ॥७॥
कान्हस्य गोत्रमित्युक्तं वीरमस्य निशम्यताम् ।
गङ्गारामःसुतस्तस्य शालिग्रामस्तथाऽभवत् ॥८॥
गङ्गारामस्य शिवजीराम इत्यात्मजोऽभवत् ।
गिरिधारी रामरत्नो वैद्यनाथश्च तत्सुताः ॥९॥
शालिग्रामस्य तु महारामश्च हरदेवकः ।
ज्येष्ठस्याभूद् रामसुखः पुत्रोऽन्यस्तु निरात्मजः ॥१०॥
तस्य कल्याणबदरीनाथौ पुत्रौ निरात्मजौ ।
नवभूपार्जको वैद्यनाथो बोदूज्युपाह्वयः ॥११॥
योऽभूत् स गोत्ररक्षार्थं फैफा-देव्या स्वभार्यया ।
संमन्त्र्य वैरमं गोत्रं रक्षितुं कान्हगोत्रतः ॥१२॥
नित्यानन्दं व्यधात् पुत्रं चन्द्रिका-माधवात्मजम् ।
यन्नाम खानदेशेऽस्ति राधाकृष्णेति विश्रुतम् ॥१३॥
छिरग्राम-भवेष्वेषु भूपजविनियोगतः ।
केचिज्जयपुरे खानदेशे योधपुरेऽप्यगुः ॥१४॥
सोऽहं कृत्वा काव्यं रामानुजसंप्रदायकाचार्यम् ।
प्राक् श्यामदाससमाख्यामभि चाग्रजभगवतीलालम् ॥१५॥
निधिवसुनन्देन्दु (१९८९) मिते विक्रमवर्षेऽधिरामनवमीदम् ।
काव्यं समाप्तिमागादुम्मेदनृपस्य योधपुरराज्ये ॥१६॥ इति शम् ॥

---

१. अस्य पुत्रो देवीदत्तः, पौत्रो जयरामः ।
२. अस्य पुत्रो मदनः, पौत्रो मोहनः ।
३. अस्य पुत्रो राममनोहरः, पौत्रो बदरीप्रसादः ।
४. अस्य पुत्रौ श्याममनोहर-बालकृष्णौ, पुत्री तु गिरिजा ।

कविवंशप्रशस्ति

१. दाधिमथ नाम से प्रसिद्ध विप्रवंश में कासल्यानामक उपशाखा प्रसिद्ध है, उस शाखा में जोधपुरान्तर्गत जैतारणपुर (जैत्रारण्यपुर) में श्रीनत्थू जी के दामोदर नामक पुत्र हुआ ॥१॥

२. उस गोत्र में श्रीहरजी के काह्न (कन्हैया) और वीरम नामक दो पुत्र हुये, काह्नजी के छज्जूराम नामक पुत्र हुआ, और छज्जूराम जी के अमरचन्द्र नामक पुत्र हुआ ॥२॥

३. अमरचन्द्रजी के रामवक्ष और सुखदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुये, रामवक्ष जी के पाँच पाण्डवों की तरह पाँच पुत्र प्रसिद्ध हुये ॥३॥

४. पाँचों में (युधिष्ठिर की तरह धर्मात्मा) माधव नामक ज्येष्ठ भाई कवि थे, जिन्होंने ने मानस में लहरी की तरह मुक्ति-लहरी की रचना की ॥४॥

५. इन माधव कवि के (१) जयदेव[1] (२) रामदयालु[2] घनश्याम हरिनारायण नामक चार छोटे भाई थे ॥५॥

६. श्रीमाधव-कवीन्द्र के 'विद्याभूषण' उपाधि से विभूषित भगवतीलाल[3] नामक ज्येष्ठ-पुत्र उत्पन्न हुये, जिन्होंने इस काव्य की संस्कृत में शाण-नामक व्याख्या की रचना की ॥६॥

७. श्रीमाधव-कवीन्द्र के छोटे पुत्र श्री नित्यानन्द[4] जी हुये, जिन्होंने श्रीराघवकृपारूपी नौका से इस काव्याब्धि को पार किया और इन्होंने श्रीरामचन्द्र जी की असीम कृपा से इस 'श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्' महाकाव्य की रचना की ॥७॥

८. श्री काह्न जी के गोत्र का वर्णन किया गया, अब वीरमजी का गोत्र सुनिये। वीरमजी के गङ्गाराम तथा शालिग्राम नामक दो पुत्र उत्पन्न हुये ॥८॥

९. गङ्गाराम जी के शिवजी नामक पुत्र हुआ, शिवजीराम के गिरिधारी, रामरत्न और वैद्यनाथ नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुये ॥९॥

१०. शालिग्राम जी के महाराम और हरदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुये, महाराम जी के रामसुख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, हरदेव जी के कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई ॥१०॥

११. श्रीरामसुखजी के कल्याण और बदरीनाथ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुये, परन्तु उन दोनों के भी कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। बोदूजी उपनामक वैद्यनाथ जी नवीन भूमि के उपार्जक हुये ॥११॥

१२. बोदूजी उपनामक श्री वैद्यनाथजी ने अपने वीरम-गोत्र की रक्षा के लिए अपनी भार्या फैफा देवी से सलाह करके श्री काह्न जी के गोत्र से पुत्र लेने का निर्णय किया ॥१२॥

१३. श्रीवैद्यनाथ जी ने काह्नगोत्र के श्री नित्यानन्द जी को अपना पुत्र बनाया, वास्तव में श्री नित्यानन्दजी की माता चन्द्रिका और पिता माधवजी थे। खानदेश में श्रीनित्यानन्दजी का नाम 'राधाकृष्ण' प्रसिद्ध था।१३॥

१४. छिरग्राम में उत्पन्न इन में से राजाज्ञा से कुछ व्यक्ति जयपुर में और कुछ व्यक्ति खानदेश में और कुछ व्यक्ति जोधपुर में बसे।

१५. श्री नित्यानन्दजी ने 'श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्' महाकाव्य का निर्माण कर सर्वप्रथम रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्रीश्यामदासजी तथा अपने ज्येष्ठ-भ्राता श्रीभगवतीलाल जी को सुनाया ॥ १५॥

१६. जोधपुर राज्य में श्री उम्मेदसिंह जी राजा के शासनकाल १९८९ विक्रम वर्ष में श्रीरामनवमी के दिन यह काव्य समाप्त हुआ ॥१६॥ इतिशम् ॥

---

१. जयदेव के पुत्र देवीदत्त, पौत्र जयराम।
२. रामदयालु के पुत्र मदन, पौत्र मोहन।
३. श्रीभगवतीलाल जी के पुत्र राममनोहर, पौत्र बदरीप्रसाद।
४. श्री नित्यानन्दजी के श्याममनोहर, और बालकृष्ण नामक दो पुत्र, गिरिजा नामक एक पुत्री।

कविवंशवृक्षः (दाधीचवंशः (दाधिमथः) कासल्या उपशाखा)
श्री नत्थूः
श्री दामोदरः
श्रीहरजी
(१)काह्नः (गोत्रः)
(२) वीरमः (गोत्रः)
छज्जूराम :
(१)गङ्गारामः
(२) शालिग्रामः
अमरचन्द्र :
शिवजीरामः
महारामः
हरदेवः
रामवृक्षः
सुखदेवः
गिरधारी
रामरत्नः
वैद्यनाथः
रामसुखः
×
माधवः
जयदेवः
रामदयालुः
घनश्यामः
हरिनारायणः
×
×
श्री नित्यानन्द जी को गोद लिया
श्रीभगवतीलालः
श्रीनित्यानन्दः
देवीदत्तः
मदनः
(१)कल्याणः
(२) बदरीनाथः
जयरामः
मोहनः
राममनोहरः
(१)श्याममनोहरः
(२) बालकृष्णः
(३) गिरिजा (पुत्री)
बदरीप्रसादः
धरणीधर
ओम प्रकाश